श्रीमोरारजी देसाई : श्रीकृष्ण-जन्मस्थानमें

श्रीकेशवदेव मन्दिरके समक्ष श्रीमोरारजी देसाई श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके उपमन्त्री श्रीदेवधर शर्मासे प्रसाद ग्रहण करते हुए
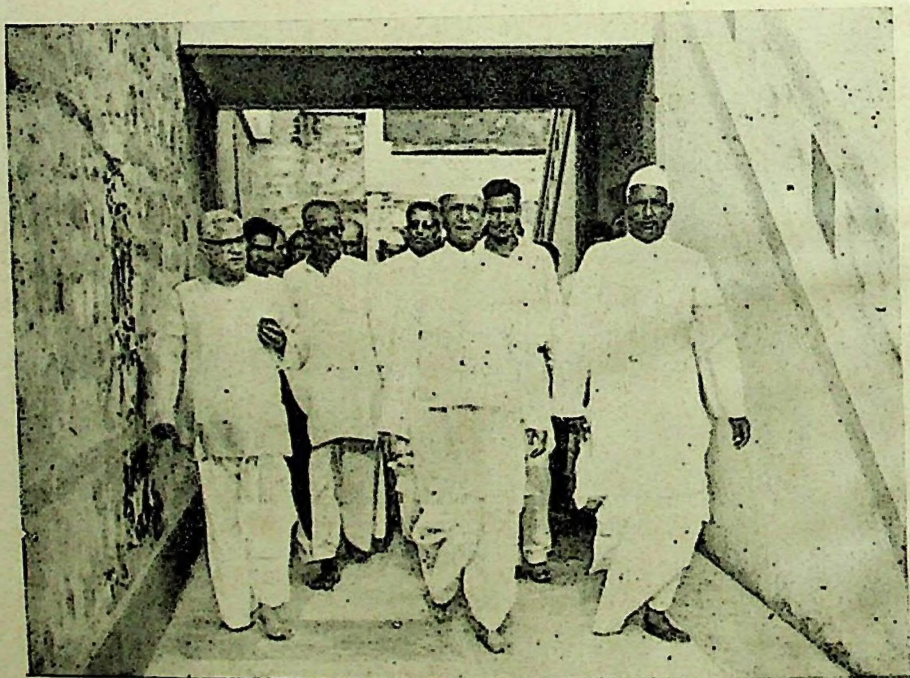
श्रीकृष्ण-चबूतरे एवं खुदाईमें निकले प्राचीन मन्दिरके गर्भ-गृहको देखकर लौटते हुए श्रीमोरारजी (मध्यमें)

श्रीकृष्ण-सन्देश
(द्वैमासिक)

आत्मानं सततं विद्धि

वर्ष—२] श्रावण-भाद्रपद, २०२३ वि० [अङ्क—१

जन्माष्टमी-विशेषाङ्क

●

सम्पादक

हितशरण शर्मा, एम० ए०, साहित्यरत्न

●

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

●

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

●

मूल्य

दो रुपये

वार्षिक

सात रुपया

आवरण-चित्र

गोकुल-गमन, बसोली कलम

सत्रहवीं शती

अनुकृतिकार

के० सी० आर्यन्

मुद्रक :

राधा प्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१

विषय-संकेत

स्वयंरूप श्रीकृष्ण और उनका आविर्भाव दिवस

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंरूप—निरपेक्षतत्त्व हैं। जो भगवान् श्रीकृष्णके तुल्य शक्ति-धारी हैं वे श्रीकृष्णके विलासावतार हैं, जैसे—बैकुण्ठनाथ। जो निरपेक्ष परतत्त्व श्रीकृष्णसे न्यून शक्तिधारी हैं, वे श्रीकृष्णके अंशावतार हैं; जैसे—मत्स्य, कूर्म, बराह आदि।

जिसमें ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति इन दोनोंमेंसे किसी एक शक्तिका संचारमात्र होता है, वे अंशावतार हैं, जैसे—व्यास, आदि।

पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार भेदसे अवतार तीन प्रकारके होते हैं। पुरुषावतार प्रथम, द्वितीय, तृतीय भेदसे तीन भागोंमें बँटता है। जो महत् तत्त्वका सृष्टा, कारणार्णवशायी और प्रकृतिका अन्तर्यामी होता है वह प्रथमपुरुष संकर्षणका अंश है।

जो गर्भोदशायी, ब्रह्माका भी रचयिता और समष्टि विराट्का अन्तर्यामी होता है वह द्वितीय पुरुष प्रद्युम्नका अंशावतार है।

और जो व्यष्टि विराट्का अन्तर्यामी क्षीरोदशायी है, वह तृतीय अनिरुद्धका अंशावतार है।

सतोगुण द्वारा सृष्टिके पालक, पोषक क्षीरोदशायी विष्णु हैं। रजोगुण द्वारा गर्भोदशायीकी नाभिसे उत्पन्न सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा हैं। कभी-कभी किसी कल्पमें ब्रह्माके समान पुण्यशील जीव भी ब्रह्मा हो जाता है तो उस जीवको ईश्वरकी शक्तिका संचार होनेसे अंशावतार ब्रह्मा कहा जाता है। रजोगुणी अवतार होनेके कारण ब्रह्मा विष्णुकी समानता नहीं कर सकते। किसी कल्पमें भगवान् विष्णु ही ब्रह्माके रूपमें अवतरित होते हैं।

जिस मन्वन्तरमें भगवान् यज्ञ इन्द्र और भगवान् विष्णु ब्रह्माके रूपमें अवतरित होते हैं उस मन्वन्तरके ब्रह्मा विष्णुकी समानता कर सकते हैं।

सम्पूर्ण विराट् स्थूल समष्टि, सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थ ही ब्रह्माजीका स्थूल शरीर है, उस शरीरको भी ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्माके उस स्थूल शरीरमें जो सूक्ष्म जीवरूप हिरण्यगर्भ है—वह भी ब्रह्मा कहलाता है और उसका गर्भोदशायी ईश्वर ही है।

तमोगुणसे संहारकर्त्ता शिवका अवतार होता है। जिसकी स्थूल वैराजसंज्ञा, सूक्ष्म हिरण्यगर्भ संज्ञा है—वह सृष्टिकर्त्ता पद्मोद्भव ईश्वर ही है। किसी-किसी कल्पमें अधिक पुण्यवान् जीव भी शिव होता है और किसी कल्पमें भगवान् स्वयं शिवके रूपमें अवतरित होते हैं, किन्तु जो सदाशिव हैं वे ब्रह्मासे श्रेष्ठ और विष्णुके समान हैं; वे निर्गुण और स्वयं रूपके विलास विशेष हैं।

चारों सनकादि, नारद वराह, मत्स्य, यज्ञ, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, हंस, पृश्निगर्भ, ऋषभदेव, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, राम, व्यास, बलराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि—ये सब लीलावतार हैं। हर कल्पमें ये सब अवतरित हुआ करते हैं अतएव इन्हें कल्पावतार भी कहा जाता है। इनमेंसे जो हर मन्वन्तरमें अवतार लेते हैं और जो हर युगमें अवतार धारण करते हैं उन्हें मन्वन्तरावतार और युगावतार कहा जाता है।

इन सभी प्रकारके अवतारोंमेंसे किसीको आवेशावतार, किसीको प्राभव अवतार, किसीको वैभव अवतार और किसीको परावस्थ अवतार कहा जाता है।

सनक, सनन्दन आदि चारों तथा नारद और पृथु आवेशावतार हैं। मोहिनी, धन्वन्तरि, हंस, ऋषभ, व्यास, दत्तात्रेय आदि प्राभव अवतार हैं। प्राभव अवतारोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, मत्स्य, कूर्म, वराह, नरनारायण, यज्ञ, पृश्निगर्भ, हयग्रीव आदि वैभव अवतार हैं। वैभव अवतारोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न नृसिंह, राम, कृष्ण—ये तीन परावस्थ अवतार हैं।

उपर्युक्त जितने प्रकारके अवतार बताए जाते हैं उन सबमेंसे भगवान् श्रीकृष्ण ही स्वयं ब्रह्म हैं। श्रीकृष्णस्वयंरूप हैं। श्रीमद्भागवतमें भी बताया गया है कि—

एते चांशकला सर्वे कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।

ऐसे परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णका आज अवतरण दिवस—श्रीकृष्ण जन्माष्टमी है। श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी भारतकी प्रेरक शक्ति है, सर्जनात्मक शक्ति है और आसुरी भावोंपर दिव्य भावोंके विजयकी प्रतीक है। आज ही के दिन अवतरित होकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने अक्षर ब्रह्मरूप और महापुरुष रूप दोनोंके सामर्थ्यका अद्भुत

प्रदर्शनकर भारतीय संस्कृति, सभ्यता, राजनीति और समाजका परिष्कार किया, उनको नये साँचेमें ढाला और अन्तमें गीता जैसा औपनिषदिक सारामृत देकर भारत और भारतीय संस्कृतिको अमृतत्व प्रदान किया।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका पुनरुद्धार एवं नव-निर्माण इन्हीं परम परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रह और सत्प्रेरणासे कर रहा है और संघका मुख-पत्र 'श्रीकृष्ण-सन्देश' भगवान्‌के वाङ्मय स्वरूपकी अर्चनाके साथ श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानके पुनरुद्धार कार्योंमें जन-सहयोगकी अभ्यर्थना कर रहा है। इसके मूलमें सब भगवत्कृपा ही है।

इस पावन पर्वपर हम नन्द-नन्दन आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णके पादारविन्दमें वाङ्मय श्रद्धा-प्रसून अर्पित करते हैं।

आजसे 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का प्रथम वर्ष समाप्त होकर द्वितीय वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। वर्ष भरके मध्य हमें श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके संचालकों, कृपालु लेखकों, पाठकों और ग्राहकोंसे जो असीम स्नेह, सद्भाव एवं सहयोग प्राप्त हुआ है वह भी भगवत्कृपाका परिणाम है। भक्त और भगवान्‌की सेवा हम इसी ढंगसे आगामी वर्ष भी करते रहें यही प्रभुसे प्रार्थना है।

—सम्पादक

जन्मस्थान : लोकके आलोकमें

[श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके दर्शनार्थ हर क्षेत्र, हर भूभागके लोग आया करते हैं और वे अपनी भावनाएँ, अपनी प्रतिक्रिया तथा अपने जो उद्गार व्यक्त करते हैं उनसे कुछ उन्हींके शब्दोंमें प्रकाशित किया जारहा है।]

भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र स्थानको देखकर बहुत आह्लाद हुआ। बहुत अच्छी प्रकारसे पुनरुद्धार हुआ है।

डा० लेविस
कैननवरी पार्क, लन्दन (नार्थ)

बहुत दिलचस्प और भली प्रकार सुरक्षित स्मारक।

एन्जिला सुरेडा
आस्ट्रेलिया

यह भगवान् श्रीकृष्णका बहुत आनन्दप्रद, धार्मिक एवं ऐतिहासिक मन्दिर है। हम इसके शीघ्र पूर्ण होनेकी आशा करते हैं।

पंजाब विश्वविद्यालयके विद्यार्थी
ईवनिंग कालिज, चण्डीगढ़

जिसे देखनेकी अभिलाषा मैं बचपनसे कर रहा था, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णके जन्म-स्थानके दर्शनकर बहुत आनन्द प्राप्त हुआ।

ऐम मंगप्पा
द्वारा मैसर्स वोल्टास लि०, लखनऊ

इस पवित्र स्थानके दर्शनकर मैंने अपनेको धन्य अनुभव किया। व्यवस्था बहुत अच्छी है।

विश्वम्भर दयाल
जज हाईकोर्ट, इलाहाबाद

आज इस पवित्र मन्दिरके दर्शनका अवसर प्राप्तकर मुझे बहुत खुशी हुई। नये मन्दिरका निर्माण देखकर मुझे आनन्द हुआ। इस मन्दिरके पूर्ण विकासके लिये मैं शुभ-कामनाएँ अर्पित करता हूँ।

रूपनाथ ब्रह्मा
मिनिस्टर, असम सरकार

भगवान् श्रीकृष्णके जन्म-स्थानके दर्शनकर हम सब बड़े आनन्दित हुए।

डा० पुष्पा नायक
सुपुत्री श्रीगुलजारीलाल नन्दा

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान देखकर प्रसन्नता हुई। यह प्रयत्न स्तुत्य है। प्रबन्ध बढ़िया है। काफी सफाई और स्वच्छता रखी जाती है।

गंगाशरण सिंह, मिनिस्टर
ए० शंकर अलवा, एम० पी
एस०के० शाह, एम०पी०
श्रीमती जे० चन्दा, एम० पी०
प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, एम० पी०
रामेश्वर टाटिया, एम० पी०

मुझे भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानका दर्शन कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

कुञ्ज बिहारीलाल
चीफ़ रिपोर्टर, उत्तरी भारत पत्रिका, इलाहाबाद

मुझे बहुत दिनों बाद श्रीकृष्ण-जन्मस्थान आनेका सौभाग्य हुआ। बड़ी प्रसन्नता हुई। निर्माण-कार्य बहुत सुन्दर ढंगसे हो रहा है। प्रभु अति शीघ्र निर्माण-कार्यको पूरा करेगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

नन्दकिशोर झाँझड़िया
१२, सनी पार्क, कलकत्ता

श्रीकृष्णकी पवित्र जन्मभूमि देखकर हमारे हृदयको काफी सन्तोष तथा शान्ति मिली। हम इसमें अपना सहयोग देनेके लिये, जबतक जीवित हैं, यथाशक्ति प्रयास करते रहेंगे।

योगेन्द्रपाल सिंह राठौर
नाट्य निर्देशक, विविध-कला-विकास-समिति
भोपाल

एक भव्य सुन्दर आध्यात्मिक स्थान है जहाँ प्रभु कृष्णने जन्म लेकर भारतवासियोंके मानको बढ़ाया। यहाँका पुनरुद्धार भारतीय संस्कृतिके लिये महत्वकी बात है। जिनके पास धन है समाज लाभ हेतु वे दे रहे हैं। यदि भारतीय आध्यात्मिकताको पूर्व प्रतिष्ठित करनेमें यहाँका सहयोग रहा तो गिरता समाज फिर उठ जायेगा। सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया चरितार्थ हो, यही प्रभुसे प्रार्थना है।

कालीशंकर त्रिपाठी, एस० पी०
श्रीनगर-गढ़वाल (उत्तर प्रदेश)

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानके दर्शन करके आत्मा प्रसन्न हो गयी। बड़े प्रयाससे इस लुप्त स्थानका उद्धार हुआ है। जीर्णोद्धार किया जा रहा है। यहाँसे 'श्रीकृष्ण-सन्देश' नामक द्वैमासिक पत्र भी निकाला जा रहा है जिसमें बड़े ही गवेषणपूर्ण सामग्री दी जाती हैं। भगवान् श्रीकृष्णके महान् व्यक्तित्वका मंनन अनुशीलन होना ही चाहिये तभी उनकी महत्ताको आँका जा सकता है। मेरी आन्तरिक श्रद्धाञ्जलियाँ भगवान् श्रीकृष्णके पावन चरणोंमें समर्पित हैं।

चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी
भूतपूर्व अध्यक्ष, शहर कांग्रेस कमेटी, कानपुर

मैंने मन्दिर तथा उसके जीर्णोद्धारकी योजना देखी। प्रयत्न श्लाघनीय तथा अभूतपूर्व है। ईश्वरसे प्रार्थना है कि इसे पूर्ण करे।

राजेन्द्र किशोरी, एम० एल० ए०
(बस्ती, उत्तरप्रदेश)

श्रीकृष्ण-जन्मभूमिके पुनरुद्धारका जो पवित्र कार्य आरम्भ हो गया है, वह गर्वकी वस्तु है। इसका पूर्व भव्य स्वरूप प्रकट करनेके लिये हिन्दू मात्र का सहयोग वाञ्छनीय है।

ब्रजनारायण 'ब्रजेश'
महामन्त्री, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा।

यहाँ आकर तथा यहाँकी स्वच्छता एवं व्यवस्था देखकर प्रसन्नता हुई।

विद्याचरण शुक्ल
केन्द्रीय उप-गृहमन्त्री, नयी दिल्ली

यहाँका प्रबन्ध सुन्दर है। इस स्थानका पुनरुद्धार कर हिन्दू संस्कृतिको बढ़ावा देनेके लिये सभी सहायक धन्यवादके पात्र हैं।

रमेशचन्द्र बंसल
उप निर्देशक, डाक विभाग,
प्रधान, केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद, लखनऊ

मथुरान्तर्गत भगवच्छ्री कृष्ण जन्मभूमि निरीक्ष्य मोदते दुःखायते च मदीयं चेतस्तत्कारणं सर्वजनीन प्रसिद्ध मतरतमेव परमात्मानं श्रीकृष्ण प्रार्थये यदत्रागतानां जनानां सा तत्विकानन्दो भवति स्थानार्थं प्रोत्साहवतां सफलत्वंचेति।

शोभानन्द झा शास्त्री
द्वारकाधीश संस्कृत विद्यापीठ, द्वारका

"विजयते श्रीबालकृष्ण प्रभुः"

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृते परः
केवलानुभवानन्द स्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥
न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्॥

श्रीमद् वेदव्यास विष्णुस्वामिमतानुवर्ति जगद्गुरु महाप्रभु श्रीमद्वल्लभचार्य वंशावतंस सूरत नगरस्य गोस्वामि श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजात्मज श्रीगोविन्दरायाणां साशिषां शुभकामना—

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ द्वारा प्रकटित श्रीकृष्ण-सन्देश तथा निरुक्त संघस्य कार्यं प्रगतिमवलोक्य नितान्तं तुष्टान्तःकरणावयमेतदीयामग्रे भाविनींभागवतोक्त भारतीय भव्य संस्कृति विकासोन्मुखीं प्रगतिवाञ्छाम।
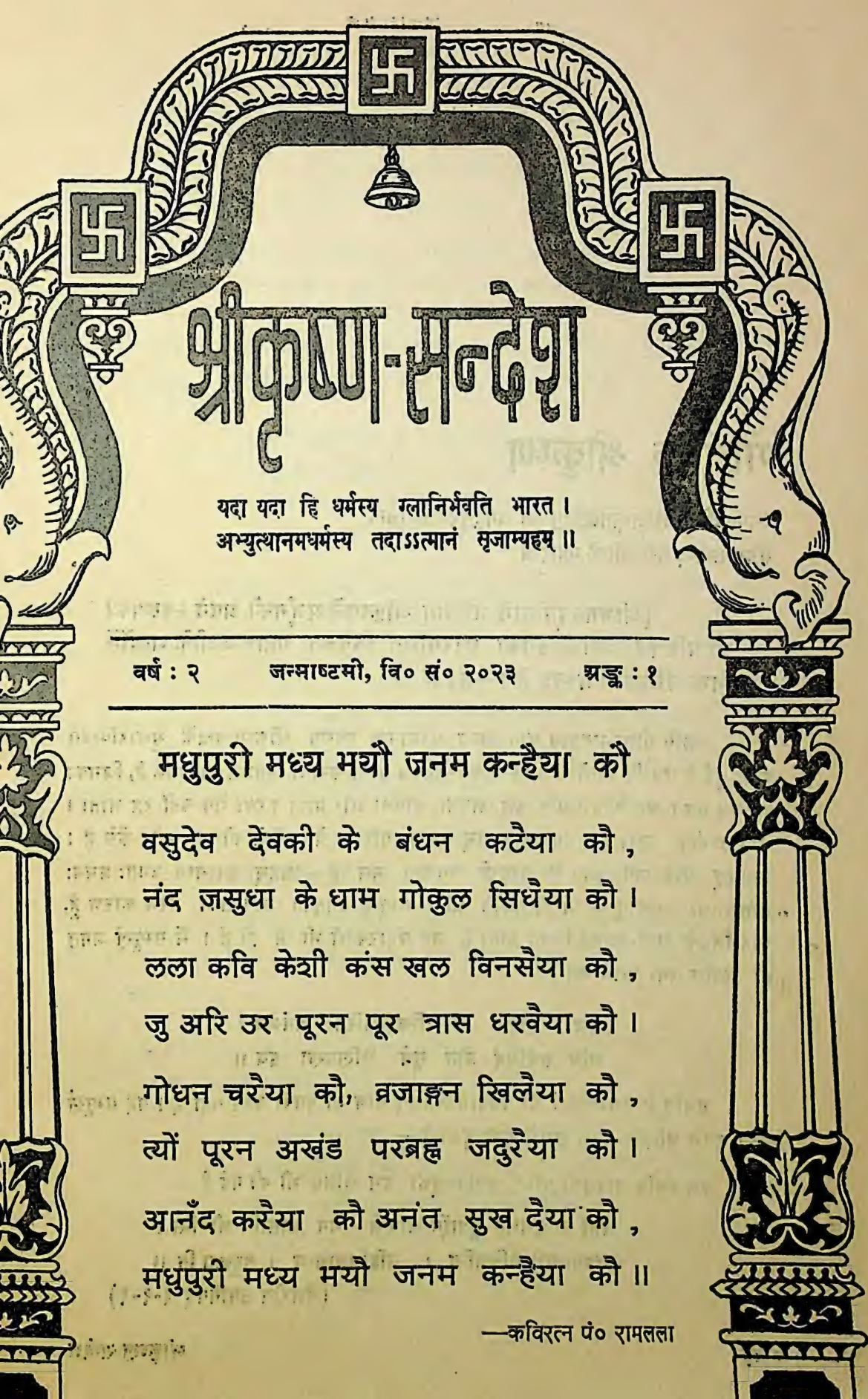
श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

वर्ष : २ जन्माष्टमी, वि० सं० २०२३ अङ्क : १

मधुपुरी मध्य भयौ जनम कन्हैया कौ

वसुदेव देवकी के बंधन कटैया कौ,
नंद ज़सुधा के धाम गोकुल सिधैया कौ।
लला कवि केशी कंस खल विनसैया कौ,
जु अरि उर पूरन पूर त्रास धरवैया कौ।
गोधन चरैया कौ, व्रजाङ्गन खिलैया कौ,
त्यों पूरन अखंड परब्रह्म जदुरैया कौ।
आनँद करैया कौ अनंत सुख दैया कौ,
मधुपुरी मध्य भयौ जनम कन्हैया कौ॥

—कविरत्न पं० रामलला

गीतोक्त श्रीकृष्ण

ज्योतिर्पीठाधीश अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरुशंकराचार्य
श्रीशान्तानन्द सरस्वतीजी महाराज

[श्रीभगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने स्वरूपका जो परिचय दिया है उसका सारगर्भित विवेचन महाराजश्रीके शब्दोंमें निम्न पंक्तियोंमें प्रस्तुत है।—सं०]

यद्यपि गीता भगवान् आनन्दकन्द परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे प्रकट हुई है तथापि गीतोक्त श्रीकृष्णका परिचय प्राप्त कराना नितान्त आवश्यक है, जिसका परिचय प्राप्त कर लेनेपर और कुछ जानना, मानना और प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। श्रीगीताजीके द्वारा ही भगवान् स्वयम् अपना परिचय देते हैं वे कौन हैं और कैसे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने कहा मैं सम्पूर्ण जगतका मूल हूँ—'अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' अर्थात्—"मैं ही प्रकृति सहित सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका परम कारण हूँ, और जिसके द्वारा सबका विलय होता है वह संहारकर्त्ता भी मैं ही हूँ। मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हूँ।"

मत्तः परतरं नान्यत्किचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

अर्थात् हे धनञ्जय! मेरे सिवाय किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें मणिके सदृश मुझमें गुथा हुआ है—

इस स्मृति वाक्यकी पुष्टि, उपनिषद्की इस श्रुतिसे भी की गई है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति॥
(तैत्तरीय उपनिषद् ३-१-१)

श्रीभगवान् कहते हैं:—

हे अर्जुन पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित आगे होने वाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ परन्तु कोई भी श्रद्धा भक्ति रहित पुरुष मुझे नहीं जान सकता है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ (गीता ७।२६)

ये गीतोक्त भगवान् श्रीकृष्ण केवल अर्जुनके रथपर बैठने वाले सारथीके रूपमें है, अथवा और कोई ! अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ (गीता ४।५)
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ (गीता ४।६)

'हे अर्जुन, मेरे और तेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं (परन्तु) हे परंतप, उन सबको तू नहीं जानता (और) मैं जानता हूँ। (मैं) अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी (तथा) सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यह तो हो गया गीतोक्त भगवान् श्रीकृष्णका परिचय और बताने वाले हैं अर्जुनके रथस्थ श्रीकृष्ण। अब गीतोक्त भगवान् श्रीकृष्णका ज्ञान, दर्शन और अनुभव कैसे हो इसके लिये भगवान् स्वयं उपाय बतलाते हैं, क्योंकि उपाय और उपेय दोनों यही हैं। आगे गीताके ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ (गीता ११।८)

परन्तु मेरे शरीरको इन प्रकृत नेत्रों द्वारा देखनेको निःसन्देह तू समर्थ नहीं है। इसीसे (मैं) तेरे लिए दिव्य अर्थात् अलौकिक ज्ञानरूप नेत्र देता हूँ। उससे (तू) मेरे प्रभावको (और) योग शक्तिको देख।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने तेजोमय दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया तथा अर्जुनके प्रार्थना करनेपर उसकी दुर्बलता बताते हुए उन्होंने कहा—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ (गीता ११।५३)
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ (गीता ११।५४)

अर्थात् न वेदोंसे न तपसे न दानसे और न यज्ञसे (इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला)

मैं देखा जानेको शक्य हूँ कि जैसे तुमने मेरेको देखा है। परन्तु हे परन्तप अर्जुन, अनन्य भक्तिके द्वारा ही इस प्रकारके विश्व रूप वाला मैं यथार्थ तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश करनेके लिए अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिए भी शक्य हूँ।

इसके लिए भगवान् बहुत सुन्दर और सुगम उपायका निर्देशकर पुनः अपनी प्राप्तिके सरल साधनका निर्देश करते हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ (गीता ११।५५)

अर्थात् हे अर्जुन, जो पुरुष केवल मेरे ही लिए (सब कुछ मेरा समझता हुआ) यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मोंको करने वाला है और मेरे परायण है अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्तिके लिए तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम गुण और रहस्य श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन पाठनका प्रेमसहित निष्काम भावसे निरन्तर अभ्यास करने वाला है और आसक्ति रहित है अर्थात् स्त्री पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैर-भावसे रहित है ऐसा वह भक्त मेरेको प्राप्त होता है। अब भगवान् कृष्ण स्वयं अर्जुनसे पूछते हैं कि हे अर्जुन—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ (गीता १८।७२)

हे पार्थ क्या यह मेरा वचन तुमने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया और हे धनञ्जय क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ?

इस पर अर्जुन कहता है कि—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (गीता १८।७३)

हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे अपने स्वरूपको पहचानने वाली स्मृति प्राप्त हुई है इसलिए मैं रहितसंशय हुआ स्थित हूँ।

इस प्रकार अर्जुनकी समस्त शंकाओंका निराकरण कर भगवान्ने अपना वह अमृतमय उपदेश पान कराया जिसे जानकर मानकर और जिसमें प्रवेशकर मोहका मूल कारण अज्ञान नष्ट हो जाता है और अपने स्वरूपकी स्मृति आ जाती है एवं परमानन्द समुद्रमें निमग्न हो जाता है। इसीको आध्यात्मिक निधि कहते हैं। मानव जीवनका एकमात्र लक्ष्य है आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति। वे ही हैं उपनिषदोंके प्रतिपाद्य सार सर्वस्व गीतोक्त भगवान् श्रीकृष्ण, जिनका अनुभव कर मानव कृत-कृत्य हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूपतत्त्व और रूप-सौन्दर्य

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

[भगवान् श्रीकृष्ण असीम हैं, अनन्त हैं। उनके स्वरूपका अन्त आजतक किसीने नहीं पाया है। वे सब कुछ हैं, सब कुछसे परे हैं—सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं। उनको जो जिस दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें वैसे ही दिखाई देते हैं—उनकी कल्पनासे नहीं, वे सब समय सभी कुछ हैं ही।]

जय वसुदेव-देवकी नंदन, जयति यशोदा नंदनंदन।
जयति असुरदलकंदन जय जय, गोपीजन-मानस-चंदन॥

भगवान् श्रीकृष्ण असीम हैं, अनन्त हैं। उनके स्वरूपका अन्त आजतक किसीने नहीं पाया है। वे सब कुछ हैं, सब कुछसे परे हैं—सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं। उनको जो जिस दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें वैसे ही दिखायी देते हैं—उनकी कल्पनासे नहीं, वे सब समय सभी कुछ हैं ही। विभिन्न शास्त्र, वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, तन्त्र तथा ऋषि-मुनि और अनुभवी महात्मा सभी एक स्वरसे, एक मतसे भगवान् श्रीकृष्णकी महत्ता स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्ण समस्त अवतारोंके मूल अवतारी, समस्त भगवत्स्वरूपोंके अंशी, ब्रह्मकी प्रतिष्ठा, सर्वेश्वर, सर्वलोक महेश्वर, निर्गुण, स्वरूपभूतगुणमय, निराकार—भौतिक आकाररहित, परमेश्वर, अचिन्त्यानन्त-सद्गुण-समुद्र, सर्वगुणमय, सर्वथा गुणातीत, सर्वमय, सर्वातीत, सर्वात्मा, अखिल प्रेमामृत सिन्धु, षोडशकलापूर्ण, षडैश्वर्य सम्पन्न, हानोपादानरहित नित्य सत्य, दिव्य, चिन्मय भगवद्देहरूप, दिव्य सच्चिदानन्द प्रेमघनमूर्त्ति, पूर्णपुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं। जो कहीं भी एक स्थानपर नहीं मिलते उनमें ऐसे सभी भावों तथा गुणोंका विकास है। उनमें 'पूर्ण मानवता' एवं पूर्ण भगवत्ताका युगपत् प्रकाश है। वे अभ्युदय और निःश्रेयसके साकार विग्रह हैं। जड़ तथा चेतन उन्हींकी प्रकृति हैं, क्षर अक्षर उन्हीं पुरुषोत्तमके आश्रित हैं। समस्त विभूतियाँ, समग्र जगत् उनके एक ही अंशमें स्थित है।

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।" (गीता १०-४२)

श्रीकृष्ण युगपत् नित्य अचिन्त्य अनन्त विरुद्धगुणधर्माश्रय हैं। जो युगपत् विरुद्ध-धर्माश्रय नहीं होता, वह पूर्ण नहीं होता। इसीसे श्रुतियोंने भी ब्रह्ममें विरुद्ध धर्मोंका समाश्रय बताया है।

"अणोरणीयान् महतो महीयान् ।" (कठ० उपनिषद् १/२/२०)

तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम् । (नृसिंहोत्तरतापनीयोप० षष्ठ खण्ड)

"वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्से भी महान् है।"

"जो तुरीय भी है, अतुरीय भी, आत्मा भी है और अनात्मा भी, उग्र भी है और अनुग्र (शान्त) भी, वीर भी है और अवीर भी, महान् भी है, अमहान् (अल्प) भी है, विष्णु (व्यापक) भी है, अविष्णु (एकदेशीय) भी है, प्रकाशमान भी है, अप्रकाशमान भी है, सर्वतोमुख (सर्वओरमुख वाला) भी है, असर्वतोमुख (एक ओर मुखवाला) भी है।"

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।। (गीता ४-६)

अजन्मा, अविनाशिस्वरूप और समस्त प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी जन्मग्रहण करनेकी बात कहकर अपने विरुद्धधर्माश्रय होनेका वर्णन किया है। श्रीकृष्णके लीला-चरित्रमें यह बात सुस्पष्ट है कि वे महान्भोगी होकर भी परमयोगी, विभक्त होकर भी सदा अविभक्त, सर्वकर्त्ता होकर भी सदा अकर्त्ता, दृश्य होकर कभी भी दृष्टिमें न आनेवाले नयनेन्द्रियातीत, अदृश्य, परिच्छिन्न होकर भी विभु, जन्मलेने वाले होकर भी अजन्मा, सापेक्ष होकर भी सदा निरपेक्ष, प्रेमियोंके सम्मुख महामुग्ध होकर भी मोहमुक्त महामनीषि, सकाम होकर भी नित्य निष्काम—नित्य पूर्णकाम, प्रेमराज्यमें दीन होकर भी नित्य अदीन, प्रेमी परवश पराधीन होकर भी परम स्वतन्त्र, बन्धनमुक्त होकर भी नित्यमुक्त, प्रमेय होकर भी अप्रमेय, प्रेमगम्य होकर भी परम अगम्य, ममतायुक्त होकर भी नित्य निर्मम, अत्यन्त बुभुक्षित होकर भी नित्य तृप्त और सर्व-सम्बन्ध-युक्त होने पर भी सर्व-सम्बन्ध-विरहित हैं। श्रीकृष्णका साक्षात् परात्पर ब्रह्म होना स्थान-स्थानपर सिद्ध है—उनकी लीलासे भी और उनके सम्बन्धमें कहे हुए महापुरुषोंके वचनोंसे भी। भगवान् व्यासदेव, मार्कण्डेयमुनि, नारद, अङ्गिरा, भृगु, सनत्कुमार, असित, देवल, परशुराम, भगवान् ब्रह्माजी, पितामह भीष्म आदि सभी श्रीकृष्णकी महिमा उन्हें सबके परमकारण परमेश्वर ही मानकर करते हैं।

श्रीभगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। (गीता ७-७)

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ १०-३९॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ १४-२७॥

"हे धनञ्जय, मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रकी मणियोंके सदृश मुझमें ही गुंथा हुआ है ।" "मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ । इससे लोकवेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ ।" "अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका बीज है, वह भी मैं ही हूँ । चर-अचर कोई भी ऐसा भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।" "मैं अविनाशी ब्रह्मकी, अमृतकी, नित्य धर्मकी और ऐकांतिक सुखकी प्रतिष्ठा हूँ—सबका आधार हूँ ।

मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । (गी० १०-८)

"सब मुझसे ही प्रवर्तित हैं ।"

भोक्तारं यज्ञ-तपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । (गी० ५-२९)

"मैं समस्त यज्ञ तपोंका भोक्ता और सर्व लोकोंका महान् ईश्वर हूँ ।"

श्री यामुन मुनिने कहा है –

तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात्......॥

"उस ब्रह्म और श्रीकृष्णमें वैसा ही एकत्व है, जैसे किरणोंमें और सूर्यमें होता है । अतएव यह सब प्रकारसे स्पष्ट सिद्ध है कि दिव्य सच्चिदानन्दघन प्रेमानन्द-रसविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण विरुद्ध धर्मश्रयी साक्षात् परात्पर पूर्णब्रह्म, पूर्णपुरुषोत्तम प्रभु हैं । यह उनकी "सर्वभवन सामर्थ्य" ही है कि वे प्राकृत आकार और स्वरूप लेकर कार्य, स्नान, भोजन शयनादि तथा अन्यान्य व्यवहार-बर्त्ताव प्राकृत मनुष्योंके समान करते हैं । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' ।

किसी कविने उचित ही कहा है—

लोचन मीन, लसैं पग कूरम, कोल धराधर की छवि छाजैं ।
वे बलि मोहन सांवरे राम हैं दुर्जन राजन को हनि भ्राजैं ।
है बल में बल, ध्यानमें बुद्ध, लखैं कलकी विपदा सब भ्राजैं ।
मध्य नृसिंह हैं, कान्ह जू मैं सिगरे अवतारन के गुन राजैं ।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द स्वरूप भूत श्रीविग्रह रूपसे साकार हैं, द्विभुज हैं, गोपवेश-धारी हैं, वंशीधर हैं, नित्य नव किशोर नित्य नव कमनीय कलेवर नटवर हैं । वे लीला पुरुषोत्तम हैं । श्रीकृष्णमें समस्त गुणों और शक्तियोंका पूर्णतम प्रकाश है । इसीलिये वे अंशी हैं, अन्य सब अंश हैं । शक्तिके अधिक प्रकाशसे अंशी और न्यून प्रकाशसे अंश । यह अभि-व्यक्ति-जनित भेद है, स्वरूपगत नहीं । श्रीकृष्ण समस्त ईश्वरोंके परम ईश्वर, सर्वलोक महेश्वर, समग्र भगवान् या सबके अंशी स्वयं भगवान् हैं ।

श्रीकृष्ण ऐश्वर्य-माधुर्यके अनन्तानन्त निधि हैं, पर उनके भी दो रूप हैं—'ऐश्वर' और 'ब्राह्म'। वे ऐश्वर-रूपसे असुरोंका संहार, लोकधर्मका संस्थापन तथा अभ्युत्थान, साधु-परित्राण, दुष्ट दलन, आदि लीला-कार्य करते हैं और 'ब्राह्म' स्वरूपसे माधुर्यका विस्तार करते हैं। श्रीकृष्णके इस ब्राह्म स्वरूपके रूप-गुण-सौन्दर्य-माधुर्य इतने दिव्य चमत्कार पूर्ण तथा नित्य नव रूपमें प्रकट हैं कि वे निर्ग्रन्थ ऋषि मुनियों, देवताओं, समस्त लक्ष्मियों—यहाँ तक कि भगवत्स्वरूपोंको भी आकर्षित किये रहते हैं। दूसरोंकी तो बात ही दूर रही, उनकी वह परम मधुर अनिर्वचनीय सुन्दरता रूप आकर्षिणी शक्ति स्वयं उन्हींके चित्तको आकर्षित और प्रलुब्ध कर लेती है। यह वह सौन्दर्य है, जिसे देखकर मुनियोंके मरे हुए मनोंमें भी जीवनका संचार हो जाता है। यह रूपमाधुरी सर्वस्व हरण कर लेती है क्षण भरमें।

भगवान् श्रीकृष्णके इस 'ब्राह्म'स्वरूपकी रूपमाधुरी इतनी मधुरतम, अद्भुत, अनन्त और अतुलनीय है कि न तो उसकी कहीं सीमा है, न किसी अल्पांशमें भी कहीं तुलना है और न उसका पूर्ण आस्वादन ही किसीके लिये संभव है—यहाँ तक कि सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण स्वयंभी उस अपनी सौन्दर्य माधुरीका आस्वादन करनेमें समर्थ नहीं हैं। अपने पूर्ण नित्यवर्धनशील मादनाख्य महाभावरूप प्रेमके द्वारा एकमात्र श्रीराधाजी उसका नित्य निरन्तर सम्पूर्ण स्वादन करती रहती हैं।

यह प्रेमका परमोज्ज्वल तथा परमोत्कृष्ट स्वरूप नित्यानन्त है। सभी जानते हैं क्षुधा निवृत्त हो जानेपर भोजनमें रुचि या प्रीति नहीं रहती। अथवा यदि भूख पूरी मिटने के पहले ही भोजन वस्तु समाप्त हो जाती है तो भोजनकी इच्छा पूर्ण न होनेके कारण भोजनके लिये एक कष्टमयी उत्कण्ठा बनी रहती है। पर यहाँ वे दोनों ही बातें नहीं हैं; क्योंकि न तो श्रीराधाकी मादनाख्य महाभावमयी माधुर्यास्वादनमयी स्पृहा ही कभी निवृत्त होती है और न श्रीकृष्णका माधुर्य ही सम्पूर्ण रूपसे आस्वादित होकर कभी समाप्त होने वाला है। श्रीराधाके लिये श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी स्पृहा निवृत्त हो जाय, इसकी तो कल्पना भी नहीं है। कारण, प्रेम निवृत्त हो, तब कृष्ण माधुर्यास्वादनकी इच्छा निवृत्त हो। श्रीराधाका प्रेम विभु होनेपर भी प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, अतः प्रतिक्षण ही उसमें श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी नित्य नूतन योग्यता एवं स्पृहा बढ़ती रहती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों श्रीराधिकामें श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती है त्यों-त्यों श्रीकृष्णका माधुर्य भी उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। उससे पल-पल नित्य नये-नये माधुर्यका एवं नित्य नयी-नयी माधुर्य विचित्रताओंका विकास होता रहता है।

श्रीराधिकाजीका काम गन्ध-हीन, स्वसुख-वाञ्छा-वासना-कल्पना-गन्धसे सर्वथा रहित केवल कृष्ण-सुख-तात्पर्यमय विशुद्ध प्रेम निर्मल दिव्य दर्पणके समान है। निर्मल दर्पणमें जैसे वस्तुका अविकल प्रतिबिम्ब आ जाता है, उसमें कहीं भी तनिक-सी भी त्रुटि नहीं दीखती, वैसे ही स्वसुख-वाञ्छा हीन या काम-गंध-रहित विशुद्ध राधा-प्रेम भी श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण माधुरीका पूर्ण रूपसे आस्वादन करता है। श्रीकृष्ण माधुरीकी जग-मगाती ज्योति राधा प्रेमरूप दर्पणको ज्यों-ज्यों अधिकतम स्वच्छ और ज्योतिर्मय बनाती जाती है त्यों-ही-त्यों श्रीराधा प्रेमरूप दर्पणमें प्रतिफलित ज्योति अनवरत रूपसे श्रीकृष्णके

माधुर्यको भी अधिकतम उज्ज्वल और ज्योतिर्मय बनाती रहती है। यों श्रीकृष्णके माधुर्य से श्रीराधाका प्रेम और श्रीराधाके प्रेमसे श्रीकृष्णका माधुर्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। दोनों ही मानों होड़ लगाकर एक दूसरेको परास्त करनेके लिये उत्तरोत्तर प्रबलशक्ति होते रहते हैं, परन्तु हारता कोई भी नहीं।

अखिल-रसामृत-सिन्धु श्रीकृष्णके माधुर्यका वर्णन करनेके लिये भाषामें न शब्द हैं, न शक्ति ही। दूसरोंकी बात तो दूर रही, उनकी वह परम मधुर अनिर्वचनीय सुन्दरता रूप-आकर्षिणी शक्ति स्वयं उन्हींके चित्तको आकर्षित और प्रलुब्ध कर लेती हैं —

अपरिकलित पूर्वः कश्चमत्कारकारी।
स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः॥
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः।
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव॥

किसी मणिकी दीवालमें या दर्पणमें प्रतिबिम्बित अपनी रूपमाधुरी को देखकर श्रीकृष्ण आश्चर्यके साथ कहते हैं —"अहो! इस माधुरीका तो इससे पहले मैंने कभी अनुभव किया ही नहीं। मेरी यह माधुर्य राशि कितनी चमत्कारजनक है, कितनी महान् श्रेष्ठ और कितनी मधुर है। इसे देखकर तो मेरा चित्त लुब्ध हो गया है। मैं चाहता हूँ कि मैं भी श्रीराधिकाजीकी भाँति ही परमउत्सुकताके साथ इसका उपभोग करूँ।"

अखिल-रसामृत-सिन्धु श्रीकृष्णके माधुर्यका वर्णन करनेके लिये भाषामें न शब्द है न शक्ति ही। इसको तो जिसने देखा है, वही जानता है। पर वह भी बता नहीं सकता। क्योंकि उसका हृदय ही सदाके लिये इस रूप-माधुरीके द्वारा अपहरण कर लिया जाता है।

ईसाई भक्त माइकेलने कहा है—

जिसने देखा कभी नयनभर मोहन रूप बिना बाधा।
वही जान सकता है, क्योंकर कुल-कलंकिनी है राधा॥

परम-प्रेमीभक्त लीलाशुक श्रीविल्वमंगल गाते हैं—

मधुरं-मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरं।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

प्रातःस्मरणीय श्रीवल्लभाचार्य सर्वत्र मधुरता देखते हुए —

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

इत्यादि शब्दोंमें उनकी सर्वांगीण मधुरताका संकेत करते हैं।

महाप्रभु चैतन्यके द्वारा कथित शब्दोंका कुछ भाव है —

कृष्ण-अङ्ग-लावण्य मधुरसे भी सुमधुरतम।
उसमें श्रीमुखचन्द्र परम सुषमामय अनुपम॥
मधुरापेक्षा मधुर मधुरतम उससे भी अति।
श्रीमुखको मधु सुधामयी ज्योत्स्नामपि सुस्मिति॥
इस ज्योत्स्ना स्मिति मधुरका एक-एक कण अतिमधुर।
होकर त्रिभुवन व्याप्त जो बना रहा सबको मधुर॥

कवि वाहिद साहब श्रीनन्दनन्दनपर निरन्तर लगन रहनेकी शुभकामना करते हैं —

सुन्दर सुजान पर, मन्द मुसकान पर,
बाँसुरी की तान पर ठौरन ठगी रहै।
मूरति बिसाल पर, कंचन की माल पर,
खंजन-सी चाल पर खौरन खगी रहै।
भौहें धनु मैन पर, लौने युग नैन पर,
सुद्ध रस बैन पर वाहिद पगी रहै।
चंचल से तन पर साँवरे बदन पर,
नदं के नँदन पर लगन लगी रहै।

रसिक रसखानजी तो पशु-पक्षी-पत्थर बनकर भी कन्हैयाके दास रहना चाहते हैं—

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो कियो सिर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं वहि कालिंदी कूल कदंब की डारन।

और श्रीनज़ीर जय बोलते-बोलते नहीं थकते—

तारीफ करूं मैं अब क्या क्या उस मुरली धुनके बजैया की।
नित सेवा कुब्ज फिरैया की और बन बन गऊ चरैया की॥
गोपाल बिहारी बनवारी दुःखहरना मेहर करैया की।
गिरिधारी सुन्दर श्याम वरन और पन्दड़ जोगी भैया की॥
यह लीला है उस नन्द-ललन मनमोहन जसुमति छैया की।
रस ध्यान सुनो, दंडोत करो, जै बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

और देवी ताज तो सब कुछ सहकर भी उनकी ही बनी रहना चाहती हैं—

सुनो दिलजानी, मेरे दिलकी कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूंगी मैं।
देवपूजा ठानी औ नमाज हू भुलानी, तजे
कलमा कुरान सारे, गुनन गहूंगी मैं।

सांवला सलौना, सिरताज सर कुल्लेदारं,

तेरे नेह दाघ में निदाघ ह्वै रहूँगी मैं।

नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत पर,

हौं तो मुसलमानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

हजरत नफीस खलीलीने तो कन्हैयाकी छविपर अपना दिल ही उड़ा दिया है —

कन्हैया की आँखें हिरन-सी नशीली।

कन्हैया की शोखी कली-सी रसीली।।

कन्हैया की छवि दिल उड़ा लेने वाली।

कन्हैया की सूरत लुभा लेने वाली।।

कन्हैया की हर बात में एक रस है।

कन्हैया का दीदार सीमी कफ़स है।।

इसीलिये हिन्दी-साहित्य-गगनके शरदिन्दु श्रीभारतेन्दुने कहा था —

इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिन्दुन वारिये।

पर ये हरिके जन मुसलमान क्या करते, वेचारे लाचार थे। उस साँवरे सलौनेकी छवि माधुरीमें जादू ही ऐसा है। जिसने इस ओर भूले-भटके भी निहार लिया, वही लुट गया। उसका चित्त सब ओर से हट जाता है। एक मात्र उसकी कामनाकी वस्तु रह जाते हैं मधुराधिपति श्रीकृष्ण और वह पुकारता रहता है—

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो !

हे कृष्ण हे चपल हे करुणैक सिन्धो !

हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम !

हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे !

(श्रीकृष्ण-कर्णामृत)

हे देव ! हे प्रियतम ! हे विश्वके एक मात्र बन्धु ! हे हमारे मनोंको अपनी ओर बरबस खींचने वाले ! हे चपल ! हे करुणाके एकमात्र सिन्धु ! हे नाथ ! हे रमण ! हे नयना-भिराम ! हा ! हा ! तुम कब हमारे दृष्टिगोचर होओगे ?

इसीलिये तो यह घोषणा की गयी है—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।

विन्यस्त हस्तोऽपि नितम्ब बिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्।।

"अरे पथिको ! उस राह मत जाना। वह रास्ता बड़ा ही भयावना है। वहाँ अपने नितम्ब पर हाथ रखे जो तमाल-सरीखा नील श्यामल धूत बालक खड़ा है, वह अपने समीप होकर जाने वाले किसी भी पथिकका चित्तरूपी धन लूटे बिना नहीं छोड़ता।"

किसकी क्षमता है जो इस अनन्त सौन्दर्य, माधुर्यको भाषाके द्वारा व्यक्त कर सके। संसारमें कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जिसकी दृष्टि एक बार उनके सौन्दर्यपर पड़े और वह अपनेको खो न दे।

श्रीकृष्णका नामकरण-संस्कार करानेके लिये आचार्य पधारते हैं और शिशु श्रीकृष्णके अभूतपूर्व दिव्य रूप-सौन्दर्यको देख विचित्र दशाको प्राप्त होकर अपने आपको भूल जाते हैं और कहने लगते हैं —

धैर्यं धिनोति वत कम्पयते शरीरं,
रोमाञ्चयत्यति विलोपयते मतिं च।
हन्तास्य नामकरणाय समागतोऽह—
मालोपितं पुनरनेन ममैव नाम॥

'मेरा धैर्य छूट रहा है, शरीर कम्पित और रोमाञ्चित हो रहा है तथा बुद्धि भी लोप हुई जा रही है। आश्चर्य है! जिसके नामकरणके लिये मैं यहाँ आया, उन्होंने स्वयं मेरा नाम ही मिटा दिया है।' सचमुच ही जिस भाग्यवान्को श्रीकृष्णके रूप-सौन्दर्यकी झाँकी हो जाती है उसके लिये फिर नामरूपात्मक संसार कैसे रह सकता है।

आचार्य तो पहली वार ही व्रजमें पधारे थे। श्रीकृष्णकी पटरानियाँ तो नित्य श्रीकृष्णको निहारा करती हैं। वे श्रीद्रौपदीसे कहती हैं—

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः॥

(श्रीमद्भागवत १०-८३-४२)

"हे साध्वि! हमें पृथ्वीके साम्राज्य, इन्द्रके राज्य अथवा इन दोनोंके भोग, अणिमा आदि ऐश्वर्य, ब्रह्माके पद मोक्ष या वैकुण्ठ किसीकी भी इच्छा नहीं है। हम तो केवल यही चाहते हैं कि प्रियतम श्रीकृष्णकी कमल-कुच-कुंकुमकी सुगन्धसे युक्त चरणधूलिको ही सदा अपने मस्तकोंपर लगाती रहें।"

अहा, त्रिभुवन सुन्दर कमललोचन श्रीकृष्णने श्रीरुक्मिणीजीकी क्या दशा करदी है। यद्यपि नेत्रधारियोंकी दृष्टिका सबसे परम लाभ है—प्रियतम श्रीकृष्णका भुवनमोहन रूप परन्तु उन्होंने तो उसे अभी तक देखा भी नहीं। फिर भी व्याकुल हो उठी हैं। उन्होंने नारी जनित लज्जाको त्याग दिया है। श्रीकृष्ण उनके हृदयमें कानोंके द्वारा अपने दिव्य गुणोंके रूपमें प्रवेश कर गए हैं। इन दिव्य गुणोंकी प्रशंसा सुनकर उनका चित्त सारी लोक-लज्जाको छोड़कर उनपर अत्यन्त आसक्त हो गया है। वे कहती हैं —

यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं।
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्॥

(श्रीमद्भागवत् १०-५२-४३)

हे नाथ ! यदि आपकी चरणधूलि मुझे प्रसाद रूपमें नहीं मिली तो यह निश्चय समझिये कि मैं व्रतादिके द्वारा शरीरको सुखाकर इन व्याकुल प्राणोंको त्याग दूँगी और ऐसा करते-करते कभी सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद मुझे प्राप्त होगा ही।

औरों की तो बात ही क्या, अद्वैत निष्ठा सम्राट्, 'अद्वैत सिद्धि' नामक ग्रन्थके रचयिता श्रीमधुसूदन स्वामीने अपनी दशाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।

अद्वैत वीथी पथिकैरुपास्याः स्वराज्य सिंहासन लब्धदीक्षाः ।
शठेन केनाऽपि वयं हठेन दासीकृतागोपवधूविटेन ।।

उन्हें श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरा तत्व ही सूझना वन्द हो गया। वे पुकार उठे—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुणबिंबफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात् परं किमपि तत्वमहं न जाने ।।

किस-किसकी दशा कहें —बूढ़े व्यास, दादा भीष्म तथा देवर्षि नारदादि उनके सौन्दर्यको देखते ही रह जाते थे।

सुर मुनि, मनुज दनुज पसु-पंछी को अस जो जग जायौ।
लखि कै छवि-माधुरी ललन की, सुधि-बुधि नहिं बिसरायौ ।।
जोगी, परम तपस्वी, ग्यानी,जिन निज निज मन मार्‌यौ।
तनिक निरखि मुसक्यान मधुर तिन बरबस सरबस वार्‌यौ ।।
बिसर्‌यौ सहज विराग, ब्रह्म-सुख थकित विलोचन ठाढ़े।
तनु पुलकित, दृग प्रीति सलिल, द्रुत हृदै, प्रेम-रस बाढ़े ।।

जय हो उन भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी, जिनके नित्य नव प्रकाश अचिंत्य, अप्रतिम सौन्दर्य-सीकर-सूर्यके सामने दिव्यातिदिव्य देवलोकोंकी समस्त सौन्दर्य-राशि तुच्छ खद्योत-प्रकाशके सदृश नित्य नगण्य है; जिनके सौन्दर्य-समुद्रके एक नन्हे-से-नन्हे कणको, कणकी छायाकी छायाको पाकर प्रकृति अभिमानके मारे फूल रही है और नित्य नये-नये असंख्यरूप धर-धरकर प्रकट होती है और विश्वको विमुग्ध करती रहती है। आकाशका अप्रतिम सौन्दर्य, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुका सुख-स्पर्श-सौन्दर्य, अग्नि-जल-पृथ्वीका विचित्र सौन्दर्य, विभिन्न पक्षियोंके रंग-विरंगे सुखकर स्वरूप और उनकी मधुर काकलीका सौन्दर्य ये सभी एक साथ मिलकर भी जिस सौन्दर्य-सुधासागरके एक क्षुद्र सीकरकी छायाकी भी समता नहीं कर सकते उस परम पवित्र सौन्दर्य राशिकी सदा जय हो ! जय हो !

●

श्रीराधाका विलक्षण मादनाख्य महाभाव

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

[श्रीराधा प्रेमकी परावधि, नित्य आनन्दमयी एवं उज्ज्वल रसकी दिव्य ज्योति हैं। उनका प्रेम दिव्य, अलौकिक, असीम, सर्वव्यापक एवं विभु-पूर्ण है। उन जैसा मादनाख्य महाभाव समस्त विश्वके दर्शनमें कहीं नहीं मिलता।]

श्रीराधाका प्रेम चिच्छक्तिकी वृत्ति है। चिच्छक्ति विभु-पूर्ण है। वह असीम तथा सर्वव्यापक है। अतएव श्रीराधाका प्रेम भी 'विभु-पूर्ण' असीम तथा सर्वव्यापक है। जो असम्पूर्ण होता है, वही बढ़कर सम्पूर्णताको प्राप्त होता है। परन्तु जो पूर्ण है, उसमें कभी वृद्धि सम्भव नहीं। अतएव राधाप्रेम भी विभु होनेके कारण उसमें वृद्धिके लिये अवकाश नहीं है। जहाँ प्रेमका विकास है, उसीको 'विभु-प्रेम' कहते हैं। मादनाख्य महाभावमें ही प्रेमका पूर्ण विकास है। इसी मादन-प्रेम-समुद्रमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव आदिकी तथा इनके अन्तरस्थ अनन्त विचित्र भावोंकी अचिन्त्यानन्त-रससुधामयी विविध विचित्र तरंगें उठा करती हैं। अतएव यह मादनाख्य महाभाव ही 'विभु-प्रेम' है। यही राधाके प्रेमकी विशिष्टता है। इस प्रकार उस विभु-प्रेममें वृद्धिकी तनिक भी सम्भावना न होनेपर भी वह प्रतिक्षण बढ़ता रहता है—'प्रतिक्षणं वर्द्धमानम्'। यह श्रीराधा प्रेमकी परस्पर युगपत् विरुद्ध-गुण-धर्माश्रयताका ही एक प्रत्यक्ष उदाहरण है।

दूसरे; मादनाख्य महाभावरूप श्रीराधा-प्रेमके सदृश श्रेष्ठ या महान् वस्तु कोई है ही नहीं। 'मादनोऽयं परात्परः।' इतना गौरवमय होनेपर भी श्रीराधा-प्रेम 'मदीयतामय' मधुर स्नेहसे उदित होनेके कारण सर्वथा ऐश्वर्य-गन्धरहित है। वह न तो गौरव चाहता है और न मानता ही है। सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी उसमें अहंकारादिका लेश नहीं है। श्रेष्ठ वस्तुमें प्रायः श्रेष्ठत्वका अभिमान होता है, पर राधाप्रेममें वह तनिक भी नहीं है। यह भी राधा-प्रेमके विरुद्ध धर्माश्रयत्वका एक और उदाहरण है। श्रीराधामें किसी प्रकारका गुण-रूप-सौन्दर्याभिमान नहीं है। वे इतनी त्यागमयी हैं, इतनी मधुर स्वभाव हैं कि अचिन्त्यानन्त गुण-गण अनन्ता होकर भी अपनेको प्रियतम श्रीकृष्णकी अपेक्षासे सदा सर्वसद्गुणहीन अनुभव करती हैं, वे परिपूर्ण प्रेमप्रतिमा होनेपर भी अपनेमें प्रेमका सर्वथा अभाव देखती हैं। वे सौन्दर्यकी एकमात्र परम निधि होने पर भी अपनेको सौन्दर्य-रहित मानती हैं और पवित्रतम सहज सरलता उनके स्वभावकी सहज वस्तु होनेपर भी वे अपनेमें कुटिलता तथा दम्भके दर्शन करतीं और अपनेको धिक्कार देती हैं। वे अपनी एक अन्तरङ्ग सखीसे कहती हैं—

सखी री ! हौं अवगुन की खान।
तन गोरी, मन कारी, भारी, पातक पूरन प्रान।
नहीं त्याग रंचक मो मन में भर्‌यौ अमित अभिमान।
नहीं प्रेम कौ लेस, रहत नित निज सुख कौ ही ध्यान।
जग के दुःख अभाव सतावें, हो मन पीड़ा-भान।
तब तेहि दुःख दृग स्रवें अश्रुजल, नहिं कछु प्रेम-निदान।
तिन दुख अँसुवन कौं दिखरावौं हौं सुचि प्रेम महान्।
करौं कपट, हिय-भाव दुरावौं, रचौं स्वाँग सज्ञान।
भोरे मम प्रियतम, विमुग्ध ह्वै करें विमल मन गान।
अतिसय प्रेम सराहैं, मोकूँ परम प्रेमिका मान।
तुम हूँ सब मिलि करौ प्रसंसा, तब हौं भरौं गुमान।
करौं अनेक छद्म तेहि छिन हौं, रचौं प्रपंच बितान।
स्याम सरल-चित ठगौं निरंतर, हौं करि विविध विधान।
धृग् जीवन मेरौ यह कलुषित धिक् यह मिथ्या मान।

इस प्रकार श्रीराधाजी अपनेको सदा-सर्वदा सर्वथा हीन-मलीन मानती हैं, अपनेमें त्रुटि देखती हैं—परम सुन्दर गुणसौन्दर्य निधि श्यामसुन्दरकी प्रेयसी होनेकी अयोग्यताका अनुभव करतीं हैं, एवं पद-पदपर तथा पल-पलपर प्रियतमके प्रेमकी प्रशंसा तथा उनके भोलेपनपर दुःख प्रकट करती हैं। श्यामसुन्दर यदि कभी प्रियतमा श्रीराधाके प्रेमकी तनिक भी प्रशंसा करने लगते हैं, उनके प्रति अपनी प्रेम-कृतज्ञताका एक शब्द भी उच्चारण कर बैठते अथवा उनके दिव्य प्रेमका पात्र बननेमें अपने सौभाग्य-सुखका तनिक-सा संकेत भी कर जाते तो श्रीराधाजी अत्यन्त संकोचमें पड़कर लज्जाके मारे गड़-सी जाती हैं। श्याम-सुन्दरसे रो-रोकर कहने लगती हैं—

तुमसे सदा लिया ही मैंने लेती-लेती थकी नहीं।
अमित प्रेम सौभाग्य मिला पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं।
मेरी त्रुटि मेरे दोषोंको तुमने देखा नहीं कभी।
दिया सदा देते न थके तुम, दे डाला निज प्यार सभी।
तब भी कहते—'दे न सका मैं तुमको कुछ भी हे प्यारी।
तुम-सी शील गुणवती तुम ही, मैं तुमपर हूँ बलिहारी'।
क्या मैं कहूँ प्राणप्रियतमसे देख लजाती अपनी ओर।
मेरी हर करनीमें ही तुम प्रेम देखते नन्दकिशोर।

श्रीराधाजीका जीवन पृथक् निज सुखशून्य सर्वथा प्रियतम-सुखमय है। वे केश सँवारती हैं, वेणीमें फूल गूँथती हैं, मालतीकी माला पहनती हैं, वेशभूषा, साज-श्रृङ्गार करती हैं परन्तु अपनेको सुखी करनेके लिये नहीं। वे सुस्वादु पदार्थोंका भोजन-पान करती हैं परन्तु जीभके स्वाद या अपने शरीरको पुष्टिके लिये नहीं। वे दिव्य गन्धका सेवन करती हैं पर उससे आनन्दलाभ करनेके लिये नहीं। वे सुन्दर पदार्थोंका निरीक्षण करती हैं पर अपनेको तृप्त करनेके लिये नहीं। वे मधुर-मधुर संगीत ध्वनि सुनती हैं, पर अपने कानोंको सुख पहुँचानेके लिये नहीं। वे सुख-स्पर्श प्राप्त करती हैं, पर अपने त्वगिन्द्रियकी तृप्तिके लिये नहीं। वे चलती-फिरती, सोती-जागती हैं, सब व्यवहार करती हैं, पर अपने लिये नहीं। वे जीवन धारण भी अपने लिये नहीं करतीं। वे यह सब कुछ करती हैं—केवल और केवल अपने परम प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही। उनके समस्त मन-इन्द्रिय, उनके समस्त अंग-अवयव, उनके चित्त-बुद्धि, उनका चेतन आत्मा सभीको श्रीकृष्ण नित्य निरंतर अपने सुख-संस्पर्श दानमें ही संलग्न बनाये रखते हैं। इस भावका यथार्थ स्वरूप श्रीराधिकाके अतिरिक्त समस्त विश्वके दर्शनमें कहीं नहीं मिलता। अतएव ऐसे प्रेममें वामता या वक्रताके लिये कहीं भी स्थान नहीं होना चाहिये। तथापि इतने सुनिर्मल राधा-प्रेममें भी वामता या वक्रता दिखाई देती है, यह भी राधा प्रेमके विरुद्ध धर्माश्रयत्वका एक ही उदाहरण है। पर राधाका यह वामभाव और वक्रता प्रेमसे भिन्न जातीय कोई पृथक वस्तु नहीं है।

श्रीराधिकाका मादनाख्य महाभाव ही विभु परमानुराग है। श्रीकृष्ण इसके विषय हैं और इस प्रेमकी 'आश्रय' हैं श्रीराधा।

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः
राजते ह्लादिनी सारो राधायामेव यः सदा।

जय हो श्रीराधिकाजीके इस त्यागमय परम पावन दिव्य विभु-प्रेमकी।

[उज्ज्वल नीलमणि]

वनमालीका वृन्दावन

श्रीवियोगी हरि

[भगवान् श्रीकृष्णके वृन्दावनकी भूमि, अलौकिक एवं चिन्मयी है। वैकुण्ठ तथा देवोपम वैभव-विलास उसकी तुलना नहीं कर सकते। वहाँके करीलकदम्बकी छायाने वृन्दावन-बिहारीको परमानन्द प्रदान किया है। ऐसी परम-पावनी भूमिका वर्णन निम्नाङ्कित पंक्तियोंमें पढ़िये।—सं०]

यूँ तो व्रज-भूमिके स्मरण मात्रसे ही रोम-रोम आनन्दित हो उठता है, पर वृन्दावन श्रीकृष्णकी वह बिहार-भूमि है जिसे गोलोकधाम कहते हैं। यह वृन्दावन भूमि दिव्य है, अप्राकृत है, अनुपम है। आज भी इसके अणु-परमाणुमें रास-रस झलक रहा है—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जातु अजौं वहै, वा जमुनाके तीर॥

—बिहारी

इसमें संदेह नहीं कि वृन्दावनके आगे वैकुण्ठ भी कोई चीज नहीं। पूछो तो, ये सघन कुंज, ये ललित लतायें, यह कालिन्दी कूल, यह वन-बिहार, वैकुण्ठमें कहाँ? बहुत होगा तो, एक कामधेनु, दो चार कल्पतरु या दस पाँच चिन्तामणियाँ। यहाँ तो घर-घर कामधेनुको मात करने वाली गायें बँधी हैं, कुंज-कुंजमें करील और कदम्ब कल्पवृक्षोंसे होड़ लगा रहे हैं, गली-गलीमें रज-कण चिन्तामणियोंको निष्प्रभ कर रहे हैं, वहाँ सन्नाटा खींचे ध्रुव सरीखे भगत एक ही स्थानपर आसन जमाये सड़ रहे हैं। यहाँ ग्वाल-गोपाल रसिया और धमार गाते तथा वंशी और ढप बजाते हैं, वहाँ लोग सुधा-पान कर मंदाग्नि कर बैठे हैं। यहाँ जब देखो तब दही-पेड़े और मक्खन मिश्री उड़ रही है। वहाँ शंख फूंका

जाता है, तो यहाँ त्रिलोक-मोहिनी वंशीकी स्वर-लहरी लहरा रही है। वंशी ! जगतमें तू ही सुहागिनी है—

पान करै हरि को अधरामृत,
कौन कियौ तप बाँस की बाँसुरी।

यही कारण कि तुझे प्रेमातुरा गोपिकाओंने सैकड़ों गालियाँ दी हैं। कुल-कानि छुड़ानेके अभियोगमें तो यह कारण उपस्थित किया गया है—

ज्यों बड़े बंस तें छूटी है, त्यों बड़े बंस तें औरनहूँ को छुड़ावती।

कहाँ यह वृन्दावन और कहाँ वह बैकुण्ठ ? भला कहीं समानता है ? जो सुख, जो रस वृन्दावनमें है उसका शतांश भी तो बैकुण्ठमें नहीं।

कहाँ यह वृन्दावन कहाँ जमुना के कूल,
गुंजन के हार फूल गहनौ बनायबौ।
बहु विधि खेलि नन्दलाल संग-संग सदा,
आनन्दमगन ह्वै कैं मुरली बजायबौ॥
घननि की घोर, पिक मोरनि की सोर कहाँ,
बंसी-बट-तट गाय हेरिदै बुलायबौ।
व्रज-सुख छायो चलु 'नागर' लुभायो मन,
हमको न भायौ यहाँ बैकुण्ठ को आयबौ॥

—श्रीनागरीदासजी

एक बार श्रीकृष्ण अपनी मित्र-मण्डलीको बैकुण्ठकी सैर कराने ले गए। वहाँकी दशा देखकर गँवार ग्वाल घड़ी भर भी न ठहर सके। बोले—"भैया ! छाँड़यो तिहारो बैकुण्ठ। हम सबनि कूँ तौ अपनौ ग्राम ही नीको लागै है।" बैकुण्ठमें कभी किसी तरहका कोई राग-रंग तो होता ही न होगा। वहाँ होलीका उत्सव कौन मनाता होगा ?

देवन की औ रमापति की, दोऊ धाम की बेदन कौन बड़ाई।
संख अरु चक्र गदा पुनि पद्म सुरूप चतुर्भुज की अधिकाई॥
अमृत-पान विमावन बैठिबो नागर के जिय नैक न भाई।
स्वर्ग बैकुण्ठ में होरी जो नाहीं तौ कोरी कहा लै करैं ठकुराई॥

—श्रीनागरीदासजी

होलीके रसिया भला ये देवता क्या जानें ? यह रस तो व्रजवासियोंके भाग्यमें ही है। वृन्दावन धामके समान त्रिलोकमें दूसरा धाम नहीं। परमेश्वरके सुन्दर नामकरण यहीं तो रक्खे गये—कन्हैया, नन्दनन्दन, माखनचोर, कुंजबिहारी, व्रजवल्लभ आदि। नहीं तो पहले न जाने कैसे-कैसे अंठ-संट नाम थे उनके—निराकार, निरंजन, निरवयव, निर्विकार, अव्यक्त आदि। कितना अन्तर है ?

और इस भूमिमें मजूरिन मोक्ष पानी भरती है, कर्म और धर्म दोनों रस्सी बँटते हैं और वेचारे ब्रह्मज्ञानी छप्पर छाते हैं—

चार पदारथ करत मंजूरी, मुक्ति भरै जहँ पानी।
कर्म धर्म दोऊ बटत जेवरी, घर छावें ब्रह्मा से ज्ञानी ।।

—व्यास

इस पावन भूमिका भला वर्णन कौन करेगा—

भारत खण्ड की सुकवि-मण्डली बरनत हू न अघात ।

—व्यास

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जब द्वारका चले गये तो उनकी आँखोंमें व्रजकी ही छटा नाचती रहती थी । एक दिन मित्रवर उद्धवसे कहने लगे—

ऊधो ! मोहि व्रज बिसरत नाहीं ।

ऐसी पुण्य-भूमि और व्रजवल्लभ जैसे रस-सागरमें भी जो नरदेह पाकर अवगाहन नहीं करता वह सचमुच अभागा है ।

जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसे,
पावन पुलिन पै पतित परि रहुरे ।

—घनानन्द

वृन्दावनकी ऐसी पावन पुलिन स्थली पर तो पशु-पक्षी तक 'राधाकृष्ण-राधाकृष्ण बोलते हैं—

जमुना के कूल औ कदम्बन की डारन पै,
राधाकृष्ण-राधाकृष्ण टेरत विहंग हैं ।

मथुरा राज की पहली जनमाठैं

मोहिं न बिसरै

डा० शरणबिहारी गोस्वामी

[नर-नारी व्याकुल है रहे एँ। सोभाजात्रा के सबरे राजमार्ग नर-नारीन ते खचाखच भरे भए एँ। मुख्य द्वार पै महाराज के माता-पिता वसुदेव-देवकी आरती कौ थार लियें नेत्र बिछाएँ भए एँ।' आज कृष्न जी कौ मथुरा में पहलौ जनम दिन मनायौ जाय रह्यो है न ? —व्रज-भाषामें लिखा यह शब्द-चित्र नीचे पढ़िए।—सं०]

बौहोत अबार है गई ऊधोजी ऐ बाहिर ठाड़ें बिनके सखा महाराज कृष्न जी मथुरापुरी की सोभाजात्रा के लैं तैयार हैवे के ताईं अपने सिंगार-कच्छ में गये हते, अबी तक निकसेई नाँय! वैसे तौ ऊधौ जी जदुराज महाराज के अंतरंग सखा ऐं, सो भीतर तक जायबे मैं बिनके ताईं कछू रोक-टोक नाँय ही परन्त आज तौ बे जेई सोचि रहे कै जब जादौंपति अपनी सोभाजात्रा मैं चलिबे के ताईं समस्त राजकीय आभूषनन ते सजि कें, साच्छात् सिंगार रूप है कें वाहिर निकसिगे तौ बिनकी वा समग्र स्वच्छ रूप-सुधा कौ पान करवे बारौ प्रथम व्यक्ती मैं ही होऊंगो। परन्त महाराज कूँ तौ बौहोत देर है गई; इतनी तौ कबू भयौ नाँय करै। फिर ऊधौ जी सोचिवे लगे—चलौ अच्छौ ऐ, जितनी अधिक देर प्रतीच्छा करूँगो, हिरदे कूँ सुख हू उतनौ ही अधिक होयगो। जाई व्याज सूँ कछु समैं और वितीत भयो। जदुराज महाराज फिर ऊ न निकसे। आज बात कहाऐ। बे जानते कै कृष्न जी बिनते अधिक दूर तौ हैं नाऐं—द्वै प्रकोष्टन कूँ छोरिकेंई बिनकौ सिंगार-कच्छ है। चोवदार बेर-बेर सोभाजात्रा के समैं की सूचना दैबे आय रहे। 'सब कछू तैयार है।' 'महाराज उग्रसैन कौ रथ ऊ सज-बज कें आय गयौ ऐ, मात्र जदुकुलभूषन के पधारवे की देर है।' 'नर-नारी व्याकुल है रहे एँ।' 'सोभाजात्रा के सबरे राजमार्ग नर-नारीन ते खचाखच भरे भए एँ।' 'मुख्य द्वार पै महाराज के माता-पिता वसुदेव-देवकी आरती कौ थार लियें नेत्र बिछाएँ भए एँ।' आज कृष्न जी कौ मथुरा मैं पहलौ जनम दिन मनायौ जाय रह्यौ है न ? जन्माष्टमी कौ पवित्र दिन, आज महाराज के दरसनन ते अपनी आँखिन कूँ तृप्त

करिबे के ताईं बौहोत से व्याकुल नर-नारी राजभवन की लंग कूँई चले आय रहे एँ। नैंक-नैंक देर मैं छरीदार सूचना लाय रहे। ऊधौ जी पै रह्यौ नाँज जाय रह्यौ। पल-पल पै बिनके पाम काँपि रहे और हिरदौ धड़कि रह्यौ। बात कहा भई ? चिंता के मारें ऊधौ जी द्वार खोल कें कच्छ मैं प्रबिस्ट भए। म्वाँ कहा देखें कें सवरे सिंगारिया म्हौंड़ौ झुकाएँ ठाड़े भए एँ। ऊधौ जी कूँ देखि कें वे और गड़ से गए। ऊधौ जी की आँखिन मैं बरतौ भयौ प्रस्न हतो—'कहाँ एँ जदुपति ?'

सिंगारिया काँप गए। आज तौ वे अपनी-अपनी कला कूँ चरम रूप मैं प्रदर्शित करकें सार्थक हौनौं चाहँते ! बिनकी मूक और भुजी भई दृष्टीननें ऊधौ जी कूँ सहज संकेत करचौ कै महाराज पावस-सिंगार कच्छ मैं अकेले एँ। सब कूँ आयबे की मनें कर दई ऐ !

ऊधौ जी तौ स्तब्ध रहि गए। अब कहा करचौ जाय। समैं तौ बड़ी द्रुत गती सूँ बढ़तौ जाय रह्यौ ऐ। महाराज कौ निकसिबौ कैसें होयगौ। भीतर जायबे की मनें है तो भीतर कैसें जाएँ। बौहोत देर ताईं ऊधौ जी 'कहा करें कहा न करें' की इस्थिती में म्वाईं ठौर काठ की पूतरी की नाईं ठाड़े रहे। फिर कछू ध्यान टूट्यौ तौ बिना कछू बिचार कियें महाराज के कच्छ मैं प्रवेस करि गये।

पावस सिंगार कच्छ के चारौं लंग हरे-हरे मखमल के फरसन ते सज्यौ हौ, हरे ई हरे जरीदार परदा जहाँ-तहाँ झूलि रहे। भींतन पै घटान की नीलिमा उमड़ रही, कहूँ-कहूँ बादर उमड़ि रहे—मोर नाँचि रहे, जमुना कौ सुन्दर दृस्य ! जा कच्छ कौ सजाव महाराज नें अपनी बिसेस रुची ते करवायौ हतो ! ऊधौ बा कच्छ में घुसे तौ बिनें ऐसौ लग्यौ कै कहूँ खुले भए ब्रज के हरियारे बातावरन मैं ई तौ नाँय आय गये। सहसा बा वन-वैभव मैं स्यामसुन्दर दिखाई ऊ न दिये। फिर ध्यान गयौ तौ ऊधौ जी कौ हिरदौ धक्क है गयौ। महाराज बड़े दरपन के सामुहैं मंचिका ते नीचें धरती पै परे एँ। मुखारविंद पसीनान ते सराबोर ऐ। सो ऊधौ जी नें महाराज की ग्रीवा मैं हाथ डारकें बिनें अपनी जँघा कौ आसरौ दियौ। यदुराज, यादवपति ! मथुरापति ! कह-कह कें पुकारिवे लगे ! महाराज कूँ तौ कछू चेत ही नाँय हतो, अब ऊधौ जी बिनैं छोरिकें बाहर उपचार के लियें आमें तौ कैसै आमें। कछू देर में होठ हले महाराज के। सब्द इस्पष्ट नाँय है ! एक हाथ ते बीजना झलत जाय रहे और दूसरौ हाथ धरती पै टेक कें अपने कान महाराज के अधरन माहू लगाये—रा···रा···रा···

रा···रा···की अस्पस्ट धुन ! ऊधौ कौ ध्यान गयो सामने के चित्र पै। ब्रज की गोरी, ग्वारिनि, सलौनी जल भर कें लाय रहीं। ऊधौ जी कछु समुझि न सके।

ऊधौ जी नै 'राजाधिराज' कहिकें पुकारचौ। कृष्ण जी ने हड़बड़ाय कें आँखि खोलीं और बोले—हाँ, रा···कहाँ एँ ! कहाँ एँ !!

महाराज !

फिर तन्द्रा गहराई। त्रिभुवनपति कूँ एक ही ध्यान, बुई चित्र ! वे सिंगार-कच्छ मैं

आए दरपन के सामुहैं ठाड़े भए—अपनौ रूप देख्यौ ! और देखते-देखते सोचिबे लगे, मेरौ रूप ! जे तौ राधा की धरोहर है ! धिक्कार है मोकूं जो मैं यां अपनी सोभाजात्रा के लैं सज-धज रह्यौ ऊं और म्वां ब्रिज मैं ! आज मेरे जनम दिना पै ब्रिजबासीन की कहा गत है रही होयगी । मैया जसोदा मन ई मन मैं सिसक रही होयंगी, बाबा एक लंग बैठे होइंगे उदास-मन मारें । गाय, ग्वाल, हायरे बिंदाबन, अरी गोपांगनाओं, ओ प्रियतमा: राधा राधा ··· !

ऊधौ जी ने म्हौं पै कान धरयौ !

दरपन मैं कृष्न नें अपनौ म्हौं देख्यौ, राधा नें आयकें बिन के नेत्र मूंदि लिये । पल भर के ध्यान मैं कितनों प्रसन्नता कौ सागर लहराय गयौ । पर दूसरेई छिन राधा कौ उदासीन मुख ! आँसून ते भीज्यौ । कृष्न नें बौहौतेरौ चाह्यौ कै आज राधा कौ ध्यान न करें, परन्तु प्रेम कौ आवेग का कहूं रुक्यौ करै !

होंट फिर फड़के !

कृष्न कछु कहनों चाहते ! नेंक आँख खोलीं ।

'ऊधौ' !

'महाराज' !

'मोय ब्रिज मैं लै चल भैया' !

'महाराज सोभाजात्रा ! बाहिर नर-नारी उमड़े पर रहे ऐं, बाबा वसुदेव जी !—'

कृष्न जी उठकें बैठ गए । 'ऊधौ ! जाओ, मेरौ आदेस है, तुम मेरे बस्त्रन कूं पहर कें मेरे स्थान पै मधुपुरी की सोभाजात्रा में जाओ !"

ऊधौ जी काँपिवे लगे—'और महाराज आपु ?'

मैं जाई ठौर रहूंगो, तन ते यां और मन ते म्वां···म्वां···बिंदावन···राधा !! राधा !!! और महाराज फिर अचेत है गये ।

भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका मुख्य प्रयोजन

श्रीजानकीनाथ शर्मा

[भगवदवतारका मुख्य प्रयोजन भक्तानुग्रह—भक्तजनोंपर कृपा ही है तथा उसका मुख्य हेतु भक्तकी प्रेम-भावना ही है। भक्तका प्रेम-भाव भगवान्‌को भी जन्म लेनेको विवश कर देता है—इसका सोदाहरण वर्णन विद्वान् लेखकने निम्न पंक्तियोंमें किया है।]

गीताका परमप्रसिद्ध श्लोक है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (गीता ४।७।८)

ये श्लोक कुछेक उपनिषदों तथा पुराणोंमें भी बार-बार प्राप्त होते हैं। यथा—ब्रह्मपुराण ५३।३६; पुनः १८०।२६, श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण १।३८।१०।१२, स्कन्दपुराण अवनिखण्ड, अवनिक्षेत्रमाहात्म्य ६३।४० इत्यादि। इसके भाव तो भागवतादि ६।२०।७० आदि अनेक स्थलोंपर हैं। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी प्रायः गीताके अधिकांश श्लोकोंका अनुवाद अपने ग्रन्थोंमें कर दिया है। इन चौपाइयोंका भी भावानुवाद करते हुए वे लिखते हैं—

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥
जब जब होई धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जनम कर हेतु॥
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥
(बालकाण्ड १२०।२,६-८,१२१ तथा १२१।१)

अध्यात्मरामायणकी 'स्वयंप्रभास्तुति' तथा श्रीमद्भागवत १।८।२८-३६ की कुन्ती देवीकी स्तुतियोंमें इसका व्याख्यान है। इन सभीका भाव-तात्पर्य यही है कि भगवदवतारका मुख्य प्रयोजन भक्तानुग्रह—भक्त जनोंपर कृपा ही है तथा उसका मुख्य हेतु भक्तकी प्रेम-भावना ही है। शुकदेवजी, देवगुरु वृहस्पति, विभीषण, कुन्ती आदि सभी यही कहते हैं। यथा—

अगुन अमान अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
× × ×
अगुन अमान अलेप एक रस। राम सगुन भए भगत प्रेम बस॥
× × ×
अथवा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥
(भागवत १।८, अध्याय ४)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
× × ×
परित्राणाय साधूनां ...... संभवामि युगे युगे॥
(गीता इत्यादि)

जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं।

अन्यत्र सर्वत्र भी भगवान्‌को प्रेम-भावनाके अधीन बतलाया गया है। यथा—

भाववश्य भगवान् सुखनिधान करुनाभवन।
तजि ममता मद मान भजिय सदा सीतारवन॥
न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवो तस्माद्भावं हि कारणम्॥
(ग०पु० २।२८।११, चा० ८।१६)

अतः प्रेम-भावनाके प्रावल्य, ध्यान विश्वासके द्वारा श्रीभगवान्‌का आविर्भाव दर्शन साध्य है। एक बार सर्वत्र भगवद्दर्शनसिद्धिसे जगज्जाल नष्ट हो जाता है, पुनः प्रभुका स्वमेव प्राकट्य होता है। संतसंगति आदिसे यह अनायास सिद्ध होता है—

संसय समन दमन दुखसुख-निधान हरि एक।
साधु कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक॥
× × ×
'भवसागर के नाव सुद्ध संतनके चरन।
तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन॥

दिव्य कर्मी : श्रीकृष्ण

योगी श्रीअरविन्द

[कर्मकी गति बड़ी गहन है। कर्म ही मोक्ष और बन्धन दोनोंका कारण है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने योगयुक्त कर्मका जो उपदेश दिया है उसकी युक्तियुक्त व्याख्या योगी श्रीअरविन्दने की है जो यहाँ प्रस्तुत है। —सं०]

दिव्य जन्म—उच्चतर चेतनामें आत्माका दिव्य बना देने वाला नवजन्म—प्राप्त करना और दिव्यकर्म करना, साधनाके तौरपर भी जब तक वह उपलब्ध न हुआ हो और अभिव्यक्तिके तौरपर भी जब वह उपलब्ध हो जाय, बस यही है गीताका सारा कर्मयोग। गीता किन्हीं वाह्य लक्षणों द्वारा कर्मकी परिभाषा देनेकी चेष्टा नहीं करती, जिनके द्वारा वाह्य दृष्टि उसे पहिचान सके। जगत्की आलोचना उसे माप सके। इसने जान-बूझकर सामान्य नीति-धर्मके जो विशिष्ट लक्षण हैं, जिनसे मानव बुद्धिके प्रकाशमें मनुष्य अपने मार्ग-निदर्शनका प्रयास करता है, उसका भी परित्याग किया है। जिन चिन्हों द्वारा यह भागवत कर्मका अन्तर प्रकटाती है वे सभी प्रगाढ़ अन्तरंग और आत्मोन्मुखी हैं। जिस मुहर द्वारा वे पहचाने जाते हैं वह अलक्ष्य, आध्यात्मिक और नीतिधर्मसे अतीत है।

दिव्य-कर्म आत्मासे उद्भूत होते हैं और केवल आत्माके प्रकाशमें ही पहचाने जा सकते हैं। "बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि भी कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसका निश्चय करनेमें घबरा जाते हैं और भ्रममें पड़ जाते हैं।" क्योंकि व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक मानदंडसे वे इनके वाह्य लक्षणोंको ही पहचान पाते हैं, इनकी जड़तक नहीं पहुँच पाते। "मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा जिसे जानकर तू अशुभसे मुक्त हो जायगा। कर्म क्या है इसे जानना होगा, विकर्म क्या है इसे भी जानना होगा और अकर्म क्या है यह भी जान लेना होगा; कर्मकी गति गहन है।" कर्म इस संसारमें घने जंगलके समान हैं— "गहन", जिसमें मनुष्य यथासम्भव अपने कालके विचारों, अपने व्यक्तित्वके मानदंडों,

अपने परिवेश, बल्कि अनेकों काल, अनेकों व्यक्तित्व, चिन्तन और नीति-धर्मकी तहों— जो कि अनेकों सामाजिक दशा प्रक्रमोंसे चले आ रहे हैं और एक दूसरेमें इस तरह उलझ गये हैं कि उनका अलगाना सम्भव नहीं, जो एकमेव और अक्षर सत्य होनेके सारे दावोंके वावजूद सामयिक एवं रूढ़िगत हैं, सद्युक्तिकी नकल करनेपर भी खरे नहीं उतरने वाले और अयौक्तिक हैं— के प्रकाशमें लुढ़कता-पुढ़कता आगे बढ़ता है। और अन्तमें, इन सबोंके बीच सुनिश्चित कर्म विधानके किसी उच्चतम आधार और मूल सत्यको ढूढ़ता हुआ ज्ञानी, एक ऐसी जगह जा पहुँचता है जहाँ यह अन्तिम चरम प्रश्न उठानेको बाध्य हो जाता है कि यह साराकर्म और जीवन भ्रमजाल तो नहीं है और कर्मका सर्वथा परित्याग—अकर्म ही इस थके हुए श्रममुक्त मानव जीवका अन्तिम चारा तो नहीं है ? किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस विषयमें ज्ञानी भी उलझन और भ्रममें पड़ जाते हैं क्योंकि कर्मसे, कृत्यसे ज्ञान और मोक्ष उपलब्ध होता है, अकर्मसे नहीं।

तव इस कर्म और अकर्मकी मीमांसा क्या है ? वह किस प्रकारका कर्म है जिससे हम जीवनमें जो कुछ अशुभ है उससे छूटें, इस संशय, प्रमाद और शोकसे, अपने विशुद्ध सद्हेतु प्रेरित कर्मोंके भी इस अच्छे-बुरे, अशुद्ध और भरमाने वाले परिणामसे, इन सहस्त्रों प्रकारकी बुराइयों और दुःखोंसे, हमें छुट्टी मिले ? उत्तर मिलता है कि कोई वाह्य विभेद करनेकी आवश्यकता नहीं, जगत्को जिस कर्मकी आवश्यकता है वैसे किसी कर्मसे भागनेकी आवश्यकता नहीं; हमारी मानव कर्मण्यताओंकी हद बाँधनेकी जरूरत नहीं, अपितु सभी कर्म किये जायें पर किये जायँ अन्तरात्माको भगवान्के साथ योगमें स्थित करके, —"युक्तः कृत्सनकर्मकृत्।" अकर्म कर्मोंसे विरति कोई युक्ति नहीं है, जिसे उच्चतम बुद्धिकी अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गयी है वह देख सकता है कि इस प्रकार का अकर्म स्वयं ही सतत होते रहने वाला एक कर्म है, एक ऐसी अवस्था है जो प्रकृति और उसके गुणोंकी क्रियायोंके आधीन है। शारीरिक अकर्मण्यताका शरण लेने वाला मन अभी भी इस भ्रमके वश होता है कि कर्मोंका कर्त्ता वह स्वयं है, प्रकृति नहीं। वह जड़ताको मोक्ष समझनेकी भूल करता है, वह यह नहीं देख पाता कि पत्थर या ईंटसे भी अधिक प्रतीयमान पूर्ण जड़तामें भी प्रकृति क्रियारत है, उसपर भी वह अपना अक्षुण्ण अधिकार बनाये रखती है। इसके विपरीत कर्मके पूर्ण ज्वारमें भी आत्मा अपने कर्मोंसे मुक्त है, वह उनका कर्त्ता नहीं; किये कर्मसे बद्ध नहीं, और जो व्यक्ति आत्माकी इस मुक्त अवस्थामें रहता है प्रकृतिके गुणोंमें बद्ध नहीं, वही कर्मोंसे मुक्त है। गीताके इस वाक्यका कि "कर्ममें जो अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म, वही मनुष्योंमें विवेकवान्, बुद्धिमान पुरुष है," स्पष्ट रूपसे यही अभिप्राय है। गीताका यह वाक्य सांख्यके प्रकृति-पुरुषके भेदके ऊपर प्रतिष्ठित है,—नित्यमुक्त, अकर्त्ता, चिरशांत, शुद्ध तथा कर्मोंके अन्दर भी अविचल रहनेवाले आत्मा और चिरक्रियाशील, जड़ता तथा अकर्मकी अवस्थामें भी उतनी ही क्रियारत जितनी कि अपने दृश्य कर्मोंकी त्वराकी भाग-दौड़में रहने वाली प्रकृतिके भेदके ऊपर। यही है वह उच्चतम ज्ञान जो बुद्धिके उच्चतम प्रयाससे हमें प्राप्त होता है और इसलिये जिस किसीने इस ज्ञानको प्राप्त किया है वह यथार्थमें बुद्धिमान है—"सः बुद्धिमान्

मनुष्येषु," वह भ्रांत मोहित बुद्धिवाला मनुष्य नहीं जो जीवन और कर्मको निम्नतर बुद्धिके बाह्य, अनिश्चित और अस्थायी लक्षणोंसे समझना चाहता है। इसलिए मुक्त पुरुष कर्मसे भय नहीं करता, वह सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला विशाल विराट् कर्मी होता है—"कृत्सनकर्मकृत्।" अन्य लोग जैसे प्रकृतिके वशमें रहकर कर्म करते हैं वैसे वह कर्म नहीं करता। वह आत्माकी नीरव स्थिरतामें प्रतिष्ठित होकर, भगवान्के साथ योग-युक्त होकर कर्म करता है। उसके कर्मोंके स्वामी भगवान् होते हैं, वह स्वयं उन कर्मोंका निमित्तमात्र होता है जो उसकी प्रकृति अपने स्वामीको जानती हुई, उन्हींके वशमें रहती हुई, यंत्रवत् करती रहती है। इस ज्ञानकी प्रज्वलित तीव्रता और पवित्रतामें उसके कर्म अग्निमें ईंधनकी तरह जलकर भस्म हो जाते हैं और इन कर्मोंका उसके मनपर कोई दाग या विकृत कर देने वाला चिह्न नहीं लगता। वह स्थिर, शांत, अचल, निर्मल, शुभ और पवित्र बना रहता है। कर्त्तृत्व-अभिमानसे शून्य इस मोक्षदायक ज्ञानमें स्थित होकर, समस्त कर्मोंको करना ही दिव्यकर्मीका प्रथम लक्षण है।

दूसरा लक्षण है निष्कामता, कारण, कर्तृत्वाभिमानसे शून्य व्यक्तिके अंदर कामना-का रहना असंभव हो जाता है, वह भोजन नहीं पाती, आश्रयके अभावमें टूटने लगती है और निष्प्राण होकर मर जाती है।। बाह्यतः मुक्त पुरुष भी अन्य लोगोंकी तरह ही समस्त कर्मोंको करता हुआ दिखाई देता है, शायद वह कर्मोंको एक बड़े पैमानेपर और एक अधिक शक्तिशाली संकल्प और प्रेरक शक्तिके साथ करता है, क्योंकि उसकी सक्रिय प्रकृतिके अंदर भगवान्के संकल्पका बल काम करता है; किंतु समस्त समारंभों और स्वीकृतियोंमेंसे कामनाका हीनतर भाव और अधोमुखी इच्छा बिल्कुल निर्वासित रहते हैं—"सर्वे समारंभाः कामसंकल्प वर्जिताः।" उसे अपने कर्मोंके फलोंके लिये आसक्ति नहीं होती, और जहाँ फलके लिये कर्म नहीं किया जाता अपितु सब कर्मोंके स्वामीका एक निर्वैयक्तिक यन्त्र बनकर सारा कर्म किया जाता है वहाँ कामनाके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता—अपने प्रभुके कर्मको सफलतापूर्वक करनेकी इच्छा तकका नहीं, क्योंकि फल भगवान्का है और उन्हींके द्वारा निर्दिष्ट है; किसी व्यक्तिगत इच्छा या चेष्टा द्वारा नहीं, वहाँ यह इच्छा तक नहीं होती कि प्रभुके कर्मको गौरवके साथ करूँ या इस प्रकार करूँ जिससे वे सन्तुष्ट रहें; क्योंकि यथार्थमें कर्मी स्वयं भगवान् ही हैं और सारी महिमा है उनकी शक्तिके उस रूप-विशेषकी जिसके जिम्मे प्रकृतिमें जाकर उस कर्मको करनेका भार सौंपा गया है, न कि किसी परिच्छिन्न मानव-व्यक्तित्वकी। मुक्त पुरुषका अन्तःकरण और अन्तरात्मा कुछ भी नहीं करता—"नैव किञ्चत् करोति सः"; यद्यपि वह अपनी प्रकृतिके अन्दरसे कर्ममें नियुक्त होता है पर कर्म करती है वह प्रकृति, वह कर्त्री-शक्ति, वह चिन्मयी भगवती जो अन्तर्यामी भगवान् द्वारा नियंत्रित रहती है।

इसका यह अर्थ नहीं कि कर्म पूर्ण कौशलके साथ, सफलताके साथ, उपयुक्त साधनोंका ठीक-ठीक उपयोग करके न किया जाय; बल्कि योगस्थ होकर शान्तिसे कर्म करनेसे कुशल कर्म जितना सुलभ होता है उतना आशा और भयसे अन्धे होकर कर्म करनेसे या लुढ़कती-पुढ़कती हुई बुद्धिके द्वारा पंगु बने कर्मोंको करनेसे या फिर अधीर मानव-इच्छाकी

उत्सुकतापूर्ण घबराहटके साथ दौड़-धूपकर कर्म करनेसे नहीं होता। गीताने अन्यत्र कहा है: "योग: कर्मसु कौशलम्," योग ही कर्मका सच्चा कौशल है। पर यह सब होता है निर्वैयक्तिक भावसे, एक महती विश्व-ज्योति और शक्तिके द्वारा जो व्यष्टि-पुरुषकी प्रकृतिमें अपना कर्म करती है। कर्मयोगी इस बातको जानता है कि उसे जो शक्ति दी गयी है वह भागवत निर्दिष्ट फलको प्राप्त करनेके उपयुक्त होगी, उसे जो कर्म करना है वह उस कर्मके पीछे जो भागवत चिन्ता है उसके अनुकूल होगा तथा उसका जो संकल्प होगा उसकी गति-शक्ति और दिशा गुप्त रूपसे भागवत प्रज्ञा द्वारा नियन्त्रित होती रहेगी—अवश्य ही उसका जो संकल्प होगा वह न तो इच्छा होगी न वासना, बल्कि होगा वह सचेतन शक्तिका निर्वैयक्तिक प्रवाह किसी ऐसे लक्ष्यकी ओर जो कभी भी उसका अपना नहीं होगा। कर्मका फल वैसा भी हो सकता है जिसे सामान्य मनुष्य सफलता समझते हैं अथवा ऐसा भी हो सकता है जो उन्हें विफलता जान पड़े, पर कर्मयोगी इन दोनोंमें अभीष्टकी सिद्धि ही देखता है, और वह अभीष्ट उसका अपना नहीं होता, बल्कि उन सर्वज्ञका होता है जो कर्म और फल दोनोंके संचालक हैं। कर्मयोगी विजयकी खोज नहीं करता, वह यही इच्छा करता है कि भगवत्संकल्प और भगवदभिप्राय पूर्ण हो और यह पूर्णता साधित होती है आपात-दृश्य पराजयके द्वारा भी उतनी ही जितनी कि आपात-दृश्य जयके द्वारा और प्राय: जयकी अपेक्षा पराजय द्वारा ही यह कार्य विशेष बलके साथ सम्पन्न होता है। अर्जुनको युद्धके आदेशके साथ-साथ विजयका आश्वासन भी प्राप्त है; पर यदि उसकी हार ही होनेकी होती तो भी उसका कर्त्तव्य युद्ध करना ही होता; क्योंकि जिन क्रिया-शक्तियोंके समूह द्वारा भगवान्‌का संकल्प सफल होता है उसके अन्दर अर्जुनके तत्कालीन भागके तौरपर उपस्थित कालमें उसे जो कर्म सौंपा गया है वह यह युद्धकर्म ही है।

मुक्त पुरुषकी अपनी कोई आशा-आकांक्षा नहीं होती, वह चीजोंको अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति जानकर पकड़े नहीं रहता, भगवदिच्छा उसे जो कुछ ला देती है उसे वह ग्रहण करता है, वह किसी वस्तुका लोभ नहीं करता, किसीसे डाह नहीं करता; और जो कुछ उसे प्राप्त होता है उसे रागद्वेष रहित होकर ग्रहण करता है, जो कुछ उससे चला जाता उसे संसार-चक्रमें चले जाने देता है और उसके लिये दु:ख या शोक नहीं करता, उसके वियोगका उसपर कोई असर नहीं होता। उसके हृदय और आत्मा उसके पूर्ण वशमें होते हैं, वे समस्त प्रतिक्रिया या आवेगसे मुक्त होते हैं, वे बाह्य विषयोंके स्पर्शसे विक्षुब्ध नहीं होते। उसका कर्ममात्र शारीरिक कर्म होता है—"शारीरं केवलं कर्म," क्योंकि बाकी सब कुछ ऊपरसे आता है, मानव-स्तरपर पैदा नहीं हो सकता, केवल भगवान् पुरुषोत्तमके संकल्प, ज्ञान और आनन्दका प्रतिबिम्ब होता है, इसलिये वह कर्म और उसके उद्देश्योंपर जोर देनेके द्वारा अपने मन और हृदयमें वे प्रतिक्रियायें नहीं होने देता जिन्हें हम षड्‌रिपु और पाप कहते हैं। कारण बाह्यकर्म पाप नहीं है, बल्कि वैयक्तिक संकल्प, मन और हृदय की जो अशुद्ध प्रतिक्रिया कर्मके साथ लगी रहती है और कर्म कराती है उसीका नाम पाप है। निर्वैयक्तिक आध्यात्मिक मनुष्य सदा ही शुद्ध, "अपापविद्ध" होता है और उसके द्वारा

होने वाले कार्यमें उसकी सहज शुद्धता आ जाती है। यह आध्यात्मिक निर्वैयक्तित्व दिव्य कर्मीका तीसरा लक्षण है। किसी प्रकारकी महत्ता या विशालताको प्राप्त सभी मनुष्य यह अनुभव करते हैं कि कोई निर्वैयक्तिक शक्ति या प्रेम या संकल्प और ज्ञान उनके अन्दरसे काम कर रहा है, पर वे मानव-व्यक्तित्वकी अहंभावापन्न प्रतिक्रियाओंसे मुक्त नहीं होते और कभी-कभी ये प्रतिक्रियायें अत्यन्त प्रचंड होती हैं। किन्तु मुक्त पुरुष इन प्रतिक्रियाओं से सर्वथा मुक्त होता है; क्योंकि उसने अपने व्यक्तित्वको निर्वैयक्तिक पुरुषके अन्दर ढाल दिया होता है और अब उसका व्यक्तित्व अपना नहीं रह गया होता, वह उन पुरुषोत्तमके हाथों चला गया होता है जो सब सांत गुणोंका अनंत और मुक्तभावसे व्यवहार करते और जो किसीके द्वारा बद्ध नहीं होते। मुक्त पुरुष आत्मा हो जाता है और तब वह प्रकृतिके गुणोंका एक पुञ्ज-सा बना नहीं रहता; और प्रकृतिके कर्मके लिये उसके व्यक्तित्वका जो कुछ आभास बाकी रह जाता है वह एक ऐसी चीज होती है जो बन्धमुक्त है, उदार है नमनीय है और विश्वव्यापक है, वह भगवान्‌की अनन्त सत्ताका एक विशुद्ध पात्र बन जाता है, पुरुषोत्तमका एक जीवन छद्म रूप हो जाता है।

इस ज्ञान, इस निष्कामता और निर्वैयक्तिकताका फल यह होता है कि पुरुष और प्रकृतिमें पूर्ण समत्व आ जाता है। समत्व दिव्य कर्मीका चौथा लक्षण है। वह "द्वंद्वातीत" हो जाता है। वह सफलता और विफलता, जय और पराजयको अविचल भाव और समदृष्टिसे देखता है, पर इतना ही नहीं वह सभी द्वन्द्वोंसे परे उस स्थितिमें पहुँच जाता है जहाँ द्वन्द्वोंका सामञ्जस्य होता है। जिन बाह्य लक्षणोंसे मनुष्य जगत्‌की घटनाओंके प्रति अपनी मनोवृत्तिका रुख निश्चित करते हैं वे उसकी दृष्टिमें गौण और यांत्रिक होते हैं। वह उनकी उपेक्षा नहीं करता, पर उनसे परे रहता है। कामनाके वशीभूत मनुष्यके लिये शुभ और अशुभका भेद जो इतना सर्वप्रमुख प्रतीत होता है वह निष्काम आत्मवान् पुरुषके लिये समभावसे ग्राह्य होता है, क्योंकि इन दोनोंके सम्मिश्रणसे ही शाश्वत श्रेयके विकासशील रूप निर्मित होते हैं। उसकी हार हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसकी दृष्टिके अनुसार प्रकृतिके कुरुक्षेत्र अर्थात् धर्मक्षेत्रमें सबकुछ भगवान्‌की विजयकी ओर जा रहा है। वह यह देख पाता है कि इस कर्मक्षेत्रमें जो विकासात्मक धर्मका क्षेत्र है—"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे," सब कुछ भगवान्‌की विजयकी ओर जा रहा है, उसमें जो यह संग्राम चल रहा है उसके प्रत्येक प्रसंगका नक्शा इस युद्धके अधिनायक कर्मोंके ईश्वर और धर्मके नेताकी त्रिकालदर्शी दृष्टिके द्वारा पहलेसे ही खींचकर तैयार किया जा चुका है। मनुष्य उसे चाहे मान दें या अपमान, उसकी निन्दा करें या स्तुति, उसका उसपर कुछ भी असर नहीं पड़ सकता, क्योंकि उसके कार्यका विचार करनेवाला कोई और है जिसकी दृष्टि उसकी दृष्टिसे बहुत अधिक विमल है और उसके कार्यका पैमाना भी दूसरा ही है और उसका प्रेरक भाव सांसारिक पुरस्कार पर जरा भी निर्भर नहीं करता। क्षत्रिय अर्जुनकी दृष्टिमें मान और कीर्तिका बहुत बड़ा मूल्य होना स्वाभाविक ही है और उसका अपयश तथा कापुरुषताके अपवादसे बचना, उन्हें मृत्युसे भी बुरा मानना उचित ही है, क्योंकि संसारमें मानकी रक्षा करना और साहसकी मर्यादा बनाये रखना उसके धर्मके अंग हैं,

किन्तु मुक्त अर्जुनको इसमेंसे किसी बातकी परवाह करनेकी आवश्यकता नहीं, उसे केवल अपना 'कर्त्तव्य कर्म' जानना है उस कर्मको जानना है जिसकी माँग परम-आत्मा उससे कर रहा है और फलको अपने कर्मोंके ईश्वरके हाथोंमें छोड़ देना है। पाप-पुण्यके भेदसे भी वह ऊपर उठ चुका है। मानव-जीव जब अपने अहंकारकी पकड़को ढीला करनेके लिये और अपने प्राणावेगोंके वजनदार और प्रचंड जूएके बोझको हलका करनेके लिये संघर्ष कर रहा होता है तब पाप और पुण्यमें विवेक करते रहना उसके लिये सबसे महत्वपूर्ण बात होती है, पर मुक्त पुरुष इसके भी परे चला जाता है, वह इन संघर्षोंके ऊपर उठ जाता है तथा साक्षिस्वरूप ज्ञानमय आत्माकी पवित्रतामें सुप्रतिष्ठित हो जाता है। अब पाप उससे झड़कर गिर गया होता है और किसी अच्छे कर्मसे उसे न कोई पुण्य मिलता है और न उसके पुण्यकी वृद्धि होती है और न किसी बुरे कर्मसे उस पुण्यकी हानि या नाश ही होता है, वह तो दिव्य और निरहं प्रकृतिकी अविच्छेद्य और अपरिवर्तनीय पवित्रताके शिखरपर चढ़ गया होता है और वहीं आसन जमाकर बैठ गया होता है। उसके कर्मोंका आरम्भ पाप-पुण्यके बोधसे नहीं होता, न ये उसपर लागू होते हैं।

अर्जुन, जो अभी भी अज्ञानमें है, अपने हृदयमें सत्य और न्यायकी कोई पुकार अनुभव नहीं कर सकता है और मन-ही-मन यह सोच सकता है कि युद्धसे पीछे इतना पाप होगा, क्योंकि अन्याय और अत्याचार तथा अधर्मकी विजयका अशुभ कर्म राष्ट्रों एवं मनुष्योंपर जो सारे कष्ट लाता है उसका उत्तरदायित्व उसपर आवेगा। अथवा उसके हृदयमें हिंसा और मारकाटके प्रति घृणा पैदा हो सकती है और वह मन-ही-मन सोच सकता है कि रक्तपात हर हालतमें पाप है और इसका समर्थन किसी भी अवस्थामें नहीं किया जा सकता। धर्म और मुक्तिकी दृष्टिसे ये दोनों मनोभाव एकसे ही मालूम होंगे; इनमें से कौनसा मनोभाव किसके मनपर हावी होगा या दुनियाकी दृष्टिमें ठीक जँचेगा यह बात देश, काल, पात्र और परिस्थितिपर निर्भर करेगी। अथवा यह भी हो सकता है कि अपने शत्रुओंके मुकाबलेमें अपने मित्रोंकी सहायता करनेके लिये, अशुभ और अत्याचारके विरुद्ध धर्म और न्यायका पक्ष समर्थन करनेके लिये, उसका हृदय और उसकी कुल-मर्यादा उसे विवश करे। किन्तु मुक्त पुरुषकी दृष्टि इन परस्पर-विरोधी मानदण्डोंके परे जाकर केवल यह देखती है कि विकासशील धर्मकी रक्षा या अभ्युदयके लिये आवश्यक वह कौन-सा कर्म है जो परमात्मा मुझसे कराना चाहते हैं। उसका अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं जिसे उसे सिद्ध करना है, कोई राग-द्वेष नहीं जिसे उसे तुष्ट करना है, कर्मोंका कोई ऐसा रूढ़ मानदंड नहीं जो मानव-जातिकी प्रगतिके अभिसरणके सम्मुख अपनी पत्थरकी लकीर लगादे अथवा अनन्तकी पुकारके विरुद्ध ललकारता हुआ खड़ा रहे। उसके कोई निजी शत्रु नहीं जिन्हें उसे जीतना या मारना है, वह केवल ऐसे मनुष्योंको देखता है जिन्हें परिस्थितियों तथा पदार्थ मात्रमें निहित संकल्पने उनके विरुद्ध लाकर इसलिए खड़ा किया है कि वे प्रतिरोधके द्वारा भवितव्यताकी गतिकी सहायता करें। इन लोगोंके प्रति उसके मनमें न क्रोध है न घृणा, क्योंकि दिव्य प्रकृतिमें ये चीजें हैं ही नहीं। जो कुछ विरोध करे उसे मार डालनेकी आसुरी कामना, संहारकी भयंकर रक्षाकी लिप्सा

उसकी स्थिरता और शान्ति एवं सर्वाश्लेषी सहानुभूति और समझके लिये असम्भव हैं। वह किसीका अनिष्ट करना नहीं चाहता, बल्कि इसके विपरीत सर्वोंके साथ मैत्री एवं करुणाका भाव रखता है—"मैत्रः करुण एव च।" पर यह करुणा एक दिव्य आत्माकी करुणा है जो मनुष्योंको अपनी ऊँचाईपरसे देखता है, सभी अन्य आत्माओंको अपने अन्दर आश्लेषित करता है, न कि हृदय और स्नायुयों और इन्द्रियोंका सिमटन जो कि सामान्य-मानवी दयाका रूप होता है वह शरीरके जीवनको भी चरम महत्व नहीं देता अपितु इसके परे आत्माके जीवनकी ही खोज करता है, उस अन्यको (शारीरिक जीवनको) वह मात्र साधन-रूप मानता है। वह संहार और संग्राममें कूद जानेकी शीघ्रता नहीं करेगा, किन्तु यदि धर्मके प्रवाहमें युद्ध आ जाय तो वह, जिन लोगोंके बल और प्रभुत्वके सुखको उसे भंग करना है तथा जिनके विजयी जीवनके उल्लासको उसे नष्ट करना है, उनके प्रति विशाल समता तथा पूर्ण सहमति एवं सहानुभूतिकी भावना लेकर उसे स्वीकार लेगा।

क्योंकि मुक्त पुरुष सबोंमें दो बातें देखता है, एक यह कि भगवान् घट-घटमें समरूपसे वास करते हैं और दूसरी यह कि जो नानाविध प्राकट्य है वह अपनी तात्कालिक परिस्थितिमें ही विषम है। पशुमें, मनुष्यमें, कुत्तेमें म्लेच्छ एवं अंत्यजमें, विद्वान् और पुण्यात्मा ब्राह्मणमें, महात्मा और पापात्मामें, मित्र, शत्रु और तटस्थमें, जो उसे प्यार करते और उसका उपकार करते हैं उनमें और जो उससे घृणा करते और उसे पीड़ा पहुँचाते हैं उनमें वह अपने आपको देखता है, ईश्वरको देखता है और उसके हृदयमें सबके लिये एकसी ही दिव्य करुणा और दिव्य प्रीति होती है। परिस्थितिके अनुसार बाह्यतः वह किसीको अपनी छातीसे लगा सकता है अथवा किसीसे युद्ध कर सकता है, पर किसी भी हालतमें उसकी समदृष्टिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसका हृदय सबके लिये ही खुला रहता है, वह अन्दरमें सबको गलेसे लगाये रहता है। और उसके सब कर्मोंमें एक ही अध्यात्म तत्व काम करता है अर्थात् पूर्ण समत्व और एक ही कर्मतत्व काम करता है अर्थात् वह भागवत संकल्प जो भगवान्की ओर क्रमशः अग्रसर होती हुई मानव-जातिकी सहायताके लिये उसके अन्दर क्रियाशील होती है।

फिर दिव्य कर्मीका लक्षण यह है जो स्वयं भागवत चेतनाका ही केन्द्रीय लक्षण है, अर्थात् एक पूर्ण अन्तर आनन्द और शान्ति जो अपनी उत्पत्ति एवं स्थितिके लिये जगत् के किसी भी वस्तुपर निर्भर नहीं करते, ये अन्तर्जात होते हैं, अन्तरात्माकी चेतनाके ये तत्व ही हैं, दिव्य सत्ताकी ये प्रकृति ही हैं। सामान्य मानव अपने सुखके लिये बाह्य पदार्थों पर निर्भर करता है। इसीसे उसमें कामना होती है, इसीसे उसमें क्रोध और राग, सुख और दुःख, हर्ष और शोक होते हैं, इसीसे वह वस्तुओंको शुभाशुभकी तुलनापर तौलता है। किन्तु दिव्य आत्मापर इनमेंसे किसीका कोई असर नहीं पड़ सकता; वह किसी प्रकारकी निर्भरताके बिना सदा तृप्त रहता है—'नित्यतृप्तो निराश्रयः' क्योंकि उसका आनन्द उसकी दिव्य तृप्ति, उसका सुख, उसकी सुप्रसन्नज्योति सदा उसके अन्दर वर्त्तमान हैं, उसके रोम-रोममें व्याप्त हैं—"आत्मरतिः, अन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तरज्योतिरेव

यः ।" बाह्य पदार्थोंमें वह जो आनन्द लेता है वह बाह्य पदार्थोंके कारण नहीं होता, उस रसके लिये नहीं होता जिसे वह उनमें ढूँढ़नेपर भी न पावे, बल्कि उस पदार्थोंमें जो आत्मारस है उसके लिये होता है, इसलिये होता है कि वे भगवान्‌के रूपको अभिव्यक्त करते हैं और साथ ही उसके लिये होता है जो उनमें सदा है और सदा रहेगा और जिसे ढूँढ़कर वह पावेगा ही। इन पदार्थोंके बाह्य स्पर्शोंमें उसकी आसक्ति नहीं होती, बल्कि जो आनन्द उसे अपने अन्दर मिलता है वही आनन्द उसे सर्वत्र मिलता है; क्योंकि उसका जो आत्मा है वही उन पदार्थोंका आत्मा है, और चराचर प्राणियोंके आत्माके साथ वह एक हो गया है —उनके विभिन्न नाम-रूपोंके होते हुए भी उनके अन्दर जो एक समब्रह्म है उसके साथ वह एक हो गया है—"ब्रह्मयोगयुक्तात्मा," "सर्वभूतात्मभूतात्मा"। प्रिय पदार्थके स्पर्शसे उसे हर्ष नहीं होता, अप्रियसे उसे शोक नहीं होता। वस्तुओंके घाव, मित्रोंके घाव ता शत्रुओंके घाव उसकी दृष्टिकी स्थिरता भंग नहीं कर सकते, न उसके हृदयको मोहित कर सकते हैं। यह आत्मा अपने स्वरूपमें, जैसा कि उपनिषद् बतलाती है, 'अव्रणम्' होता है, उसपर कोई व्रण या व्रणचिन्ह नहीं होता। सब पदार्थोंसे वह एक ही अक्षय आनंद का उपभोग करता है—"सुखमक्षयमश्नुते।"

वह समत्व, वह निर्वैयक्तिकता, वल शान्ति, वह मुक्ति, वह आनन्द कर्मके करने या न करने जैसी किसी बाहरी चीजपर अवलम्बित नहीं होता। गीताने बार-बार त्याग और संन्यास अर्थात् आन्तर संन्यास और बाह्य संन्यासके बीच जो भेद है उसकी ओर ध्यान दिलाया है। त्यागके बिना संन्यासका कोई मूल्य नहीं है; त्यागके बिना संन्यास हो भी नहीं सकता और जहाँ आँतरिक मुक्ति है वहाँ बाह्य संन्यासकी कोई आवश्यकता भी नहीं होती। यथार्थमें त्याग ही सच्चा और पूर्ण संन्यास है। "उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिये जो न द्वेष करता है न आकांक्षा, इस प्रकारका द्वंद्वमुक्त व्यक्ति अनायास ही बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।" बाह्य संन्यासका कष्टकर मार्ग —'दुःखमाप्तु'—अनावश्यक है। यह सर्वथा सत्य है कि सब कर्मों और फलोंको अर्पण करना होता है, उनका त्याग करना होता है, पर यह अर्पण, यह त्याग आंतरिक है, बाह्य नहीं; यह प्रकृतिकी जड़तामें नहीं किया जाता, बल्कि यज्ञके उन अधीश्वरको किया जाता है, उस निर्वैयक्तिक ब्रह्मकी शान्ति और आनन्दमें किया जाता है जिसमेंसे बिना उसकी शान्तिको भंग किये सारा कर्म-प्रवाहित होता है। कर्मका सच्चा संन्यास ब्रह्ममें कर्मोंका आधार करना ही है। "जो कोई संगका त्याग करके, ब्रह्ममें कर्मोंका आधान करके (या ब्रह्मको कर्मोंका आधार बनाकर) कर्म करता है —"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि" वह पापसे उसी प्रकार अछूता रहता है जैसे कि कमलके पत्तेपर पानी नहीं टिकता।" इसलिये योगी पहले शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे अथवा केवल कर्मेन्द्रियोंसे ही आसक्तिको छोड़कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं। कर्मफलोंकी आसक्तिको छोड़नेसे ब्रह्मके साथ युक्त होकर अन्तरात्मा ब्राह्मी स्थितिकी ऐकांतिक शांति लाभ करता है, किन्तु जो कोई ब्रह्मके साथ इस प्रकार युक्त नहीं है वह फलमें आसक्त हो जाता है और कामना-संभूत कर्मसे बँध जाता है। यह स्थिति, यह पवित्रता, यह शांति जहाँ एक बार प्राप्त हो जाती है वहाँ देही आत्मा अपनी प्रकृतिको पूर्ण रूपसे वशमें किये सब कर्मोंका "मनसा" (मनसे, बाहरसे नहीं) संन्यास करके 'नवद्वारा पुरीमें

बैठा रहता है, वह न कुछ करता है न कुछ कराता है।" कारण, यह आत्मा ही सबके अन्दर रहने वाला एक निर्वैयक्तिक आत्मा है, परब्रह्म है, प्रभु है, विभु है जो निर्गुण होनेके कारण न तो जगत्के किसी कर्मकी सृष्टि करता है न अपनेको कर्त्ता समझने वाले मानसिक विचारकी—'न कर्तृत्वं न कर्माणि' —न कर्मफल, संयोग रूप कार्यकारण सम्बन्धकी। इस सबकी सृष्टि मनुष्यके स्वभाव द्वारा होती है। स्वभाव अर्थात् आत्मा-संभूतिका मूल तत्त्व सर्वव्यापी, निर्गुण आत्मा न पाप ग्रहण करता है न पुण्य ही; जीवगत जो अज्ञान है उससे, कर्तृत्वके अहंकारसे, अपने श्रेष्ठ आत्मभावकी अनभिज्ञतासे; प्रकृतिके कर्मोंके साथ अपना तादात्म्य कर लेनेसे पाप-पुण्यकी सृष्टि होती है, और जब उसका अन्तस्थ आत्मज्ञान इस अन्धकारमय आवरणसे मुक्त हो जाता है तब उसका वह ज्ञान उसके अन्तस्थ सदात्माको सूर्यके समान प्रकाशित कर देता है; तब वह अपने-आपको प्रकृतिके करण-समूहके ऊपर रहनेवाला आत्मा जानने लगता है। उस विशुद्ध, अनन्त, अविकार्य अव्यय स्थितिमें आकर फिर वह विचलित नहीं होता, क्योंकि प्रकृतिकी किसी क्रियाके द्वारा हमारा स्वरूप बन-बिगड़ सकता है, इस प्रकारके भ्रममें अब वह नहीं रहता। निर्गुण ब्रह्मके साथ पूर्ण तादात्म्य लाभ करके वह यह भी कर सकता है कि प्रकृतिकी क्रियाके अन्दर फिरसे जन्म लेकर वापस आनेकी आवश्यकतासे अपनेको बरी करले।

फिर भी यह मुक्ति कर्म करनेसे जरा भी नहीं रोकती। तब हाँ, अब कर्म करते हुए भी वह यह जानता है कि कर्म मैं नहीं कर रहा हूँ, कर्म करने वाले हैं प्रकृतिके त्रिगुण। "तत्ववित् व्यक्ति (निष्क्रय निर्गुण ब्रह्मके साथ) मुक्त होकर यही सोचता है कि कर्म मैं नहीं करता; देखते,सुनते, रसास्वादन करते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, साँस लेते, बोलते, देते, लेते, आँख खोलने, बन्द करते वह यही धारणा करता है कि इन्द्रियाँ विषयोंमें बरत रही हैं।" वह स्वयं अक्षर अविकार्य आत्मामें सुप्रतिष्ठित होनेके कारण त्रिगुणातीत हो जाता है। वह न सात्विक है, न राजसी न तामसी। उसके कर्मोंमें प्राकृतिक गुणों और धर्मोंके जो परिवर्तन होते रहते हैं, प्रकाश और सुख, कर्मण्यता और शक्ति, विश्राम और जड़ता-रूपी, इनका जो छंदोबद्ध खेल होता रहता है, उन्हें वह निर्मल और शान्त भावसे देखता है। अपने कर्मको इस प्रकार शान्त आत्माके उच्चासनसे देखना और उसमें लिप्त न होना, यह त्रैगुणातीत भी दिव्य कर्मीका एक महान् लक्षण है। यदि इस विचारको सब कुछ मान लिया जाय तो इसका परिणाम यह निकलेगा कि सबकुछ प्रकृतिकी ही यान्त्रिक नियति है और आत्मा इस सबमें सर्वथा अलग है उसपर कोई जिम्मेवारी नहीं, पर गीता इस अपूर्ण विचारकी भूलका निवारण करती है पुरुषोत्तम तत्त्वकी अपनी प्रकाशमान और परमेश्वरवादी भावनाके द्वारा। गीता इस बातको स्पष्टरूपसे कहती है कि सब कुछके मूलमें प्रकृति ही नहीं है जो अपने कर्मोंका यन्त्रवत् निर्णय करती रहती हो, बल्कि प्रकृतिको प्रेरित करता है परमात्मा, पुरुषोत्तमका संकल्प, जिन्होंने धार्त्त-राष्ट्रोंको पहलेसे ही मार रखा है, अर्जुन जिनका मानवयन्त्र-मात्र है, वे विश्वात्मा परात्पर परमेश्वर ही प्रकृतिके समस्त कर्मोंके स्वामी हैं। निर्गुण ब्रह्ममें कर्मोंका आधान करना तो कर्त्तृत्वाभिमानसे छुटकारा पानेका एक मात्र साधन है, पर हमारा लक्ष्य है अपने समस्त

कर्मोंको सर्वभूत-महेश्वरको अर्पित करना। "आत्माके साथ अपनी चेतनाका तादात्म्य करके, मुझमें सब कर्मोंका संन्यास करके —"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यास्याध्यात्मचेतसा," अपनी वैयक्तिक आशाओं और कामनाओंसे तथा 'मैं' और 'मेरा' पनसे मुक्त तथा विगत-ज्वर होकर युद्धकर," कर्मकर, जगत्में मेरे संकल्पको कार्यान्वितकर। भगवान् ही सभी कर्मोंको प्रवर्तित, प्रेरित एवं निर्धारित करते हैं। मानव आत्मा ब्रह्ममें व्यक्तित्वभावसे शून्य होकर उनकी शक्तिका विशुद्ध और निश्चल यन्त्र बनता है। यही शक्ति प्रकृतिमें आकर दिव्य कर्म सम्पादित करती है। केवल ऐसे कर्म ही मुक्त पुरुषके कर्म हैं, क्योंकि किसी भी कर्ममें उसकी अपनी प्रवृत्ति नहीं होती, केवल ऐसे कर्म ही सिद्ध कर्मयोगीके कर्म हैं। इन कर्मोंका मुक्त आत्मासे उदय होता और आत्मामें कोई विकार या संस्कार उत्पन्न किये बिना ही इनका लय हो जाता है, जैसे अक्षर अगाध चित्-समुद्रमें लहरें ऊपर ही ऊपर उठती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥
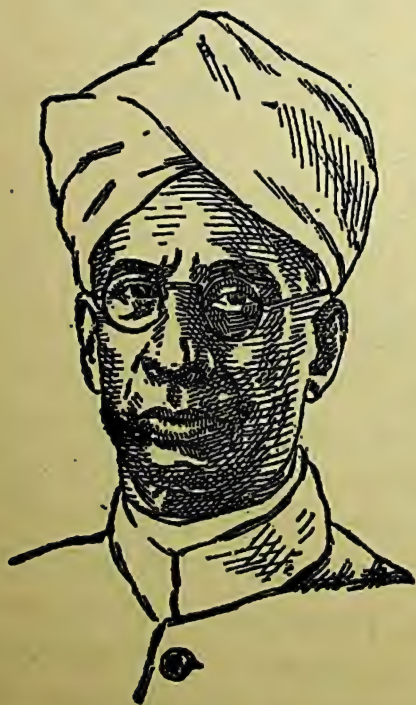
गीताका आदर्श कर्म

गीताके आदर्शपर चलने वाला मनुष्य पुरुषोत्तमकी भाँति काम करता है जो इस संसारमें फँसे बिना इसकी सब सम्भावनाओंमें मेल बैठाता है। गीताका गुरु वास्तविकताके जगतको पहचानता है। उसके द्वारा बतलाये योगयुक्त मार्गसे कर्मकी शृङ्खलाको यहीं और अभी अनुभवजन्य संसारके प्रवाहमें रहते तोड़ा जा सकता है। निष्कामता और परमात्मामें श्रद्धाको पुष्ट करके हम कर्मके स्वामी बन सकते हैं।

—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

पुरुषसे पुरुषोत्तम

श्रीक्षितीश वेदालङ्कार, एम. ए.

[मनुष्य जन्म पाकर जो कोई व्यक्ति उत्तम पुरुष बननेका प्रयत्न नहीं करता तो अनन्तकालतक जन्म-मरणके चक्रमें फँसते रहना ही उसकी नियति है। इस आवागमनके चक्रसे छूटना केवल पुरुषसे पुरुषोत्तम बननेसे ही सम्भव है। इसका उपाय 'पुरुषोत्तम' ने अपने जीवनसे तथा गीतामें वर्णित उपदेशसे दर्शा दिया है।]

धर्म क्या है ?

यह अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है और विभिन्न मतावलम्बियोंने अपने-अपने मतके अनुसार इस जटिल प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयत्न किया है। योगेश्वर श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद् गीतामें जब यह घोषणा करते हैं "जब जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं जन्म लेता हूँ"—तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वे धर्मके संरक्षकके रूपमें बोल रहे हैं। श्रीकृष्ण किसी मत-विशेषके संरक्षक नहीं, प्रत्युत मानव-धर्मके संरक्षक हैं, ऐसा मानव-धर्म जिसके कारण इस मानव-जातिका अस्तित्व विद्यमान है, जिसके कारण यह सृष्टि सदा गतिशील और विकासके पथपर सतत अग्रसर रहती है।

जब शास्त्रकार कहते हैं—

"धर्मो धारयते प्रजाः"

या

"धारणाद्धर्म इत्याहुः"

तब उनके कथनका अभिप्राय भी यही होता है कि धर्म वह है जिससे प्रजाका धारण होता है। धर्म ही सृष्टिको धारण किए हुए है, इसी कारण वह धर्म कहलाता है— धारण करने वाला ही धर्म। उसी धर्मकी रक्षाके लिए मानव जातिके लिए अन्यतम धर्म-संरक्षक आनन्दनन्द व्रजचन्द्रकी विश्वमोहिनी वंशीसे निस्सृत सुललित गीत है गीता।

इस धर्मका जैसा स्पष्ट, विशद और व्यावहारिक विवेचन गीताकारने प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

मत्स्यावतार आदि दस अवतारोंका वर्णन सूक्ष्म दृष्टिसे विवेचन करनेपर स्पष्टतः सृष्टिके विकास उसकी पौराणिक व्याख्या प्रतीत होती है। जब-जब पृथ्वीपर पापका भार बढ़ जाता है तब-तब उस भारको हल्का करनेके लिए कोई न कोई अवतार होता है। प्रत्येक अवतार धर्म-संरक्षक होता है, वह सृष्टिको विकास पथपर अग्रसर करनेके लिए होता है। सृष्टि स्थिर नहीं रह सकती। सृष्टि निर्माताने इसे स्थिर रहनेके लिए नहीं बनाया। वह सदा गतिशील रहेगी।

वह गति ह्रासकी ओर भी हो सकती है, विकासकी ओर भी। अवतारोंका प्रयोजन यह है कि वे इस सृष्टिको ह्रासकी दिशामें गति करनेसे रोककर विकासके पथपर अग्रसर करें। यही पापका निवारण और धर्मका संरक्षण है। यह दिव्य कार्य है, इस कार्यके लिए समर्पित जीवन दिव्य है। ऐसे व्यक्तिका जन्म भी दिव्य है और कर्म भी दिव्य है—"जन्म कर्म च मे दिव्यम्।" दिव्य यह इसलिए है कि यह सर्व-सुलभ नहीं है, सदियोंमें कोई बिरला ऐसा देव-पुरुष जन्म लेता है।

योगेश्वर कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं—अर्थात् पुरुषकी उत्तमताकी वे पूर्ण पराकाष्ठा हैं। इसका अर्थ यह भी है कि पुरुषको पुरुषोत्तम बनानेके लिए ही योगेश्वर श्रीकृष्णका जन्म हुआ था, अपनी जीवन-लीलासे उन्होंने इस बातका उदाहरण उपस्थित किया कि पुरुष पुरुषोत्तम कैसे बन सकता है। अन्ततः पुरुषको उत्तम पुरुष बननेके लिए ही सिरजा गया है। यदि मनुष्यका जन्म पाकर कोई व्यक्ति उत्तम पुरुष बननेका प्रयत्न नहीं करता तो फिर चौरासी लाख अर्थात् अनन्त योनियोंमें भटकना और अनन्तकालतक जन्म-मरणके चक्रमें फँसते रहना ही उसकी नियति है। इस आवागमनके चक्रसे छूटना अर्थात् मुक्ति पाना केवल एक ही प्रकारसे सम्भव है कि पुरुष पुरुषोत्तम बने। और पुरुषोत्तम बननेका उपाय स्वयं 'पुरुषोत्तम' ने अपने जीवनसे तथा गीतामें वर्णित उपदेशसे दर्शा दिया है।

पुरुषोत्तम बननेका वह उपाय क्या है? अधर्मके अभ्युत्थान और धर्मकी ग्लानिके निवारणार्थ श्रीकृष्ण की "तदात्मानं सृजाम्यहम्" की घोषणाका तात्पर्य क्या है? इसका विवेचन इसी श्लोकसे अगले श्लोकमें मिल जाता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

"साधुओंका परित्राण और दुष्कृतोंका विनाश—यही धर्मकी संस्थापना है—इसीके लिए मैं युग-युगमें जन्म लेता हूँ। अर्थात् साधुओंका परित्राण और दुष्कृतोंका विनाश धर्मका अनिवार्य अंग है। यही धर्म है, इसीकी स्थापनाके लिए प्रत्येक युगमें अवतार जन्म लेते हैं। यही पुरुषसे पुरुषोत्तम बननेका उपाय है।

जिस तरह जलका स्वभाव है नीचेकी ओर गति करना, उसी तरह सामान्य मनुष्यों-का स्वभाव होता है—नीचेकी ओर अधर्मकी ओर गति करना। जो मनुष्य स्वयं धर्माचरण नहीं कर सकता, वह धर्मात्माओंकी रक्षाका व्रत कैसे लेगा? साधुओं-धर्मात्माओंके परि-त्राणके लिए मनुष्यको पहले स्वयं धर्माचरण करना होगा, ऊपर उठना होगा—पुरुषसे पुरुषोत्तम बनना होगा।

परन्तु इस साधु-परित्राणकी एक शर्त भी साथ ही है वह है—"दुष्कृतोंका विनाश।" साधुओंका परित्राण और दुष्कृतोंका विनाश जैसे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, एक ही प्रकियाके दो रूप हैं। एकके बिना दूसरी क्रिया असम्भव है। धर्मकी रक्षाके लिए अधर्मका नाश भी उतना ही आवश्यक है। धर्मकी रक्षा और अधर्मका नाश जितना व्यक्तिगत जीवनमें अपेक्षित है, उतना ही सामाजिक जीवनमें, उतना ही राजनीतिक जीवनमें। जितना एक देशके जीवनमें, उतना ही समस्त संसारके जीवनमें।

प्रायः 'साधुओं'के परित्राणकी या धर्मकी रक्षाका औचित्य तो जन-सामान्यकी समझमें आ जाता है, परन्तु 'दुष्कृतोंके विनाश' या अधर्मकी समाप्तिकी बात सहज ही गले नहीं उतरती। कुछ लोगोंको 'दुष्कृतोंके विनाश' में हिंसाकी गन्ध भी आ सकती है। परन्तु जो लोग 'दुष्कृतोंके विनाश'को 'साधुओंके परित्राण'का अनिवार्य अंग नहीं मानते, वे सृष्टिके यथार्थ स्वरूपसे परिचित नहीं हैं। संसारमें पुण्यके साथ ही पाप भी रहता है, जैसे प्रकाशके साथ अन्धकार, फूलके साथ कांटा और भलाईके साथ बुराई। यह सृष्टि 'गुण दोष मय' है। इसमें गुण भी हैं, दोष भी, पुण्य भी, पाप भी, परोपकार भी और स्वार्थ भी, धर्म भी और अधर्म भी। यदि धर्मकी रक्षाके लिए विशेष प्रयत्न न किया जाये तो अधर्मका विस्तार चहुँ ओर हो जाएगा, दुष्कृतोंके बढ़नेपर साधुओंका जीवन दूभर हो जाएगा। इसीलिए प्रत्येक राज्य, समाज और व्यक्तिका कर्त्तव्य होता है कि वह दुष्टोंको दण्ड दे और सज्जनोंकी रक्षा करे, बुराईको मिटानेमें और भलाईको बढ़ानेमें सहायक हो, वह प्रकाशका प्रहरी बने। जो लोग बुराईको मिटानेमें सक्रिय सहयोग नहीं देते, वे भलाईकी रक्षा भी नहीं कर सकते।

जो किसान अपने खेतमें अनाजकी फसल उगाना चाहता है, उसे अनाजकी पैदावारमें बाधक झांड़-झंखाड़को पहले खेतमेंसे हटाना पड़ता है, बिना उनको हटाए वह अपनाया समाजका पेट नहीं भर सकता। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि अनावश्यक झांड़ झंकार तो खेतमें अपने आप भी उग आते हैं, उनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रयत्न तो अनाज उगानेके लिए ही करणीय है। इसी प्रकार अधर्मकी वृद्धिके लिए प्रयत्नकी आवश्य-कता नहीं, वह तो दिन दूनी रात चौगुनी स्वयमेव हो रही है। आवश्यकता है—अधर्मका नाश करके धर्मकी वृद्धि करने की।

सामान्य मनुष्य न स्वयं धर्माचरण कर पाता है, न दुष्कृतोंका विनाश कर पाता है उसे पग पग पर अधर्म, अन्याय, बुराई, पाप, स्वार्थपरतासे समझौता करना पड़ता है। परन्तु यह तो पुरुषोत्तमता नहीं है। पुरुषोत्तम तो वही होगा जो साधुओंके परित्राणके लिए

दुष्कृतोंके विनाशमें भी संकोच नहीं करेगा। वही व्यक्ति धर्मकी रक्षा कर सकता है, धर्म-संस्थापक बन सकता हैं। जो धर्म-संस्थापक बन सकता है, वही मानव जातिको और सृष्टिको विकासके पथपर आरूढ़ रख सकता है, वही अवतार कहला सकता है। आलोक-सेनानी ही अन्धकार अक्षोहिणीका नाशकर सकता है। मानवधर्मका संरक्षक ही मानव जातिका वास्तविक परित्राता है।

बुराई पर भलाईकी विजय, पाप पर पुण्यकी विजय, अधर्मपर धर्मकी विजयका यही उपाय है। पुरुषसे पुरुषोत्तम बननेका यही उपाय है। मानवजातिके विकासका यही पथ है। सृष्टिके विकासका क्रम भी यही है।

प्रार्थना और तपसे ईश्वर प्राप्ति

ईश्वरको कौन जान सकता है? उसका ज्ञान न तो हमें प्राप्त हुआ है और न हमें उसे पूर्णरूपसे जाननेकी आवश्यकता ही है। यदि हम उसे देख सकें, यह अनुभव कर सकें कि यथार्थ केवल वही है तो पर्याप्त होगा। मानलें कि कोई व्यक्ति पवित्र नदी गङ्गा तक जाता है और पवित्र जलका स्पर्श करता है और कहता है "मैंने पवित्र नदीके स्पर्श करने और देखनेका लाभ प्राप्त किया है।" निश्चित रूपसे ऐसे व्यक्तिको गोमुखीसे गङ्गासागर तक, गङ्गाके उद्गमसे लेकर मुहाने तक सारी नदीका स्पर्श करनेकी आवश्यकता नहीं है।

किसी गहराईसे जल बहुत कठिनतासे प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु वर्षाके दिनोंमें, जब सारा प्रदेश बाढ़-निमग्न होता है, जल सर्वत्र आसानीसे उपलब्ध होता है। अतः परमात्मा जो सामान्य रूपसे महा कष्ट द्वारा ही प्राप्त होता है, प्रार्थना और तपके द्वारा सब कहीं अनुभव किया जा सकता है, विशेषकर उस समय जब वह अवतार लेता है और अध्यात्मवादसे जगत्को लबालब भर देता है।

—स्वामी श्रीरामकृष्ण परमहंस

खेवनहार कन्हैया !

अगम सिन्धुमें डगमग डगमग होती मेरी नैया ।
आओ आओ पार लगाओ खेवनहार कन्हैया ॥
बीहड़ बनमें भटक रहा यह व्याकुल विपथ बटोही ।
निज मंजिलकी राह बतादो ओ प्रीतम निर्मोही ॥

जीवन-वन यह रस विहीन सा लगता सूना-सूना ।
धधक रहा रह-रहकर इसमें दुख दावानल दूना ॥
अन्तर्नभमें सुख सावनकी सरस पवन बन डोलो ।
अपने रसकी नव रिमझिमसे अब तो इसे भिगोलो ॥

जगसे नाता तोड़ मोड़ मुख व्याकुल और उदासे ।
टेर रहे घनश्याम तुम्हें ही प्राण-पपीहे प्यासे ॥
कितनी बार शरत्-पूनम है आ-आकर मुसकायी ।
किन्तु यहाँपर मोहन तुमने मुरली कहाँ बजायी ॥

क्षण-क्षणमें आशा होती है, अब आये अब आये ।
ललक रही आखें पल-पलमें पथपर पलक बिछाये ॥
बाट जोहते जुग बीता है बढ़ती है बेहाली ।
कब आओगे इस मधुवनमें ओ मेरे वनमाली ॥

बीत चला चुपके-चुपके ही यह मधुमास सलोना ।
कभी नहीं मुखरित हो पाया इस निकुञ्जका कोना ॥
ओ मेरे मतवाले कोकिल आज मधुर रस घोलो ।
एक बार भी तो तुम आकर इस डालीपर डोलो ॥

बड़ी साधसे राह देखती बनकर गोपकिशोरी।
मेरे घरमें आज कन्हैया हो माखन की चोरी॥
भावभरी चंचल चितवनसे मुझे लुभाने आओ।
मुरलीके स्वर संकेतोंमें मुझे बुलाने आओ॥

मेरी बुनी हुई चीजोंको तुम उधेड़ने आओ।
पग-पग पर मेरे मनमोहन मुझे छेड़ने आओ॥
मुसकाते मुखचन्द्र मनोरम लिये नयन मधुमाते।
मन्दिरमें मेरे तुम आकर करो सरस रस बातें॥

जड़-जंगममें दीख रहे तुम व्याप्त व्योममें तुम हो।
मन प्राणोंमें तुम्हीं प्राणधन रोम-रोममें तुम हो॥
तो भी दृगको सुलभ तुम्हारी क्यों न हुई छविछाया।
कैसा जादू ओ मायावी कैसी है यह माया॥

व्यथा वेदना मेरी तुमसे जाकर कौन बताये।
कण्ठागत पागल प्राणोंको कौन आज समझाये॥
क्या तुमसे है छिपा जगतमें बोलो घट-घट वासी।
जान-जान अनजान हुए तुम बैठे बने उदासी॥

आज तुम्हारे लिये वृतियाँ अन्तरकी मचलीं हैं।
आज विरहिणी तड़प रही ज्यों जलविहीन मछली हैं॥
आज मिलनकी तीव्र लालसा जाग उठी प्राणोंमें।
दृगमें पानी लिये प्रज्वलित आग उठी प्राणोंमें॥

—पाण्डेय पण्डित श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री, 'राम'

धर्माचरणका महत्त्व

श्रीचन्द्रकिशोरजी 'सीकर'

[कल्याण मार्गके शुभकर्मोंमें 'झूठा नाचे सच्चा होय'की कहावतको सत्य मानना चाहिये। यह सत्य है कि मलिन मनसे शुद्ध व्यवहार साधनके प्रारम्भिक कालमें बनना सम्भव नहीं, परन्तु झूठा नाचे बिना सच्चा नाच आवे भी कैसे ? ज्यों-ज्यों अहंता, ममता और मोहरूपी दलदलसे निवृत्ति होती जायगी, धर्म मार्ग निश्चय ही दीखता जायेगा।]

किसी व्यक्तिकी सोई हुई जिज्ञासाको जागृतकर देना शुभ कर्म है। शास्त्रका अध्ययन किये हुये मनुष्यको अपने अनुभव द्वारा प्रमाणित दैवी जीवनके नियमोंका प्रचार जिज्ञासुओंमें करनेमें किसी प्रकारका संकोच न करना चाहिये। अग्निमें धुएँके समान प्रत्येक कर्ममें दोष होता ही है। अपनी विद्वताके प्रदर्शनका दोष हितकर सेवा-भाव हेतु सह लिया जाये और यथाशक्ति अहं भावको दावे रक्खा जाये। इस विधिसे दोनों ओर लाभ होगा।

संसर्गमें आनेवाले व्यक्तियों, कुटुम्बियों, प्रिय जनों और छोटोंमें शुभ कर्म करनेकी जिज्ञासाको जागृत करना धर्म युक्त है। जो अपने जाने हुयेको व्यवहारमें लाकर उसके लाभका अनुभव करता है वह इसकी लालसा न रखने और व्यवहारमें न लाने वालेमें जिज्ञासा उत्पन्न कर सके तो उसका यह कार्य निस्सन्देह धर्म युक्त होगा। हाँ, अयोग्य और दोषदृष्टि वालेके सामने तो मौन ही उपयुक्त है। प्रदर्शनमें असत्य और अहंकारका बल रहता है तो सत्यके प्रचारमें अहंम्‌को जितना हो सके दूर रखते व दबाते हुए अधिकाधिक हितकारी भावका आधार।

'एकसे अनेक और अनेकमें एक' का तत्व ज्ञान-बुद्धिमें चाहे समाया लगे, परन्तु अन्त:करणमें बैठे और उसके अनुसार व्यवहार होने लगे तब शान्ति और नित्य सुख हाथ लगता है। अन्त:करणमें बैठानेकी विधिको ही भगवान्‌ने कर्म-योग कहा है। जीवनमें एकत्व ज्ञान (परोक्ष) को व्यवहारमें लाना, लाने का प्रयत्न करना' यह भगवान्‌का बताया हुआ

मार्ग है। सच्चे मनसे अभ्यास करनेके लिये दृढ़ता चाहिये, दृढ़ताकी उत्पत्ति श्रद्धासे होती है और श्रद्धाकी मस्तिष्कमें पूर्ण रूपसे समाये हुये ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण मनोगत संशयोंकी शान्तिके लिये शास्त्रका अध्ययन और श्रेष्ठ पुरुषोंका सत्संग आवश्यक है।

दैनिक जीवनके व्यवहारकी प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्यका क्या धर्म है इसे समझे बिना कल्याण मार्ग नहीं मिलता। अहंता, ममता और मोह रूपी दलदलसे ज्यों-ज्यों मनुष्यकी निवृत्ति होती जायेगी उसको स्वयं इस धर्मका मार्ग निश्चय रूपसे दिखता जायेगा। श्रद्धालु इस तत्त्वको हृदयमें बैठाकर कर्म करनेमें लगे। शास्त्रोंमें अनेक प्रकार के सिद्धान्तोंकी उलझनोंसे घबराई हुई बुद्धिके लिये यह राजमार्ग है।

तैरनेकी कलापर लिखी हुई कितनी भी पुस्तकें मनुष्य क्यों न पढ़ जावें परन्तु पानीमें प्रवेश बिना तैरना नहीं आता। दैनिक व्यवहारमें अहंता-ममताके हनन करनेमें संलग्न मनुष्य निरन्तर अभ्यास द्वारा कभी न कभी सिद्धि प्राप्त कर ही लेगा। परम सिद्धि प्राप्त पुरुष चाहे साधारणतया देखने व सुननेमें न आवे परन्तु यह तो देखनेमें आता ही है कि जितनी विजय इन दो विकारोंपर मनुष्य पाता है उसमें उतना ही विकास दैवी शक्तिका होता है।

कल्याण मार्गके शुभ कर्मोंमें 'झूठा नाचे सच्चा होय' की कहावतको सत्य मानना चाहियें। यह सत्य है कि मलिन मनसे शुद्ध व्यवहार साधनके प्रारम्भिक कालमें बनना सम्भव नहीं, परन्तु झूठा नाचे बिना सच्चा नाच आवे भी कैसे। झूठा ही सही। नाचते-नाचते अंगोंपर अधिकार जमने लगता है, मनका मैल धीरे-धीरे कटता रहता है, अहंता और ममतारूपी अज्ञान दूर होता है। इसके लिये युग अवश्य चाहिये। श्रद्धा साहस धैर्य और पुरुषार्थकी सीढ़ीपर चढ़ा हुआ व्यक्ति अन्तमें मन्दिर तक पहुँच ही जाता है ऐसा निश्चित विश्वास बना रहना चाहिये। गति न दिखने पर भी निराशासे अपनेको बचाये रखो।

संत वाणी है "साँचो सुख दुखके भीतर है कौन इसे समझावे"। मनुष्यके अशास्त्र विहित कर्म जब इकट्ठे हो जाते हैं तब प्रकृतिके नियमानुसार परिणाममें कष्ट और दुःख उसको घेर लेते हैं। इनसे छुटकारा पानेकी व्याकुलतामें ही सत्य और नित्य सुख छिपा रहता है। अतः दुःखका समय भी आशामय बन सकता है यदि इसको मार्ग निर्माण में सहायक मान लिया जाये।

भगवान् जितनी भी आयु दे, आत्म विकासमें लगे हुये मनुष्यके लिये वह थोड़ी ही होगी। कल्याण मार्गके पथिकके लिये आशाका त्याग श्रेयस्कर है। पता नहीं इस तनके पश्चात् कब मनुष्य तन फिर मिले, अतः इसको साधन रूप यन्त्र समझकर भगवान्की नियत की हुई आयु पर्यन्त स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमोंका भलीभाँति पालन करते हुये उन्नति मार्गके पथिकको सदा स्वस्थ रहनेके प्रयत्नमें लगे रहना चाहिये। विवेक बुद्धिकी प्रखरताके नाते मनुष्य योनि ही कर्म योनि है। आत्मोन्नतिकी स्वतन्त्रता इसीमें है।

शेष सब भोग योनियाँ हैं। विवेकीको शास्त्रके इन वचनोंको सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

पूर्व कर्मानुसार जीवका स्वभाव और इसके अनुसार मनुष्यका धर्म जन्मदाता परमेश्वर जन्म देनेके पूर्व नियत करते हैं। शरीर यात्राके लिये प्रभुने आँखका धर्म देखना रचा है। इसी धर्मपर नेत्रके प्रति सजगता रहनेसे शरीर चलता है अन्यथा विषमता उपस्थित हो जाये। सृष्टिका नियमित संचालन कर्त्ताके आश्रित है। उसके इस कार्यमें संयोगार्थ प्रत्येक व्यक्तिको नेत्र धर्मके समान अपने स्वाभाविक धर्मपर अटल रहना चाहिये। नेत्र जड़ होनेसे अपना धर्म नहीं बदल सकता, परन्तु मनुष्यकी दशा भिन्न है। उसमें कामना बसी रहती है। यह उसको अपने स्वाभाविक धर्मसे डिगाकर भोगकी ओर आकर्षित करती है। यही ममता है, इसका हननकर्त्ता ही अपने प्राकृतिक धर्मपर अटल रहता है। ममता छूट जानेसे इस धर्मकी पहचान स्वमेव होने लगती है। साधन कालमें परस्पर प्रतिक्रियाका चक्र चलता रहता है। भोजन करो तो बल आये, बल आये तो भोजन पचे। मनुष्य धर्म पहचाने तो ममता कटे, ममता कटे तो वह धर्म पहचाने। निष्काम कर्मके अभ्याससे ममतापर कुठार पड़ने लगता है और कालान्तरमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है। किन्तु अहंता बड़ा ही दुर्जय शुत्र है। विना भगवान्की शरणागतके इससे छुटकारा नहीं मिलता। मेरे प्राकृतिक धर्मके अनुसार मेरा कर्त्तव्य कर्म भगवान्का लगाया हुआ मेरा दायित्व उसके सृष्टि-संचालनके प्रति एक सेवा है। अतएव उसका ही कार्य है मेरा कुछ नहीं। ऐसे भनित भाव द्वारा अहंताका नाश शनैः शनैः हो जाता है। साधकको केवल कर्म करनेका ही अधिकार है, सो वह किए जाय।

ऊपर लिखे हुए मार्गके पथिकको अपने या दूसरेके संशय निवारणार्थ छोटे बड़े तथा बरावर वालेसे वाद करनेसे न रुकना नीति युक्त ही है। निरहंकार भावसे सत्यका निर्णय करने हेतु दो व्यक्तियोंके मध्यके वार्त्तालापको 'वाद' कहा जाता है। भगवान्ने कहा है 'वादः प्रवदतामहम्'।

अहंता और ममताको दवाकर सामने उपस्थित कर्त्तव्य कर्ममें लगना न केवल आत्मोन्नतिशील है किन्तु अपूर्व सुख और शान्तिदायक भी है। वानप्रस्थ आश्रममें मनुष्यका यह मुख्य धर्म है कि वह जहाँ तक हो सके निष्काम कर्म करके पात्रोंको सदाचरणके आदर्श की झलक दिखलाये। अहंकार दवे रहनेसे धैर्य स्वयं साथ देता है और उत्तेजनाके लिए तो स्थान ही नहीं रहता।

अर्जुनके विषाद् भरे निर्णयको 'मैं नहीं लड़ूंगा' सुनकर और उसके धनुष-वाण त्यागकर पीछे जा बैठनेपर भगवान् मुस्कराये ही तो। इस मुस्कराहटमें अन्य भाव दीखें परन्तु तिरस्कारका कदापि नहीं। तमसे द्वेष तो तमीसे प्रेम।

सात्विक भावसे शिक्षकका वाना भी धारण करनेकी आवश्यकता यदि दीखे तो उससे भी रुकना उचित नहीं। दूसरे व्यक्तिपर उसका विपरीत प्रभाव तभी होगा जब वाना धारण करने वालेमें अहम्की प्रधानता प्रत्यक्ष अथवा छिपे रूपमें ठीक विद्यमान रहे। विदेशी

वातावरणमें कई वर्ष पर्यन्त रहने वाले प्रखर बुद्धि युक्त परन्तु अपने शास्त्रसे अधिकतर अनभिज्ञ नवयुवकके मस्तिष्क तथा हृदयमें कैसे-कैसे संशय बने रहते हैं और उनके निवारणार्थ भगवान्‌के कहे हुए उपदेश कैसे उत्तम प्रकाशक होते हैं ऐसा अनुभव 'वाद' द्वारा होता है।

भगवान्‌ने कहा है कि जिसके पास मुदिता (श्रेष्ठ पुरुषोंकी श्रेष्ठता पर प्रसन्न होना) मित्रता (बराबर वालेसे सदा सद्‌भाव) दया (जो अयोग्यसे हों उनपर दया) तथा उपेक्षा (जिससे प्रयत्न करनेपर भी न पटे उसके प्रति सहिष्णुता) की पूँजी नहीं है, उसका मन ईर्ष्या, जलन, शत्रुता, कठोरता और द्वेषके प्रहारोंसे सदा दुखी रहता है। ऐसे व्यक्तिको शांति कहाँ। न पटने वालेसे अपना मन दुखी न रहे इसके लिए उपाय उपेक्षा है अर्थात् उस व्यक्तिसे जो आशा रक्खी थी उससे यह समझकर कि गुणोंके भेदसे यह स्थिति निरुपाय है अपने मनको मोड़ लेना और उसके प्रति द्वेषभाव न रखना। भगवान्‌के उपदेशोंको दोष दृष्टि वाले अयोग्य व्यक्तिसे बचाकर बाहर नहीं तो संसर्गमें आने वाले प्रियजनोंसे तो प्रसंग आनेपर इस विचारसे कि इसमें यह या वह दोष आता है कभी न रोका जावे। जब कर्म किसी न किसी दोषके बिना हो ही नहीं पाता तो दोषके विचारसे अपने मुख्य संकल्पसे रुक जाना उचित नहीं।

प्रचार कार्यकी जड़में चाहे सूक्ष्म रूपसे अहंकारकी मात्रा छिपी हो विवेकी मन कहता है कि साधना कालमें इससे छुटकारा नहीं। शनैः शनैः इसका क्षय होते रहनेमें ही कल्याण है। मन्दिरकी सीढ़ी ऊँची नीची है इसलिये दर्शन लाभकी लालसा क्या मनुष्य त्याग दे।

●

तुलसीका पूजन

नामोच्चारे कृते तस्याः प्रीणात्यसुरदर्पहा।
पापानि विलयं यान्ति पुण्यं भवति चाक्षयम्॥
सा कथं तुलसी लोकैः पूज्यते वन्द्यते न हि।
दर्शनादेव यस्यास्तु दानं कोटि गवां भवेत्॥

तुलसीका नाम उच्चारण करनेपर असुरोंका दर्प दलन करनेवाले भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं, मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। जिसके दर्शन मात्रसे करोड़ों गोदानोंका फल होता है, उस तुलसीका पूजन और वन्दन लोग क्यों न करें।

श्रीकृष्णका दिव्य स्वरूप

श्रीगोविन्द शास्त्रा

[कृष्णका निसर्ग मधुर जीवन सबके लिए आकर्षणका केन्द्र है। रसखानका मुसलमान, यूरोपियन ईसाई उसी कृष्णमें एकात्म हो जाता है। उस प्रेमकी सरस सरिताके प्रवाहमें ज्ञानयोग बह जाता है। कृष्ण-चरितके श्रवणसे साधारण मानव भी विभोर हो जाता है। यही है उनका महिमामण्डित वर्चस्व।]

कालकी अप्रतिहत गतिको स्थिरतासे नहीं जीता जा सकता। गतिको जीतनेके लिये अति गति होना पड़ता है। इस कालकी विकरालताने समर्थसे समर्थको असमर्थ बना दिया। नित्य उदयसे अस्त तककी यात्रा करने वाला अंशुमाली इसी प्रकारके उदय-अस्त का इतिहास लिखता है किन्तु यह प्रभाव पृथ्वीके क्षुद्र और साधारण जीवनको ही आलो-ड़ित कर सकता है, मृत्युकी दुर्दान्त विभीषिका हीन बलको क्षीण कर सकती है, समर्थको नहीं। जो इस प्रभावसे प्रभावित नहीं होते उनको अलौकिक कहा जाता है, पर यह अलौ-किक शब्द भी एक सीमित बोध ही कराता है। किसी अलौकिकका यथार्थ और सम्पूर्ण चित्रण करना न इसका अभिधेय अर्थ है न व्यंग्य। इस प्रसंगमें यदि यह कहा जाय कि श्रीकृष्णका व्यक्तीकरण करनेमें भाषा भी पंगु है तो यह स्वाभाविक बात ही होगी। कृष्णकी जीवन यात्रा इतनी त्वरित गतिसे हुई थी कि समय इतने वर्षोंकी यात्रा करके भी उसको पूरा नहीं कर सका। सर्वत्र कृष्ण ही व्याप्त हो गये और आश्चर्य तो, यह कि समय और सृष्टि अपने आपको उसीके चारों ओर घूमता हुआ पाती है; वह केन्द्र विन्दु हो गये, गुरुत्वाकर्षण बन गये उनके बिना इस ब्रह्माण्डकी गति ही कहां। इसीलिये उनका यथेच्छगान करके भी 'नेति' कहने वाली श्रुतियों व काव्यों-में मानवीय वर्णनशक्तिकी असमर्थता है। उसे अलौकिक कहना मात्र आत्मतुष्टि है, यथार्थ नहीं। जिसको पीताम्बर कहा जाता है वह तो अवाच्य है, अवर्ण्य है। बुद्धिकी सामर्थ्य ही नहीं कि उसको यथार्थतः जान ले। पीताम्बरका अर्थ पीला कपड़ा सामान्य

वातावरणमें कई वर्ष पर्यन्त रहने वाले प्रखर बुद्धि युक्त परन्तु अपने शास्त्रसे अधिकतर अनभिज्ञ नवयुवकके मस्तिष्क तथा हृदयमें कैसे-कैसे संशय बने रहते हैं और उनके निवारणार्थ भगवान्‌के कहे हुए उपदेश कैसे उत्तम प्रकाशक होते हैं ऐसा अनुभव 'वाद' द्वारा होता है।

भगवान्‌ने कहा है कि जिसके पास मुदिता (श्रेष्ठ पुरुषोंकी श्रेष्ठता पर प्रसन्न होना) मित्रता (बराबर वालेसे सदा सद्‌भाव) दया (जो अयोग्यसे हों उनपर दया) तथा उपेक्षा (जिससे प्रयत्न करनेपर भी न पटे उसके प्रति सहिष्णुता) की पूँजी नहीं है, उसका मन ईर्ष्या, जलन, शत्रुता, कठोरता और द्वेषके प्रहारोंसे सदा दुखी रहता है। ऐसे व्यक्तिको शांति कहाँ। न पटने वालेसे अपना मन दुखी न रहे इसके लिए उपाय उपेक्षा है अर्थात् उस व्यक्तिसे जो आशा रक्खी थी उससे यह समझकर कि गुणोंके भेदसे यह स्थिति निरुपाय है अपने मनको मोड़ लेना और उसके प्रति द्वेषभाव न रखना। भगवान्‌के उपदेशोंको दोष दृष्टि वाले अयोग्य व्यक्तिसे बचाकर बाहर नहीं तो ससर्गमें आने वाले प्रियजनोंसे तो प्रसंग आनेपर इस विचारसे कि इसमें यह या वह दोष आता है कभी न रोका जावे। जब कर्म किसी न किसी दोषके बिना हो ही नहीं पाता तो दोषके विचारसे अपने मुख्य संकल्पसे रुक जाना उचित नहीं।

प्रचार कार्यकी जड़में चाहे सूक्ष्म रूपसे अहंकारकी मात्रा छिपी हो विवेकी मन कहता है कि साधना कालमें इससे छुटकारा नहीं। शनैः शनैः इसका क्षय होते रहनेमें ही कल्याण है। मन्दिरकी सीढ़ी ऊँची नीची है इसलिये दर्शन लाभकी लालसा क्या मनुष्य त्याग दे।

●

तुलसीका पूजन

नामोच्चारे कृते तस्याः प्रीणात्यसुरदर्पहा।
पापानि विलयं यान्ति पुण्यं भवति चाक्षयम्॥
सा कथं तुलसी लोकैः पूज्यते वन्द्यते न हि।
दर्शनादेव यस्यास्तु दानं कोटि गवां भवेत्॥

तुलसीका नाम उच्चारण करनेपर असुरोंका दर्प दलन करनेवाले भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं, मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। जिसके दर्शन मात्रसे करोड़ों गोदानोंका फल होता है, उस तुलसीका पूजन और वन्दन लोग क्यों न करें।

श्रीकृष्णका दिव्य स्वरूप

श्रीगोविन्द शास्त्री

[कृष्णका निसर्ग मधुर जीवन सबके लिए आकर्षणका केन्द्र है। रसखानका मुसलमान, यूरोपियन ईसाई उसी कृष्णमें एकात्म हो जाता है। उस प्रेमकी सरस सरिताके प्रवाहमें ज्ञानयोग बह जाता है। कृष्ण-चरितके श्रवणसे साधारण मानव भी विभोर हो जाता है। यही है उनका महिमामण्डित वर्चस्व।]

कालकी अप्रतिहत गतिको स्थिरतासे नहीं जीता जा सकता। गतिको जीतनेके लिये अति गति होना पड़ता है। इस कालकी विकरालताने समर्थसे समर्थको असमर्थ बना दिया। नित्य उदयसे अस्त तककी यात्रा करने वाला अंशुमाली इसी प्रकारके उदय-अस्त का इतिहास लिखता है किन्तु यह प्रभाव पृथ्वीके क्षुद्र और साधारण जीवनको ही आलोड़ित कर सकता है, मृत्युकी दुर्दान्त विभीषिका हीन बलको क्षीण कर सकती है, समर्थको नहीं। जो इस प्रभावसे प्रभावित नहीं होते उनको अलौकिक कहा जाता है, पर यह अलौकिक शब्द भी एक सीमित बोध ही कराता है। किसी अलौकिकका यथार्थ और सम्पूर्ण चित्रण करना न इसका अभिधेय अर्थ है न व्यंग्य। इस प्रसंगमें यदि यह कहा जाय कि श्रीकृष्णका व्यक्तीकरण करनेमें भाषा भी पंगु है तो यह स्वाभाविक बात ही होगी। कृष्णकी जीवन यात्रा इतनी त्वरित गतिसे हुई थी कि समय इतने वर्षोंकी यात्रा करके भी उसको पूरा नहीं कर सका। सर्वत्र कृष्ण ही व्याप्त हो गये और आश्चर्य तो यह कि समय और सृष्टि अपने आपको उसीके चारों ओर घूमता हुआ पाती है; वह केन्द्र विन्दु हो गये, गुरुत्वाकर्षण बन गये उनके बिना इस ब्रह्माण्डकी गति ही कहाँ। इसीलिये उनका यथेच्छगान करके भी 'नेति' कहने वाली श्रुतियों व काव्यों-में मानवीय वर्णनशक्तिकी असमर्थता है। उसे अलौकिक कहना मात्र आत्मतुष्टि है, यथार्थ नहीं। जिसको पीताम्बर कहा जाता है वह तो अवाच्य है, अवर्ण्य है। बुद्धिकी सामर्थ्य ही नहीं कि उसको यथार्थतः जान ले। पीताम्बरका अर्थ पीला कपड़ा सामान्य

रूपसे समझा जाता है, पर कृष्णके लिये यह 'पी लिया है अम्बरको जिसने' (पीतम् अम्बरम् येन सः) इसी अर्थका बोध कराता है जिसकी पुष्टि स्वयं सव्यसाची करते हैं। दिव्य-चक्षुसे उनका विराट्‌रूप देखने वाला दुर्द्धर्ष योद्धा, अपूर्व साहसी और श्रीकृष्णमें आकण्ठ विश्वास रखने वाला अर्जुन भी यदि भयातुर होकर उन्हें पार्थसारथीके रूपमें आनेकी याचना करे तो वह अम्बर पीने वाला रूप ही हो सकता है। पीतवस्त्र धारी रूप तो उनका सर्वजन मोहक रूप है। उस शब्दातीतको रिझानेके लिये ललित शब्दावली नहीं, निर्दोष—निश्छल भावोंका अर्घ्य चढ़ाना पड़ता है। सशक्तसे सशक्त भाषा भी उसके सामने निष्प्रभ है।

तपस्वी एक दृष्टि विशेष प्राप्त करता है, ज्ञान योगीको एक कसौटी मिलती है, साधारण-जन भी अपना स्वतन्त्र आयाम रखता है किन्तु वे सारी दृष्टियाँ मिलकर भी कृष्णकी समष्टिको नहीं देख सकतीं। जिस किसी भी क्षेत्रको लें उसमें कृष्णका भास्वत् रूप ही दिखाई देगा, उसकी प्रभाके आगे सारे प्रकाश खद्योत ज्योतिकी तरह अर्थ हीन लगने लगते हैं। भोगी-योगी, पालक-संहारक, वीर-क्षमी और मित्र-शत्रुके किसी भी रूपमें देखें, श्रीकृष्णका जीवन मानदण्डके रूपमें ही आता है। देखने वाला किसी भी दृष्टिसे देखे—देखकर निहाल हो जाता है, उनका ही हो रहता है। अवतारोंकी परम्परामें राम और कृष्ण विशेष महत्व रखते हैं। दोनों रूपोंमें अपनी गरिमा है, स्वतन्त्र महिमा है, फिर भी 'एते चांश कलाः सर्वे कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहा है। यह उक्ति एक व्यापक अर्थमें है। रामकी मर्यादा उनकी विशेषता थी और कृष्णके पीछे मर्यादा स्वयं चलती थी। रामका प्रजारंजन रूप उनके कष्ट-पीड़ित जीवनका निखरा हुआ रूप था, जबकि कृष्ण का कोई भी रूप प्रजाको प्यारा था।

एक सबसे बड़ी विशेषता श्रीकृष्णकी है आनन्दकन्द। इस विशेषणमें बहुत बड़ा अर्थ निहित है। सारे पुराणोंमें नवीन और प्राचीन कवियोंकी कृतियोंमें कृष्णको देखा किन्तु कोई भी कवि उनको दुःख अथवा विषादकी दृष्टिसे नहीं देख सका, कृष्ण सदा त्राता ही बनकर आये, उनके अधरोंसे मन्द हास कभी गया ही नहीं। रामको सीता हरणपर, लक्ष्मण मूर्च्छापर कवियोंने उन्हें सांसारिक आवेशोंसे प्रभावित होते बताया है किन्तु कृष्णके लिये ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न ही नहीं हुई थी। सारे विश्वकी शक्ति दो भागोंमें बँट गई, दोनों सेनायें आमने-सामने आ खड़ी हुई। अर्जुनका सारथि उस अभूतपूर्व युद्ध रूपी रथका भी सारथी ही था किन्तु उसी समय अर्जुन गाण्डीव फेंककर युद्धसे विरत हो गये। इतने नाजुक मौकेपर अच्छेसे अच्छे धैर्यवान्‌का धैर्य लुप्त हो जाय, पर कृष्णको अर्जुनके व्यामोहपर न अमर्ष हुआ, न उसके पलायनपर निराशा। दोनों सेनाओंके मध्यमें रथको खड़ा रखते हुए उन्होंने अर्जुनकी मनोदशा देखी और वही स्वाभाविक मन्द स्मित अधरोंपर खेलने लगा, फिर अर्जुनमें शक्ति कहाँ थी कि मनाकर जाय। दैन्य और पलायन उस पुरातन पुरुषके पास नहीं फटक सकते थे। इसी विषम स्थलपर जहाँ शायद धीरतमको भी निराशा व्याप जाय उन्होंने गीता जैसा उपदेश दिया।

रणक्षेत्रमें भी स्थितप्रज्ञ स्थिति बनाये रखने वाला वास्तवमें आनन्दकन्द था। राजनीतिके क्षेत्रमें तो कृष्णके व्यक्तित्वसे बढ़कर कोई व्यक्तित्व आज तक हो ही नहीं सका।

अर्थ बोधके लिये शब्द होते हैं किन्तु कई बार शब्द भी तात्विक अर्थ बोधमें सक्षम नहीं होते। यदि किसी शब्दका चरम अर्थ बोध करना है तो कृष्ण चरित पढ़ लेना चाहिये। शब्दोंकी सार्थकता पूर्ण रूपसे कृष्णके ही वर्णनमें सिद्ध हो सकी है। मेरे स्वयं के अनुभवकी बात है, मुझे महिमा शब्दका अर्थ समझनेमें नहीं आया था। वर्षोंसे इस शब्दका प्रयोग करके भी मैं उसके चरम उत्कर्षसे अनभिज्ञ था। एक पुराण पढ़ रहा था। प्रसंग आया—एक दिन नारद श्रीकृष्णका दर्शन करने आये। उनके मनमें कृष्णको सम्राट रूपमें देखकर सन्देह हो गया—क्या यही कृष्ण अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका नायक है ? कृष्णसे यह शंका छिप न सकी। देवर्षिसे कहा—भगवन् ! थोड़ी प्रतीक्षा करो। नारद ठहर गये। उनके देखते-देखते चतुर्मुख ब्रह्मासे लेकर शतमुख ब्रह्मातक कृष्णके दर्शन और परामर्शके लिये आ गये और चले गये। देवर्षिको होश आया। दौड़कर चरणोंमें गिर गये। मोह भंग कृष्णसे छिपा थोड़े रह सकता था। देवर्षिको पूर्ण-सत्कारसे सम्मानित किया। इस प्रसंगके साथ ही मेरा भी समाधान मिल गया। महिमा शब्द कृष्णके इस रूपमें मूर्त हो गया। अब मुझे इस शब्दके अर्थमें संशय नहीं है।

भारतीय चिन्तनमें अथवा दर्शनमें तीन संख्याका विशेष महत्व है। आजका नवीनतम विज्ञान भी इसी तीनके ऋण-का-ऋणी है। तीन गुण और द्विजोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका समावेश बहुत महत्वपूर्ण है। अणुके इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन भी इस त्रिगुणसे अधिक शक्तिशाली नहीं हैं। अणु विखण्डनसे भी अधिक शक्तिका स्रोत तो मनुष्यके हाथ अब लगेगा। इस त्रिगुणका रहस्य अभी पूर्ण-रूपसे ज्ञात हो ही नहीं पाया है। जो अपरिमेय शक्ति आज व्यवहारमें आ रही है अथवा कलकी सम्भावना है वह उस त्रिगुणका एक गुण ही नहीं, उस गुणका भी अंशज्ञान है। द्विजोंमें संमाहित तीनों वर्ण एक जीवन पद्धतिके प्रतीक हैं। शक्तिके त्रिविध रूप हैं। वैश्य न्यूट्रोन अथवा दर्शनके तमोगुणकी तरह सम-सत्ताके प्रतीक हैं। ब्राह्मण सात्विक गुण युक्त होते हैं। स्वच्छ धवल रूपके प्रतीक वे सरस्वतीकी उपासना करने वाले शान्त-निरुद्विग्न जीवन बिताया करते थे। जन-कल्याणके लिये आत्म-कल्याण उनका ध्येय था। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे शक्तिहीन होते थे। अतुलित शक्तिके अक्षय भंडार होकर भी वे अणुके शान्ति कालीन उपयोग की तरह थे। क्षत्रिय जीवन्त और क्रियाशीलके प्रतीक माने जाते थे। समाजको संरक्षण देना उनका धर्म था। प्रजाको निर्विघ्न जीवन देनेकी उनकी गारण्टी होती थी। कृष्ण क्षत्रियके रूपमें समाजके रक्षक थे। ब्राह्मण अपने जीवनमें अशान्ति उत्पन्न करने वाले-की उपेक्षा कर सकते थे, उसे क्षमा कर सकते थे क्योंकि पर (शत्रुका भी) पीडन वे बुरा समझते थे और यही एक कारण था कि आसुरी-शक्ति उस समय उग्र होती जा रही थी शक्तिका उपयोग संहारके लिये होने लगा था। ऐसे ही समय पर तो 'तदात्मानं सृजाम्यहं-की सूचना समाजको मिली। "न पापानां बधे पापं विद्यते शत्रु सूदन" का उद्घोष करने वाले कृष्णके परदुःखकातर हृदयमें अन्यायीके प्रति रंच मात्र भी दया अथवा उपेक्षा नहीं

थी। समाजमें फैलती अशान्तिका उत्सादन उनका मन्त्र था। उन्होंने ही 'शक्तिका प्रयोग शान्तिके लिये' का नारा लगाया। आज भी उसी इतिहासको दोहरानेका अवसर आ गया है।

कृष्ण शक्तिकी प्रतिष्ठा करने आये थे। शक्तिको सामाजिक हितमें पूजनेके लिये उनका अवतार हुआ था। जिस पुरुषके अन्तःपुरमें सहस्त्रों रानियाँ हों वह प्रबल पुरुषार्थी ही हो सकता है। तत्वतः इसका अर्थ कुछ भी हो, सामान्य दृष्टिसे यह उनकी अलौकिक सत्व सम्पन्नताका प्रतीक है। वैसे कृष्ण स्वयं वे जानते थे कि व्यक्तिके रूपमें स्त्री और पुरुषमें कोई अन्तर नहीं। आत्मा सबमें एक रूपमें विद्यमान है, इसलिये वे एक ही समयमें सब रानियोंके पास विद्यमान रह सकते थे। उनके वचन और कर्ममें कोई अन्तर नहीं था। गोप-गोपियोंसे दूध और पानीकी तरह मिलकर भी वे असम्पृक्त थे। इसी ज्ञानको उन्होंने गीतामें समझाया। पद्म-पलाश न्यायका यही यथार्थ रूप है। भोग बुद्धिसे ऊपर उठकर उन्होंने भोगमें योग बुद्धिका उदाहरण प्रस्तुत किया। निष्काम कर्मयोगकी निस्संगता कर्ममें उत्कर्ष लानेका रहस्य है। बाल्य कालमें राधाको जीवन सर्वस्व मानकर वे भी निस्संग थे, जीवन-भर उस विरह-कृश राधासे मिल नहीं पाये। इसका एकमेव कारण था उनका निस्संग-तटस्थ जीवन। भोगको उन्होंने अपने जीवनपर अधिकार ही कहाँ करने दिया। जीवन भर कर्मक्षेत्रमें जूझते उद्भट योद्धाको समत्व रखना पड़ता है। यही जीवनसूत्र उनके जीवनपर चरितार्थ होता है।

विश्वका अधिकांश जनमत मूर्तिपूजाका विरोधी है। भारतीय दर्शन भी निराकार की ही प्रतिष्ठा करता है। उद्धव स्वयं इसी वर्गके प्रतिनिधि होकर साकारकी उपासना करने वाली गोपियोंके पास जाते हैं, पर वे पराजित होकर ही लौटते हैं। गोपियोंकी साकार पूजाके आगे उनकी एक भी युक्ति नहीं ठहरती। जो यह कहते हैं कि जिसे मूर्तिपूजक अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका नायक कहते हैं उसको एक सीमित और छोटी-सी मूर्तिमें कैसे बाँध लेते हैं? उनके विचार उचित हैं किन्तु इस युक्तिमें वजन नहीं है। हमारा सारा वाङ्मय एक प्रतीक है, सम्पूर्ण शब्दकोष एक परिचायक है। अतः उस ब्रह्मकी भी प्रतीकोपासना कोई विसंगति नहीं। पढनेके लिये प्रारंभिक अवस्थामें पट्टी पेंसिलकी आवश्यकता पड़ती है। उससे सुविधा होती है इसी तरह सगुण उपासनामें हमारे उपास्यकी मनोहर कल्पना होती है। उस कल्पनामें माधुर्य होनेसे हमारा आकर्षण बढ़ता है। शनैः शनैः वह प्रतीकोपासना ही हमें विराट्से एकरूप कर देती है। मेरे स्वयंके विचारमें दार्शनिक चिन्तनके सहस्त्रों जीवन आत्म-निवेदनके एक क्षणकी तुलनामें तुच्छ हैं, फिर कृष्णका निसर्ग मधुरजीवन तो सबके लिये आकर्षण-केन्द्र है। रसखानका मुसलमान और यूरोपियनका ईसाई उसी कृष्णमें एकात्म हो जाता है। उस प्रेमकी सरस-सरिताके प्रवाहमें ज्ञानयोग बह जाता है। कृष्ण-चरितके स्त्रवणसे साधारण मानव भी निर्भर हो जाता है। यही है उनका महिमामण्डित वर्चस्व। सदियाँ बीत जायें सूर्य-चन्द्रमा बूढ़े हो जायें कृष्णका सम्मोहन कभी मन्द नहीं पड़ सकता। गीताके गायककी पूजा होती रहेगी, गोपालक-जन-मानसका आराध्य बना रहेगा। यह एक सनातन सत्य है।

●

श्रीकृष्णकी कामपर विजय

जगद्गुरु श्रीमन्माध्वगौड़ेश्वराचार्य श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी

[भगवान्‌का स्वरूप परम व्यापक, प्रकाशमय, मायाके गुणविकारोंसे अतीत है। इसलिए मायिक कामादि दोषोंका आक्षेप भगवल्लीलामें सम्भव नहीं है। वे तो कामके भी अधिपति हैं। रास-पूर्णिमाकी मधुर रात्रिमें श्रीकृष्णने कामपर विजय प्राप्त की थी उसका विवेचनात्मक विवरण निम्नलिखित पंक्तियोंमें पढ़िये। —सं०]

श्रीमद्‌भागवत्‌में रासलीलाका प्रसंग मुकुटमणिके समान सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाके विषयमें बहुत-सी शंकाएँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु रास विशुद्ध प्रेमलीला है, इसके साथ कामका कुछ भी सम्पर्क नहीं है। प्रस्तुत अनुशीलनमें कुछ इसी प्रकारके सन्देहोंके निराकरणका प्रयत्न किया जा रहा है। रासपञ्चाध्यायीके वर्णनानुसार श्रीकृष्णने कामपर पूर्ण विजय प्राप्त की है। कामपर विजय प्राप्त करनेके लिए भगवत्प्रेमियोंकी भी एकमात्र औषधि रासका अनुशीलन ही है, जैसा कि श्रीशुकदेव मुनिने रासपंचाध्यायीके अन्तमें **"हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः"** (धीर पुरुष रासपंचाध्यायीके चिन्तनसे हृदयके विकारोंको शीघ्र ही दूर करनेमें समर्थ होता है) इस फल-कथन द्वारा प्रकट किया है।

श्रीशुकदेव मुनि रासपञ्चाध्यायीके मूल वक्ता हैं। इस प्रकरणके आरम्भमें "श्रीशुक उवाच" तथा "श्रीबादरायणिरुवाच" दोनों ही पाठ उपलब्ध होते हैं। **"बादरायणस्यापत्यं पुमान् बादरायणिः"** बादरायणके पुत्र होनेसे आपका नाम बादरायणि प्रसिद्ध हुआ है। श्रीव्यासदेवने बदरिकाश्रममे कठिन तपस्या की थी। शास्त्रोंमें कहा गया है—

अन्यत्र दशभिर्वर्षैर्यत् पुण्यमुपलभ्यते।
मनुजैरेकरात्रस्य वासाद् बदरिकाश्रमे॥

अन्य पुण्य क्षेत्रोंमें दस वर्ष निवास करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, बदरिकाश्रममें एक रात्रि मात्र निवास करनेसे मनुष्यको वही पुण्य अनायास प्राप्त हो जाता है। साक्षात्

नारायणावतार श्रीव्यासदेवको उनके हिमालय-क्रोडस्थित आश्रमके तपस्याकालमें ही श्रीशुकदेवकी पुत्ररूपमें प्राप्ति हुई है, मानो श्रीव्यासदेवकी तपस्या ही शुकदेवजीका रूप धारण करके प्रकट हुई है। इसीलिए इनको 'बादरायणि' कहा जाता है। श्रीव्यासदेवके पुण्यश्लोक पुत्रके 'शुक' नामके विषयमें ब्रह्मवैवर्त पुराणमें कहा गया है—

व्यास त्वदीय तनयः शुकवन्मनोज्ञं
ब्रूते वचो भवतु तच्छुक एव नाम्ना।

हे व्यासजी, आपका पुत्र शुकपक्षीके समान मधुर भाषी है अतएव यह शुक नामसे ही प्रसिद्ध होगा। श्रीकृष्णके इस आदेशसे व्यासनन्दन सर्वत्र शुक नामसे ही प्रसिद्ध हैं। श्रीशुकदेव परम योगी थे। ऐसे अध्यात्मनिष्ठ योगीके द्वारा कदापि यह सम्भव नहीं है कि वे भगवान्के सम्बन्धमें किसी सामान्य कामक्रीड़ाका वर्णन करें। उनके लिए कहा गया है—

यं प्रव्रजन्तमनुपेत ममेत कृत्यम्…।

जिस समय श्रीशुकदेव गृह त्यागकर दौड़ते हुए वनमें जा रहे थे, उस समय श्रीव्यासजीने 'हे पुत्र, हे पुत्र!' कहकर उन्हें पुकारा था। उस समय वृक्षोंके आत्माओंमें रमण करनेवाले योगेश्वर शुकदेवजीने वृक्षरूपसे ही व्यासदेवको उत्तर दिया था। इस उच्चकोटिके योगी शुकदेव मुनि कभी भी कामक्रीड़ाका वर्णन नहीं कर सकते। उनके सम्बन्धमें यह उक्ति प्रसिद्ध है—

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्लिया परिदधुर्नसुतस्य चित्रम्।
तद् वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥
(भा० १,४,५)

दिगम्बर शुकदेवजीके पीछे जाते हुए, वस्त्रधारी व्यासजीको देखकर स्नान करती हुई स्त्रियोंने लज्जावश अपने वस्त्र पहन लिये। व्यासदेव द्वारा इसका कारण पूछनेपर स्त्रियोंने कहा कि आपको स्त्री-पुरुषके भेदका ज्ञान है, किन्तु आपके पुत्रको ऐसा बोध नहीं होता वे तो निरन्तर भगवद् ध्यानमें निमग्न रहते हैं। इस स्थितिमें पहुँचे हुए श्रीशुकदेवजीसे कैसे आशाकी जा सकती है कि वे किसी लौकिक कामक्रीड़ाका वर्णन करेंगे। "स्वत्सुख निवृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावः"—जो शुकदेवजी अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न रहते हैं तथा इस अवस्थासे जिनकी भेद-दृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी है, वे भी कभी मायिक गुणमयी कामलीलाका वर्णन नहीं कर सकते।

जिस सभामें मुनिजन वन्दनीय श्रीशुकदेवजी इस रासलीलाका वर्णन कर रहे हैं, उसके सभासद थे अत्रि, वसिष्ठ, भृगु, च्यवन, अंगिरा, अरिष्टनेमि, भारद्वाज, गौतम, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवप, अगस्त्य, मार्कण्डेय, नारद, धौम्य, भगवान् व्यास, तथा इनके अतिरिक्त

अन्यान्य भी कई देवर्षि ब्रह्मर्षि, राजर्षि, ऐसे ऋषिश्रेष्ठोंके समाजमें यह कभी भी कल्पना नहीं की जा सकती कि मुनिवन्द्य श्रीशुकदेवजी किसी कामक्रीड़ाका वर्णन करें और ऐसे ऋषिगण उसका श्रवण करते रहें।

इस रासलीलाके प्रधान श्रोता महाराज परीक्षित हैं। इन्होंने महामुनि शुकदेवजीके चरणोंमें बैठकर यह जिज्ञासा की थी—

> अतः पृच्छामि संसिद्धि योगिनां परम गुरुम्।
> पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा।।
> यच्छ्रोतव्यमथोजप्यं यत् कर्तव्यं नृभिः प्रभो।
> स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्।।
> (भा० १, १९, ३७-३८)

हे परम गुरो, मरणधर्मयुक्त व्यक्तिका क्या धर्म है, क्या कर्त्तव्य है, क्या भजनीय है उसे कृपा कर कहिए। इसके उत्तरमें भी श्रीशुकदेव मुनिने रास आदि लीलाओंका वर्णन किया है, जो कभी भी काम संपृक्त नहीं हो सकतीं। राजा परीक्षितको शृंगी ऋषिका यह भयंकर शाप लगा हुआ है—

> इति लंघितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि।
> दक्ष्यति स्म कुलांगारं चोदितो मे ततद्रुहम्।।
> (भा० १, १८, ३७)

इस प्रकार मर्यादा भङ्ग करनेवाले नीच राजाको सातवें दिन तक्षक सर्प मेरे पितासे द्रोह करनेके वदले काट खायेगा। इस श्रापके पाँचवें दिन श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्को रासलीला कथा श्रवण करायी थी। अब छठा दिन बीचमें है, सातवें दिन राजाकी मृत्यु होने वाली है। ऐसे मुमूर्षु व्यक्तिको कोई विचारशील व्यक्ति कैसे कामक्रीड़ाका श्रवण करा सकता है तथा सुनने वाला कैसे ऐसी कथा सुन सकता है।

रासलीला विशुद्ध प्रेमलीला है, कामादि-लीला नहीं। परमहंस शिरोमणि सन्तसमुदायने सदैवसे ही इस प्रेमलीलाका आस्वादन किया है और अद्यावधि उनके द्वारा कराया जा रहा है। यदि यह कामलीला होती तो श्रीश्रीधर स्वामी, श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती, श्रीवीर राघवाचार्य, श्रीचित्सुखमुनि प्रभृति आचार्यगण इस रासपंचाध्यायीके रहस्यपूर्ण व्याख्यान-प्रवचन नहीं करते, न इसका स्मरण-चिन्तन करते। इसके विपरीत इन सबने रासपंचाध्यायीको मन्त्रतुल्य आराध्य मानते हुए उसका रहस्य प्रकट किया है।

श्रीमद्भागतस्थ रासपञ्चाध्यायीके प्रथम श्लोक "भगवानपि ता रात्री" के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ही रासलीलाके प्रधान नायक हैं। इस श्लोकमें "भगवान्" शब्दका वड़ा महत्त्व है, श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं— "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।" भगवान् सदा मायिक गुणोंसे दूर रहते हैं, मायाके गुण भगवान्का स्पर्श भी नहीं कर सकते—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
(भा० १०, ३, २४)

भगवान्‌का स्वरूप परम व्यापक, प्रकाशमय, मायाके गुण और विकारोंसे अतीत है। इसलिए मायिक कामादि दोषोंका आक्षेप भगवल्लीलामें सम्भव ही नहीं है। भगवान् सजातीय, विजातीय और स्वगत तीनों भेदोंसे रहित हैं, उनके रोम-रोममें सर्वेन्द्रिय शक्ति विराजमान है। भगवान् श्रीकृष्णका जो शरीर है वही उनका आत्मा है, जो आत्मा है वही उनका शरीर है। भगवान्‌के शरीरमें सत्, चित् और आनन्द तत्त्व-पुञ्ज ही संचित हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणम् ।। (ब्रह्मसंहिता)

भगवान् मायाके बन्धनमें नहीं रहते, वे उसके नाशक हैं—

"अत्रैव मायाधमनावतारे।" (भा० १०, १४, १६)

श्रीविष्णुपुराणमें "भगवत्" शब्दका अर्थविचार इस प्रकार किया गया है—

यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम् ।
अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम् ।
विभु सर्वगतं नित्यं भूतयोनि ह्यकारणम् ।
व्याप्यव्याप्यं यतः सर्वं तद् वै पश्यन्ति सूरयः ।।
तद् ब्रह्म परमं धाम तद् ध्येयं मोक्षकांक्षिणाम् ।
तदेतद् भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः ।
वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षरात्मनः ।।

जो अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अक्षय, अनिर्देश्य प्राकृतरूपहीन प्राकृतकर-चरणादिवर्जित, सर्वशक्तिमान्, सर्वगत, नित्य, सर्वकारण, अकारण, सर्वव्यापी, परम महान् एवं सर्व प्रकाशक है, तत्वज्ञ व्यक्ति उसका दर्शन करते हैं। वह वस्तु ही ब्रह्म अर्थात् सर्वा-पेक्षया वृहत्, परतत्त्व एवं स्वप्रकाश है, मोक्षकांक्षी व्यक्तियोंको इसका ध्यान सर्वदा करना चाहिए। परमात्माका एतादृश स्वरूप ही भगवत्शब्द-वाच्य है, एवं आद्य तथा अक्षर स्वरूपका वाचक भगवत्शब्द है।

इस प्रकार विष्णुपुराणमें भगवत्शब्दवाच्य परमात्म-स्वरूप निर्देशके पश्चात् भगवत् शब्दका अर्थ निर्देश करते हुए कहा गया है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसःश्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतींगना ।।
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य वीर्यंते जांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्द वाच्यानि विना हेयैगुणादिभिः ।।

परिपूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य इस षड्विध महाशक्तिका नाम भग है। हेय गुण अर्थात् प्राकृत गुणसम्बन्ध विहीन परिपूर्ण ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज भगवत् शब्दके वाच्य हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि ऐश्वर्यादि षड्विद

महाशक्ति समन्वित सच्चिदानन्दघन विग्रह ही भगवान् हैं। ऐसे अनन्त, अचिन्त्य गुण-वारिधि भगवान् मायिक गुणोंसे युक्त होकर मायिक कामादिकी लीलाओंका सम्पादन नहीं कर सकते।

भगवान्‌की अनन्त मायाओंमें तीन माया प्रधान हैं—अन्तरंगा योगमाया, तटस्था जीवमाया, वहिरंगा जागतिक माया। भगवान्‌की समस्त लीलाएँ अन्तरंगा योगमाया शक्तिकी परिधिके अन्तर्गतही व्यक्त होती हैं। उनमें तटस्था जीवमाया या वहिरंगा जागतिक मायाका संस्पर्श भी नहीं है फिर कैसे बहिरंगा जागतिक मायाके कामादि दोषोंका आक्षेप भगवान्‌की लीलामें किया जा सकता है।

भगवान्‌की लीला अपने निज परिकरके साथ ही सम्पन्न होती है, सामान्य जीव कोटिके व्यक्तियोंके साथ नहीं। जिन गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णने रासलीला की थी, वे किन्हीं अन्य व्यक्तियोंकी भार्या नहीं थीं अपितु भगवान्‌की नित्य सेविका थीं। कुछ गोपियोंके रूपमें तो दण्डकारण्यके मुनिजन अवतरित हुए थे, जिन्होंने दुष्कर तपस्या करके गोपीरूप धारण किया था। इसी प्रकार देवपत्नियाँ गोपीरूप धारण करके प्रकट हुई थीं। वेदकी कुछ ऋचाएँ भी गोपीरूपमें प्रादुर्भूत हुई थीं एवं कुछ नित्यसिद्ध गोपीमण्डल प्रकट हुआ था। जिस प्रकार भगवान् प्राकृत गुणोंसे रहित होते हैं उसी प्रकार भगवत्परिकर भी प्राकृत गुणोंसे रहित होता है। इन्हीं प्राकृत गुणहीन गोपीजनोंके साथ भगवान्‌की रास-लीला सम्पन्न हुई थी।

भगवान् आत्माराम हैं, उनका रमण अपने स्वरूपमें ही होता है, उससे वाहर नहीं। भगवान्‌के कर्म प्राकृत कर्मोंका स्वरूप धारण नहीं कर सकते। साधनसिद्ध, आत्म-निष्ठ व्यक्तिके कार्य, कार्य नहीं माने जा सकते, जैसाकि श्रीमद्भगद्गीतासे स्पष्ट होता है—

यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

जो साधक अपने अन्तरात्मामें रमण करता हुआ अपने आत्मामें ही तृप्त, संतुष्ट रहता है, उसकी चेष्टाएँ लौकिक कार्य रूपमें नहीं होती हैं। तब फिर कैसे आत्माराम भगवान्‌के रासलीला चरित्रको प्राकृत कर्मकी दृष्टिसे निरूपित किया जा सकता है? वे तो "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" कहे गये हैं।

वास्तवमें रासलीला कामनाशक लीला है, कामवर्धक कदापि नहीं। कामनिष्ठातृ देवता मदनका इस लीलामें पूर्ण पराजय हुआ है। भगवान् श्रीकृष्णने रासमें कामपर विजय प्राप्त की है। अतएव श्रीधर स्वामीजीने कामजयी गोपीजन बल्लभ श्रीकृष्णकी जयका उद्घोष निम्न शब्दोंमें किया है—

कामादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डितः॥

कामदेवने समस्त ब्रह्मादि देवगणोंपर विजय प्राप्तकर मनमें विचार किया कि गोलोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्ण यदि भूलोकमें आकर लीला करते, तो मैं उन्हें भी अपने पंचशरोंका लक्ष्य बनाता। लीलामय भगवान् श्रीकृष्णने उनका हार्द जानकर

दिव्य रात्रिकी रचना की। तब कामदेवका उस वनमें पूर्ण-रूपेण स्वरूप प्रकाशित हो गया और वह श्रीकृष्णको अपनी ओर आकृष्ट करने लगा। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने योगस्वरूपमें पूर्ण रूपसे अवस्थित थे, काम उनको किंचित् भी विचलित न कर सका। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने जब अपनी वंशीका निनाद किया तो उस वन्शीरवका श्रवणकर भगवान् शिवकी समाधि टूट गयी, ब्रह्मा वेद पढ़ना भूल गये, सनकादि मुनीश्वर ताली बजाकर नृत्य करने लगे, रम्भा ताल चूक गयी, श्रीयमुनाका जल उलटकर बहने लगा। तीनों लोक वंशीध्वनिका श्रवणकर मोहित हो गये। कामदेव भगवानकी इस मोहनी शक्तिको देखकर स्तम्भित हो गया और उनसे कहने लगा कि भगवान्, स्त्रियोंका आश्रय प्राप्त करके ही मेरी शक्तिका अनुभव किया जा सकता है यदि इस एकान्त रजनीमें स्त्रियोंका आगमन हो जाता, तो मैं सहज ही में आपको अपने वशमें कर लेता। भगवान् श्रीकृष्णने कामदेवके कथनपर व्रजांगनाओंका वंशीध्वनिके द्वारा उस एकान्त रजनीमें आह्वान किया। व्रजरमणियोंके आते ही कामदेवका उनमें आवेश हो गया, फलतः गोपीजन इठलाकर भगवानके समक्ष खड़ी हो गयीं। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने कामपर तीव्र आघात किया एवं उसकी भर्त्सना करते हुए गोपीजनोंसे कहा कि हे गोपियो! इस रात्रिमें पति-पुत्रोंका त्यागकर तुम्हारे यहाँ आनेका क्या कारण है?—"**ब्रूतागमन कारणम्।**" तुम अपने घरोंको वापिस चली जाओ और पति-पुत्रोंकी सेवा करो। यही तुम्हारा धर्म है—
"**भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायय।**"

भगवान् श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं, इसी कारण मानवती स्त्रियोंको देखकर उनकी भर्त्सनाकर रहे हैं स्वागत नहीं। कोई भी कामी पुरुष इस प्रकार एकान्त रजनीमें कामिनी स्त्रियोंको देखकर उनकी भर्त्सना नहीं करेगा, अपितु स्वागत ही करेगा। इस प्रकार कामदेवको भगवान्ने पछाड़ दिया। पछाड़ खाकर वह योगेश्वर भगवान् कृष्णसे प्रार्थना करने लगा—"भगवन्, आप वृक्षके ऊपर दूर विराजमान थे, इसलिए मैं असफल रहा। अब आप वृक्षसे नीचे उतरकर स्त्रियोंके मध्यमें आजायँ तो मैं अपनी शक्तिका प्रदर्शन करूँ।

इधर भगवानकी फटकारसे कामदेव तो तिरोहित हो गया और विशुद्ध प्रेममयी गोपिकाएँ भगवानके वरद-हस्तको अपने मस्तकपर धारण करानेके लिए उनसे प्रार्थना करने लगीं—

> व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो।
> देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता॥
> तन्नो निधेहि करपंकजमार्तबन्धो।
> तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम्॥

(भा० १०, २९, ४१)

हे प्रभो! आप व्रजवासियोंका भय हरण करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं, इसलिए हे दीनबन्धो! अपना हस्तकमल हमारे मस्तक आदि अंगोंपर स्थापित कर हमें अभय कीजिये।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण कामदेवको अवसर प्रदान करनेके लिये वृक्षसे उतरकर गोपियों मध्यमें आ गये। कामने अवसर जानकर गोपियोंमें प्रवेश किया और वे मानवती होकर भगवान्‌की देहलतासे संसक्त होते हुए उनका आलिंगन-चुम्बन करने लगीं। उस अवसर पर—

> बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
> नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
> क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणाम्
> उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥
>
> (भा० १०, २९, ४६)

भगवान् श्रीकृष्ण अपने हस्तकमल एवं मुखारविन्दकी कलामयी चेष्टाओंसे व्रज-सुन्दरियोंका अनुरंजन करते हुए मानो कामदेवको चुनौती देने लगे। वह भी चारों ओरसे भगवान्‌को घेरकर अपनी विजय-दुन्दुभि बजानेके लिये प्रस्तुत हो गया। यह देखकर योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण इस मण्डलके बीचसे अन्तर्धान हो गये; "तत्रैवान्तरधीयत।" इस प्रकार उन्होंने कामदेव को चतुरस्त (चारों खाने चित्त) पराजित कर दिया। कामका प्रशमन हो जानेपर गोपीजन विशुद्ध प्रेममयी हो गयीं और योगेश्वर भगवान्‌की दर्शन-लालसासे उन्हें कुञ्ज-कुञ्जमें खोजने लगीं—"पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिः।"

इधर कामदेव व्रजधूलि में सिसकता-सिसकता जाकर भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा कि हे भगवन्, एक अवसर मुझे और प्रदान किया जाय। उस समय स्त्रियाँ बहुत थीं, समुदायमें संकोच उत्पन्न हो ही जाता है। अतएव एकान्तमें कहीं आप अकेले हों और आपके समीप एक ही स्त्री यदि हो, तो उस समय मैं अपने पूर्ण बलका प्रयोग कर सकूंगा। योगेश्वर भगवान्‌ने कामदेवको अन्तिम अवसर और प्रदान किया तथा आप एक गोपीको लेकर अकेलेमें उपस्थित हो गये। कामदेव भी अच्छा अवसर जानकर उस गोपी-के हृदयमें प्रविष्ट हो गया और उससे मान आदिकी चेष्टाएँ कराता हुआ इठलाने लगा—**"नय मां यत्र ते मनः।"**

भगवान्‌ने उस मानिनीके वचन श्रवणकर उससे अपने कन्धेपर चढ़ जानेको कहा—"स्कन्धमारुह्यतामिति।" अब इस उद्यमके बीच ही योगेश्वर भगवान् कामदेवका मद नष्ट करनेके लिये पुनः अन्तर्धान हो गये। इस तरह उन्होंने कामदेवके गर्वका सर्वनाश कर दिया—**"ततश्चान्तर्दधे कृष्णः।"** इस रीतिसे कामका निवारण हो जानेपर शुद्ध प्रेममयी गोपिकाएँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको हृदयमें धारणकर उनसे दर्शन देनेके लिये प्रार्थना करने लगीं। व्रजांगनाएँ भली भाँति जानती थीं कि भगवान् कृष्ण कोई कामुक पुरुष नहीं, अपितु अनन्त आत्माओंमें रमण करने वाले साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। अतएव गोपीजनोंके चित्तमें भी किसी प्रकारकी कोई काम-भावना नहीं है, उनको तो विशुद्ध प्रेमकी अनुभूति हो रही है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

(भा० १०, ३१, ४)

हे प्रभो ! आप केवल गोपिकानन्दन ही नहीं, निखिल प्राणियोंके अन्तरात्म बिहारी है। आप तो ब्रह्माकी प्रार्थनासे संसारका मंगल करनेके लिये यदुकुलमें प्रकट हो गये हैं। योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने कामदेवका सर्वविध परिहारकर दिया है, गोपियोंके हृदयमें वे विशुद्ध प्रेमको देख रहे हैं जहाँ कामका लेश भी नहीं है । इस विशुद्ध आधार भूमिमें वे गोपियोंको दर्शन देनेकी इच्छा करके उनके मध्यमें कोटि-कोटि काम व्यापारों का प्रमथनकर प्रकट हो गये एवं अब वे गोपी-मण्डलके बीच अपना प्रकाशस्वरूप प्रकट कर रास प्रारम्भ करने लगे—"तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीड़ा मनुव्रतैः ।"

"काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर ।" (चैतन्य चरितामृत) काम गहन अन्धकार रूप होता है और प्रेम निर्मल भास्करके समान । गोपियोंमें कामकी गन्धमात्र भी नहीं है— "गोपिगणे नहि कामगन्ध ।" इस प्रकार सूक्ष्म पर्यालोचना करनेपर स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि गोपियोंकी रासलीला लौकिक कामसंपर्कसे सर्वथा अतीत, विशुद्ध भगवत्प्रेमका प्रकाश है, रासरासेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यह रासविलास लीला श्रीसनातन गोस्वामीजी के शब्दोंमें प्रवृत्तिपरक नहीं अपितु निवृत्तिपरक है—"तथा च निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायीति ।"

मथुरा-माहात्म्य

हे मातर्मथुरे ! त्वमेवनियतं धन्यासि भूमितले
निर्व्याज नतयः शतं सविधयस्तुभ्यं सदा सन्तु नः ।
हित्वा हन्त नितान्तमद्भुतगुणं वैकुण्ठमुत्कण्ठया
त्वय्यम्भोजविलोचनः स भगवान् येनवतीर्णो हरिः ॥

कस्यचित्

श्रवणे मथुरा नयने मथुरा
वदने मथुरा हृदये मथुरा ।
पुरतो मथुरा परतो मथुरा
मथुरा मथुरा मथुरा मथुरा ॥

श्रीगोन्दिमिश्राणाम्

कृष्णावतार-रहस्य

मनुज जब जाते संस्कृति भूल
आचरण करते नित प्रतिकूल।
शास्त्र श्रुतिपर पड़ जाती धूल
धर्मधर पाते पग पग शूल॥

अवज्ञा सद्वचनों की किए
लोग रहते हों पापासक्त।
स्वार्थ-रत करते सब व्यवहार
हुए सब विधि कर्तव्य विरक्त॥

अहंकी महिमा जन्य जघन्य
चतुर्दिक फैले कलह अनन्त।
सभी मनमानी करते सदा
समस्या छावे विकट दुरन्त॥

आत्म-स्तुति लायक हो बस श्रेय
किन्तु हो गई क्षीण हो शक्ति।
सुअवसर ऐसा पाकर हाय
नहीं करते नर जब प्रभु-भक्ति॥

देव, ब्राह्मण, गोतप व्रत सन्त,
सभीका उठ जाता है भाव।
धरा हिलती हो भाराक्रान्त
सभीकी डुलती हो जब नाव॥

धर्म को स्थापित करने पुनः
और हरने धरतीका भार।
छोड़ गोलोक स्वयं हरि आप
विवश करने जनका उद्धार ।।

प्रगटते मधुपुर - कारागार
ग्रहण कर मायाका आधार।
पहुँच गोकुलको विश्वाधार
जताते व्रजको निज अवतार ।।

हुआ जब विभुका आविर्भाव
बढ़ा धर्मोंके प्रति सद् भाव।
लगा घटने असुरोंका चाव
स्पष्ट छाया सर्वत्र प्रभाव ।।

यही हरि-आविर्भाव - रहस्य,
सभी ग्रन्थोंका है यह तथ्य।
बताते रिषि जन श्रुति निर्मथ्य,
नहीं है आगे कुछ भी कथ्य ।।

—श्रीरामप्रकाशदास शास्त्री, एम० ए०

भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मकुण्डली

उच्चस्था शशिभौमचन्द्रशनयोर्लग्नं वृषो लाभगो ।
जीवः सिंहतुलालिषुक्रमवशात्पूषोशनोराहवः ।
नैशीथः समयोऽष्टमीबुधदिनं ब्रह्मर्क्षभेगक्षणे ।
श्रीकृष्णाभिधमम्बुजेक्षणममूदाविः परं ब्रह्मतत् ।

पुरातन ज्योतिष ग्रन्थके उक्त श्लोकके आधारपर भगवान् श्रीकृष्णका जन्माङ्ग चक्र इस प्रकार बनता है—
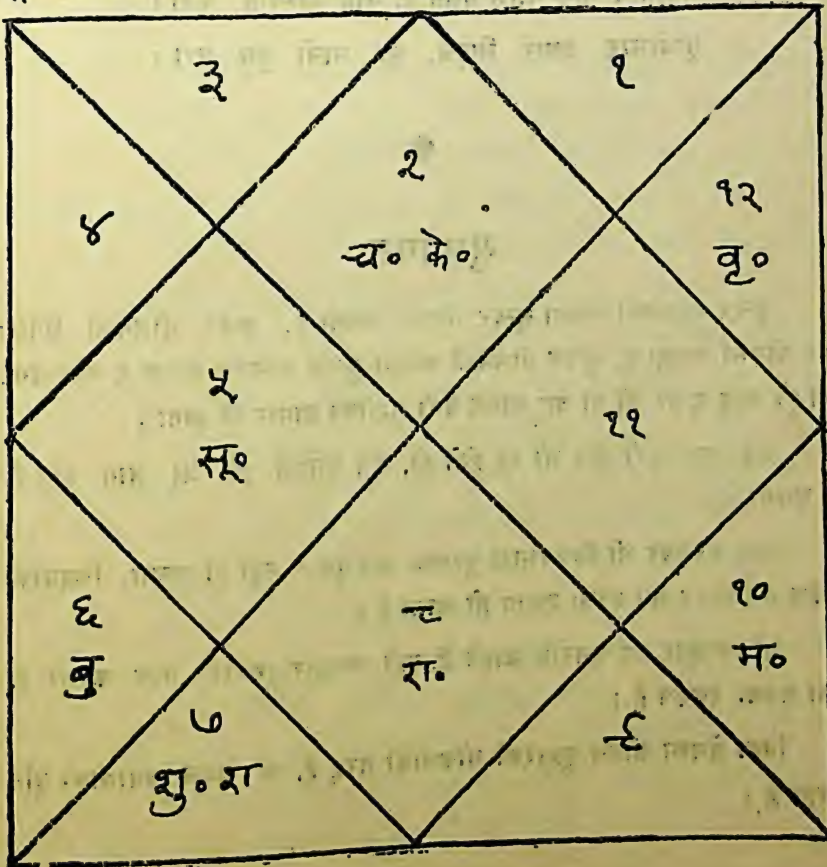
और इस जन्मकुण्डलीके आधारपर ग्रहोंका फल सूरदासजीने इस प्रकार लिखा है—

संवत्सर 'ईश्वर' को भारो, नामजू कृष्ण धर्‍यौ है।
रोहिणी बुध आठै अँधियारी, हर्षण जोग पर्‍यो है।
वृष है लग्न उच्च के उडुपति, तन कौं अति सुखकारी।
दलचतुरंग चलै संग इनके, ह्वै है रसिक बिहारी।
यो थी राशि सिंह के दिन मनि, महिमंडल जो जीतैं।
करिहैं नास कंसमातुल कों, निहचै कछु दिन बीतैं।
पञ्चमबुध कन्या के सोभित पुत्र बढ़ेंगे सोई।
छठयें शुक्र तुला के सनिजुत, सत्रु बचै नहिं कोई।
नीच ऊँच जुवती बहु भोगै, सप्तम राहु पर्‍यो है।
केतु मुरति में स्यामबरन चोरि में चित्त धर्‍यो है।
भाग्यभवनमें मकर महीसुत, अति ऐश्वर्य बढ़ेगौ।
द्विज, गुरुजन कौ भक्ति होईकें कामिनि चित्त हरैगौ।
नवनिधि जाके नाभि बसत है, मीन वृहस्पति केरी।
पृथ्वीभार उतारैं निहचैं, यह मानो तुम मेरी।

सुभाषित

सुन्दर पहननेकी अपेक्षा सुन्दर भोजन अच्छा है, सुन्दर भोजनकी अपेक्षा सुन्दर बोलना अच्छा है, सुन्दर बोलनेकी अपेक्षा सुन्दर आचरण अच्छा है और अगर चारों ही वस्तु सुन्दर हों तो वह मानव दैवी गुणोंका आगार ही होगा।

जब तुम गहरी नींद सो रहे होते हो, उस समयमें भी जो जाग रहा है, वही आत्मा है।

यत्न करनेपर भी विषयासक्त पुरुषका मन एकाग्र नहीं हो सकता, विषयोंकी आसक्ति त्यागनेपर मन स्वतः एकाग्र हो जाता है।

जो व्यवहार हम दूसरोंसे चाहते हैं, वही व्यवहार दूसरोंके साथ करना ही धर्मका सच्चा स्वरूप है।

बिना प्रेमका जीवन लुहारकी धौंकनीकी तरह है, जो केवल श्वासोंकी पूर्ति कर रहा है।

मधुरोपासक महाप्रभु श्रीबल्लभाचार्य

श्रीप्रभुदयाल मीतल

[श्रीकृष्ण-भक्तिके प्रवल प्रचारक एवं मधुरोपासनाके प्रवर्त्तक महाप्रभु बल्लभाचार्यका जीवन-चरित, महिमामयी विविधताओंसे ओत-प्रोत है। मुस्लिम तानाशाहीके युगमें महाप्रभुने अपने तेजोमय स्वरूप द्वारा आर्त्तजनोंका समुद्धार किया। इस लेखमें उनके सर्वजनानन्ददायी जीवन-चरितकी झाँकी प्रस्तुत है—सं०]

कृष्णोपासना रसकी पावन धारा भगवान् श्रीकृष्णके कालमें ही व्रजमें प्रवाहित होने लगी थी। उस समय यह भू-भाग शूरसेन जनपद कहलाता था। कालांतरमें इसे मथुरा राज्य अथवा मथुरामण्डल और फिर व्रज अथवा व्रजमण्डल कहा जाने लगा। भगवान् श्रीकृष्णके आरम्भिक उपासक शूरसेन जनपदके गोपी-गोप, वृष्णि और सात्वतवंशीय यादव तथा कुरुप्रदेशके पांडवगण थे। उसी कालमें महर्षि व्यास और भीष्म पितामह जैसे महामनीषी एवं वयोवृद्ध महानुभाव भी उनके उपासक हो गये थे। श्रीकृष्णकी विद्यमानतामें ही उन्हें अवतारी महापुरुष माना जाने लगा था, यह उनके महत्वकी बहुत बड़ी बात थी। उनके तिरोधानके पश्चात् तो उनके उपासकोंकी संख्यामें भारी वृद्धि हुई और उनकी उपासनाका प्रचार शूरसेन-कुरु जनपदोंसे लेकर द्वारकातक और वहाँसे भारतके पश्चिमी, दक्षिणी-पश्चिमी और धुर दक्षिणी भागों तक हो गया था। कालांतरमें जब जैन और बौद्ध धर्मोंका प्रभाव बढ़ गया, तब कृष्णोपसनाकी गतिशील धारा कुछ मंद पड़ गयी थी। फिर विदेशी शक, कुषाण और हूणोंके आक्रमणोंके कारण पहिले तो कृष्णोपसनाकी मंद धारा अवरुद्धसी जान पड़ने लगी, किन्तु उन विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा भारतीय धर्मोंको अंगीकार करनेसे वह पुनः द्रुत गतिसे प्रवाहित होने लगी थी। उधर बौद्ध धर्मके लुप्तप्राय और जैन धर्मके शिथिल हो जानेसे भी कृष्णोपासनाको बल मिला था। इस प्रकार मुसलमानोंके आक्रमण-काल विक्रम की ११ वीं-१२ वीं शताब्दीसे पहिले तक कृष्णोपसनाने उन्नति, अवनति और पुनरुनतिके अनेक युग देखे थे। वह कई बार मंद और शिथिल भी हुई, किन्तु उसका सर्वथा लोप कभी नहीं हुआ था।

मुसलमानी आक्रमण होनेके पश्चात् जब दिल्लीमें सुलतानोंका राज्य हुआ तब उनके मज़हबी तास्सुबके कारण भारतकी अन्य धर्मोपासनाओंके साथ ही साथ कृष्णोपासना-को भी भीषण आघात सहना पड़ा। उस कालमें मथुरामण्डल एक प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र था, जहाँ विविध धर्मोंके मंदिर-देवालयों सहित कृष्णोपासनाके भी अनेक प्रसिद्ध मंदिर थे। दिल्लीके सुलतानोंकी नाकके नीचे रहनेके कारण उनकी क्रूर द्रष्टि चाहे जब इस धार्मिक क्षेत्रपर पड़ जाती थी। तभी यहाँके मंदिर-देवालयोंको तोड़ने, लूट-मार करने और यहाँके निवासियोंको बलात् मुसलमान बनानेकी एक आँधी-सी चढ़ पड़ती थी, जिसने कृष्णोपासनाके उज्जवल स्वरूपको धूमिल कर दिया था।

जिस कालमें उत्तरी भारतमें सुलतानोंकी मज़हबी तानाशाहीका तांडव नृत्य हो रहा था, उसी कालमें दक्षिणी और पूर्वी भारतके विविध धर्माचार्य वैष्णव धर्मके पुनरुद्धार और कृष्णोपासनाके व्यापक प्रचारका आयोजन कर रहे थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके लीलाधाम मथुरामंडलमें ही अपने केन्द्र स्थापित करनेका निश्चय किया, ताकि वे उस भीषण कालमें व्रजवासियोंको सान्त्वना देते हुए उन्हें कंस-निकंदन भगवान् श्रीकृष्णपर ही आश्रित रहनेका शुभ सदेश दे सकें। इस प्रकार व्रजमें आने वाले धर्माचार्योंमें निम्बार्क संप्रदायके प्रवर्त्तक श्रीनिम्बार्काचार्य, उनकी शिष्य-परम्पराके आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट, माध्व संप्रदायके आचार्य माधवेन्द्रपुरी, पुष्टिमार्गके जन्मदाता श्रीवल्लभाचार्य और गौड़ीय संप्रदायके प्रतिष्ठाता श्रीचैतन्यमहाप्रभु एवं उनकी शिष्य-परंपराके भक्त महानुभावोंके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। उनमें भी श्रीवल्लभाचार्यजीका प्रयत्न उस कालमें अधिक फलप्रद सिद्ध हुआ था।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजीका जन्म सं० १५३५ की वैसाख कृ० ११ को जिला रायपुर (मध्य प्रदेश)के चंपारण्य नामक स्थानमें हुआ था। वे आंध्र प्रदेशीय तैलंग ब्राह्मण थे। उनका आरिम्भक जीवन काशीमें बीता था और वहींपर उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनके अध्ययनकी व्यवस्थाकी गई थी। वे प्रकांड विद्वान, समस्त शास्त्रोंके अपूर्व व्याख्याता प्रभावशाली धर्माचार्य और अनेक ग्रंथोंके रचियता थे। उन्होंने वैष्णव धर्मके अन्तगर्त कृष्णोपासनाके एक भक्ति संप्रदाय 'पुष्टि मार्ग' की स्थापना की थी और दर्शनके क्षेत्रमें शुद्धाद्वैत सिद्धांतका प्रतिपादन किया था। उनके धार्मिक संप्रदाय और दार्शनिक सिद्धांतका सार-तत्व एक ही श्लोकमें इस प्रकार बतलाया गया है—"एकं शास्त्रं देवकीपुत्र-गीतं, एको देवो देवकीपुत्र एव। मंत्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥" अर्थात्—कृष्णकृत गीता ही एकमात्र शास्त्र है, कृष्ण ही एकमात्र आराध्य देव है, कृष्ण का नाम ही एकमात्र मंत्र है और कृष्ण-सेवा ही एकमात्र कर्त्तव्य कर्म है। इस प्रकार उन्होंने अपने संप्रदायमें कृष्णोपासनाको सर्वोपरि स्थान दिया, जो व्रजवासियोंकी धार्मिक भावनाकी परंपरागत मूल चेतना रही है।

श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने धार्मिक सिद्धांतके प्रचारार्थ अनेक यात्राएँ की थीं। अपनी प्रथम यात्राके अवसरपर सं० १५५० में वे पहिली बार व्रजमें आये थे। उस समय

यह धार्मिक प्रदेश दिल्लीके सुलतान सिकन्दर लोदीकी मज़हबी तानाशाहीके कष्टोंसे कराह रहा था। उस असहिष्णु शासकने व्रजके प्राचीन मंदिर-देवालयोंको नष्ट-भ्रष्ट करने और नये न बनवानेके कड़े आदेश जारी किये थे। उसने मूर्ति-पूजा करनेपर कड़ी पाबंदी लगाकर व्रजके निवासियोंको अपने विश्वासके अनुसार धर्मोपासना करनेसे वंचित कर दिया था। उस कालमें मथुराके विश्रामघाटपर श्मशान था। जहाँ व्रजवासी अपने मृतकोंकी दाह-क्रिया और क्षौर कर्मके अनंतर यमुना-स्नान किया करते थे। सिकन्दर लोदी ने व्रजवासियोंको परेशान करनेके लिये यमुना-स्नान और वहाँके घाटोंपर क्षौरकर्म करनेपर भी रोक लगादी थी। मुसलमान इतिहास-लेखकोंके ग्रन्थ तारीखे-फ़रिश्ता, तरीखे-दाऊदी और तबकाते अकबरीमें सिकन्दर लोदीकी उस तानाशाहीका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। फ़रिश्ताका कथन है—"सिकन्दरका आदेश था कि कोई हिंदू यमुना स्नान न करें। उसने नाइयोंको कड़ी हिदायतकी थी कि वे हिन्दुओंके सिर और दाढ़ीको न मूड़ें। उसके कारण हिन्दू अपनी धार्मिक क्रियाएँ नहीं कर सकते थे।" तारीखे दाऊदीके लेखक अब्दुल्लाने भी इसी प्रकारका कथन किया है। अलीगढ़ विश्वविद्यालयमें सुरक्षित 'तबकाते अकबरी' की हस्तलिखित प्रतिके आधारपर प्रोफेसर हलीमने लिखा है,—"सिकन्दर लोदीके शासनमें मथुराके घाटोंपर राज्य कर्मचारी नियुक्त थे, जो वहाँके निवासियोंको न तो यमुनामें स्नान करने देते थे न ही घाटोंपर बाल बनवाने देते थे। उन सब कारणोंसे व्रजवासियोंमें बड़ा असंतोष था और वे बड़े दुखी थे।

श्रीवल्लभाचार्यजीने व्रजमें आते ही पहिला काम यह किया कि उन्होंने विश्रामघाट से श्मशानको हटवाया, ताकि वहाँके निवासी अपने मृतकोंका दाह संस्कार अन्यत्र कर सकें। फिर उन्होंने निम्बार्क संप्रदायके वयोवृद्ध आचार्य केशव काश्मीरी भट्टजीके सहयोग-से सिकन्दर लोदीकी तानाशाहीका विरोध करनेके लिये एक योजना बनायी। उन्होंने व्रज-वासियोंमें साहसका सञ्चारकर उन्हें राजकीय आज्ञाके विरुद्ध यमुनामें स्नान करनेके लिये प्रेरित किया और उस अमानवीय आदेशके विरुद्ध फरियाद करनेके लिये अपने दो दूतोंको दिल्ली भेजा। इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यजीके प्रयत्नसे व्रजवासियोंका वह कष्ट दूर हुआ था।

जैसा पहिले कहा गया है, सुलतानोंके शासन कालमें व्रजके प्राय: सभी मंदिर-देवालय नष्ट कर दिये गये थे और नये मंदिर बनवाने तथा मूर्ति-पूजा करनेपर कड़ी पाबंदी लगादी गई थी। उसके कारण व्रजके निवासी अपने विश्वासके अनुसार सेवा-पूजा करनेसे वंचितहो गये थे। श्रीवल्लभाचार्यने सुलतानी तानाशाहीकी उपेक्षा कर श्रीनाथजीके रूपमें श्रीकृष्णकी पूजा प्रचलित की थी और गोवर्धनकी गिरिराज पहाड़ीपर उनके नये मंदिर बनवानेका उपक्रम किया था। उन्होंने व्रजवासियोंमें आत्म-बल और साहसका सञ्चार कर उन्हें भगवान् श्रीकृष्णपर आश्रित होनेका उपदेश दिया और निर्भय होकर श्रीनाथजी की सेवा-पूजा करनेके लिये प्रोत्साहित किया। श्रीवल्लभाचार्यजी द्वारा स्थापित श्रीनाथ-जीका वह मंदिर ही उस कालमें कृष्णोपासनाके पुनरुद्धारका प्रमुख केन्द्र बना था। उन्होंने श्रीनाथजीके सेवा-क्रममें श्रृंगार, भोग और रागकी व्यवस्थाकर कृष्णोपासनामें कलात्मक भावनाका समावेश भी किया था।

श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने शिष्योंमें से पहिले कुंभनदासको फिर सूरदास, कृष्णदास एवं परमानन्द जैसे रस-सिद्ध कवि-गायकोंको श्रीनाथजीके मंदिरमें कीर्त्तन करनेके लिये नियुक्त किया था। उन महानुभावोंने कीर्त्तनके लिये जिन असंख्य पदोंकी रचनाकी थी, वे व्रजभाषा साहित्यके अक्षय भण्डार और कृष्णोपासनाके प्रेरणा स्रोत हैं। श्रीनाथजीके मंदिरमें जो विविध प्रकारके आयोजन होते रहते थे, उनसे उसके धार्मिक स्वरूपकी संपुष्टि और उस कालकी संत्रस्त जनतामें फिरसे आशा तथा सुखकी भावना जागृत हुई थी। श्रीवल्लभाचार्यजीके पश्चात् उनके पुत्र गोसाईं विठ्ठलनाथजीने पुष्टि मार्गकी बहुमुखी उन्नति करनेके साथ ही साथ व्रज संकृति और कृष्णोपासनाके स्वरूपको सजाने-सँभारनेका भी महत्वपूर्ण कार्य किया था। उन्होंने तत्कालीन मुगल सम्राट अकबरकी उदार धार्मिक नीतिका लाभ उठाकर कृष्णोपासनाके ऐसे भव्य रूपको संयोजन किया, जिसने उस कालके आस्तिक हिन्दुओंके साथ ही साथ सहृदय मुसलमानोंको भी आकर्षित किया था। रहीम, रसखान और अलीखान तथा पीरज़ादी और ताज़बीबी सदृश अनेक उच्च राजकीय पदस्थ मुसलमान नर-नारी उसी कालमे कृष्णोपासक हुए थे। बल्लभाचार्यजीके अनेक शिष्य थे, जिनमें ८४ प्रमुख हैं। उनका वृतांत 'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' में दिया हुआ है। उनके मुख्य शिष्योंमें दामोदरदास, हरसानी, कृष्णदास मेघन, माधव भट्ट, सूरदास, कुम्भनदास, कृष्णदास और परमानन्ददास विशेष रूपसे प्रसिद्ध हैं। अन्तिम चार महानुभाव सुप्रसिद्ध कीर्त्तनकार होनेके कारण बादमें गो० विठ्ठलनाथ द्वारा 'अष्टछाप'में सम्मिलित किए गये थे। बल्लभाचार्यजीके ८४ शिष्योंकी तरह उनकी ८४ बैठकें भी प्रसिद्ध हैं, जो समस्त देशमें अनेक स्थानोंपर बनी हुई हैं। जिन स्थलोंमें बल्लभाचार्यजीने भागवत्का पारायण किया था, वहींपर बादमें बैठकें बनवादी गई थीं। 'महाप्रभुजीकी बैठकें' बल्लभसम्प्रदायमें मन्दिरोंकी तरह पवित्र और दर्शनीय मानी जाती हैं।

उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचनाकी थी, जिनमें ब्रह्मसूत्रका 'अणुभाष्य' और भागवत्की 'सुबोधनी' टीका विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके समस्त ग्रन्थ संस्कृतभाषामें हैं, किन्तु उन्होंने व्रजभाषाको अपूर्व संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान किया था। उन्हींकी प्रेरणासे श्रीनाथजीके कीर्त्तनकारोंने अगणित पदोंकी रचनाकी, जिनके कारण हिन्दी साहित्य इतना समृद्धिशाली हुआ है। व्रजभाषा गद्यका प्रचार और उसकी उन्नति वल्लभ सम्प्रदायके वार्ता-साहित्यके कारण हुई, जिसके आरम्भ करनेका श्रेय भी बल्लभाचार्यजीको है। वह अपने व्याख्यान-प्रवचन और प्रचार-कार्यमें व्रजभाषाका ही प्रयोग करते थे। उन्होंने गुजरात, कठियावाड़ और उत्तरभारतके अन्य दूरस्थ स्थानों तकमें व्रजभाषाका व्यापक प्रचार किया था।

उन्होंने श्रीकृष्णके महत्वको सर्वोपरि बतलाते हुए मानवको एक मात्र उन्हींपर निर्भर रहनेका उपदेश दिया था। उनके उपदेशसे दुखी जीवोंको सान्त्वना मिली और सन्तोष प्राप्त हुआ तथा वे निश्चित और निर्भय होकर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णकी शरण में जाने लगे। उनका मत ऐसा आकर्षक, उपयोगी, सुगम और कल्याणप्रद सिद्ध हुआ कि राजा-रंक, पण्डित-मूर्ख, गुणी-अगुणी, उच्च-नीच, स्त्री-पुरुष सभी वर्गोंके व्यक्तियोंमें उसका

सरलतासे प्रचार हो गया और प्रायः समस्त उत्तरी भारत, विशेषकर व्रज, राजस्थान और गुजरातके अगणित व्यक्तियोंने उसे स्वीकार कर लिया।

वल्लभाचार्यजीका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली और आकर्षक था। वे अपने समयके धुरंधर विद्वान्, आदर्श महात्मा और सुप्रसिद्ध धर्माचार्य थे। वे निस्पृह, त्यागी और परोकारी थे उनको राजा-महाराजा और धनी-मानी व्यक्तियोंसे कई वार अपार-द्रव्य प्राप्त हुआ था, किन्तु उन्होंने उसे स्वयं स्वीकार न कर साधु-सन्तों और विद्वान-मण्डलीमें वितरित करा दिया अथवा भगवत्सेवामें लगा दिया था। उनका स्वभाव सरल और रहन-सहन सादा था। उन्होंने जीवनभर सिले हुए वस्त्र नहीं पहिने और न चरण-पादुका आदिका ही उपयोग किया। उनका पांडित्य उनके ग्रन्थोंसे प्रकट है तथा उनकी विद्वता और तर्क शक्ति उनके शास्त्रार्थोंसे सिद्ध होती है। विद्यानगरके राजा कृष्णदेव राय द्वारा आयोजित धर्म सभामें किया हुआ उनका शास्त्रार्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिस समय आचार्यजी अपनी तृतीय देश व्यापी यात्रा करते हुए सं० १५६५ में विद्यानगर गये, तव वे वहाँकी धर्मसभामें सम्मिलित हुए थे। उन्होंने वहाँ आये हुए विविध संप्रदायाचार्योंको पराजितकर अपने मतकी श्रेष्ठता प्रतिपादितकी थी। उस शास्त्रार्थमें विजयी होनेसे बल्लभाचार्यजीकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई थी और राजा कृष्णदेवरायने उनका 'कनकाभिषेक' किया था।

अन्तमें ५२ वर्षकी आयुमें उन्होंने अपने स्थायी निवास अड़ैलसे प्रयाग जाकर विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण किया। उसके पश्चात् वे काशी चले गये, जहाँ पर ४० दिन तक पुष्टिमार्गीय संन्यासके नियमोंका पालन एवं विप्रयोग करनेके अनन्तर सं० १५८७ की आषाढ़ शु० ३ को काशीके हनुमानघाटपर गंगाजीकी बीच धारामें उन्होंने जल-समाधि द्वारा अपने नश्वर शरीरको छोड़ा था। वे ५२ वर्ष, २ मास, और ७ दिन पर्यप्त इस भूतलपर विद्यमान रहे थे। उन्होंने सुलतानी कालकी अत्यन्त विषम परिस्थितिमें कृष्णोपासनाके पुनरुद्धारका जो वीज-वपन किया, वह मुगल शासनके अनुकूल वातावरणमें व्रजके अन्य आचार्यों और सन्त महात्माओंके कारण लहलहाता हुआ सुन्दर वृक्ष वन गया था।

०

भज नन्दकुमारं सर्वसुखसारं
तत्वविचारं ब्रह्मपरं।

—श्रीमद्वल्लभाचार्य

उत्कण्ठा

अनुपम धारा सुर-सरिताकी ।
प्यार भरी गति अविरल अनुपम सिन्धु-दिशामें स्नेहिल मनकी ॥

कहा शिलाने—"तुम मधु सलिला और मूर्ति वह खारेपनकी ।
तनिक सोच, क्यों तुली हुई तुम परिसमाप्तिपर अपने मधुकी ॥

कहा तटोंने—"कहाँ चली तुम? शेष रहेगा क्या मिलनेपर ।
क्यों खोती अस्तित्व स्वयंका नाम-रूपका सिन्धु-चरणपर ?॥

शिला-खण्डको, युगल तटोंको मिला न कुछ उत्तर सरिताका ।
सुना तनिक-सा कल-कल स्वरमें हाहाकार विकल अन्तरका ॥

"कितनी दूर अभी बहना है ? कितनी दूर सिन्धुका तट है ? ।
दूर भला क्यों मिलन घड़ी है ? मधुर मिलनमें क्यों विलम्ब है ॥

पथके पत्थर रोक न पाये सरिताकी बढ़ती धाराको ।
विविध प्रश्न भी मोड़ न पाये, विरत न कर पाये पल भरको ॥

भले क्षारमय उसे कहें सब, सिन्धु-स्वप्न बस बसा नयनमें ।
सिन्धु-मिलनकी बस उत्कण्ठा, चाह सिन्धुकी बस पल-पलमें ॥

सिन्धु-पुलिनका बस अन्वेषण, सिंधु-देश बस एक दिशा है ।
अविरल बहना, बहते जाना, बस बहना ही एक कार्य है ॥

—श्रीराधेश्याम बंका एम.ए.

श्रीरंगाचार्यजीका जीवन

श्रीवृन्दावनदास, बी०ए०, एल०एल०बी०

[भक्तिके प्रचार-प्रसारमें दक्षिण भारतका बड़ा योगदान रहा है। दक्षिणके जिन अनेक महापुरुषोंने व्रजप्रदेशमें आकर भक्तिकी पताका फहराई थी उनमें कर्नाटकके श्रीस्वामी रंगाचार्यजीके जीवनके कुछ प्रेरक प्रसंग निम्नलिखित लेखमें प्रस्तुत हैं।—सं०]

दक्षिणकी पुण्य-भूमिको जिसने शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि आचार्योंको जन्म दिया यदि विद्वज्जननी कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। दक्षिणकी भूमि उत्तरकी अपेक्षाकृत हिन्दी संस्कृतिके घोर शत्रु दुर्दान्त मुस्लिम नरपिशाचोंके आघातोंसे किसी अंशमें अधिक सुरक्षित रही। यही कारण था कि वहाँ हिन्दूधर्म-ग्रन्थोंके प्रणेता, अध्येता, मीमांसक आचार्य बड़ी संख्यामें उत्पन्न हुए।

दक्षिणके अनेक महापुरुष ऐसे हैं जिनके प्रति व्रजप्रदेश चिरऋणी रहेगा। जगत्प्रसिद्ध श्रीस्वामी रंगाचार्यजी महाराज भी उन महान् व्यक्तियोंमेंसे एक थे। इनके पिताका निवास-स्थान दक्षिणके द्रविड़प्रदेशमें पूर्वकर्णाटकके तुण्डीर मण्डलान्तर्गत काँचीपुरीसे पाँच कोस पूर्वदिशामें अरहम ग्राम था। उनका नाम श्रीश्रीनिवासाचार्य था। उनका बाधूल-गोत्र, यजुर्वेद आपस्तम्भ नामसूत्र तथा श्रीरामानुजीय वैष्णव मत था। श्रीनिवासाचार्यजीके पुत्र स्वामी श्रीरङ्गाचार्यजी बाल्यकालसे ही अत्यन्त मेधावी तथा स्वाध्यायपरायण थे। उन्होंने काव्य व्याकरणके अनेक ग्रन्थोंका मननकर वेदोंका अध्ययन किया और न्याय पढ़नेके लिये छोटी अवस्थामें काशी चले गये। वहाँ काव्यशास्त्रके विवेचनामें इन्होंने जो अनोखी प्रतिभा प्रदर्शितकी उससे वहाँके बड़े से बड़े पण्डित आश्चर्य चकित हो गये और इनके गुरु आयंगर महोदयने तो एक दिन इनसे दिनकरी न्यायका निरूपण सुनकर यह कह दिया कि तुम तो इस विषयमें हमसे भी अच्छा समझ गये हो, अब हम तुन्हें यह विषय पढ़ानेमें असमर्थ हैं। वे इसके पश्चात् प्रसिद्ध नैयायिक अभयाचरण भट्टाचार्यजीसे न्यायका अध्ययन करनेके लिए उनके पास पहुँचे। उन्होंने कुछ दिन वहाँ शिक्षा प्राप्त की।

एक दिन रंगाचार्यजीने अद्भुत स्वप्न देखा। उन्होंने स्वप्नमें अनुभव किया कि पूजोपासनाके समय एक भैंस इनपर आक्रमणकर रही है। वे उससे बचनेके लिए कभी उत्तर कभी दक्षिण और कभी पूर्वकी ओर भागे परन्तु भैंसने प्रत्येक दिशामें उनका पीछा न छोड़ा। अनन्त: जब वे पश्चिमकी ओर गये तो भैंस उनके मार्गसे हट गई। आँख खुलने पर स्वामीजी भयसे कम्पित हो गये। उन्होंने प्रात: गुरुजीकी सेवामें उपस्थित होकर रात्रिके स्वप्नका भेद पूछा। गुरुजीने कहा, "वत्स,स्वप्न सच्चा है, तुम अब पश्चिम दिशामें ही प्रस्थान करो, वहाँ तुम्हारी प्रतिमा चमकेगी और तुम्हारे द्वारा लोक कल्याणके अद्भुत कार्य होंगे। यद्यपि तुम्हारे जैसे शिष्यको कोई गुरु छोड़नेका साहस न करेगा परन्तु लोक कल्याणकी दृष्टिसे मैं तुम्हें जानेके लिये कहता हूँ।"

गुरूजीकी आज्ञा पाकर स्वामी रंगाचार्यजी व्रजके विख्यात क्षेत्र गोवर्द्धनमें आ गये। वहाँ मानसी गंगाके तटपर स्वामी श्रीनिवासाचार्यजीका एक छोटा-सा मन्दिर था, वे उसी में रहने लगे। यह स्थान श्रीवैष्णवोंकी गोवर्द्धनगद्दी कहलाती थी। वहाँका उत्तराधिकारी वाघूलगोत्री द्रविड़ ब्राह्मण होता था। स्वामीरङ्गाचार्यजीका जन्म व्यक्तित्व उन सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति करता था। स्वामी श्रीनिवासाचार्यजी इन्हींको अपना उत्तराधिकारी बना गये। बहुत शीघ्र स्वामी श्रीरङ्गाचार्यजीकी विलक्षण पाण्डित्य और अलौकिक प्रतिभाकी चहुँओर धूम-मच गई। अनेक पण्डितजन और भक्तगण उनके उपदेशामृतका पान करनेके लिए आते। मथुराके प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचन्दके लघुभ्राता सेठ राधाकृष्ण भी उनके प्रवचनों को बड़े ध्यानसे सुनते और उनकी श्रद्धाभक्ति स्वामीजीमें इतनी बढ़ी कि वे उनके शिष्य हो गये। गुरुजीकी आज्ञा हुई कि एक मन्दिर गोवर्द्धन और एक मन्दिर वृन्दावनमें निर्माण कराया जाय। सेठ राधाकृष्णजी गुरुवचनको ईश्वर वाक्यके तुल्य मानते थे। उन्होंने एक मन्दिर तो गोवर्द्धनमें बनवा दिया और एक विशाल मन्दिर वृन्दावनमें बनवाना आरम्भकर दिया। उन्होंने वृन्दावनमें मन्दिर बनवानेका गुप्त भेद अपने बड़े भाई सेठ लक्ष्मीचन्दजीको जो जैनमतावलम्बी थे न बताया। वृन्दावनके मन्दिरमें सेठ राधाकृष्णजीके निजी २०, २५ लाख रुपये लग गये और इसपर भी मन्दिरकी छतें न पट पाईं। जब मन्दिर पूरा न हो पाया तो उन्होंने बड़े भाईको सम्पूर्ण रहस्य बताकर मन्दिरको पूरा करनेकी प्रार्थनाकी। बड़ेभाई सेठ लक्ष्मीचन्दजी रुष्ट होनेकी अपेक्षा बड़े प्रसन्न हुए और मन्दिरको ४५ लाख रुपयेकी लागतसे पूर्ण कराया तथा लगभग एक करोड़ रुपयेकी सम्पत्ति भोगरागके लिए समर्पित करदी। मन्दिरको सम्पत्ति सहित स्वामीजीको भेंटकर दिया गया। यदि स्वामीजी चाहते तो उस विशाल धनसम्पत्तिका अपने और वंशजोंके लिए उपभोग कर सकते थे परन्तु वे तो एक निस्पृह तत्वज्ञानी थे। उन्होंने कहा कि ये सम्पत्ति तो भगवान्की है। कहीं हमारे वंशज या शिष्य इस वैभवको निज उपयोगमें लाकर नष्ट करदें इस विचारसे उन्होंने उस सम्पत्तिका निज स्वामित्व न रखा उसके लिए एक ट्रस्ट कमेटीका निर्माणकर दिया जो आज भी मन्दिरका प्रबन्ध करती है। यह कदम स्वामीजीकी निस्पृहता और दूरदर्शिताका द्योतक था। श्रीरङ्गजीका भारत विख्यात् यह मन्दिर व्रजप्रदेशको दक्षिणकी अपूर्व देन है। यह मन्दिर व्रजमण्डलमें तो विशालतम है ही समस्त भारतमें भी इसकी गणना विशाल मन्दिरोंमें है। उत्तर भारतमें यह श्रीवैष्णव संप्रदायका प्रधान केन्द्र है।

●

व्रज संस्कृतिका अंग सङ्गीत

ज्यो० श्रीराधेश्याम द्विवेदी

[रास-रस-रसिक श्रीकृष्णके लीला-कलाप, सङ्गीत-माधुरीका सहज भावसे प्रसार करते रहे हैं। व्रजकी संस्कृतिमें इसी कारण सङ्गीत व्याप्त रहा है। इस लेखमें व्रज-संस्कृतिको जीवन्त रखने वाले इस सङ्गीतका अन्वेषण पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है—सं०]

व्रज संस्कृतिकी देशको अनेक देन हैं जिनमें गोसंवर्धन, वनसंरक्षण, संगीत साधना मल्ल विद्या मुख्य है। इन सबका भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके जीवनसे अभिन्न सम्बन्ध रहा है। अतएव उक्त चारों देनके संरक्षण और संवर्धनमें भगवान् श्रीकृष्णके जीवनके आदर्श निहित हैं संगीत शास्त्र और संगीत कलाका संस्कृतके भरतप्रणीत नाट्यका शास्त्रके पश्चात् विकास और प्रसार व्रज जनपद और व्रज साहित्यसे ही समस्त भारतमें हुआ है। संस्कृत भाषाके बाद व्रज साहित्यमें ही संगीतका सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग शास्त्र और उसका प्रचुर साहित्य विद्यमान है। व्रजभाषामें ही संगीतके सुललित पद सैकड़ों वर्षोंसे सन्त कवि और देशके गायक सारे देशमें विशेषतः उत्तर भारत तथा महाराष्ट्रमें गाते चले आ रहे हैं। शास्त्रीय संगीतके पद और गायन व्रजभाषामें ही सुननेको मिलते हैं।

व्रजभूमि नटनागर, मुरलीधर श्रीकृष्णचन्द्रकी जन्मभूमि रही है इसी भूमिमें यमुना तटपर प्राचीन ऋषियोंने सामगान किया था। भगवान् कृष्णने स्वयं गीत, वाद्य और नृत्य संगीतकी तीनों कलाओंको अपनाया और तभी वे वंशीधर मुरलीधर, नटवरनागर, आदि नामोंसे विख्यात हुए वंशीधर श्रीकृष्णने अपने बाल्यकालमें ही सर्व-सुलभ और सबसे सस्ते वाद्य बाँसुरीको अपनाकर उसकी मधुर ध्वनि द्वारा गा-गाकर व्रजवासी स्त्री-पुरुषोंको मोहित किया जब वे बाँसुरी बजाते थे तो मनुष्य तो क्या पशुपक्षी, गौ बछड़े मोर, तोते, बन्दर तक खिंचे चले आते थे, उनकी मधुर मुरलीकी तान सुनकर गोप और गोपियाँ नाचने

लगनी थीं और मस्त होकर गायन करते थे, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भी बड़ी तानसे गोप गोपियोंके साथ गाते थे, नृत्य तो उनको अत्यन्त ही प्रिय था उनका रासनृत्य रसपूर्ण होनेसे ही रास कहलाता है, श्रीकृष्ण प्रत्येक पूर्णिमाको व्रजके भिन्न-भिन्न वनोंमें श्रीराधिका जी तथा अन्य गोपियोंके साथ रासलीला किया करते थे। उनके एक ध्यानमें उनके त्रिभंगी देहको नटवरवपुः कहा गया है, अतः वे नृत्य करनेमें सर्वश्रेष्ठ थे, उनके अधरामृतका पान करनेवाली वंशी गोप-गोपी जनोंको वृन्दावनमें मंत्रमुग्धकर खींच लाती थी।

"रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः,
वृन्दारण्यम् स्वपदरमणम् प्राविशद् गीति-कीर्तिः।"

जब गायें चरते हुए वनमें दूर चली जाती थीं तो भगवान् श्रीकृष्ण अपनी वंशी बजाते थे जिसकी ध्वनिको सुनकर सब गौएँ तुरन्त दौड़-दौड़कर भगवान् श्रीकृष्णके पास आ जाती थीं। यह जादू था उस वंशीधरके वंशी बजानेमें।

नृत्य तो उनको अत्यन्त ही प्रिय था एवं वृद्धावस्थामें भी वे नाचनेसे नहीं रुके। जब उनको अत्यन्त आनन्द आता था तब वे अपने आनन्दको प्रकट करनेके लिए नाचने लगते थे। महाभारत कालमें भगवान् श्रीकृष्ण वृद्ध थे एक बार वे महाभारतके रणस्थलमें ही नाचने लगे थे। कुरुक्षेत्रमें जब कौरवों और पाण्डवोंमें भयानक युद्ध चल रहा था और दोनों पक्षके कई महारथी समरभूमिमें सर्वदाके लिए सो गए थे उसी समय एक दिन सहसा भगवान कृष्ण युद्ध भूमिमें अत्यन्त प्रसन्न होकर अर्जुनके रथसे कूद पड़े और नृत्य करने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण-को नाचते देख पाण्डवोंको आश्चर्य हुआ अर्जुन तो किम् कर्तव्य-विमूढ़ होकर आश्चर्यसे उनके नाचको देखने लगे यह समयकी बात है जब भीमसेन और हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच जो महाबली था महासागरमें कर्ण द्वारा उस वैजयन्ती महाशक्तिसे मार डाला गया जो कर्णको इन्द्रसे अपने कवच और कुण्डलोंको दानमें देनेके बाद प्राप्त हुई थी। यह महाशक्ति कर्णने अपने प्रतिद्वन्दी वीर अर्जुनके लिए ही सुरक्षित रक्खी थी। किन्तु इस महाशक्तिका घटोत्कच पर प्रयोग कर लिये जानेसे और अब अपने मित्र अर्जुनके लिए कोई भी मार सकने वाला आयुध शेष न रहनेके कारण भगवान् कृष्ण नाचने लगे थे। यद्यपि अर्जुनको वीर घटोत्कच-की मृत्युसे भारी दुख पहुँचा था। कृष्णके नाचनेका अर्जुन द्वारा कारण पूछे जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा, "इन्द्रसे प्राप्त कर्णकी यह शक्ति अजेय थी उसके प्रहारके समय तुमको मेरा सुदर्शनचक्र भी नहीं बचा सकता था, किन्तु अब महाशक्ति हीन कर्णको मारना सरल हो गया है। मेरे नृत्य और मेरी प्रसन्नताका यही एक मात्र कारण है।" इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनसे यह स्पष्ट है कि उनका जीवन पूर्णरूपेण संगीतमय था। भगवान् श्रीकृष्णके सङ्गीत रसिक होनेके कारण परम भगवदीय भक्तजन भी बड़े रसिक और संगीत शिरोमणि हुए हैं।

सोलहवीं सदीमें संगीत रसिक शिरोमणि स्वामी हरिदासजी इसी व्रजभूमिमें हुए जिनसे सन्त सूरदासजी और त्यागमूर्ति सन्त रामदासजीने संगीतका अभ्यास किया। स्वामी हरिदासजीसे ही वस्तुतः व्रज संगीतकी ध्रुपद-धमारकी गायकी और रासनृत्यकी परम्परा चली। तानसेन और बैजूबावराने भी इन्हीं स्वामी हरिदासजीसे व्रजसंगीत

की शिक्षा प्राप्त की। इनके अतिरिक्त श्रीमदनरायजी बकसूनायक, घोंघीनायक, धीरज, महानादसैन, ज्ञानदास और अन्तमें गनेसीलालजी चौबे व्रजसंगीतके महान गायक हो गये हैं, बल्लभ कुल सम्प्रदायने व्रज संगीतको अबतक संरक्षित रक्खा है। इनमें अनेक आचार्य गोस्वामीवर्य और कीर्त्तनकार व्रज संगीतके गायक हुए हैं, अष्टछापके सभी कवि प्रसिद्ध कवि होनेके साथ गायक भी थे व्रजकी संगीत पद्धतिके प्रधानाचार्य स्वामी हरिदासजी ही हैं, अन्य सभी संगीत पद्धतियोंमें व्रजकी सङ्गीत पद्धति ही विशुद्ध भक्तिभाव एवं रसमाधुर्य पूर्ण है व्रजकी संगीत पद्धतिमें किसी भी अन्य देशीय संगीतका लेशमात्र भी मिश्रण नहीं है। व्रजका संगीत शास्त्र पूर्णरीत्या वैज्ञानिक है। व्रजसंगीतके अनेक मर्मज्ञ शास्त्रियोंने अपने संगीत शास्त्रको साङ्गोपाङ्ग और विस्तारसे लिखा है। आदिनादसे लेकर सप्तस्वर राग रागनियों सातों स्वरोंके स्वरूप, राग रागनियोंके स्वरूप उनका विस्तार सब व्रजसाहित्यमें मिलता है, संगीतकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें लिखा है—

> आदि नाद अनहद भयौ तातें उपज्यौ वेद,
> पुनि पायौ वा वेद में सकल सृष्टि कौ भेद।
> नाद उदधि के पारकौ केतिक कियो उपाय,
> सिन्धु तरन कौं सुरसुती तूमा उरहिं लगाय।

इस प्रकार नादकी उत्पत्ति और महत्व वतलाकर सात स्वरोंके नाम, ग्राम, देवता, वर्ण, रूप, आयुध, वस्त्र, सवारी, स्वभाव आदि सब व्रज संगीत साहित्यमें जाननेको मिलते हैं। उदाहरणके लिए हम एक षड्ज स्वरका स्वरूप देते हैं।

> खरज मोर सुर जानिये जन्म सु जुम्बूद्वीप,
> विप्रजाति अरु देव कुल ब्रह्मादेव समीप।
> श्वेत वस्त्र कर परसु लै चढौ बैल श्रुति चार,
> तीव्र बहुरि कुमंदनी अरु मंदा सिद्ध विहार।

इसी प्रकार ऋषम, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद आदि स्वरोंका वर्णन किया गया है।

वाद्योंमें भी सभी वाद्य व्रजके महान संगीतज्ञोंने प्रयोगकर प्रवीणता प्राप्तकी है। तारके वाद्योंमें अनेक प्रकारकी वीणामें सितार, सारंगी, इसराज, सुरमण्डल, रवाव, अमृत-कुण्डली, स्वर बहार, सरोद, रावणहत्ता, अमृत। मुखसे बजाने वाले सभी वाद्य यथा बाँसुरी, अलगोजा, शहनाई, मुखवीणा, उरोडह, नागस्वर, तुरही, मुखचंग, शंख, महुबरि, सिंगी, विसान। हाथसे बजने वाले खालसे मढ़े पखावज, मृदंग, नगाड़ा, भेरी, ढोल, ढप, डिमडिमी डमरू, दुन्दुभि, आवज या हुडुक्का आदि तथा हाथसे बजाने वाले खंजरी, खड़ताल, जलतरंग, नादी, मजीरे, झाँझ, किंगरी या किन्नरी, करताल, कठसाल, आदि पचासों प्रकार के वाद्योंका व्रज संगीतमें वर्णन मिलता है।

व्रजका माना हुआ नृत्य रास 'रस' शब्दसे ही बना है जिसमें रस नहीं वह रास नहीं, रसमें, तालमें, तानमय भाव और लास्यमय नृत्य ही रास है, व्रजकी रासमंडलियाँ

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाको संगीतमय प्रदर्शितकर संगीतानुरागियोंमें विशेषतः भक्तजनोंमें आनन्दका संचार करती हैं इसके अतिरिक्त स्वाँग, भजन नौटंकी, चरकला नृत्य आदि अनेक प्रकारके लोक नृत्य भी संगीतकी ही देन हैं। इस प्रकार व्रज लोक जीवन भगवान् कृष्णके कालसे संगीतमय रसिक और संगीतानुरागी हैं। अपने अन्य कर्मोंके साथ मानव संगीतकी साधना भी भगवान् श्रीकृष्णका एक सन्देश है।

निष्काम कर्म

मानव मात्रकी एक ही माँग प्रायः सबमें समान रूपसे देखनेमें आती है कि तनिक भी दुःख पास न आवे और सुख ऐसा स्थायी प्राप्त हो जो कभी साथ न छोड़े। मानवने जबसे होश सम्भाला इसी धुनमें लगा हुआ है; परन्तु बिरले मानव ही इस पुरुषार्थमें सफल होते देखे गए हैं; इसका मूल कारण यही है कि मनुष्यका प्रयत्न ठीक दिशामें न होनेसे दुःखकी निवृत्ति नहीं होती। बहुत छानबीन करनेपर समझमें आया कि मनुष्य यदि निष्काम भावसे कर्मोंका सम्पादन करे यानी जो कुछ काम करे, नौकरी करे, व्यापार करे, मजूरी करे भजन करे, सभी कर्मोंकी फल कामनाको त्यागकर; केवल भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए अथवा कर्त्तव्य बुद्धिसे भली प्रकार मन लगाकर करे, तो निःसन्देह दुखकी निवृत्ति और स्थायी सुखकी प्राप्ति हो सकती है; परन्तु कर्म करनेमें इस बातका ध्यान रक्खे कि शास्त्र निषिद्ध कर्मोंको कदापि न करे इसीको कर्मयोग अथवा निष्काम कर्म भी कहते हैं; जिसकी श्रीमद्भगवद्गीतामें विशद व्याख्या वर्णित है; दूसरे अध्यायके ५० या ५१वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि निष्काम कर्मोंमें लगे हुए पुरुष आत्मज्ञानी होकर जन्म बन्धनसे छूटकर, उस स्थानको चले जाते हैं जहाँ किसी प्रकारका भी दुःख नहीं है :—

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥

श्रुति भगवतीने भी कहा है—

कर्म कर्त्तव्यमित्येव विहितष्वेव कर्मसु।
बन्धनं मनसानित्यं कर्मयोगः स उच्यते ॥

इसलिए प्रत्येक भारतवासीका कर्त्तव्य है कि वह भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा बतलाये गए निष्काम कर्म-मार्गपर चले। इसीमें धर्म, देश और मानवताका कल्याण निहित है।

—स्वामी श्रीत्रिलोकीनाथजी

इन्द्रपूजाकी परम्परा

प्रो० डा० श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)

[प्राचीन परम्पराके अनुसार व्रजके गोप लोग शरदऋतुके आगमनपर इन्द्र देवताकी पूजा किया करते थे। श्रीकृष्णने इस पूजाका विरोध कर गोवर्धन गिरि एवं गायोंके पूजनकी प्रथाको जन्म दिया जिसका अनुसरण व्रजवासीजन बराबर करते आ रहे हैं।]

वैदिक सूक्तोंमें इन्द्रकी महिमाका कथन विस्तारसे मिलता है। पृथ्वी और आकाशके प्रधान देव इन्द्रकी तेजस्वी गाथाएँ वेदोंमें वर्णित हैं। आसुरी तथा अन्य अत्याचारी प्रवृतियोंका दमन करनेवाले महान् देवताके रूपमें इन्द्रकी प्रार्थना वैदिक ऋषियों द्वारा मुक्तकंठसे की गई है। शौर्य और साहसके प्रतीक रूपमें इन्द्रदेवका जन-मानस पर प्रभूत प्रभाव पड़ा और उनकी संज्ञा 'देवराज' हुई। उनके सामने विष्णुका भी स्थान न्यून माना गया और उन्हें उपेन्द्र कहा गया।

वैदिक यज्ञोंमें इन्द्रका स्थान प्रमुख था। इन यज्ञोंमें पशु-बलि अनिवार्य थी। इसका आभास वैदिक साहित्यके अतिरिक्त परवर्ती साहित्यमें भी मिलता है। भागवत पुराण (१०,२७) में सुरभी गाय द्वारा श्रीकृष्णकी प्रार्थनामें जो वचन कहे गए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि इन्द्रके द्वारा गोवधकी चेष्टा श्रीकृष्णने विफल करदी।

इन्द्रके महत्वके क्रमिक ह्रासका पता वैदिककालके पश्चात् रचित साहित्यसे चलता है। इन्द्रके स्थानपर विष्णु आदृत होने लगे। विष्णुके अवतार रूपमें श्रीकृष्णका इन्द्रके साथ संघर्ष पुराणोंका प्रिय विषय बन गया। पुराणोंमें इन्द्रके व्यक्तिगत चरित्रपर आक्षेप मिलते हैं। नैतिकताके आधारपर उनमें अनेक दोष देखे जाने लगे। इन्द्रको घमंडी एवं व्यभिचारी रूपमें पुराणकारोंने चित्रित किया। उनका मुख्य उद्देश्य इन्द्रके स्थानपर

विष्णु-कृष्णको प्रतिष्ठापित करना था। भागवत पुराणमें इन्द्रके स्थानपर कृष्णके अभिषेक का कथन है। इन्द्रके साथ आई हुई सुरभी (कामधेनु) द्वारा इस प्रकार कहलाया गया है —

"त्वं नः परमं दैवस्त्वं न इन्द्रो जगत्पते।"
(भाग १०,२७,२०)
"इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम्।"
(२१)

("हे श्रीकृष्ण! आप हमारे परम देवता हैं। हे संसारके प्रभु, आप ही हमारे इन्द्र हैं। अब हम प्रजापति ब्रह्माकी प्रेरणासे आपको इन्द्रके रूपमें मानकर आपका अभिषेक करेंगे।)

भागवतके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रारम्भिक पुराणोंमें इन्द्र और कृष्णके संघर्षका उल्लेख मिलता है। ब्रह्म-पुराण (अध्याय १८७-८८) में इसका विवरण कुछ विस्तारसे उपलब्ध है। प्राचीन परम्पराके अनुसार व्रजके गोप लोग शरद ऋतुके आगमनपर इन्द्रदेवता की पूजा किया करते थे। लोंगोमें यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि इन्द्रकी कृपासे ही वर्षा होती है; उसीसे धान्य तथा पशुओंके लिए चारा होता है। व्रजमें ही नहीं देशके अन्य भागोंमें भी इन्द्र-पूजा ('इन्द्रमह') का विविध रूपोंमें आयोजन किया जाता था। लोक-मानसमें यह विश्वास बैठ गया था कि यदि देवराज इन्द्रकी पूजा न होगी तो उनका क्रोध दुर्भिक्ष पैदा कर देगा।

व्रजकी इन्द्र-पूजा सम्बन्धी परम्पराका श्रीकृष्णके द्वारा विरोध किया गया। उन्होंने इन्द्रके स्थानपर गोवर्धनकी पूजाका आयोजन करना उचित समझा। व्रजके गोप खेती और व्यापारके स्थानपर पशुपालनको महत्व देते थे। गोपालन ही उनका धन्धा था, अतः श्रीकृष्णने गोपोंसे अनुरोध किया कि वे इन्द्र नामधारी किसी काल्पनिक देवताके स्थानपर गोवर्धन पहाड़ तथा गायोंका पूजन करें। श्रीकृष्णने बलपूर्वक कहा कि हम वनचारी लोगोंको इन्द्रसे क्या लेना-देना? हमारे देवता तो गाएँ तथा पर्वत हैं—

"न वयं कृषिकर्तारो वाणिज्या जीविनो न च।
गावोऽस्मद्दैवतं तात वयं वनचरा यतः॥
गिरियज्ञस्त्वयं तस्माद्गोयज्ञश्च प्रवर्त्यताम्।
किमस्माकं महेन्द्रेण गावः शैलाश्च देवता॥"
(ब्रह्मपुराण, १८७,४२,४६)

इस प्रकार इन्द्रमहके स्थानपर गिरि-गोयज्ञका प्रवर्तन किया गया। श्रीकृष्णकी एक संज्ञा "गोविन्द" (गोइन्द्र) वा "उपेन्द्र" हो गई—

"उपेन्द्रत्वं गवामिन्द्रो गोविदत्वं भविष्यसि।"
(ब्रह्म पुराण, १८८,३५)

इन्द्र और कृष्णके इस संघर्षका विवरण हरिवंश(७२-७६), विष्णु पुराण (१०,१-१२,५६ पद्म पुराण (३७२,१८१-२१७) आदि पुराणोंमें भी मिलता है। कथाके अनुसार श्रीकृष्णकी सीख मानकर गोप लोगोंने इन्द्रकी पूजा न करके गोवर्धन गिरिकी पूजाकी। इसपर देवराज इन्द्रने कुपित होकर ब्रजभूमिपर भयंकर वर्षाकी, जिससे लोगोंमें हाहाकार मच गया। परन्तु श्रीकृष्णके चातुर्यसे पहाड़में मनुष्यों तथा पशुओंकी रक्षा हुई। इन्द्रका अभिमान खण्डित हुआ और उन्होंने श्रीकृष्णसे क्षमा-याचना की।

इस कथासे यह स्पष्ट है कि पुराणकारोंका उद्देश्य वैदिक देवता इन्द्रके महत्वको गिराकर श्रीकृष्णको ऊपर उठाना था। यह प्रक्रिया गुप्तकालमें सम्पन्न हुई। परवर्ती कालमें इन्द्रका स्थान विष्णु और कृष्णकी अपेक्षा गौण हो गया।

इन्द्रमह अथवा इन्द्र-पूजाकी यह परम्परा पूर्व-वैदिककालसे मिलने लगती है। महाभारत (आदि पर्व, ६३,१-२९) के अनुसार इन्द्रमहका आरम्भ चेदिके शासक उपरि-चरवसुके द्वारा किया गया। कुछ कारणोंसे यह राजा राज्य त्यागकर संन्यासी होना चाहता था। देवराज इन्द्रने उसे शासन-व्यवस्था सम्भालनेको प्रेरित किया। कथाके अनुसार इन्द्रने राजाको बांसका एक बड़ा लट्ठा दिया। इस लट्ठेको भूमिमें गाड़कर उसे पुष्पादिसे अलंकृत किया गया। इस लट्ठेकी संज्ञा "इन्द्रध्वज" हुई। वराहमिहिर कृत बृहत् संहिता (अध्याय४३) के अनुसार असुरोंको आतंकित करनेके लिए विष्णुने इन्द्रको एक ध्वज प्रदान किया। उस ध्वजके सम्मानमें इन्द्रकी पूजाका भव्य आयोजन किया जाने लगा।

इन्द्र पूजाका प्रचार उत्तरभारतमें गुप्तकालके पूर्व तक बड़े रूपमें जारी रहा। उत्तरप्रदेश तथा राजस्थानके अनेक भागोंसे वैदिक यज्ञोंके स्मारक रूपमें यूपस्तम्भ मिले हैं। इनमेंसे कई अभिलिखित हैं। दक्षिण-पूर्व एशियाके अनेक भागोंमें भी ऐसे यूप प्राप्त हुए हैं। उत्तर भारतके अनेक प्राचीन जनपदोंके सिक्कों, मुहरों आदिपर वज्र तथा इन्द्रध्वजका चिन्ह अंकित मिलता है। यह इस बातका द्योतक है कि आर्यावर्तमें दीर्घकाल तक इन्द्र उपासनाकी परम्परा व्यापक रूपमें प्रचलित रही।

●

पूजा

एक नन्हें फूलने पूछा "ऐ सूर्य मैं तेरी पूजा-स्तुति किस तरह करूं" सूर्यने जवाब दिया, "अपनी पवित्रताके सरल मौन द्वारा।"

—टैगोर

जन्मोत्सव वधाई

(१)

माथे मोर मुकुट लकुट वर कंज कर,
लटक लटूरियाँ कपोल छवि छैया की।
सुकवि 'गुविन्द' मुख वानों नील अरविन्द
लोचन अलिन्द धार तरनि तनैया की॥
चितवन हसन दसन दुति कुन्द मन्द
बसन विभूषन बिलास उपजैया की।
गिरि के धरैया की, अनंग के जितैया की
ब्रज में बधैयाँ आज कुँवर कन्हैया की॥

(२)

कंजन में कुंजन में तरुवर पुंजन में
अलि पिक गुंजन में अजित जितैया की।
रागन में बागन में उर अनुरागन में
लोयन की लागन में लगन लगैया की॥
भनत 'गुविन्द' कालीदह के कदम्बन में
कूलन कलिन्दजा कलोल किलकैया की।
बेलिन में केलिन में ब्रज की नवेलिन में
बाजत बधैया आज कुँवर कन्हैया की॥

कविरत्न श्रीगोविन्द चतुर्वेदी

खजुराहो-मूर्तिकलामें श्रीकृष्ण-लीला

डा० श्रीरामाश्रय अवस्थी

[श्रीकृष्णका आकर्षक व्यक्तित्व एवं उनकी मनोमुग्धकारिणी लीलायें सभीके लिये प्रेरणाका श्रोत रही हैं। शिल्पियोंके लिये भी श्रीकृष्ण-लीला प्राचीन कालसे एक मधुर विषय रही है जिसके विविध रूपोंको अंकितकर उन्होंने अपनी कलाको धन्य माना है।]

वसुदेव-देवकीके पुत्र श्रीकृष्ण विष्णुके आठवें अवतार माने जाते हैं। उनका जीवन-चरित्र अनेक पुराणों—हरिवंश, भागवत, विष्णु आदि तथा अन्य विभिन्न ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है। उनका व्यक्तित्व इतना उदात्त, लोकरंजक एवं व्यापक रहा है कि न केवल भारतीय साहित्यमें उसका बहुमुखी वर्णन मिलता है, वरन् ललित कलाएें भी उससे ओत-प्रोत हैं। शिल्पियोंके लिए तो श्रीकृष्ण-लीला अत्यन्त प्राचीन कालसे एक मधुर विषय रही है और उन्होंने श्रीकृष्णकी जीवन-झाँकी विविध रूपोंमें अंकित कर अपनी कलाको धन्य-माना है। ऐसे अनेक चित्रण भारतके विभिन्न भागोंमें, काश्मीरसे महाबलिपुरम् और बंगालसे सौराष्ट्र तक, पाए गए हैं, किन्तु इन सभी चित्रणोंमें, विविधता और शिल्पीकरण-की दृष्टिसे खजुराहो-चित्रण बेजोड़ हैं।

खजुराहोमें श्रीकृष्ण-लीला-सम्बन्धी मूर्तियाँ अधिकांशतः लक्ष्मण मन्दिरमें उत्कीर्ण हैं। इस मन्दिरके प्रदक्षिणापथके चारों ओर, गर्भगृह-जंघापर इन बारह दृश्योंकी मूर्तियाँ हैं—पूतना-वध, शकट-भंग, तृणावर्त-वध, यमलार्जुन-उद्धार, वत्सासुर-वध, कालिय-मर्दन अरिष्टासुर-वध, कुब्जानुग्रह, कुवलयापीड़-वध, चाणूर तथा शल्य-युद्ध तथा बलराम-द्वारा-लोमहर्षणका वध। ये सभी अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियोंके अभिज्ञानके लिए इन पंक्तियोंका लेखक श्रीकृष्णदेवका विशेष आभारी है।[1] इस प्रकार श्रीकृष्ण-लीला-चित्रण की दृष्टिसे खजुराहोमें यह सर्वाधिक महत्वका मन्दिर है। इस मन्दिरकी यमलार्जुन-मूर्तिसे

---

1. द्रष्टव्य : Deva, K., "Krishna--Lila Scenes in the Lakshmana Temple, Khajuraho" LALIT KALA, No. 7, pp. 82-90, Pls. XXXI-XXXIV.

साम्य रखती एक सुन्दर मूर्ति पार्श्वनाथ नामक जैन मन्दिरमें भी उत्कीर्ण है और इस दृश्य का एक छोटा अंकन विश्वनाथ मन्दिरमें भी लेखकको मिला है। इसके अतिरिक्त पूतना-वधका भी चित्रण इस मन्दिरमें प्राप्त है। उपर्युक्त मूर्तियोंके अतिरिक्त खजुराहोमें दो शिला-पट्ट भी उपलब्ध हैं, जिनमें श्रीकृष्ण-लीलाके अनेक दृश्य चित्रित हैं।

श्रीकृष्ण-जन्म—

खजुराहो-संग्रहालय (सं १६१०) में श्रीकृष्ण-जन्मकी एक सुन्दर मूर्ति है। इसमें माँ देवकी और शिशु श्रीकृष्ण शेष-शय्या (एक पर्यंकपर व्यवस्थित शेष-कुण्डलियों) पर लेटे हुए प्रदर्शित हैं। विष्णु भगवान्का यह बालरूप होनेके कारण ही शेष उसको शय्या दे रहे हैं (इस संदर्भमें विष्णुकी शेष-शायी मूर्तियाँ द्रष्टव्य हैं)। देवकी विशाल किरीट-मुकुट (वैष्णव लांछन), हार, ग्रैवेयक, कुण्डल, कंकण, वलय, केयूर तथा मुक्ताग्रथित कटिसूत्र-आभूषणोंसे अलंकृत हैं। किरीट-मुकुटके ऊपर शेषफणोंका विशाल घटाटोप है। ऊपरकी ओर मुड़ा हुआ उनका दाहिना हाथ उनके किरीट-मुकुटधारी मस्तकको आश्रय दिए है और बायाँ वे अपने दाहिने स्तनपर रखे हैं, मानों निकट लेटे हुए श्रीकृष्णको वे दूध पिलानेके लिए उद्यत हों, जिनका मुख इसी स्तनके पास है। मूर्ति खण्डित होनेके कारण देवकीके चरण टूट गए हैं। सम्भव है अन्य स्थानोंसे प्राप्त ऐसी मूर्तियोंके समान इसमें भी उनके चरणोंको दबाती हुई लक्ष्मी चित्रित रही हों। पर्यंकके नीचे एक पद्मके ऊपर एक शंख (दोनों वैष्णव लांछन) रखा है, जिसके सम्मुख बैठी हुई चामरधारिणीकी एक नन्हींसी आकृति है। पर्यंकसे अलग (घटाटोपके पीछे) एक अन्य अनुचरी बैठी है, जिसके दाहिने हाथमें चामर और बाएँमें पूर्ण विकसित पद्म है। चित्रणके सबसे ऊपर पंक्ति-बद्ध बैठे नवग्रहोंकी आकृतियाँ हैं, जिनमेंसे कुछ, मूर्ति खण्डित होनेके कारण, लुप्त हो गई हैं।

खजुराहोकी इस मूर्तिके सदृश मध्यभारतकी दो अन्य मूर्तियाँ धुबेला संग्रहालय (म० प्र०) की शोभा बढ़ा रही हैं, जिन्हें श्री स० का० दीक्षितने सर्वथा उचित ही 'कृष्ण जन्म' माना है।[१] ऐसी मूर्तियाँ भारतके अन्य भागोंमें भी प्राप्त हुई हैं, जिन्हें कुछ विद्वानों ने 'माँ-शिशु' और कुछ ने 'सद्योजाता' नामसे वर्णित किया है।[२] इन्हीं विद्वानोंका अनुकरणकर डा० उर्मिला अग्रवाल भी उपर्युक्त खजुराहो-मूर्तिको सद्योजाता मानती हैं।[३]

पूतना-वध—

खजुराहोमें उपलब्ध पूतना-वधके चित्रणोंमेंसे सर्वोत्तम वहाँके लक्ष्मण मन्दिरमें दर्शनीय है (चित्र-१)।[४] इसमें बाल श्रीकृष्ण राक्षसी पूतनाका दूध पीते हुए प्रदर्शित हैं।

1. Dikshit, S. K., A GUIDE TO THE STATE MUSEUM DHUBELA, pp. 28-29, Pls. XII and XIII.
2. Ibid., p. 28.
3. Agarwal, U., KHAJURAHO SCULPTURES AND THEIR SIGNIFICANCE, p. 81, Fig. 59.
4. द्रष्टव्य : Deva, K., op. cit., p. 89, Pl. XXXIV, Fig. 11; Agarwal, U., op. cit., p. 40, Fig, 17.

'लक्ष्मण मन्दिर' खजुराहोसे प्राप्त
श्रीकृष्ण लीला सम्बंधी
कुछ चित्र

पूतना-वध

(चित्र-१)

शकट-भंग
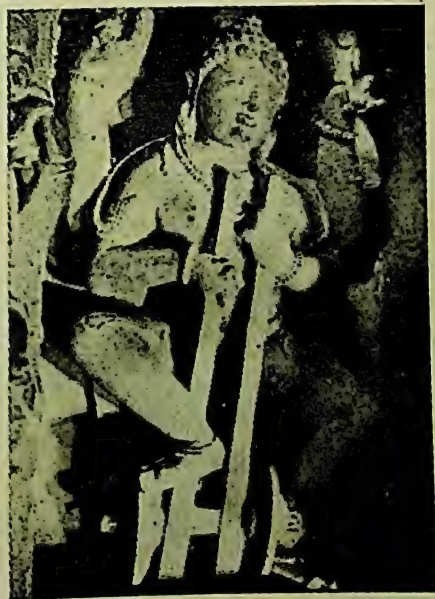
(चित्र-२)

तृणावर्त-वध

(चित्र-३)

यमलार्जुन-उद्धार

(चित्र-४)

वत्सासुर वध

(चित्र-५)

कालिय-दमन

(चित्र-६)

अरिष्टासुर-वध

(चित्र-७)

कुब्जानुग्रह

(चित्र-८)

कुवलयापीड़-वध

(चित्र-९)

चाणूर-वध

(चित्र-१०)

शल-वध

(चित्र-११)

राक्षसी ललितासन-मुद्रामें बैठी है और श्रीकृष्ण नग्न खड़े हैं। श्रीकृष्ण अपने दोनों हाथोंसे राक्षसीके बाएँ स्तनको जोरसे दबाकर पी रहे हैं। दूध पीनेके साथ ही साथ वे उसके प्राण भी पीते जा रहे हैं, जिससे उसके स्तनोंमें असह्य पीड़ा हुई है और राक्षसी-रूप प्रकट हो गया है। उसके गाल और पेट बिल्कुल पिचके हुए हैं, नेत्र उलट गए हैं, शरीरकी नसें और अस्थियाँ उभर आई हैं और हाथ ऊपरकी ओर फैल गए हैं--मानो वह रो-रो कर श्रीकृष्णसे जीवन-दानकी याचना कर रही हो। श्रीकृष्णके मुखपर संतोष और प्रसन्नताके तथा राक्षसीके मुखपर असह्य पीड़ा तथा भयके भावोंको उभारनेमें शिल्पीको असाधारण सफलता मिली है।

पूतना-वधके छोटे-छोटे तीन चित्रण खजुराहोमें और उपलब्ध हैं—दो कृष्ण-लीला-पट्टोंमें और एक विश्वनाथ मन्दिरकी एक शोभापट्टिकामें। इनमें भागवत-पुराण (स्कन्ध १०, अ० ६)के विवरणके अनुसार राक्षसीकी गोदमें लेटे हुए श्रीकृष्ण उसका एक स्तन पी रहे हैं।

श्रीकृष्ण-लीलाके इस दृश्यने शिल्पियोंको सदैव प्रोत्साहन प्रदान किया है। इस दृश्यके प्राचीनतम निदर्शन बादामीकी गुफाओं (छठवीं शती ई०) में मिलते हैं, किन्तु खजुराहोके लक्ष्मण-मन्दिरकी मूर्ति कलाभिव्यक्तिकी दृष्टिसे इनसे बहुत आगे है।[१]

शकट-भंग—

इस दृश्यको प्रदर्शित करती एक स्वतन्त्र मूर्ति खजुराहो (लक्ष्मण मन्दिर) में उपलब्ध है और एक छोटा चित्रण श्रीकृष्ण-लीला-पट्टमें अंकित है। स्वतन्त्र मूर्ति (चित्र-२) में चतुर्भुज श्रीकृष्ण एक छकड़ेको उलटते हुए प्रदर्शित हैं।[२] वे अपने दो प्राकृतिक हाथोंसे छकड़ेके अग्रभागको पकड़े हैं, बायें पैरसे नीचे दबाए हैं और दाहिना पैर उसके ऊपर रखे हैं। उनका ऊपरी दाहिना हाथ कटक-मुद्रामें है और बायेंमें धारण किया गया पदार्थ कशा-सा प्रतीत होता है। यहाँ वे शिशु-रूपमें नहीं, युवा-रूपमें चित्रित हैं। उनके सिरपर घुंघराली केशराशि है और वे हार, कुण्डल, मुक्तामाला, केयूरों, वलयों, मुक्ताग्रथित मेखला तथा नूपुरोंसे अलंकृत हैं। वे नृत्य-मुद्रामें प्रदर्शित हैं, मानो खेल-खेलसे उन्होंने यह करतब कर दिखाया हो।

इस दृश्यका एक छोटा चित्रण वहाँ उपलब्ध एक श्रीकृष्ण लीला-पट्टमें भी मिलता है। इसमें अलीढ़-मुद्रामें खड़े हुए श्रीकृष्ण अपने दोनों हाथोंसे छकड़ेके जुआको पकड़कर उलटते हुए प्रदर्शित हैं।

श्रीकृष्णकी इस लीलाकी कथा भागवत-पुराणमें मिलती है।[३] इसके अनुसार शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़ेके नीचे लेटे हुए थे, जिसे उन्होंने अपने पैरके धक्केसे उलट दिया था।

---

1. Deva, K., op. cit., p. 89.
2. द्रष्टव्य : Deva, K., op. cit., p. 87, Pl. XXXII, Fig. 6; Agarwal, U., op. cit., p. 40, Fig. 18.
3. भा० पु०; स्कन्ध १०, अ० ७।

श्रीकृष्ण-लीलाका यह दृश्य भारतीय शिल्पियोंके बीच पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। इसका प्राचीनतम चित्रण मन्दौरके गुप्तकालीन स्तम्भमें मिलता है, जिसमें शय्यापर पड़े शिशु श्रीकृष्ण अपने पैरके धक्केसे छकड़ेको उलटते हुए प्रदर्शित हैं।[१] बादामीकी दो गुफाओं (छठवीं शती ई०) में भी यह लीला अंकित मिलती है।[२] उपर्युक्त सभी चित्रणों-के विपरीत, खजुराहोमें श्रीकृष्ण शिशु-रूपमें चित्रित न होकर बाल अथवा युवा-रूपमें चित्रित हुए हैं। खजुराहोके चित्रणोंके सदृश युवा श्रीकृष्ण-द्वारा शकट-भंगका दृश्य सोहाग-पुरमें भी द्रष्टव्य है।[३] खजुराहोकी भाँति यह चित्रण भी मध्ययुगीन है और खजुराहोके शिला-पट्टमें अंकित चित्रणके समरूप है।

तृणावर्त-वध—

खजुराहो (लक्ष्मण मन्दिर) में श्रीकृष्णकी इस लीलाकी मात्र एक सुन्दर मूर्ति उपलब्ध है (चित्र-३)।[४] इसमें श्रीकृष्ण तृणावर्तके स्कन्धोंपर बैठे प्रदर्शित हैं। विकराल मुख तृणावर्त श्रीकृष्णके पैरोंको कसकर पकड़े है और उन्हें उड़ाकर लिए जा रहा है। भागवत-पुराण[५] के अनुसार तृणावर्त नामका एक दैत्य कंसका निजी सेवक था। कंसकी प्रेरणासे श्रीकृष्णके वधके उद्देश्यसे वह झंझावात बनकर गोकुल आया और बैठे हुए शिशु श्रीकृष्णको आकाशमें उड़ा ले गया। यशोदाने श्रीकृष्णको अनुपस्थित देखकर उन्हें आंधीमें उड़ गया मान लिया और अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगीं। किन्तु श्रीकृष्णके भारी बोझको न सम्हाल सकनेके कारण दैत्य अधिक न बढ़ सका और उसका वेग शांत हो गया। श्रीकृष्णने उसका गला इस प्रकार जकड़ रखा था कि वह इस अद्भुत शिशुको अपने से अलग न कर सका। वह निश्चेष्ट हो गया, उसके नेत्र बाहर निकल आए, बोलती बन्द हो गई और अंततः उसके प्राण-पखेरू उड़ गए और वह श्रीकृष्णके साथ नीचे आ गिरा। नीचे गिरे दैत्यके साथ श्रीकृष्णको देखकर यशोदा और अन्य गोपियाँ विस्मयमें पड़ गयीं और श्रीकृष्णको जीवित पाकर सभी आनन्द-विभोर हो उठीं।

इस मूर्तिमें तृणावर्तकी उड़ानका चित्रण है। उसके स्कन्धोंपर नृत्य-मुद्रामें बैठे हुए श्रीकृष्णका चित्रण शिशु-रूपमें न होकर युवा-रूपमें हुआ है। श्रीकृष्णके सिरपर घुँघराले बाल हैं और वे हार, ग्रैवेयक, कुण्डलों, केयूरों, नूपुरों, कंकवों, कौस्तुभ मणि और मेखलासे अलंकृत हैं। तृणावर्त भी कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, उपवीत, वलय तथा मेखला-बद्ध वस्त्र धारण किए है।

---

1. Deva, K., op. cit., p. 87.
2. Ibid., pp. 87-88.
3. Banerji, R. D., "Haihyas of Tripuri and their Monuments," M. A. S. I., No. 23, pp. 100-103, Pl. XLII, b; Deva, K., op. cit., p. 88.
4. द्रष्टव्य : Deva, K., op. cit., p. 83; Agarwal, U., op. cit., p. 90, Fig. 68—डा उर्मिला अग्रवालने इस मूर्तिको नरवाहनपर आरूढ़ निर्ऋति माननेकी महान् भूलकी है।
5. भा० पु०, स्कन्ध १०, अ० ७।

श्रीकृष्ण-लीलाका यह दृश्य शिल्पमें बहुत कम अंकित हुआ है। बादामीके एक विशाल श्रीकृष्ण-लीला-पट्ट[१] (छठवीं शती ई०) में इस दृश्यका एक और चित्रण दर्शनीय है, जिसमें उड़ते हुए महाकाय राक्षसके स्कन्धोंपर नन्हेंसे श्रीकृष्ण बैठे प्रदर्शित हैं।

यमलार्जुन-उद्धार—

इस लीलाके कई चित्रण खजुराहोमें मिलते हैं, जिनमें दो विशेष दर्शनीय है—एक है लक्ष्मण मन्दिरमें और दूसरा पार्श्वनाथ मन्दिरमें। लक्ष्मण मन्दिरकी मूर्ति (चित्र—४) सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इसमें नृत्य करते हुए श्रीकृष्ण अपने दोनों हाथोंसे दो अर्जुन वृक्षों (यमलार्जुन) को उखाड़ते हुए प्रदर्शित हैं। यमलार्जुन-उद्धारकी कथा भागवतपुराण[२] में मिलती है। ये अर्जुन वृक्ष धनाध्यक्ष कुबेरके दो पुत्र नलकूवर और मणिग्रीव थे; जो देवर्षि नारदके शापसे वृक्ष बनकर यमलार्जुन नामसे प्रसिद्ध हुए। श्रीकृष्णने अपनी कमरमें बँधे हुए ऊखलसे इन वृक्षोंको उखाड़ा था, जिनसे दोनों यक्ष कुमार प्रकट हुए थे। इस मूर्तिमें युवा श्रीकृष्ण किरीट-मुकुट, कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, कौस्तुभ मणि, यज्ञोपवीत, कंकण, मुक्ताग्रथित मेखला और नूपुर धारण किये हैं और वे कटिसे नीचे एक वस्त्रसे आच्छादित हैं।

पार्श्वनाथ मन्दिर[३] की मूर्ति आकार और निर्माण शैलीकी दृष्टिसे उपर्युक्त मूर्ति के सदृश है। दो शिलापट्टोंमें उत्कीर्ण इस दृश्यके चित्रण अपेक्षाकृत बहुत छोटे हैं। तीसरा चित्रण[४] भी इन्हींके सदृश है। इन तीनों चित्रणोंमें पूर्ववत् श्रीकृष्ण अपने दोनों हाथोंसे दो वृक्षोंको उखाड़ते हुए प्रदर्शित हैं। खजुराहोकी इन प्रतिमाओंके सदृश एक प्रतिमा पहाड़पुर[५] (नवीं शती ई०) में भी द्रष्टव्य है। इस लीलाकी पूर्ववर्ती प्रतिमाओंमें, भागवत-पुराणके विवरणका पूर्ण अनुकरण कर श्रीकृष्णकी कमरसे बँधे ऊखल-द्वारा वृक्षोंका उखाड़ना प्रदर्शित किया गया है। ऐसे चित्रण बादामीकी गुफाओं (छठी शती ई०) और सीरपुरके लक्ष्मण मन्दिरमें द्रष्टव्य हैं।[६]

वत्सासुर-वध—

खजुराहो (लक्ष्मण मन्दिर) में उपलब्ध कृष्णायनके इस दृश्य (चित्र ५) में श्रीकृष्ण वत्सासुरका वध करते हुए प्रदर्शित हैं।[७] भागवत-पुराणके अनुसार एक दिन श्रीकृष्ण और बलराम ग्वाल-बालोंके साथ यमुना-तटपर बछड़े चरा रहे थे। उसी समय

---

1. Goetz, H., "Earliest Representations of the Myth Cycle of Krishna Govinda," Journal of Oriental Institute Baroda, Vol. I, No. 1, pp. 51 ff., Pl. II : Fig. 4 (n); see also Deva, K., op. cit., p. 83.
2. भा० पु०, स्कन्ध १०, अ० १०।
3. बहिर्भाग, जंघा, दक्षिणकी ओर, मध्य मूर्ति-पंक्तिमें।
4. विश्वनाथ मन्दिर, प्रदक्षिणा-पथ, दक्षिणकी ओरकी बाहरी दीवारके ऊपर बनी एक शोभापट्टिकामें।
5. Dikshit, K. N., "Excavations at Paharpur", M. A. S. I., No. 55, Pl. XXVIII, (d); see also Deva, K., op. cit., p. 83.
6. Deva, K., op. cit., p. 89.
7. द्रष्टव्य : Deva, K., op. cit., p. 89, Pl. XXXII, Fig. 5.

एक दैत्य उन्हें मारनेके उद्देश्यसे बनावटी बछड़ेका रूप धारण कर बछड़ोंके झुण्डमें सम्मिलित हो गया। श्रीकृष्ण उसे पहचान गए और पूंछके साथ उसके दोनों पैर पकड़कर आकाशमें घुमाते हुए उसे मार डाला।[1] खजुराहोकी इस मूर्तिमें श्रीकृष्ण अपना बायाँ पैर पृथ्वीपर रखे हैं और दायें पैरके बल बछड़ेपर सवार हैं। वे अपने एक दाहिने हाथसे उसकी पूंछ और बाएं हाथसे उसका मुख मरोड़ रहे हैं। उनके ऊपरी दायें-बायें हाथ कपित्थ-मुद्रामें प्रदर्शित हैं। युवा श्रीकृष्णके सिरपर घुँघराली केशराशि है और वे कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, यज्ञोपवीत, केयूर, नूपुर, कंकण तथा मेखला धारण किये हैं। छठवीं शती ई० से ही यह दृश्य शिल्पियोंके बीच लोकप्रिय रहा है। इसका प्राचीनतम चित्रण बादामीमें द्रष्टव्य है।[2]

कालिय-दमन—

खजुराहो (लक्ष्मण मन्दिर) में कालिय-दमनकी एक सुन्दर मूर्ति (चित्र-६) है।[3] इसमें श्रीकृष्ण अपने दाहिने पैरसे कालिय नागकी पूँछका मर्दन करते हुए नृत्य-मुद्रामें प्रदर्शित हैं। उनके दोनों अधः करोंमें कमलनाल है। बायें करके कमलनालका निचला छोर नागराजके मुखमें प्रविष्ट है, मानों श्रीकृष्ण इसके मुखको पिरोए हैं। उनका ऊपरी दाहिना हाथ नृत्य-मुद्रामें और बायां पूर्ण विकसित पद्म अथवा चक्रसे युक्त है। कालियका ऊर्ध्व शरीर पुरुषाकृति और अधः सर्पपुच्छाकृति है। उसके सिरपर नागत्व सूचक तीन फणोंका घटाटोप है। उसकी दाढ़ीमें बाल हैं और वह कुण्डल, हार, केयूर और कंकण धारण किए है। वह बड़ी दीनतापूर्वक अपने हाथ अंजलि-मुद्रामें जोड़े है और सिर ऊपर उठाकर श्रीकृष्णसे विनती करता हुआ प्रदर्शित है। श्रीकृष्ण किरीट-मुकुट तथा अन्य सामान्य खजुराहो आभूषणोंसे अलंकृत हैं।

श्रीकृष्ण-लीलाका यह दृश्य भारतीय शिल्पमें अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसका प्राचीनतम अंकन मन्दोरके गुप्तकालीन स्तम्भ[4] में मिलता है, जिसमें प्रत्यालीढ-मुद्रामें प्रदर्शित श्रीकृष्ण अपने दाहिने पैरसे कालियकी पूंछका और बायें पैरसे उसके फणोंका मर्दन करते हुए प्रदर्शित हैं। उनके दाहिने हाथमें कमल-पुष्पोंका गुच्छा है और बायेंमें पाश है, जिससे उन्होंने कालियको बाँध रखा है। इस दृश्यकी एक खण्डित मूर्ति मथुरामें उपलब्ध है।[5] इसमें श्रीकृष्ण मुकुट, कुण्डल, हार एवं वलय धारण किए हैं। उनके द्वारा बाएं हाथ में धारण किए गए पाशसे स्पष्ट है कि उन्होंने नागराजपर विजय पाली है। यह पाश

1. भा० पु०, स्कन्ध १०, अ० ११।
2. Deva, K., op. cit., p. 89.
3. द्रष्टव्य : Deva, K., op. cit., pp. 85-86, Pl. XXXII, Fig. 4.
4. A. S. I. A. R., 1905-06, pp. 135 ff., Figs. 1-2; 1909-10, pp. pl. 93 ff. XLIV; see also Deva, K., op. cit., p. 86.
5. वाजपेयी, कृ० द०, "मथुरा-कलामें कृष्ण-बलरामकी मूर्तियाँ," कला-निधि, वर्ष १, अंक २, पृ० १३४, फलक ३; "प्राचीन भारतीय कलामें कृष्ण-चरित," ब्रजभारती, वर्ष १५, अंक ३, पृ० ३३-३४; और भी देखिए : कृष्ण देव, उपर्युक्त, पृ० ८६।

नागराजके सिरके चारों ओर लिपटा है। नागराजके सिरपर नागत्व सूचक फणोंका घटाटोप प्रदर्शित है। श्रीकृष्णके उठे हुए बायें चरणके निकट, हाथोंमें उपहार लिए हुए अवनतमुखी नागराज्ञी अपने पतिके लिए प्रार्थना करती-सी प्रदर्शित है, जिनकी दयनीय मुद्राके चित्रणमें शिल्पीको अत्यधिक सफलता मिली है। कालिय-दमनकी एक मृण्मूर्ति भी मथुरासे प्राप्त हुई है।[१] भुवनेश्वरसे प्राप्त छठवीं शती ई० के ऐसे चित्रणमें कदम्ब वृक्षके साथ यमुना-तट भी प्रदर्शित हुआ है।[२] बादामीकी गुफाओंमें भी यह दृश्य अंकित मिलता है।[३] इन सभी प्रतिमाओंके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि खजुराहो-चित्रणमें कुछ मौलिकता है। इसमें कालियकी दाढ़ीमें बालोंका चित्रण हुआ है, जैसा अन्य किसी स्थानकी मूर्तिमें नहीं मिलता और उसके मुखमें कमलनाल प्रविष्ट कर उसे पाश-बद्ध करनेका नवीन ढंग अपनाया गया है।

अरिष्टासुर-वध—

खजुराहो (लक्ष्मण मन्दिर) में उपलब्ध अरिष्ठासुर-वधकी स्वतन्त्र मूर्ति (चित्र-७) अत्यन्त सुन्दर है।[४] इसमें द्विभुज श्रीकृष्ण अपने दाहिने हाथसे वृषभ (अरिष्टासुर) के दाहिने सींगकी ओर बायें हाथसे उसके मुखको जोरसे मरोड़ रहे हैं और अपने दाहिने पैरसे उसे दबाकर वशमें किए हुए नृत्य करते प्रदर्शित हैं। युवा श्रीकृष्णके सिरपर घुंघराली केशराशि है और वे सामान्य आभूषणोंसे अलंकृत हैं। उनके मुखमण्डलपर झलकता अलौकिक शान्तिका भाव, बड़े सहज भावसे अरिष्टासुरको वशमें करनेकी उनकी मुद्रा और असुरकी अपार वेदना-जनित दयनीयता विशेष दर्शनीय है।

यह मूर्ति भागवत-पुराण[५] की कथाके ठीक अनुरूप निर्मित हुई है, जिसमें यह कहा गया है कि कृष्णने अरिष्टासुरके सींग पकड़ लिए और उसे पृथ्वीपर गिराकर अपने पैरोंसे इस प्रकार कुचला जैसे कोई गीला कपड़ा निचोड़ता है।

कृष्ण-लीला-पट्टमें अंकित अष्टिासुर-वधका एक और दृश्य खजुराहोमें मिलता है, जिसमें प्रत्यालीढ-मुद्रामें खड़े कृष्ण अपने दाहिने हाथसे सम्मुख खड़े वृषभके दाहिने सींगको और बांये हाथसे उसके मुखको मरोड़ते प्रदर्शित हैं। यह दृश्य मन्दोरके गुप्त-कालीन स्तम्भ[६] और बादामीकी गुफाओंमें[७] भी चित्रित है।

कुब्जानुग्रह—

खजुराहो(लक्ष्मण मन्दिर) में उपलब्ध कुब्जानुग्रहकी मूर्ति (चित्र-८) विशेष दर्शनीय

---

1. Goetz, H., op. cit., Pl. I, Fig. 1; see also Deva, K., op. cit., p. 86.
2. Goetz, H., op, cit., Pl. I, Fig. 2; see also Deva, K., op. cit., p. 86.
3. Deva, K. op. cit., P. 86.
4. द्रष्टव्य : Deva, K., op. cit., p. 88, Pl. XXXIV, Fig. 10; Agarwal, U., Op. Cit., p. 40,
5. भा० पु०, स्कन्ध १०, अ० ३६।
6. A. S. I. A. R., 1909-10, Pl. XLIV; see also Deva, K., op. cit., p. 88.
7. Deva, K., op. cit., p. 88.

है।[1] इसमें कंसभवनमें प्रवेश करनेके पूर्व मथुर-नगरीमें विचरण करते हुए, श्रीकृष्ण बलराम और उनके सम्मुख खड़ी हुई कुब्जाका चित्रण। कुबड़ी युवतीके रूपमें चित्रित कुब्जा अपने हाथ ऊपर उठाकर अंगराज श्रीकृष्णको भेंटकर रही है, जिसे कृष्ण प्रसन्नतापूर्वक अपने दाहिने हाथसे ले रहे हैं। मन्द-मन्द मुस्कराते हुए सुन्दर-सुकुमार रसिकके रूपमें चित्रित श्रीकृष्ण बलरामकी ओर मुड़कर उनसे कुब्जाकी भेंट स्वीकारनेकी अनुमति ले रहे हैं। श्रीकृष्णकी भाँति बलराम भी द्विभुज हैं। उनका दाहिना हाथ चिन्मुद्रामें है और बाएँ हाथमें वे हल धारण किए हैं। श्रीकृष्ण किरीट-मुकुट, वनमाला तथा अन्य सामान्य आभूषणोंसे अलंकृत हैं। कृष्णके समान बलराम भी अलंकृत हैं, किन्तु उनके सिर पर मुकुट न होकर नागत्व-सूचकफणोंका घटाटोप है।

यह अत्यन्त सजीव मूर्ति है। श्रीकृष्ण, बलराम और कुब्जा-तीनोंका चित्रण भावपूर्ण है। श्रीकृष्णके मुस्कराते मुखपर चपलताका भाव चित्रित्र है और उनके द्वारा भेंट स्वीकृत होनेपर कुब्जा आनन्दसे फूली नहीं समा रही है। श्रीकृष्णकी सुन्दरता, सुकुमारता रसिकता, मन्द मुस्कान, चारु चितवन और उनके प्रेमालापपर उसने अपना हृदय न्योछावर कर दिया है। श्रीकृष्णकी चपलताके विपरीत बलराममें गम्भीरता है और उनमें बड़े भाईकी गुरुताका भाव प्रदर्शित करनेमें शिल्पीने असाधारण कौशल दिखाया है।

इस श्रीकृष्ण-लीलाके अन्य शिल्प-निदर्शन बहुत ही कम उपलब्ध हैं। खजुराहोके अतिरिक्त सोहागपुर[2] के दो अर्धचित्रोंमें ही दृश्य अंकित मिलता है।

कुवलयापीड-वध—

श्रीकृष्ण-द्वारा कुवलयापीड़ नामक हाथीके वधका एक सुन्दर चित्रण (चित्र-९) भी खजुराहो (लक्ष्मण मन्दिर) में उपलब्ध है।[3] इसमें त्रिभंग खड़े हुए विनतमुख तथा चतुर्भुज श्रीकृष्ण अपने दो हाथोंसे कुवलयापीड़की सूंड़ जोरसे मरोड़ रहे हैं और अपने बांये-पैरसे कुवलयापीड़को नीचे दबाए हैं, उनके ऊपर दाहिने हाथमें गदा है, जिससे उसपर प्रहार करनेको उद्यत हैं, उनका ऊपर बायाँ हाथ खण्डित है। वे किरीट-मुकुट तथा अन्य सामान्य आभूषणोंसे आभूषित हैं। कुवलयापीड़पर उन्होंने पूर्ण-विजय पाली है, जो अत्यन्त पीड़ित दिखाई पड़ रहा है। इस चित्रणका आधार भागवत-पुराण[4] की कथा है; जिसमें यह उल्लेख है कि श्रीकृष्णने कुवलयापीड़की सूंड़ पकड़कर उसे धरतीपर पटक दिया था और उसके धराशायी हो जानेपर उन्होंने सिंहके समान खेल ही खेलमें उसे पैरोंसे दबाकर मार डाला।

कुवलयापीड़-वधका प्राचीनतम चित्रण बादामी (छठवीं शती ई०) में मिलता है[5] और तबसे यह दृश्य निरन्तर मूर्तिकारोंके मध्य लोकप्रिय रहा है, किन्तु खजुराहोकी यह

1. द्रष्टव्य : Deva, K., op. cit., pp. 86-87, Pl. XXXIII, Fig. 8.
2. Banerji, R. D., op. cit., pp.103-06, pl. XLIII and XLIV; see also Deva, K., op. cit., p. 87.
3. द्रष्टव्य : Deva, K., op. cit., p. 85, Pl. XXXI, Fig. 3; Agarwal, U., op. cit. p. 92, Fig.69—डा० अग्रवालने इस मूर्तिको गजारूढ़ कुबेर माननेकी महान् भूलकी है।
4. भा० पु०, स्कन्ध १०, अ० ४३।
5. Deva, K., op. cit., p.85.

मूर्ति अत्यन्त प्रभावशाली है और विलक्षण भी। सामान्यतः अन्य स्थानोंकी मूर्तियोंमें कुवलयापीड़ श्रीकृष्णकी तुलनामें बहुत ही बड़ा प्रदर्शित है; किन्तु खजुराहोमें यह श्रीकृष्णसे छोटा है, जिसे श्रीकृष्ण बड़े सहजभावसे वशमें किए हुए हैं।

चाणूर-वध—

एक मूर्तिमें (लक्ष्मण मन्दिर) कृष्ण कंसके एक मल्ल, सम्भवतः चाणूरकी टाँग खींचकर उसका वध करते प्रदर्शित है।[1] इसमें चतुर्भुज श्रीकृष्ण अपने एक बाएँ हाथसे मल्ल की गर्दन जोरसे पकड़े हैं और दाएँ-बाएँ दो प्राकृतिक हाथोंसे उसकी दाहिनी टाँग खींच रहे हैं। शेष एक हाथसे वे गदा ऊपर उठाकर मल्लपर प्रहार करनेको उद्यत हैं। टाँग-खींचे जानेपर मल्ल अपना सन्तुलन खो बैठा है और वह द्वन्द्वयुद्धमें पराजित होकर पूर्णतया श्रीकृष्णके वशमें है। अपना दाहिना हाथ वह सिरके ऊपर उठाकर गदाके प्रहारसे अपनी रक्षाके लिये प्रयत्नशील है और अत्यन्त भयभीत दिखाई पड़ रहा है। श्रीकृष्ण किरीट-मुकुट, कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, अंगद, वलय, मेखला, नूपुर और वनमाला धारण किये हैं। चाणूरकी दाढ़ीमें बालोंका प्रदर्शन हुआ है और वह भी कुण्डल, ग्रैवेयक, वलय तथा मेखला से अलंकृत है (चित्र-१०)।

श्रीकृष्ण-चाणूर-युद्धका एक चित्रण श्रीकृष्ण-लीला पट्टमें भी मिलता हैं। इसमें चाणूर उपर्युक्त मूर्तिके सदृश पराजित नहीं चित्रित है वरन् वह द्विभुज कृष्णसे मल्ल-युद्ध करता प्रकर्शित है। इस चित्रणसे मिलते-जुलते चित्रण बादामीकी गुफाओं और सीरपुरके लक्ष्मण मन्दिरमें प्राप्त हैं।[2]

शल-वध—

एक अन्य मूर्ति (लक्ष्मण मन्दिर) में भी श्रीकृष्ण एक मल्लसे युद्ध करते प्रदर्शित हैं (चित्र ११)। यह कंसका शल नामक मल्ल हो सकता है। द्विभुज श्रीकृष्ण अपने दाहिने हाथसे गदा उठाकर उसपर प्रहार करनेको उद्यत हैं और बाये हाथसे प्रतिद्वन्द्वीके उठे हुए दाहिने हाथको पकड़े हैं। उसने गदाके प्रहारसे अपने सिरकी रक्षा करनेके लिये यह हाथ उठा लिया है। उसका बायाँ हाथ तर्जनी-मुद्रामें है। श्रीकृष्ण किरीट-मुकुट, बनमाला तथा अन्य सामान्य आभूषणोंसे अलंकृत हैं। शल कुछ भीमकाय चित्रित है और वह भी मुकुट तथा वनमालाको छोड़कर श्रीकृष्णके सदृश आभूषण धारण किए है। द्वन्द्वयुद्धके इस दृश्य में ओजस्विता, उत्तेजना और शक्तिके प्रदर्शनमें शिल्पीको अपूर्व सफलता मिली है। इस दृश्यके अन्य अंकन बादामी और सीरपुरमें भी द्रष्टव्य हैं।[3]

कृष्ण-लीला-पट्ट—

खजुराहोमें कृष्णायनके अनेक दृश्योंसे अंकित दो शिला-पट्ट प्राप्त हुए हैं। पहला शिलापट्ट[4] विशाल है और सुरक्षित अवस्थामें है। इसके आधे भागमें कंसकी कारागारका

1. Ibid., pp. 84-85, pl-XXXI, Fig.2.
2. Ibid., p. 85.
3. Ibid., p. 86.
4. खजुराहो-संग्रहालय सं० १३५०; द्रष्टव्य Agarwal, U., op. cit. pp. 39-40, Fig. 16.

चित्रण है, जिसमें अनुचर-अनुचरियोंके अतिरिक्त वसुदेव और नवजात श्रीकृष्णके साथ देव-की प्रदर्शित हैं। कारागारका बोध करानेके लिए चित्रणके प्रारम्भमें, खड्गधारी रक्षक खड़ा प्रदर्शित हैं। चित्रणके प्रारम्भमें, खड्गधारी रक्षकके निकट लम्बकूर्च वसुदेव बैठे हैं, जिनकी ओर मुख किए दो अनुचरियाँ खड़ी हैं। ये श्रीकृष्ण-जन्मका समाचार देनेके लिए वसुदेव के पास आई प्रतीत होती हैं। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण-जन्मका दृश्य है, जिसमें नवजात श्रीकृष्णके साथ देवकी अर्धशायी प्रदर्शित हैं। उनके पास तीन अनुचरियाँ है। चित्रणके अन्तमें खड़ी हुई देवकी नवजात शिशु, यशोदाके पास ले जानेके लिए, वसुदेवको दे रही है।

शिलापट्टके शेष आधे-भागमें श्रीकृष्ण-लीलाके कई दृश्य अंकित हैं। प्रारम्भमें बाल-लीलाका एक सुन्दर चित्रण है। इसमें दो गोपियाँ दधि मथ रही हैं और नन्हेंसे श्रीकृष्ण दधि-भाण्डका आश्रय लिए हुए खड़े हैं, मानो नवनीतके लिए मचल रहे हों। दूसरा दृश्य पूतना-वधका है, जिसमें राक्षसीकी गोदमें लेटे हुए शिशु श्रीकृष्ण प्राणोंके साथ उसका दूध पी रहे हैं। इस दृश्यके पश्चात् एक स्थूलकाय व्यक्तिके दक्षिण स्कन्धपर शिशु श्रीकृष्ण बैठे चित्रित हैं। सम्भवतः यह तृणावर्तवधका दृश्य है। इसके पश्चात् क्रमशः यमलार्जुन उद्धार, अरिष्टासुर और केशीवध तथा अन्तमें कृष्ण-चाणूरका द्वन्द्वयुद्ध चित्रित है। केशी एक दैत्य था जो कंसकी प्रेरणासे अश्वके रूपमें आकर श्रीकृष्णको मारना चाहता था। यहाँ श्रीकृष्ण और केशीके बीच हो रहे युद्धका प्रदर्शन है। केशी अपने आगेके पैर उठाए खड़ा है और श्रीकृष्ण अपने दाहिने हाथसे उसपर प्रहार करते प्रदर्शित हैं। अन्तिम चार दृश्योंमें श्रीकृष्ण युवा रूपमें और शेष सभी दृश्योंमें वे शिशु अथवा बाल-रूपमें चित्रित हैं।

दूसरा शिलापट्ट[1] अपेक्षाकृत छोटा है और इसका भाग खण्डित है। इसमें पूतना-वध, यमलार्जुन-उद्धार, श्रीकृष्ण-द्वारा कंसके एक मल्लका वध, शकट-भंग और केशी-वध[2] के दृश्य अंकित हैं।

बलराम—

खजुराहोमें कृष्णके बड़े भाई बलरामकी भी चार स्वतन्त्र मूर्तियाँ इन पंक्तियोंके लेखकको मिली हैं, जिनमें दो मूर्तियाँ विशेष दर्शनीय हैं। पहली मूर्तिमें बलराम अपने आयुध हलसे सूत लोमहर्षणका वध करते हुए प्रदर्शित हैं और दूसरी बलराम और रेवतीकी आलिंगन-मूर्ति है।

●

---

1. पार्श्वनाथ नाथ मन्दिरके निकट बने एक आधुनिक मन्दिरमें यह प्राचीन शिलापट्ट जुड़ा हुआ है।
2. केशी-वधके प्राचीनतम चित्रण (कुषाणकालीन) मथुरासे प्राप्त हुए हैं। ऐसा एक चित्रण मथुरा संग्रहालय (संख्या ५८ ४४७६) में है और दूसरा कराची संग्रहालयमें। मथुरा संग्रहालयके चित्रण के लिए द्रष्टव्य : जोशी, नी०पु०, "कुषाण कलामें श्रीकृष्ण," श्रीकृष्ण-सन्देश, वर्ष-१, अंक-१, जन्माष्टमी. वि० सं० २०२२; पृ० ८६, चित्र सं० २ और कराँची संग्रहालयके चित्रणके लिए द्रष्टव्य Agrawala, R.C., "Krishna and Baladeva as Attendant Figures in early Indian Sculpture," Indian Historical Quarterly, Vol. XXXVIII, No. 1, March, 1962, p. 86—केशी अश्व-दैत्य था, वृष-दैत्य (bull-demon) नहीं, जैसा श्रीअग्रवालके लेखमें भूलसे छप गया है।

अंधकारमें प्रकाश

श्रीराधेश्याम बंका, एम.ए.

[निराशाके अन्तरालमें ही निराशा-नाशके वीज सन्निहित होते हैं। अविश्वासजन्य भ्रान्तियोंका नाश विश्वासके प्रकाशसे ही सम्भव है। ज्यों-ही विश्वासका उदय जीवनमें होगा त्यों-ही जीवन सहजतासे व्याप्त हो जायगा।]

कारागारकी अँधियारीमें ही भगवदीय प्रकाशका अवतरण हुआ था। सांसारिक अंधकारकी कारासे मुक्त कराने वालेका आविर्भाव कंसकी कारामें हुआ। कंसके अनाचारका अन्त करनेवालेका जन्म कंसकी बहनकी कोखसे हुआ। कंसके त्राससे त्राण पानेके लिए गोपालक अपने गोवंशको साथ-साथ लिए एक गाँवसे दूसरा गांव बदलते। कंसके ऐसे और भी अनाचार थे जिससे धार्मिक निष्ठा तथा सामाजिक व्यवस्था संत्रस्त थी और ईश्वरीय विधानके अनुसार अनाचारीका अन्त साधुताकी रक्षाके लिए होना ही चाहिए। ज्यों ही आकाशवाणी हुई कि तेरी सद्य: विवाहिता बहिन देवकीकी आठवीं सन्तानसे तेरी मृत्यु होगी, त्यों ही कंसने देवकीको मारनेके लिए तलवार उठली। न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। बहिन देवकीका अस्तित्व ही न रहे। फिर प्राण लेने वालेका जन्म होगा ही कैसे ? कंसकी कुनीतिकी पराकाष्ठा थी अपनी बहिन देवकीपर तलवार उठाना और कुनीतिकी सीमा थी बहिन देवकीको उसके पति वसुदेव सहित कारागारमें डाल देना। जो त्रस्त था, उसीके गर्भसे त्रास-दाताके संहर्त्ताका आविर्भाव हुआ। त्रास-दाता संहर्त्ताको काराकी दीवारोंमें बाँध न सका, पहरेदारोंसे पकड़वा न सका, संहर्त्ताके कारागारकी दीवारोंसे निकल जानेके बाद अनेक राक्षसी प्रयत्नोंके बाद भी उसे मार न सका। अन्तमें हुआ यह कि संत्रस्त करनेमें सतत प्रयत्नशील कंसका ही देवकी-नन्दन श्रीकृष्णके द्वारा संहार हो गया। मारना चाहता था कंस, परन्तु मारा गया स्वयं।

यह न समझा जाय कि कृष्णकी कहानी केवल द्वापरकी कहानी है। इस कहानीकी आवृत्ति युग-युगमें होती है। 'सम्भवामि युगे-युगे'। अपितु यह कहना चाहिए कि द्वापरकी

इस कहानीकी आवृत्ति द्वार-द्वार होती है। इस पृथ्वीपर ऐसा कौन-सा घर है जिसके आँगनमें और हर आँगनका ऐसा कौन-सा मानव है जिसके जीवनमें अन्धकार और प्रकाश का संघर्ष न होता हो ? हँसते-हँसते जीना चाहते हैं, पर हँसीका विस्फुटित होना अलग रहा, अधरोंपर मुस्कानकी रेखा उभर नहीं पाती। जीवनकी समस्याओंके बोझको मन संभाल नहीं पाता। कई वार ऐसा लगता है कि जीवनका तार अब-टूटा—तब-टूटा। एक प्रश्नके बाद दूसरा प्रश्न। जीवनके एक प्रश्नका हल अधूरा ही निकल पाया था कि दूसरा-तीसरा प्रश्न सामने तैयार है। कुछ प्रश्न अपनी स्वाभावगत दुर्बलताओंको लेकर हैं और कुछ जागतिक प्रतिकूलताओंको लेकर हैं। कभी अपनी दुर्बलताओंसे ऊपर नहीं उठ पाते, कभी बाहरी प्रतिकूलताओंसे पार नहीं जा पाते। यदि कुछ सफलता कभी मिलती है, वह नगण्य है। कदम-कदमपर मिलने वाली असफलताओंने हमारे आधारको, हमारी नींवको डिगा दिया है। ऐसी स्थितिमें हम अपने जीवनकी सात्त्विकताको, सौम्यत्वको, संतुलनको खो देते हैं। इस विषम स्थितिमेंभी निराश होनेकी जरूरत नहीं। जीवनमें चाहे जितनी निराशा हो, चाहे जितना अन्धकार हो, आगे बढ़नेका रास्ता है। सही दिशाकी ओर उन्मुख होते ही अन्धकारमें प्रकाश फूट पड़ेगा।

कंसके कारागारके सघन अन्धकारमें ही भगवान्का प्रकाश फूट पडा था। कारागारके गर्भ भागका और देवकी-वसुदेवके निराशाच्छन्न अन्तरका अन्धकार, दोनों एक साथ भाग गए। हम अपने जीवनमें भगवान्के प्रकाशको फूटने दें। पहली बात—विश्वास करें "भगवान् हैं और सतत सहायक हैं"। देवकी-वसुदेवकी अँधियारीमें प्रकाश छिटकाने वाले भगवान् श्रीकृष्णकी कहानी हमारे जीवनमें नये सिरेसे आरम्भ हो जायेगी। इस विश्वासका अभाव ही सारी परेशानियोंका मूल है। जीवनकी सारी अव्यवस्थाओं-अनास्थाओंको चीरकर ज्योंही यह विश्वास जीवनके केन्द्रीय भागमें प्रतिष्ठित होगा, त्योंही जीवन सहजतासे व्याप्त हो जायेगा। यह विश्वास ऐसा है मानों काँटोंकी दुनियांमें खिलता हुआ फूल, दुर्गन्ध की दुनियामें सुगन्धका खजाना। प्राचीन या नवीन किसी भी भक्तका जीवन लें, प्रह्लाद, मीरा, गाँधी, किसीके जीवनमें झाँककर देखें, इस विश्वासने उनकी सारी कठिनाईयोंको आसान किया है।

भगवान्पर विश्वास हो, यह है पहली बात। दूसरी बात—है नीयतका निर्दोष होना। नीयतकी निर्दोषता बहुत बड़ी चीज है। सौ कौरव और पाँच पाण्डव एक ही कुलके थे। परन्तु कौरवोंकी नीयतमें दोष आ गया। पाण्डव सत्यके अनुसार न्याय चाहते थे परन्तु अन्यायको न्याय सुहाता नहीं। सत्य-निष्ठ पाण्डवोंने सत्यकी रक्षाके लिये अवतरित भगवान् श्रीकृष्णका सहारा लिया। भगवान्ने जिस तरह कंसका वध किया उसी तरह कौरवोंका अन्त कर दिया। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। उनका अवतार हुआ है (और होगा जब-जब समयकी माँग होगी) दुष्कृत्योंका विनाश करके साधुओंकी रक्षा करनेके लिये नीयतके निर्दोष रहनेपर एवं संतत्वपर दृष्टिके टिके रहनेपर सफलता निश्चित है। भगवान् स्वयं सारी कठिनाईयोंको दूर कर देंगे। सच्ची नीयत वाले सन्तकी सारी कठिनाईयोंको दूर करनेके लिये सम्पूर्ण भगवदीय शक्ति सक्रिय हो जाती है। भगवान्को स्वीकार नहीं कि

किसीके आँगनमें अथवा किसी मानवके जीवनमें अन्धकार रहे। भगवान् श्रीकृष्णको ज्योंही यह सम्भावना हुई कि स्वयं उनका यादवकुल पृथ्वीपर 'अन्धकार' फैला सकता है, उन्होंने पारस्परिक युद्धकी लीला रचकर अपने कुलका संहार करवा दिया।

तीसरीबात—निराशाके अन्तरालमें ही निराशा-नाशके बीज सन्निहित होते हैं। विवेकके सहारे परिस्थितियोंका सम्यक् विश्लेषण करें। कठिनाईयोंसे ही कठिनाईयोंके मारे जानेका रास्ता पूछें। कठिनाईयाँ रास्ता बतायेंगी। महाभारतके महायुद्धमें दुर्योधन पाण्डवों को हराना चाहता था। इसके लिये दुर्योधन यह चाहता था कि उसकी सर्वाङ्ग देह वज्रकी हो जाय, अजेय हो जाय। अपनी माँ गांधारीके पास जाकर इसका उपाय पूछा। माँने कहा—"बेटा! इसका उपाय तुमको युधिष्ठिर बता सकता है, उससे पूछो।" कितनी उल्टी बात है? युधिष्ठिरसे युद्ध है, युधिष्ठिरको जीतना है, भला युधिष्ठिर अजय होनेका उपाय दुर्योधनको कैसे बता सकते हैं? परन्तु दुर्योधन गया, युधिष्ठिरसे पूछा और युधिष्ठिरने बताया। दुर्योधनने युधिष्ठिरके बताये अनुसार सारा कार्य नहीं किया, अतः उसके शरीरका कुछ अंश वज्राङ्गका नहीं हुआ अन्यथा वह अजेय हो जाता। इसी प्रकारसे हम भी अपनी उलझनपूर्ण परिस्थितियोंसे ही सुलझनेका रास्ता पूछें अर्थात उचित मूल्यांकन करें, विश्लेषण करें। यह सही बात है कि सही सुझाव मिलेगा। उलझनोंको देखकर निराश होनेकी जरूरत नहीं। यह ईश्वरीय सिद्धान्त है कि अन्ततोगत्वा सत्यकी विजय होती है। जगत और जीवनमें साधुता, प्रतिष्ठा और सराहना होगी। अतः निराशाके बने रहनेका कोई कारण नहीं। निशाके अन्त करनेवाले रविका जन्म निशाकी गोदसे ही होता है। जल से निर्लिप्तता सिद्ध करने वाले कमलका जन्म जलकी गोदमें होता है और जलके बीच खड़े रहकर अपनी निर्लिप्तता सिद्ध करता है। निराशाके गर्भमें ही निराशाके संहरणका बीज है। निराशाके बीजमें ही निराशासे दूर होनेका मार्ग है।

लंकाकी रणस्थलीमें रणसे श्रमित, युद्धसे थकित, कुछ-कुछ चिन्तित रामको रावण की मृत्युका भेद रावणके भाई विभीषणने दिया था। रावणका भाई ही रावणकी मृत्युका कारण बना। अशोक-वाटिकामें सीताकी गर्दनको अलग कर देनेके लिये ज्यों ही रावणके म्यानकी तलवार लपकी, त्यों ही सीताके जीवनकी रक्षा करनेके लिये रावणकी पत्नीके हाथ लपके। मारना चाहता है रावण, परन्तु बचा लेती है रावणकी पत्नी। भक्षकसे रक्षक बड़ा है। संकटके अन्तरालमें ही सुरक्षाके बीज सन्निहित हैं। जीवनमें संकट है, निराशा है, घबरायें नहीं। यदि हमारा पक्ष सत्यका है, साधुताका है, सदाचारका है, यदि हमारी नीयतमें सच्चाई है, भलाई है, ईमानदारी है, यदि भगवान्पर हमारा विश्वास है, मार्ग मिलेगा, मिलकर रहेगा। अपने जीवनमें आस्तिकताको, निर्दोषताको और विवेकपूर्ण विश्लेषणको विकसित करें। फिर हमारे कार्योंमें शुभताका विस्तार होगा। जहाँ-जहाँ बाधा आयेगी, निराशा आयेगी, ईश्वरीय शक्ति सहायता करेगी। अवश्य ही अन्धकारमें प्रकाश फूटेगा। हमारे जीवनमें, हमारे चतुर्दिक जगतमें प्रकाश फैल जायेगा। प्रकाशका सर्वत्र राज्य होगा। शुभमयताकी शुभ्रतामें स्नान कर विश्व निहाल हो जायेगा।

●

चन्द्र मुख होत मुख कृष्णा कृष्णा गाये तैं

बाजत बधाई व्रजधाम गाम गोकुलमें,
होत दधिकाँदौ ग्वाल फूले न समामें हैं।

पहिरैं पट पीरे अभूसन अनेक भाँति,
गैयनु सजाइ कैं पटम्बर उढ़ामें हैं।

बंदनबार द्वार औ मंगल कलस धरि,
विप्रनु बुलाई वेद पाठ करवामें हैं।

द्वारैं 'राजा नन्द' के कन्हैया कौ जनम सुनि
नंदके अनंद भये बेर बेर गामें हैं।

●

कृष्ण मुख होत है हरन कियें पर धन
कृष्ण मुख होत पर नारी हिय लाये तैं।

कृष्ण मुख होत जो पै द्यूत व्यवसाइ होइ,
कृष्ण मुख होत नगर नारि गृह जाये तैं।

कृष्ण मुख होत सुरा पान कियैं 'राजा' तेरौ
कृष्ण मुख होत मुख सत्य नहिं लाये तैं।

कृष्ण मुख होत न, सदा ही दमकत रहै
चन्द्र मुख होत मुख कृष्ण कृष्ण गाये तैं।

—श्री राजाबाबू बर्म्मन

पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण

प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसाद मिश्र

[भगवान् श्रीकृष्णने गीतोपदेश द्वारा साम्प्रदायिक मतवादोंके बीच सामञ्जस्य विधानकी रक्षा करते हुए स्वधर्म, लोकसंग्रह एवं निष्काम कर्मके आदर्शकी स्थापना की और धर्मकी ग्लानिको दूर करके उसके उज्जवल रूपको लोगोंके सामने रखा।]

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उनका कथन है :—

"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता १५। १९)

'हे अर्जुन जो ज्ञानीपुरुष मुझको पुरुषोत्तम रूपमें जानता है वह सर्वविद सब प्रकारसे मेरा भजन करता है।' भगवान् अज, अनादि, अविनश्वर होनेपर भी युग-युगमें धर्मसंस्थापनके लिए मर्त्यलोकमें अवतीर्ण होकर नरलीला करते हैं। मत्स्य, कूर्म, वाराह आदि अवतारोंमें भगवत् सत्ताकी आंशिक अभिव्यक्ति मात्र हुई है। किन्तु श्रीकृष्णमें तो भगवत् स्वरूपकी अभिव्यक्ति पूर्णतम हुई है। श्रीकृष्णमें भगवान्के ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों ही स्वरूप प्रकट हुए हैं। द्वापर युगमें जब भगवान् इस धराधामपर अवतीर्ण हुए थे वह भारतके लिए एक संकटकाल था। एक ओर वृन्दावनमें अपनी माधुर्यमयी बाल्यलीला द्वारा जहाँ उन्होंने जनगणका चित्ताकर्षण किया वहाँ अपने ऐश्वर्य एवं महिमा द्वारा दुर्वत्तोंका दमन करके विच्छिन्न एवं विक्षिप्त भारतको अखण्ड धर्म-राज्यके रूपमें प्रतिष्ठित किया। सम्पूर्ण मानव-जातिके कल्याणके लिए गीतोक्त धर्मका दिव्य उपदेश दिया जिसमें कर्म, ज्ञान एवं भक्तिके बीच अपूर्व समन्वय स्थापित किया गया है। मानव धर्मका सार मर्म जैसा गीतामें विवृत्त एवं प्रतिपादित हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। निस्सन्देह

यह विश्व साहित्यका एक अनुपम और हिन्दूजातिका गौरव ग्रन्थ है। विभिन्न साम्प्रदायिक मतवादोंके बीच सामंजस्यविधानकी रक्षा करते हुए उन्होंने स्वधर्म, लोकसंग्रह एवं निष्काम कर्मके आदर्शकी स्थापनाकी और धर्मकी ग्लानिको दूर करके उसके उज्वल रूपको लोगोंके सामने रखा। केवल वैदिक यज्ञादि अनुष्ठानों द्वारा मनुष्य मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता, द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, कर्मसंन्याससे निष्काम कर्म पालन श्रेयस्कर है और शरीर को कृच्छ साधना द्वारा क्लेशित करना कल्याणका मार्ग नहीं है। इन सब विषयोंमें विवेक-पूर्वक सन्तुलन रखते हुए जीवन धारण करना उचित है। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें भगवान्के कंठसे यह उदात्तवाणी उद्घोषित हुई थी। आर्त्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़ जनताको वाणी सुनायी थी। परम निर्लिप्त भावसे उन्होंने अनाचारी प्रमत्त यदुवंशियोंकी ध्वंसलीलाका प्रत्यक्ष अवलोकन किया था।

कुरुक्षेत्रके रणांङ्गनमें उन्होंने भक्तसखा अर्जुनको अपना विराट रूप दिखाकर विस्मय विमुग्धकर दिया था। वे ही अपने अलौकिकत्वको भूलकर माता यशोदाकी गोदमें साधारण शिशुकी तरह क्रीड़ा करते हैं, और माता पुत्र स्नेहसे यहाँ उनका लालन-पालन करती है। माताके वात्सल्यसे मुग्ध होकर त्रिलोकीनाथ अपनी भगवद् सत्ताको भूल बैठे। व्रजगोपगण भी उनकी वात्सल्य एवं बाललीलापर मुग्ध होकर श्रीकृष्णके उस परम ब्रह्मरूपका अनुभव करनेमें असमर्थ हो रहे थे। अपनी बाललीलाओं द्वारा भगवान्ने व्रजवासियोंको यह अनुभव करा दिया कि वे अचिन्त्य, अव्यक्त, अन्तर्यामी एवं अखण्ड ज्ञान स्वरूप होकर भी रसस्वरूप हैं। परम रसमय एवं माधुर्यमय है। मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् उनका सब कुछ मधुमय है। अपने इस रसमेय रूपका भक्तोंको आस्वादन करानेके लिए ही उन्होंने मर्त्यलीला की है। उनके इस रसस्वरूपके माधुर्यपर भक्तचित्त जितना अधिक आकृष्ट एवं मोहित होगा उतना ही उनके लीला परिग्रहकी सार्थकता सिद्ध होगी। अर्जुनके लिए यद्यपि वे सखारूपमें थे। सखेति मत्वा प्रसमं यदुक्तं हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति तथापि अर्जुनकी दृष्टिमें उनका भगवत् स्वरूप सर्वथा प्रच्छन्न नहीं था। किन्तु व्रजगोपोंके साथ वे अपनी भगवती सत्ताको सम्पूर्णरूपसे विलुप्त करके नर बालकके रूपमें एकदम हिलमिल गये थे।

गोपीजनवल्लभके रूपमें भगवान्के रसस्वरूपका पूर्णतम माधुर्य अभिव्यक्त हुआ है। उनके परम रमणीय रूप तथा त्रिभुवन मोहन वेणुवादनको देखकर और सुनकर व्रजाङ्गनाएँ प्रेमाभिभूत हो गयी थीं। श्रीकृष्ण भगवान् उनके लिए ऐश्वर्यगहन नहीं माधुर्यसघन हैं, रसामृत सिन्धु हैं, प्रियतम हैं, प्रेयः पुत्रात्, प्रेयोवित्तात्, प्रेयः अन्य स्मात् सर्व्वस्मात्। कस्मै परम प्रेमस्वरूपा। और भगवान् भी अपनी भगवन्महिमा विस्मृत होकर मर्त्यनारियोंके प्रेमबन्धनमें आबद्ध हो गये थे। श्रीकृष्णकी प्रेममयी मूर्तिने व्रजगोपियोंके चित्तको इतना आकृष्ट कर लिया था कि वे अपने आपको भूलकर कृष्णमयी बन गयी थीं। उनकी दृष्टि में 'जित देखों तित स्याममयी है'। पति, पिता, भ्राता या अन्यान्य आत्मीयजनोंके निषेध करनेपर भी वे श्रीकृष्णके समीपजनोंसे अपनेको रोक नहीं सकीं। जो गृह-त्याग नहीं कर सकीं वे आँख मूँदकर श्रीकृष्णके ध्यानमें निमग्न हो गईं। सम्पूर्ण लोक-लज्जाका उन्होंने परित्याग दिया। स्वयं भगवान् कहते हैं—हे सखीगण! तुम्हारे ऋणसे मैं कभी उऋण नहीं

हो सकता। मेरे प्रति अनुरागके कारण लोकधर्म, वेदधर्म, आत्मीय, स्वजन सबकी उपेक्षा करके तुमने मेरे प्रति आत्मसमर्पण किया है।

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापिवः।
या माभजन दुर्ज्जनगेहशृंखलाः संवृश्चय तद्वः प्रतियातुसाधुना ॥"

इस रूपमें ही भगवान्‌ने प्रेमविह्वला गोपियोंका अपने रसस्वरूपका आस्वादन कराया था। भागवतमें राजापरीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें शुकदेवजी कहते हैं —

"गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥"

(श्रीमद्‌भागवत १०-३३-३६)

गोपीगण, उनके पतिगण तथा सब प्राणियोंके हृदयाकाशमें नियंताके रूपमें जो नित्य विराजमान हैं, वह सर्वसाक्षी सर्वाध्यक्ष भगवान् केवल क्रीड़ाके हेतु नर शरीर धारण करके अवतीर्ण हुए हैं।

अपने जन्मके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है :—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥"

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ४। ६)

"मैं जन्म रहित हूँ, सब प्रकारसे निर्विकार तथा सब प्राणियोंका ईश्वर होकर भी अपनी मायासे अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर जन्मग्रहण करता रहता हूँ।" किन्तु भगवान् का यथार्थस्वरूप नहीं जाननेके कारण मूढ़जन उन्हें अज और अव्यय रूपमें नहीं पहचानते। अपनी योगमाया द्वारा समाच्छन्न रहनेके कारण सबके सामने उनका यथार्थ स्वरूप व्यक्त नहीं होता।

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम् ॥"

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ७।२५)

मानुषीतनका आश्रय ग्रहण करनेपर उनका जो परमभाव महेश्वररूप है उसे मूढ़जन अस्वीकार करते हैं। मनुष्य शरीरके अवतारमें विद्यमान उनके सच्चिदानन्दमय नित्यरूपको, जीवभावके अन्तस्थमें प्रकाशमान उनके भूत महेश्वर भावको मायामोह रहित तत्वदर्शीजन ही पहचान सकते हैं।

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥"

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ९।११)

द्वापर युगमें श्रीकृष्णके चरित्र महात्म्य उनके अवतार जीवनके जटिल रहस्यकी भीष्मपितामहने सम्यक् उपलब्धिकी थी। राजसूय यज्ञके समय युधिष्ठरने भीष्मपितामहसे प्रश्न किया था—'अर्घ्यद्वारा सबसे पहले किसकी पूजाकी जाय? भीष्मने अपनी बुद्धि द्वारा निर्णय करके सिद्धांतके रूपमें कहा वृष्णिकुलमें उत्पन्न श्रीकृष्ण ही पूजनीय व्यक्तियोंमें सर्व-

प्रधान हैं। उन्होंने कहा नक्षत्रोंमें जिस प्रकार सूर्य सबसे बढ़कर भास्कर है, उसी प्रकार तेज, बल एवं पराक्रम द्वारा सब नृपतियोंमें श्रीकृष्ण देदीप्यमान है। सूर्यहीन प्रदेशमें सूर्योदय होनेपर जिस प्रकार सब प्राणी आह्लादित होते हैं, वायुहीन स्थानमें वायु प्रवाहित होनेपर जिस प्रकार लोग प्रफुल्ल होते हैं, श्रीकृष्णके आगमनसे हमारा सभा-मन्दिर उसी प्रकार आनन्दसे उद्भासित हो उठा है। कनिष्ठ पाण्डव सहदेवने श्रीकृष्णको अर्घ्य अर्पित किया। इससे क्रुद्ध होकर शिशुपाल श्रीकृष्णके प्रति जलीकटी सुनाने लगा। उस समय भी भीष्मने श्रीकृष्णके विविध गुणोंकी प्रशंसा करते हुए कहा था "इस पृथ्वीपर ऐसा दूसरा व्यक्ति कौन है जो गुण-राशिमें केशवके समकक्ष या उनसे बढ़कर हो ?"

कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें महात्मा भीष्म अर्जुनके प्रखर बाणोंसे बिद्ध होकर शरशय्या-पर लेटे हुए हैं। उत्तरायण सूर्यकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। सूर्यके उत्तरायण होनेपर उन्होंने समाहित चित्तसे अपनी जीवात्माको परमात्मामें युक्त किया। श्रेष्ठ ब्राह्मण-गण उनके चतुर्दिक बैठे हुए हैं। उस समय भीष्मका सम्पूर्ण शरीर तेजोदीप्त हो रहा था। शुद्धचित्त एवं कृतांजलि होकर उन्होंने योगेश्वर पद्मनाभ श्रीकृष्णका स्तव करना आरम्भ किया। महाभारतके शान्ति पर्वमें भीष्मके इस स्तवका उल्लेख हुआ है। उसके कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः॥६६॥

अग्नि जिसका मुख है, स्वर्ग जिसका मस्तक है, आकाश जिसकी नाभि है, पृथ्वी जिसके दोनों चरण हैं, सूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशायें जिनके कान हैं, उन जगदात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार है।

यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
यस्मिश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः॥६२॥

जिससे सम्पूर्ण जगतकी सृष्टि और पालन होते हैं, जिसमें सब लयको प्राप्त होते हैं, उस कारणरूपी परमात्माको नमस्कार है।

यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः॥७७॥

जो अपनी सृष्टिकी रक्षाके हेतु जीव समूहको स्नेहपाशके बन्धनोंसे मोहित किये रहता है उस मोहरूपी परमात्माको नमस्कार है।

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वः सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥८४॥

जिसमें अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित हैं, जिससे जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो सर्वव्यापी, सर्वत्र वर्तमान और सर्वमय है, उस सर्वात्मा परमेश्वरको नमस्कार है।

●

श्रीकृष्ण अभिधानकी तांत्रिक व्याख्या

श्रीदेवदत्तजी शास्त्री

[भगवान् श्रीकृष्णके आदि रूप विष्णुकी उपासना वैष्णव तंत्र-शास्त्रमें अधिक मिलती हैं। तंत्रशास्त्रके श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। वह सिद्ध, साधक और सिद्धि तीनोंसे समन्वित हैं। इसकी कुछ झलक विद्वान लेखकके शब्दोंमें नीचे पढ़िये। —सं०]

भारतीय तंत्र-साधना शैव, सौर, गाणपत्य, शाक्त और वैष्णव (पाञ्चरात्र) इन पाँच भागोंमें विभक्त हैं। वैष्णव तंत्र-साधनाकी परंपरामें वैष्णवामृत, लक्ष्मीकुलालार्णव, विष्णु-धर्मोत्तर-तंत्र, राधा-तंत्र, विष्णुयामला-तंत्र आदि अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। भगवान् श्रीकृष्णके आदि रूप विष्णुकी उपासना वैष्णव तंत्र-शास्त्रमें अधिक मिलती हैं। तंत्र-शास्त्र के श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। वह सिद्ध, साधक और सिद्धि तीनोंसे समन्वित है। शारदातिलक-तंत्रमें श्रीकृष्णकी साधनाके लिए दस हजार संख्या बीज-मंत्रके जपकी और हवनकी बताई गई हैं। इस ग्रंथमें विभिन्न प्रयोजनोंके लिए भिन्न-भिन्न ध्यान भी बताए गए हैं।

राधा-तंत्रमें श्रीकृष्ण अभिधानकी व्याख्या इस प्रकार लिखी हुई हैं—

ककारञ्च ऋकारञ्च कामिनी वैष्णवी-कला।
षकारञ्च चन्द्रमादेवः कला-षोडश संयुतः॥
णकारञ्च सुतश्रेष्ठ साक्षान्निवृत्ति रूपिणी,

श्रीकृष्ण और गोपाल भगवान्के इन दो नाम रूपोंकी पूजा-विधि भिन्न-भिन्न बीजाक्षरों और मंत्रों द्वारा बताई गई है। गौतमीय-तंत्रका कहना है कि श्रीकृष्णका बीज-मंत्र क्लीं है और मंत्र है—'गोपीजन वल्लभाय स्वाहा'। इस मंत्रका जप करते समय काम-बीज क्लींको जोड़ लेना चाहिए। साथ ही यह भी व्यवस्था दी गई है कि किसी विशिष्ट प्रयोजन तथा राशि और नक्षत्रोंकी विशिष्ट स्थितिमें अभ मंत्रका जप बीज रहित किया जाना चाहिए। क्लीं-बीजके आधारपर श्रीकृष्णका एकाक्षर-यंत्र बनानेका भी विधान बताया गया है।

सनत्कुमार-तंत्रमें श्रीकृष्ण-कवच लिखा हुआ है। उसमें बताया गया है कि यह कवच अतिशय गोप्य है। जिस किसीको नहीं बताना चाहिए। तत्त्वनिष्ठ-साधक ही इस कवचका उपयोग यंत्र द्वारा कर सकते हैं। उनमें यह भी कहा गया है कि ब्रह्माने इस कवचको पा करके इसका यंत्र धारण करके सृष्टि क्रियाकी शक्ति प्राप्तकी थी। कुछ भी हो किन्तु यह तो अनुभव सिद्ध है कि इस कवचके द्वारा मनुष्यकी कामनायें ही नहीं पूर्ण होती हैं बल्कि दिव्य-शक्तियोंका साक्षात्कार भी होता है।

तंत्र-शास्त्रके अनुसार श्रीराधा, भगवान् श्रीकृष्णकी धारिका-शक्ति हैं। राधाजीसे ही श्रीकृष्णने कुल-दीक्षा ग्रहणकी है। श्रीराधाको प्राप्त करनेके लिए राधाके निर्देशनमें श्रीकृष्णने तांत्रिक-साधना की थी।

तंत्र-शास्त्रमें श्रीकृष्ण गायत्रीकी बहुत बड़ी महिमा बताई गई है—

ॐ दामोदराय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात्।

इसका छन्द गायत्री है, राधा ऋषि हैं और कृष्ण देवता हैं।

वृन्दावन क्षेत्रमें एक बहुत बड़े तांत्रिकसे मेरी भेंट ३० वर्ष पहले हुई थी। वह राधा-कुण्ड या राधा-सरोवरमें रहते थे। लोग उन्हें शाक्त समझते थे किन्तु वे पूर्ण वैष्णव-तांत्रिक सिद्ध थे। उन्हें श्रीकृष्ण-कवच सिद्ध था और उसी एक कवचके बलपर उनमें अद्भुत शक्तियोंका समावेश हो गया था।

श्रीकृष्णके श्रीबीज, मायाबीज और काम-बीज ये तीन प्रधान बीजाक्षर हैं। इनकी साधना लययोगपर निर्भर है। तंत्रशास्त्रका द्वादशाक्षर-मंत्र तो अत्यन्त फलप्रद और अमोघ है।

श्रीकृष्ण गोविन्दाय नमः स्वाहा।

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतका एक मंत्र ऐसा है जो किसी भी प्रयोजनके लिए किसी भी समय जप लेनेसे पूर्ण फल देता है। यह सिद्धि मंत्र तांत्रिक ही है—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने,
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः।

उपर्युक्त द्वादशाक्षर-मंत्र और श्रीमद्भागवतका यह मंत्र घोरसे घोर संकट दूर करनेमें सफल है। तुरन्त फल देता है।

वृन्दाका वन

श्रीमती लावण्यप्रभा राय, एम. ए.

[वृन्दाके वन अर्थात् वृन्दावनमें भगवान् श्रीकृष्णकी माधुर्य लीला नित्य निरन्तर होती रहती है जिसे प्रेमी भक्तजन ही देख पाते हैं। इस लीलाके कान्तनायक हैं परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और कान्ता नायिका हैं देवी श्रीराधा। इस वृन्दावनकी भूमि है चिन्मय।]

राजकन्या सत्यवती[१] ही थी वृन्दावनकी वृन्दा। भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा पानेकी आशासे वृन्दाने तपस्या की थी। श्रीकृष्ण संतुष्ट हो गए। उन्होंने वृन्दाको वर देना चाहा। वृन्दाने गद्-गद् होकर कहा—

"मेरे प्रभो! तुम्हारी लीलाके लिए मैं वन बनाऊँगी। उस वनमें एक साथ छः ऋतुओंका अविर्भाव होगा। फूल-फलके समारोहसे, विहंगकी मधुर कलीसे, कल्पलता, कामधेनु आदिके रहनेसे वह वन वृन्दावन जैसा शोभित होगा। मुझे केवल यही वर चाहिए कि तुम प्रतिदिन अपनी कान्ताके साथ इस वनमें विहार करोगे।"

भक्तवत्सल भगवान्ने कहा—"तथास्तु। परन्तु वृन्दे, यह तो बताओ कि मैं अपनी कान्ताके साथ प्रतिदिन तुम्हारे वनमें विहार करूँगा इससे तुम्हें क्या मिलेगा?"

---

१. राजकुमारी सत्यवती वृन्दा देवीके नामसे विख्यात हुईं और वह शक्ति मानी गईं तथा वृन्दावन शक्तिपीठ। इसीलिए आमेरके राजा मानसिंहने जब वृन्दावनमें गोविन्ददेव-मन्दिर बनवाया तो उन्हें उसके पार्श्वमें ही वृन्दा देवीका मन्दिरभी बनवाना पड़ गया। यह अनुश्रुति है किन्तु वास्तविकता यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति अनन्त सौन्दर्यकी देवी श्रीराधाजी और रास-रस-रसिक शिरोमणि श्रीकृष्णका जहाँ रास होता है वहीं वृन्दावन हैं। वृन्दावनको रास क्षेत्र कहा जाता है। गौड़ीय संप्रदायके आचार्योंने तथा ग्यारहवीं सदीके कवि विल्हणने वर्तमान वृन्दावनको ही रास-क्षेत्र माना है। पुराणोंमें 'श्री वृन्दावनं रम्यं यमुनायाः प्रदक्षिणम्' लिखकर वृन्दावनकी पहचान बताई गई है। जहाँ पर श्रीयमुनाजी तीन ओर घेरकर बहती हैं वही वृन्दावन है। इस पहचानके आधारपर श्रीगौरांग महा प्रभु चैतन्यदेवजीने वर्तमान वन्दावनको खोज निकाला था।

वृन्दाने मुस्कराकर कहा—क्यों ? मुझे युगल-रूपके नित्य दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होगा। तुम दोनों साथ-साथ विहार करोगे तुम्हें आनन्द होगा और तुम्हें देखकर मुझे अतुल आनन्द होगा। मुझे एक और वर दोगे प्रभो ! तुम कभी मेरे इस वनको छोड़कर चले तो नहीं जाओगे। कहो भगवान् मेरी कामना पूरी करोगे ?

श्रीकृष्णने केवल एक शब्द कहा—'तथास्तु'।

यही है वृन्दाका वन वृन्दावन। भगवान्ने वृन्दा की मनोकामना पूरीकी। वृन्दाके ही वनमें श्रीकृष्णने परम मधुर लीला की। यह लीला चिरकालसे हो रही है चिरकाल तक होती रहेगी।

परम-भाग्यवान-भक्त ही यह नित्य लीला देख पाते हैं।[१] परम-पुरुष श्रीकृष्ण हैं, इस लीलाके कान्त नायक भगवती लक्ष्मी हैं इसकी कान्ता नायिका। इस वृन्दावनकी भूमि है चिन्मयी; जल अमृत। नेत्रमें प्रेमका नीलाञ्जन लगाकरही भक्त वृन्दावनमें देख सकते हैं, अन्यथा नहीं।

१. महाप्रभु श्रीहित हरिवंशजी राधाकृष्णकी नित्य रासलीला देखा करते थे। गौड़ीय समुदायके आचार्यश्रीरूप गोस्वामीने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई श्रीकृष्णका प्रेमपात्र उत्कण्ठार्त्त होकर उनकी लीलाओंको देखना चाहे तो आज भी उसे श्रीवृन्दावनमें दिखाकर कृतार्थ कर सकेंगे।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुराका प्राचीन मूर्ति संग्रह

डा० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी

[श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमि तो है ही, प्राचीनकालकी कला-कृतियोंका भण्डार भी वह रहा है। प्रस्तुत लेखमें उक्त स्थानकी खुदाईसे निकली विभिन्न कला-कृतियोंका दिग्दर्शन कराया गया है जो भारतीय संस्कृतिकी गरिमाका परिचायक है। —सं०]

विद्वानोंकी ऐसी मान्यता है कि मथुराका जो भाग कटरा केशवदेवके नामसे पहिचाना जाता है वहीं पर भगवान् श्रीकृष्णका जन्म-स्थान रहा होगा। कटरा केशवदेवका क्षेत्र पुरातत्त्वकी दृष्टिसे भी घना महत्त्वपूर्ण है। पुराने उत्खननोंके द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि यहाँ पर ब्राह्मणोंके साथ बौद्धोंके भी मठ थे। इस क्षेत्रसे अबतक अनेक प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। निश्चय ही यह स्थान शुंगकालसे अर्थात् ई० पू० २०० से सन् १६६६ तक अनेक प्रकारकी वस्तु कलाकृतियोंसे अलंकृत रहा। मुगल बादशाह औरंग-जेबने १६६६ में तत्कालीन मन्दिरको नष्ट किया, तबसे १९५३ तक यह स्थान बिल्कुल वीरान पड़ा रहा और नवीन उद्धारकर्त्ताकी बाट देखता रहा। अब ऐसा लगता है भगवान् श्रीकृष्णने अपने जन्म-स्थानकी ओर कृपाकटाक्ष किया है जिसके फलस्वरूप भविष्यके कुछ ही वर्षोंमें यह स्थान अपने प्राचीन वैभवको प्राप्त कर लेगा।

कटरा केशवदेवसे पहले जो पुरातत्त्वकी वस्तुएँ मिलीं वे अब कई स्थानोंपर बिखर गई हैं। उनमेंसे कई मथुराके पुरातत्त्व संग्रहालयमें सुरक्षित हैं, परन्तु कितनी ही मथुरासे बाहर चली गई हैं। कटरा केशवदेवके तत्कालीन स्वामियों द्वारा इनके संग्रहकी ओर उस समय कोई ध्यान नहीं दिया गया था। वर्तमान अधिकारी भी कई वर्षतक अपने इस सांस्कृतिक निधिके संग्रहके लिए दत्तचित्त नहीं थे। हर्षका विषय है कि इधर कुछ वर्षोंसे उनका ध्यान इस ओर गया और वे इस भूमिगत सम्पत्तिका जहाँ तक लगता था संग्रह करते रहे। गतवर्ष जब भागवत भवनकी नींव खुदनेकी बात चली उस समय श्रद्धेय श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दारके सुझावपर उनके अधिकारियोंने नींवकी खुदाईके बीच भूमिसे निकलने

वाली वस्तुओंकी देखभाल एवं परामर्शका भार पुरातत्त्वसंग्रहालयके अध्यक्षके नातेसे मुझे सौंपा था। उन अधिकारियोंके सुविचारोंका अब यह परिणाम है कि जन्मस्थानके पास इस समय ठीक एवं जीर्णशीर्ण सब मिलाकर सत्तरसे अधिक मूर्त्तियाँ हैं। इस संग्रहमें कई शिला-पट्ट, वस्तुखण्ड, जालियाँ, वेदिकाओंके टुकड़े, मूर्तियाँ, मिट्टीके खिलौने, मार्ग आदि अनेक वस्तुएँ हैं।

प्रस्तुत लेखमें इनमेंसे कुछ महत्त्वपूर्ण मूर्तियोंका परिचय कराया जा रहा है।

कूटगजोंसे शोभित सूचि या cross-bar (चित्र १)

(चित्र १)
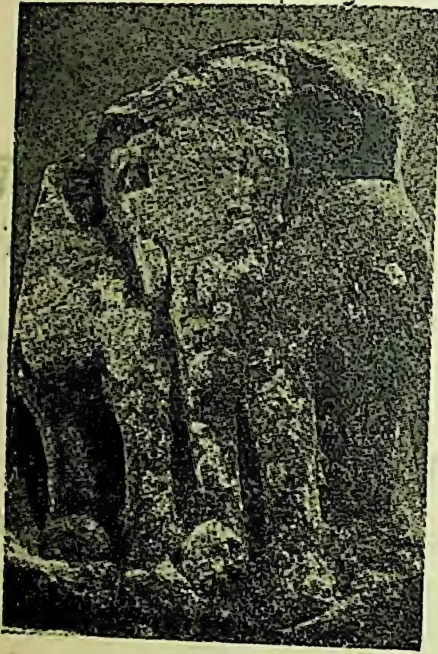
इस संग्रहमें शुंगकालकी यह एकमेव वस्तु है। यद्यपि सूचि अब खण्डित हो चुकी है तथापि इसके ऊपर बना हुआ फुल्ला अभी भी सुरक्षित है जिसपर एक ओर तो पगड़ी पहने हुए यक्ष का मस्तक बना है और दूसरी ओर एक सूँड़ और चार पैरोंकी सहायतासे तीन हाथी बने हैं। ध्यानसे देखनेपर दो तो अगल बगल खड़े हाथी हैं और एक 'सम्मुख' enface है। बहुधा शुंगकालमें बना कूटचित्रका यह पहला नमूना है। आगेके नमूनोंके लिए अजन्तामें बने 'कूटमृगों'की ओर संकेत किया जा सकता है। परवर्ती कालमें कूटचित्र निर्माणकी पद्धति लोकप्रिय हुई। राजस्थानी शैलीमें दृष्टिगोचर होनेवाले 'नारीगज' 'नारीतुरंग' आदि चित्र इसी पद्धतिके प्रमाण हैं।

चतुर्दलोंसे शोभित जाली (चित्र २)
कुषाणकाल—

खिड़कियोंमें हवा आनेके लिए जो पत्थरकी जालियाँ लगाई जाती थीं उन्हें 'वात- पान' कहते थे। बौद्धोंके प्रसिद्ध ग्रन्थ विनयपिटकमें कुछ वातपानोंके नाम गिनाये गये हैं। इनमें एक है 'वेदिका-वातपान' अर्थात् वेदिकाके आकारकी बनी जाली। प्रस्तुत चित्रमें प्रदर्शित जाली वेदिकाके आकारकी है जो चतुर्दल पुष्पों और पुष्पगर्भोंसे सुशोभित है।
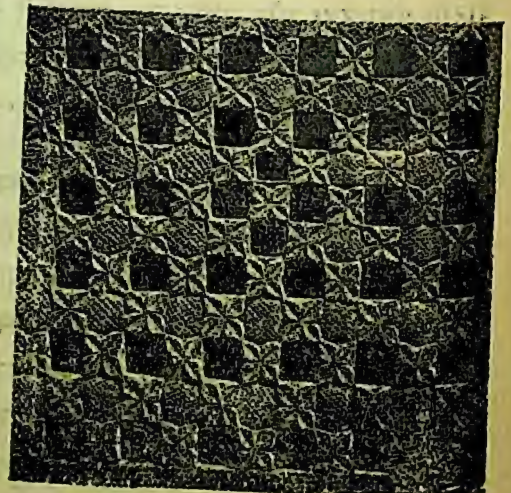
(चित्र २)

कमलधारिणी आसनस्थ लक्ष्मी (चित्र ३) कुषाण काल

शुंगकालमें मिलने वाली ब्राह्मणधर्मकी देवप्रतिमाओंमें लक्ष्मीकी गणना प्रमुखतासे की जा सकती है। उसकालसे ही लक्ष्मीका गजाभिषेक वाला रूप अधिक लोकप्रिय था। इसके दर्शन भरहूत और साँचीकी कलाकृतियोंमें होते हैं। कुषाणकालमें गज लक्ष्मीके अतिरिक्त कमलधारिणी खड़ी या आसनस्थ लक्ष्मी भी दिखलाई पड़ती हैं। चित्र संख्या तीनमें प्रदर्शित मूर्ति इसी प्रकार की है। छोटी होते हुए भी यह मूर्ति अखण्डित है। देवीके बाँये हाथमें कमल है तथा दाहिना हाथ अभयमुद्रामें है। उनके पैरोंके पास अगल बगल उपासक एवं उपासिकाकी मूर्ति बनी है। ध्यानसे देखनेपर ऐसा लगता है कि देवीके दोनों पैर उस आसनमें फँसे हुए हैं जिसपर देवी बैठी हैं। पैरोंका यह अस्वाभाविक प्रदर्शन कुषाणकालकी प्रारम्भिक एवं अपरिष्कृत पद्धतिका द्योतक है जो मथुराकी अन्य समकालीन कलाकृतियोंमें भी पाया जाता है। अंकनका यह दोष आगे उसी कालमें ठीक कर लिया गया।

(चित्र ३)

नृवराहमूर्ति (चित्र ४, ५) गुप्तकाल—

(चित्र ५)

ब्राह्मण धर्मकी मान्यताके अनुसार भगवान् विष्णुका तीसरा अवतार वराह अवतार

है। इसकी मूर्तियोंका निर्माण कुषाणकालसे ही प्रारम्भ हो गया था। गुप्तकालमें इसका पूजन बहुत लोकप्रिय हुआ। उदयगिरि, एरण आदि अनेक स्थानोंसे गुप्तकालीन नृवराहकी मूर्तियाँ मिली हैं। प्रस्तुत चित्रमें प्रदर्शित मूर्ति यद्यपि बहुत अधिक खण्डित हो चुकी है तथापि ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि कुषाणकालीन परम्पराके अनुसार इस मूर्तिको सामने और पीछे दोनों ओरसे बनानेका प्रयास किया गया था। पीछेका भाग (चित्र ५) पूरी तरहसे बनाया तो नहीं जा सका है तथापि उसमें वराहकी ग्रीवा एवं एक दाँत अवश्य देखा जा सकता है।

ज्ञानका माहात्म्य

ब्रह्मर्षि वशिष्ठको इतना तीव्र पुत्रशोक हुआ कि उनके धैर्यका बाँध टूट गया और वे आवेशवश आत्महत्या करनेपर उतारू हो गये। नदी सूख गयी। दुबारा गहराईकी परीक्षा करके कूद पड़े। एक उत्ताल तरङ्गने उन्हें तटपर फेंक दिया। अब वे अपने शरीरमें और बड़े पत्थर बाँधकर अथाह जलमें कूद पड़े। नदीकी अधिष्ठात्री देवी हाथ जोड़कर सामने उपस्थित हुई।

"महाराज! आप ब्रह्मज्ञानी होकर यह क्या कर रहे हैं?"

वसिष्ठ मुनि—"मूर्खे! क्या इस शोकसे ब्रह्मज्ञान या मोक्षमें कोई बाधा पड़ती है? प्रतीयमान शोकके तापसे मन दग्ध हो रहा है, उसकी आँचसे शरीर पानीसे मिलना चाहता है। इसके साथ ज्ञानी और ज्ञानका क्या सम्बन्ध है?"

नदी—"प्रभु! आप सचमुच परिपूर्णतम अविनाशी अद्वितीय ब्रह्म हैं। आपके कहाँ पुत्र, कहाँ सम्बन्ध, कहाँ मृत्यु और कहाँ शोक? आप ब्रह्मज्ञानी होकर ऐसा करेंगे तो दूसरे लोग भी इसका अन्धानुकरण करने लगेंगे।"

वसिष्ठ मुनि—"प्राज्ञम्मन्ये! यह भी एक आदर्श है। ज्ञानी पुरुषके जीवनमें कितनी भी हलचल—उथल-पुथल हो, उसके ज्ञान एवं मोक्षमें कोई हानि नहीं है।"

नदी—"सो कैसे महाराज?"

इस प्रश्नके उत्तरमें आत्मा और ब्रह्मकी एकताका लम्बा निरूपण प्रारम्भ हो गया। शोक और आत्महत्याका संकल्प नदीकी तीव्र धारामें बह गये।

[आनन्दवाणीसे]

झूलनोत्सव

(१)

छाह रही घनघोर घटा
बदरा बरसात फुहारनु पानी।
कूल कलिंदी कदंब की डारि पै
डारिकें झूलना प्रेम दिवानी॥
गावत गीत मलार गुविंद,
झुलै झुकि झोंटनि राधिका रानी।
भूमि छियें चढ़ि जात अकास
लगै विलिगै जिमि अर्थ तें बानी॥

(२)

प्राची औ प्रतीची दिसा कनकनु खंभा खचे
पच रंग डोरी इन्द्र धनुष प्रभा भरी।
पटली 'गुविंद' धुरवान की बिछाइ बैठी
मंजुल बयार बगुलावलि सुधा धरी॥
सुक पिक मोर गान दादुर लगात ताल
झिल्ली झनकार बीन बाजत गुनागरी।
पौन मकरंद के हिंड़ोरें झुकि झूलि रही
बिज्जु नव नागरी लै प्रकृति उजागरी॥

(३)

कलित कलिंदी कूल फूलत कदंब डार

भूला डारि राधिका रसीली सरसात है।

गावत 'गुविंद' सजि सजनी मलार मंजु

मोद भरचौ मदन मयूर हरसात है॥

झिल्लो झनकार तारें दादुर मृदंग ताल

गरज निगारे घनघोर घहरात है।

लांबे लांबे झोंटनि तें झूलति मचकि मानों

उतरि घटाते चंद चढ़ि चढ़ि जात है॥

(४)

बादर वितुंडन के झुंडनि 'गुविंद' कवि

छायौ नभ मंडल अखंडल अकोरे में।

चपला चपल चोंकि चमकि रही है चहूँ

घोर सोर मोरनके मंजुल मरोरे में॥

संझा वीर बाला एक ओर धुन धारें ऐंठि

अभय डटी है नटी झंझा के झकोरे में।

प्रकृति कृसोदरी हरखि हरियाली ओढ़ि

झूल रही फूल मकरंद के हिंडोरे में॥

भगवान् श्रीकृष्णका समग्र विकसित व्यक्तित्व

श्रीराम शर्मा अचार्य

[भगवान्‌की सच्ची भक्ति उनके बताये हुए मार्गपर चलनेमें है। पूजा-अर्चा ही पर्याप्त नहीं मानी जा सकती। भक्तिका सच्चा प्रमाण तो भगवान्‌के निर्देशोंको अपनाना ही होता है।]

भगवान् श्रीकृष्णका व्यक्तित्व कितना समग्र एवं परिपूर्ण था, इसका परिचय हमें उस घटनासे मिलता है जब कंससे युद्ध करने वे उसकी राजसभामें गये हैं। हाथीको पछाड़कर जब भगवान् श्रीकृष्ण राजसभामें घुसे हैं तो वहाँ उपस्थित पारखियोंने उन्हें अपनी-अपनी कसौटी पर कसा और उन्हें अपने परिपूर्ण व्यक्तित्वमें सम्पन्न पाया।

श्रीमद्‌भागवत दशम् स्कन्ध अध्याय ४३ का सत्रहवाँ श्लोक इस प्रकार है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्तास्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराड विदुषां
तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदतो
रङ्गं गतः साग्रजः॥

अर्थात्—"जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रंगभूमिमें पधारे उस समय वे पहलवानोंको वज्र-कठोर शरीर, साधारण मनुष्योंको नर-रत्न, स्त्रियोंको मनोरम, गोपोंको स्वजन, दुष्टोंको कठोर प्रशासक, वृद्धजनोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट (वीभत्स), योगियोंको परम तत्त्व और भक्तोंको इष्टदेव जान पड़े।"

यह परिपूर्ण व्यक्तित्वका चिन्ह है कि मनुष्य जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें समग्र रूपसे विकसित है। भगवान्ने अपना आदर्श उपस्थित करके जन-साधारणको यह अनुकरणीय प्रेरणा दी है कि उन्हें अपना विकास-क्रम एक संकुचित दायरेमें ही सीमित नहीं कर लेना चाहिए, वरन् जीवनके प्रत्येक पहलूपर आवश्यक ध्यान रखते हुए उसे सुविकसित बनाना चाहिए।

कितने ही व्यक्ति अपना दृष्टिकोण सीमित कर लेते हैं और जो बातें उन्हें प्रिय लगती हैं उन्हींमें सारा समय एवं सारी शक्ति लगाये रहते हैं। फलस्वरूप उस छोटे दायरेमें तो उनकी प्रगति होती है पर जीवनके अन्य पहलू उपेक्षित एवं अविकसित ही रह जाते हैं।

शरीरके एक दो अवयव तो सुन्दर परिपुष्ट हों और अन्य सब दुर्बल, रोगी, एवं गंदे पड़े रहें तो उसे स्वास्थ नहीं कहा जायगा। सिर बड़ा हो पर हाथ पैर पतले तथा छोटे हों तो सिरका बड़ा होना भी कुरूपताका चिन्ह बन जायगा। जिनके पेट आगे बढ़े होते हैं या फीलपाँव रोगके कारण पैर मोटे हो जाते हैं उन्हें कुरूप ही माना जाता है। सुन्दर स्वास्थ्य तो सभी अवयवोंके समान रूपसे सुडौल एवं सुविकसित होनेपर ही दृष्टिगोचर होगा।

ठीक यही बात मानव जीवनकी प्रगति एवं सफलताके सम्बन्धमें लागू होती है। उसे शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं गुण कर्म स्वभावकी दृष्टिसे सुविकसित होना चाहिए। इनमेंसे एक दो तो ठीक हों पर अन्य अविकसित पड़े रहें तो ऐसा व्यक्ति जीवन-विकासकी दृष्टिसे असफल ही माना जायेगा।

कई व्यक्ति धन कमाने या विद्या पढ़नेमें तो अधिक रुचि लेते हैं। पर स्वास्थ्य, धर्म, परिवार-निर्माण, सामाजिक कर्त्तव्योंका पालन, अपने गुण, कर्म, स्वभावका संशोधन आदि महत्वपूर्ण कार्योंकी ओर ध्यान नहीं देते और इन क्षेत्रोंमें पिछड़े रह जाते हैं। ऐसे व्यक्ति भले ही धनी या विद्वान बन जायें पर रुग्णता, दुर्बलता, पारिवारिक कलह, बालकों का कुसंस्कारी होना, सामाजिक असहयोग, रूखापन, बुरी आदतें, दुर्व्यसन, मानसिक असंतुलन, अव्यवस्थित कार्यक्रम आदि खराबियोंके कारण वे दुखी ही रहते हैं। जीवनका आनन्द उन्हें नहीं मिलता और जो एक ही क्षेत्रमें सफलता प्राप्त करली है वह भी निरर्थक जैसी बन जाती है। शरीरके एक दो अंगोंको सुन्दर बनानेकी चेष्टामें लगे रहने वाले और शेष अंगोंकी उपेक्षा करने वालोंकी तरह ऐसे व्यक्ति भी असफल एवं अदूरदर्शी ही कहे जा सकते हैं।

भगवान्का अवतार लोक-शिक्षणके लिये होता है। जनताका मार्गदर्शन केवल वाणीसे नहीं, आचरण द्वारा ही महा-मानवोंने किया है। मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें प्रगतिशील, विचारवान्, बुद्धिमान एवं सुविकसित किस स्थितिमें कहा जाये ? इसका उत्तर भगवान्ने अपने व्यक्तित्वको सभी दिशाओंमें सुविकसित और सम्पन्न बनाकर दिया है।

कंसकी राजसभामें मूर्ख नहीं, सुयोग्य व्यक्ति रहते थे। उनकी अपनी-अपनी विशेषतायें थीं। इन विशेषज्ञोंने जब श्रीकृष्णके सुसंतुलित व्यक्तित्वको देखा तो उन्होंने पाया कि वे

उनमेंसे प्रत्येककी कसौटीपर खरे उतरते हैं। मल्लोंने उनका शरीर मल्लों जैसा सुडौल एवं वज्र जैसा कठोर देखा। सामान्य मनुष्योंने उनमें नररत्नों जैसी विशेषतायें पाईं, सौन्दर्य पारखियोंने उनकी शोभा सराहनीय देखी, भावना-शीलोंको वे स्वजन लगे, दुष्टोंने उन्हें प्रबल विरोधी एवं ध्वंसक पाया, गुरुजनोंने उनमें शिशुग्रों जैसी सरलता देखी। पापी कस को मृत्यु, मूर्खोंको अचिन्त्य तथा भक्तोंको अपने अनुरूप दिखाई दिये। ऐसा केवल उनके अपने दृष्टिकोणका प्रतिबिम्ब ही नहीं था, वरन् वस्तुस्थिति भी वैसी ही थी। भगवान् कृष्ण आत्मिक दृष्टिसे तो महान् थे हीं, साथ ही उनकी महानता उनके जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें समान रूपसे प्रस्फुटित होती थी। वैसा ही कंसकी राजसभामें उपस्थित लोगोंने उन्हें परखा और पाया भी।

भगवान्‌की सच्ची भक्ति उनके बताये हुए मार्ग पर चलनेमें है। पूजा-अर्चा ही पर्याप्त नहीं मानी जा सकती। भक्तिका सच्चा प्रमाण तो भगवान्‌के निर्देशोंको अपनाना ही होता है। जन्माष्टमीके इस पुनीत-पर्वपर हमें भगवान् कृष्णके आदर्शोंपर विशेष रूपसे ध्यान देना चाहिए। गीताके अनुरूप अपना जीवन ढालना और सद्‌विचारोंका निर्माण करना भगवान्‌की भक्तिका सर्वश्रेष्ठ रूप हो सकता है। साथ ही यह भी स्मरण रखने योग्य है कि हम अपने व्यक्तित्वका प्रत्येक पहलू विकसित करनेकी दिशामें समुचित ध्यान रखें। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक एक भी पहलू उपेक्षित न रहने दें। उनमेंसे प्रत्येक क्षेत्रकी प्रगति करें एवं अपनी अपूर्णतायें दूर करते हुए अपने व्यक्तित्वको समग्र रूपसे विकसित बनाते हुए, पूर्णताके लक्ष्यकी ओर तत्परता-पूर्वक अग्रसर हों। यदि इतनी बात भी हृदयंगमकी जा सके तो हमारा श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी मनाना और कृष्ण-भक्त होना सार्थक कहा जा सकेगा।

●

जन्माष्टमीके दिन अगर हम गायकी पूजा करें तो वह ठीक ही है। गायकी पूजा करनेमें हम पशुको परमेश्वर नहीं मानते, किन्तु उस पूजा द्वारा गायके प्रति प्रेम और कृतज्ञता प्रकट करते हैं। नदीकी पूजा, तुलसीकी पूजा और गायकी पूजा अगर अच्छी तरह सोच-समझकर हम करें, तो उससे अन्तःकरणको अच्छी-से-अच्छी शिक्षा मिलेगी, रसवृत्तिका विकास होगा और हृदय पवित्र तथा संस्कारी बनेगा। प्रत्येक पूजामें एकसा ही भाव नहीं रहता। पूजा कृतज्ञतासे हो सकती है, वफादारीके कारण हो सकती है, प्रेमके कारण हो सकती है, आदर-बुद्धिसे हो सकती है, भक्तिसे हो सकती है, आत्मनिवेदन-वृत्तिसे हो सकती है या स्वरूपानुसंधानके कारण भी हो सकती है। इस तरह देखा जाय तो गायकी पूजा करनेमें एकेश्वरवादी या अनीश्वर-वादीको भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

—श्रीकाका साहेब कालेलकर

संकीर्त्तन महिमा

कृष्ण कथा निति कीर्त्तन सजियैं । कीरतन करत न कबहूँ लजियैं ।।
द्वैव धर्म इक कीरतन अंग । कीरतन श्रवन होत हैं संग ।।
नाम कीर्त्तन धुनि सुमोहनी । हृद मंदर मल की जू सोहनी ।।
च्यारौं ज्युग में कीरतन सार । कलि में प्रगटत भयौ अपार ।।
कीरतन महिमा कही न जात । अजामेलि की सुनिलैं बात ।।
यह रसना है सुख में चाम । कृष्ण कीर्त्तन बिन बेकाम ।।
नाम कीर्त्तन अरु भगवान् । ए दोऊ हैं एक समान ।।
पै नामी तैं नाम अधिक रे । नामी राम नाम निधि तरे ।।
नामी गने सुजीव उबारे । एक नाम अगनित जिय तारे ।।
नाम महातम पार न लह्यौ । ब्रह्मा हू तैं जात न कह्यौ ।।
औरैं साधन कीर्तन पाछैं । ताकी अगनित शासतर साछैं ।।
यामें पात्र न देश न काल । धन चहिये न कछू जंजाल ।।
तन छिन भंग आयु गति छीन । यातें कीरतन करो प्रवीन ।।
भो नर जनम कीरतन साधो । कीरतन होत जहाँ ही माधो[१] ।।
जग्य करत तप करत कष्ट करि । बहुत वर्ष हूँ तैं ह्वै प्रसन्न हरि ।।
सो कीये कीर्त्तन लघु काल । रीझत थोरे माँझ दयाल ।।

—श्रीनागरीदासजी

---

[१] नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्त यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।।

(पद्मपुराण)

हे नारद ! बैकुण्ठ में बसौं नहीं, अरु न जोगीजनके हृदय में बसौं, जहाँ मेरे भक्त कीरतन करें हैं तहाँ मैं बसत हौं ।

मत्स्यपुराणमें श्रीकृष्ण-जन्म-कथा

सुश्रीमल्लिका शास्त्री

[श्रीकृष्णका जन्म परब्रह्म-परमात्माकी पूर्णताका ही अवतरण है। लोकमें आनेपर भी श्रीकृष्णकी अलौकिकता एवं भगवत्ता, पग-पगपर उनकी लीलाओं द्वारा परिलक्षित हुईं। निम्न पंक्तियोंमें मत्स्यपुराणके आधारपर श्रीकृष्णके अवतारका वर्णन सरल शैलीमें प्रस्तुत किया गया है।—सं०]

सूतजी बोले—प्रजापति, महान् तेजस्वी देवदेव प्रभु भगवान् नारायण बिहार करने के लिये मनुष्य-योनिमें कृष्णके रूपमें अवतरित होते हैं। वे कमल नेत्र, दिव्य स्वरूप चतुभुज भगवान् अपनी समस्त कांतिसे समन्वित होकर बसुदेवकी परम तपस्याके फलस्वरूप देवकीके गर्भमें उत्पन्न होते हैं। वे परम प्रकाशवान् भगवान् ही योगेश्वर कृष्णके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं। वे परम प्रभु भगवान् अव्यक्त स्वरूप वाले निराकार एवं व्यक्त स्वरूप वाले साकार—दोनों ही हैं।

वे नारायण भगवान् कृष्ण अव्ययात्मा एवं समस्त चराचर सृष्टिके विधायक हैं। वे ही नारायण रूपमें (सर्वदा एक रूप) सर्वशक्ति सम्पन्न हरि हैं। जो सृष्टिके आदिम कालमें आदि पुरुष प्रजापति ब्रह्माकी सृष्टि करते हैं। वे यादवनन्दन कृष्ण ही अदितिके पुत्रके रूपमें प्रादुर्भूत होकर देवदेव विष्णु एवं इन्द्रके छोटे भाई उपेन्द्रके नामसे भी विख्यात होते हैं। वे ही सर्वशक्तिमान् अपने अनुग्रहसे देवताओंके शत्रु दैत्यों-दानवों और राक्षसोंके विनाशके लिये अदितिके पुत्रके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं।

राजर्षि ययातिके वंशमें समुत्पन्न परम बुद्धिमानका कुल परम पवित्र हुआ जिसमें भगवान् नारायण स्वयं प्रादुर्भूत होकर लौकिक कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत हुए।

जिस समय भगवान् जर्नादन उत्पन्न हुए, उस समय सागर कांपने लगे, पर्वत चलने लगे, अग्निहोत्र स्वयमेव प्रज्वलित हो उठे। मङ्गलकारी शीतल मन्द सुगन्धित वायु

बहने लगी, धूलका उड़ना शांत हो गया। इसी प्रकार भगवान् जनार्दनके उत्पन्न होनेपर सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र आदि ज्योतिष्पुञ्जोंका प्रताप अधिक निखर उठा। जिस शुभ बेलामें भगवान् जनार्दन उत्पन्न हुए उस समय अभिजित् नामक नक्षत्र था, जयन्ती नामक रात्रि थी और विजय नामक मुहूर्त था। अव्यक्त, शाश्वत, प्रभु, नारायण, भगवान् हरि अपने सुन्दर नेत्रोंसे प्रजाओंको मोहित करते हुए जिस समय प्रादुर्भूत हुए उस समय इन्द्रने आकाशसे पुष्प-वृष्टिकी और सहस्त्रोंकी संख्यामें एकत्र होकर गन्धर्वों और महर्षियोंने मांगलिक गानोंसे मधुसूदनकी स्तुति की।

वसुदेवने रात्रिके समय श्रीवत्स चिन्हसे विभूषित, अन्यान्य दिव्य लक्षणोंसे अलंकृत अधोक्षण (जिनके स्वरूपका साक्षात्कार इन्द्रियोंसे नहीं होता) भगवान्को पुत्रके रूपमें देखा और निवेदन किया कि हे प्रभो ! आप अपने इस रूपको समाप्त कीजिये। हे तात ! मैं कंससे बहुत भीत हूँ—यही इतना निवेदन आपसे कर रहा हूँ। मेरे ज्येष्ठ पुत्रोंको जो देखनेमें अद्भुत सौन्दर्यशाली थे, उसने मार डाला है। वसुदेवकी ऐसी बातें सुनकर महा-महिमामय भगवान्ने अपने दिव्य स्वरूपको समेट लिया। पिता वसुदेवजीने भगवान्की आज्ञासे उन्हें नन्दगोपके घर पहुँचाकर उग्रसेनकी सम्मतिसे यशोदाकी गोदमें दे दिया। उस समय संयोगतः देवकी और यशोदा—दोनों गर्भवती थीं। यशोदा नन्दगोपकी पत्नी थीं। जिस रात्रिको वृष्णिकुलोद्धारक भगवान् कृष्ण प्रादुर्भूत हुए थे उसी रातमें यशोदाने भी एक कन्याको जन्म दिया था। महान् यशस्वी वसुदेवजी पुत्र-रूप भगवान्को भली-भाँति गोदीमें छिपाकर यशोदाको दे आये और उनकी कन्याको अपने घर उठा लाये। नन्दगोपको भगवान् कृष्णको समर्पित कर वसुदेवने कहा कि आप मेरी रक्षा करें, तुम्हारा यह पुत्र सबका कल्याण करने वाला है एवं यदुवंशियोंका उद्धारक होगा। यह देवकीका वह चिर-अभिलषित गर्भ है, जो हम लोगोंके समस्त क्लेशोंको दूर करेगा।

इस प्रकार नन्दगोपके घरसे लौटकर आनकदुन्दुभि वसुदेवजीने उग्रसेनके पुत्र कंसके हाथोंमें अर्पित करते हुए कहा कि यही शुभ लक्षण कन्या उत्पन्न हुई है। अपनी बहिन देवकीमें कन्याकी उत्पत्ति सुनकर दुष्टात्मा कंसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया और अत्यन्त प्रसन्न होकर उसे भी छोड़ दिया। वह मूढ़ यह कहने लगा कि यदि कन्या ही उत्पन्न हुई है तो उसे मरी ही समझना चाहिए।

इस प्रकार कंस द्वारा छोड़ दिये जानेपर वह कन्या वृष्णिगृहमें सत्कार-पूवक जीवन बिताते हुए दिनानुदिन बढ़ने लगी। पुत्रकी भाँति उसका पालन होने लगा। देवगण अपनेमें उसकी उत्पत्तिकी चर्चा करने लगे। उन्होंने प्रजापति ब्रह्माको उस कन्याके बारेमें विस्तारपूर्वक सब बातें बतलायीं और यह कहा कि केशवकी रक्षाके लिये यह भगवती एकादशा स्वयं प्रादुर्भूत हुई हैं, उसकी यादव-गण प्रसन्न मनसे पूजा करेंगे। दिव्य देहधारी देवधिदेव भगवान् कृष्ण इसी भगवती एकादशा द्वारा सुरक्षित हैं।

ऋषि वृन्द बोले— सूतजी ! भोजवंशीय राजा कंसने किस कारणसे वसुदेवके छोटे छोटे पुत्रोंका संहार किया—इसे विस्तार पूर्वक हम लोगोंको बतलाइये।

सूतजी बोले—ऋषि वृन्द ! जिस कारणसे मूर्ख कंस आनकदुन्दुभि वसुदेवके उत्पन्न होने वाले समस्त पुत्रोंका तुरन्त संहार कर देता और जिस भयके कारण महाबाहु भगवान् कृष्ण उत्पन्न होते ही दूसरी जगह पहुँचाये गये और गौओंके बीचमें जिस प्रकार पुरुषोत्तम गोविन्दका पालन-पोषण हुआ वह सारी कथा हम आप लोगोंको बतला रहे हैं। सुनिये ! ऐसा कहा जाता है कि जब कंस युवराज था, तब वसुदेव और देवकीका रथ हाँका करता था। एक बार जबकि वह रथ हाँक रहा था आकाशसे एक दैवीवाणी किसी भूतसे सुनाई पड़ी जिसके कारण कंस सदा भीत रहने लगा। वह दिव्य वाणी कठोर स्वरसे सुनाई पड़ी थी, सभी लोगोंने उसे सुना। वह दैवी वाणी इस प्रकारकी थी 'कंस ! जिसे तुम प्रेम-वश अथवा वसुदेवको प्रसन्न करनेके लिये रथपर चढ़ाकर घुमाते हो, उसीके सातवें गर्भसे तुम्हारी मृत्यु होगी।'

इस दैवी वाणीको सुनकर कंसको बहुत ही खेद हुआ और उस मूर्खने तुरन्त म्यानसे अपनी तलवार खींचकर देवकीको मारनेकी इच्छा प्रकट की। प्रतापशाली महाबाहु वसुदेवने ऐसी स्थिति देख उग्रसेनके पुत्र कंससे परम सौहार्द तथा प्रेम पूर्वक इस प्रकार निवेदन किया, 'यादवनन्दन ! क्षत्रिय कभी किसी स्त्रीका संहार नहीं करते, इस कार्यके लिये मैं एक उपाय देख रहा हूँ ! पृथ्वीपति कंस ! इस तुम्हारी बहिन देवकीके सातवें गर्भसे जो सन्तान उत्पन्न होगी, उसे मैं तुम्हें दे दूँगा, उस समय उसका तुम चाहे जो करना। हे विपुल दान करने वाले कंश ! तुम इस समय भी जो चाहो कर सकते हो। इसके सातवें गर्भकी तो बात क्या मैं इसके समस्त गर्भोंको तुम्हें दे दूँगा—इसे सच समझो। हे नरश्रेष्ठ ! मेरी यह बात कदापि मिथ्या न होगी।'

वसुदेव द्वारा इस प्रकार अनुनय-विनय पूर्वक कहे जानेपर कंसने देवकीके समस्त पुत्रोंको मारनेकी बात स्वीकार करली और देवकीको छोड़ दिया। वसुदेव अपनी पत्नी देवकीको जीवित प्राप्त कर परम प्रसन्न हुए। इसी कारणसे पापात्मा मूर्ख कंस देवकीके समस्त पुत्रोंका संहार करता था।

ऋषि वृन्द बोले—सूत जी ! ये वसुदेव और नन्द गोप कौन हैं जिन्होंने भगवान् विष्णुको जन्म दिया ? यशस्विनी देवकी कौन थीं और महान् यशस्विनी यशोदा कौन थीं जिन्होंने भगवान्का पालन पोषण किया—इसे हम लोग सुनना चाहते हैं।

सूत जी बोले—ऋषि वृन्द ! ये नन्दादि पुरुष कश्यपके और यशोदा आदि स्त्रियाँ अदितिकी अंशभूत थीं। महाबाहु भगवान् कृष्णने देवकीके मनोरथोंको पूर्ण किया था। ये देवाधिदेव योगात्मा भगवान् विष्णु अपनी योगमायासे संसारके समस्त जीवोंको मोहित कर धर्मके नष्ट हो जानेपर स्वयमेव वृष्णि कुलमें प्रादुर्भूत हुए थे। मनुष्य शरीर धारण कर पृथ्वीपर धर्मकी व्यवस्था एवं असुरोंके विनाशके लिए अवतीर्ण हुये थे। उत्पन्न होकर उन्होंने रुक्मकी कन्या रुक्मिणीका हरण किया। नग्नजितकी कन्या सत्या, सत्रा-जितकी कन्या सत्राजिती, सत्यभामा, जाम्बवान्की पुत्री जाम्बवती, रोहिणी, सैब्या, सुदेवी, माद्री, सुशीला, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा जालवासिनी आदि सोलह सहस्त्र देवियाँ उनकी स्त्रियाँ थीं। स्वर्गमें सुन्दरी अप्सराओंके जो चौदह गण कहे गये हैं, उन्हें

देवताओंकी सम्मतिसे इन्द्रने मर्त्यलोकमें भेज दिया था। वासुदेवकी पत्नी होनेके लिए वे राजाओंके घरमें उत्पन्न हुईं।

विष्वक्सेनकी ये महाभाग्यशालिनी पत्नियाँ परम प्रख्याति थीं। रुक्मिणीमें प्राद्युम्न, चारूदेष्ण, सुदेष्ण, शरभ, चारु, चारुभद्र, भद्रचारु चारु विन्ध्य नामक पुत्र तथा चारुमाही नामक कन्या उत्पन्न हुई। सानु, भानु, अक्ष, रोहित, मन्त्रय, जरान्धक, ताम्र-वक्षा, भौमरि, जरन्धम ये पुत्र तथा भानु, भौमरिका, ताम्रपर्णी और जरन्धमा नामक चार कन्याएँ गरुड़ध्वज भगवान्के संयोगसे सत्यसभामें उत्पन्न हुईं। अब जाम्बवतीकी सन्ततियोंका विवरण सुनिये। भद्र, भद्रगुप्त, भद्रविन्दु, भद्रवाहु ये पुत्र तथा भद्रावती नामक एक कन्या, जो सम्बोधिनी नामसे विख्यात थी, जाम्बवतीकी सन्ततियाँ थीं। संग्रामजित्, शतजित् और सहस्त्रजित्—ये सुदेवीके पुत्र विष्वक्सेनके संयोगसे उत्पन्न कहे जाते हैं।

वृक, वृकश्व, वृकजित वृजिनी, सुराङ्गना, मित्तबाहु और सुनीथ ये नग्नजितकी पुत्री सत्याकी संतानें हैं इसी प्रकार भगवान् वासुदेवके पुत्रोंकी संख्या सहस्त्रोंतक समझिये। कुछ लोग उनकी संख्या लाखों तक कहते हैं। इनमेंसे दस सहस्त्र और आठ महान् शूरवीर तथा रण-विशारद थे। भगवान् जर्नादनके वंशका विवरण जैसा मुझे ज्ञात था, आप लोगोंको वतला चुका।

महान् पराक्रमी शिनिवंशीय राजा वृहदक्रथकी कन्या वृहती, जिसका नर्तकोन्नेयी दूसरा नाम है, सुनथके साथ विवाह-सूत्रमें सम्वद्ध हुई। उसके तीन पुत्र युद्धस्थलमें परम प्रख्यात हुए, उनके नाम थे, अंगद, कुमुद और श्वेत। श्वेता नामकी एक कन्या भी थी। अवगाह, चित्र और शूर चित्रवर नामक जो वृष्णि वंशी थे, उनमें चित्रवरके पुत्र चित्रसेन हुए और उसकी कन्या चित्रवती हुई। तुम्ब और तुम्बवान् ये दो जवस्तम्बके पुत्र थे। उपाङ्गके वज्रार और क्षिप्र नामक दो पुत्र कहे जाते हैं। गवेशके भूरीन्द्रसेन और भूरि नामक दो पुत्र हुए। युधिष्ठिरकी परम यशस्विनी सुतनु नामक जो कन्या थी, उसमें महान् यशस्वी अश्वसुत वज्रकी उत्पत्ति हुई। वज्रके पुत्र प्रतिवाहु हुए, प्रतिबाहुके पुत्र सुचारु हुए। काश्माने सुपार्श्व नामक पुत्रको उत्पन्न किया और साम्बाने तरस्वी नामक पुत्रको को उत्पन्न किया।

इस प्रकार महाबली यदुवंशियोंके कुल तीन करोड़ सन्तानें उत्पन्न हुईं। जिनमें साठ लाख परम बलशाली एवं पराक्रमी थे। वे सबके सब परम तेजस्वी यदुवंशीय देवताओंके अंशभूत होकर इस मृत्युलोकमें उत्पन्न हुए थे। पूर्व देवासुर संग्राममें जो असुर-गण मारे गये थे, वे ही महान् तपस्या करके पुनः मनुष्य योनिमें उत्पन्न हो-होकर सबको पीड़ित कर रहे थे, उन्हीं सबके विनाशके लिये ये लोग यादव कुलमें उत्पन्न हुए। इन परम बलवान् यदुवंशियोंके ग्यारह कुल कहे जाते हैं, किन्तु जिस कुलमें भगवान् विष्णु प्रादुर्भूत हुए, उसी एक वंशका अनुवर्तन शेष सभी वंशों वाले करते रहे। उन सभी वंशोंमें उत्पन्न होने वाले यदुवंशियोंके एकमात्र प्रमाण स्वरूप एवं सर्वेसर्वा भगवान् विष्णु (कृष्ण) ही थे। उनकी आज्ञामें निरत रहकर इन सब यदुवंशियोंने इन समस्त पापात्मा मनुष्योंका जो मानव समाजको उत्पीड़ित कर रहे थे, संहार किया।

निःशस्त्र सारथीसे पराजित पितामह

श्रीनरेशचन्द्र मिश्र

[महाभारतकी पृष्ठभूमिमें लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके द्वारा दी गई प्रेरणाएँ ही किसी न किसी रूपमें फलीभूत हुई हैं। अपनी स्नेह-शिक्षा भरी नीतिके आधारपर उन्होंने अपने जनोंको ही बड़ी मीठी मात दी हैं। प्रस्तुत पंक्तियोंमें भीष्म पितामहकी ऐसी ही एक महती किन्तु महिमामयी पराजयका वर्णन पढ़िये।—सं०]

सृष्टि-संहारकी एक और सांझ बीती, महाभारतके दावानलकी एक लपट और शान्त हुई। महासेनानी द्रोण, धृष्टद्युम्नके खड्गकी भेंट चढ़ गये। अगली भोरके सेनापति भीष्मपितामहने पाण्डवोंके रक्तसे कुरुक्षेत्रको तर्पण देनेकी प्रतिज्ञा कर डाली।

पाण्डव-शिविरके द्वारपर रथसे उतरकर सारथी कृष्णने अश्वकी बल्गा सेवकके हाथमें दे दी और महारथी अर्जुनकी ओर घूम पड़े, "कल क्या होगा धनञ्जय ?"

"युद्ध होगा सखे, केवल युद्ध !" अर्जुनने कृष्णको आलिंगनमें बाँध लिया, "आज्ञा हो तो शिविरमें जाऊँ, अत्यन्त परिश्रांत हूँ।

"सुनो तो पार्थ, किससे युद्ध करोगे ? प्रतिज्ञात पितामहसे ? तुम्हारे इस युद्धका लाभ क्या होगा ?"

अर्जुनने सखा भगवान्‌के प्रश्नमें छिपी विभीषिका पढ़ली। पितामहकी अव्यर्थ प्रतिज्ञा, उनका अचूक लक्ष्य और उनकी समर क्रूरता आर्यावर्तके योद्धाओंको त्रस्तकर देनेमें समर्थ थी। किन्तु महारथी अर्जुनको यह विभीषिका क्यों व्यापे ? गीताके उपदेष्टा, अनंत वीर्यवान कृष्ण तो हैं ही। वह सहज हँसी हँस पड़ा।

"युद्ध कोई वणिक-वृत्ति नहीं जो मैं लाभालाभकी गणना करूँ। आपने प्रारम्भमें ही सुख-दुःख समेकत्वाका उपदेश दे दिया है। अब व्यर्थ चिंतित न कीजिए।"

कृष्ण पुकारते ही रहे और अर्जुन शिविरमें चला गया। निराश भगवान्ने भीष्मको पकड़ा, किन्तु उसे भूख सता रही थी। नकुल सहदेव सेनाके निरीक्षणमें व्यस्त थे और धर्मराज तो कृष्णकी चिन्ता सुनकर स्वभावके विपरीत अट्टहास कर उठे, "महाभाग मैं क्या जानूं कल क्या होगा ? जीवन-मृत्युके नियन्ता आप ही हैं। आपके संकेत विना तो एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।"

× × ×

पाण्डव-शिविरमें रात्रिकी निस्तब्धता छा गयी किन्तु कृष्णकी आँखोंमें नींद कहाँ ? कल क्या होगा, नरशार्दूल भीष्मके प्रहारोंसे इन पाण्डवोंकी रक्षा कौन करेगा ? ये पाँचों तो मेरे अभयकी छाँव तले विश्रान्तिकी नींद सो रहे हैं। अबोध बालक क्या जाने कि पिताके अंकमें उसे बठानेका बल है या नहीं। उसे तो पिताकी छायासे ही तोष हो जाता है।

भगवान्ने दीर्घ निश्वास ली। वे शय्यासे उठकर सीधे द्रौपदीके शिविरमें पहुँचे और कातर स्वरमें पुकार बैठे "कृष्णा !"

"आप" द्रौपदी स्तब्ध रह गयी, "कुशल तो है।"

"कुशल तो पितामहकी प्रतिज्ञाके साथ ही रूठ गयी।"

कृष्णके नेत्र भर आये और उनका कण्ठ रुँध गया, "ये पाण्डव मूर्खोंकी भाँति दावानलमें घिरे निद्रासुख ले रहे हैं। कल सूर्योदय होगा तो तेरा सौभाग्य सूर्य अस्त हो जायेगा।"

पाञ्चालीने लपक कर कृष्णके मुँहपर हाथ रख दिया, "भैय्या मत कहो यह अशुभ वाक्य, मत…"

"यह अशुभ है, कठोर है किन्तु सत्य है, निष्ठुर सत्य।" बहनकी पीठ सहलाते कृष्ण बिलख पड़े, "पितामहकी प्रतिज्ञा अटल है। पाण्डव उनके प्रहारसे बच नहीं सकते। आगामी दिवसका युद्ध मेरे नेत्रोंके सम्मुख घूम रहा है।"

गम्भीर मुखमुद्रा ! कृष्णकी वाणी ! द्रौपदीका मुख-चन्द्र अमाके अन्धकारमें पैठ गया।

"तो अब क्या होगा ?"

मेरा विवेक कुण्ठित है पाञ्चाली, मैं तेरे वैधव्यकी कल्पनासे विमूढ़ हो गया हूँ।"

पाञ्चालीका स्वाभिमान जाग उठा, "यदुकुल-तिलककी बहन, महाराज पाण्डुकी वधू विधवा नहीं होगी। मैं इसी रात अग्निप्रवेश करूँगी इसी रात।"

संकल्पके स्वर ! पाञ्चालीकी प्रतिज्ञा ! कृष्ण सन्तुष्ट किन्तु गम्भीर स्वरमें बोले, "तेरा अग्निप्रवेश असहनीय है किन्तु वह तेरे धर्मके अनुकूल है।"

"आप चिता सज्जित करें, मैं पाण्डवोंसे आज्ञा ले आऊँ।"

"नहीं पाञ्चाली ! उन वीरोंको मत जगाओ। वे अपने पौरुषके दर्पमें तुम्हें अग्नि प्रवेश नहीं करने देंगे और अन्ततः तुम्हें वैधव्य भोगना पड़ेगा।"

द्रौपदीको भाईके प्रति अपार भक्ति थी। कृष्ण उचित ही कह रहे थे। उसने अग्नि प्रवेश हेतु शृङ्गार किया और कृष्णके साथ गहन वनकी ओर चल दी।

कजरारी निशामें दोनों निःशब्द, व्यथित और चिन्तामग्न चलते रहे। गहन वनमें पहुँचकर कृष्णने लकड़ियाँ इकट्ठी कीं और चिता जला दी।

द्रौपदीने भक्तिपूर्वक कृष्णको प्रणाम किया। गम्भीरतासे चिताकी परिक्रमा की और निर्भय होकर अग्निसेजकी ओर बढ़ी।

"पाञ्चाली एक क्षण रुकना।"

द्रौपदीका दाँया पैर चिता पर पड़ते-पड़ते थम गया। वह कृष्णकी ओर प्रश्नोत्सुक दृष्टिसे निहारने लगी।

"अग्निप्रवेशसे पूर्व वंशके ज्येष्ठ पुरुषकी आज्ञा लेनेका नियम है। शीघ्रतामें हम अनीति करने जा रहे थे।"

"वंशके ज्येष्ठ ! पितामह !" द्रौपदी रीती हँसी हँस पड़ी, उन्हींके कारण तो मैं अग्निप्रवेश कर रही हूँ।

"धर्मकी गति गहन है कृष्णा। क्रूर कर्त्तव्यकी वेदीपर भावनाओंके निरीह छौने सदा ही बलि होते हैं।"

"आपका कथन उचित है किन्तु पितामह शत्रु शिविरमें हैं। मध्यरात्रिमें उनके दर्शन कैसे सम्भव होंगे।"

"कुलीन स्त्री और पीड़ित प्रजाके लिए पितामहके द्वार सदा खुले रहते हैं। तुम चलकर स्वयं देख लो।"

द्रौपदी अनचाहे ही कौरव शिविरकी ओर चली। कजरारी घटाने मार्गमें ही आकाशको घेर लिया। धारासार वर्षा होने लगी। कृष्ण और कृष्णा दोनों भीग गये।

"देखता हूँ तुम्हें पीठ पर उठाना होगा पाञ्चाली। वर्षासे तुम्हारे वस्त्र मलिन हो जायेंगे। कुरुश्रेष्ठके समक्ष मलिन वस्त्रोंमें जाना उचित नहीं।"

और भगवान्ने उत्तरकी प्रतिक्षा किये बिना द्रौपदीको पीठपर उठा लिया।

पितामह-शिविरके द्वारपर प्रहरीने ललकारकर पूछा, "पथिक, कौन हो तुम लोग।"

कृष्णने पाञ्चालीको पीठसे उतारा और हाँफते स्वरमें बोले, "यह देवी सती होने जा रही हैं। अग्निप्रवेशसे पूर्व पितामहके चरण-स्पर्श करने आयी हैं।"

"तो इन्हें शिविरमें जाने दो किन्तु तुम परिचय दिये बिना सेनापतिके दर्शन नहीं कर सकते।"

कृष्ण द्रौपदीकी ओर मुड़े और फुसफुसा उठे, "सुन रही हो न पाञ्चाली, तुम्हीं चली जाओ। मैं तुम्हारे पादत्राण लिये यहीं प्रतीक्षा करता रहूँगा। ये भीग गये तो मार्ग चलना कठिन हो जायेगा।"

द्रौपदीने सिर हिलाया और शिविरके अन्दर चली गयी।

× × ×

कुरुवंशका नाहर सोया न था। शिविरके अन्दर घूमता वह भोरकी रणसज्जा और व्यूह रचनापर विचार कर रहा था। पाण्डवोंका वध उसका संकल्प था, जिसे वह निर्मम धर्मयोद्धाकी भाँति प्राणपणसे पूरा करना चाहता था।

तभी एक स्त्री आई और उसके चरणोंपर गिर पड़ी। आजन्म ब्रह्मचारीने उसकी ओर दृष्टि किये बिना सहज भावसे कहा, "अखण्ड सौभाग्यवती भव।"

विलख पड़ी द्रौपदी, "पितामह, यह आपका आशीर्वाद है।"

शान्तनुपुत्र चौंक पड़े, "द्रौपदी तुम यहाँ, मध्य रात्रिमें।"

"आपने पाण्डवोंके वधकी प्रतिज्ञाकी है। मैं वैधव्यसे पूर्व ही अग्निप्रवेशकी अनुमति लेने आई हूँ।"

पितामह विह्वल स्वरमें बोले, "मेरी प्रतिज्ञा तो मेरे ही आशीशसे विफल हो गई। तुझे किसने यह कूटछल सिखाया। कौन आया है तेरे साथ ?"

द्रौपदी मौन रह गयी। पितामहने विशाल नेत्र क्षणभरको मूँद लिए फिर गम्भीर स्वरमें पूछ बैठे, "द्वारपर कृष्ण ही होंगे। पाञ्चाली, बोलती क्यों नहीं, तू किसके साथ आई है ?"

द्रौपदीने धीरेसे कहा, "वे ही हैं।"

सेनानी भीष्म तीव्रगतिसे द्वारकी ओर भागे। वर्षासे भीगते, द्रौपदीके जूते अंकमें छिपाये विश्वम्भर द्वारपर बैठे थे। भीष्मने आग्रहपूर्वक उन्हें अंकमें भर लिया, "भगवन् मुझे विश्वास था आप शस्त्र उठानेके पूर्व ही मुझे पराजित कर देंगे। भक्त पाण्डवोंके मंगल हेतु आपने कुलवधूसे मुझे पराजित करवा दिया।"

सृष्टि नियन्ता निश्चल स्वरमें बोले, "मैं निर्दोष हूँ महाभाग ! द्रौपदी ही मुझे यहाँ लायी है।"

"मुझे ज्ञात है" पितामहकी श्वेत दाढ़ी उनके विह्वल आँसुओंसे भीगने लगी, "भक्तोंके प्रति इसी करुणाने महाभारतका भाग्य परिवर्तन कर दिया। अर्जुनका गाण्डीव अब मुझे शाश्वत शान्ति दे सकेगा।"

●

आरूढ़च्युत

एक बार धर्मज्ञ राजा यदुने एक महान् तरुण तपस्वीको अवधूत वेशमें मस्तीसे घूमते हुए देखकर उससे पूछा—

ब्रह्मन्, मेरी जिज्ञासा है कि आप कौन हैं और क्या बात है कि आप आत्मस्वरूपमें मग्न आत्मानन्दका ही अनुभव सुख प्राप्त कर रहे हैं। संसार स्पर्शसे सर्वथा रहित कैसे हैं ?

अवधूत बोले—राजन् मेरा नाम दत्तात्रेय है। किसीके साथ अति स्नेह न करना चाहिए—इसकी शिक्षा मुझे एक कबूतरसे मिली है।

कैसे भगवन् ! राजाने पूछा।

सुनिए राजन् ! किसी वनमें एक कबूतर घोंसला बनाकर अपनी कबूतरीके साथ रह रहा था। वे दोनों नितान्त गृहस्थ थे और परस्पर अटूट प्रेम बन्धनमें बँधे हुए थे। वे दोनों परस्पर दृष्टिसे दृष्टि, अंगसे अंग, मनसे मन मिलाकर एक साथ सोते, बैठते, घूमते, ठहरते, क्रीड़ा करते, भोजन करते थे।

राजन्, वह अजितेन्द्रिय कबूतर अपनी कबूतरीकी हर इच्छा, हर माँगको पूरी करनेके लिए जी-जानसे कोशिश करता था, बड़े बड़े कष्ट झेलता था। कुछ समय बाद कबूतरी गर्भवती हुई। उसने घोंसलेमें अण्डे दिए। श्रीहरिकी अचिन्त्य शक्तिसे उन्होंने आकार ग्रहण किया और कोमल शरीरके नन्हें नन्हें बच्चे अण्डोंसे निकल पड़े।

पुत्रवत्सल कबूतर दम्पती उन्हें प्राणोंसे अधिक प्यार करते थे, उनकी कलध्वनि सुनकर आनन्द विभोर होते थे। उनका स्पर्श सुख प्राप्त कर वह स्वर्गीय आनन्दका अनुभव करते थे।

राजन्, इस प्रकार भगवान्की मायासे विमोहित कबूतर कबूतरी रात-दिन बच्चोंके लालन-पालनकी चिन्तामें व्यग्र रहने लगे। एक दिन दोनों दाना चुगनेके लिए बाहर गये।

भोजनकी खोजमें बहुत देर तक भटकते रहे। इधर एक बहेलिएने कबूतरके बच्चोंको घोंसलेमें फुदकते कुड़-कुड़ शब्द करते देख लिया और जाल फैलाकर उसने उन बच्चोंको पकड़ लिया।

इतनेमें बच्चोंको देखनेकी अतृप्त लालसा लिए कबूतर और कबूतरी भी दानाचारा लेकर घोंसलेके पास पहुँच गये। जालमें फँसे हुए रोते-चिल्लाते बच्चोंको देखते ही कबूतरी विलाप करती हुए उनके पास पहुँच गई और अनजाने जालमें फँस गई।

तब वह कबूतर अपनी प्रिया और प्रिय सन्तानको जालमें फँसा देखकर विलाप करने लगा—

अहो मेरा बसा बसाया संसार मेरी आँखोंके सामने उजड़ रहा है। मैं कितना अभागा हूँ कि अपनी प्रिया और पुत्रोंको सुखसे तृप्त और कृतार्थ न कर सका। हाय, मेरी साध्वी पत्नी मुझे अकेला छोड़कर बच्चोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है और मैं मन्दमति अपनी आँखोंसे देख रहा हूँ। जब मेरी ही आँखोंके सामने मेरी स्त्री और बच्चे नष्ट हो रहे हैं तो फिर मैं विधुर बनकर इस सूने घरमें अकेले रहकर क्या करूँगा ?

इस प्रकार सोचता हुआ वह बुद्धिहीन कबूतर भी जाकर उसी जालमें फंस गया और वह बहेलिया उस कबूतर, कबूतरीको बच्चों सहित झोलेमें भरकर अपने घर चला गया।

कबूतर और कबूतरीके मोह, स्नेह और अज्ञानको जब मैं खड़ा देख रहा था तो मुझे बोध हुआ कि जो आदमी कबूतरकी भाँति व्यग्र, अशान्त होकर द्वन्द्वमें ही पड़ा रहता है, कुटुम्बके भरण-पोषण और स्नेह बन्धनमें ही फँसा रहता है वह लोक और परलोक दोनों खो बैठता है और दुख भोगता है।

राजन्, यह मनुष्य शरीर मुक्तिका खुला हुआ दरवाजा है। इसे पाकर जो व्यक्ति उस कबूतरकी भाँति मोहग्रस्त और आसक्त बनता है उसे शास्त्रमें 'आरूढ़च्युत' अर्थात् चढ़कर गिरा हुआ कहा गया है।

—श्रीमद्भागवत

●

निष्काम-भाव

निष्काम भावसे भगवान्के प्रति जिनका अनन्य प्रेम हो जाता है वह भगवान्‌की दी हुई सर्व सुखोंकी खान मुक्तिकी भी कामना नहीं करता। अपने इष्टदेवकी सेवाके लिए मोक्षको भी त्यागने वाला व्यक्ति ही भगवान्की भक्तिका अधिकारी है, जिसे भगवान्की प्राप्तिके अलावा किसी वस्तुसे न प्रेम है और न ही उसकी कामना करता है।

ब्रजकी झलक

श्रीगोकुलानन्द तैलङ्ग

ब्रज माधवी

धन्य पुण्यमय ब्रजमण्डलकी
भूमि धन्य यह पावन देश।
चिर नित, नूतन लीला करते
जहाँ प्राणपति मधुर व्रजेश ॥

अरे, यहीं तो मोहनके
माधुर्य सुधाकी मादक धार।
निस्सृत होती कल रवसे
है सुख, सौरभ, परिमल, आगार ॥

कुंज-कुंजकी लता-बेलिमें
निखरा मृदु, माधुर्य अपार।
एक-एक कलिकी आभामें
होता प्रभुका नित्य बिहार ॥

थिरक रही है रूप माधुरी
पल्लव-पल्लवमें साकार।
खेल रहा है यहाँ मुदित ही
श्री सुषमाका मधु संसार ॥

बिखरा फिरता है नन्दन वन
की शोभाका वह भण्डार।
मृदिमा, सुषमा और मधुरिमा
का होता है चिर व्यापार ॥

अणु-अणुके मृदु अन्तस्तलमें
निखर रही है मोहन कान्ति।
इसी कान्तिके अभ्यन्तरमें
विलस रही है मंजुल शान्ति ॥

उमड़ रहा है रूप सुधाका
स्रोत, अरे, कितना सोल्लास।
मोहनका मुख पंकज जिसमें
कितना करता मोहक हास ॥

मृदु मधु धारासे अभिसिंचित
जड़ जंगम होते दिन रात।
यहाँ सदा खेला करता है
मंगलमयका अरुण प्रभात ॥

यहाँ सदा तरलित रहता है
मधुऋतुका माधुर्य अनन्त।
क्रीड़ा करती है इस व्रजमें
चिर नित नूतन नवल बसन्त॥

इसी मधुरिमाके चरणों पर
अखिल विश्व होता बलिहार।
जगतीकी शत-शत विभूतियाँ
लोटा करतीं शत-शत बार॥

शत-शत जीवन हुए समर्पित
लुटा चुके अगणित संसार।
पाकर एक मधुरिमाका कण
छोड़ा जगका दारुण भार॥

इसी माधुरीकी सेवामें
कितनोंने पाया सुख स्वर्ग।
कितने हृदय हुए अनुरंजित
पाया परमोज्वल उत्कर्ष॥

अरे यहीं तो है जीवन धन
यहीं निहित तो है चिर श्रेय।
विलस रहा है लक्ष्य यहाँ तो
मानव जीवनका वह प्रेय॥

तरसा करते हैं ब्रह्मादिक
सुर, नर, मुनि, गन्धर्व समाज।
इस अनन्त माधुर्य सिन्धुसे
एक बिन्दु पानेको आज॥

कोटि-कोटि जीवनकी चिर
साधन समाधिसे जो है दूर।
लहराया करता प्रशान्त हो
वह अनन्त इसमें भरपूर॥

एक बिन्दु पर जिसकी होता
न्यौछावर ऐश्वर्य अनन्त।
लुटता फिरता पथ बीथीमें
मुखरित करता सभी दिगन्त॥

उस दुर्लभ माधुर्य सुधाका
करते पान यहाँ दिन रात।
धन्य जीव वे, उनका जीवन
धन्य, अहो, माधुर्य प्रपात॥

क्यों न करे ब्रह्मादिक ईर्ष्या
क्यों न सराहें इनका भाग्य।
क्यों न अतुल वैभवसे अपने
हो सम्भूत उन्हें वैराग्य॥

कितना भरा अतुल आकर्षण
कितना गर्भित है माधुर्य।
व्रजके कण-कणके अन्तर्गत
कितना भाव भरित सौन्दर्य॥

यह है वह माधुर्य जिसे पा
जग हो जाता है उन्मत्त।
मादकता भर जाती उर में
भाव-विभावित करता नृत्य॥

इसी एक रसकी प्याली पर
बलि जाती सुर सुरा महान।
झूम-झूम जग करता इसकी
सतत माधुरीका पय-पान॥

आँखोंमें भर इसी माधुरी
की लालीका उन्मद रंग।
उठती नित अन्तःपयोधिमें
मादकताकी तरल तरंग॥

उन्मद अनुरंजित जीवनके
खिंच जाते नव चित्र विचित्र।
इन्हीं पुतलियोंमें बस जाता
व्रजके ग्वालोंका वह मित्र॥

मधुर कल्पनाके तारोंमें
गूँथ भावनाओंके हार।
चंचल चरणोंमें मोहनके
अर्पित होते बारम्बार॥

कितनोंके भावुक अन्तरकी
मीठी वीणाके मधु तार।
झंकृत होते मादक रवसे
अभिगुञ्जित अन्तःसंसार॥

इसी माधुरीके प्यालेमें
प्रियतम करता नित्य विहार।
अरे, यहीं तो उमड़ रहा है
मादकताका पारावार॥

यमुनाकी कल-कल धारामें
अभिगुञ्जित वंशीका नाद।
मादक लहरीसे मुखरित है
बीचि-बीचिमें प्रेम प्रसाद॥

प्रेम भरी वंशीकी गाथा
प्रेम भरा सन्देश पुनीत।
कल रवसे निस्सृत होता है
विलस रहा है भव्य अतीत॥

मुरलीकी मादक लहरीकी
गूँज रही मंजुल झंकार।
उमड़ रहा कालिन्दी तट पर
मधुर प्रेमका पारावार॥

वह अतीतकी प्रेम कहानी
अनुरंजित जीवनके तार।
इसके चिर अनन्त गायनमें
झनकाते नित मोद अपार॥

कालिन्दी

इसी पुण्य कालिन्दी तट पर
बिखरा सोनेका संसार।
मादक मंजु प्रभा मोहनकी
जिसमें करती नित्य बिहार॥

इन्हीं तरल लहरोंके भीतर
लिखा प्रेमका मृदु इतिहास।
इसके अभिनव अन्तरालमें
प्रतिभासित इसका नव हास॥

पावन तट पर रवितनयाके
अंकित है व्रजका सौन्दर्य।
खचित यहाँ मोहनकी आभा
चित्रित नटवरका माधुर्य॥

मधुर गुंजनासे यमुनाकी
अभिगुंजित होता संसार।
मधुर निस्सरण इसका करता
अखिल विश्वमें प्रेम प्रसार॥

प्रेम रूपिणी व्रज-बालाओं
के पद किंकिणिकी झंकार।
अभिव्यंजित मादक रवसे है
स्पन्दित करती अन्तः तार॥

इसके संकुल प्रेम गीतसे
हो जाता विस्मृत संसार।
प्रेम भरे हैं इसके सीकर
इसकी एक एक मधु धार॥

एकसौ इकतीस

दोनों तीरोंका चुम्बन कर
बहती प्रेममयी यह धार।
भरती है कण-कणमें व्रजके
विमल प्रेम-सरसिजका सार।।

इसी प्रेम लहरीसे मिलकर
तटवासी ये विहग समाज।
निस्सृत करते अपना मधु रव
ले नैसर्गिक रागिनि साज।।

मन्द-मन्द अपने प्रवाहमें
गुँजा रही सारा वन प्रान्त।
रिझा रही अपने प्रियतमको
निरत साधनामें चिर शान्त।।

यहाँ विचरता वह नटनागर
लेकर निज गो-ग्वाल-समूह।
रचता नित नव मधु लीलाएँ
करता खेल विचित्र दुरूह।।

कितनी मादक इसकी लहरी
कितना मधुमय पावन नीर।
कितनी अविरल प्रेम कहानी
गुंजित होती इसके तीर।।

यहीं नित्य फहराता उसका
मुकुट मनोहर केकी पंख।
यहीं विचरते पगले ग्वाले
गो वत्सोंके झुण्ड असंख्य।।

यहीं सदा बहता निशि-वासर
सुरभित करता मलय समीर।
मुखरित करता इसका रग-रग
देता जीवन, हरता पीर।।

बनमालीकी नव विभूतियाँ
खेला करती इसके तीर।
लोटा करती नवनिधि इसमें
कितना शुचि कलिन्दी तीर।।

ग्वाल बालके बीच यहाँ वह
माधव नित प्रति करता केलि।
यहीं खेलता आँखमिचौनी
यहीं सदा करता रँगरेलि।।

यहीं गोप बालाओंमें वह
करता नितप्रति रासविलास।
लीलामयकी प्रेम-कथाका
होता यही मनोज्ञ विलास।।

प्रणय कलाका इन्हीं तटों पर
होता चिन्मय दिव्य प्रसार।
जगका नव अनुराग बिखरता
माधवका वह भव्य बिहार।।

वंशी

यहीं थिरकती मनमोहनके
अधरों पर वह पगली वेणु।
प्रेम सुधाकी शुचि पयस्विनी
अभिसिंचित करती व्रजरेणु।।

तान-तान पर इस वंशीकी
अखिल विश्वके प्राण महान।
उन्मद प्रेमासवको पीकर
थिरका करते कर मधु-पान।।

भावुक हृत्तन्त्रीके स्वरसे
मिल कर वंशीकी मृदु तान।
आकुल कर देती प्राणोंको
नवजीवनमय सुधा प्रदान।।

मत्त मधुपसे परिमल निधि पर
पाकर अविरल मधुका कोष।
झूमा करते पगलेसे ये
पाते नित अनन्त परितोष॥

पद नूपुरकी मंजुल ध्वनिसे
मिला मिलाकर अपनी तान।
ताल-ताल पर थपकी देकर
बरसाता माधुर्य महान॥

होता थकित सकल व्रजमण्डल
त्रिभुवनका ऐश्वर्य अनन्त।
सुनकर वंशीका वह मृदु रव
अखिल विश्वके सभी दिगन्त॥

होता थकित चराचर सारा
सुनते ही मृदु वेणु-निनाद।
विस्मृत होता सब जगतीतल
रह जाती उसकी ही याद॥

निखिल वायुमण्डल अभिगुञ्जित
होता पाकर वंशी फूंक।
मनमोहनके चरण-प्रान्तको
पा लेनेकी उठती हूक॥

उद्वेलित होता मन-मानस
उठतीं उन्मद प्रेम तरंग।
अन्तस्तलके अन्तरालमें
प्रेम सुराकी रंग-उमंग॥

कोमल प्राण-सूत्र जीवनके
प्रेम-रागसे हो अनुरक्त।
एक क्षीण झंकृति पाकर ही
होते माधव-चरणासक्त॥

कैसा भरा अतुल आकर्षण
कैसा जादू भरा प्रभाव।
इस वंशीकी मृदु लहरोंमें
प्रेमासवका मादक भाव॥

कितनोंने सर्वस्व लुटाकर
पाया यह माधुर्य अनन्त।
कितनोंके जीवनमें आयी
प्रेममयी मधु नवल बसन्त॥

चंचल चंचरीक चरणोंके
बन, आ बनमालीके पास।
कितने जीवन हुए समर्पित
पाकर वंशीका मधु हास॥

इन्हीं सप्त छिद्रोंके भीतर
जगका वैभव भरा अनन्त।
इससे निस्सृत लोल लहरियाँ
गूंज रहीं त्रिभुवन पर्यंत॥

इस जड़ वंशीका अविकल स्वर
जड़-जंगम सबको द्रवमान।
करता उद्वेलित अन्तरको
भरता प्रेमिक भाव महान॥

गूंज रहा सारा व्रजमण्डल
गूंज रहे गिरि शैल महान।
गूंज रहे बन, पथ, बीथी सब
कालिन्दीकी कल ध्वनि तान॥

इसी प्रेम गाथासे लेकर
मंजुल मादक अभिनव राग।
गुन-गुन करते अलिगण सारे
बिखराते जगमें अनुराग॥

मलय समीर प्रकम्पित होकर
बन बागोंका मर्मर गान।
इसी तरल संगीत-विनिस्सृत
रवसे करता मादक दान॥

अरे इसी वंशीसे लेकर
मादकताका मधुर प्रसाद।
वितरण करती कलित कोकिला
करती आकुलता अवसाद॥

सर, सरिता, निर्झर, निर्झरिणी
गाते वही वेणुका गीत।
वही प्रेम लहरी नित नूतन
रंजित अन्तरका संगीत॥

थिरक रहे कलि, मुकुल, कुसुम दल
गुल्म, बेलि, बन, विटप, वितान।
प्राणिमात्र करते जीवन भर
इसी मधुरिमाका पय पान॥

मतवाले ग्वाले होते सुन
सिंहपौरका वंशी नाद।
करने लगते पगले नर्तन
लेकर अन्तरका उन्माद॥

एक फूंक पर ही खिच आता
मोहनके चरणोंके पास।
गोप बालिकाओंका मानस
करने लगता मदिर विलास॥

विस्मृत हो जाती सारी सुधि
हो जाती सब बुद्धि विलीन।
उसी वेणु माधुर्य सिन्धुमें
बन जाता मन मानस मीन॥

तरल प्रेमके मधु सागरमें
हो जाता जीवन उन्मत्त।
मदिरा-सी पीकर हो पागल
करता भाव-विभावित नृत्य॥

गोप-ग्वाल

धन्य गोप ग्वाले ये सारे
पा मोहनका चिर सहवास।
कितना इनका सुखमय जीवन
कितना इनका महत् विकास॥

कितना सफल तपोमय जीवन
पाकर जगकी निधि सर्वस्व।
अरे, अकिंचन इन गोपोंका
कितना सुन्दर आत्मोत्सर्ग॥

खग-मृग

धन्य, अरे, ये खग-मृग व्रजके
रे, कितना इनका सौभाग्य।
पाते मंगलमय मोहनका
स्निग्ध स्पर्श, दर्शन, अनुराग॥

एक दृष्टिसे रूप माधवी
का करते ये अविरल पान।
मोहनके मुख-पंकज पर ही
रहता है इनका चिर ध्यान॥

व्रज-रज-स्नात पुण्य ये प्राणी
माधवकी मधु लीला देख।
रहते सतत अमित प्रमुदित ये
नित नव मोहन कौतुक पेख॥

पुलिन, कुञ्ज, रज, बीथी

व्रजकी पावन गुल्म लताएँ
पाकर मोहनका संस्पर्श।
नित कोमल स्वर्णिम आभासे
लहराती सुख शान्ति सहर्ष॥

मृदु नवनीत तुल्य माधवके
कर-कमलोंका पा अनुराग।
आभातित नित हरी-भरी ये
करती पुष्पित सुरभित बाग॥

इन्हीं बेलि द्रुम गुल्म लताके
नीचे बनमालीका हास।
होता गुञ्जित वंशी-रवसे
विकसित मधु-मद रास-विलास॥

इन्हीं कुञ्ज-पुलिनोंके कण-कण
में प्रतिबिम्बित मोहन राग।
विलसित है व्रजललनाओंका
उज्ज्वलतम तप, त्याग, विराग॥

यहीं झनकती कल-कण्ठोंके
मधु आलापोंकी मृदु तान।
यहीं स्वर्ण अनुराग अरुणिमा
पग पग पर करती मधु-दान॥

यहीं हृदयके जीवन-धनकी
अमर साधनाका सामान।
प्रस्तुत है भावुक प्राणोंकी
हृदय-बीनका मादक गान॥

मूर्त्तिमती चिर-प्रणय-साधना
पागल हो करती नित नृत्य।
यहीं सुधामय चिर अतीतके
चित्रित हैं वे हीरक दृश्य॥

पात-पातमें लता-कुञ्जके
अणु-अणुमें पुलिनोंके आज।
वनोपवनमें पथ-बीथीमें
वही रूप-सुषमाका साज॥

वही मधुरिमा, वही सुधा-रस
वही प्रेमकी पावन धार।
विमल स्रोतसे उमड़ रहा है
महाभावका पारावार॥

गो-रस

गली गलीमें यहाँ प्रवाहित
गोरसका पीयूष प्रवाह।
मतवाले बन लूट लूट कर
दधि-माखन खानेकी चाह॥

माखन तुल्य स्निग्ध कोमल मधु
मोहन अन्तरका मृदु प्यार।
टपक रहा है मीठी बोली
भोलीसे गोरसका सार॥

भोले गोप, ग्वाल, व्रज, गोपी
गणका चुरा दुग्ध नवनीत।
यहाँ हृदय हर लेता है वह
करते जीवन विकल व्यतीत॥

अरे, यहाँ तो प्रेम-डोरमें
बँधा कन्हैया करता केलि।
थोड़ेसे माखनके कारण
नाचा फिरता कर रँगरेलि॥

उपसंहारः आकांक्षा

व्रजके किसी निभृत निकुंजमें
निविड़ शान्त कालिन्दी-तीर।
एकाकी जीवनका सुख लूँ
एक बनाकर रम्य कुटीर॥

प्रेम भरा मेरा जीवन हो
प्रेम-सुधामय मेरे प्राण।
प्रेम-प्रभा खेले अन्तरमें
पाऊँ भव तापोंसे त्राण॥

ब्रजके कन्द मूल फल खाकर
पी पावन मधु यमुना नीर।
लोटा फिरूँ पुलिन रजकणमें
प्रेम भक्तिके लिए अधीर॥

भोले भावुक व्रजवासीगण
ही होवें मेरे प्रिय मित्र।
नाचा करें सामने मेरे
व्रजके मंजुल मोहक चित्र॥

प्रेम सुधामय वँशी लहरी
के गुंजनसे अन्तर्देश।
गुम्फित हो इस हृदय बीनके
तार अलापें प्रेमादेश॥

चिर सहचर मंगलमय हरिके
पद अनुरागी भावुक सन्त।
निरे इस अकिंचन पर अपना
रखें अनुग्रह भाव अनन्त॥

कालिन्दीके कल गुंजनसे
अन्तर्वीणाकी झंकार।
गुम्फित कर पागल मस्तीसे
झूमूँ पी प्रेमासव सार॥

भूलूँ जगका चिर कोलाहल
भूलूँ जगतीका व्यापार।
अपने लघु इस अन्तस्तलमें
उमड़े प्रणय-स्रोतकी धार॥

मैं और मेरा प्रियतम माधव
इस जगती में नित्य बिहार।
करे सदा रंगरेली अविरल
प्रणय-रागकी मधु आगार॥

उस विस्मृतकी पगली दुनिया
में पागल सा अपना राग।
करूँ अलापा मादक स्वरसे
सोयी जगती जावे जाग॥

ऐसे बीतें शत-शत जीवन
छक मंदिर, चिर व्रजमाधुर्य।
व्रज, व्रज-रज, व्रजराज व्रजेश्वरि
का पाऊँ अविरल कैंकर्य॥

योगेश्वर श्रीकृष्ण और उनकी चारित्रिक पवित्रता

श्रीगोपालसिंह विशारद

[योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्णकी लीलाओंका आनन्द लेनेमें, लोक-रस-लीन मन शङ्कालु हो उठता है। यथार्थमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाऐं अलौकिक एवं अनुपम तत्त्व-मयी हैं। प्रस्तुत लेखमें भगवान्के विलक्षण चरित्रकी पवित्रताको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है।—सं०]

प्राकृत पुरुष नितान्त ही अपूर्ण होता है। पूर्णता तो केवल परमपुरुष परमात्मामें ही होती है, अतः अपूर्णको पूर्णकी प्राप्ति करना स्वाभाविक है। जिस प्रकार जलविन्दु अनन्त सागरसे मिलनेकी स्थितिमें रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील रहा करता है। वह सर्वशक्तिमान होनेके कारण सर्वेश्वर है। निर्बलको स्वभावतः ही बलवानकी ओर ताकना पड़ता है। इसीलिये मनुष्य उस सर्वेश्वरकी उपासना करता है। किसीको मानने तथा उसपर श्रद्धात्मक-प्रेम करनेका प्रश्न तभी उठता है जब श्रद्धेयमें चरित्रबल सद्गुण हों। चरित्र-हीन निर्बल तथा गुणहीनको कोई नहीं मानता। भगवान् कृष्णमें वे सभी गुण विद्यमान थे जिनके कारण उन्हें लोक-मान्यता प्राप्त हुई। उनकी असाधारण सदाचारिता तथा गुणोंके प्रबल प्रभाव द्वारा ही हम उस ओर आकर्षित होते हैं। उनपर हमारा श्रद्धात्मक प्रेम है, इसीलिए हम कामना करते हैं कि उस प्रभुको सभी मानें और प्यार करें। श्रद्धात्मक प्रेम ही आराधना अथवा भक्तिका वास्तविक स्वरूप है।

मानव-समाजमें विविध वृत्तियोंके व्यक्ति रहा करते हैं। कुछ मनोवृत्तियाँ ऐसी होती हैं, जो अपनी दुर्बलतावश सद्वस्तुओंमें भी दोष देखा करती हैं। इसी प्रवृत्तिके अनुसार इस युगमें ईश्वरी क्षेत्र तकमें कुछ व्यक्ति विकारोंको सूँघने लगे हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण भी अपने प्रेमियों द्वारा प्रीतिकी कामनासे ओत-प्रोत पाये जाते हैं।

एकसौ सैंतीस

कृष्ण-भक्तिकी परम्परामें श्रीकृष्णकी प्रेममयी मूर्तिको ही लेकर प्रेम-तत्वकी बड़े विस्तारसे व्यञ्जना हुई है। उनके लोक-पक्षका समावेश इसमें नहीं है। इन भक्तोंके कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपियोंसे घिरे हुए गोकुलके श्रीकृष्ण हैं; बड़े-बड़े भूपालोंके मध्य लोक-व्यवस्थाकी रक्षा करते हुए द्वारकाके नहीं। श्रीकृष्णके जिस मधुर रूपको लेकर ये भक्त कवि चले हैं, वह हास-विलासकी तरङ्गोंसे परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्यका समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमा-वलम्वनके सम्मुख मनुष्यका हृदय निराले प्रेम-लोकमें फूला-फूला फिरता है। अतः इन कृष्ण-भक्त कवियोंके सम्बन्धमें यह कह देना आवश्यक है कि ये अपनी प्रवृत्तिके रङ्गमें मस्त रहने वाले जीव थे। गोस्वामी तुलसीदासजीके समान लोक-संग्रहका भाव इनमें न था।

प्रत्येक धर्म या अधर्म तभी तक जीवको स्पर्शकर सकते हैं जब तक जीवका जीवत्व रहे, अर्थात् अन्तःकरण इन्द्रियों और स्थूल शरीरके साथ जीवका अहंभाव अथवा ममता रहे, किन्तु जिस समय ममताके नष्ट होनेसे आत्मा शरीर और मनसे पृथक हो जाता है, उस समय शुभ या अशुभ कोई भी कर्म जीवको स्पर्श नहीं करता। अतः श्रीकृष्ण जब साक्षात् नित्य मुक्त परमात्मा थे, स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरके साथ उनका जब कोई ममत्व सम्बन्ध न था तो कुशल अथवा अकुशल कोई कर्म उनको स्पर्श नहीं कर सकता है। शास्त्रोंमें कहा है। यथा—

'स्वयं सिद्धिः कथं परान्साधर्यात्' अर्थात् स्वयं असिद्ध होनेसे दूसरोंको सिद्ध नहीं बना सकते थे। परन्तु सहस्त्रों योगी उनके चरणारबिन्दुके प्रतापसे मुक्त हो गये।

रासलीलाका वर्णन सुनकर जब महाराज परीक्षितने शुकदेवजोसे पूछा कि यह कैसी बात है कि धर्म स्थापनार्थ अवतीर्ण भगवान्‌ने परस्त्रियोंके साथ दुर्व्यवहार किया? परीक्षितने 'परदाराभिमर्षण' करके कहा। तब शुकदेवजीने परीक्षितको श्रीकृष्णके यथार्थ रूपको समझाकर समस्त शंकाओंका समाधानकर दिया। यथा—

> **"धर्म व्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाच साहसम्॥**
> **तेजीयसां न दोषाय वह्ने सर्व भुजो यथा।"**

अर्थात्—लौकिक जगत्‌के लिये जो धर्म है ईश्वरमें उस धर्मका व्यतिक्रम देखनेमें आता है, क्योंकि ईश्वरमें शक्ति अधिक होनेसे साहस भी अधिक है। जैसे अग्नि समस्त वस्तुओंको दग्ध कर सकता है इसी प्रकारसे तेजस्वी पुरुष भी लौकिक धर्मसे विरुद्धधर्मके धक्के को भी सहनकर सकते हैं। इसीलिए उस प्रकारके आचरणसे उनको दोष नहीं लग सकता। यह स्मरणीय है कि रासलीलाकी क्रीड़ाएँ भगवान्‌ने १० वर्षके अन्तर्गत ही की थी। उस समय उनके अन्तस्तलको कामादिक विकारकी प्रवृत्ति छू तक न पाई थी। उन चरित्रों-की यथार्थता न जानकर कुछ लोग श्रीकृष्णके चरित्रपर ही कलंक लगा बैठते हैं; अतः यह विषय समाधानके योग्य है।

भगवान् मुरलीधर गोपियोंके पतियोंमें और समस्त जीवोंमें व्यापक सर्वान्तरात्मा थे । यथा —

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटंस्त्रियः ॥५॥

(श्रीमद्भागवत १०-३३-३)

अर्थात्—रासलीलाके समय योगेश्वर श्रीकृष्ण अनेक शरीर धारण करके दो-दो गोपियोंके बीचमें एक-एक हो गये थे । उसी प्रसङ्गमें यह भी लिखा है कि जो गोपियाँ घरसे भागकर आई थीं, उनके पतियोंके पास एक-एक गोपीका-सा रूप धारण करके श्रीकृष्ण रह गये । जिससे उनके पतियोंको पता न लगे कि उनकी स्त्रियों भाग गई थीं । इस सम्वन्धमें आगे अवगत करें । यथा—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥

(श्रीमद्भागवत १०-३३-३६)

अर्थात्—वह भगवान् गोपियोंके भीतर और उनके पतियोंके भी भीतर हैं । अतः श्रीकृष्णके प्रति काम आदि वैषयिक भावोंकी आशंका अज्ञान मात्र होगी । इसीलिये रास-लीला प्रसङ्गमें भगवान् वेदव्यासजीने कहा है—"आत्माराम कृष्णने रमण किया, योगेश्वरने रमण किया, इत्यादि । यह सभी रमण योगीका सर्वत्र आत्मा देखकर आत्मा रमणकी भाँति था; भोगीका विषय भोग न था । भगवान् योगेश्वरने योग-विद्या द्वारा भक्तोंकी लालसाएँ समुचित सीमाके भीतर ही रासरूपमें पूर्ण कीं । इसीलिए भागवतकारने उन्हें यहाँपर योगेश्वर कहा है, कामेश्वर अथवा रतीश्वर नहीं कहा ।

वस्त्र-हरणके विषयमें भी जो आशंका होती है, वह भी इसके रहस्यकी अनभिज्ञता का ही फल है । वह रहस्य यह है कि कुछ गोपियोंने भगवान् कृष्णको कान्त रूपमें पानेके लिये कात्यायनी व्रत किया था । यथा—नन्द गोप सुतं देवं पतिं मे कुरुते नमः (भागवत) अर्थात् -"माता कात्यायनि ! भगवान् कृष्णको मेरा पति करदो," किन्तु कृष्णजी जब साक्षात् परमात्मा थे, तो परमात्माके पानेके लिये जितनी योग्यता होनी चाहिये उसके विना श्रीकृष्ण कभी उनके पति नहीं हो सकते । वैसे संस्कारोंकी प्रवलतावश भक्तोंमें विकार आ जानेपर उसके अनुसार भगवान् उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होने देता । इसीलिये वस्त्र-हरण द्वारा उन्होंने अपनी योग्यताकी परीक्षा की थी । शास्त्रका सिद्धान्त है कि जबतक जीव शरीरके प्रति अभिमान रखता है तब तक परमात्माको नहीं प्राप्तकर सकता । काम लज्जा, भय आदि तभीतक रहते हैं, जब तक शरीरके प्रति अभिमान है । वस्त्रहरणमें लज्जा करके गोपियाँ उक्त परीक्षामें अनुत्तीर्ण हुई । इसी विषयको 'वस्त्र-हरण, करके श्रीकृष्णने स्पष्टकर दिया कि, जब वस्त्र-हीन होनेपर उनको लज्जा अवगत होती है, तो अभी शरीरके प्रति उनका अभिमान नष्ट नहीं हुआ है । यही वस्त्रहरणका रहस्य है ।

योगेश्वर कृष्णके चारित्रिक बलके सम्बन्धमें भगवान् बादरायण द्वारा समर्थित और त्रिकालज्ञ महर्षि दुर्वासा द्वारा कथित वाणी भी व्यक्त की जाती है। यथा—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
(श्रीमद्भागवत १०-२९-२४)

अर्थात्—हे कल्याणी गोपियो! स्त्रियोंका परम धर्म यही है कि वे पतिकी सेवा और सन्तानका पालन करें। और भी—

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥
(श्रीमद्भागवत १०-२९-२२)

अर्थात्—भगवान् कृष्णने कहा—अब देर मत करो, शीघ्रातिशीघ्र व्रजमें लौट जाओ। तुम लोग कुलीन स्त्री हो और स्वयम् सती भी हो; जाओ अपने पतियों और सुतोंकी सेवा-सुश्रूषा करो। देखो तुम्हारे घरके नन्हे-नन्हे बच्चे और गौओंके बछड़े रंभा रहे हैं। उन्हें दूध पिलाओ और गायें दुहो।

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥
(श्रीमद्भागवत १०-२९-२३)

अर्थात्—यदि मेरे प्रेमसे परवश होकर तुम लोग यहाँ आई हो, तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई। यह तो तुम्हारे योग्य ही है। क्योंकि, जगतके पशुपक्षी तक मुझसे प्रेम करते हैं और मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं।

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अंगरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥
(श्रीमद्भागवत १०-४८-८)

अर्थात्—अहा! इस प्रकार उस मोक्षके स्वामी दुष्प्राप्य ईश्वरको पाकर उस अभागिनीने अंगरागके लिये याचना की। इस प्रकार कुब्जाकी दुर्वासनापर भागवतकारने उसे फटकारा है। और भी—

यदि कृष्णो बाल यतिः सर्वदोषविवर्जितः।
तर्हिनो देहि मार्गं वै कालिन्दि सरितांवरे॥
(गर्ग संहिता माधुर्यखण्ड अ० १)

अर्थात्—यदि कृष्ण बाल ब्रह्मचारी हैं और समस्त दोषोंसे रहित हैं, तो हे कालिन्दि! श्रेष्ठ सरिता मुझको मार्ग दो। हे मिथिलेश्वर! अविलम्ब ही यमुनाने (उथली होकर) गोपियोंको मार्ग दे दिया।

भगवान् स्वतः इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं, यथा—

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया।।

अर्थात्—मैं मोक्षका स्वामी हूँ। जो सकाम पुरुष अनेक प्रकारके व्रत और तपस्या करके दाम्पत्य जीवनके विषय-सुखकी अभिलाषासे मेरा भजन करते हैं वे मेरी मायासे मोहित हैं। और भी—

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ।।

(श्रीमद्भागवत् १०-४८-११)

अर्थात्–भगवान् ब्रह्मादिक समस्त ईश्वरोंके ईश्वर हैं। उनको प्रसन्नकर लेना जीवके लिये बहुत ही कठिन है। जो उन्हें प्रसन्न करके उनसे विषय-सुख माँगता है, वह निश्चय ही दुर्बुद्धि है।

और भी श्रीकृष्णने कहा—

शृण्वन्तु सर्वे वचनं मदीयं मन्त्र संयुतम्।
यद्यहं ब्रह्मचर्येण न भग्नो भूतले सदा।।
तेन मे सुकृते नाद्य पार्थस्या तच्छिराः।
यैर्नीतंते पतन्त्वद्य भिन्नशीर्षं ममाज्ञया।।

(जैमिनी अश्वमेघ पर्व ४० अ० के ११ और १२ श्लोक)

अर्थात्—मेरे मन्त्रयुक्त इस वचनको सभी लोग सुन लें। यदि भूतलपर मेरा ब्रह्मचर्य व्रत सदा अखण्ड रहा हो, तो मेरे उस पुण्यके प्रभावसे अर्जुनका वह सिर अभी यहाँ आ जाय और जिन्होंने उसका अपहरण किया है मेरी आज्ञासे आज उनके मस्तक कट जायें, और वे मृत्युको प्राप्त हों।

भगवान् कृष्णके ऐसा कहते ही—

एवं ब्रवति देवेशे विनष्टौ धृतराष्ट्र जौ।
पाण्डवस्यशिरः प्राप्तं तदा मणिपुरेनृप।।

(जैमिनी अ० प०-४० अ० ९ श्लोक)

अर्थात्–धृतराष्ट्र नागके दोनों पुत्र (दुर्बुद्धि और दुस्वभाव) विनष्ट हो गये और अर्जुनका सिर उसी समय मणिपुरमें आ गया। और भी—

कामं क्रोधं भयं स्नेह मैक्य सौहृद मेव च।
नित्यं हरौ विदधतौ यान्ति तन्मयतां हिते।।
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते।।

(परीक्षतके प्रश्नपर ब्रह्मर्षि शुकदेवजीने बताया।)

अर्थात्—काम क्रोध, भय, स्नेह आदि किसी भी भावके द्वारा भगवान्‌के नित्य आसक्त रहते-रहते भक्त उनमें तन्मय हो जाता है और उसी तन्मयता द्वारा मन भगवान्‌में लवलीन हो जानेपर भक्तको मुक्ति मिलती है। गोपियोंमें भी ठीक ऐसा ही होता था। वे पूर्वसंस्कारके अनुसार श्रीकृष्णको देखते ही अनुरक्त हो जाती थीं और उनसे स्थूल रमणकी इच्छा करने पर भगवान्‌की अलौकिक शक्तिद्वारा अत्यन्त आकृष्ट होकर थोड़ी देरमें तन्मय हो जाती थीं, और जब तनमय होकर अपनेको ही भूल गईं मन ही नष्ट हो गया तो मनोत्पन्न कामादिक रह कैसे सकते हैं? इस प्रकार भगवान्‌ने गोपियोंकी कामेच्छाकी अनुचित प्रवृत्तिको पूर्ण न होने दिया और तन्मयता द्वारा मन तथा मनोवृत्तियोंको खोकर भगवान्‌में लीन होकर गोपियोंने उच्चगति प्राप्त की थी।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानु वर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(श्रीभगवद्गीता ४-११)

अर्थात्—जो मुझे जिस भावसे भजता है, मैं उसे वैसे ही भजता हूँ। इस रहस्यको जानकर ही बुद्धिमान मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार वर्तते हैं। उक्त स्वीकृति भगवान्‌ने भक्तोंसे बुद्धिगत मानवताकी धारणाके आधारपर ही की है, वैसे भी प्रायः सभी वरदाता यही कहकर वरदान याचनाके लिये वचन देते, देखे सुने तथा समझे गये हैं—कि, इच्छित वर माँगलो, पर किसी सज्जनने अप्राप्य वरकी याचना नहीं की।

समयके प्रभावसे प्रभावित आज मानव व्यसनोंकी ओर अधिक आकृष्ट होता जा रहा है। युगप्रवाह आर्य जातिके शास्त्रोंक्त धर्म-बन्धनों की कड़ियोंको एक-एक करके काट कर तोड़ता चला जा रहा-सा जान पड़ता है। धर्म तथा शास्त्रोक्त कर्मोंकी बात आज उपहास-सी जान पड़ती है।

भगवान् कृष्णचन्दका चरित्र बाल-लीलाके रूपमें मनोरंजन तथा लोक हितार्थ सर्वथा समुज्जल है, उसका ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता, जब तक हम ज्ञानके प्रकाशमें उसपर विवेचनात्मक रूपसे विचार नहीं करते। ईश्वर चरित्र बुद्धि बलसे सर्वथा परे हैं, क्योंकि वह जड़ है ईश्वर चरित्रकी यथार्थताके बोधके लिए तो ज्ञान बलका दृढ़ आधार ही एक मात्र अवलम्बन है।

भगवान् विश्व विमोहन देवकीनन्दन परात्पर परब्रह्म परमात्मा थे पूर्णस्थित प्रज्ञ थे, ऐसे श्रीकृष्ण क्या वास्तवसे अब नहीं हैं नहीं-नहीं वह तो अमर हैं, इतिहासके पन्नोंमें, भक्तोंके हृदयोंमें, देश विदेशकी पीढ़ीपर पीढ़ी चली आ रही देव-मालाओंकी अद्भुत कथाओंमें श्रीकृष्ण अमर हैं। भारतीय संस्कृति और सभ्यताके साथ-साथ राजा प्रजा दोनोंकी हित साधक साम्राज्यनीतिके साथ-साथ वह नित्य प्रकाशमान् हैं, जहाँ राजाओंके परम दैवत् होनेके सिद्धान्तका खण्डन होगा, वहाँ श्रीकृष्णका नाम आयेगा, जहाँ ऐसे राज्यकी चर्चा होगी जिसके जिसके नीचे प्रत्येक राष्ट्र अपनी आन्तरिक नीतिमें स्वतन्त्र हों, वहाँ श्रीकृष्णकी पुण्य समृतिसे अर्घ्य दिया जायगा।

भगवान् श्रीकृष्णका आदर्श

श्रीबालकृष्णदासजी खेमका

भगवान् श्रीकृष्णकी व्रज-वृन्दावनकी लीलाओंके कुछ प्रसंग अनुकरणीय नहीं कहे जा सकते। परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने भी राजर्षि महाराज परिक्षितसे श्रीरासके प्रसंगमें कहा था—

धर्म व्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥

[भा० १०-३३ ३० से ३२]

इन सब कथनोंका यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण दृश्य-अदृश्य जगतसे परे होते हुए भी अनन्त हैं और लोकवत् लीलायें करते हुए अलौकिक गुणोंसे सम्पन्न हैं।

दामोदर लीलाके प्रसंगमें कहा गया है—

न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं वहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिको लूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥

[भा०१०-९-१३-१४]

भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगतमें व्याप्त होते हुए भी सारे जगतसे परे हैं। सारा विश्व ब्रह्मांड उनमें है और वे सारे विश्व ब्रह्मांडमें रमे हुए हैं। संसारकी रचनाके पहले भी उनकी सत्ता थी और संसारकी रचनाके पश्चात् भी उनकी सत्ता सारे संसारमें व्याप्त

है। बाहर-भीतर रहने वाले ऐसे परब्रह्म अजन्मा अव्यक्त प्रभुको माँ यशोदा ऊखलसे बाँधती हैं और वे भी कृपापरवस "[स्वमातु":—अपनी मांका परिश्रम देखकर श्रीकृष्ण— "कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने"] बँध जाते हैं।

इसलिए वृन्दावनीय लीलाएं कुछ ऐसी अटपटी-सी हैं कि इन लीलाओंको सुनकर सांसारिक जन भ्रममें पड़ जाते हैं।

इन सब लीलाओंका आदर्श परमहंस-अमलात्मा मुनिगणों द्वारा मनन किया गया है। ध्यान्-धारणा, समाधि आदिके द्वारा आस्वादन किया गया है और वे आनन्दके सागरमें निमग्न हो गये हैं।

इन लीलाओंके आकर्षणसे उनका मन निर्गुण तत्वसे खिंच जाता है

"परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीत चेता राजर्षे आख्यानं तदधीतवान्॥" (भा० २-१-९)

परमनिष्ठावान् श्रीशुकमुनि कहते हैं, हे राजर्षे! इन लीलाओंमें कुछ ऐसा आकर्षण है कि मन स्वतः ही खिंचा हुआ चला जाता है। मनको परिश्रम करके लगाना नहीं पड़ता। इन वृन्दावनविहारीकी लीला केवल सुननेसे और कहनेसे ही पराभक्ति की कृपा प्राप्त हो जाती है। "श्रद्धान्वितोऽनु शृणुयादथ वर्णयेद् यः" केवल श्रद्धावान् बनकर सुने और कहे।

द्वारकाकी लीला आदिमें तो आचरणीय आदर्श भरे पड़े है। प्रसंगवश हम केवल एक उदाहरण देते हैं। श्रीसुदामा ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके गुरुगृह वासके समयके परमप्रिय सखा जब द्वारिकामें आये। भगवान्ने उन्हें दूरसे ही देखकर दौड़कर गलेसे लगा लिया और आलिगंन पश्चात् अपने महलमें स्वर्णरचित पलंगपर बैठाकर सबसे पहले उनके चरण धोये और सबको चरणामृत दिया। फिर सारे परिवार अपनी पट्ट महिषी श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा, प्रभृति सबको सेवामें लगा दिया। कोई पंखासे हवा कर रही है, कोई चन्दन लेपनके लिये कटोरी लिये उपस्थित है। सारा राजमहल आश्चर्य चकित है कि प्रभुकी सेवा परायणता, ब्राह्मणोंके प्रति अति सम्मानका आदर्श, बालबन्धुके मिलनेपर हृदयमें कितना उल्लास है? नहीं तो कहाँपर यह दरिद्र ब्राह्मण! कहाँ राजाधिराज प्रभु!!

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा।
क्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च॥
योऽसौ त्रिलोक गुरुणा श्रीनिवासेन्सम्भृतः।
पर्यंकस्थाश्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजोयथा॥

बड़े भाईकी तरह सम्मानित करते हुए अपने पलंगपर बैठाकर सब प्रकारसे पूजन किया।

तात्पर्य यह है कि सूर्योदयसे पूर्व शय्याका त्याग, बड़ोंकी वन्दना गौदान, ब्राह्मणों का अभिवादन, संध्यावन्दन् आदि नित्यनियमोंका विधिपूर्वक पालन, अतिथि सेवा, ये सब श्रीकृष्णके आदर्श गुण हैं जो गृहस्थोंके लिये अनुकरणीय हैं।

●

श्रीमद्भागवत-भवनकी आधारशिला—भगवत्प्रेरणा

श्रीदेवधर शर्मा
उपमंत्री, श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण—ये शब्द एक दूसरेके पूरक और पर्यायवाची नाम हैं। एकका वाङ्मयस्वरूप है, दूसरेका मूर्त विग्रह। दोनों ही कोटि-कोटि हिन्दुओंके प्राण, परमाराध्य और परमोपास्य हैं।

आध्यात्मिक जगत्के मूर्धन्य विद्वान् स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीके शब्दोंमें "श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णकी पूर्णताका प्रतिपादन करती है और उन्हींमें समा जाती है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्णमें श्रीमद्भागवत। श्रीमद्भागवतको जानना श्रीकृष्णको जानना है और श्रीकृष्णको जानना श्रीमद्भागवतको। वास्तवमें श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं।"

अतः ऐसी अभिन्नताकी स्थितिमें यह कैसे सम्भव हो सकता था कि भगवान् श्रीकृष्णके पावन जन्मस्थानपर उनकी मंगल-मूर्तिकी प्रतिष्ठा तो हो जाय और उनके वाङ्मय स्वरूप श्रीमद्भागवतकी प्रतिष्ठा न हो। किन्तु यहाँ एक बार ऐसा ही हुआ और इस असङ्गतिकी ओर न तो श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघका ध्यान गया और न किसी अन्य व्यक्ति-विशेषका।

अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णको स्वयं सचेष्ट होना पड़ा और उन्होंने श्रीमद्भागवतकी स्थापनाके लिये एक विशाल भवनके निर्माणकी प्रेरणा अपनी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा-रानीके अनन्योपासक स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजके अतःकरणमें उत्पन्न की। जब श्रीस्वामीजीने अपनी भगवत्प्रेरित भावना व्यक्त की तब श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—"यही विचार मेरे मनमें भी आ रहा है कि यदि भागवत-भवनका निर्माण हो जाय तो कितना अच्छा हो।"

इस भगवत्प्रेरणाके उपरान्त जब श्रीमद्भागवत-भवनके निर्माणयोग्य स्थानका चुनाव होने लगा तब किसीने भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-भूमि वृन्दावनका सुझाव दिया, किसीने श्रीराधारानीके जन्मस्थान रावलग्रामको उपयुक्त बतलाया और किसीने गिरिराजके निकटवर्ती कुसुमसरोवरकी सर्वोत्कृष्टता सिद्धकी, किन्तु जब भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छा इन स्थलोंमें श्रीमद्भागवत-भवनके निर्माणकी नहीं थी तब क्या हो ? कोई निर्णय नहीं हो सका।

कुछ समय पश्चात् श्रीभाईजी और श्रीस्वामीजी दिल्ली पधारे। संयोगवश मैं भी वहीं था और मुझे यह ज्ञात हो चुका था कि उन दोनों महानुभावोंके मस्तिष्कमें श्रीमद्-भागवत-भवनके निर्माणकी योजना काम कर रही है। अतः मैंने अपनी अन्तःप्रेरणाके अनुसार श्रीभाईजी और श्रीस्वामीजीसे प्रार्थना की कि "यदि श्रीमद्भागवत-भवनका निर्माण श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर करवाया जाय तो उपयोगिताकी दृष्टिसे सर्वोत्तम रहेगा। एक तो उससे दुर्दशाग्रस्त श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका गौरव बढ़ेगा, दूसरे देश-विदेशके जो अगणित यात्री वहाँ आते हैं, वे सब उससे लाभान्वित होंगे।"

भगवत्कृपासे मेरी यह प्रार्थना श्रीभाईजी और श्रीस्वामीजीको अच्छी लगी। दोनोंने मुझे आदेश दिया कि मैं इस सम्बन्धमें अपने "श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ" के सदस्योंसे बात करके उनकी स्वीकृति प्राप्त करूँ। मैंने सर्वप्रथम संघके संस्थापक श्रद्धेय सेठ श्रीजुगलकिशोरजी बिरलासे बातकी और उन्होंने तत्काल अपना हार्दिक समर्थन प्रदान करते हुए उस योजनाकी स्वीकृतिके लिये संघकी बैठक बुलानेका परामर्श दिया। समयानुसार संघकी बैठक बुलायी गयी और उसने भी सहर्ष सर्वसम्मतिसे भवनके निर्माणकी योजनाको लोकोपकारी कहकर उसके लिये अपनी स्वीकृति दे दी।

उसके पश्चात् श्रीमद्भागवत-भवनका नक्शा बनानेके लिये श्रीमणिलाल राय इन्जीनियरसे अनुरोध किया गया। वे नई दिल्ली, कानपुर और मोदीनगरमें श्रीबिरलाजी, श्रीसिंहानियाजी तथा श्रीमोदीजी द्वारा निर्मित मन्दिरोंके नक्शे बनाकर प्रसिद्धि प्राप्तकर चुके हैं। यद्यपि श्रीराय बाबू बहुत व्यस्त इन्जीनियर हैं और जल्दी कोई नया काम हाथमें नहीं लेते, तथापि उन्होंने श्रीमद्भागवत-भवनके नक्शेको प्राथमिकता दी और बहुत कुछ ही दिनोंमें एक सुन्दर नक्शा बनाकर दे दिया। वह नक्शा संघद्वारा स्वीकारकर लिये जानेके पश्चात् मथुराकी नगरपालिकासे स्वीकृत करा लिया गया।

अब प्रश्न उठा कि श्रीमद्भागवत-भवनका शिलान्यास किससे कराया जाय ? विचार-विमर्शके बाद संघने यह निश्चय किया कि जिनके हृदयमें श्रीमद्भागवत-भवनके निर्माणकी भावना उद्भूत हुई, उन्हींसे उसका शिलान्यास भी कराया जाय। यह बड़ा ही कठिन काम था। उस समयतक श्रीस्वामीजी दूसरी बार काष्ठ-मौन ले चुके थे और श्रीभाईजी उन दिनों "कल्याण" के विशेषांकके सम्पादनमें अत्यधिक व्यस्त थे। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था। फिर एक संन्यासी, दूसरे संकोची स्वभावके सन्त। दोनोंही सार्वजनिक समारोहों और उनके द्वारा प्राप्त मान-सम्मानसे दूर भागने वाले ! आशा नहीं

थी कि वे लोग शिलान्यासकी प्रार्थना स्वीकार करेंगे। किन्तु जहाँ स्वयं श्रीकृष्ण ही सब कुछ कर रहे हों, वहाँ किसीकी अस्वीकृति या आनाकानीका अस्तित्व कहाँ ? श्रीभाईजीने स्वभावके विरुद्ध श्रीमद्भागवत-भवनका शिलान्यास करना स्वीकार कर लिया और उसके लिये श्रीस्वामीजीको भी तैयार करनेका आश्वासन दे दिया। वहीं माघ शुक्ला दशमी संवत् २०२१ तदनुसार ११ फरवरी १९६५ को शिलान्यासका मुहूर्त निश्चित हो गया।

उसी समय कुछ सज्जनोंके हृदयोंमें यह भगवत्प्रेरणा हुई कि शिलान्यासके साथ-साथ श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर श्रीमद्भागवतके १०८ सप्ताह-पारायण और एक सप्ताह कथाका आयोजन भी होना चाहिये। उसकी योजना भी बन गयी और जब उसे अन्तिम रूप दिया जाने लगा तब मथुरा-वृन्दावनमें भागवती विद्वानोंकी अधिकताकी दृष्टिसे सप्ताह-पारायणकी संख्या २५१ कर दी गयी और सप्ताह-कथा भी एकके स्थानपर दो हो गयीं।
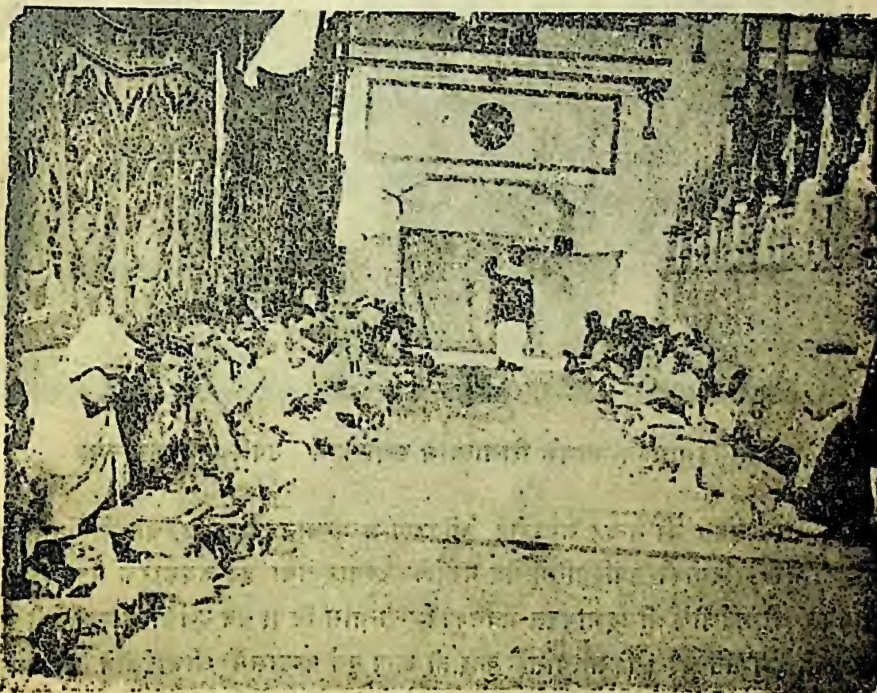
श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर आयोजित श्रीमद्भागवत-पारायण-पाठका एक दृश्य

समस्त कार्यक्रम निर्धारित होते-होते कुल एक सप्ताहकी अवधि हाथमें रह गयी। इसी स्वल्प समयमें पारायण तथा कथाके लिये दो बड़े-बड़े पण्डाल बनवाये गये और लगभग पाँच सौ अतिथियोंके लिये आवास एवं भोजनादिका प्रबन्ध किया गया। प्रबन्ध करते समय अनेकों प्रकारकी विघ्न-बाधाएं सामने आयीं, किन्तु श्रीकृष्ण-कृपासे सारे कार्य समयपर सुचारुरूपेण सम्पन्न हो गये।

शिलान्यासके एक सप्ताह पहलेसे एक सप्ताह बाद तक भगवान् श्रीकृष्णका जन्म-स्थान पाठ-पारायणकी मधुर ध्वनिसे मुखरित होकर श्रीमद्भागवतमय बन गया। सैकड़ों

वर्षोंसे वहाँकी जली हुई उपेक्षित धरती श्रीमद्भागवतकी अमृत-वर्षासे आप्यायित हो गयी। उसका कण-कण आह्लादित हो उठा और भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीमद्भागवतके जय-घोषोंसे दिशाएँ गूँज उठीं। औरंगजेबके अत्याचारके बाद पहली वार श्रीकृष्ण-जन्मस्थानने सुखकी साँस ली और अपने पुनरुत्थानके लिये करवट बदली।
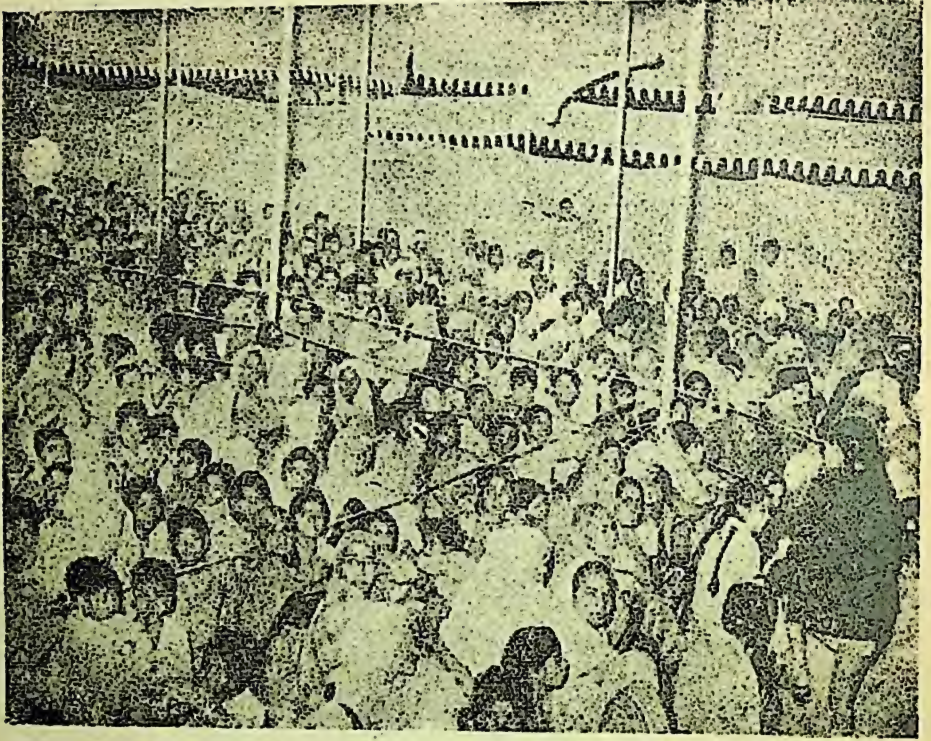
श्रीमद्भागवत-भवनके शिलान्यास समारोहमें उपस्थित जन-समूह

उस समय जो सुन्दर समारोह श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर हुआ, वह वर्णनातीत है। हजारों नर-नारियोंकी उपस्थितिमें वेद-मन्त्रोंके उच्चार तथा जय-जयकारके मध्य जब परम भागवत श्रीभाईजीने श्रीमद्भागवत-भवनका शिलान्यास किया तब दर्शकोंको वहाँ दैवी वातावरणकी अनुभूति हुई। शिलान्यासके कुछ ही क्षण पूर्व पण्डालमें श्रीभाईजीने जो मर्मस्पर्शी भाषण दिया, उसे सुनकर तो श्रोतागण विभोर हो उठे। श्रीभाईजीने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषणमें श्रीमद्भागवतकी महत्ताका प्रतिपादन करते हुए जब उसके लिये विशाल भवनके निर्माणकी चर्चाकी, तब उसके पीछे प्रच्छन्न रूपसे काम करनेवाली भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणा श्रोताओंके समक्ष प्रत्यक्ष हो उठी। श्रीभाईजीने भावावेशमें कहा :—

"भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही भागवत-भवनके निर्माणका संकल्प हुआ है और उन्हींकी कृपासे यह पूर्ण होगा। भगवान् श्रीकृष्ण ही इस संस्थाके संचालक हैं और वही इसके दाता भी हैं। वे ही सहायक हैं, वे ही रक्षक हैं। वास्तवमें ऐसे कार्योंमें जो धन व्यय होता है, वही सार्थक है। धन किसीके पास रहा नहीं, रहेगा भी नहीं। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति उसे भगवान्की वस्तु मानकर भगवान्के ही कार्योंमें व्यय करते हैं। इस भवनका

न केवल धार्मिक महत्व है, अपितु सांस्कृतिक और शैक्षणिक महत्व भी है। श्रीमद्भागवत जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण वाङ्मय विग्रह है। उसके दर्शनका सौभाग्य इस भवनके शिला-लेखों और तत्सम्बन्धी चित्रों द्वारा सबको समान भावसे प्राप्त होगा। इसमें श्रीमद्भागवत का प्रामाणिक पाठ तो दीर्घ-कालके लिए सुरक्षित रहेगा ही, यहाँसे दर्शनार्थी इस महान् लोकोपकारी ग्रन्थके स्वाध्यायकी प्रेरणा प्राप्त करेंगे और इसके उपदेशोंसे लौकिक, पारलौकिक कल्याणके भागी होंगे। संक्षेपमें इस भागवत-भवन द्वारा ऐसे भगवद्भावका वितरण होता रहेगा जिससे व्यक्ति, समाज देश और विश्व सबका महान् मंगल होगा।"

श्रीभाईजी एक आदर्श गृहस्थ, आदर्श वैष्णव एवं आदर्श सन्त हैं। उनके ये हार्दिक उद्गार श्रीमद्भागवत-भवनके निर्माणद्वारा साकार एवं सार्थक होंगे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। संघकी यह योजना है कि श्रीमद्भागवत-भवनके निर्माणके साथ-साथ उससे सम्बन्धित समस्त साहित्यका संग्रहालय स्थापित करके वहाँ उसके अध्ययन-अध्यापन एवं शोधकी समुचित व्यवस्थाकी जाय और उसके जितने भी विद्वान् एवं कथाकार यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं उन सबके संगठन द्वारा स्वदेश विदेशमें श्रीमद्भागवतकी लोकोपकारी शिक्षाओंका प्रचार-प्रसार किया जाये। इस प्रकार संक्षेपमें श्रीमद्भागवत-भवन केवल एक दर्शनीय स्थापत्य-कलाका ही नहीं, अपितु एक महान् प्रेरणा-केन्द्र भी रूप ग्रहण करेगा।

श्रीमद्भागवतके चौबीस हजार श्लोकोंके शिलालेखों तथा उनसे सम्बन्धित चित्रोंके लिये स्थान निकालनेके कारण भवनका आकार-प्रकार बहुत बड़ा होगा। उसकी कुर्सी भी जन्मस्थानके धरातलसे लगभग पच्चीस फुट ऊँची होगी। उसका शिखर लगभग डेढ़ सौ फुट ऊँचा जायेगा, अतः इन्जीनियरोंके अनुमानके अनुसार श्रीमद्भागवत-भवनके निर्माण पर लगभग पचीस-तीस लाख रुपये व्यय होनेकी सम्भावना है। आयोजन अत्यधिक विशाल है और उसके लिये संघके पास साधनोंका सर्वथा आभाव है, किन्तु फिर भी भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे निर्माण-कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है।

प्रारम्भिक व्ययके लिये श्रीभाईजी और श्रीस्वामीजीके परम आत्मीय श्रीविष्णु-हरिजी डालमियाने अपने औद्योगिक प्रतिष्ठानोंसे कई लाख रुपये दिलवाये हैं और सम्भव हुआ तो आगे भी दिलायेंगे, किन्तु यह महान् निर्माण-कार्य किसी एक व्यक्तिके वशका नहीं है। इसमें समस्त श्रीकृष्ण-प्रेमियोंका सहयोग अपेक्षित है। संघने दाताओंकी सुविधाके लिये अपनी संस्थाको सरकार द्वारा दानकरसे मुक्त करवा रक्खा है, पंजाब नेशनल बैंककी मथुरा-शाखामें खाता खोल रक्खा है और अपने श्रीकृष्ण-मन्दिरमें एक विशेष भेंट-पात्र रख छोड़ा है। संघको इस बातकी प्रसन्नता है कि इन सुविधाओंसे उदार दाताओंका ध्यान श्रीमद्भागवत-भवनकी ओर आकर्षित हो रहा है और श्रीकृष्ण-मन्दिरमें रक्खा गया विशेष भेंट-पात्र उत्सवों एवं मेलोंके अवसरपर बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है।

अतः आशा ही नहीं, विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे श्रीमद्भागवत-भवनका जो निर्माण-कार्य प्रारम्भ किया गया है, वह अवश्यमेव पूर्ण होगा और इस पावन अनुष्ठानमें भाग लेनेसे कोई भी कृष्णानुरागी वंचित नहीं रहेगा।

●

श्रीकृष्ण-सन्देशके आजीवन सदस्य

(१) सर्वश्री विष्णु एजेन्सीज प्रा० लि०
३, चितरंजन ऐवन्यू, (साउथ)
कलकत्ता-३१

(२) मनोहरलाल भरोदिया
४२, विवेकानंद रोड,
कलकत्ता-७

(३) सर्वश्री गोयल ट्रेडर्स
कालकादेवी,
बम्बई

(४) सेठ श्रीमुंगतूरामजी जयपुरिया
स्वदेशी हाउस,
कानपुर

(५) श्रीदीपचंदजी किशनलाल पोद्दार
२५, नेताजी सुभाष रोड,
कलकत्ता-१

(६) श्रीदीपचन्दजी किशनलाल पोद्दार
नं० २, अली असगररोड,
बंगलौर-१

(७) श्रीमान् सेठ सीतारामजी कांया
सर्वश्री गनपतराय सीताराम,
२, माधवकृष्टो सेठ लेन,
कलकत्ता-७

(८) श्रीवासुदेवजी अग्रवाल
स्टैण्डर्ड मरकैन्टाइल कं०
चित्रगुप्त पथ, पटना-१

(९) श्रीकैलाशजी सेकसरिया
सेकसरिया चेम्बर्स,
१३९, मेडोज़ स्ट्रीट,
फोर्ट, बम्बई

(१०) सर्वश्री सेवाराय बॉक्साइट
प्रोडक्ट्स कं० प्रा० लि०
सी-२०४, डिफेन्स कालोनी
नई दिल्ली-३

(११) श्रीगजानन्द हरीशंकर
१६, इण्डिया एक्सचेन्ज प्लेस,
कलकत्ता-१

(१२) सेठ गंगाधरजी माखरिया,
बिरला ब्रदर्स प्राईवेट लि०
१५, इण्डिया एक्सचेन्ज प्लेस
कलकत्ता-१

(१३) मैनेजर मंगनीराम रामकुमार-
बाँगड़ चैरिटेबिल ट्रस्ट,
६५, सर हरीराम गोयनका स्ट्रीट
कलकत्ता-७

(१४) सर्वश्री रामविलास नंदलाल
२१५, २१७, कालबादेवी रोड,
पोस्टबाक्स नं० २५४४,
बम्बई-२

(१५) श्रीकाशीनाथजी तापड़िया
गंगानिकेतन,
१६, रिवर साइड रोड,
बारिकपुर (२४ परगना)

(१६) श्रीप्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका
६, ओल्ड पोस्ट आफिस स्ट्रीट
कलकत्ता

(१७) श्रीवेणीशंकर शर्मा, एडवोकेट
२२६, चितरंजन ऐवेन्यू,
कलकत्ता-६

(१८) श्रीरामप्रसादजी राजगढ़िया
राजगढ़िया चैरिटेबुल एस्टेट
१३, हेरिंग रोड
कलकत्ता-१६

(१९) मैनेजिंग एजेन्ट्स,
सर्वश्री हुकुमचन्द जूट मिल्स लि०
९, ब्रेबोर्न रोड,
कलकत्ता-१

(२०) श्रीमती गायत्रीदेवी बाजोरिया
२१२, कार्नवालिस स्ट्रीट,
कलकत्ता-६

(२१) श्रीनन्दकिशोरजी झाँझरिया
१२, सनी पार्क,
कलकत्ता-१९

(२२) श्री बी० एन० पुरी
२७-बी, पूसा रोड,
नयी दिल्ली

(२३) श्रीधर्मदासजी प्रभुदासजी मेहता,
मोती मैनसन खेत,
वाड़ी लैन, ५-बी
बम्बई-४

(२४) श्रीहरीचरण लाल एण्ड सन्स
नयी मंडी,
भरतपुर

(२५) श्रीगौरीशंकरजी लोहिया
सर्वश्री सनेहीराम डूंगरमल,
तिनसुकिया (आसाम)

(२६) श्रीईश्वरी प्रसादजी गोयनका
मैसर्स रामदत्त रामकिशनदास,
९, ब्रेबोर्न रोड,
कलकत्ता-१

(२७) श्रीदयाशंकर भार्गव, एडवोकेट,
कचहरी रोड,
अजमेर

(२८) आर्य कन्या गुरुकुल
पोरबन्दर

(२९) श्री जी० पी० बिरला
१५, इण्डिया एक्सचेन्ज प्लैस,
कलकत्ता-१

(३०) श्रीहरीरामजी साबू
द्वारा मैसर्स नेशनल इंजीनियरिंग
इण्डस्ट्रीज् लि०
जयपुर

(३१) श्रीजमनाधरजी थिरानी
मैसर्स नेशनल इंजीनियरिंग
इण्डस्ट्रीज लि०
जयपुर

(३२) श्रीमदनलालजी मोदी
मैसर्स नेशनल इंजीनियरिंग
इण्डस्ट्रीज लि०
जयपुर

(३३) लाला श्रीगणेशीलालजी
प्रोप्राइटर,
मैसर्स लालजीमल टीकाराम,
नयागंच,
हाथरस

(३४) श्रीवनवारीलालजी डालमिया
७४०, सेन्ट्रल एवन्यू,
नागपुर-२

(३५) श्रीग्रमरचन्दजी हरीराम डागा
मु० पो०-दारव्हा
जिला - यवतमाल
(महाराष्ट्र)

(३६) श्रीमती हरहाइनेस महारानी
साहिवा आफ करौली-स्टेट
'भंवर विलास' पैलेस
करौली (राजस्थान)

(३७) श्रीविलासरायजी रूंगटा
पिलानी (राजस्थान)

(३८) श्रीरामेश्वरलालजी नोपानी
सायनागॉग स्ट्रीट
कलकत्ता-१

(३९) श्रीश्यामसुन्दरजी डालमिया
सर्वश्री बी० एन० अग्रवाल
एन्ड कं०
पो० वाक्स न० २१
गया (विहार)

(४०) श्रीपतराम चन्देली
जामेयर कं० प्रा० लि०
लिटिल रसल्स स्ट्रीट
कलकत्ता-१६

(४१) श्रीरंगलालजी देवकीनंदन बगड़िया
१६५ चितरंजन एवेन्यू
कलकत्ता-७

(४२) श्रीभगवती प्रसादजी खेतान
ग्रलकापुरी
५२/२ वालीगंज सरकुलर रोड
कलकत्ता-१९

(४३) श्रीमती कमलादेवी झँवर
५१-सी गरिया हाट रोड
कलकत्ता-१९

आइये, भगवान् श्रीकृष्णके पावन प्राकट्यको मंगल वेलामें हम सब मानव-मात्रके लिये यह शुभकामना करें कि :—

- सभी सुखी हों,
- सभी निरोग हों,
- सभी दूसरोंके सद्गुण देखें

और

- किसी को कोई दुःख न हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

—

In the days of yore when barbarism rules supreme, people knew not many things that could shower pleasure and happiness in their mundane life. They were solaced with what they had and could not even dream of the common items of present-day world.

With evolution of civilization human society discovered many things which enriched life and enhanced joy. To-day, Tea has become indispensable as a source of vigour and vitality. A cup of tea not only sparks cheerfulness it creates friendly atmosphere too. Naturally one must look for the best and for that always remember—

BENGAL TEA CO., LTD.

11, Brabourne Road,

Calcutta-1

Phone No. 22-0181 (4 lines)

★

GARDENS

POLOI TEA ESTATE
DOOLOOGRAM TEA ESTATE
PALLORBUND TEA ESTATE

भागवत-भवनके शिलान्यास-समारोहकी झलकियाँ

शिलान्यास-संस्कार निरत श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (मध्यमें) मंत्रोच्चारण करते हुए पं० श्रीरामजीलालजी शास्त्री
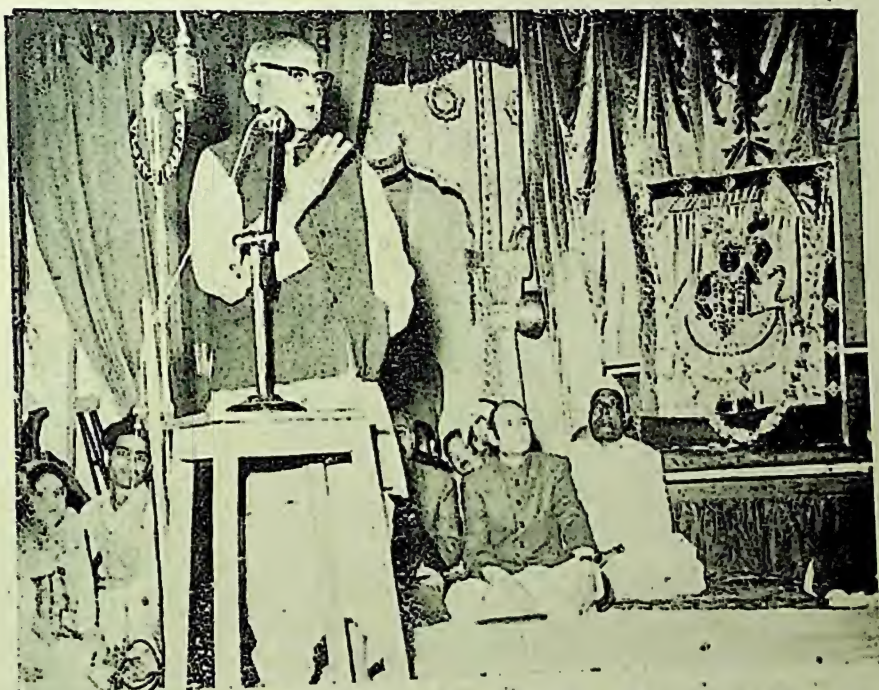
शिलान्याससे पूर्व भागवत-भवनकी आवश्यकता और उसके महत्वपर प्रवचन करते हुए 'कल्याण'-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
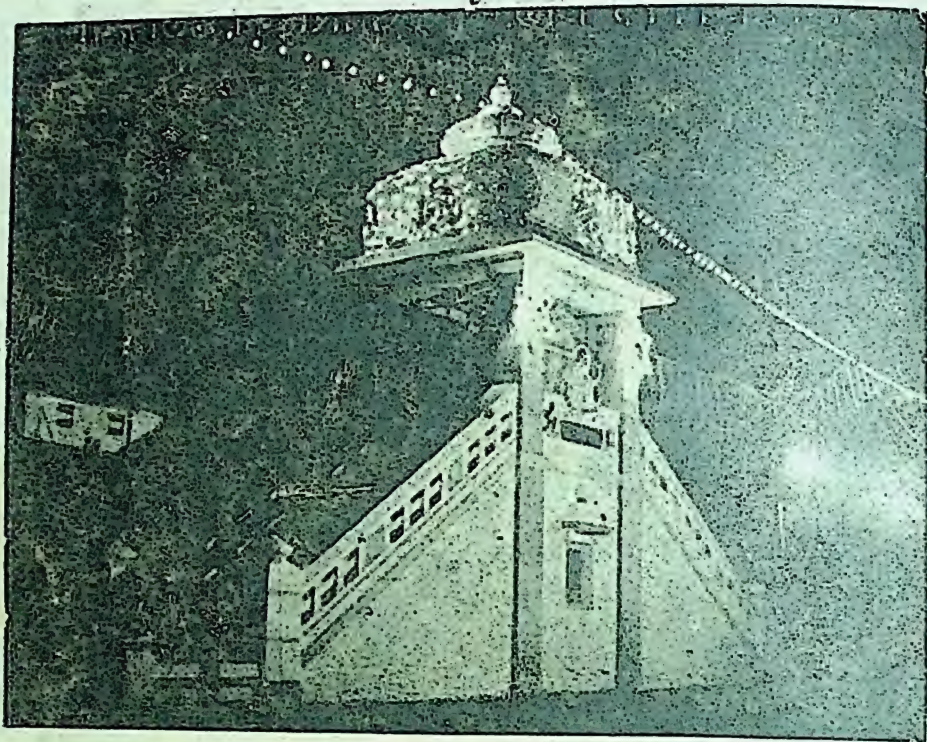
भगवान् श्रीकृष्णके पावन जन्मस्थलपर विद्युत्प्रकाशसे जगमग श्रीकृष्ण-चबूतरा जो मुगलकालके पश्चात् प्रथमबार श्रीमद्भागवतके पारायण-पाठके मंगल उद्घोषोंसे मुखरित हो उठा
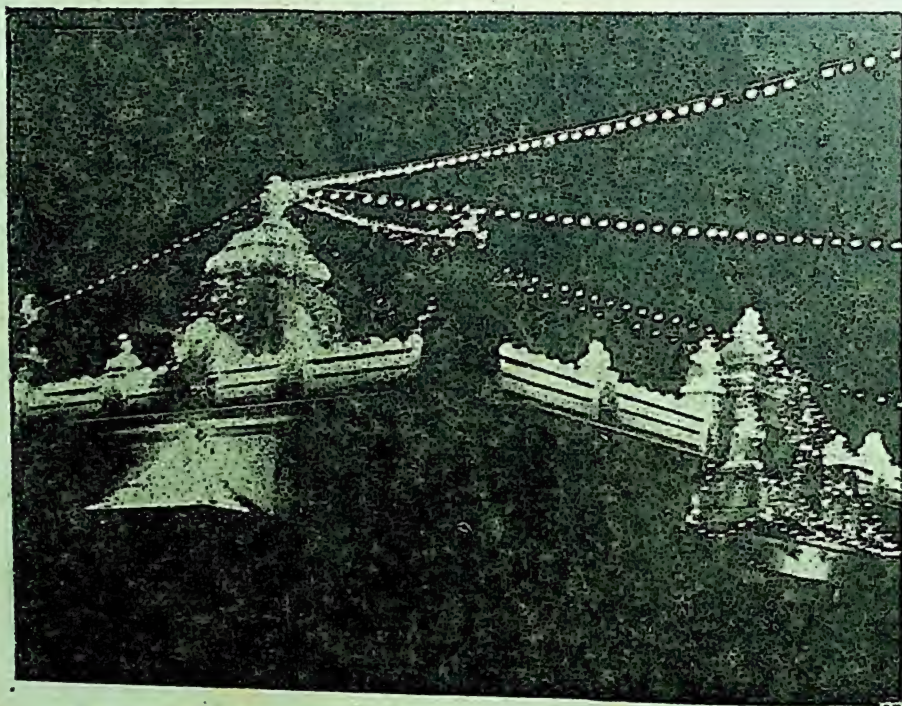
विद्युत्प्रकाशसे अन्धकारको चुनौती देते हुए श्रीकेशवदेव मन्दिरके शिखर

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुराके लिए श्रीदेवधर शर्मा द्वारा प्रकाशित एवं राधाप्रेस, दिल्ली-३१ में मुद्रित ।

श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान की पत्रिका

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

ष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर श्रद्धाञ्जलि-भाषण
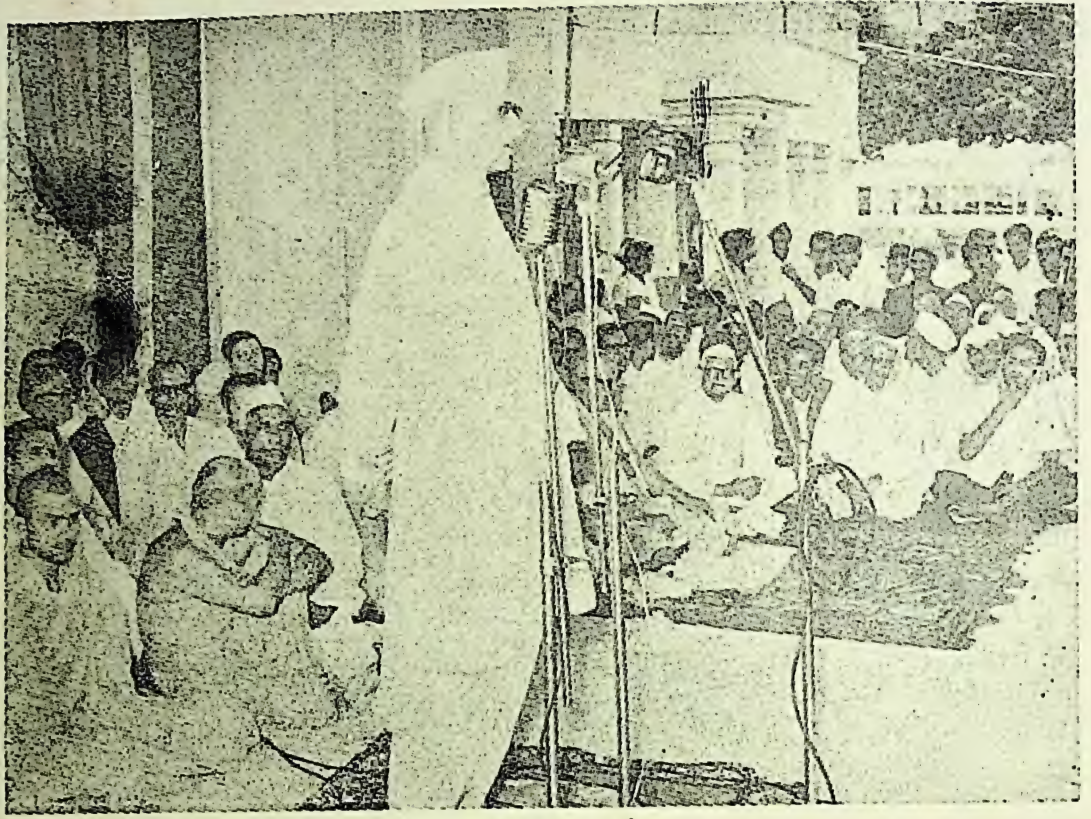
श्रीमुरारजी देसाई अपार जन-समूहके समक्ष श्रद्धाञ्जलि-भाषण करते हुए।
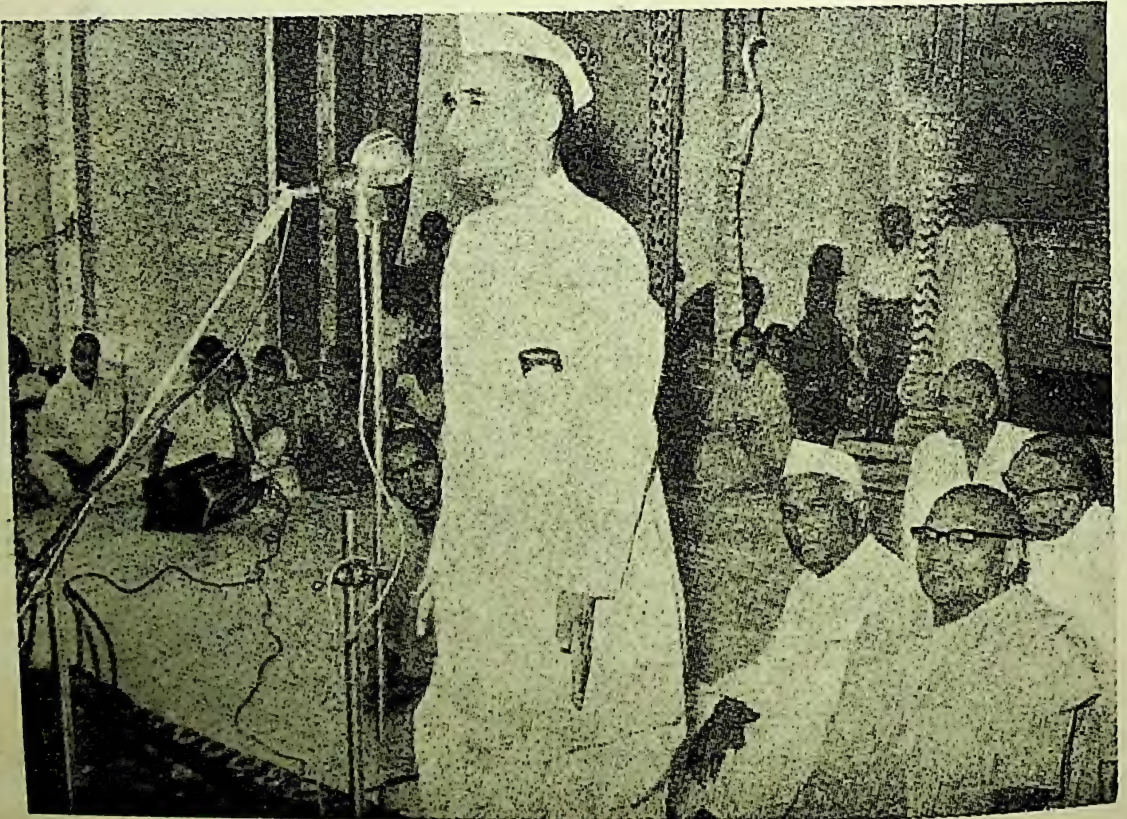
श्रीविश्वनाथ दासजी श्रद्धाञ्जलि भाषण करने उठे तब भाव-विभोर हो गये।

श्रीकृष्ण-सन्देश
(द्वैमासिक)

आत्मानं सततं विद्धि।

वर्ष—२] आश्विन-कार्तिक २०२३ वि० [अङ्क—२

परामर्श-मण्डल

अनन्त श्रीस्वामी अखण्डानन्द सरस्वती
श्रीवियोगी हरि
श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार
डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

●

सम्पादक
हितशरण शर्मा, एम० ए०, साहित्यरत्न

●

प्रबन्ध-सम्पादक
देवधर शर्मा

●

प्रकाशक
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
दूरभाष : ३३८

●

मूल्य
एक रुपया
वार्षिक
सात रुपया

आवरण-चित्र
गीतोपदेश : काश्मीर कलम
अठारहवीं शताब्दी

अनुकृतिकार
के० सी० आयंन्

मुद्रक :
राधा प्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१

विषय-संकेत

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।

वर्ष २ आश्विन-कार्तिक २०२३ अङ्क २

एकरस सदा ब्रजबासी छत्रधारी है

[श्रीनागरीदासजी]

सुर औ असुर नर नाग जे बली तें बली,
तिनकी न चली मन की बिसारी है।
राव अमरावती कौ धूरि में लुटत इन्द्र,
ऐसी रजधानी घोष मोच्छ हू तें भारी है।
भारी है गोबर्धन आतपत्र फेरचौ सब,
ऊपर लै 'नागर' अटल राज दीनौं शुभकारी है।
और छत्रधारनि के कई छत्र भंग होत,
एकरस सदा ब्रजबासी छत्रधारी है ।।

देवी लक्ष्मीका मन्त्र एवं ध्यान

दत्त्वा तस्मै च कवचं मन्त्रं च षोडशाक्षरम् ।
संतुष्टश्च जगन्नाथो जगतां हितकारणम् ।।

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं नमो महालक्ष्म्यै हरिप्रियायै स्वाहा ।
ददौ तस्मै च कृपया इन्द्राय च महामुने ।।

ध्यानं च सामवेदोक्तं गोपनीयं सुदुर्लभम् ।
सिद्धैर्मुनीन्द्रैर्दुष्प्राप्यं ध्रुवं सिद्धिप्रदं शुभम् ।।

श्वेतचम्पकवर्णाभां शतचन्द्रसमप्रभाम् ।
वह्निशुद्धांशुकाधानां रत्नभूषणभूषिताम् ।।

ईषद्धास्यप्रसन्नास्यां भक्तानुग्रहकारकाम् ।
सहस्रदलपद्मस्थां स्वस्थां च सुमनोहराम् ।।

शान्तां च श्रीहरेः कान्तां तां भजेज्जगतां प्रसूम् ।।

ध्यानेनानेन देवेन्द्र ध्यात्वा लक्ष्मीं मनोहराम् ।
भक्त्या दास्यसि तस्यै च चोपचाराणि षोडश ।।

स्तुत्वानेन स्तवेनैव वक्ष्यमाणेन वासव ।
नत्वा वरं गृहीत्वा च लभिष्यसि च निर्वृतिम् ।।

स्तवनं शृणु देवेन्द्र महालक्ष्म्याः सुखप्रदम् ।
कथयामि सुगोप्यं च त्रिषु लोकेषु दुर्लभम् ।।

[श्रीब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपति खण्ड २२ । १८—२६]

●

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर—
श्रेणी श्यामल कोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम् ।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः,
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौमुग्धो हरिः क्रीडति ॥

श्रीमद्भागवतमें
गोपी गीत

—अनन्त स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी 'सरस्वती'

जिसके हृदयमें सच्चे प्रेमका उदय हुआ है, उसकी महिमाका वर्णन करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं—"वह अपवित्रको पवित्र बना देता है। उसके द्वारा उसका सम्पूर्ण कुल पवित्र हो जाता है। पृथ्वी उसके कारण सौभाग्यवती हो जाती है।

भगवान् सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप हैं। मनुष्य जब भगवत्प्राप्तिके लिए चलता है, तब आनन्दस्वरूप भगवान्के स्मरण मात्रसे उसके हृदयमें आनन्दकी अभिव्यक्ति होने लगती है।

प्रेमके दो रूप हैं—प्यास और तृप्ति।

ईश्वरकी प्राप्तिके लिए जो हृदयमें व्याकुलता है उसका नाम है प्यास—इस व्याकुलताके बिना ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुआ करती।

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढन गयी, रही किनारे बैठ॥

ज्ञानकी प्यासका नाम जिज्ञासा है। जिसमें ज्ञानके लिए प्यास-जिज्ञासा ही नहीं है, उसे ज्ञान मिलेगा कहाँ से ?

इसी प्रकार मोक्षके लिए जो प्यास है, उसका नाम मुमुक्षा है और भगवत्प्राप्तिके लिए जो प्यास है, उसका नाम भक्ति है।

नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, मनमोहन, प्राणप्यारा हमें प्राप्त हो, उसे प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा-तड़पन मनमें जागे, तब प्रेमका एक अंश मनमें आया समझना चाहिए।

प्रेमका दूसरा रूप है तृप्ति। जब उस लीलाविहारी, नटनागर, गिरिधारीकी चर्चा सुनकर, उसका स्मरण करके, उसके लिए कोई कामकरनेसे हृदयमें रसका, सुखका अनुभव हो, तो समझो कि अब प्रेमका अनुभव हुआ।

धनके लिए रोये, स्त्रीके लिए रोये, पुत्रके लिये रोये, मित्र-परिवारके लिये रोये, स्वास्थ्य या सम्मानके लिये रोये, इस प्रकार रोते-रोते जन्म-जन्म, युग-युग बीत गये। अपने रोनेका दुःख बहुत देखा, किन्तु रोनेका आनन्द-रोने का सुख नहीं देखा। रोनेका सुख तब है, जब ईश्वरकी प्राप्तिके लिए नेत्रसे अश्रु-बिन्दु गिरें।

बिना इस रुदनके ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। जबतक तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये हृदयमें व्याकुलता नहीं होती, चित्तमें वेदना नहीं होती, ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

मनुष्य-जीवनमें आस्तिक होना; ईश्वरको मानना भिन्न वस्तु है, और ईश्वरसे प्रेम होना भिन्न वस्तु। अनन्त विशाल समुद्रको देखकर अथवा प्रातः सूर्योदय होते देखकर हाथ जोड़ लेना आस्तिकता है, लेकिन यह भक्ति नहीं है। भक्ति वहाँसे प्रारम्भ होती है, जहाँ ईश्वरकी प्राप्तिके लिये हृदयमें व्याकुलता आती है। इसके पश्चात् भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलादिको श्रवण करके, स्मरण-मनन करके रस आता है। भजनमें आनन्द आता हैं।

जो शुष्क-स्वभाव हैं, उनकी बात छोड़दो। जो सहृदय हैं, उनकी बात की जा रही है। सामान्य मनुष्यके जीवनमें प्यास और तृप्तिमें से कौन श्रेष्ठ है? प्यास, क्योंकि ईश्वर मिलेगा तब तृप्ति होगी। रस तो उसे प्राप्त करके प्राप्त होगा। जबतक वह मिला नहीं है, तबतक उसकी प्राप्तिके लिये प्यास होनी चाहिये।

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि हरेस्त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो करुणैकसिन्धो हा हन्त! हा हन्त! कथं नमामि॥

हे अनाथनाथ! हे करुणावरुणालय! आपके दर्शनके बिना हाय! हाय! इन अभागे दिनोंको मैं कैसे व्यतीत करूँ!

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं श्रीकृष्णविरहेण मे॥

श्रीकृष्णके वियोगमें मेरे लिये एक-एक पल युगोंके समान बीत रहा है। मेरे कीनेत्रोंसे वर्षा झड़ी लगी है और मेरे लिये सम्पूर्ण जगत् सूना हो गया है।

जो नास्तिक हैं, वे वहुत समझदार हैं, जो आस्तिक हैं, वे आदरणीय हैं, क्योंकि वे विना देखी स्वयं अनुभूत वस्तुको केवल सुनकर मानते हैं, उसपर श्रद्धा करते हैं और उसे सिर झुकाते हैं, किन्तु प्रेमीकी स्थिति इन दोनोंसे सर्वथा भिन्न है।

'ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा,
तं निर्गुणं निष्क्रियम्।
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं,
पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।।

अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरम्।
कालन्दी पुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति ।।

प्रेमी कहता है— ध्यानका सुदृढ़ अभ्यास करके, अपने मनको वशमें करके, योगी आदि किसी निर्गुण निष्क्रिय ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं, तो करें। हमें तो, हमारे नेत्रों को आनन्दित करने वाली वह कालिन्दी पुलिनपर दौड़ती-खेलती कोई नील ज्योति सदा सर्वदाके लिये प्राप्त हो।

प्रेमका यह सुख—यह रस विरहका अनुभव हुए विना प्राप्त नहीं होता। यह तभी प्राप्त होगा, जव तुम्हें अनुभव हो कि तुम भगवान्से कैसे पृथक् हो गये हो।

"गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः।"

गोपियोंके चित्तमें प्रेमकी यही प्यास जागी है। उनके चित्तमें चैन नहीं है। उन्होंने श्रवणसे कृष्णका नाम तथा उनकी वंशीध्वनि सुनी। नेत्रोंसे त्रिभुवन सुन्दरको देखा। मनमें वे जिनका स्मरण करती हैं, नेत्रोंके सम्मुख उसीको देखती हैं। आगे-आगे धेनु, पादमें रेणु, मुखपर वेणु धरे वह मयूर मुकुट ही उन्हें दीखता है।

किसी ने इसीलिये कहा है:—

श्रुतयः पलालकल्पाः किमिह वयं साम्प्रतं चिन्मः।
आहृतं पुरैव नयनैराभीरीभिः परं ब्रह्म ।।

श्रुतियाँ तो पुआलके समान हैं-निस्सार हैं। उनमें अब हम क्या ढूंढें ? उनमें से परम-ब्रह्मको तो व्रजकी अहीरिनियोंने अपने नेत्रोंसे पहिले ही ढूंढ कर निकाल लिया है।

अतः श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी यदि तुम्हारे मनमें इच्छा है, तो गोपियोंकी उपासना करो।

ईश्वर क्या इस प्रकार हमें दीखता है ? नहीं दीखता, तो उसे देखनेका प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर हमारी ओर देखे, इससे हमें क्या लाभ है? वह तो साक्षी वना सबको देखता ही रहता है। हम उसकी ओर देखें, इसमें आनन्द है।

वेदान्ती कहते हैं, 'हम द्रष्टा हैं और जगत् तथा ईश्वर हमारे दृश्य हैं।'

भक्त कहते हैं, 'हम दृश्य हैं और ईश्वर द्रष्टा है'।

लेकिन प्रेमी कहता है, 'हम द्रष्टा भी हैं और दृश्य भी।

प्रियतम दृश्य भी है, द्रष्टा भी। प्रेमियोंके दर्शनमें चकोर चन्द्रमाको देखनेके लिये उत्पन्न हुआ है और चन्द्रमा चकोरको ज्योत्स्ना देनेके लिए पैदा हुआ है। प्रेमका दर्शन यह है—

परस्पर दोउ चकोर दोउ चन्दा।

प्रेम दर्शनमें एकांगी प्रेमको प्रारम्भिक अवस्थाका प्रेम माना जाता है। चक्रवाकके जोड़े रात्रिमें पृथक् रहते हैं। उन्हें मिलनके आनन्दका क्या पता। सारसका जोड़ा सदा साथ ही रहता है। उसे भला वियोगका ज्ञान कहाँ। प्रेमका रहस्य ही यह है कि वह दोनों ओरसे पूर्ण होता है। उसमें प्रेमी तथा प्रियतम परस्पर परिवर्तित होते रहते हैं।

जबतक प्रियतमको यह पता नहीं होता कि यह मेरा सच्चा प्रेमी है, तभी तक प्रेमी-प्रेमी रहता है और प्रियतम-प्रियतम रहते हैं। जब प्रियतमको पता लगता है कि यह मेरा सच्चा प्रेमी है, तो वे उसके प्रेमी बन जाते हैं और प्रेमी प्रियतम हो जाता है। प्रेम-दर्शन परस्पर प्रेमका दर्शन है।

'न आदि न अन्त बिलास करें दोउ
लाल-प्रिया में भई न चिन्हारी'।'

श्रीराधाकृष्णकी परस्पर क्रीड़ा अनादि-अनन्त है, किन्तु दोनोंमें परस्पर परिचय ही नहीं हो सका। जबतक एक दूसरेको पहिचान सके, तबतक प्रियतम श्रीकृष्ण श्रीराधा हो जाते हैं और श्रीराधा श्यामसुन्दर बन जाती हैं।

प्रेममें भी एक क्रम है। पहिले ही त्याग नहीं हुआ करता। गोपियोंने पहले वंशी ध्वनि सुनी श्रीकृष्णचन्द्रको देखा, पूर्व राग हुआ और तब उन्होंने कात्यायनीकी उपासनाकी प्रेममें शक्ति चाहिये। और प्रेमकी शक्ति है प्रियतमकी स्वीकृति प्राप्तकर लेना। यह शक्ति आजानेपर ही त्याग उचित होता है।

मैंने अपने पितामहसे एक चर्चा बचपनमें सुनी है। वे बतलाते थे कि पहिले एक वंशी बजाने वाले हमारी ओर आया करते थे। जब कभी वर्षा समय पर नहीं होती और अवर्षणसे अकाल पड़ने लगता, तो वे आ जाते थे। वे तीन या पाँच दिनमें वर्षा करानेका ठेका करते थे। ठेकेके रुपये निश्चित हो जाने पर वे कहीं वृक्षके नीचे जाकर बैठ जाते और तन्मय होकर वंशीमें मेघमल्लार राग बजाते थे। दो तीन दिनमें इस प्रयत्नसे वे वर्षा करानेमें प्रायः सफल हो जाते थे। वे जब गाँवसे बाहर बंशी बजाने लगते थे, तो बहुतसे लोग उनका संगीत सुनने एकत्र होते थे। बहुत सी स्त्रियाँ तो उनके पीछे पागल होकर लग जाती थीं। लेकिन वर्षा हो जानेपर वे ठेकेका रुपया लेकर चले जाते थे। किसी स्त्रीको साथ ले नहीं जाते थे। जिन स्त्रियोंने उनके संगीतसे आकृष्ट होकर घरका तिरस्कार किया होता, उनकी बड़ी दुर्गति होती।

प्रेमका मार्ग इस प्रकारका वासनाका मार्ग नहीं है। यह महान् साधनाका-तपस्याका मार्ग है। वासनाके मार्गपर चलने वाले, प्रेमको जानते ही नहीं हैं। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहते थे—'प्रेम और काममें केवल बाल-बराबर अन्तर है। ऊपरसे देखने पर दोनों एक जैसे लगते हैं। जो अपनेको सुख देने के लिये होता है, वह काम है। परमात्माको सुख देनेके लिये जो क्रिया होती है, वह प्रेम है।'

हमने गुलाबका पुष्प देखा और इससे हमें सुख हुआ, यह काम है। अपनेमें जो सौन्दर्य, माधुर्य है, उसे देखकर श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे, यह प्रेम है। सुखको अपनी ओर न खींचकर उसे परमात्माकी ओर भेजना प्रेम है।

गोपियोंने पहले घर-द्वार नहीं छोड़ा। उन्होंने वंशी-ध्वनि सुनी, अनन्त सौन्दर्य-राशि श्रीकृष्णको देखा, और उनकी प्राप्तिके लिये कात्यायनी देवीकी उपासना की। श्रीकृष्णने उन्हें स्वीकार किया- 'मयेमा रंस्यथक्षपा:। तब उनके त्यागका प्रसंग आया। श्यामसुन्दरने जब वंशी बजायी, गोपियोंको लगा कि वंशीके स्वरमें पीड़ाकी गंगा बहती है। परमानन्दसिन्धु श्रीकृष्ण हमसे मिलनेके लिये अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं।

वाद्य कई प्रकारके होते हैं। ताड्य वाद्य–ढोल, नगाड़े आदि, जिन्हें पीट कर बजाया जाता है। संघर्ष वाद्य–झाँझ-मजीरे जो परस्पर टकराकर बजते हैं। तन्तु वाद्य–सितार, वीणा जैसे जो तारोंकी झंकारसे बजते हैं। सुषिर वाद्य—जो फूँककर बजाये जाते हैं। वंशी सुषिर वाद्य, प्राण वाद्य है। हृदयके भावको व्यक्त करनेका यह सर्वोत्तम वाद्य है। उस वंशीमें जब गोपीको श्रीकृष्णकी हृदय-व्यथा सुन पड़ती है, तब वह उन्हें सुख देनेके लिये त्याग करती है। गोपीने गृहका, परिवारका, ममताका, अपने सम्मानका और अपने शारीरिक सुख-शृङ्गारका त्याग किया, प्रियतमके हृदयकी पीड़ाको मिटानेके लिये। वह स्वयं आनन्द लेने घरसे नहीं निकलती।

गोपियोंमें पहले पूर्वराग उत्पन्न हुआ। फिर उन्होंने शक्तिकी आराधनाकी परिणाम् हुआ चीर-हरण, आवरण भंग। आत्मा और परमात्माका मिलन आवरण भंग हुए बिना नहीं होता। यह चीर-हरण, शारीरिक आवरणका भंग हुआ था। हृदयके आवरणका-भंग तब हुआ, जब वंशी-ध्वनि सुनकर गोपियाँ श्रीकृष्णके समीप दौड़ी आयीं और श्याम-सुन्दरने उनसे कहा, लौट जाओ।'

'तद्यात माचिर गोष्ठं
प्रतियात ततो गृहान्'

गोपियोंने अपने हृदयमें जिस प्रेमरूपी मणिको छिपा रखा था, उसे श्रीकृष्णने अनावृत कर दिया। 'घर लौट जाओ'— प्रियतमके इस बचनको सुनकर गोपियोंका धैर्य स्खलित हो गया। वे बोल उठीं—

'मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं,
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलम्।

भक्ता भजस्व दुरवग्रह मात्यजास्मान्,
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥'

'श्यामसुन्दर ! तुम तो विभु हो, हमारे हृदयमें स्थित होकर हमारे चित्तकी अवस्था जानते हो। ऐसी निष्करुण बात तुम्हें नहीं कहनी चाहिये। सब विषयों, आसक्तियोंका त्याग करके हम तुम्हारे श्रीचरणोंमें आयीं, तुम्हारी भक्त हैं। दुराग्रह करके हमारा त्याग मत करो। हमें स्वीकार करो, जैसे आदि पुरुष मुमुक्षु जनोंको स्वीकार करते हैं।'

सहस्रों स्त्रियोंके मध्य एक स्त्रीके मुखसे यह निकला—'पुरुषभूषण देहि दास्यम्'। कितना कठिन है। गोपी कहती है—'मोहन ! हम लौट जावें ? तुम बड़े संकोची हो। तुम्हें स्वयं अपने सुखका पता नहीं है। हम जानती हैं कि हमारे लौट जानेपर तुम्हारी क्या अवस्था होगी। तुम्हें कितनी पीड़ा होगी। अतः हठ मत करो। हम लौट नहीं सकतीं।'

भगवान्ने गोपियोंके हृदयके प्रेमको जब इस प्रकार आवरण रहित कर दिया और तब उनके साथ विहार करने लगे। जब इस विहारमें गोपियोंके मनमें काम आने लगा, तब उन्होंने उसे दूर किया।

मनमें होती है कामना। उस कामनासे प्रेरित इन्द्रियोंका विषयसे संयोग होता है। इस इन्द्रिय-विषय संयोगसे सुखी होनेका अभिमान उत्पन्न होता है। 'अहं सुखी' इस प्रकार काम उत्पन्न होता है—जो वासनासे-विषयोंके संयोगसे पलता है और अभिमान बनकर रह जाता है। यह जो विषयपोलब्धिका अभिमान है, वही काम है। बड़प्पन अपनेमें आया, अतः वह काम हुआ।

श्रीकृष्णचन्द्र गोपियोंके साथ नृत्य कर रहे थे। नृत्य तो संसारके सभी प्राणी सदा करते हैं। लोगोंके हाथ नोटोंके साथ, नेत्र रूपके साथ, जिह्वा स्वादके साथ नृत्य करती है। कभी श्रीकृष्णके साथ भी तुम नृत्य कर पाते। गोपियाँ श्रीकृष्णचन्द्रके साथ नृत्य कर रही थीं।

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥

माता यशोदाकी दृष्टि श्रीकृष्णपरसे हटती है, तो दूध-दही, भीड़ भाड़पर या पूतना पर भी चली जाती है। वात्सल्य भावमें दृष्टिका अन्यत्र जाना दोष नहीं है। गोपकुमारोंकी दृष्टि श्यामसे हटकर गायों, बछड़ोंपर, पुष्प-फलपर चली जाती है। सख्य भावमें भी यह दृष्टिका अन्यत्र जाना दोष नहीं है। लेकिन पत्नी भावमें दृष्टि दूसरे पर जाय, यह दोष है। गोपियोंकी दृष्टि श्रीकृष्णपरसे हटी तो सही, किन्तु अन्य किसीपर नहीं गयी। उनकी दृष्टि श्यामसुन्दर परसे हटी, तो अपने पर गई।

ज्ञानी वह है, जिसे अपने अतिरिक्त अन्य दीखे ही नहीं। यह ज्ञान द्वैत है। इसमें सब आत्मविलास दीखता है। विषयी-संसारी पुरुषको साधु-विद्वान् भी स्वार्थी, विषयी

दीखते हैं। वह विषयाद्वैतमें रहता है। प्रेम-भक्तिमें ईश्वराद्वैत होता है। वहाँ ईश्वरको प्रियतमको छोड़कर दूसरा नहीं दीखता।

भगवत्प्राप्तिमें एक स्तरपर आकर धर्म तथा समाधि भी विघ्न बन जाती है। रास-क्रीड़ामें श्रीकृष्णने कामको स्तब्ध कर दिया। गोपियोंपर उनकी इतनी कृपा! इतना सम्मान किया उन्होंने, गोपियोंका कि उनकी कामना-स्वसुखेच्छा सर्वथा मिट गई। गोपियोंको किसी वाह्य वस्तुकी इच्छा नहीं रह गयी, किन्तु यही विघ्न आया। वे मतवाली सी हो गयीं और अपना सौभाग्यानुसन्धान करने लगीं।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

योगमें तो द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय, यह समाधिकी उच्चतम अवस्था है, किन्तु प्रेममें यह भी विघ्न है। संसारमें दूसरा सब कुछ भूल जाय यह तो ठीक, किन्तु भगवान् भी भूल जाय, यह तो भक्तिमें विघ्न है। जो अपने आपमें रस लेने लगा, वह प्रेम का अधिकारी कहाँ रहा?

श्रीकृष्ण भगवान् हैं, अर्थात् सम्पूर्ण-सौन्दर्यमाधुर्यके धाम हैं और कृष्ण परमाकर्षक हैं। किन्तु महात्मा हैं। महात्माका अर्थ है विमुक्त-चित्त जो शीशा-दर्पण फोड़ सकता है, दर्पणमें पड़ते प्रतिविम्बको त्यागनेमें उसे क्या हिचक होगी।

श्रीकृष्णने सम्मान दिया गोपियोंको। वे गोपियोंके संकेतपर नाचने लगे। गोपी जैसा चाहतीं, जैसा कहतीं, वैसा करने लगे। गोपियोंने समझा कि हम ऐसी सुन्दर, ऐसी मधुर हैं कि उसके कारण ये हमारे वशमें हो गए हैं।

'आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥

श्रीकृष्ण तो भूल गये और वे त्रिभुवनकी स्त्रियोंका विचार करने लगीं—'है कोई विश्वमें हमारे समान सौभाग्यशालिनी? रमा, शारदा, देवांगना, नागकुमारी, मुनिकन्या, राजकुमारी कोई हमारी समता करने योग्य कहीं है?'

"तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥"

'केशवः—कश्च अश्च ईशश्च तान वयते-प्रशास्ति इति केशवः।' जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनोंका नियन्त्रण करते हैं, उन्हें केशव कहते हैं।

'विधि हरि सम्भु नचावन हारे।'
"जासु सत्यता ते जड़ माया।
नाच नटी इव सहित सहाया॥"

उन दयामय केशवने जब गोपियोंकी यह अवस्था देखी, तो सोचा कि इस विघ्नको दूर करना चाहिये। यह प्राकृत-सामान्य दृष्टिसे विचार है।

भगवान् एकरस आनन्दस्वरूप हैं। उनके आनन्दमें ह्रासवृद्धि नहीं है। सृष्टिकी उत्पत्ति, और प्रलयमें भी उनका आनन्द न घटता है, न बढ़ता है।

एक बार एक भक्तने भगवान्से प्रार्थना की, प्रभो! आप सदा एकरस रहते हो। कोई प्रतिदिन हलवा या रसगुल्ला ही खावे, तो उसमें उसे रस नहीं आया करता। कुछ तो, परिवर्तन होना चाहिये आपके आनन्दमें।

भगवान्ने कहा—'प्रतिदिन हमारा आनन्द मिलते-मिलते तुम मुझसे ऊब गये हो तो तुम्हें मेरा वियोग प्राप्त हो।'

भगवान् अदृश्य हो गये। अब भक्त बेचैन हो उठा। वह रुदनक्रन्दन करने लगा। भगवान् पुनः प्रकट हुए। भक्त बहुत प्रसन्न हुआ। वह बोला—"आज तो आपका आनन्द बहुत बढ़ गया।"

यह आनन्द कहाँसे निकला? यह निकला विरह में से।

'न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।'

वियोगके विना संयोगका पूरा पूरा रस आता ही नहीं है। जैसे चटनी,अचार बीच-बीचमें लेनेसे भोजनका स्वाद बढ़ जाता है, वैसे ही वियोगके द्वारा संयोगका आनन्द बढ़ जाता है।

भगवान्ने अपना आनन्द बढ़ाना चाहा, किन्तु उनका आनन्द तो अनन्त है, देशमें वह बढ़ सकता नहीं था। नित्य होनेसे कालमें भी वह नहीं बढ़ सकता था। भगवान् आनन्दघन हैं, अतः आनन्दको अधिक ठोस भी नहीं कर सकते। तब भगवान्का आनन्द बढ़े कैसे? आनन्द एक है। यदि उसका आस्वादन करने वाले अनेक हो जायँ, तो वह बढ़ जाय। जैसे गंगाजीकी धारा एक है। उसमें जल पीने वाली गायें जितनी बढ़ें, धाराका महत्त्व, उपयोग उतना बढ़ गया। भगवान्के आनन्दकी आस्वादिका गोपियाँ हैं। गोपियोंका आनन्द बढ़े, तो भगवान्का आनन्द बढ़े। गोपियोंका आनन्द बढ़ेगा तब, जब बीचमें वियोग आवे। अतः श्रीकृष्ण उनका आनन्द बढ़ानेके लिये तिरोहित हुए। इस तिरोधानमें भी प्रेम है।

एक कक्षमें मणिका प्रकाश हो रहा है। वहाँ बैठे लोगोंका मणिकी ओर ध्यान ही नहीं जाता है। अब किसीने मणिके ऊपर वस्त्र डाल दिया, कक्ष में अन्धकार हो गया। वहाँ बैठे लोग जब अन्धकार से घबड़ाये, तो मणिपरसे वस्त्र उठा लिया। अब लोगोंका ध्यान मणिकी ओर गया। वे मणिके प्रकाशकी प्रशंसा करने लगे। इसी प्रकार भगवान् गोपियोंके प्रेमको विश्वमें प्रख्यात करनेके लिये अन्तर्ध्यान हुए। भगवान्की इच्छासे ही गोपियोंके मनमें योगमाया-स्वजनमोहिनी मायाने मानका सञ्चार किया।

गौड़ीय सम्प्रदायके विद्वान् इसका ऐसा अर्थ करते हैं कि गोपियोंमें अपने सौभाग्यका मद-वर्ग आया तथा श्रीराधामें 'मान' आया। गोपियोंने समझा कि श्रीरासेश्वरी और हममें कोई अन्तर नहीं है। श्यामसुन्दर हमारे भी उतने ही वशमें हैं, जितने श्रीवृषभानु नन्दिनीके

और श्रीराधाने श्रीकृष्णको सभी गोपियोंके साथ प्रेम-विहार करते देखा, तो उनमें मान जागा।

'प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते।

अतएव गोपियोंके मद-वर्गको नष्ट करनेके लिये—'प्रशमाय' तथा श्रीराधाको 'प्रसादाय'-सुप्रसन्न करनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र वहीं अन्तर्धान होगये।

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजांगनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥

अन्तर्हितका दो अर्थ है—छिप जाना तथा भीतरसे भला चाहना। भगवान् भीतरसे गोपियोंका भला चाहते हैं, इसलिये छिप गये। यह उनका छिपना गोपियोंके मद-मान रूपी रोगकी चिकित्साके लिये था।

अब जो गोपियोंने देखा कि हमारे परम प्रियतम हमारे मध्य नहीं हैं, तो व्याकुल हो गयीं। वे ऐसी व्याकुल होगयीं कि अपनी सब सुध-बुध भूल गयीं। उनके तन, मन, चेष्टामें श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण रह गये। वे वृक्षों, लताओं आदिसे अपने प्राणधनका पता पूछने लगीं।

एक राजा थे। वे कहते थे, 'मैं परमात्माको जानना तो चाहता हूँ किन्तु नंगे या कौपीन लगाये, धूलिमें लेटने वाले, घर-घर भिक्षा माँगने वाले साधुओंसे मैं कैसे पूछूँ। कोई मेरे समान सिंहासन पर बैठने वाला, छत्र चमर धारण करनेवाला मिले तो उसके सामने हाथ जोड़कर यह पूछ भी सकता हूँ। वे परमात्माको जानना भी चाहते थे और अपने अभिमानकी रक्षा भी करना चाहते थे। ऐसी बात कैसे बने ?

चाखा चाहे प्रेमरस राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड्ग देखे सुने न कान॥

मैं एक सज्जनके घर गया। मेरे साथ कई महात्मा थे। उनमें एक श्वेतवस्त्र वाले महात्मा भी थे। उन सज्जनने दूसरे सब वस्त्र वाले महात्माओंको माला पहनायी, किन्तु श्वेतवस्त्र वाले महात्माको छोड़ दिया। यह क्या हुआ ? यह अभिमान ही तो था 'मैं सफेद वस्त्र वालेको कैसे माला पहनाऊँ ?'

लेकिन जब हृदयमें प्रेमकी पीड़ा जागती है, प्रियतमको पानेकी सच्ची व्याकुलता होती है, तब यह नहीं देखा जाता कि किससे उसका पता पूछें, किससे नहीं। कौन पता बतला सकता है और कौन नहीं, यह ध्यान ही नहीं रह जाता। यक्षने अपनी प्रियाके लिये मेघको सन्देश दिया था :—

'पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि
भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥

आकाशके समान जो सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर और भीतर एकरस व्याप्त हैं, उन परम पुरुषका पता गोपियाँ वृक्षोंसे पूछने लगीं।

पहिले उन्होंने वट, पीपल, पाकर जैसे बड़े वृक्षोंसे पूछा, क्योंकि उन्हें लगा कि ये दूर तक देख सकते हैं, किन्तु उनसे उत्तर न मिलने पर ये तो गर्विष्ठ हैं, ऐसा मानकर वे यमुना तटके छोटे वृक्षोंसे पूछने लगीं। ये तो तीर्थके पण्डे जैसे हैं, इनको भला क्या पता होगा, यह भावना करके लताओंसे पूछा उन्होंने। लताओंका मौन उन्हें सौतिया डाह लगा। तुलसीने भी उत्तर न दिया, तो मान लिया कि यह अपने बराबर किसीको समझती ही नहीं।

गोपियाँ यह भूल ही गयीं कि कौन बता सकता है और कौन नहीं। वे पूछतीं गयीं। यही व्याकुलताका स्वरूप है। एक बार मुझे जानकी कुंडसे कामदगिरी जाना था। संध्या हो गयी थी। शीघ्र पहुँचनेके विचारसे सीधे चल पड़ा और मार्ग भूल गया। नाले-टीले और वनका वह सुनसान रास्ता था। अब जो मिले, उसीसे मार्ग पूछने लगा, छोटे बच्चों तकसे पूछता था। ठीक मार्ग कैसे मिले, इसकी उत्सुकता समझमें आ गयी।

एक जिज्ञासुने एक महात्मासे पूछा—ईश्वरकी प्राप्तिके लिये कैसी इच्छा होनी चाहिये?

महात्माने उस समय उत्तर नहीं दिया। उन्हें अपने साथ स्नान कराने ले गये। सरोवरमें स्नान करते समय जब उन्होंने डुबकी मारी तो महात्माने उन्हें ऊपरसे दबा दिया। बहुत छटपटाये और किसी प्रकार ऊपर निकलकर बोले—'आपने तो मुझे मार ही दिया था।'

महात्माने कहा, मैं तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दे रहा था। पानीसे निकलनेके लिये जैसी इच्छा तुममें थी, जो व्याकुलता थी, वैसी ही इच्छा ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये होनी चाहिये।'

गोपियाँ श्रीकृष्णचन्द्रकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त व्याकुल थीं और लता-वृक्षोंसे पूछती हुई वनमें भटक रही थीं। उनकी वृत्तियाँ श्रीकृष्णका चिन्तन करते-करते श्रीकृष्णाकार हो गयीं। श्रीकृष्णमें तन्मय गोपियोंने अनुभव किया कि वे स्वयं श्रीकृष्ण हैं। वे श्यामसुन्दरकी लीलाओंका अभिनय करने लगीं।

'कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः।'

'मैं श्रीकृष्ण हूँ। मेरी ललित गति तो देखो।'

इस प्रकार कोई ठुमुक-ठुमुक कर चलने लगी। किसीने अपना उत्तरीय ऊपर उठाकर गोवर्धन धारणका अभिनय किया। कोई किसी लीलाका और कोई किसीका अनुकरण करने लगी। जैसे वेदान्त-चिन्तक, 'शिवोऽहं' का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार गोपियोंने 'कृष्णोऽहं' का अनुभव किया।

इसी तन्मयताके समय उन्हें श्रीकृष्णके चरण-चिन्ह दीखे। उनके साथ श्रीराधाके चरण-चिन्ह भी थे। उन चिन्होंका अनुगमन करती हुई, वे आगे बढ़ीं तो उन्हें पृथ्वीपर

मूर्छिता श्रीकीर्तिकुमारी ऐसे मिलीं, जैसे चम्पकलता धूलिधूसरा पड़ी हो अथवा आकाशसे विद्युल्लता पृथ्वीपर उतरकर सो गयी हो। गोपियोंके मनमें इससे पूर्व श्रीराधाके प्रति किञ्चित् ईर्ष्याका भाव था, किन्तु उन्हें इस अवस्थामें देखकर अपना दुःख उन्हें भूल ही गया। वे व्याकुल होकर पूछने लगीं—तुम्हारी यह अवस्था कैसे हुई ?

श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाको साथ लेकर गोपियोंसे पृथक् हो गये थे। सबको छोड़कर प्रियतम मुझे एकान्तमें ले आये हैं, यह भाव मनमें आया, और अपना यह सौभाग्य गोपियोंको दिखलानेकी इच्छा हुई। श्रीराधाने कहा—

'न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः।

मैं थक गयी हूँ। अब चल नहीं सकती। जहाँ ले चलना हो, कन्धेपर उठाकर ले चलो।

श्रीकृष्णचन्द्रने कन्धेपर बैठनेको कहा और अन्तर्धान हो गये। श्रीराधा व्याकुल होकर क्रन्दन करती हुई मूर्छित हो गयीं। गोपियोंने ही आकर उन्हें किसी प्रकार सचेत किया। अब वे सब वनमें ढूँढ़ने लगीं, किन्तु दूर तक ढूँढ़नेका भी कोई फल नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने सोचा इस अन्धकार भरे वनमें हम उन्हें ढूँढ़ेंगी तो वे और भीतर छिपते जायेंगे। कहीं उनके चरणोंमें कण्टक न लगे। झाड़ियोंसे उनके मृदुल अङ्गमें खरोंच न आवे। रात्रि है और वनमें अन्धकार है। काँटे, कंकड़ियाँ, जीव-जन्तु भरे पड़े हैं। इनसे उन्हें कष्ट न हो। हम उनके वियोगका दुःख कोटि-कोटि कल्प सह लेंगी, किन्तु उन्हें क्षण भर भी क्लेश नहीं होना चाहिये।

गोपियाँ यह सोचकर वनमें से लौट आयीं। जो वस्तु जहाँ खोई हो, उसे वहाँ ढूँढ़ना चाहिये। श्रीकृष्णचन्द्र यमुना-पुलिनपर अन्तर्धान हुए थे। गोपियाँ वहीं लौट आयीं। अब पुलिनपर एकत्र होकर वे क्या करें ? उनका स्वभाव श्रीमद्भागवतमें पहिले ही बता दिया गया है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद् गुणान्येव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

गोपियोंका मन अपना नहीं है, वह तो श्रीकृष्णका मन बन चुका है। वे परस्पर उसी श्यामसुन्दरकी चर्चा करती हैं। उस लीलाविहारीकी ही चेष्टा करती हैं। उनका चित्त उसी चित्तचोरमें मग्न है। उसके ही गुणोंको वे गा रही हैं। उन सबको न अपने घर-द्वार, स्वजन-सम्बन्धी जनोंका स्मरण है; और न अपने देहका।

वे गोपियाँ हैं—गोपीका अर्थ है गोपनशीला। अपने प्रेमको वे छिपाने वाली हैं। प्रेम बाजारमें पुकारते चलनेकी वस्तु नहीं है। वह हृदयमें गुप्त रखनेकी वस्तु है।

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्मभासयति निश्चलमेष भाति।

द्वारादयं वदनतस्तु बहिर्गतश्चेत्
निर्याति शान्तिमथवा तनुतामुपेति ॥

यह रसिकोंके हृदयमें व्यक्त होने वाला प्रेम दीपकके समान है। जबतक यह हृदयमें है, स्वयं प्रकाशवान् रहता है, तथा हृदयको भी प्रकाशित करता है। लेकिन यदि इसे मुखके द्वारा बाहर किया जाय, बोलकर प्रकट कर दिया जाय तो बाहरकी वायु—लोगोंकी दृष्टिमें आकर यह या तो बुझ जाता है, अथवा क्षीण हो जाता है।

प्रेम गुलाबकी पंखड़ीसे भी अधिक सुकुमार है। वह लोगोंकी दृष्टि सह नहीं सकता। प्रेमस्वरूपिणी गोपियाँ अपने प्रेमको गुप्त रखने वाली हैं। केवल प्रेमको ही नहीं, वे तो भगवान्‌को भी गुप्त करके रखने वाली हैं। भगवान् व्रजमें गुप्त होकर रहने आये हैं। उन्हें अपनी भगवत्ता प्रकट करनी होती तो मथुरा ही रहते। वे गोकुलमें गुप्त होकर रहने आये हैं। यदि उनकी भगवत्ता प्रकट हो जाय तो कंसको कल आना हो सो आज ही आ धमके। अत: गोपियाँ श्रीकृष्णका ऐश्वर्य गुप्त रखती हैं।

मान लीजिये कि हम कथामें किसीकी कोई बात कहें, किन्तु उसका नाम न लें तो इसका अर्थ है कि हम वह नाम गुप्त रखना चाहते हैं। अब कोई श्रोता कानाफूसी करने लगे—'स्वामीजीका तात्पर्य अमुकसे है, तो वह उत्तम श्रोता नहीं माना जायेगा ? हम जिसे छिपाना चाहते हैं, उसे प्रकट करना तो उत्तम श्रोताका काम नहीं।

श्रीकृष्ण गोकुलमें छिपने आये हैं। वे कहते हैं—'हम ईश्वर नहीं, मनुष्य हैं। तब गोपी कहती हैं—'यह नन्दका बेटा तो श्रेष्ठ मनुष्य भी नहीं है। यह तो चोर है। हमारे घरोंमें दही-माखन चुराता है। यह शिष्ट भी नहीं है, हम सबको छेड़ता रहता है। यह भला व्यक्ति ही, नहीं तो ईश्वर कहाँसे होगा ?

अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभाव कुटिला भवेत्।

यह प्रेमकी गति ही सर्पके समान टेढ़ी चलनेवाली है। कोई महात्मा होगा तो पैरोंसे चार हाथ मात्र आगे देखेगा और दृष्टि नीचे रखेगा। किन्तु ये प्रेमस्वरूप यशोदाके लाड़िले तो आगे पीछे, दायें बायें, ऊपर नीचे सब ओर देखते, झाँकते चलते हैं। प्रेमकी गति ही विलक्षण है। समीप बुलाओ तो दूर भागेंगे। बात करना चाहो तो मौन सूझेगा और दूर हो जाओ, तो रुदन क्रन्दन आवेगा। अत: श्रीकृष्णकी ईश्वरता तथा अपने प्रेमको गुप्त रखनेके कारण गोपीको 'गोपी' कहाजाता है।

'गोभिरिन्द्रियैः पिबति श्रीकृष्णरसमिति गोपी।'

गो कहते हैं इन्द्रियों को। अपनी इन्द्रियोंसे जो श्रीकृष्णके रसका पान करती हैं, उन्हें गोपी कहते हैं। वे अपने नेत्रोंसे श्रीकृष्णकी रूप माधुरीका पान करती हैं। उनके श्रवण श्यामसुन्दरकी वंशीध्वनि तथा स्वर-सुधाका पान करते हैं। उनके शरीर, उनके हाथ पैर आदि समस्त अंग-सब इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण रसमें सराबोर हैं।

जिनके भगवान् निराकार हैं, उनके न तो देखे जायेंगे और न छुये जायेंगे। वे तो चाहे निराकार कारितवृत्तिमें स्थिति हों अथवा समाधि लगाकर द्रष्टाके स्वरूपमें स्थित हों, ब्रह्मात्मैक्यकी स्थिति भी वे प्राप्त कर सकते हैं। जो नास्तिक हैं, वे अपने जीवनमें सद्गुण ले आकर सन्तोष करें, किन्तु—

यह प्रेमको पंथ करारो महा, तरवारकी धार पै धावनो है।

ध्यान करने वालेको भगवान् मनसे मिलते हैं। उसे भगवान्का मानस प्रत्यक्ष होता है। ज्ञानीको ज्ञान स्वरूपमें भगवत्प्राप्ति होती है। लेकिन प्रेमी भगवान्को प्रत्यक्ष करके इन चर्मचक्षुओंसे, स्थूल इन्द्रियोंसे प्राप्त करता है। अवतारके रूपमें भगवान्को माननेका उद्देश्य इसी शरीरसे-इन्द्रियोंसे भगवद् रसकी साक्षात् प्राप्ति करना है।

ईश्वर निराकार है। जीव पृथक्-पृथक् हैं। जगत् प्रकृतिका कार्य है। ऐसा मानकर अवतार सिद्धान्तकी निष्पत्ति नहीं होती। अवतार सिद्धान्तमें एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ही नहीं है। वही प्रकृति बना है और वही जीव भी है। वही सर्वात्मा होकर प्रकट हो रहा है। जब भक्तके हृदयमें भक्ति बढ़ती है, तब वह अपनी गुप्तता छोड़कर प्रकट हो जाता है। इस प्रकार जिनके सामने वह प्रत्यक्ष है और जो अपनी इन्द्रियोंसे उसका रसास्वादन करती हैं वे गोपी हैं।

'गाः इन्द्रियाणि पान्ति इति गोपाः।

स्त्रीलिंगमें गोप शब्द ही गोपी हो जाता है। अतः गोपी व्युत्पत्ति हुई—

'गाः इन्द्रयाणि पान्ति इति गोप्यः।'

जो अपनी इन्द्रियोंकी रक्षा करें, वे गोपी हैं। गोपीका मार्ग संयमका मार्ग है। इन्द्रियोंको उन्मुक्त छोड़नेका मार्ग नहीं है। गोपीका कहना है—

धोखेहु दूसरो नाम कढ़े रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरों।

× × ×

बावरी वै अखियाँ जरि जाय जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।

गोपीने अपनी इन्द्रियोंका इतना कड़ा संयम–ऐसा सम्यक् वशीकरण कर रखा है कि उसकी इन्द्रियाँ श्रीकृष्णको छोड़कर अन्यत्र जाती ही नहीं हैं—

संत्यज्यसर्वविषयांस्तव पादमूलम्।

गोपी कहती है सब विषयोंको छोड़कर हम तुम्हारे चरण कमलोंकी भक्त हुई हैं।

'तदर्थविनर्वार्तितसर्वकामाः।'

श्रीशुकदेवजीने स्वीकार किया कि गोपियोंने श्रीकृष्णचन्द्रके लिये सम्पूर्ण कामनाएँ त्याग दी हैं। ऐसी गोपी आज अपने प्रियतमसे पृथक् हो गयी हैं। वे रूठकर रात्रिमें वनमें जा छिपे हैं। उनके बिना गोपी कैसे रहें?

गोपी अपने प्रेमको गुप्त रखने वाली हैं, तो चुप रहें। वह गाती क्यों हैं ? हृदयमें चाहे जितनी व्यथा हो, उसे तो चुप रहना चाहिये। लेकिन गोपीका जीवन, गोपीका हृदय उसका अपना तो है नहीं। वह तो श्रीकृष्णका है। उनके वियोगकी असह्य वेदनासे हृदय फट जाय—उसकी गति रुक जाय तो ?

गोपीको मृत्युका भय नहीं है। वह जानती है कि उन भुवन-सुन्दरके वियोगमें यदि प्राण जायेंगे, तो वह उनके समीप पहुँचेगी, उन्हें प्राप्त कर लेंगी। एक बार एक व्रजकी वृद्धा सासने अपनी नववधूसे कहा, 'नन्दनन्दन सायंकाल गोचारण करके लौटने लगें तो तू छज्जेपर मत जाना।'

वहू बोली—"जैसी आपकी आज्ञा, किन्तु कल जब आपको मुझे कोई आज्ञा देनी होगी तो सम्भव है, आप मुझे पहिचान न सकें। अतः मैं आपको यह बता दूँ कि कल आप मुझे कैसे आज्ञा दें। वे मयूर मुकुटी जब वनसे लौटने लगें, तो उनकी वनमाला पर जो भ्रमरी आपको गुञ्जार करती दीखे, उसे आप अपनी बधू समझ लेना।"

सीधे शब्दोंमें गोपवधू कह रही है—"उनका दर्शन किये बिना मेरे प्राण नहीं रहेंगे। प्राणोंके रहनेकी चिन्ता भी नहीं है। आज आपकी आज्ञा मानकर उनके दर्शन नहीं करूँगी, तो यह देह छूट जायगी और कल ही उनकी वनमालापर भ्रमरी बनकर गुञ्जार करती उनके साथ ही लौटूँगी।"

अतएव गोपीको अपनी मृत्युका न भय है, न दुःख, किन्तु वह सोचती है कि 'यह समाचार छिपा तो रहेगा नहीं। हम श्यामसुन्दरके वियोगमें मर गयीं, यह बात उन तक पहुँचेगी तो वे बहुत दुःखी होंगे। लोकमें उनका बड़ा अपयश होगा। सब उन्हें निष्ठुर कहेंगे। उनका अयश न हो, उनको दुःख न हो, इसलिये हमें जीवित रहना चाहिये।

"शोके क्षोभे च हृदयं प्रलापैरवधार्यते।
पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया॥

जैसे सरोवरमें जब बहुत अधिक जल भर जाय और उसका तट टूटनेका भय हो जाय तो उसमेंसे जल बहा देना ही सरोवरकी रक्षाका उपाय है, वैसे ही शोक अथवा क्षोभ बहुत प्रबल हो तो प्रलाप के द्वारा उसका वेग कम करके ही हृदयकी रक्षा की जाती है। गोपियोंका शोक अत्यन्त प्रबल है और श्रीकृष्णको दुःख न हो, इसलिये जीवनकी रक्षा भी आवश्यक है। अतः वे इस गानके द्वारा अपनी व्यथा कम कर रही हैं।

'गोपीगीत'के इन छन्दोंका नाम कनकमञ्जरी छन्द है। इसके प्रत्येक चरणके द्वितीयाक्षर एक ही हैं और सप्तमाक्षर भी एक ही है। कनकका अर्थ है धतूरा। धतूरेकी मञ्जरीके समान कोमल एवं उन्मादक करुण स्वर है इस छन्दका। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वियोगकी व्याकुलतामें गोपियोंने ऐसी उत्तम कविताकी रचना कैसे की ?

दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि गोपियाँ तो बहुत हैं। वे सब एक साथ बोलीं तो एक ही छन्द, एक ही भाव क्यों व्यक्त हुआ ? यदि वे पृथक्-पृथक् बोलीं, तो केवल उन्नीस

ही क्यों बोलीं ? क्योंकि कम-से-कम एक छन्द तो एकने गाया होगा। इसके साथ ही एक प्रश्न यह भी है कि इन छन्दोंमें कोई क्रम-संगति है या नहीं ?

गोपियाँ श्रीकृष्णके प्रेममें विह्वल होकर बोल रही हैं; यह बात भूलनी नहीं चाहिये। प्रेमकी गतिका नाम है नृत्य, और प्रेमकी बोलीका ही नाम संगीत है।

व्रजके बच्चे न किसी नृत्याचार्यसे भरतनाट्यम् सीखते हैं, न कथाकली और न मणिपुरी नृत्य ही। वे किसी गायनाचार्यके शिष्य भी नहीं बनते, किन्तु आज भी व्रजमें छोटे-छोटे बच्चे कटिपर कर रखकर ठुमुक-ठुमुक कर नाचते और गाते हैं—

कदम तरे आजइयो, कटीले काजर वारी।

वे जानते तक नहीं कि जो गा रहे हैं, उसका क्या अर्थ है। यह गायन, यह नर्त्तन उन्हें कौन सिखलाता है ? उनके हृदयमें जो जन्मजात श्रीकृष्ण प्रेम है, वही जब हृदयमें प्रेम होता है, तो संसार स्वरमय, नृत्यमय हो उठता है।

गोपियोंने न तो किसी काव्याचार्य, पिंगलाचार्यसे छन्द शास्त्र तथा काव्य-रचना सीखी है और न तुम्बरु नारदादि किसी संगीताचार्यसे संगीतकी शिक्षा ही ली है। उन्होंने प्रेमशास्त्रका भी कोई स्वाध्याय नहीं किया है। उनके हृदयमें जो अत्युत्कृष्ट श्रीकृष्णप्रेम है, वही कविता बनकर प्रकट हो गया है।

जब एकाधिक व्यक्ति एक भावमें बोलते हैं, तब उनका स्वर स्वतः एक हो जाता है। दो या अधिक व्यक्ति जब सर्वथा एक ही भावमें हों तो उनके द्वारा एक ही जैसे शब्दों का अभिव्यक्त होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। एक घटना मेरी १७-१८ वर्षकी अवस्था की है। मैं तो उसे भूल ही गया था, किन्तु एक मित्रने अपना संस्मरण लिखकर भेजा है; और उसमें इस घटनाका उल्लेख है। हम और वे अयोध्या गये थे। लौटते समय रेलके डिब्बेमें बैठे तो उस डिब्बेमें तीसरा कोई नहीं था। हम दोनों डिब्बेकेदो सिरे पर बैठकर अयोध्याके विषयमें कविता लिखने लगे। लिखनेके पश्चात् मिलाकर देखा तो दोनोंके न केवल भाव एक थे, दोनोंकी शब्दावली भी एक ही थी।

इसका अर्थ हुआ कि जब दो व्यक्ति एक भावमें हों तो दोनोंके शब्द भी एक हो जाते हैं। गोपियोंमें सबके परमश्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र हैं। सब उनके वियोगमें व्याकुल हैं। संयोगके समय उनके भावोंमें भले कुछ अन्तर रहा हो, अब इस वियोगमें उनके भाव सर्वथा एक हो गये हैं। सबकी सब एक ही बात चाहती हैं कि मदनमोहन श्रीश्यामसुन्दर शीघ्र प्रकट हों और उनकी मुख-चन्द्रिकासे हमारा यह ताप प्रकाशित हो। इस प्रकार सबका चित्त, सबका भाव सर्वथा एक हो जानेसे उनके संगीतका स्वर तथा शब्दावली भी एक हो गयी है।

श्रीवल्लभाचार्यजीका मत है कि गोपियोंके यूथमें उन्नीस प्रकारकी गोपियाँ हैं। उनमें से एक-एक वर्गका गाया हुआ एक श्लोक है। अतः इनमें परस्पर संगति ढूंढ़नेकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीधरस्वामी भी कहते हैं कि बोलने वाली गोपियाँ पृथक्-पृथक् हैं, अतः इस गीतके श्लोकोंमें संगति होना आवश्यक नहीं है।

गौड़ेश्वर सम्प्रदायका मत है कि गोपियाँ समझती हैं कि श्यामसुन्दर कहीं समीप ही छिपे हमारी बात सुन रहे हैं। उनमेंसे कुछ अपनेको उनके सम्मुख, कुछ वाम भागमें, कुछ दक्षिण भागमें खड़ी मानकर गा रही हैं। वे संगीतके रसिक हैं, अतः हमारे गायनसे आकृष्ट होकर प्रकट हो जायेंगे। ऐसा गोपियोंका विश्वास है।

तिल-तन्दुलायमान सुकोमल स्वच्छ वालुकामण्डित विशद यमुना पुलिन है। कल-कल करती कालिन्दीका प्रवाह है। पुलिन जहाँ समाप्त होता है, वहाँसे सघन पुष्पित वन प्रारम्भ हो जाता है। शरद् चन्द्रिकामें सम्पूर्ण सृष्टि स्नान करके श्वेत हो रही है। मल्लिका सुमनोंकी सुरभि लेकर मन्द शीतल पवन प्रवाहित हो रहा है। इस नीरव रजनीकी शोभापर किसीकी दृष्टि नहीं है। पुलिनपर रंग-बिरंगे वस्त्र पहिने, श्यामसुन्दरके वियोगमें व्याकुल रुदन करती सहस्र-सहस्र गोपियोंका, समुदाय अस्तव्यस्त वस्त्राभरण, अश्रु-आर्द्र कपोल, अपने उन प्राणधनको—उन हृदयेश्वरको करुणाविगलित कण्ठसे पुकारता गा रहा है।

[सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट विपुल २८।१६ रिज रोड, मलाबार हिल बम्बई ६ द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली पुस्तक 'गोपीगीत'का एक अंश]

उद्धवजीकी श्रेष्ठ कामना

"मेरे लिए तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावन धाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि-जड़ी-बूटी ही बन जाऊं। आह! यदि मैं ऐसा बन जाऊँ तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओंकी चरण-धूलि निरन्तर सेवन करनेके लिए मिलती रहेगी। इनकी चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियां! देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी निःश्वास रूप समस्त श्रुतियां उपनिषदें भी अब तक भगवान्के परम प्रेममय स्वरूपको ढूंढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं।

[श्रीमद्भागवत १०।४७।६१]

"सब प्राणी सुखी हों, सब निरोग हों, सब प्राणी कल्याणका दर्शन करें, दुःखका भाग किसीको न मिले, सब प्राणी संकटों से तर जायँ, सब कल्याणका दर्शन करें, सब सुख प्राप्त करें, और सब सर्वत्र आनन्द मनायें।"

प्रार्थना—हमारी अंतिम पूँजी है

—काकासाहेब श्रीकालेलकर

किसी परदेसी आदमीने गांधीजीसे आश्रमके स्वरूपके बारेमें पूछा—"आश्रम क्या है?" गांधीजीने जवाब दिया—"प्रार्थना पर विश्वास रखने वाले सेवकोंका समूह।" गांधीजीने आश्रमकी अपनी कल्पना और उसके कार्यके बारेमें अनेक बार, अनेक तरहसे लिखा है, लेकिन ऊपरके उनके जवाबमें आश्रमकी सारी विशेषता एकदम सामने आती है।

किसीने गांधीजीसे कहा कि प्रार्थनापर हमारा विश्वास न हो तो हम क्या करें? गांधीजीने जवाब दिया—"आश्रमके बाहर रहकर जरूर देशकी सेवा करें। आश्रममें दाखिल होनेकी जबर्दस्ती किसी पर भी नहीं है। और प्रार्थना पर विश्वास नहीं रखने वाला आदमी अपनेको आश्रम पर सर्वथा न लादे।"

प्रार्थना पर हम लोगोंका इतना जोर क्यों? प्रार्थनाके मंत्र, श्लोक और गीत चाहे जितने उदात्त और भाववाही हों, उनका नित्यका रटन और गायन यांत्रिक ही बन जाता है। हमेशा देखा गया है कि नित्यकी प्रार्थनामें मनुष्यके चिन्तनका और हृदयकी भावनाका अभाव ही होता है। ऐसी यांत्रिक प्रक्रिया पर आखिर इतना जोर हम क्यों देते हैं?

इसलिए कि यह अनुभवकी बात है कि लोग जिसे यांत्रिक प्रक्रिया कहते हैं, वह असलमें चित्त पर श्रद्धाके पुट चढ़ाकर उसे मजबूत करनेकी साधना है। वैद्य लोग आयुर्वेदके अनुसार अपनी दवाओंके शतपुटी और सहस्रपुटी संस्करण करते हैं, जिसके कारण दवाओंकी शक्ति अदभुत रीतिसे बढ़ती है। असंख्य लोगोंका अनुभव है कि नित्य प्रार्थनासे

आस्तिकता तो बढ़ती ही है, चारित्र्यकी दृढ़ताके निर्माणमें भी प्रार्थनाकी मदद असाधारण है।

संघ-शक्तिका अगर कोई महत्व है तो सह-प्रार्थनाके द्वारा हम आध्यात्मिक संगठन साध सकते हैं।

प्रार्थना हमारी आध्यात्मिक कवायद है। उसे नित्य, नियमित, एक साथ करनेसे हमारी प्राण-शक्ति बढ़ती है और सामुदायिक आत्माकी अभिव्यक्ति होती है।

भारत जैसे सर्व-संग्राहक देशमें समन्वयके द्वारा ही हम एकता और सामर्थ्य ला सकते हैं। उसके लिए हृदयका जो बल चाहिए, वह तो सहजीवनके साथ समन्वित प्रार्थना को मिलानेसे ही हम पा सकते हैं। सामुदायिक जीवनको आध्यात्मिक शक्तिसे अनुप्राणित करनेके लिए प्रार्थना ही हमारे पास उत्तम साधन है। अपनी इस अंतिम पूंजीकी उपेक्षा न करें।"

—मंगल प्रभातसे कृतज्ञता पूर्वक

प्रार्थनासे त्राण

"मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं संसारमें व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो राम नामकी बदौलत। जब-जब मुझ पर विकट प्रसंग आये हैं, मैंने राम नाम लिया है, और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटोंसे राम नामने मेरी रक्षा की है।......करोड़ों हृदयोंका अनुसंधान करने और उनमें ऐक्य-भाव पैदा करनेके लिये एक साथ राम-नाम की धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है।"

—महात्मा गांधी

'हे भारत ! अब मैं भारतकी कीर्तिकी प्रशंसा करूँगा । यह भारतवर्ष देवराज इन्द्रको सर्वप्रिय है । मनु, वैवस्वतने इसे अपनाया है । आदिराजवैन्य, पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, औशीनर, शिवि, ऋषभ, ऐल, नृग, महात्मा कुशिक, गाधि, सोमक और दुर्द्धर्ष दिलीप जैसे अनेक बलशाली क्षत्रियोंने जिस भूमिको प्यार किया है और सब जन भी जिस भूमिको प्यार करते हैं, उस भारत-का वर्णन मैं तुमसे करता हूँ ।"

—महाभारत

भारत और उसका जीवन-लक्ष्य

—आचार्य श्रीविनोबा भावे

(अनु: श्रीजगमोहनराव भट्ट)

सिद्धान्त रूपमें यह कहना सही नहीं होगा कि अमुक देशके लोग स्वभावत: अहिंसाकी ओर अधिक झुकाव रखते हैं और अमुक देशके हिंसाकी ओर। इस विषयमें यद्यपि इस प्रकार भारत और यूरोपमें कोई अन्तर नहीं है, तथापि उनकी वर्तमान प्रकृतिमें अन्तर है । भारतकी प्रतिभा आज जो भी है, वह सामाजिक जीवन-यापनमें किए गए अनेक परीक्षणोंका परिणाम है—जो यूरोपमें निकट समयमें ही किये जा रहे हैं । भारत और यूरोपकी आत्माका पारस्परिक अन्तर ऐसा ही है, जैसा कि आयुष्मान व्यक्ति और युवककी चित्त-वृत्तिका हो ।

अहिंसाकी दृष्टिसे विशाल जनसंख्या और विस्तृत देश हमारी विशेष प्रिय विशिष्टिता है । क्या बात है कि हम इतनी विशाल जनसंख्या वाले हैं ? हम देखते हैं कि यूरोपके एक महाद्वीपमें अनेक छोटे राष्ट्र प्रदेश हैं । जर्मनीकी जनसंख्या सात या आठ करोड़ है , इंग्लैंड की ४ करोड़ है और अन्य राष्ट्रोंकी केवल दो या तीन करोड़ है ।* फिर यह बात क्या थी कि हमारी जनसंख्या ३०-४० करोड़के मध्य हो गई ? हमने हिंसा और पृथक्-वासमें परीक्षण किए और बुरी तरह असफल होनेपर एक महान राष्ट्रकी स्थापना की । यह सब कुछ प्रागैतिहासिक कथा है । आप उसे काल्पनिक इतिहास भी कह सकते हैं । किन्तु कुछ भी हो, यह इतिहासके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । यह उसका अभिलेख है जो वास्तवमें घटित हुआ होगा ।

---

* ये आकड़े युद्ध-पूर्व वर्षोंके हैं ।

ब्रिटिश या पश्चिमी इतिहासकार हमारे ऊपर आरोप लगाते हैं कि हम आपसमें लड़ते रहे, आपसमें परस्पर विनाशकारी युद्ध करते रहे। मैं भी स्वीकार करता हूँ कि भ्रातृ-घातक-युद्ध बुरे हैं। किन्तु फिर भी मुझे इस आरोपपर गर्व अनुभव होता है। हम युद्ध करते रहे, किंतु केवल मात्र अपने ही लोगोंके मध्य इस बातका अर्थ इन इतिहासकारों द्वारा भी यह स्वीकार करना है कि हम एक ही थे, और एक हैं। यदि एक छोटासा समुदाय, या कुछ व्यक्तियोंका समुच्चय इस बातकी हेकड़ी करता है कि वे संगठित हैं, और इनमें कोई मतभेद नहीं है, तो इसमें कौन सी विशेषताकी बात हो गई ?

पश्चिमके लोगोंका विचार है कि समाजका निरूपण राजनीतिक-सत्ता द्वारा ही सम्भव है। राजनीतिमें जबकि एक दल सरकार बनाता है, तो दूसरा उसका विरोध करता है। इस रीति से, दोनों एक-दूसरेके शोधकके रूपमें कार्य करते हैं और ऐसा विश्वास करते हैं कि इस प्रकारसे निरूपण केवल मात्र सत्ता द्वारा ही होगा। हमने भी इसी रीतिकी नकल करना सीख लिया है। किन्तु आप इस तथ्यसे अवगत (सावधान) नहीं हैं कि पश्चिमका सामाजिक और राजनीति-विज्ञान बहुत पिछड़ा हुआ है। आज* भारतमें महाराष्ट्र, बंगाल, गुजरात, तामिलनाड आदि प्रान्त हैं। इसी प्रकार यूरोपमें भी ऐसे प्रदेश हैं जहाँ लोग विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। हमारे देशमें, (भारत) संघके भीतर रहकर ही यद्यपि भाषावार-प्रान्त-निर्माणकी माँग है, तथापि किसीकी इच्छा सार्वभौम-सत्ता सम्पन्न पृथक राष्ट्र स्थापित करनेकी नहीं है......। इसके विपरीत यूरोपमें स्विट्जरलैण्ड, जर्मनी, बेल्जियम, फ्राँस आदिके समान अनेक अत्यन्त छोटे सार्वभौम राष्ट्र हैं......। समस्त यूरोप राजनीतिक-दृष्टिसे सम्प्रदायवादके आधार पर विभक्त है। इस प्रकारसे यह पूर्ण रूपमें स्पष्ट है कि जहाँ तक समाजके सामाजिक और राजनीतिक ढाँचेका सम्बन्ध है, भारतकी तुलनामें यूरोप बहुत अधिक पिछड़ा हुआ है।

स्वाधीनता प्राप्त होनेके पश्चात्से, हमारा उत्तरदायित्व प्रत्येक दिशामें बढ़ गया है। अपनी स्वतन्त्रता हम लोगोंने एक विशेष ढंगसे उपलब्धकी थी। इसी कारण तो हमारा उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ गया है। क्योंकि यह इसी कारण है कि संसार हमसे कुछ महान आशाएँ लगाए बैठा है। इसके अतिरिक्त, भारत ऐसी सभ्यतासे सम्पन्न है, जो "सदैव नई" है। यह वास्तवमें, मैं जिसे प्राचीन सभ्यता कहता हूँ, वह है। मेरी परिभाषाके अनुसार प्राचीन सभ्यता वह है जो प्राचीन होते हुए भी नई है। नित नवीन रहना ही प्राचीन संस्कृतिका प्रमाणांक है। वह सभ्यता जो सदैव नए-नए रूप धारण कर सकती है, प्राचीन कहलाती है। वह सभ्यता जो अनुकूलनके अक्षम है, सदैवके लिए पूर्णतया नष्ट हो जायगी। भारतीय सभ्यता एक विशेष विशिष्टता प्रदर्शित करती है। भारतीय सभ्यताने अन्य अनेक संस्कृतियोंको अपनेमें मिला लिया, उनको आत्मसात कर लिया। इसी कारणसे भारतीय संस्कृति इतनी अधिक सम्पन्न और परिपक्व है। विरोधियोंसे समन्वय करने और सब लोगोंके साथ शान्ति और सौहार्दसे रहनेकी भारतकी असामान्य विशिष्टता है। इसीलिए हमारा विशेष उत्तरदायित्व है।

---

* इसका सन्दर्भ स्वाधीनताके पश्चात् निकटतम कालखण्डसे है।

हमें समझना है कि हमारा देश शिशु नहीं है; यह १०,००० वर्षोंके अनुभव वाला पुरातन देश है......। भारतके इतिहासमें कुछ विशिष्टता है, जिसके कारण विश्वकी आँखें इस देश पर लगी हुई हैं। निस्संदेह, भारतके लिए यह वह अवसर है जो इसे पिछले दो सहस्र वर्षोंसे नहीं मिला। चिन्तनातीत समयसे आत्म-ज्ञानकी परम्परा इस देशमें विद्यमान रही है।

अब विज्ञानकी शक्तिने संसारमें आत्म-प्रकाश पुनः किया है। एक ओर आत्म-ज्ञान की भारतकी पुरातन-शक्तिका और दूसरी ओर हमारे चहुँ ओर स्थित समस्त विश्वके सन्दर्भमें विज्ञानकी आधुनिक शक्तिका मिलन हो रहा है। जब विज्ञान और आत्म-ज्ञानमें परस्पर सहयोग होता है, तब प्रत्येक दिशामें जनताका लाभ होना अवश्यम्भावी है। किन्तु वह लाभ परिणाममें तभी लपलब्ध होगा, जब विज्ञान और आत्म-ज्ञान हमारे सम्पूर्ण जीवन पर छा जायें।

विश्व जानता है कि भारतने अन्य देशों पर कभी आक्रमण नहीं किया। वे भारतीय जो चीन, जापान, श्रीलंका, तिब्बत, ब्रह्मदेश और मध्य एशिया आत्म-ज्ञान और धर्मका सन्देश ले गए, अपने साथ कोई भी शस्त्रास्त्र नहीं ले गए। वे केवल मात्र ज्ञान-प्रसारके लिए ही गए......। इतना ही नहीं कि भारत अन्य देशों पर अपना प्रभुत्व थोपना नहीं चाहता, उसने तो कभी वैचारिक अतिक्रमण भी किसी देशके प्रति नहीं किया। विचार-मात्रके प्रसारसे उद्देश्य पूर्ण हो गया समझा जाता था। यह भारतकी एक महान् विशिष्टता है। भारतीय इतिहासकी यह विलक्षणता हमारे लिए बहुत गर्वकी वस्तु है।

वह परम्परागत संस्कृति, जिसने विभिन्न धर्मों, जातियों, भाषाओं या प्रान्तोंसे सम्बन्ध रखने वालोंको शताब्दियोंसे एक सूत्रमें बाँधकर रखा है, भारतीय सभ्यताकी प्रमुख-धारा है। अहिंसाके सिद्धान्तका जन्म उसी परम्परासे हुआ है। इसके लिए गर्वोन्नत होओ......। भारतकी संस्कृति हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, सिख, बौद्ध और जैन-धर्मोंके असंख्य सन्त-महात्माओं और महान् धार्मिक-शिक्षकों द्वारा निर्मित परम्परामें निहित है......। चूंकि हमारी परम्पराका विशाल आधार है, इसकी प्रतिष्ठा भी सहज रूपमें प्रायः सारे विश्वकी ही है। तथ्य रूपमें इसे 'प्रतिष्ठा' भी नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमुख विभेदकारी लक्षण वर्तमान प्रयत्नोंका पुरातन सांस्कृतिक-कार्योंसे सामंजस्य स्थापित करनेकी क्षमता है।

भारतकी भव्यता और महानताका अनेक व्यक्ति अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं। कुछ कहते हैं कि हिमालय जैसा अन्य पर्वत नहीं है; अन्य कहते है कि गंगा जैसी गौरवशाली नदी नहीं है। अन्य अनेक उत्कृष्टताएँ भी सामान्य रूपमें कही जाती है। किन्तु, इन सबकी पृष्ठ-भूमि में 'मैं और मेरा' की भावना है; यही कारण है कि हम उन वस्तुओंको महान अथवा महत्वपूर्ण समझते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही देशसे कुछ विशेष सामीप्य अनुभव करता है। इसलिए, वह अपने देशकी महानता पर बल देता है। हम भी कहते हैं कि हमारा देश संसारमें सबसे अच्छा है—"सारे जहाँसे अच्छा......।" यह पूछने पर कि "सबसे अच्छा

क्यों?" तुरन्त उत्तर मिलता है कि "क्योंकि यह हमारा है।" यदि 'हमारा' शब्द निकाल दिया जाता है, तो यह हो सकता है कि वे उत्कृष्टताएँ महत्वकी दृष्टिसे, अन्य देशोंकी तुलनामें आभाहीन हो जाएँ।

यद्यपि यह दावा सिद्ध किए जानेमें शक्य नहीं है कि अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतके भौतिक गुण या प्रकृतिके उपहार श्रेष्ठतर हैं, तथापि मैं यह दावा अवश्य करता हूँ कि आध्यात्मिक-सिद्धान्तका जन्म केवल भारतमें ही हुआ था। यह उसी सिद्धान्तके आधार पर है कि यह भूदान-यज्ञ चल रहा है। मैं घोषणा करता हूँ, एक भारतीयके नाते नहीं, अपितु एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष प्रेक्षकके रूपमें कि भारतीय आध्यात्मिक-सिद्धान्त की समता कर सकने वाली संसारमें कोई वस्तु नहीं है। मैंने संसारकी अनेक भाषाएँ और उनके साहित्यका अध्ययन किया है, किन्तु संस्कृतके अतिरिक्त संसारकी अन्य किसी भी भाषाका साहित्य श्रेष्ठतम आत्म-विश्वास और आस्थाके साथ मनुष्य को 'तत् त्वमसि'— वह तुम हो घोषित नहीं करता। यह आध्यात्मिक-सिद्धान्त ही हमारी सामर्थ्य है। इसी में भारतका विशिष्ट गौरव समवेत है। भारत "संसारमें सर्वोत्तम देश" केवल इसी कारण है कि यहाँ प्राचीन आध्यात्मिक मनोभूमिका है।

हे जगतके स्वामी! हे परमेश्वर! मैं अपनी सद्गति, अष्ट सिद्धि या मोक्ष नहीं चाहता। मुझे सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करके उनके सब दुःख भोग लेनेकी सुविधा दो, जिससे सब प्राणी दुःख रहित हो जायँ।

—श्रीमद्भागवत ९।२१।१२

कर्मको प्रधानता देते हुए भी हम धर्मको नहीं भूल सकते। कर्म जहाँ शरीर है, वहाँ धर्म उसकी आत्मा है। धर्म जीवनको विश्वास और दिशा प्रदान करता है। इसके सहारे हम जीते हैं। हर बड़े कामके पीछे धर्मका आधार होता है। धर्म, चाहे वह कोई भी धर्म क्यों न हो, हमारे जीवनको पूर्णता और सन्तोष प्रदान करता है। हमारे आध्यात्मिक अस्तित्वके लिए धर्म वैसा ही आवश्यक है जैसा पार्थिव अस्तित्वके लिए कर्म।

—स्वर्गीय श्रीलालबहादुरजी शास्त्री

धर्म और राजसत्ता

—श्रीब्रजलाल बियाणी

मनुष्य जीवन धर्म और राजसत्तासे व्याप्त है। मनुष्यके जन्मके साथ उसके धर्मका जन्म होता है और मनुष्यके अन्तकाल तक और सम्भवतया मरणोपरान्त भी उसका साथी रहता है। राजसत्ता समाजका एक घटक—इस नाते उसका व्यक्तिपर अधिकार होता है और वह अधिकार व्यक्तिके जीवन पर्यन्त रहता है। जीवनमें धर्म सर्वव्यापी है और राजसत्ताकी व्याप्ति सीमित है।

विश्व-नियमोंका पालन धर्मका पालन है और राज्यके कानूनोंका पालन—यह राज्य सत्ताके अधिकारोंका पालन है। इन दोनों नियमों तथा कानूनोंके पालनमें यदि व्यतिरेक होता है तो यह दोनों अवस्थामें दण्डनीय है। दोनों प्रकारके नियमोंका पूर्ण पालन करना, यह मानव जीवनकी सर्वश्रेष्ठ सफलता है तथा विकासकी परमावधि है।

धर्मके अनुसार यम-नियमादिके पालनसे मनुष्यका जीवन नियन्त्रित होता है और विकसित तथा शक्तिशाली बनता है। अन्तमें वह निर्वाण या मुक्तिके ध्येयको प्राप्त करता है। जीवनमें मन्दिर, पूजा और अन्य धार्मिक कार्यों तथा अनेक अन्य कार्योंका अवलम्ब धार्मिक क्षेत्रमें आता है, यह व्यापक मान्यता है। मनुष्यका यह व्यक्तिगत जीवन गिना जाता है।

मनुष्यका सामाजिक जीवन अन्योंके साथ रहता है, इसलिए वह सामाजिक जीवन और राजसत्ता या राजकीय जीवन गिना जाता है। दोनों जीवनमें सामंजस्य—यह कठिन कार्य है। अनेक बार व्यक्तिगत नाते जो गुण अच्छा गिना जाता है. वही गुण समाजके नाते दूषित गिना जाता है। अहिंसा व्यक्तिगत नाते अच्छा गुण है, पर राजकीय नाते अनेक बार उपयुक्त नहीं है। यदि अपने देशपर कोई अन्य देश हमला करे तो अहिंसाका त्यागकर हिंसासे प्रतिकार करना आवश्यक हो जाता है। क्षमा व्यक्तिगत गुण है, पर यदि आत-तायीको क्षमा करें और चोरको माफी दें तो उसकी चोरी करनेकी वृत्तिको बढ़ावा देनेका सामाजिक दोष हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक और व्यक्तिगत कर्त्तव्योंमें कभी-कभी भेद हो जाता है। फिर व्यक्तिको किस मार्गका अवलम्बन करना चाहिये, यह विचारणीय है। कभी व्यक्ति सामाजिक कर्तव्यको महत्त्व देता है और कभी व्यक्तिगत कर्त्तव्य को।

महात्माजी इस देशके स्वराज्यके निर्माता थे, पर जब प्रसंग आया कि स्वराज्य या अहिंसा तो महात्माजीने अहिंसाको ही स्वीकार किया और सामाजिक कर्त्तव्यको गौण माना। १९४० की घटना है। देशके सारे नेता किसी शर्तपर जर्मनीके विरुद्ध अंग्रेजोंकी सहायता करनेको तैयार हो गये थे, पर महात्माजीको यह स्वीकार नहीं हुआ। वर्धामें वर्किंग कमेटीकी मीटिंग हुई। उस मीटिंगमें कमेटीने निर्णय किया कि कांग्रेस गांधीजीकी अहिंसाके साथ पूरी तरह नहीं जा सकती।

गांधीजीने कांग्रेस त्याग दी। उन्होंने अपने व्यक्तिगत तत्त्वका अवलम्बन किया। इस घटनाको लेकर जवाहरलालजीने अपनी जीवनीमें लिखा है—

'Gandhi went one way and the Congress Working Committee another.

महात्माजीने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था—

"जो कुछ हुआ, उसपर मैं प्रसन्न और दुःखी दोनों ही हूँ। प्रसन्न इसलिए हूँ कि इस भारको मैं वहनकर सका और अकेले रहनेकी शक्ति प्राप्त हुई। दुख इस बातपर हुआ कि मुझे ऐसा लगता था कि मैं दूसरोंको अपने साथ ले चलनेमें अपनेको असमर्थ पा रहा हूँ।"

सामाजिक और व्यक्तिगत कर्तव्यके संघर्षोंका यह एक नमूना है। अब तो धीरे-धीरे यह प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत कर्त्तव्यके पालनकी व्याप्ति कम हो रही है और सामाजिक या राजनैतिक पालनकी ओर दुनिया झुकती जा रही है।

जीवनमें धर्म और राजसत्ता, दोनों धाराओंमें प्राचीनकालमें धर्मकी धारा बलवती थी, पर आज दिखाई देता है कि राजसत्ताकी धारा बलवान हो गई है।

"हे अर्जुन ! सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर तथा मनको हृद्देशमें स्थित करके और अपने प्राणका मस्तकमें स्थापन करके योग धारणमें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' ऐसे इस एक अक्षर रूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और अर्थ स्वरूप मुझको चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।"

—श्रीमद्भगवद्गीता

सर्वोत्तम लय योग—शब्द साधना

—श्रीदेवदत्तजी शास्त्री

मनको वशीभूत करना, मनको विलीनकर देना लययोग है। इस योगके साधनकी अनेक प्रक्रियाएँ हैं, विन्दुध्यान, ज्योतिध्यान, रससंयम, गंधसंयम आदि। किन्तु इन सबसे सरल और उत्तम प्रणाली शब्द संयम है। योगशास्त्रका कहना है, कि 'नहि शब्द सदृशोलयः' शब्द संयमके सदृश कोई लय योग नहीं है। अजपाजप, अनहदश्रवण आदि शब्दके लयभेद हैं। जिस प्रकार साधनाके लिए शरीर और इन्द्रियोंके संयमकी आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार शब्द साधनाके लिए भी मन, वाणी, शरीर आदिके संयमकी अपेक्षा हुआ करती है। नियमित आहार, विहार और ब्रह्मचर्य ही मुख्य संयम है। शब्द साधना ब्रह्मकी उपासना और साधना है। प्राचीन शब्द तत्त्ववेत्ता ऋषियोंने शब्दको ही ब्रह्म मानकर उसकी साधना और उपासना कर ब्रह्मका साक्षात्कार किया था।

शब्दमें एक ऐसी शक्ति है, जो संसारकी समस्त स्थूल शक्तियोंसे बलवती है। कोई भी व्यक्ति संयम और अभ्यासके द्वारा उस शब्द शक्तिको अपनेमें अवतीर्ण कर सकता है। जो व्यक्ति शब्द शक्तिको प्राप्त कर लेता है, उसे वह प्राकृत जगत्से उठाकर आध्यात्मिक जगत्में ले जाता है। साधारणसे साधारण व्यक्ति भी यह सोच सकता है कि शब्द हमारी आन्तरिक चेष्टाओं एवं कार्योंको प्रकट करनेके संकेत हैं, हमारे विचारों और भावोंको रूप और रंग दिया करते हैं। नीरव अन्तरतमसे निकले हुए ये शब्द ही हमारे जीवन तथा दूसरेके जीवनको प्रभावित करते हैं। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि शब्दोंका ठीक

ढंगसे प्रयोग किया जाय। जो व्यक्ति शब्दोंका उचित प्रयोग करना जानते हैं, उन्हें अपने जीवनका सही उपयोग भी ज्ञात हो जाता है। भारतीय संस्कृतिमें वाणी सरस्वतीकी उपासनाका यही लक्ष्य है कि हमारे मुखसे एक भी शब्द अनर्गल और निष्फल न निकले। यही नहीं, बल्कि हृदयकी मौनतामें भी कोई शब्द अपवित्र और असत् न निकले। अन्दर बाहर जो भी शब्द ध्वनित हों, वे सत्य एवं शुद्ध हों। इसीलिए मूक साधनाका अधिक महत्त्व भी माना गया है। वाणीका संयम बनाये रखनेके लिए इस युगके महान् राजयोगी महात्मा गांधी सप्ताहमें एक दिन मौन रहा करते थे। वे जब बोलते थे, तब उनका एक शब्द भी निष्फल, निरर्थक और असत्य नहीं होता था। 'राम' शब्दकी साधनामें ही उन्होंने अपने जीवनका दर्शन और लक्ष्य प्राप्त किया था।

ब्रह्मकी प्रारम्भिक क्रिया-शक्ति

शास्त्रकारों, साधकों और सिद्धोंने ओ३म् शब्दको सर्वश्रेष्ठ मानते हुए इसे परमात्मा-का रूप माना है। ओ३म् मन्त्रयोग है। समस्त वेद तथा उपनिषद् ओंकारकी ही महिमा गाते हैं, ओ३म्को जप करनेका आदेश देते हैं। श्रद्धा और एकाग्रतासे किसी शब्दकी बार-बार आवृत्ति करनेका नाम जप है। साधकके अन्तःकरणकी शुद्धिशक्ति, भावशक्ति,प्राणशक्ति एवं संयम शक्तिसे किसी भी शब्दका अनुष्ठान करनेसे एवं मन्त्रको स्वर और वर्णसे ठीक-ठीक उच्चारण करनेसे असाधारण मन्त्र शक्ति प्रकट होती है। सर्वप्रथम उत्पन्न प्रकृतिकी अवस्था ही शब्द है, जो निराकार ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है और समस्त विश्वकी रचनाका कारण बना हुआ है। शुद्ध, बुद्ध, निर्लेप ब्रह्मकी प्रारम्भिक क्रिया शक्ति शब्द है, जिसके द्वारा समस्त नाम-रूपमय व्यापक प्रपंच प्रकट हुआ है।

अधिकांश लोगोंको यह शंका हुआ करती है कि मंत्र द्वारा सिद्धि प्राप्त करना महज ढोंग है। दुर्बल आत्मा और हृदय वाले व्यक्ति ही इस ओर आकृष्ट हुआ करते हैं, लेकिन यह शंका निर्मूल है। शब्दकी अव्यक्त शक्तिको समझ लेनेपर ऐसी शंकाएँ नहीं उठ सकतीं। इसका रहस्य कुछ गूढ़ नहीं है। समझनेकी आवश्यकता इस प्रकार है कि जब जीवन अभिप्रेतके मन्त्रके शब्दोंके आकार स्वरूप हो जाय, जैसा वह मंत्र उस परमात्मा, सत्यको व्यक्त करता है, तब वह साधक पूर्णरूपसे उसमें लय हो जाता है। उसका लय हो जाना ही मंत्रकी सिद्धि है।

साधककी साधक शक्तिकी सहायतासे मन्त्रके शब्दोंमें छिपी हुई, सोयी हुई अव्यक्त शक्ति प्रकट और जाग्रत हो जाती है। वस्तुतः मन्त्रका देवता वह अक्षर है, जो उस देवता-का साधकको साक्षात्कार कराता है। शब्दोंमें अगणित शक्तियोंका समूह निहित रहता है। वे शक्तियाँ संयम द्वारा प्रकट होती हैं और अपनी ही भाँति साधकको भी अलौकिक शक्ति सम्पन्न बना देती हैं।

शब्दकी चार अवस्थाएँ

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा ये शब्दकी चार शक्तियाँ हैं। अनेक प्रकारके स्थूल स्वर जिसके द्वारा सुने जाते हैं, उसे वैखरी कहते हैं। हृदय और वाणीकी सूक्ष्म दशा-

को मध्यमा कहते हैं। योगियोंने इसे हिरण्यगर्भ भी कहा है। इस अवस्थाके शब्द कानोंमें सुनायी नहीं पड़ते और जब ये सुनाई देने लगते हैं, तो इसे वैखरी कहते हैं। अन्तस्तलमें सूक्ष्म रूपसे निहित शब्दकी अवस्था पश्यन्ती कहलाती है। यह अत्यधिक उच्च अवस्था है। ईश्वरीय शक्तिको 'परा' कहा जाता है। शब्दकी यह अवस्था अपरिवर्तनीय, अव्यक्त और समस्त ब्रह्मांडका आधार एवं सृष्टिकी विधायिका है।

आजकलका भाषा विज्ञान केवल विकास प्राप्त उच्चरित शब्दों (वैखरी) का ही निरूपण करता है। वह उनके तथा उनके मूल उद्गमके बीच जो सम्बन्ध है, उसे समझना तो दूर रहा, वहाँ तक पहुँच ही नहीं सका है। हमारे ऋषियोंने हजारों वर्ष पूर्व भाषा विज्ञानके जो सिद्धान्त स्थिर किये थे, उनमें उन्होंने यह प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि शब्दके मूल स्रोतके पीछे 'चित्' छिपा हुआ है। वही इस स्रोतमें रहकर क्रियाशील है। यदि वह न रहे तो 'परा' शब्द महत्व शून्य तथा असत् हो जाता है। भारतीय शब्द तत्वज्ञानका यह आविष्कार है कि विकसित या रूपधारी शब्दोंको केवल शब्दोंके रूपमें ही नहीं देखना चाहिये। इन विशिष्ट शब्दोंके पीछे वाचक शब्द (नाम सामान्य) है, जो वास्तविकता प्रदान करता है और अपनी प्रकृतिके अनुकूल उन्हें सार्थक बनाता है।

शब्द सामान्य

वेदांतियों, शब्दशास्त्रियों और योगियोंका मत है कि जितने भी नाम विशेष हैं, वे सब एक शब्द सामान्यकी अभिव्यक्तियाँ हैं। यदि शब्दसामान्यसे नाम विशेष रहित हो जाते हैं, तो वे असत् बन जाते हैं, क्योंकि उनका एकमात्र सत् या स्वरूप एक सर्वोच्च शब्द सामान्य को लेकर ही है। यह सर्वोच्च शब्द सामान्य सब व्यक्त शब्दोंमें समान रूपसे स्थिति है, जो सबका आधार बना हुआ है। तंत्र शास्त्र इसे ही परशब्द संसारका प्राण स्रोत कहता है। यह सभी व्यक्त शब्दका उद्गम है। यही चित् चेतन भी है। इसीलिए आचार्य शंकरने इसे 'एकस्मिन् महासामान्ये प्रज्ञान घने' कहा है। इस नाम सामान्यके पीछे एक विश्वव्यापी चेतनसत्ता (प्रज्ञानघन) है। नाम सामान्य इसकी अभिव्यक्ति है।

निष्कर्ष यह निकला कि शब्दमें 'चैतन्य' अन्तर्हित है। इसलिए प्रत्येक शब्दको चेतन शक्तिके रूपमें देखना चाहिए। इसीलिए जब हम कोई बात बोलते हैं, अथवा शब्द या मन्त्र उच्चारण करते हैं तो अपने भीतर ही निहित चैतन्यको जाग्रत कर देते हैं। शब्दकी इस साधनासे किसी भूतप्रेत, जिन्न, देवता देवीका ही नहीं, बल्कि साक्षात् ब्रह्मका साक्षात्कार किया जा सकता है।

शब्दकी सजीव शक्ति

हम लोग सैकड़ों वर्षसे परम्परागत अपनी बूढ़ी दादियोंसे राजा विक्रमादित्यकी कहानियाँ सुनते आ रहे हैं कि पुतलियाँ उनसे बातें करती थीं, काठके घोड़ेपर सवार होकर वह उड़ जाया करते थे। उनका तखत, उनके पलंगके पाये न्याय वचन बोलते थे। इसी प्रकार अलीबाबा और चालीस चोरकी रहस्यमयी कहानियाँ सुनी जाती हैं। किन्तु उन्हें

सही-सही समझनेमें अबतक हमारी बुद्धि विभ्रममें है। लेकिन सन् १९२२ में रोबट 'कृत्रिम मनुष्य'का आविष्कार हमें उक्त कहानियोंकी यथार्थता समझनेके लिए प्रेरित करता है। इसी तरह सुना जाता है कि 'टेली वाक्स' नामक कृत्रिम मनुष्यका आविष्कार हुआ है। यह टेलीफोन एक्चेंसजोंपर काम करता है। 'टेली वाक्स' मनुष्यकी रचना ध्वनि तरंगोंके सिद्धान्तपर हुई है। टेलीबाक्ससे पूछनेवाला एक निश्चित स्वरकी ध्वनिका प्रयोग करता है। स्वरोंकी समानता 'ट्यूनिंग फ़ार्क'से की जाती है और विद्युत धारासे बजाये जाते हैं। इनके बाद अनेक रोबट आविष्कृत हुए हैं, जो शब्दकी सजीव शक्तिके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

शब्द साधनकी परम्परा

शब्दका संयम और इसकी साधना कभी भारतीय परिवारकी अभ्यस्त वस्तु थी। कालान्तरमें यह केवल शास्त्रोंकी चीज बन गयी या योगियों, सिद्धों, सन्तोंकी अधिकृत पूँजी। फिर भी परम्परागत योगियों, सिद्धों द्वारा यह अबतक जीवित है। गुरु गोरखनाथ, सन्त कबीर आदि अनेक शब्द साधक योगी ऐसे हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी साहित्यको शब्द-साधनका मार्ग दिखाया है। इन सन्तोंने शब्दकी अनन्त शक्तियाँ प्रत्यक्ष देखी हैं। वैदिक साहित्यके युगसे लेकर हिन्दी साहित्यके युगतक हम शब्द साधनाका अविच्छिन्न रूप देखते हैं। गृहस्थों और सन्तों द्वारा अपनाया गया यह लय योग कालक्रमानुसार विकृत अवश्य हो गया है, किन्तु इसकी मूल रूप अविच्छिन्न है। इसकी साधनाकी ओर अभिमुख होना आवश्यक है।

●

वाक्के चार पद, स्थान या स्वरूप हैं। उनको जो मनीषी ब्रह्मवेत्ता हैं, वे ही जानते हैं, जो सबसे स्थूल चौथा रूप है, उसको मनुष्यादि प्राणी बोलते हैं। शेष तीन रूप गुफामें छिपे हुए हैं—उनका परिचय साधारणतः नहीं मिलता।

—ऋगवेद

सभी शब्दोंकी शक्ति जातिमें है और जाति सत्ता स्वरूप है। सत्ता ही सत्-तत्त्व है इसीलिए सभी शब्दोंका अभिधेय यानी अर्थ सत्ता रूप ही होता है।

—जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीज्योतिर्मठाधीश्वर
स्वामीजी श्रीकृष्ण बोधाश्रमजी महाराज

"जो घास चरती गायको स्वेच्छा पूर्वक चरनेसे रोकता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है तथा वह प्रायश्चित करने पर ही शुद्ध होता है। सब देवता गौओंके अंगोंमें, सम्पूर्ण तीर्थ गौओंके अंगोंमें तथा स्वयं लक्ष्मी उनके गुप्त स्थानोंमें सदा वास करती हैं। जो मनुष्य गायके पदचिह्नसे युक्त मिट्टी द्वारा तिलक करता है उसे तत्काल तीर्थ स्थानका फल मिलता है और पग-पग पर उसकी विजय होती है।"

—ब्रह्मवैवर्त पुराण

गोपालक श्रीकृष्ण

आगे गाय पाछे गाय, इत गाय उत गाय,
गोविंदको गायन में बसिबोई भावे।
गायनके संग धावै, गायनमें सचुपावै,
गायनकी खुर रेनु अंग लपटावै।
गायन सों ब्रज छायो, बैकुण्ठ बिसरायो,
गायनके हेतकर गिरि लै उठावै।
छीतस्वामी गिरिधारी विट्ठलेस वपुधारी,
ग्वारियाको भेस धरें गायनमें आवै।

सन्ध्याका समय है, सिन्दूरी आकाशको धूल छूना चाहती है। भगवान् अंशुमाली पश्चिमी क्षितिजमें अस्त होना चाहते हैं। गायें चरकर लौट रही हैं, ग्वाल सखाओंके मध्य कन्हैया हाथमें लकुट लिये, कमरमें बाँसुरी खोंसे, शीश पर मोरपंख धारण किये, मंद-मंद मुस्कराते चले आ रहे हैं। उनकी भुवन मोहिनी मुस्कान और कोमल स्पर्शके लिये बेचारी गायें तो तरसती रहती हैं। वे चलती-चलती, मुड़-मुड़ कर कन्हैयाको देख रही हैं। कभी-कभी उनका अंग-स्पर्श पानेके लिये अत्यन्त निकट चलने लगती हैं। कोई-कोई गर्दन उठाये उन्हें देख रही हैं। आगे, पीछे, दायें, बायें, चारों ओर गायें ही गायें हैं। इन गायोंसे कन्हैयाको कितना प्रेम है। इनके बिना उसे स्वर्गतकमें चैन नहीं। चलते-चलते वे कभी किसी

गायकी गरदन सहला देते, कभी पीठपर हाथ फेर देते। गायें भी प्रेमके वशीभूत हो रही हैं।

गायें खिरकमें प्रवेश कर रहीं हैं। वे मुड़-मुड़कर श्यामसुन्दरकी ओर देखती जा रही हैं और वे अपने कर कमलोंसे उनकी पीठ पर हाथ फेरते हैं। किसीकी गरदनमें अपने सुकोमल करोंको डालकर उन्हें अपना स्नेह प्रदान कर रहे हैं। गायोंके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु वह रहे हैं। वे अपनेको धन्य मान रही हैं।

व्रजकी लीलाओंमें गोप-गोपियोंके बाद स्नेहमयी गायोंका सर्वोपरि स्थान है। स्नेह युक्त दुग्ध-दधि-घृत और नवनीत श्यामसुन्दरको अत्यन्त प्रिय है। यह प्रिय वस्तु उन्हें गायें ही तो नित्य देती हैं। श्यामसुन्दरको देखते ही उनमें प्रेम उमड़ आता, स्तनोंसे दूध निकलने लगता। वे बछड़ोंको दूध पिलाना भूल जातीं, तृण चरने तककी उन्हें चिन्ता न रहती। वे हुमकती, पूँछ उठाये, श्यामसुन्दरकी ओर चल पड़तीं। कन्हैयाका कोमल सुखद स्पर्श पानेके लिये उनके प्राण छटपटाने लगते हैं। कन्हैया उनके सर्वस्व जो हैं।

श्यामसुन्दर अभी घुटरुनों चलना सीखे ही हैं। राम-श्याम दोनोंको आज अवसर मिला है, दोनों आँख वचाकर खिरकमें जा पहुँचे। सबसे पहले बछड़ोंने उन्हें देखा, वे किलक उठे। भय-कातर दोनों भाई एक ओर देख रहे हैं, बछड़े छटपटा रहे हैं, कैसे वह कन्हैयाके पास पहुँचें। धीरे-धीरे साहस आया और दोनों भाई बछड़ोंके समीप पहुँचे। बछड़ोंकी कोमल काली पूँछ उन्हें बहुत भा रही थी। कन्हैयाने पूँछ पकड़ली और तब तक मैया और बाबा ढूँढ़ते आ पहुँचे, गोपियाँ भी खड़ी-खड़ी देख रही थीं।

श्यामसुन्दर अब अधिक नटखट हो गये हैं। उनकी अपनी छोटीसी मंडली है। सबेरेसे ही मंडली आ जमती, अवसर पाते ही बाल मण्डली निकल पड़ती। वह गोपियोंके घर भी खेलने जा पहुँचते। आज फिर खिरकमें दोनों भैया आये हैं। गायोंने जैसे ही देखा, पूँछ उठाकर हुंकारती कूदने लगीं। वे रस्सी तुड़ाकर श्यामसुन्दरके समीप जानेका प्रयास कर रही हैं। दूध दुहने वालेने पीछे घूमकर देखा, तो वह भी दूध दुहना भूल गया। पीला रेशमी झगला दोनोंने पहन रक्खा था; गहरा काजल आँखोंमें लगा था, मोर पंख बालोंमें खुँसा था। अनेक प्रकारकी मालायें, सोनेके रत्नजटित हार, हाथ पैरोंमें कड़े पहने थे। कमरमें सुन्दर स्वर्ण मेखला झलमला रही थी। उस अद्भुत मुसकान और रूपको देखकर वह स्वयं बावला हो रहा था। अब वह करे भी तो क्या ? दोनों ग्वालेके निकट पहुँचकर बोले—ताऊ गैया दुहना हम भी सीखेंगे। बाबा, देखो मैं दुहता हूँ, कहकर कन्हैया बाबाके समीप जा बैठे और कहते जा रहे हैं—'बाबा ताऊसे कहो न मैं भी दूहूँगा।'

धेनु दुहत देखत हरि ग्वाल।
आपुन बैठ गये तिनके ढिग, सिखवौ मोहि कहत गोपल।
कालि देहों गो दोहन सिखवै, आजु दुहीं सब गाय।
भोर दुहों जिन नंद दुहाई, उनसों कहत सुनाय सुनाय।

बड़ो भयो अब दुहत रहौंगो, आय आपनी धेनु निवेर।
सूरदास प्रभु कहत सीख दै, मोंहि लीजिये टेर।

कभी वह ताऊके समीप पहुँचकर थनकी धार देखकर प्रसन्न होते हैं और कभी नंदबाबाके पास पहुँचकर बार-बार कहते हैं—बाबा गाय दूहूँ ? श्यामसुन्दरने जब पीछे मुड़कर देखा, तो माँ यशोदा और गोपियाँ देख-देखकर हँस रही थीं।

आज बड़े सवेरे ही श्यामसुन्दर उठ पड़े हैं। माँ सोच रही हैं—लाला तो जगाये भी नहीं जागते थे, आज सवेरे अपने आप ही उठ पड़े हैं और अब तो खेलने भी चल पड़े हैं, भूख भी आज नहीं लगी। वे सोचती हुई काममें लग गईं और इधर दोनों भैया खिरकमें जा पहुँचे।

अब जरा देखिये, ताऊ तो पास बैठे हैं, बाबा खड़े हैं। मैया को खबर लगी और देखते-देखते गोपियाँ भी आ पहुँचीं। छोटी-सी सोनेकी दोहनी घुटनोंके मध्य दबाये हैं। छोटे-छोटे हाथोंसे थनोंको दबा रहे हैं। दूधकी एक धार निकलकर सीधी पेट पर जा लगी। बड़े प्रसन्न हो किलकारी मारकर हँस पड़े, दूसरी धार निकाली वह भी पेट पर और तीसरी जब दोहनी में गई, तो झट मैया से बोले—मैयारी, मुझे तो गैया दुहना आ गया। सभी बड़े प्रसन्न हो रहे हैं और वह गाय तो सचमुच भाग्यवान है, उसका रोम-रोम प्रेमसे पुलकित हो रहा है, वह बार-बार श्यामसुन्दरको देख रही है। बाबा कह रहे हैं, बस लाला बस, अब आ गया दुहना, थक गया तू, अब कल दुहना और तब तक माँने उठाकर गोदमें ले लिया। अब तो वे अपने अंचलसे लालाका मुख पोंछ रही हैं।

श्यामसुन्दरकी प्रत्येक लीला रसमयी है। वे रसिकोंको रस, भक्तोंको आनन्द देनेके लिये नित्य नई लीला रचते हैं। आज वह एक गोपीके घर सदलबल पहुँचे। आँगनमें अकेले आकर चारों ओर देखा, कोई नहीं था। तब सखाओंको बुलाया, माखन खाया। कुछ खाया, कुछ बन्दरों को बाँटा, सखाओंने भी खाया और सारे भाण्ड फोड़-फाड़ दिये। दूध-दही पूरे आँगनमें फैल गया। अब सब खिरकमें पहुँचे। पहले श्यामसुन्दरने बछड़े खोले, तब तक उनकी दृष्टि दूसरी ओर गई, वहाँ कई गोपवधुयें खड़ी थीं। संकेत पाकर सखा मण्डली तो भाग निकली। श्यामसुन्दर पकड़ लिये गये क्योंकि वे इन्हींकी ताकमें थीं। गोदमें उठा लिया, गोपियोंका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह यही तो चाहती थीं। वह कबसे चाहती थीं कि एक बार श्यामसुन्दर घरमें आयें और मैं उन्हें पकड़ पाऊँ, प्रीतिकी रीत तो वे ही जानते हैं। दूसरा कौन है, जो हृदयकी अभिलाषा पूरी करे। उस कमनीय कान्तिके रूप-सुधा सिन्धुको गोदमें लिये गोपी बड़ी देर तक खड़ी रही। सहसा उसके मनमें लीला सुखकी अधिक लालसा जगी; खिजानेमें अधिक सुख मिलता है। तब तक अवसर पाकर श्यामसुन्दर भाग निकलते हैं। और गोपी ? वह तो उनकी ओर देखती ही रह जाती है।

श्यामसुन्दरके खेल निराले हैं। आज दोनों भैया जब खिरकमें गये, तो बछड़े उछल-कूद रहे थे। दोनों चुपचाप खड़े देखते रहे, फिर श्यामसुन्दरने चुपचाप एक खड़े बछड़ेकी

पूँछ पीछेसे जाकर पकड़ली और वह भी तब भाग निकला। पूँछ पकड़े श्यामसुन्दर पीछे-पीछे घिसटतेसे चले जा रहे थे, लेकिन यह न बना कि पूँछ छोड़ दें। बछड़ेकी पूँछ और श्यामसुन्दर छोड़ें! भला यह कैसे हो सकता है! हाथ पैर छिल गये, सभी लोग व्यग्र थे, चिन्तित थे। मैया भी बड़ी दुखी थीं, क्या करें, क्या न करें? सभी तमाशा देख रहे थे। तब तक बाबाने पूँछ दौड़कर छुड़ा दी। बाबा मैया मना करते, आकुल होते, पर श्यामसुन्दर कहाँ मानने वाले? अब तो उनका नित्य यही खेल हो गया, बछड़ोंकी पूँछ पकड़े भागते चले जाते। ऐसी थीं उनकी बाललीलायें। गोपियाँ तो उनकी लीलाओं पर मन प्राणसे निछावर थीं। वे दिनरात कन्हैयाकी लीलाओंका ही चिन्तन करती रहतीं। वही उनके एक मात्र आधार थे—

बाल दसा गोपाल की, सब काहू भावै,
जाके भवन में जात हैं, सो लै गोद खिलावै।
श्यामसुन्दर मुख निरखि कै, अबला सचुपावै,
लाल-लाल कहि ग्वालिनि हँसि हँसि कण्ठ लगावै।

गोपियोंकी मनोदशाका मार्मिक वर्णन श्री चर्तुभुजदासने भी किया है—

भूलीरी उराहने कौ दैबौ।
परि गये दृष्टि स्याम घन सुन्दर चक्रित भई चितैबौ।
चित्र लिखी सी ठाढ़ी ग्वालिन को समुझै समुझैबौ।
चत्रभुज प्रभु गिरधर मुख निरखत कठिन भयौ घर जैबौ।

अब सूरके शब्दोंमें श्यामसुन्दरकी रूप-छटा और श्रृङ्गार देखिये—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मण्डित, मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन छवि, गोरोचन तिलक दिये।
लट-लटकन मनो मत्त मधुप-गन मादक मधुहिं पिये।
कठुला कंठ बज्र केहरि नख राजत हैं सखि रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख, कहा भयो सत कल्प जिये।

आज कई दिनों बाद फिर श्यामसुन्दर मैयासे हठ कर रहे हैं, मैयाका आँचल पकड़कर कह रहे हैं—"मैया आज गो दोहनको जाऊँगा?" माँ माखन खिला रही हैं, अनेक तरहसे समझा रही हैं, लेकिन वे मानते ही कहाँ हैं, बराबर कहते ही जा रहे हैं—

दै मैया री दोहनी, दुहि लाऊँ गैया।
माखन खाय बल भयौ, तोहि नंद दुहैया।
सेदुंर काजरी धूमरी, धौरी मेरी गैया।
दुहि लाऊँ तुरतहि तब मोहि कर दै घैया।
ग्वालन के सँग दुहत हौं बूझौ बल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी तब लेत बलैया।

अब जरा उनके दुहने की भी अदा देखिये। वे गैया दुह रहे हैं—

हरि विसभासन बैठि कै मृदु कर थन लीनो।
धार अटपटी देख कें व्रजपति हँसि दीनो।
गृह-गृह ते आयीं देखन सब व्रजनारी।
सकुचत सब मन हरि लियो हँसि घोष विहारी।

अब तो गो-दोहनमें श्यामसुन्दर चतुर हो गये हैं। रास्ता चलते उन्हें गोप बधुयें घेर कर कहतीं हैं—"लाला आज मेरी गाय दुहनी है, आ जाना। नित नये बहाने श्यामसुन्दरको घर बुलानेके, और वे द्वन्द्व विहारी चले जाते हैं। अब जिसकी वह गाय दुह देते, वह निहाल हो जाती। बेचारी बिना मोल उनके रूप पर बिक जाती, चतुर्भुज दासकी वाणीमें उस छटाका अपना आनन्द है:—

जा दिन ते गैया दुहि दीनी।
ता दिन ते आप को आपुहिं मानहु चितै ठगौरी लीनी।
सहज स्याम कर धरी दोहनी, दूध लोभ मिस बिनती कीनी।
मृदु मुसकाय चितै कछु बोल, ग्वालनि निरखि प्रेम रस भीनी।
नितप्रति खिरक साँवरे आवत, लोक लाज मनो घृत सों पीनी।
चत्रभुज प्रभु गिरधर मनमोहन दरसन छल बल सुधि बुधि छीनी।

श्यामसुन्दरके खेलमें गोवत्सोंका अपना स्थान है। वे उनके मूल सखा हैं। गायें उनसे प्रीति करती हैं, वत्स कन्हैयाके प्यारे हैं। सबसे पहले उन्होंने गो दोहन किया, फिर आग्रह किया गोचरणका। गोवत्सोंको लेकर चराने गये। अब जरा कन्हैयाके खेलका रस लीजिये—

खेलत मदन सुन्दर अंग।
जुवति जन मन निरखि उपजत बिबिध भाँति अनंग,
पकरि बछरा पूँछ ऐंचत अपनि दिसि बर जोर।
कबहुं बच्छ लै भजत हरि कों, जुवति जन की ओर,
देखि परबस भये प्रियतम, भयो मन आनंद।
मनहिं आकुल भई व्याकुल, गई लाज अमंद,
कोउ देखत गहत कोऊ हँसत छाँड़त गेह।
करत भायो अपने मन को प्रगट करि निज नेह।
अति अलौकिक बाललीला क्यों हु जानि न जाय।
मुग्धता सों महारस सुख देत रसिक मिलाय।

माखन खाते, गाय दुहते, बछड़ोंसे खेल करते, श्यामसुन्दर कुछ और बड़े हो गये हैं। अब उनकी लीलायें भी फिर बड़ी ही होंगी। अतः माँसे हठ कर रहे हैं—"माँ देख, तू मानती नहीं, लेकिन मैं तो बड़ा हो गया हूँ, अब मैं गाय चराने जाया करूँगा", पर मैया

उन्हें मना रही हैं। लाला देख अभी तो तूने ठीक से चलना भी नहीं सीखा है, फिर कैसे वनमें नंगे पैर जायगा, लेकिन वे तो अपनी ही बात कह रहे हैं—

मैयारी! मैं गाय चरावन जैहौं।
तू कहि महरि नंद बाबा सों, बड़ौ भयो न डरैहौं।
श्रीदामा लै आदि सखा सब अरु हलधर संग लैहौं।
दह्यो भात काँवरि भरि लैह्यौं भूख लगे तब खैहौं।
बंसीबटकी शीतल छैंयाँ, खेलतमें सुख पैहौं।
परमानन्द दास संग खेलौं, जाय जमुन तट न्हैहौं।

कन्हैया वत्स चराने जा रहे हैं। आज चारों ओर उत्साह हैं, उमंगें हैं। उत्सव जो ठहरा। मोतीकी चौकें पूजी जा रही हैं। बछड़ोंका शृङ्गार किया जा रहा है। सखा भी सब सज रहे हैं। उबटन स्नानके बाद आँखोंमें काजल,माथे पर बड़ा-सा काजलका टिकला। क्योंकि लालाको कहीं नजर न लग जाय, मैयाको तो यही चिन्ता रहती है। सबने सूथने पहन रक्खे है, कमरमें अरुए पटके बंधे हैं, पीताम्बरकी भी अपनी ही शोभा है। सारे गोप-गोपियाँ घेरे खड़े हैं। बाबा बड़े प्रसन्न होकर दान दे रहे हैं—अब कविकी भाषामें इस अद्भुत छटा को देखिये—

बत्स चरावन जात कन्हैया।
उबटि अंग अन्हवाय लाल को फूली फिरत मगन मन मैया।
निजकर करि सिंगार बिबिध विधि, काजल रेख भाल पर दीन्ही।
दीठि लागिवे के डर जसुमति इष्ट देव सों विनती कीन्ही।
बिप्र बुलाय दान करि सुबरन सबकी सुखद असीसें लीन्ही।
कर पकराइ नयन भर अँसुबन सकल सँभार दाउ ए दीन्ही।

श्रीश्यामसुन्दरको गाय चराते कुछ और दिन बीत गये। सखाओंके साथ वनमें भोजन करते, वहीं खेलते, यमुनामें स्नान करते। अब जरा गायें चरती दूर चली गईं तो कन्हैया कदम्बके वृक्ष पर चढ़ गये हैं और पीताम्बरको हाथमें ऊँचा उठाकर झण्डी-सी बना रहे हैं और गायोंके नाम धौरी, धूमरी आदि ले-ले कर टेर रहे हैं। जब गायोंने सुना तो वे पूँछ उठाये हुँकारती दौड़ती आ रही हैं—

टेरत ऊँची टेर गुपाल।
दूर जात गैया भैया हो, सब मिल घेरो ग्वाल,
लै लै नाम धूमरी धौरी मुरली मधुर रसाल।
चढ़ि कदंब चहुँ दिस ते हेरत अंबुज नयन बिसाल,
सुनत शब्द सुरभी समुहानी उलट पिछौड़ी चाल।
चत्रभुज प्रभु पीताम्बर फेर्यौ गौवर्धन धर लाल॥

जरा फिर देखिये—श्यामसुन्दर पर्वत पर चढ़कर गायोंको टेर रहे हैं—

गोविंद गिरि चढ़ि टेरत गाय।
गाँग बुलाई, घूमरि धौरी टेरत बेनु बजाय।
स्रवन नाद सुनि मुख तृन धरि सब चितईं सीस उठाय।
प्रेम बिबस ह्वै हूँक मार, चहुँ दिसि ते उलटीं धाय।
चत्रभुज प्रभु पट पीत लिये कर आनन्द उर न समाय।
पोंछत रेनु धेनु के मुख तें गिरि गोवर्धन राय।

श्यामसुन्दरके प्रेममें कैसा आकर्षण है कि वह दौड़ती चली आ रहीं हैं। जो चारा मुँहमें लिया है, प्रेमके कारण उसे चबाया तक नहीं है। श्यामसुन्दर भी गायोंको देखकर आनन्दमें डूब जाते हैं। देखो न, अपने पीताम्बरसे ही वे गायोंके मुखको पोंछ रहे हैं।

आज दीपावली है। व्रजमें अपूर्व उल्लास है। व्रजकुमारियाँ घरोंको दीपोंसे सजा रही हैं और श्यामसुन्दर अपने कर-कमलोंसे गायोंका शृङ्गार कर रहे हैं। खिरकमें भाँति-भाँतिसे गायोंका शृङ्गार किया जा रहा है। देखने वालोंकी भीड़ लगी है। श्यामसुन्दर किसे प्रिय नहीं है, और आज तो वह स्वयं शृङ्गार कर रहे हैं :—

हंस ब्रजनाथ कहत माता सों धौरी धेनु सिंगारौं जाय।
परमानंद दास कौ ठाकुर जेहि भावत हैं निसदिन गाय।

अब जरा देखिये खिरक में—गायोंका शृङ्गार करा रहे हैं—

स्याम खिरक के द्वार करावत गायन कौ सिंगार।
नाना भाँति सींग मण्डित किये ग्रीवा मेले हार।
घंटा कण्ठ मोतिन की पटियाँ पीठिन को आछे औछार।
किंकिन नूपर चरन विराजत बाजत बाजत चलत सुढार।

श्यामसुन्दरको जितने प्रिय सखा थे, गोपियाँ थीं, बाबा और मैया थे, उतने ही प्रिय वत्स और गायें थीं। वे दिनभर उनके साथ रहते, उनके साथ ही खेलते, खाते और उनकी सेवा करते थे। जरा गायोंके साथ कन्हैयाका खेल तो देखिये :—

कूकें देत जात कानन पर ऊँची टेरन नाम सुनावत।
सुन्दर पीत पिछौरी लैलै मुख पर फेर सबन बिझुकावत।
काहू कौ बछरा काहू को ले ले आगे आन दिखावत।
पूँछ उठाय सूधि ह्वै भाजत आप हँसत और सबन हँसावत।
फिर चुचकार सूधि कर भाजत बछरन अपने हाथ मिसावत।
श्रीविट्ठल गिरधर बलदाऊ इहि विधि अपनी गाय खिलावत।

कभी गायोंको आप नचाते, कभी छोटे बछड़ोंको अपनी गोदीमें भर लेते, कभी उनके धूल-भरे मुखको पीताम्बरसे ही पोंछ डालते। श्यामसुन्दरकी सेवा और स्नेहका पार कहाँ। श्यामसुन्दर मथुरा चले गये हैं, सारा व्रज मण्डल व्याकुल है। गायोंकी दशा भी बड़ी दयनीय हो गई है। मैया ऊधोसे कह रही हैं:—

ऊधौ इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय।
जल समूह बरसत अँखियन ते, हूँकत लेतहि नाउँ।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढ़त सोइ सोइ ठाउँ।
परति पछारि खाइ तेही छिन, अति व्याकुल ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढि डारे हैं बारि मध्य ते मीन।

गायें श्यामसुन्दरसे कितना प्रेम करती हैं; जब तक ऊधौ व्रजमें रहे, उन्हें कुछ भरोसा रहा। लेकिन जब उनका रथ चला तो वे भी गोप गोपियोंकी भाँति रथके साथ दौड़ीं और थोड़ी दूर ही जाकर थककर गिर पड़ीं। वे कितनी कृश हो गई हैं, अब उनसे चला नहीं जाता। श्यामसुन्दर गायोंके मूक प्रेमको समझते हैं। इसीलिये उन्होंने अपने सन्देशमें उद्धवसे कहा—

ऊधौ इतनो कहियो जाय।
हम आवेंगे दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय।
× × ×
और जो मिलौ नंद बाबा सौं तौ कहियो समुझाय।
तौलौं दुखी होन नहिं पावें धौरी धूमरि गाय।
यद्यपि यहाँ अनेक भाँति सुख तद्यपि रह्यौ न जाय।
सूरदास देखौं व्रजवासिन, तबहिं हियौ हरषाय।

ऐसा था श्यामसुन्दरका गौओंके प्रति विशुद्ध प्रेम। वे उनके मूक प्रेमको जीवन भर कभी भूल नहीं पाये :—

ऊधौ मोहि व्रज विसरत नाहीं।
हंस सुताकी सुंदर कगरी अरु कुंजन की छाँहि।
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी, खिरक दुहावन जाँहि।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि-गहि बाँहि।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाँहि।
जबहिं सुरति आवत वा सुखकी, जिय उमगत सुधि नाहिं।
अनगिन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहिं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहिं।

व्रजराजने आँखें बंदकर लीं, वे सोच रहे हैं। उनका मन तो व्रजमण्डलमें घूम रहा है। उनके मुखपर मंद मुसकान बिखर रही है। उनकी आँखोंके आगे यमुनाका हरा-भरा तट, चरती हुई सुन्दर स्वस्थ गायें, नाना प्रकारके लता वृक्ष पुष्प और ग्वालोंके खेल......। श्यामसुन्दर उसीमें डूबे हैं, इस प्रकार डूबे हैं कि अपनेको भी भूल गए हैं। धन्य हैं श्यामसुन्दर और धन्य हैं गायोंके प्रति उनका प्रेम।

"सत्य एक विशाल वृक्ष है, उसकी ज्यों-ज्यों सेवाकी जाती है, त्यों-त्यों उसमें अनेक फल लगते हैं। उनका अन्त नहीं होता। ज्यों-ज्यों हम गहरे पैठते हैं, त्यों-त्यों उसमेंसे रत्न निकलते हैं, सेवाके अवसर हाथ आते ही रहते हैं।"

—महात्मा गांधी

कटु सत्य

—श्रीसव्यसांची

महाराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं—सम्पूर्ण भारतवर्ष उमंग, और उत्कण्ठासे दोलित हो उठा था।

यज्ञका अश्व देशके कोने-कोनेमें निर्भय और अबाधगतिसे यात्रा कर रहा था। अश्वके ललाट पर जय-पट्ट बँधा था—"यह अश्व महाराज युधिष्ठिरके यज्ञका अश्व है, जो इसे पकड़ेगा, या पकड़कर बाँध रखेगा, उसे महाराज युधिष्ठिरके अनुज महावीर अर्जुनके बाणसे मृत्युके मुखमें जाना होगा, या निश्चित रूपसे पराजय स्वीकार करनी होगी।"

अश्व ग्रामों, नगरों, और राज्योंकी सीमाओंको विजित करता हुआ कौडिन्य नगरमें प्रविष्ट हुआ। राज्यके युवराज ताम्रध्वजकी जय पट्टपर दृष्टि पड़ी। ताम्रध्वजकी रगोंमें विद्युतकी तरंग सी सञ्चरित हो उठी। वह अपने आप ही आवेगके स्वरोंमें बोल उठा—"यह दुस्साहस है, अहंकी पराकाष्ठा है। क्या अर्जुनके अतिरिक्त भारतमें कोई दूसरा वीर नहीं? महाराज युधिष्ठिरका बन्धु और भगवान् श्रीकृष्णका सखा होनेके ही कारण क्या वह दूसरोंको हेय समझता है? मैं उसके दर्पको चूर्ण करूँगा, अवश्य चूर्ण करूँगा।"

ताम्रध्वजने अश्वको पकड़ लिया, और पकड़कर उसे एक समीपवर्ती वृक्षसे कसकर बाँध दिया।

पर यह क्या? अश्वके रक्षक, अश्वको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसके पास आ गये। रक्षकोंमें अर्जुन तो थे ही, अर्जुनके परमप्रिय सखा और आराध्य श्रीकृष्ण भगवान् भी थे।

अर्जुनने तीव्र दृष्टिसे ताम्रध्वजकी ओर देखा, और देखते ही देखते कठोर स्वरमें प्रश्न किया—"कौन है, जिसने इस अश्वको बाँध रक्खा है ?"

ताम्रध्वजने निर्भीकतासे उत्तर दिया—"मैं ताम्रध्वज—कौडिन्यका युवराज।"

अर्जुनने भौंहें नचाकर ताम्रध्वजकी ओर देखा, और विद्रूप हँसी हँसते हुए कहा—"जो हो, तुम अल्प वयस्क हो। जाओ, मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया। अश्वका बन्धन खोल दो। क्या तुम जानते नहीं कि यह अश्व किसका है, और मैं कौन हूँ ?"

ताम्रध्वजने दृढ़ स्वरमें उत्तर दिया—"जानता हूँ। जानकर ही तो मैंने इस अश्वको वंदी बनाया है। इतना बड़ा अहम् ! शक्ति हो, तो अश्वको वन्धन-मुक्त करालो। तुम्हारे भयसे तो मैं अश्वको मुक्त करने वाला नहीं।"

अर्जुनकी आँखोंमें अंगार बरस पड़ा। अर्जुन क्रोधके स्वरमें बोल उठे—"अबोध बालक, तू क्यों अपनी मृत्युको निमन्त्रण दे रहा है ? मैं देव जेता अर्जुन ! तू मुझसे युद्ध करनेका साहस कर रहा है !"

ताम्रध्वज सतेज स्वरमें बोल उठा—"क्यों, इसमें विस्मयकी बात क्या ? क्या युद्ध करनेकी कला केवल तुम्हींने सीखी है ? क्या धरतीपर शूरता-वीरता केवल तुम्हारेमें ही है ?"

महावीर अर्जुनकी आँखोंसे अग्निके स्फुलिंग निकल पड़े। उन्होंने अपने विश्वविजयी गाण्डीव पर शर चढ़ाया और देखते ही देखते चला दिया। ताम्रध्वजने भी शरका उत्तर शरसे ही दिया।

युद्ध प्रारम्भ हो गया। भगवान् श्रीकृष्ण खड़े-खड़े मुसकरा रहे थे। उनकी वह मुसुकुराहट ! उसमें रहस्यके साथ ही साथ अपनत्त्व भी था।

युद्धमें अर्जुन पराजित हो गए। लज्जासे सिर नतकर भगवान् श्रीकृष्णके निकट पहुँचे। साश्रुनेत्र ! यह क्या हो गया। एक बालकके द्वारा उसका अपमान, जिसके साथ अखिल ब्रह्माण्डोंके नियामक स्वयं भगवान् हैं।

अर्जुनने अपनी वाणीको अपने अन्तरकी व्यथासे अभिषिक्त करके कहा—"प्रिय सखा, यह कैसी अघटित घटना घटी है ?"

अर्जुनके स्वरमें आर्द्रता थी। भगवान् श्रीकृष्णने निर्विकार स्वरमें उत्तरमें दिया—"यह तो होता ही है। दो व्यक्ति युद्धमें रत होते हैं, तो एककी विजय तो होती ही है।"

"किन्तु मेरी पराजय—अर्जुनने अभिमान पूर्ण स्वरमें कहा—और वह भी तब, जब तुम मेरे सहायक हो।"

श्रीकृष्ण भगवान्ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—"परन्तु इस युद्धमें तो मैं तटस्थ ही रहा। तुम्हें ज्ञात ही है, कि मेरी नीति सदा अधर्मके विरुद्ध धर्मके पक्षमें रहनेकी है। धर्मके प्रति जिसकी भावना बलवान होती है, उसीको मेरी सहायता भी प्राप्त होती है।

महाराज युधिष्ठिरकी धर्म-शक्तिसे ताम्रध्वजके पिता राजा शिखिध्वजकी धर्म-शक्ति किसी रूप में कम नहीं। यही कारण है कि आजके युद्ध में दोनों पक्ष समान रूपसे ही मुझे प्रिय थे। तुम युद्ध में पराजित तो इसलिए हुए, कि ताम्रध्वज तुम्हारी अपेक्षा अधिक रण कुशल था।"

अर्जुनका हृदय पीड़ासे, भीतर ही भीतर व्यथित सा हो उठा। पर अर्जुनने अपनी व्यथाको भीतर ही भीतर दबाते हुए कहा—"मैं मानता हूँ कि मेरी पराजय ताम्रध्वजकी रण-कुशलतासे ही हुई है, पर मैं यह कैसे मानलूँ कि जो 'धर्मराज' के रूपमें इस धरतीपर ख्यात हैं, जिनके धर्मकी प्रशंसा देवता भी करते हैं, उन महाराज युधिष्ठिरकी समानता करनेवाला कोई अन्य भी धर्म-आस्थालु है।"

भगवान् श्रीकृष्णने सहजभावसे उत्तर दिया—"पर यह सत्य है, ताम्रध्वजके पिता शिखिध्वज महाराज युधिष्ठिरके समान ही धर्म-प्रेमी हैं, यदि तुम अप्रसन्न न हो अर्जुन, तो मैं यह भी कहनेके लिए भी तैयार हूँ, कि शिखिध्वजकी धर्म-आस्था किसी अंशमें युधिष्ठिरसे भी अधिक है।"

अर्जुन विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्णकी ओर देखने लगे, और देखते ही बोल उठे— "यह आप क्या कह रहे हैं अच्युत ! आपकी इस बातका प्रमाण।"

"प्रमाण है—श्रीकृष्णने कहा—पर प्रमाणके लिए तुम्हें मेरे साथ, वेश बदलकर शिखिध्वजकी राजसभामें चलना होगा।"

अर्जुनने दृढ़ स्वरमें कहा—'मैं अवश्य चलूँगा।"

शिखिध्वजकी राजसभा। शिखिध्वज उच्चासन पर विराजमान थे। मन्त्री, सेना-पति, सैनिक, सभासद आदि अपने-अपने स्थानों पर आसीन थे। एक उल्लास, एक हर्ष, राज्य सभाके कोने कोनेमें छाया हुआ था। जिसे देखिये वही, युवराज ताम्रध्वजके शौर्य और विजयकी प्रशंसामें रत था। स्वयं राजा शिखिध्वज भी गौरवमें फूले न समा रहे थे। उनके युवराज, ताम्रध्वजने आज युद्धमें उन महावीर अर्जुनको पराजित किया है, जो विश्वजेता हैं। शिखिध्वज युवराज ताम्रध्वजकी पीठ बड़े उमंगसे ठोक रहे थे, और रह-रहकर उनपर प्रशंसाके पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे।

सहसा एक वृद्ध ब्राह्मणने अपने एक शिष्यके साथ राजसभामें प्रवेश किया। शिखिध्वज ब्राह्मणको देखते ही आसनसे उठ पड़े और श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणका स्वागत करते हुए बोल उठे—"आइए, आइए, ब्राह्मण देवता ! आपके आगमन मात्रसे ही मैं कृत-कृत्य हो गया। कृपापूर्वक आसनपर विराजिए।"

ब्राह्मणने आसनपर उपविष्ट होते हुए कहा—"राजन्, आज मैं एक दारुण विपत्तिमें पड़ करके ही आपकी शरणमें आया हूँ। यदि आप शरणागतकी रक्षाका वचन दें, तो मैं अपनी दुःख कथा आपको सुनाऊँ।"

राजा शिखिध्वज बोल उठे—"मैं वचन देता हूँ ब्राह्मण देवता ! आपकी चाहे जो विपदा होगी, मैं उसे दूर करूँगा। आप निःसंकोच अपना दुःख प्रकट करें।"

ब्राह्मणने कहना प्रारम्भ किया—"राजन् ! मेरा एक ही पुत्र है। आज उसके विवाहकी तिथि है। मैं अपने इस शिष्य (शिष्यकी ओर इंगित करके) और पुत्रके साथ कन्याके पिताके घर जा रहा था। हठात् वनमें एक प्रकाण्ड केसरी आकर पथमें खड़ा हो गया, और मेरे तरुण पुत्रकी ओर देखकर बोला—"मैं कई दिनोंसे भूखा हूँ। आज तुम्हारे पुत्रको मारकर, मैं अपनी क्षुधाग्नि शान्त करूँगा।"

मैं तो व्याकुल हो उठा। मुझे ऐसा लगा, जैसे किसीने मेरे हृदयपर कुलिशसे कर्कशतापूर्वक प्रहार किया हो। मेरा शरीर ही नहीं, तन-प्राण भी कम्पित हो उठा। मैं अपने पुत्रकी मुक्तिके लिए केहरीसे विनती-प्रार्थना करने लगा।

पर केहरी क्यों मानने लगा ? उसने कहा—"मैं क्षुधासे व्याकुल हो रहा हूँ। मुझे भोजन मिलना ही चाहिए।"

मैंने निवेदन किया—"तुम मेरे पुत्रको छोड़ दो। उसके स्थानपर मुझे मारकर अपनी क्षुधाग्नि शान्त करो।"

पर केसरीने उत्तर दिया—"तुम तो वृद्ध हो। तुम्हारे मांससे भला मुझे क्या आनन्द प्राप्त होगा ? फिर भी, यदि तुम।"

ब्राह्मण कहते-कहते रुक गया। ऐसा लगा, जैसे वह जो कुछ कहना चाहता हो, भयके बन्धनोंसे न कह पा रहा हो।

राजा शिखिध्वज बोल उठे—"कहिए, कहिए, ब्राह्मण देवता, आप कहते-कहते रुक क्यों गए ?"

ब्राह्मणने पुनः कहना प्रारम्भ किया—"राजन् ! सिंहने कहा, कि यदि मैं उसे राजा शिखिध्वज (आप) का मांस लाकर दूं, तो वह मेरे पुत्रको छोड़ सकता है। मैं इसी उद्देश्यसे आपकी शरणमें आया हूँ महाराज ! मेरे पुत्रके प्राण अब आप हीके हाथमें हैं।"

ब्राह्मण कातर हो उठा, और उसके नयनोंसे अश्रु-विन्दु गिरने लगे।

राजसभामें एक कोलाहल सा छा गया, ऐसा नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। पर महाराज शिखिध्वज शान्त ही रहे। उनकी आकृतिपर न चिंता और न विषाद। उन्होंने सबको शान्त करते हुए उत्तर दिया—"आकुल न हो ब्राह्मण देवता ! मैंने आपको वचन दिया है। मैं अवश्य अपने शरीरका मांस देकर आपके पुत्रकी रक्षा करूँगा।"

ब्राह्मणने शिखिध्वजकी ओर रहस्यमयी दृष्टिसे देखते हुए कहा—"पर इस प्रकार नहीं राजन् !"

शिखिध्वजने प्रश्न किया—"फिर किस प्रकार ब्राह्मण देवता ?"

ब्राह्मणने कहा—"केहरीका यह भी कहना है राजन्, कि आपकी राजमहिषी, और युवराज ताम्रध्वज एक आरेसे, बीचो-बीच आपके शरीरको दो टुकड़ोंमें विभक्त करेंगे। आपके शरीरके दाहिने अंगके मांससे केसरीकी क्षुधाग्नि शान्त होगी।"

युवराज ताम्रध्वज सहित राजसभा चीत्कार कर उठी—'नहीं, नहीं। ऐसा कभी न होगा, कभी न होगा। यह निष्ठुर और निर्मम पापाचरण है।"

महाराज शिखिध्वजने राजसभापर एक गहरी तीव्र दृष्टि डाली। उन्होंने ताम्रध्वज और राजसभाकी ओर देखते ही देखते कहा—"मैं वचन-बद्ध हूँ। मैं अपने वचनका पालन करूँगा। ताम्रध्वज, (ताम्रध्वजकी ओर देखकर) आरा ले आओ। अपनी माताको भी बुलाओ ताम्रध्वज! तुम दोनों ही बीचो-बीचसे मेरे शरीरको खण्डित करके ब्राह्मणकी इच्छाको पूर्ण करो।"

राज्यसभा स्तब्ध हो उठी, ब्राह्मण पुनः बोल उठा—"पर राजन, आपको एक बात और माननी होगी।"

शिखिध्वजने उत्कण्ठासे प्रश्न किया—"कौनसी बात ब्राह्मण देवता! अब उसे भी कह डालिए।"

ब्राह्मण देवताने कहा—"केसरीके कथनानुसार आरा चलाते हुए राज महिषी, युवराज, और स्वयं आपके भी नयनोंसे एक भी बूँद अश्रुकी नहीं गिरनी चाहिए महाराज!'

शिखिध्वजने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—"ऐसा ही होगा ब्राह्मण देवता, ऐसा ही होगा।"

महाराज शिखिध्वजके मस्तकपर, बीचो-बीच आरा रक्खा गया। एक ओर राजमहिषी थी, और दूसरी ओर युवराज ताम्रध्वज। न किसीकी आँखोंमें दुखके आँसू, और न किसीकी आकृतिपर विषाद। सबके सब शान्त और गम्भीर।

आरा शनैः शनैः चालित होने लगा। हठात् महाराज शिखिध्वजके वाम नेत्रसे अश्रुकी एक बूँद टपक पड़ी। ब्राह्मण चीत्कार कर उठा—"बस कीजिए राजन्! आपके इस दुःखपूर्ण दानसे मेरे पुत्रकी रक्षा न हो सकेगी। आपके वाम नेत्रमें आँसू राजन्! केसरी कदापि आपके दानको स्वीकार न करेगा।"

महाराज शिखिध्वजने अकम्पित और शान्त स्वरमें उत्तर दिया..."आप समझे नहीं ब्राह्मण देवता! मेरे वाम नेत्रसे अश्रुकी बूँद तो इसलिए गिरी है, कि आप हमारे शरीरके वाम अंगोंको परोपकार करनेका अवसर नहीं दे रहे हैं। क्योंकि आप तो अपने पुत्रके रक्षार्थ हमारे शरीरके दाहिने अंगोंका ही मांस सिंहके लिये ले जायँगे।"

सहसा प्रकाश जल उठा। ऐसा प्रकाश, जिसमें सबके नेत्र चमत्कृत हो उठे। लोगोंने साथ ही साथ सुना—"बस करो रानी, बस करो युवराज! तुम्हारी परीक्षा पूर्ण हुई राजन्! तुम धन्य हो राजन्! तुम्हारे सुयशको कोई भी न छू सकेगा राजन्, कोई भी न।"

लोगोंने विस्मयके साथ देखा कि ब्राह्मण और उसके शिष्यके स्थानपर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, और महावीर अर्जुन खड़े हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर देखा। अर्जुनका सिर नत हो गया। ऐसा लगा, मानों वे शत-शत प्राणोंसे धर्मध्वजी शिखिध्वजकी मन ही मन अर्चना कर रहे हों।

"मैं सब भूतोंमें सम हूं। न कोई मेरा द्वेषका पात्र है और न प्रिय है, परन्तु जो जन मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं, और मैं भी उनमें हूं।"

—श्रीमद्भगवद्गीता

एक अनन्य साधिका आण्डाल रंगनायकी

श्रीआनंद

गोपालकी प्रेमांगना आण्डाल रंग नायकी! वे प्रेमकी प्रतिमूर्ति थीं। श्रीकृष्ण-का नाम लेते ही उनके नयनोंसे प्रेमका अमृत रस टपकने लगता था। वे विभोर हो जाती थीं—आत्म विस्मृत बनकर किसी अलौकिक लोकमें विचरण करने लगती थीं। उनके उस अलौकिक-लोकमें श्रीकृष्णको छोड़कर और कोई न होता था। वे उसी विभोरावस्थामें गद्-गद् स्वरोंमें कह उठती थीं—"मैं पूर्ण यौवन मयी हूँ, श्रीकृष्ण ही एक मात्र मेरे स्वामी हैं। उनके अतिरिक्त मैं और किसीको नहीं जानती— किसीको नहीं पहचानती।" कहा जाता है, कि श्रीकृष्ण भी उन पर तन-मन-प्राणसे निसार थे, और फिर निसार क्यों न होते? वासना रहित पवित्र प्रेम ही तो श्रीकृष्णका मूल्य है। राधाने इसी मूल्यको चुकाकर श्रीकृष्णको खरीदा था। और खरीदा था व्रजकी गोपियो ने भी। देखिए श्रीकृष्ण गोपियोंके हाथमें किस प्रकार बिके हुए हैं—"मेरी प्यारी गोपियो! तुमने मेरे लिए घर-गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग, सर्वथा निर्मल, और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे, अमर जीवनसे, अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा, और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ, तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्मके लिए तुम्हारा ऋणी हूँ।" फिर श्रीकृष्ण आण्डाल रंगनायकीके हाथोंमें क्यों न बिकते? राधा और गोपियोंकी भाँति ही रंगनायकी भी तो श्रीकृष्णके निर्मल प्रेमकी साधिका थीं।

सुनिए 'रंगनायकी' और भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमकी पवित्र कथा। इस पवित्र प्रेम-कथासे जहाँ 'रंगनायकी' के उत्कृष्ट प्रेमका चित्र आँखोंके सामने चित्रित होता है, वहाँ इस

बातका पता भी चलता है कि जो भगवान्के प्रेममें अपना सर्वस्व छोड़ देता है, उसके लिए भगवान् भी सब-कुछ सबको छोड़ देते हैं। आण्डाल रंगनायकी प्रति-दिन अपने गलेमें हार डालकर दर्पणके समक्ष खड़ी हो जातीं, और अपने रूप और सौन्दर्यके सम्बन्धमें सोचा करतीं, 'क्या यह श्रीरंग—भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पण करने योग्य है ?' एक दिन उन्होंने अपने गलेका हार 'श्रीरंग'के चरणोंमें समर्पित करनेके लिए पुजारी तक पहुँचा दिया। पर पुजारीने देखा, तो उसमें किसीके सिरका बाल था। पुजारीने हार लौटा दिया। दूसरे दिन भी पुजारीने 'आण्डाल'की माला यह कहकर लौटा दी कि मालाके पुष्प मुरझाए हुए हैं। पर श्रीरंग भगवान्को तो आण्डाल रंगनायकीकी ही माला प्रिय थी। वे मचल उठे। उन्होंने स्वप्नमें पुजारीको आदेश दिया, कि मुझे आण्डाल रंगनायकीके गले की ही माला प्रिय है। पुजारी करता तो क्या करता ? उसने 'आण्डल रंगनायकी' से उसके गलेकी माला माँगकर श्रीरंगनाथ भगवान्को पहनायी। श्री रंगनाथ भगवान्को आण्डाल रंगनायकीकी उस मालासे कितनी संतुष्टि हुई होगी, कितना अतुल आनन्द प्राप्त हुआ होगा ? भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारकी निर्मल प्रेमाभिषिक्त मालाओंके लोभमें अपने 'श्रीधाम'का भी परित्याग करदिया करते हैं।

आण्डाल रंगनायकीका प्रेम धन्य था, अवर्णनीय था। वे रहतीं तो अपने पालक—अपने गुरु श्रीविष्णुमित्रके आश्रममें, पर उनके प्राण दिन-रात ब्रजके निकुंजोंमें ही विहार किया करते थे। सुदूर दक्षिणमें निवास करते हुए भी वे दिन-रात अपने प्रियतम बाँके विहारी की पवित्र लीला भूमि ब्रजकी स्मृतिमें डूबी रहा करती थीं। ब्रजके कदम्ब, वृन्दावनकी करील की कुंजें और यमुनाका पुलिन प्रतिक्षण उनके प्राणोंके भीतर डोलता ही रहता था। आखिर श्रीरंग भगवान् आण्डाल रंगनायकीके प्रेम पर रीझ ही तो उठे। उन्होंने पुजारी को स्वप्नमें आदेश दिया—"मेरी प्रियतमा रंगनायकी को यथा शीघ्र लाओ। मैं उसके साथ अपना परिणय सम्बन्ध स्थापित करूँगा।" उधर रंगनायकी'ने भी स्वप्नमें देखा, कि बड़ी धूम-धामसे भगवान् श्रीरंगके साथ उसका विवाह हो रहा है। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीरंगने रंगनायकीके पिता विष्णुचितको भी आदेश दिया 'कि वे रंगनायकीको सुन्दर परिधानों' और अलंकारोंसे सजाकर मेरे मन्दिरमें लायें।

प्रभातका समय था। सूर्यकी स्वर्णिम किरणें धरती पर खेल रही थीं। पक्षी रह-रहकर चह-चहा रहे थे। भगवान् श्रीरंगके मन्दिरकी पालकी विष्णुचितके आश्रमके द्वार पर जा लगी। आण्डाल रंगनायकी सज-धजकर पालकीमें जा बैठी, और पालकी चल पड़ी मन्दिरकी ओर। मन्दिरके द्वार पर शहनाइयाँ बज रही थीं। रह-रहकर तुमुल शंख-ध्वनि हो रही थी। वेदों और शास्त्रोंके मन्त्रोंके गुंजारसे भीतर और बाहर प्रति ध्वनित हो रहा था। जन-जनमें उल्लास, रग-रगमें महा आनन्द ! आण्डाल रंगनायकीकी पालकी भगवान् श्रीरंगके मन्दिरके द्वार पर उतरी। पर्दा उठा, रंगनायकी पालकीके भीतरसे निकली। उसने मन्दिरमें प्रवेश किया। मन्दिर एक दिव्य प्रकाशसे, एक अलौकिक ज्योतिसे जगमगा उठा। आण्डाल रंगनायकी भगवान् रंगनाथकी ओर देखती हुई शनैः शनैः आगे बढ़ी, और रंगनाथकी शेष शैया पर चढ़ गयी। भगवान्ने उसे अपनेमें समाविष्ट कर

लिया। ज्योति महा ज्योतिमें मिल गई। रंगनायकीका वह अद्भुत मिलन। आज भी दक्षिण भारतके मन्दिरोंमें, आण्डाल रंगनायकीकी जयन्तीके रूपमें, लोग उसके मिलनको याद करते हैं, और विभोर होकर नाचते-गाते हैं।

आण्डाल रंगनायकी भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य गोपिका थी। उसने अपने प्रेम और भक्तिसे एकबार फिर धरती पर गोपियोंके प्रेमको साकार कर दिया था। जिस प्रकार आण्डालका प्रेम अलौकिक और दिव्य था, उसी प्रकार उसकी जन्म-कथा भी बड़ी अलौकिक है। विक्रमके आठवीं शतीकी बात है। भगवती कावेरीके पवित्र तट पर, एक पवित्र गाँवमें विष्णुचित नामके प्रथम आलवार आश्रम बनाकर निवास करते थे। भगवान्का अर्चन-वंदन ही उनके जीवनका व्यापार था। एकदिन प्रभात कालमें जब वे अपने उपवनके तुलसीके बिरवेको पानी दे रहे थे, तो उनकी दृष्टि एक सद्यजाता कन्या पर पड़ी। कन्याको देखते ही उनका हृदय वात्सल्य रससे छलक उठा। वे स्नेहसे उसे उठाकर अपने आश्रममें ले गए, और उसे नारायणको समर्पित कर दिया। नारायणने स्पष्ट रूपसे उन्हें आदेश दिया कि वे अपनी पुत्रीके समान ही उसका पालन-पोषण करें।

विष्णुचितने उसे 'कोदई' अर्थात् पुष्पोंके हारके समान सुन्दरकी संज्ञासे अभिहित किया। बालिका शनैः शनैः वयकी सीढ़ियोंको पार करने लगी। बाल्यावस्थामें ही वह भगवान् 'श्रीरंग'जीकी प्रतिमा पर विमुग्ध हो उठी। वह प्रतिदिन पुष्प चुनकर लाती, माला बनाती, और श्रीरंगजीके गलेमें डालकर विभोर हो जाती। सोते-जागते, उठते-बैठते सदा उसके ओठों पर 'श्रीरंगजी'का ही नाम रहता था। आखिर 'श्रीरंगजी'को प्रेमसे मालार्पण करते ही करते वह स्वयं भी उनके गलेका हार बन गई।

आण्डाल रंगनायकीके प्रेमकी भाँति ही उसकी वाणी भी बड़ी दिव्य और मनोरम है। आण्डालकी वाणीमें उसका छलकता हुआ प्रेम है—हृदय है, आत्मा है। कौन ऐसा है, जो उसकी प्रेम मयी पवित्र वाणीको सुनकर विभोर न हो उठेगा। निम्नलिखित कुछ पंक्तियों में 'आण्डाल' का प्रेमी हृदय अपने प्रियतम श्रीकृष्णके आह्वानमें किस प्रकार आकुल है—

"जब प्रेमके दिव्य राज्यमें अगणित कण्ठोंसे साथ ध्वनि फूट पड़ती है, अमृत से भीगे हुए ओष्ठों पर स्वर प्रेम-क्रीड़ामें तन्मय हो जाते हैं, पुष्पोंकी पवित्र माला पूजामें समर्पित होनेके लिए आकुलित हो जाती है, उस समय व्रजमें सौभाग्यवती यमुनाके तट पर भगवान्का दिव्य रूप उतर आता है।"

"अरी कोयल! मेरे प्राण-प्रिय मेरे समक्ष क्यों नहीं आते हैं! वे मेरे हृदयमें प्रविष्ट होकर मुझे अपने वियोग से पीड़ित करते हैं, मैं तो उनके लिए तड़प रही हूँ, और वे मेरी व्यथाको खेल समझते हैं।"

गोविन्द! आपकी सुन्दरता कितनी अलौकिक, और कितनी प्राणाकर्षक है। मृदंग पर थपकियाँ दे-देकर आपकी मनोरम लीलाका मधुर और रस-सिक्त संगीत गाने पर कितना अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। नाना प्रकारके राग रंगों, अलंकारों, और सुख-साधनों तथा परिधानोंसे वेष्ठित रहने पर जो सुख प्राप्त होता है, उससे अगणित गुना आनन्द आपकी अनुभूति और साहचर्यमें प्राप्तहोता है।"

संसार प्रसव-पीड़ासे तड़प रहा है—एक नया जन्म देनेके लिए एक नई सृष्टिके लिये परम्पराएँ-रीतियाँ आचार, शीर्ष मान्यताएँ सब भूसेकी ढेरियाँ हैं।

जल रही हैं ज्वालामें महान् विप्लवको काल-पुरुष चल पड़ा है विनाश करनेके लिए और करनेके लिए फिरसे निर्माण अद्भुत सुविशाल प्रसाद।

साथ-साथ शान्ति का—

अरे एक ऐसी मानव जाति का! जो गुँथी होगी एकताके सूत्रोंमें, मानकर—सबका आधार है सत्ता सनातन, एक मूल स्रोत सकल प्राणी मात्रका संदेश परमात्माका-सारी मानवता मुझमें समाई है मुझमें गत जीवन है।

जीवनको बाँटो मत, काटो मत—मैंने है जन्म लिया फिर से एक नई चेतनामें। इस बदले हुए हृदयको स्वीकार करो...सच्चे बनो, और सार्वभौम।

—स्वामी श्रीरामदासजी महाराज

अखण्ड भारतके द्रष्टा—आदिगुरु शंकराचार्य

—श्री रामचन्द्र शर्मा, एम० ए०, 'साहित्य रत्न'

यों तो प्रायः प्रत्येक समाजको उत्कर्षापकर्ष, उत्थान-पतन तथा उन्नति, अवनति सब कुछ देखना पड़ता है, परन्तु हमारा समाज आज जिस विपन्नावस्थामें हैं, वह शोचनीय है। कैसी विडम्बना है कि जो समाज कभी सुसम्पन्न था, ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें जगद्गुरु कहलाता था, जहाँ सर्वदूर देशोंसे लोग आकर आचार और मानवताकी शिक्षा प्राप्त करते थे, और जो सभी क्षेत्रोंमें सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित था, आज इस दशा को प्राप्त हैं। देशके बड़े-बड़े विचारक, मनीषी तथा शासक सभी चिन्तित हैं। हमारी बहुत कुछ शक्ति तो संगठन और एकताके नारे लगाने एवं 'हिन्दू' मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, जैनी भाई आदिके पहाड़े याद करनेमें ही व्यय हो जाती है। विचार करनेकी बात है कि हमें

यह बार-बार याद करने-करानेकी आवश्यकता क्यों पड़ती है ? ये नारे हीनताके द्योतक अधिक हैं, और एकता कराने वाले कम । परन्तु किया क्या जाय ? बात कुछ ऐसी ही है, विवशता है ।

प्राचीन कालमें भी हमारे समाज पर संकट आये हैं, पर जब कभी भारतकी अखण्डता तथा समाज-संगठनकी ओर ललचायी दृष्टिसे किसीने देखा तो कोई लोक संग्रही महापुरुष उठ खड़ा हुआ और समाजको व्यवस्थित कर दिया । भगवान् शंकराचार्य एक ऐसी ही विशिष्ट विभूति थे । अपने ३२ वर्षके लघु जीवनमें ही उन्होंने वह महान् कार्य कर दिखाया, जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते । आज हम भारतके अतीतके इतिहासके स्वर्णिम पृष्ठोंमें से एक गौरवमय पृष्ठका संक्षिप्त विवेचन करेंगे ।

आचार्य शंकरके समय हमारे समाजमें विघटनकारी तत्व पनप रहे थे । भारतीय संस्कृतिका विरोध तथा भोगवाद और अनाचारका प्रचार हो रहा था । मठों, विहारों आदिमें प्रच्छन्न, दुराचारी, व्यभिचारी घुस बैठे थे, और साधनाके नाम पर ढोंग पनपने लगा था । भोगवाद और शून्यवादका प्रचार हो रहा था । बौद्धभिक्षु-भिक्षुणियाँ विलासिता-प्रिय हो गये थे । वे समाजको भी पतनकी ओर ले जा रहे थे । चीनी दस्युओं का आतंक भी समाजमें फैल रहा था । ऐसी अवस्थामें शंकराचार्यका आविर्भाव हुआ ।

वेद-वेदांग और शास्त्रोंमें पारंगत हो शंकराचार्यजीने गोविन्दाचार्य मुनिसे ब्रह्म-सूत्रकी परम्परा-प्राप्त व्याख्या सुनी । पारंगत होने पर देशमें भ्रमण करने निकल पड़े । शास्त्रार्थमें बौद्धोंको परास्त करके सर्वत्र वैदिक सनातन धर्मका प्रचार किया । इनकी यह धर्मयात्रा शंकर दिग्विजयके नामसे प्रसिद्ध है । काशीमें धर्म प्रचार करके ये ऋषि-केश पहुँचे । वहाँ भगवान् यज्ञेश्वरकी उस मूर्तिका उद्धार किया, जो चीनी दस्युओंके भय से गंगामें डाल दी गयी थी । वहाँसे बद्रीनाथ पहुँचे । वहाँ भी पुजारियोंने चीनियोंके भयसे भगवान् नारायणकी मूर्तिको नारद-कुंडमें डाल दिया था । उसका उद्धार किया, और मन्दिरमें प्रतिष्ठित किया, जो आज तक उसी प्रकार चली आ रही है । इस प्रकार सारे भारतकी यात्रा करके वैदिक धर्मकी पुनः स्थापना की ।

उपर्युक्त घटनाओंसे प्रकट है कि भारतमें चीनियोंका भय तो फैलने ही लगा था, अतः शंकराचार्य ने भारतकी अखण्डताको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये चारों दिशाओंमें सीमाके निकट अपने चार मठोंकी स्थापना की । इनमें ज्योतिर्मठ उत्तरमें बदरिकाश्रमके निकट है, शारदामठ पश्चिममें द्वारिकापुरीमें शृंगेरी मठ, दक्षिणमें रामेश्वर क्षेत्रमें, तथा गोवर्धन मठ पूर्वमें, जगन्नाथपुरीमें है । आचार्यने इन मठोंके अधिकार-प्रचार क्षेत्र भी निश्चित कर दिये । अपने चार प्रमुख शिष्योंको इन चारों मठोंका आचार्य नियुक्त कर दिया । इस प्रकार आचार्य पद्मपादको पूर्व दिशामें गोवर्धन मठका, आचार्य हस्तामलक को पश्चिममें शारदा मठका, तोटकाचार्यको उत्तरमें ज्योतिर्मठका तथा सुरेश्वराचार्यको दक्षिणमें शृंगेरी मठका आचार्य नियुक्त किया गया ।

इन मठाधीशोंकी नियुक्ति तथा रहन-सहन आदिके लिए भी शंकराचार्यजीने बड़े कठोर नियम बनाये जो 'महानुशासन' नामसे प्रसिद्ध हैं। महानुशासनमें कहा गया है कि पुनीत आचरण वाला जितेन्द्रिय, वेद-वेदांग-पारंगत विद्वान योगज्ञ तथा समस्त शास्त्रोंका जानने वाला तपस्वी व्यक्ति ही मेरे धर्मपीठ पर बैठनेका अधिकारी है। उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त संन्यासी जो मेरे पीठ पर बैठे, उसे मेरा ही स्वरूप समझना चाहिए। इसीलिए ये पीठाधीश्वर शंकराचार्य कहलाते हैं। शंका हो सकती है कि यदि कोई व्यक्ति पीठारूढ़ होनेके पश्चात् अयोग्य सिद्ध हो तो क्या किया जाय ? महानुशासनमें उसके लिए भी व्यवस्था की गयी है। शंकराचार्यजी ने मठाधीशोंकी देखरेख देशके विद्वानोंके ऊपर रख छोड़ी है। विद्वानोंको बड़ा अधिकार दिया गया है। यदि गद्दी पर बैठने वाला कोई आचार्य इन गुणोंसे नितान्त हीन हो तो विद्वानोंको अधिकार है कि उसे पदच्युत करदें तथा दण्ड दें:—

'उक्त लक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठ भाग भवेत।
अन्यथा रूढ़पीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम्।।'

मठके आचार्योंको आलस्य न आ जाय, इसलिए शंकराचार्यजीका आदेश है कि इस लोकमें धर्मका नाश होता जा रहा है, अतः आचार्यको आलस्य त्याग कर उद्योगशील होना चाहिए :—

यतो विनष्टिर्महती धर्मस्यात्र प्रजायते।
मान्यं संत्याज्यमेवात्र दाक्षमेव समाश्रयेत्॥

तथा इन आचार्योंको अपने क्षेत्रमें सदा भ्रमण करके समाजकी दशाका पता रखना चाहिए, और मठमें नियत रूपसे कभी निवास नहीं करना चाहिए। अपने राष्ट्रकी रक्षा, प्रतिष्ठा आदिके लिए जागरूक रहना चाहिए—

स्वराष्ट्र प्रतिष्ठित्ये संचारः सुविधीयताम्।
मठे तु नियतो वास आचार्यस्य न युज्यते।।

इस प्रकारकी व्यवस्था कितनी महत्वपूर्ण है। समाज और राष्ट्रकी रक्षा और व्यवस्थाके लिए ही यह सब कुछ किया गया। यह व्यवस्था स्थायी रूपसे चलती रहे तथा उनके व्यक्तित्वसे ही न जुड़ी रहे, इसीलिए उन्होंने अपने पीठ पर आसीन व्यक्तियोंको भी शंकराचार्य कहा। इन मठाधीशोंकी छत्रछायामें वेदान्तके दृढ़ आश्रयमें रहकर वर्णाश्रम धर्म समग्र देशमें फूलता-फलता रहे, यही उद्देश्य था इस व्यवस्थाका शंकराचार्यजीने इन मठाधीशोंको राजसी ठाठवाटका भी उपदेश दिया जिसके अन्तर्गत वे छत्र, दण्ड, धारण करते हैं, लेकिन धर्म बुद्धिसे उन्हें वैभवमें पद्मपत्रकी भाँति निर्लेप रहना चाहिए। यह महानुशासन वास्तवमें महान अनुशासन ही है। राजदण्डकी भाँति ही ये धर्माचार्य धर्म-दण्ड धारण करनेके अधिकारी हैं।

इतिहास साक्षी है कि आचार्य शंकरने जिस उद्देश्यसे यह वृक्ष लगाया वह पुष्पित पल्लवित हुआ, फला-फूला। आज भारतमें वैदिक धर्मकी प्रतिष्ठा जो कुछ दीख पड़ती है, उसका श्रेय इन्हीको है। इनके स्थापित चारों मठोंके अधीश्वरोंने भी यथासम्भव अपने

कर्तव्यका पालन किया और आज भी कर रहे हैं। आसेतु हिमाचल तथा अटकसे कटक तक सम्पूर्ण भारतको एक सूत्रमें बद्ध देखने वाले शंकराचार्यजीका प्रयत्न और उद्योग सदा स्मरणीय है। सम्पूर्ण राष्ट्रमें आज धार्मिक भावना तथा पर्वोंका एक ही प्रकारसे एक ही समय मानना आदि बातें ही परस्पर सौहार्द बनाये हुए हैं। उत्कट धर्म भावना ही तो दक्षिणके लोगोंको दुर्गम पर्वतोंमें, केदारनाथ, बद्रीनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्रीकी यात्रा कराने ले जाती है, तथा उत्तर वालोंको रामेश्वर और पूर्वके लोगोंको पश्चिम तथा पश्चिमके लोगोंको जगन्नाथपुरी ले जाती है। मैंने स्वयं देखा है कि मद्रास, केरल तथा बंगालके जर्जर वृद्ध-वृद्धाएँ, फूले साँस, हाँफते-हाँफते लाठीके सहारे बद्रीनाथ केदारनाथके दुर्गम पथमें चींटीकी चालसे रुकते-बैठते चले जाते हैं और जाने वाले अन्य यात्रियोंमें मिलकर 'जय बद्रीविशाल' जय केदारदाथ जीकी कहकर हृदयमें कितने प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार उत्तरके यात्री रामेश्वर यात्रामें रेलगाड़ीमें बैठे हुए अनेक दक्षिणी व्यक्तियोंसे मिलकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। गाड़ीमें सर्वत्र मछली भरे टोकरे ही टोकरें दिखाई पड़ते हैं। पर यात्री लोग कभी-कभी नाक सिकोड़ते हुए भी पूर्ण सहिष्णुताका परिचय देते हैं। उन्हें तो उन व्यक्तियोंके भीतर भी रामेश्वर दिखाई देता है।

इन चारों धामोंकी यात्रा करना अभी तक जीवनका लक्ष्य माना जाता है। यात्राके पश्चात् व्यक्ति अपने जीवनको धन्य और निजको कृतकृत्य मानता है। इस यात्राके आध्यात्मिक लाभको भले ही कोई न माने परन्तु इस बातसे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि जो व्यक्ति इन चारों धामोंकी यात्रा कर लेगा, उसके हृदयमें भारतके विराट् स्वरूपका एक चित्र अवश्य बनेगा, उसके प्रति आत्मीयता और दृढ़ निष्ठाका उदय होगा तथा अपना उत्तरदायित्व भी माननेकी भावना जाग्रत होगी। इन सब बातोंसे सहज कल्पनाकी जा सकती है कि शंकराचार्यको राष्ट्र तथा समाजका कितना ध्यान था, देशकी अखण्डताकी रक्षाके लिए वे कितने उद्योगशील थे। संसारसे स्वभावतः विरत नित्य ब्रह्म-विचार लीन, शुद्ध-बुद्ध, आप्तकाम, बाल संन्यासीको देश और समाजसे इतना लगाव, इतना अनुराग! आश्चर्य है! बरबस कहना पड़ता है कि उनका आविर्भाव इसीलिए हुआ और यह कार्य पूरा करते ही केवल ३२ वर्षकी अल्पायुमें भगवान् शंकराचार्य देश तथा समाजको एक अखण्ड ज्योति देकर ब्रह्मलीन हो गये।

आद्य शंकराचार्यके आदेशानुसार उनके चारों धर्मपीठोंके अधीश्वर अपने-अपने मठोंके निर्दिष्ट क्षेत्रोंमें भ्रमणकर धर्म-प्रचार करते हुए आज भी समाज-सेवामें लगे देखे जा सकते हैं। महत्वपूर्ण विषयों पर चारों शंकराचार्य एकत्र बैठकर निर्णय करते हैं। अभी हालमें ही विश्व हिन्दू-सम्मेलनमें वे राजधानीमें एकत्र हुए थे। जानकारी के लिए यहाँ चारों मठोंके वर्तमान शंकराचार्योंके नाम तथा अन्य विवरण दिये जा रहे हैं:—

मठ-नाम	क्षेत्र	तीर्थ	वेद	वर्तमान-आचार्य	प्रचार-क्षेत्र
१. शारदा	द्वारका	गोमती	सामवेद	श्री अ० स्वामी अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थजी महाराज	सिंधु, सौराष्ट्र महाराष्ट्र तथा पश्चिम क्षेत्र आदि

मठ-नाम	क्षेत्र	तीर्थ	वेद	वर्तमान-आचार्य	प्रचार-क्षेत्र
२. गोवर्धन	पुरुषोत्तम	महोदधि	ऋग्वेद	अनन्त श्री स्वामी निरंजनदेव तीर्थजी	भागलपुर, बंगाल, उड़ीसा, मगध, उत्कल तथा जंगली प्रदेश आदि
३. ज्योतिर्मठ	बदरिकाश्रम	अलकनन्दा	अथर्व-वेद	अनन्त श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज	दिल्ली, कश्मीर पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि
४. श्रृंगेरीमठ	रामेश्वर	तुंगभद्रा	यजुर्वेद	अनन्त श्री स्वामी अभिनव विद्यातीर्थजी महाराज	आन्ध्र, कर्नाटक, केरल, द्रविड़ आदि

आज हम अपने गौरवमय अतीतको भूलते जा रहे हैं। अपनी परम्पराओंको भूलने लगे हैं और पाश्चात्योंकी ओर अन्धे बनकर देख रहे हैं। अनावश्यक अनुकरण कर रहे हैं, जैसे न हमारी संस्कृति अच्छी है, न भाषा, न वेशभूषा आदि-आदि। आइए, हम तन्द्रासे जागें और आत्म-स्वरूपको पहचानें, अपने अतीतको देखें और शंकराचार्य प्रभृति सुखी समाज और अखण्ड भारतके निर्माताओंके मार्गका अवलम्बन लें। इनके ऋणसे उऋण होनेकी चेष्टा करें और सुखी समाजका निर्माण करें। धर्मप्राण भारत भूमिकी उन्नति धर्माचरण पूर्वक उद्योग करनेसे ही हो सकती है।

जो ब्राह्मण, गुरु, स्त्री तथा बालकोंकी रक्षामें अपना प्राण छोड़ देता है, वह सभी बंधनोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। गोरक्षा, देश विध्वंस, देवता तथा तीर्थोंके ऊपर आपत्ति पड़ने पर प्राणत्याग करने वाला प्राणी स्वर्गमें वास करता है।

—गरुड़ पुराण उत्तर २८।१२।१४

सन्धान

श्रीब्रह्मदेव शास्त्री

रहे दृग छले-छले से मेरे !
कभी पास तू दिखा, किन्तु,
फिर चरण-चाप ही तेरे !

कितना उलझा जीवन का वन
कंटक चुभते प्रति पग, प्रति क्षण,
पथ चल कर लौट जाता पीछे,
घट कर बढ़ जाता पागलपन,
फिर क्यों तेरी हँसी जगाती,
पलकें साँझ सवेरे !

कितने मधु में लिपटा यौवन,
ये पंख धवल कोमल बन्धन,
हैं जरा-मरण के नीड़ पृथक्
क्या कहूँ गेह का सम्मोहन,
फिर भी करुणा के मेह निठुर
कितने विद्युत के घेरे !

क्या यात्रा का अन्त सिन्धु है,
क्या विस्तृत आकाश इन्दु है,
तो बता प्रलय का गर्जन क्या
प्रिय रे, तेरा ही मिलन विन्दु है,
फिर क्यों रह रह कर छली प्राण में
वेणु विरह के टेरे !

"तत्त्वदर्शी मेधावी विद्वान् उस एक सर्वेश्वरको ही इन्द्र, मित्र, वरुण, एवं अग्नि आदि विविध नामोंसे पुकारते हैं । एक ही सद् ब्रह्मको साकार-निराकारादि अनेक प्रकारसे कहते हैं ।"

भक्त और भक्ति-वीणाके स्वर

—श्रीमुकुन्द मोहन

जीव ब्रह्मका ही एक अंश है; दूसरे शब्दोंमें यह भी कह सकते हैं, कि ब्रह्म ही जीवकी माता, ब्रह्म ही जीवका पिता, और ब्रह्म ही जीवकी अन्तिम मंजिल है । जिस प्रकार सागरकी तरंगें सागरसे उठकर फिर सागरमें ही समाविष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार 'ब्रह्म' से उत्पन्न जीव भी 'ब्रह्म' में ही लय हो जाता है । जबतक 'जीव' ब्रह्ममें लय नहीं होता, उसकी यात्रा उसी प्रकार चलती रहती है, जिस प्रकार वह पथिक तब तक चलता ही रहता है, जब तक कि वह अपनी मंजिलपर नहीं पहुँच जाता । 'जीव' की यात्राका अर्थ है उसका बहुजन्म, और बहुमरण । जब तक जीव ब्रह्ममें विलीन नहीं हो जाता, वह बार-बार जन्म लेकर और मरकर अपनी यात्राको पूर्ण करता ही रहता है ।

अपने बार-बारके जन्म और मृत्युकी यात्रामें, जीवको 'ज्ञान' और 'अज्ञान'की प्रेरणासे कितने ही कर्म करने पड़ते हैं । उसके 'ज्ञानमय' कर्म उसकी यात्राको सरल और आनन्दमय बनाते हैं। 'अज्ञानमय' कर्मोंके कारण उसकी यात्रा अत्यधिक दुःखमय होनेके साथ ही साथ, अधिक लम्बी भी हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें एक स्थानपर इसी बातकी ओर संकेत किया है—"जो जीव शरीरमें अहंता-ममता करके उसीमें लगा रहता है, उसे बार-बार जन्म पर जन्म, और मृत्यु पर मृत्यु प्राप्त होती ही रहती है ।" यही तो जीवकी यात्रा है । इस प्रकारकी लम्बी यात्राओंके जीवोंसे 'संसार' परिपूर्ण है। संसारमें दुःख-दैन्य, और असन्तोषका कोलाहल इन्हीं जीवोंके अज्ञानपूर्ण कर्मोंकी अपनी उपज है ।

भक्ति जीवका ज्ञानमय, श्रेष्ठ कर्म है। जीवको, ज्ञानसे जब शरीर, जगत् और स्वयंकी वास्तविकताका पता चल जाता है, तो वह जगतमें रहता हुआ भी अपने आपको 'ब्रह्म'को समर्पित कर देता है। परमात्माकी भक्ति, जीवमें इसी समर्पणके कारण प्रस्फुटित होती है। समर्पणमें जितनी ही अधिक प्रवलता और प्रगाढ़ता होती है, उसीके अनुरूप भक्तिका स्वरूप भी बनता है। परमात्माके चरणोंकी भक्ति और प्रेममें अहर्निश विभोर रहनेवाले भक्त अपना सर्वस्व उस अलक्षित 'ब्रह्म' के प्रति निवेदित कर देते हैं, जो जगतके कण-कणमें समाविष्ट है, और स्वयं उसके भीतर भी विद्यमान है।

भक्ति और प्रेमके क्षेत्रमें, जीवके ब्रह्मज्ञानने दो स्वरूप धारण किये हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण भक्तिके क्षेत्रमें जीवके सम्मुख केवल निराकार ब्रह्म ही होता है, पर सगुण भक्तिके क्षेत्रमें 'ब्रह्म'ने कई संज्ञाएं धारणकी हैं। जैसे श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिव, दुर्गा आदि। श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिव, और दुर्गा आदिके भक्तोंके हृदयमें प्रविष्ट होकर कोई देखे, तो वहाँ इन आराध्योंका वही गुण, और धर्म प्रति स्थापित मिलेगा, जो 'ब्रह्म'का है अर्थात् इन आराध्योंके सम्पूर्ण भक्त, उनकी भक्ति उन्हें 'ब्रह्म' और अखिल ब्रह्माण्डका नियामक ही मानकर करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचन्द्रजीको, क्या मानकर उनके चरणोंपर अपने प्राण-कुसुम चढ़ाये हैं, उन्हींके शब्दोंमें सुनें :—

"व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।
सो अज भगत प्रेम बस कौशिल्याके गोद॥

गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने स्वयं अपने सगुण स्वरूपकी व्याख्या निम्नांकित शब्दोंमें की है—"मैं अजन्मा, और अविनाशी रूप हुए होते भी, तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योग मायासे प्रगट होता हूँ।" इसी प्रकार 'शिव' और दुर्गा आदिमें भी, उनके भक्तोंने अनादि और अव्यक्त ब्रह्मकी ही प्रतिस्थापनाकी है।

निर्गुण और सगुण, दोनों ही क्षेत्रोंमें अब तक कितने श्लाघनीय भक्त हो चुके हैं, जिन्होंने अपनी अनुपम भक्तिसे इस धराको स्वर्गसे भी अधिक पवित्र और सुन्दर बनाया है। निर्गुण भक्तिके क्षेत्रमें जिनके स्वरोंने विश्वके सम्पूर्ण मानव जगतको प्रभावित, किया है, उनमें महात्मा चरणदास, कबीर, सुन्दरदास, सहजोबाई, पलटू, दादू इत्यादि भक्तोंका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन प्रवर भक्तोंने 'ब्रह्म'के अलक्षित सौंदर्य, उसकी व्यापकता और महानतापर रीझकर अपनी भक्तिकी जो वीणा बजाई है, उसका स्वर युग-युगों तक धरतीपर गूँजता रहेगा, और गूँज-गूँजकर मानवको उसकी ओर प्रेरित करता रहेगा।

कबीरदासजीका 'राम' चारों वेदों, स्मृतियों, और पुराणोंसे परे है। वह 'राम' ब्रह्मको छोड़कर और कुछ नहीं है। कबीरदास उसकी अजेयता, और अगमतापर विमुग्ध हो उठे हैं। वे कहते हैं—

निरगुन राम, निरगुन राम जपहुरे भाई।
अविगतकी गति लखी न जाई॥

चारि वेद जाके सुमृत पुराना।
नौ व्याकरना मरम न जाना।।

कबीरदासजीने अपने जिस साईंके चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया है, वह जाति, सम्प्रदाय, और सीमित मान्यताओंके घेरेसे परे है। देखिए वे अपने 'साईं'के सम्बन्धमें क्या कहते हैं:—

तोकों पीव मिलेंगे, घूँघटका पट खोल रे।
घट-घटमें वह साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे।
धन-जोबनका गरब न कीजै, झूठा पचरँग चोल रे।
सुन्न महलमें दीया बारले, आसन से मत डोल रे।
जोग-जुगत सों रंग महलमें पिय पायो अनमोल रे।
कहैं कबीर आनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

कबीरदासजीके इस साँईको पहिचानिए। वह ब्रह्म ही तो है। चरणदासजीने भी अपने 'राम' में ब्रह्मकी ही झलक देखी है। चरणदासजीका 'राम' जीवका अंतिम लक्ष्य है। देखिए, वे अपने 'राम'के सम्बन्धमें क्या कहते हैं:—

जब लग जीवै राम कहु, रामहि सेती नेह।
जीव मिलैगो राम में, पड़ी रहेगी देह।।

महात्मा सुन्दरदासजीकी वाणीमें भी ब्रह्मकी ही पुकार है। उनका भी ईश्वर, उनका भी आराध्यदेव विश्वके जन-जनका ही पिता है। देखिए उनके ईश्वर को। वे अपने उस व्यापक ईश्वरकी अनुभूति अपने गुरुमें ही प्राप्त कर रहे हैं—

उहै ब्रह्म गुरु सन्त उह, वस्तु विराजत येक।
वचन विलास विभाग भ्रम, वन्दन भाव विवेक।।

इसी प्रकार पलटूदास, सहजोबाई, भीखा, इत्यादि भक्तोंने भी निर्गुण भक्तिकी वीणा बजाकर सम्पूर्ण मानव जगतको एक अलक्षित और व्यापक सत्ताकी ओर प्रेरित किया है। पलटूदासजी, अपने जिस योगीपर मुग्ध हैं, उसकी व्यापकता उन्हींके शब्दोंमें देखिये:—

गगनामें सिंगिया बजाइन्हि हो,
ताकिन्हि मोरी ओर।
चितवनमें मन हरि लियो है,
जोगिया बड़ चोर।

निर्गुण भक्तिकी ही भाँति सगुण भक्तिके क्षेत्रमें भी अनेक भक्तोंने अपनी भक्तिके कुसुम अपने-अपने आराध्य देवके चरणोंपर अर्पित किये हैं। सगुण भक्तिके क्षेत्रमें मुख्य रूपसे श्रीराम और श्रीकृष्ण ही इष्ट तथा आराध्यदेव हैं। बहुतसे भक्तोंने 'शिव' और दुर्गाकी उपासना भी सगुण रूपमें की है। ऐसे भी बहुतसे भक्त मिलेंगे, जिनकी भक्ति-वीणासे हनुमान, भैरव आदि देवताओंके प्रेमके स्वर निकलते हुए सुनाई पड़ते हैं। भगवान् विष्णु, सरस्वती, ब्रह्मा, लक्ष्मी आदिके चरणोंपर भी बहुतसे भक्तोंने अपने प्राणोंके कुसुम अर्पित

किए हैं। 'हरि' और 'हर' भगवान् विष्णु और शिवके ही नाम हैं, जिनकी अभ्यर्थना लक्ष-लक्ष प्रवर भक्तोंने अपनी वाणियोंमें की है।

श्रीरामकी विराट्ता, और सर्वव्यापकता पर विमुग्ध होकर भक्त-प्रवर नामदेवजीने बड़ी श्रद्धासे अपने भाव-कुसुम उनके चरणोंपर अर्पित किये हैं। देखिये :—

मैं बौरी मेरा 'राम' भरतार।
रचि-रचि ताकों करों सिंगार।
वाद-विवाद काहू सू न कीजै।
रसना राम रसायन पीजै।

सन्त रैदास भी रामके सौंदर्य और उनकी शक्तिमयतापर विमुग्ध हैं। इतने विमुग्ध हैं, कि रामको देखे विना उनका क्षण-क्षण युगके सदृश लम्बा हो गया है। देखिए :—

दरसन दीजै राम, दरसन दीजै।
दरसन दीजै विलम्ब न कीजै।
दरसन तोरा, जीवन मोरा।
बिन दरसन क्यों जीवै चकोरा।

गोस्वामी तुलसीदासजीने तो अपना सर्वस्व ही श्रीरामके चरणोंमें अर्पित कर दिया है। 'राम' ही उनके सर्वस्व हैं। देखिए, वे अपने रामके सम्बन्धमें क्या कह रहे हैं—

भरोसो जा हि दूसरो सो करो।
मोको तो रामको नाम कल्पतरु कलि कल्यान करो।

गोस्वामी तुलसीदासजीके राम अखिल ब्रह्माण्डके नियामक ही हैं। गोस्वामीजी उनकी अभिव्यक्ति भी जन-जनमें पाते हैं। देखिए—

सिया राम मय सब जग जानी।
करौ प्रणाम जोरि जुग पानी।

भगवान् श्रीकृष्णकी विराट्ता, शक्तिमयता, और उनका रूप सौन्दर्य कोटि-कोटि भक्तोंकी भक्तिकी वीणामें अमृत स्वर बनकर गुंजित हो उठा है। भक्त जयदेवकी भक्ति-वीणाका स्वर बड़ा ही विमुग्धकर है। जरा देखिये तो, वे अपने गीत-गोविन्दमें श्रीकृष्ण भगवान्की अर्चनामें किस प्रकार निमग्न हैं :—

राधा मुग्ध मुखारविन्द मधुप स्त्रैलोक्य मौलिस्थली,
नेपथ्यो चित नील रत्न मवनी भारावता रक्षयः।
स्वच्छदं व्रज सुन्दरी जन मन स्तोष प्रदोषश्चिरं
कंस ध्वंस न धूमकेतुरवतु त्वां देवकी नन्दनः॥

"जो तीनों लोकोंके मस्तककी आभूषणोचित नीलमणि, भूमि भारको हटानेमें समर्थ, स्वच्छन्द व्रज वालाओंके मनको सन्तोष देनेवाले प्रदोष रूप, और कंसका नाश करनेमें अग्निरूप हैं, वे देवकीनन्दन रक्षा करें।"

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी अपने मनको केवल श्रीकृष्णमेंही रमाना चाहते हैं। वे अपने मनको स्वयं ही उपदेशित कर रहे हैं—

अंतःकरण मद् वाक्यं सावधान तया श्रृणु।
कृष्णात्परं नास्ति देवो वस्तुतो दोष वर्जितम्॥

"हे मन, सावधानीसे मेरे वचनोंको सुनो श्रीकृष्णसे बढ़कर निर्दोष पवित्र वस्तु और दूसरी कोई है ही नहीं।"

महाप्रभु चैतन्यदेव तो श्रीकृष्णके वियोगमें अत्यधिक व्याकुल हो उठे हैं। उनकी व्याकुलताका चित्र उन्हींके शब्दोंमें देखिए :—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द विरहेण मे।

"हे गोविन्द आपके विरहमें मेरा एक निमेष युगके समान हो गया है। नयनोंसे जल-वृष्टि हो रही है, जगत सूना-सूना सा लगता है।" महात्मा कुंभनदासकी भी विकलता दर्शनीय है :—

नैन भरि देख्यौ नंद कुमार।
बिन देखे हौं विकल भये हौं, बिसर्यौ पन परिवार।

सूरदासजी श्रीकृष्णके रूप-सौन्दर्य पर सौ-सौ प्राणोंसे निछावर हैं। देखिए, क्या सत्य नहीं है :—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवननिके उलटि ताटंक फंदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबहिं उड़ि जाते।

मीराजीने श्रीकृष्णके लिए लोक लाजका भी परित्याग कर दिया है। श्रीकृष्णको ही उन्होंने पति रूपमें भी वरण किया है। देखिए, उनके इस वरणमें उनके हृदयकी कितनी वास्तविकता है—

माई म्हाँने सुपने बरी गोपाल।
राती पीती चूनरी ओढ़ी, मेंहदी हाथ रसाल।
कोई और कूँ वरूँ भाँवरी, म्हाँके जग जंजाल।
मीराके प्रभु गिरिधर नागर करो सगाई हाल।

इसी प्रकार व्यासदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोस्वामी विट्ठलनाथ, गोविन्ददास, नन्ददास, महात्मा छीतस्वामी, महात्मा चतुर्भुजदास और तुकाराम आदि प्रवर भक्तोंने भी अपनी भक्ति-वीणापर श्रीकृष्णके ही गीत गाए हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे श्लाघनीय भक्त हुए हैं, जिनकी भक्तिकी गंगामें श्रीकृष्ण भगवान्के ही प्रेम-प्रसून बहते हुए दिखाई पड़ते हैं।

राम और श्रीकृष्णकी भाँति ही शिव और दुर्गाकी अर्चना भी सगुण क्षेत्रमें हुई है और बहुतसे भक्तोंने शिव और दुर्गाकी भक्तिमें भी अपनी भक्ति-वीणाके तारोंको झंकृत किया है।

इन सम्पूर्ण भक्तोंकी वाणियोंमें उन जाग्रत और ज्ञानमय जीवोंका आत्म निवेदन और समर्पण ही है जिन्होंने अपने स्वरूपको पहचान लिया है, तथा जिन्हें जगत और शरीरकी जड़ताका ज्ञान प्राप्त हो गया है। इन जाग्रत और ज्ञानमय जीवोंने भक्तोंके रूपमें जहाँ जगतको वास्तविक ज्ञानका सन्देश दिया है, वहाँ उन्होंने अपने सदाचरणोंसे विश्वको सुन्दर और पवित्र भी बनाया है। आज विश्वमें जिस सुन्दरता और पवित्रताका स्वर गुंजित है, वह इन्हीं भक्तोंकी देन है।

●

धर्म

स्वधर्म

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए पराये धर्मसे गुण रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना भी श्रेष्ठ है, परन्तु पराया धर्म भय कारक है।

—श्रीमद्भागवत ३।३५

धर्म-हीन प्राणी

अन्य सब बातें पशुओं और मनुष्योंमें सामान्य हैं। केवल धर्म ही एक विशेष वस्तु है जिसके पालनसे मनुष्य यथार्थ मनुष्य बन सकता है, अन्यथा वह पशुके समान है। उसमें और पशुमें कोई अन्तर नहीं।

—एक प्राचीन श्लोक

अधर्मी प्राणी

जो लोग प्राणियोंकी हिंसा करते हैं; नास्तिक वृत्तिका आश्रय लेते हैं और लोभ तथा मोहमें फँसे हुए हैं, उन्हें नरकमें गिरना पड़ता है।

—महाभारत

धर्म-स्थापन

"धर्मकी स्थापनाके लिए ही मैंने यह अटल प्रतिज्ञा कर रक्खी है। मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, कि जहाँ वेद, सत्य, दम, लज्जा, शौच, धर्म श्री और क्षमाका निवास है, वहीं मैं सुखपूर्वक रहता हूँ।"

—श्रीकृष्ण

●

"सोनेका सारा पृथ्वी तल ढाला जा सकता है, चिन्तामणियोंका मेरुके समान पहाड़ बनाया जा सकता है, सातों समुद्र अमृत रससे लबालब भरे जा सकते हैं, छोटे-छोटे नक्षत्र चन्द्रमा बन सकते हैं, कल्प वृक्ष लगाये जा सकते हैं, पर गीताका रहस्य सहजमें स्पष्ट नहीं किया जा सकता है।"

गीता-सार

श्रीमहिमा रंजन भट्टाचार्य

भारतीय दर्शनमें वेदान्तका स्थान सर्वोच्च है। वेदान्त हमें दो बातें सिखाता है—एक ज्ञान, दूसरा वैराग्य। वैराग्यसे ज्ञानका अर्जन होता है, लेकिन ज्ञान होने पर वैराग्य अपने आप आ जाता है। दोनों एक दूसरेसे अविच्छेद्य हैं और परस्पर एक दूसरेके लिये अति आवश्यक हैं।

वैराग्यका अर्थ यह नहीं, कि मनुष्य कुछ भी काम न करे, न इसका अर्थ यह ही है कि सामाजिक उत्तरदायित्वोंका निर्वाह न किया जाय। वैराग्यकी शिक्षा नकारात्मक नहीं है। वैराग्यका अन्तिम परिणाम संन्यास है, किन्तु वह तो है चतुर्थ एवं अन्तिम आश्रम। इससे पहले तीन और आश्रम हैं। मनुष्यको इन तीनों आश्रमोंसे कठोर अनुशासनके साथ आगे बढ़ना पड़ता है। फिर वैराग्यका महत्व क्या है ? वैराग्य लक्ष्य है वासनाओं और कामनाओंको ध्वंस करना तथा फलके ऊपर आसक्ति न रखकर जगतके हितमें कर्म करना—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

वेदान्तका आत्म-त्यागकी शिक्षाका चरमोत्कर्ष ज्ञान गीतामें प्रकट हुआ है। गीता निष्काम-कर्म पर बल देती है। सम्पूर्ण कर्म प्रारब्ध पर निर्भर हैं। मनुष्य निमित्त-मात्र है। करते हैं सब कुछ भगवान्—

"मयैवैते निहताः पूर्वमेव।
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥"

मनुष्य निमित्तमात्र है, यह ज्ञान कहाँसे आया ? यह ज्ञान उसी समय प्रस्फुटित होता है, जबकि वैराग्यकी भावना प्रस्फुटित हो जाती है । इस ज्ञानके अभावमें मायाका उद्भव होता है और मायाके प्रभावमें मनुष्य सोचने लगता है—मैं यह करता हूँ, मैंने वह किया आदि । ज्ञान रूपी सूर्यको माया रूपी अंधकार आवृत्त कर लेता है । वैराग्यकी साधना अपने आपमें एक लक्ष्य नहीं है, बल्कि यह एक साधन है परम तथ्यको प्राप्त करनेका, जो कि 'सत्य' है । वह परम तथ्य और कुछ नहीं, केवल आत्म-बोध या आत्माको जानना है । इसी ज्ञानको 'सत्य' कहा गया है ।

इस सत्यको प्राप्त करनेके तीन मार्ग हैं—भक्ति-मार्ग, कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग । इस प्रसंगमें एक छोटी कहानी याद आती है—जिस प्रकार उत्तर भारतमें तुलसीदासकी रामायण प्रचलित है, उसी प्रकार बंगालमें कृत्तिवास पंडितकी रामायण लोकप्रिय है । इसमें एक उपाख्यान है—तरणिसेन-वध ।

तरणिसेन कुम्भकरणका पुत्र था । बाल्यावस्थासे ही उसके ऊपर मायाका प्रभाव नहीं था और वह पूर्णतः रामको समर्पित था । विभीषण तो रामके पास चले आये, लेकिन तरणिसेन रावणकी आज्ञा पर ही कार्य करता रहा । राम-रावण युद्धमें एक बार वह रावणकी सेनाके सेनापतिके रूपमें भेजा गया । वह रामभक्त तो था, किन्तु रामके विरुद्ध युद्ध करनेमें उसे रंचमात्र भी संकोच नहीं हुआ, क्योंकि उसे यह ज्ञान था कि वह रामके विरुद्ध अपने आप नहीं बल्कि भगवान् रामकी प्रेरणासे ही युद्धमें प्रवृत्त है—एक निमित्त-मात्र है । यदि वह उनके हाथों मर भी जायगा तो उन्हींमें विलीन हो जायगा । राम ही उसके कार्यके कर्त्ता-धर्त्ता व हर्त्ता हैं । युद्धमें मरनेसे केवल उसकी देह नष्ट होगी, उसकी आत्मा तो परमात्मामें समा जायगी ।

तरणिसेनका यह ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण है । वैराग्यके ही कारण वह अपना कर्त्तव्य अनासक्तिसे निभा सका ।

यही अनासक्ति गीताकी परम चेतना है । इसी अनासक्तिके माध्यमसे आत्मबोध हो जाता है ।

आत्मा अनादि है, अनन्त है, अजर है, अमर है शाश्वत है । शरीरके ध्वंस होने पर भी आत्माको कुछ नहीं होता—

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

आत्म-बोधको ही ज्ञान कहते हैं । जिनको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, उनके लिये कहा जाता है कि उन्हें मोक्ष मिल गया है । इस ज्ञानके दो पहलू हैं—एक नकारात्मक दूसरा सकारात्मक । नकारात्मक पहलूमें ज्ञानी सम्पूर्ण दुखों-पीड़ाओंसे मुक्त रहता है । सकारात्मक पहलूमें वह सुख-दुःखके परे जाकर चरम शान्तिको प्राप्त करता है । इस प्रकारके ज्ञानीको 'जीवन्मुक्त' कहते हैं ।

ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानीका जीवन कैसा होता है और संसारके प्रति उसका कैसा आचरण होता है यह एक प्रश्न है । वह परम शांतिमें विराजमान तो रहता है, किन्तु संसारका प्राणी होनेके कारण संसारके कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वोंके प्रति पराङ्मुख नहीं होता । वह

कर्त्तव्य पालन करता है पर अनासक्त रूपसे। जैसे "पांकाल' मत्स्य रहता तो पानीमें है, किन्तु उसके शरीर पर पानी नहीं लगता। इस प्रसंगमें हमें राजा जनकके जीवनकी एक कथा याद आ जाती है—

महाराज जनकसे किसीने प्रश्न किया कि आप राजकाज चलाते हैं, और राजसी ऐश्वर्यमें रहते हैं, फिर भी आपको ब्रह्म ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ। महाराज जनकने उसके हाथमें तेलसे लबालब भरा हुआ एक पात्र देकर कहा, कि वह उसको लेकर पूरे नगरका परिभ्रमण करें। किन्तु ध्यान रहे कि तेलकी एक बूंद भी न गिरे। जब वे नगरका भ्रमण करके लौटे तो उनसे जनकने पूछा कि उन्होंने नगरमें क्या देखा। उन्होंने उत्तर दिया कि वे देखते क्या, उनकी दृष्टि तो तेलके पात्र पर थी। महाराज जनकने समझाया कि उनकी भी दृष्टि ब्रह्म रूपी तेल पात्र पर ही केन्द्रित रहती है। इसीलिए वे संसारमें रहते हुये भी निर्लिप्त रहते हैं।

इसी प्रकार श्रीरामकृष्ण 'परमहंस' भी कहते थे कि हे जीव, अपनेको भगवानको समर्पित करदो। जीव है यन्त्र और भगवान् हैं यन्त्री। जिस प्रकार भगवान् जीवको चलाते हैं, उसी प्रकार जीवको चलना पड़ता है। लेकिन अज्ञानताके कारण जीव कहता है कि जो कुछ वह करता है स्वयं करता है और जो कुछ उसके पास है, उसके लिए वह कहता है—यह मेरा है। मायासे संजात यही अहंबोध दुःखका कारण है।

एक बछड़ा पैदा होते समय कहता है हँवा-हँवा अर्थात् मैं-मैं। यह अहंभाव उसके कितने दुःख का कारण होता है। माँसे पृथक रहता है, दूध पीने नहीं पाता है, दंडित होता है फिर कभी-कभी कसाईके हाथों पड़ जाता है। इस पर भी दुःख से उसकी निष्कृति नहीं होती। मृत्युके पश्चात् उसके अंत्रसे धुनरी (रुई धुननेका यन्त्र) बनाई जाती है और तब ध्वनि निकलती है तुहूँ-तुहूँ। अब इस अवस्थामें पहुँच कर उसको मुक्ति मिलती है। क्योंकि अब उसका और कोई उपयोग ही नहीं रह जाता।

जीवको यही तुहूँ-तुहूँ प्रत्येक घड़ी स्मरण रखना चाहिए। वह काम तो करे सब कुछ, किन्तु ध्यान रहे उसी भगवान पर। इस संसारमें जीवको उसी प्रकार रहना चाहिए, जैसे कि एक धनीके घरकी दासी रहती है। दासी जब तक अपने मालिकके घरमें काम करती है, घर की प्रत्येक वस्तु को अपना ही बताती है, यद्यपि उसे पता रहता है कि जिस दिन वह उस घर से निकाल दी जायेगी, उस घरकी वस्तुओंमें से कुछ भी उसका नहीं होगा।

गीता उपनिषद्का सार है। समग्र वेदान्त दर्शन पढ़ने से जो शिक्षा या ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञानकी प्राप्ति केवल एक बार गीताको पढ़नेसे ही हो जाती है। सर्व उपनिषदावलि गाय हैं, श्रीकृष्ण दूध निकालने वाले ग्वाले हैं बछड़ा अर्जुन है और अमृत रूपी दूधका पान करने वाले सुधीजन हैं—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥"

गीताकी शिक्षाका सार है अनासक्त कर्म। अतएव ब्रह्म प्राप्तिके लिये गीता पाठ ही सबसे सरल और प्रभाव पूर्ण उपाय है। अन्य शास्त्रोंको इस हेतु पढ़नेकी आवश्यकता नहीं है—"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।"

●

'भक्ति'

भगवान्‌में चित्तकी स्थिरताको भक्ति कहते हैं।

—गीता

भगवद्‌भावसे द्रवित होकर भगवान्‌के साथ चित्तके सविकल्प तदाकार भावको भक्ति कहते हैं।

—अज्ञात

भगवद्‌गुणके श्रवणसे प्रवाहित होने वाली भगवद्-विषयिणी धारा-वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं।

—श्रीमधुसूदन शास्त्री

परमेश्वरके प्रति होने वाले परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं।

—नारद भक्ति-सूत्र

ईश्वरके प्रति परमानुरागको ही भक्ति कहते हैं।

—शांडिल्य भक्ति-सूत्र

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदय न च।
मद्‌भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदः ॥

नारद, न तो मैं वैकुण्ठमें रहता हूँ और न योगियोंके हृदयमें मेरा वास है। मेरे भक्त-जन जहाँ मिलकर मेरा गान करते हैं, वहीं मैं निवास करता हूँ।

—पद्म० अ० ९४। २३

राम नाम मनि दीप धर,
जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ,
जौं चाहसि उजियार॥

दीपावली और गोवर्द्धन पूजा

—श्री व्यथितहृदय

वर्षा समाप्त होते ही दीपावलीकी जगमगाती हुई निशा स्मृतिके झरोखोंसे झाँक उठती है।

एक किसी व्यक्तिके मनके भीतर नहीं, जनजनके मनमें—समस्त राष्ट्रके मनमें, और फिर एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक उत्साह, उमंग और उत्कंठाकी तरङ्गें दौड़ पड़ती हैं। अमीर-गरीब सभी अपने-अपने घरोंकी लिपाई-पुताईमें जुट पड़ते हैं। अपनी-अपनी अर्थ-शक्तिके अनुसार लोग अपने घर और घरकी वस्तुओंका नवश्रृंगार करने लगते हैं। महीनों पहलेसे, कुम्हारोंकी चाकें दिन-रात दौड़ने लगतीं हैं, और भाँति-भाँतिके मिट्टीके वर्तन, और खिलौने तैयार होने लगते हैं। मिट्टीके कलाकारोंकी उँगुलियोंमें कला फड़फड़ा उठती है। उधर भड़भूजोंके घरोंमें भी ढेकुली जाग पड़ती है। चिउड़ा, लाई, और धानके खीलोंसे उसे भी घर-घरको भर देनेकी चिन्ता रहती है। दीपावलीके पूर्व धनतेरसको ऐसा कोई नगर, ऐसा कोई हाट, या ऐसा कोई गाँव दृष्टिगोचर नहीं होता, जहाँ इन सभी साधकों और कलाकारोंकी साधनाका रव गुंजित न होता हो। दीपावलीके दिन तो स्वयं राज लक्ष्मी ही उन साधनाओं पर रीझ जाती है।

दीपावलीके दिनकी आनन्दमयी घड़ियाँ! जन-जनके हृदयमें उल्लास और उमंगका सागर लहरा उठता है। किसान सूर्यालोकका दर्शन करते ही अपनी गायों, बैलोंके अभिसार में जुट पड़ते हैं। उनके सींगोंमें वे तेल तथा प्रसाधनकी सामग्रियाँ मलकर उन्हें चमकदार बनाते हैं। उनकी ग्रीवाओंमें रंग-बिरंगी घंटियाँ बाँधते हैं, और उन्हें बड़े उत्साहसे सजाते हैं। स्त्रियाँ घर आँगनको लीपतीं, और चौके पूरती हैं। जिसे देखिये, उसीके मनमें नए-नए वर्तन, मिट्टीके छोटे बड़े दीपक, खिलौने, लाई, लावा और खीलोंको खरीदनेकी लालसा उमड़ती दिखाई पड़ती हैं। छोटे-बड़े, गरीब-अमीर सबकी दृष्टि गणेश और लक्ष्मीकी मूर्ति

पर केन्द्रित हो जाती है। हाटमें आने पर वे मिठाइयाँ खरीदना भूल सकते हैं, पर गणेश और लक्ष्मीकी मूर्तियाँ खरीदना उन्हें कभी न भूलेगा। उनका विश्वास और उनकी आस्था! वे अपने इसी विश्वास और आस्थाका आँचल पकड़ कर, अपना पूरा वर्ष सुख और आनन्द में काट देते हैं। छोटे-छोटे बालक, और बालिकाएँ मिट्टीकी घंटियाँ बजानेमें तन्मय दिखाई पड़ती हैं। उनकी जेबें लाई, लावा और धानकी खीलोंसे भरी होती हैं। बड़े-बड़े नगरोंमें फुलझड़ियों और पटाखोंके प्रकाश तथा आवाजसे आकाश गुंजित हो जाता है। संध्या होते ही तमके वक्षः स्थल पर दीपक जल उठते हैं, और इस प्रकार जल उठते हैं, कि उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि मानो भारतके लोग अब कभी अन्धकार होने ही नहीं देगें।

पर दीपावलीके परअवसर जन-जनके हृदयमें ऐसा उत्साह, ऐसी उमंग, क्यों बरस पड़ती है, क्यों? क्या यह उमंग किसी ऐसे 'पाप' के विनाशकी स्मृति है, जिसके कारण जन-जनका हृदय अधिक क्षुभित और आतंकित था? क्या यह उत्साह किसी ऐसे 'अत्याचारी' के दमनका स्मारक है, जिसके कारण कोटि-कोटि कंठोंसे पीड़ा भरी आहें निकलती थीं? हाँ, दीपावलीके महान् पर्वकी यह उमंग और यह उत्साहकी धारा 'पाप' और 'अत्याचार' पर विजयकी ही एक अपूर्व स्मृति है। कई सहस्र वर्ष पूर्वकी बात है, भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी ज्योतिसे पृथ्वी जगमगा रही थी। सम्पूर्ण आर्यावर्तमें चतुर्दिक, उनका शौर्य, उनका प्रताप, और उनकी पुण्य यश-गाथा कोटि-कोटि कंठोंसे गुंजित हो रही थी। पर प्राग ज्योतिष राज्यके नृपति, नरकासुरके कारागारमें सोलह सहस्र कन्याओंका दम घुट रहा था। वे बन्दिनी थीं, उनकी आर्त्तवाणी और उनकी करुण पुकार उनके भीतरसे निकल-निकलकर कारागारकी वज्र-प्राचीरोंसे टकरा रही थी। एक दिन आया, जब उनकी करुण पुकारोंका रव कारागारकी प्राचीरोंको तोड़कर बाहर निकला, और वायुमें गूँजकर भगवान् श्रीकृष्णके कर्ण-कुहरोंमें जा पड़ा। भगवान्के प्राण काँप उठे, वे कुपित होकर प्रचंड आँधीकी भाँति प्राग ज्योतिष राज्य पर टूट पड़े।

चौदसका दिन था। भगवान् श्रीकृष्ण ने नरकासुरका वध करके उन सोलह सहस्र कन्याओंको मुक्ति दिलाई, जो वर्षोंसे उसके कारागारमें आहकी सिसकियाँ भर रहीं थीं। इस विजय—इस महान् विजयके उपलक्षमें भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारिका अमावस्याकी रात्रिमें आलोकसे हँस पड़ी। आज भी सारा भारतवर्ष उसी स्मृतिमें दीपावलीका महान् पर्व मनाता है। भगवान् श्रीकृष्णने चौदसके दिन नरकासुरका वध किया था, इसीलिये लोग उसे नरक चौदस भी कहते हैं। अनेक स्थानोंमें लोग नरक चौदसकी संध्यामें, कूड़ेके ढ़ेर पर यमका दीपक जलाते हैं। यह दीपक शुभ कारक नहीं माना जाता। कदाचित् इसका अर्थ यही है कि लोग इस यम दीपकके रूपमें ही नरकासुरको अपने घरोंसे बाहर निकाल कर उसके वधकी क्रिया सम्पूर्ण करते हों। क्योंकि नरकासुरके वधके पश्चात् ही राज्य लक्ष्मियाँ मुक्त हो सकती हैं, जिनके स्वागतमें दीपावलीकी रात दीपोंकी माला पहन कर हँस पड़ती हैं।

दीपावलीके दूसरे दिन घर-घरमें गोवर्धन पूजा होती है। स्त्रियाँ अपने-अपने घरोंमें गायके गोबरसे गोवर्धन शैल बनाती हैं, और सविधि उसकी पूजा करती हैं। यों तो सम्पूर्ण भारतमें ही दीपावलीके पश्चात् गोवर्धनकी सोत्साह पूजाकी जाती है, पर ब्रजमें गोवर्धन

पूजाके लिए जो उत्साह और जोउमंग देखनेको मिलती है, वह अवर्णनीय है। दीपावली और उसके पश्चात् गोवर्धन-पूजाका यह अपूर्व संयोग हमारे ध्यानको एक दूसरी ही महान् विजयकी ओर आकर्षित करता है। इस महान विजयके मूलमें भी भगवान् श्रीकृष्णका ही शौर्य और पराक्रम है।

भगवान् श्रीकृष्णकी बाल्यावस्थाकी बात है। कार्तिकका महीना था, और अमावस्याका दिन। भगवान् श्रीकृष्णने देखा, कि गोकुलके नरनारी एक स्थान पर एकत्र होकर किसीकी पूजा-अर्चनामें संलग्न हैं। पूछने पर उनके माता पिताने उन्हें बताया कि वे सब लोग इन्द्रकी पूजा कर रहे हैं, क्योंकि इन्द्रकी कृपासे ही वृष्टि होती है, जिसके परिणाम स्वरूप पीनेको जल, और खानेको अनाज प्राप्त होता है। बालक श्रीकृष्ण मचल पड़े। उन्होंने कहा, कि वे गोप-गोपियोंको इन्द्रकी पूजा न करने देंगे। क्योंकि इन्द्र उस अविनाशी परमात्माके समक्ष कुछ नहीं है, जो सम्पूर्ण सृष्टिके कण-कणमें समाविष्ट है। बालक श्रीकृष्णके माता पिताने श्रीकृष्णको बहुत समझाया, उन्हें मनानेका बहुत प्रयत्न किया, पर श्रीकृष्ण क्यों मानने लगे ? वे अपने आग्रह पर अड़े ही रहे, आखिर इन्द्रकी पूजा बन्द हो गई। पर इसके साथ ही साथ इन्द्र भी कुपित हो उठा। प्रलय कालके काले-काले बादल आकाशमें छा गये और बिजलीकी कड़कड़ाहटके साथ ही साथ प्रलयंकरी वर्षा होने लगी। आशंका हुई कि सम्पूर्ण गोकुल जलमें समा जायेगा। लोग आकुल हो उठे और बालक श्रीकृष्णको घेरकर रुदन करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने सबको आदेश दिया, चलो अपनी-अपनी गायें और बछड़े लेकर गोवर्धनकी ओर। सम्पूर्ण व्रजमण्डल गोवर्धन पर्वतकी ओर दौड़ पड़ा; क्योंकि सम्पूर्ण व्रजके कोने-कोनेमें, प्रलयंकरी वृष्टि हो रही थी।

भगवान् श्रीकृष्ण सबके पहुँचनेके पूर्व ही स्वयं अपने सखाओंके साथ गोवर्धन पर पहुँचे। उन्होंने अपनी कनीष्टिकासे गोवर्धनको उठाया, और उसीके सहारे उसे ऊपर अधरमें लटका दिया। सम्पूर्ण व्रजके लोग दौड़-दौड़कर अपनी अपनी गायों, बछड़ों और बैलोंके साथ गोवर्धनके नीचे खड़े हो गये। सात दिन सात रात्रि तक झंझावातके साथ प्रलयंकरीवृष्टि होती रही, पर व्रजवासियोंका बाल भी बाँका न हुआ। आखिर इन्द्रका दर्प उन अजेय और अलौकिक महान पुरुषके समक्ष चूर्ण हो गया। इन्द्र स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके समक्ष उपस्थित हुआ। उसने भगवान् श्रीकृष्णसे क्षमा माँगते हुए उनकी बहुत-बहुत प्रार्थना की और बहुत-बहुत स्तवन किया।

आज भी सम्पूर्ण भारतमें दीपावलीका महान पर्व और गोवर्धन पूजा इसी इन्द्र-विजयकी स्मृतिमेंकी जाती है। नरकासुर वध, और इन्द्र गर्व दमन दोनों कथाओंमें हमें जीताजागता शौर्य और पराक्रमका ही चित्र देखनेको मिलता है। अतः यदि हम दीपावलीको शौर्य और पराक्रमका ही पर्व कहें तो अत्युक्ति न होगी। आइए दीपावली पर भगवान् श्रीकृष्णके पुनीत चरित्रके अनुसरणका व्रत लें, और इन्द्रके गर्वका दमन करके सोत्साह गोवर्धनकी पूजा करें।

गोवर्धन-स्तुति

'जो वृन्दावनकी गोदमें विराजमान हैं, गोलोकके सिरमौर और परिपूर्णतम भगवान्‌के जो छत्रस्वरूप हैं, उन आप गोवर्धनके लिए मेरा नमस्कार है।'

—गर्गसंहिता

अन्तर्ध्वनि

एक तत्त्वदर्शी

मेरे जीवनका जो दिन बीत गया, उसे मैं व्यर्थ ही समझूँगा। क्योंकि मैं उस माँके चरण-कमलोंमें उस दिनदो फूल भी अर्पित न कर सका, जिसकी स्नेह-वीणाकी आवाज मेरी साँसोंमें शक्तिका रव बनकर गूँजती रहती है।

तुम शिव हो, मेरे पिता हो। मैं तुम्हें छोड़कर और किसीको नहीं जानता और किसी को नहीं पहचानता। तुम्ही मेरी रग-रग में समाविष्ट हो। मेरे प्राणों, और मेरी साँसोंमें भी तुम्ही हो। अतः मेरे दुख-सुख, और पाप-पुण्यका भी पूर्ण दायित्व, केवल तुम्हीं पर है, केवल तुम्हीं पर।

तुम मेरी माँ हो, और तुम! मेरे पालक मेरे पिता। फिर तुम्हीं बताओ कि तुम मुझसे क्यों दूर रहते हो? क्या इसलिए कि मैं अपनी तोतली वाणीमें तुम्हें बुलाऊँ। पर तोतली वाणी भी तो मेरे अधरोंसे तब तक न फूट सकेगी, जब तक तुम मेरें पास न आओगे मुझे बोलना न सिखाओगे।

क्या तुम चाहते हो प्रभो, कि मैं तुम्हारे पास तक पहुँचनेके लिए प्रयत्न करूँ? पर तुम तो पिता हो, और मैं तुम्हारा अज्ञान बालक, अबोध, शिशु। तुममें स्नेह है, प्यार है, दया है, और है असीम शक्ति। पूर्ण विश्वास है कि प्रयत्नकी सीढ़ियोंके पास मुझे विवश बैठा हुआ देखकर तुम अवश्य मेरी ओर अपना हाथ बढ़ाओगे। तुम्हारे विशाल और सशक्त हाथोंका ही मुझे भरोसा है मेरे पिता!

हे प्रभो, मैं अरबोंकी गणना तो जानता हूँ। पर फिर भी अपनी बुराइयाँ मुझसे नहीं गिनी जातीं। तुम मुझे शक्ति दो, कि मैं अपनी बुराइयोंको गिन सकूँ-जान सकूँ। तुम्हारी दयाके बिना मैं अपनी बुराइयोंका लेखा तुम्हें नहीं दे सकता। क्योंकि वे असंख्य हैं न!

तुम्हें हिसाब माँगनेकी पड़ी है, और मुझे हिसाब देनेकी। तब तो हम तुम दोनों एक ही चिन्तामें ग्रस्त हैं एक ही उलझनमें फँसे हैं। अन्तर है तो केवल इतना ही कि तुम ऋण-दाता हो, और मैं हूँ तुम्हारा ऋणिया।

मैं तुमसे पूछता हूँ, कि तुम्हारे इस लेन-देनका क्या अर्थ है? मेरी दृष्टिमें तो कुछ नहीं। यदि कुछ हो तो तुम्हीं सामने आकर बता दो। भला, इसी बहाने तुम्हें देखनेकी मेरी साध तो पूरी हो जायगी।

लोग कहते हैं, कि 'वासना' बुरी होती है। पर मैं कहता हूँ, कि मेरे मनमें इस बातकी वासना बनी रहे, कि मैं तुम्हारे चरण-कमलोंमें प्रेम करूँ—उन पर अपनी श्रद्धाके सुमन बिखेरूँ।

●

"उपनिषदोंके बीहड़ जंगलोंमें घूमते-घूमते नितान्त श्रान्त हुए लोगों ! मेरे इस सर्वश्रेष्ठ उपदेशको आदर पूर्वक सुनो । उपनिषदोंके सार तत्त्व, वेदान्त प्रतिपाद्य, ब्रह्मकी यदि खोज हो तो उसे ब्रजाङ्गनाओंके घरोंमें ऊखलसे बँधा देख लो ।"

श्रीकृष्णो जयतु

—श्रीजगत नारायण लाल
भूतपूर्व मंत्री, बिहार प्रदेश

"कर्षतीति कृष्णः" कृष्णमें अद्भुत आकर्षण है । वे आकर्षणके केन्द्र-बिन्दु चरम केन्द्र हैं । सभी प्राणियोंको अपनी ओर अनायास खींच लेते-आकृष्ट करते हैं । विषयोंमें लिप्त जीवको अपने अपार प्रेम और सौन्दर्यकी छटाके द्वारा अपनी ओर खींचकर उसका उद्धार करते हैं । यदि इतना पर्याप्त न हुआ, तो अपनी बाँसुरीकी मधुर मनोहर दिव्य संगीत और तानके द्वारा उसे सब कुछ छोड़कर अपने पास बरबस आने और अपने ऊपर न्योछावर हो जानेको वाध्य कर देते हैं ।

यही दशा तो व्रजकी उन अनपढ़ गँवार गोपियोंकी हुई, जिन्हें अपनी अनुपम श्याम छटा और बाल लीलाके द्वारा ही मुग्ध करके, दधिके मटकोंको फोड़-फोड़कर, पनघट पर जातीं छेड़-छेड़कर ही पागल बनाकर सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु "शरत्पूर्णिमाकी रात को—

दृष्ट्वा कुमुद वन्तम खण्डमण्डलं, रमाननाभं नव कुङ्कुमारुणं ।
वनं च तत्कोमल गोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥

उस दिन चन्द्रदेवका मण्डल अखण्ड था । पूर्णिमाकी रात्रि थी । वे नूतन केसरके समान लाल-लाल हो रहे थे, कुछ सङ्कोच मिश्रित अभिलाषासे युक्त जान पड़ते थे । उनका मुख-मण्डल लक्ष्मीजीके समान मालुम हो रहा था । उनकी कोमल किरणोंसे सारा वन अनुरागके रंगमें रंग गया था । वनके कोने-कोनेमें उन्होंने अपनी चाँदनीके द्वारा अमृतका समुद्र उड़ेल दिया था । भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्य उज्ज्वल रसके उद्दीपनकी पूरी सामग्री

तैयार करनी थी फिरतो उन्होंने उस वनमें अपनी बाँसुरी पर ब्रज सुन्दरियोंके मनको हरण करनेवाली अस्पष्ट एवं मधुर तान छेड़ी। तब बाँसुरीकी उस धीमी सुरीली तानको सुनकर उनकी क्या दशा हुई, और कैसी हुई, इसे शुकदेवजीसे ही सुनिये—

"निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं, व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः, सयत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।
दुहन्त्योऽभिययुः कश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावायु द्वारास्यापरा भयुः।।

"भगवान्का वह वंशीवादन भगवान्के प्रेमको, उनके मिलनकी लालसाको अत्यन्त उकसाने वाला, बढ़ाने वाला था। यों तो श्यामसुन्दरने पहलेसे ही गोपियोंके मनको अपने वशमें कर रखा था। अब तो उनके मनकी सारी वस्तुएँ भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा आदिकी वृत्तियाँ भी छीन लीं। वंशीध्वनि सुनते ही उनकी विचित्र गति हो गई। जिन्होंने एक साथ साधना की थी, श्रीकृष्णको पति रूपमें प्राप्त करनेके लिए, वे गोपियाँ भी एक दूसरेको सूचना न देकर, यहाँ तक कि एक दूसरेसे अपनी चेष्टाको छिपाकर जहाँ वे थे, वहाँके लिए चल पड़ीं। परीक्षित ! वे इतने वेगसे चलीं थीं कि उनके कानोंके कुण्डल झोंके खा रहे थे।"

वंशीध्वनि सुनकर जो गोपियाँ दूध दुह रही थीं, वे अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर चल पड़ीं। जो चूल्हे पर दूध औटा रही थीं, वे उफनता हुआ दूध छोड़कर, और जो लपसी पका रही थीं वे पकी हुयी लपसी बिना उतारे ही ज्यों की त्यों छोड़कर चलदीं। भोजन परसते हुए परसना छोड़कर बच्चोंको पिलाते हुए पिलाना छोड़कर पतियोंकी सेवा सुश्रूषा करते हुए सेवा छोड़कर उबटन लगवाते लगवाना छोड़कर उलटे-पुलटे वस्त्र पहने हुए चल पड़ीं और पिता, पति, भाई बन्धु किन्हींके रोकने पर भी न रुकीं, क्योंकि विश्वमोहन कृष्णने उनके प्राण, मन और आत्मा सब कुछका अपहरण जो कर लिया था।

यह तो दशा उनकी थी जो चल पड़ीं— परन्तु कुछ गोपियोंने जो घरोंमें बन्द रहनेके कारण निकल नहीं सकीं—कृष्णका ध्यान करते-करते उन्हींमें तल्लीन हो गईं—और कुछकी दशा तो ऐसी हुई, कि अपने परम प्रियतमके वियोगके तीव्र तापसे उनके जितने अशुभ कर्म थे, जलकर भस्म हो गए और जितने शुभकर्म थे, उनके पुण्य फल भी अवतरित पर-ब्रह्म श्रीकृष्णमें संलग्न प्रगाढ़ ध्यानके कारण विलीन हो गये और वे शुभ और अशुभ, दोनों कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होकर अपने गुणमय शरीरको त्यागकर कृष्णमें ही लीन हो गयीं।

ऐसा अद्भुत है आकर्षण श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका, और ऐसी मोहक है तान उनकी बाँसुरीकी—जिस किसी पर उनकी कृपा हो जाती, उसके कानोंमें उनकी बाँसुरीकी वह मधुर मोहक तान गूँज जाती—उनकी झलक किसी न किसी रूपमें मिल जातीं और वह फिर उनके प्रेममें मतवाला बावला होकर झूमने लग जाता। उसके उस आन्तरिक सुख और आनन्दकी नाप-तोल फिर किस प्रकार की जा सकती है, क्योंकि वह तो मानवीं सुख और आनन्द से बहुत परे और उसकी परिधि से बिल्कुल बाहर जो है—उसी प्रेमकी घूँट पीकर तो "खुसरो" गाने लगा था—

"काफिरे इश्कम मुसलमानी मेरा दरकार नेस्त।
हर रगे मन तार गश्तम हाजते जुन्नार नेस्त॥

"मैं मुरली वालेके इश्क में—प्रेममें फँसकर अब तो काफिर—गैर मुस्लिम हो गया—मुझे मुसलमानी अब नहीं चाहिए—और शरीरका रग-रग उसके प्रेमकी तारसे बँध चुका मुझे हिन्दू बननेके लिए जनेऊकी आवश्यकता भी नहीं रही"—और आगे कहता है:—

"अज सरे वालीने मन, बरखेज ऐ नादां तबीब।
दर्द मन्दे इश्करा दारूं बजुज दीदार नेस्त"॥

ऐ "नादां" मूर्ख "तबीब" मेरे सिरहानेसे हट जा—जो "इश्कसे दर्दमन्द" है जिसे प्रेमकी पीर वेध रही हैं, उसके लिए "दीदार" को छोड़कर दूसरी दवा हो ही नहीं सकती।

और उस मुरलीधरके प्रेममें मतवाली, संसारके राज्य वैभव और सुखको तिलाञ्जलि दे, कठिनसे कठिन यातना सहकर भी उस प्रेम रसके पानकी प्यासी, प्रियतमके दर्शनोंके लिए तड़पने वाली वह "मीरा" भी तो गाती है:—

दरदकी मारी बन-बन डोलूं, वैद्य मिला नहीं कोय।
घायल की गति घायल जानें की जिन लाई होय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब वैद सँवलिया होय।

उसी वंशी वालेकेप्रेममें मतवाला "रसखान" भी तो गाता है—

या लकुटी अरु कामरिया पर,
राज तिहूँपुर को तजि डारों।
आठहुँ सिद्धि नवो निधिको सुख,
नन्द की गाय चराय बिसारों।

अपने उस दिव्य प्रेमकी एक घूँट पिलाकर, बाँसुरीकी वह मधुर सुरीली तान एक बार सुनाकर, हमें भी मतवाला बना दो। ऐसा मतवाला बनादो, कि संसारके और सभी रस फीके पड़ जायें और उनका आकर्षण सदाके लिए मिट जाय और तुम्हारे ही प्रेमकी मस्तीमें मतवाला होकर झूमता रहूँ—झूमता रहूँ।

श्रीकृष्णके प्रेममें—

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे।
लोग कहैं मीरा भई रे बावरी, सास कहै कुल नासी रे।
विष को प्यालो राणा जी भेज्यो, पीवत मीरा हाँसी रे।
मैं तो अपने नारायण की आपहिं हो गई दासी रे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर सहज मिल्यौ अविनाशी रे।

—मीराजी

श्रीहरिवल्लभास्तोत्रम्

(पाण्डेय पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री साहित्याचार्य)

भुवि हिता विहिताखिलसत्क्रिया नरहिता रहिताखिलदूषणैः ।
वसुहिताऽसुहितास्तु हिताय मे समहिता महिता हरिवल्लभा ।। १ ।।

अर्थ—जो इस भूतल पर एकमात्र हितकारिणी हैं, जिन्होंने स्वभावतः सम्पूर्ण सत्कर्मोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लिया है, जो मानवमात्रकी हितैषिणी हैं; जिनमें समस्त दोषोंका सर्वथा अभाव है, जो धन-रत्न आदिको प्राप्ति कराने वाली, प्राणोंकी रक्षा करने वाली, सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहने वाली तथा सर्व पूजिता हैं; वे श्रीहरिवल्लभा श्रीराधा मेरे लिये कल्याणकारिणी हों ।। १ ।।

चरणपंकजधूलिकणान् सदा किरसि यत्र चिदात्मनि धामनि ।
जयति सा मधुसूदनमोहिनी तव रसा वरसानुनृपात्मजे ।। २ ।।

अर्थ—हे वरसानुराजनन्दिनि ! अपने चिन्मय धामकी जिस धरा पर तुम सदा स्वकीय चरणारविन्दोंकी धूल बखेरती रहती हो, वह मधुसूदन श्रीकृष्णको मोहने वाली तुम्हारी निवास भूमि नित्य विजयिनी है ।। २ ।।

सति चिति व्रजधामिनि गोगणैरनिशमध्युषिते परमं महः ।
विधुविरंचिशिवादिभिरंचितं, स्मर सितं रसितं रसिकेन्दुना ।। ३ ।।

अर्थ—जहाँ नित्य असंख्य चिन्मय गौएं निवास करती हैं, जो स्वयं भी सच्चिन्मय हैं, उस व्रजधाम (गोलोक) में विष्णु, ब्रह्मा एवं शिव आदिसे पूजित प्रशंसित तथा रसिकशेखर श्रीकृष्ण द्वारा आस्वादित, जो गौरवर्णका परम उत्कृष्ट तेज है, उसका हे मन ! तू सदा स्मरण किया कर ।। ३ ।।

श्रुतिविमृग्यतमं विधिवन्दितं किमपि कृष्णमहः परिरम्भितम् ।
कनकगौरमहो मधुरं प्रियं सुरुचिरं रुचिरंजितमाश्रये ।। ४ ।।

अर्थ—जो श्रुतियोंका प्रमुख अन्वेषणीय तत्व है, विधाता भी जिसकी वन्दना करते हैं, जो श्याम तेजसे आलिंगित, मधुर, प्रिय, अत्यन्त सुन्दर तथा प्रभासे उद्‌भासित है, उस किसी अनिर्वचनीय कनककान्ति गौर तेज (श्रीराधा रानी) की शरण लेती हूँ ।। ४ ।।

न हि रविर्न शशी न च विद्युतः परमधाम्नि विभान्ति परात्परे ।
द्युतिमति प्रभया प्रिययोः सदा विहरतोर्हरतोर्भजतां भयम् ।। ५ ।।

अर्थ—भजनपरायण भक्तोंके भयका अपहरण तथा नित्य-निरन्तर विहार करने वाले प्रिया-प्रियतमकी अनन्त प्रभासे प्रकाशमान परात्पर परमधाम गोलोकमें न तो सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमाकी चाँदनी फैलती है और न बिजलियाँ ही चमकती हैं ।। ५ ।।

ये श्लोक लेखककी नवप्रकाशित रचना "श्री हरिवल्लभास्तोत्रम्" से साभार लिये गये हैं ।
—सम्पादक

भले ही कोई शास्त्रोंकी व्याख्या करें, देवताओंका यजन करें, अनेक शुभ कर्म करें, देवताओंका भजन करें, पर जब तक ब्रह्म और आत्माकी एकताका बोध नहीं होता, तब तक सौ ब्रह्माओंके बीच जाने पर भी मुक्ति नहीं हो सकती है।

—आचार्य शंकर

श्रीशुकदेवकी ज्ञान-प्राप्ति

व्यासदेवके पुत्र शुकदेव आचार्यके घरसे सर्वशास्त्र पारंगत होकर लौट आए। परन्तु उनका चेहरा विषण्ण, म्लान था। पुत्रको चिन्ताकुल देखकर व्यासदेवने कहा :—

"वत्स, तुम विषण्ण व चिन्तित क्यों हो? ब्रह्मज्ञ मनुष्यको प्रशान्तात्मा होना चाहिए। तुम्हारी विद्या कादाचित् सम्पूर्ण नहीं हुई है। तुम फिरसे ब्रह्मविद्याका अध्ययन करो।"

कुछ दिन अध्ययनके बाद शुकदेवने कहा—"यह सब मैं जानता हूँ। वेद, वेदान्तादि शास्त्र मुझे कंठस्थ हैं। उनका तत्व भी मैं जानता हूँ, परन्तु उसमें मेरा प्रत्यय नहीं है।"

व्यासदेव चिन्तित हो गए। कुछ देर बाद उन्होंने कहा—"वत्स, मिथिलाके राजा जनक मेरे मित्र हैं। वह प्रसिद्ध ब्रह्मविद् भी हैं। तुम उनके पास जाकर उपदेश ग्रहण करो। वह तुम्हें ब्रह्मविद्याकी शिक्षा देंगे।"

शुकदेवने राजर्षि जनककी सभामें आकर अपना परिचय तथा आगमनका कारण निवेदन किया। जनकने परम समादरसे उनको ग्रहण किया और कहा आप कुछ दिन यहाँ रहिये। हम यथासमय ब्रह्मविद्याकी आलोचना करेंगे।

इधर राजा जनकको देखकर शुकदेवके मनमें यह विचार आया कि 'यह राजा विषय-भोगमें बहुत तल्लीन हैं। राजकार्योंकी आलोचना तथा देशकी सुरक्षाके आयोजनमें ही उनका अहोरात्र व्यतीत होता है। धर्मकथाकी आलोचनाके लिये इनको समय कहाँ? व्यर्थ ही मैं इनसे ब्रह्मविद्या सीखनेकी प्रतीक्षामें बैठा हूँ। शुकदेव अत्यन्त निराश व दुखी हो गए।

एक दिन जनकपुरी मिथिलामें आग लग गई। चारों ओर हा-हाकार मच गया। इस ध्वंसके बीच महाराज जनकने एकाएक अत्यन्त निर्मम, रुद्र मूर्ति धारण की। शुकदेव राजाकी इस असम्भावित मूर्तिको देखकर विस्मयसे स्तब्ध हो गए। आज राजाकी मूर्ति पहले जैसी नम्र व शान्त नहीं थी। आज उनकी आज्ञामें कठोरताकी विद्युत दमक रही थी। सैनिक, शांति-रक्षकगण अग्निनिर्वापनमें तत्पर जनसमूह सभी अक्षरशः उनका आदेश पालन कर रहे थे।

राजा जनकने आज निर्मम निष्ठुरताके साथ नरहत्याका आदेश दिया है। जो योद्धा आज कापुरुषताके कारण कर्त्तव्य लंघन तथा आत्मरक्षाका उपाय करेगा, तत्क्षण उसका प्राणदंड होगा। जो दरिद्र आज लोभके कारण जलते हुए घरमेंसे किसी वस्तुका अपहरण करेगा उसको भी प्राणदण्ड मिलेगा। किसी बस्तीमें आगका प्रकोप अधिक था—जनककी आज्ञासे वह ध्वंस कर दी गई। उसके रहने वालोंके कातर क्रन्दन व अनुनयके प्रति राजा जनक की कुछ भी दृष्टि नहीं थी। अधिकारी पुरुषोंने जनतामें घोषणाकी कि जो भी व्यक्ति राजाज्ञा का लंघन करेगा या रक्षाकार्यमें विघ्न उत्पन्न करेगा उसको समुचित दण्ड दिया जायेगा।

शुकदेव देखते रह गए। यह सब होता देखकर उनके विस्मयकी सीमा नहीं रही। राजाके प्रासादमें भी आग लगी थी। बहुमूल्य आभूषण, वस्त्रालंकार आदि जल कर भस्म हो रहा था। राजा जनकका उधर ध्यान ही नहीं था। राजमहिषी तथा अनुचर राजाके स्वाभावसे परिचित थे। वे भी चुप थे। किसीने भी किसी वस्तुकी रक्षाका प्रयत्न नहीं किया। धीरे-धीरे अग्नि-शिखा जनकके प्रिय पुस्तकालयकी दिशामें बढ़ी। बहुमूल्य पुस्तकोंका संग्रह जलने लगा—जनकने उधर भी ध्यान नहीं दिया।

अग्निकाण्डके आरम्भमें ही जनकने शुकदेवकी देखभाल तथा सुरक्षाके लिए किसी मन्त्रीको नियुक्त कर दिया था। मंत्री शुकदेवको नगरके समीप एक वनमें ले गए। वहाँ पर शुकदेवने मन्त्रीसे राजा की रुद्रमूर्ति तथा निष्ठुर आदेशका कारण पूछा।

मन्त्रीने कहा—"महात्मन्, महाराजा जनक महाज्ञानी हैं। उनके कार्योंका कारण समझना कठिन ही है। राजा जानते हैं, कि इस घोर अशांति तथा ध्वंसके बीच दृढ़ होना अत्यावश्यक है। जो साधारणतया पुष्पवत् कोमल हैं—कर्त्तव्यके पालनमें वह: वज्रादपि कठोर हो जाते हैं। यही आपद्धर्म है। महाराजकी यह निर्मम मूर्ति सामयिक है। इस संसार लीलामें सामूहिक कल्याणके प्रति ही महाराजकी दृष्टि है। व्यक्तिगत लाभ-हानि इस समय विवेचनीय नहीं है। इस दारुण ध्वंस लीलामें हजारों, लाखों व्यक्ति अनाथ, अन्न-वस्त्रहीन हो जाएँगे। उनकी प्राणरक्षाके लिए शासनकर्त्ताओंने पहलेसे ही खाद्य तथा वस्त्रोंकी दुकानों पर अधिकार कर लिया, ताकि वणिक लोग अन्याय द्वारा अनुचित लाभ न उठायें। भविष्यमें जब अच्छा समय आयेगा, तब वणिकोंकी समुचित क्षतिपूर्णकी जायगी। महाराज जनक वास्तविक राजर्षि हैं। इनके सदृश महात्मा संसारमें विरले ही हैं।"

धीरे-धीरे नगरकी प्रजा वनमें आगई। महाराज भी आये। उनकी आज्ञानुसार प्रजाके रहने तथा अन्न-वस्त्राज्ञादिकी व्यस्थाकी गई। सब व्यवस्था सुसम्पन्न होने पर ही

जनक तथा उनके अंतरंग अमात्यपरिजनोंको विश्रामका अवसर प्राप्त हुआ। सब बैठ गए। इतनेमें किसी सभासदने कहा—'महाराज, यह देखिए, मैंने आपके रत्नमुकुटका उद्धार किया है।' दूसरेने भी कहा—'मैंने भी कुछ रत्न अलंकारादिका उद्धार किया है।' एक पण्डितने अवसर देखकर कहा—'महाराज, मैं आपकी कुछ प्रिय, अमूल्य पुस्तकोंकी रक्षा कर सका हूँ।' इतनेमें विदूषकने कौतूहलसे पूछा—महाराज क्या आप भी कुछ बचाकर ला सके ?' राजा चकित होकर बोले—

'हाँ मैं तो भूल ही गया था। यह देखो—ऐसा कहकर जनकने अपने वस्त्रके भीतरसे एक छोटा-सा पक्षी निकाला और कहा—'आगकी ज्वालासे, दुखी व भयभीत होकर यह पक्षी किसी वृक्षके नीचे पड़ा हुआ था। मैंने इसे उठा लिया था।'

इतना कहकर जनकने उस पक्षीको हाथ पर रखा पक्षी पर फरफरा कर वनमें उड़ गया। शुकदेव अत्यन्त लज्जित हो गए। क्योंकि इस घोर ध्वंसकाण्डमें भी उनको अपनी पुस्तकोंका ध्यान रहा और बड़े प्रयत्नसे उन्होंने उनकी रक्षाकी थी।

नगरका निर्माण—कार्य आरम्भ हुआ। सामयिक तौर पर कुछ कुटीर बनाए गए। प्रजाने उन्हींमें आश्रय लिया। नगरके गृहों, अट्टालिकाओं तथा प्रसादोंका संस्कार होने लगा। सब व्यवस्था करके राजा जनकने शुकदेवके प्रति ध्यान दिया। उन्होंने कहा— 'महात्मन्, क्षमा कीजिए, मैं अब तक आपके साथ ब्रह्मविद्याकी अलोचना करनेका समय पा सका। दुर्भाग्यसे यह नगर अब रहनेके अयोग्य है। मैं व्यर्थ आपसे यहाँ रहनेका अनुरोध नहीं करूंगा।''

शुकदेव ने कहा—'आपका कार्य तथा आचरण रेखकर मेरे ज्ञाननेत्र खुल गए हैं। आप मेरे गुरु हैं, मैं आपसे अनायास ब्रह्मविद्याका ज्ञान पा चुका हूँ।''

जनकने विस्मित होकर कहा—'यह कैसे संभव हुआ ? मैंने न तो आपको कोई उपदेश दिया और न आपसे कुछ आलोचना ही की।''

शुकदेवने कहा—भगवान् इस विश्वमें ओतप्रोत हैं। उन्हींसे सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं। मनुष्य अपने कर्मके द्वारा उनकी पूजा करनेसे भाव सिद्धि प्राप्त करता है।

इस महामन्त्रका वास्तविक अर्थ अब मैं आपके आचरित कार्योंको देखकर सम्यक समझ गया हूँ। आप राजर्षि हैं। लोक कल्याण ही आपका धर्म है। आप उसीका अनुसरण करते हैं। मुझे भी अपने कर्त्तव्यका ज्ञान प्राप्त हुआ है। मैं ब्राह्मण हूँ। आप जैसे जगतके हितमें निरत हैं, मैं भी वैसे ही हरिपूजन, हरिनाम कीर्त्तनमें तल्लीन रहकर आनन्द पाऊंगा। मानवोंके हितके लिए मैं भगवत्-कीर्तन करूंगा। संसारके उपकारके साथ-साथ मेरी अपनी भी ज्ञानवृद्धि होगी। इस तत्वज्ञानके मूलमें महाराज, आप हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ।' ऐसा कह कर शुकदेवने जनकको प्रणाम करके वहाँसे प्रस्थान किया।

●

सत्यके लिये लिये सब कुछ कुरबान करें । हम हैं वैसे दीखना नहीं चाहते; बल्कि हैं उससे बेहतर दीखना चाहते हैं। कैसा अच्छा हो अगर हम नीच हैं तो नीच दीखें; अगर ऊँच होना चाहें तो ऊँच काम करें, ऊँचा विचारें! ऐसा न हो सके तो भले नीच ही दीखें। किसी रोज सब ऊँचे जायेंगे।

—गांधीजी

सत्य क्या है ?

आचार्य श्रीरजनीश

सत्यकी खोजमें पहला सत्य क्या है ? व्यक्ति जो हैं, जैसा है, उसे स्वयंको वैसा ही जानना पहला सत्य है। यह सीढ़ीका पहला पाया है। किन्तु अधिकांशतः सीढ़ियोंमें यह पहला पाया ही नहीं होता है, और इसलिए वे केवल देखने मात्रके लिये सीढियाँ रह जाती हैं, उनसे चढ़ना नहीं हो सकता है। कोई चाहे तो उन्हें कंधों पर ढो सकता है, लेकिन उनसे चढ़ना असंभव है।

मनुष्य औरोंको धोखा देता हैं। स्वयंको धोखा देता है। और परमात्माको भी धोखा देना चाहता हैं। फिर इस धोखेमें वह स्वयं ही खो जाता है। जिस धुयेंसे उसकी आँखें अंधी हो जाती हैं, उसे वह स्वयं ही पैदा करता है।

क्या इस धुयेंके भीतर हमने अपनी असभ्यता, असंस्कृति और अधर्मको ही छिपानेकी असफल चेष्टा नहीं की है ? असत्य कभी भी सत्य तक ले जाने वाला मार्ग नहीं बन सकता है, सत्य ही सत्यका द्वार है। स्वयंके प्रति सारी वंचनाओंको छोड़नेसे ही सत्यका मार्ग निष्कंटक और निरवरोध हो सकता है। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अंततः स्वयंको धोखा नहीं दिया जा सकता है। एक न एक दिन धोखे टूट ही जाते हैं, और सत्य प्रकट होते है, इसलिये आत्मवंचना अंततः आत्मग्लानिमें परिणत होती है। किन्तु पूर्व बोध जो कर सकता है, वह पश्चात्ताप नहीं कर सकता है।

मैं क्यों धोखा देना चाहता हूँ ?

क्या सब धोखोंके पीछे भय ही नहीं हैं ?

लेकिन क्या धोखोंसे भयकी मूल जड़ें नष्ट होती हैं ? धोखेसे उल्टे वे जड़ें और दब जाती हैं, और गहरी हो जाती हैं। इस भाँति वे मरती नहीं, और सप्राण और सशक्ति होती है, इसीलिए फिर उन्हें ढाँकने और छिपानेको और भी बड़े धोखे, आविष्कार करने होते हैं, और फिर धोखोंका एक अंतहीन सिलसिला शुरु होता है। जिससे भीरुता बढ़ती ही चली जाती है और व्यक्ति दीनता और कायरताका पुञ्ज मात्र रह जाता है। फिर तो वह स्वयंसे भी भय खाने लगता है। यह भय नरक बन जाता है।

जीवनमें भयके कारण वंचनायें ओढ़ना उचित नहीं है। उचित है भयके मूल कारण को खोजना। भयको दबाना नहीं, उघाड़ना आवश्यक है। दबे हुये भयसे मुक्ति असंभव है। भयको जानकर, उघाड़कर ही, उससे मुक्त हुआ जा सकता है।

इसलिये ही साहसको मैं सबसे बड़ा धार्मिक गुण मानता हूँ। जीवनके मंदिरमें पीछेसे घुसनेके लिये कोई द्वार नहीं हैं। परमात्मा केवल उनका ही स्वागत करता है जो कि साहस पूर्वक संघर्ष करता है।

बहुत वर्षों पहलेकी बात है, इंग्लैण्डके एक महानगरमें शेक्सपियरका कोई नाटक चल रहा था। तब सज्जनोंके लिये नाटक देखना पाप समझा जाता था। और धर्मपुरोहितोंके तो देखनेका सवाल ही नहीं था। लेकिन एक पादरी नाटक देखनेका लोभ संवरण नहीं कर सक रहा था। उसने वही विधि खोजी, जो हम आज सब जीवनमें खोजते हैं ! उसने थियेटर हालके मैनेजरको लिखकर पूछा—"क्या आप नाटकके लिये पिछले द्वारसे मेरे प्रवेशका इन्तजाम कर सकेंगे ताकि कोई मुझे देख न सके ?" मैनेजरका जवाब आया : "खेद है, यहाँ कोई ऐसा दरवाजा नहीं है, जो कि ईश्वरको नजर न आता हो।

मैं भी यही आपसे कहना चाहता हूँ। सत्यमें प्रवेशके लिये भी पीछेका कोई द्वार नहीं है। परमात्मा सब द्वारों पर खड़ा हुआ है।

आप पूछते हैं, आनन्द कहाँ है ?

मैं एक कथा कहता हूँ। उस कथा में ही आपका उत्तर है।

एक दिन संसारके लोग सोकर उठे ही थे कि उन्हें एक अद्भुत घोषणा सुनाई पड़ी, ऐसी घोषणा इसके पूर्व कभी भी नहीं सुनी गई थी। किन्तु वह अभूतपूर्व घोषणा कहाँसे आ रही थी, यह समझमें नहीं आता था। उसके शब्द जरूर स्पष्ट थे। शायद वे आकाशसे आ रहे थे, या यह भी हो सकता है कि अंतसे ही आ रहे हों। उनके आविर्भावका स्रोत मनुष्य के समक्ष नहीं था।

"संसारके लोगो ! परमात्माकी ओरसे सुखोंकी निमूल्य भेंट ! दुखोंसे मुक्त होनेका अचूक अवसर ! आज अर्धरात्रिमें, जो भी अपने दुखोंसे मुक्त होना चाहता है, वह उन्हें कल्पना की गठरीमें बाँधकर गाँवके बाहर फेंक आवे और लौटते समय वह जिन सुखोंकी कामना करता हो, उन्हें उसी गठरीमें बाँधकर सूर्योदयके पूर्व घर लौट आवे। उसके दुखोंकी जगह सुख आजावेंगे। जो इस अवसरसे चूकेगा, वह सदाके लिये ही चूक जावेगा। यह एक रात्रिके लिये पृथ्वी पर कल्प वृक्षका अवतरण है। विश्वास करो और फल लो। विश्वास फलदायी है।

सूर्यास्त तक उस दिन यह घोषणा बार-बार दुहरती रही। जैसे-जैसे रात्रि करीब आने लगी, अविश्वासी भी विश्वासी होने लगे। कौन ऐसा मूढ़ था, जो इस अवसरसे चूकता ? फिर कौन ऐसा था जो दुखी नहीं था और कौन ऐसा था जिसे सुखोंकी कामना न थी ? सभी अपने दुखोंकी गठरियाँ बाँधने में लग गये। बस सभी को एक ही चिन्ता थी कहीं कोई दुख बांधनेसे छूट न जावे। आधी रात होते-होते संसारके सभी घर खाली हो गये थे और असंख्य जन चीटियोंकी कतारोंकी भाँति अपने-अपने दुखोंकी गठरियाँ लिये ग्रामोंके बाहर जा रहे थे। उन्होंने दूर-दूर जाकर अपने दुख फेंके कि कहीं वे पुन: न लौट आवें और आधीरात बीतने पर वे सब पागलोंकी भाँति जल्दी-जल्दी सुखोंको बाँधनेमें लग गये। सभी जल्दीमें थे कि कहीं सुबह न हो जाय और कोई सुख उनकी गठरीमें अनबँधा न रह जाय। सुख तो हैं असंख्य और समय था कितना अल्प ? फिर भी किसी तरह सभी संभव सुखोंको बाँधकर लोग भागते- भागते सूर्योदयके करीब अपने-अपने घरोंको लौटे। घर पहुँचकर जो देखा तो स्वयंकी ही आँखों पर विश्वास नहीं आता था ! झोपड़ोंकी जगह गगनचुम्बी महल खड़े थे। सब कुछ स्वर्णिम हो गया था। सुखोंकी वर्षा हो रही थी। जिसने जो चाहा था, वही उसे मिल गया था। यह तो आश्चर्य था ही, लेकिन एक और महाश्चर्य था। यह सब पाकर भी लोगोंके चेहरों पर कोई आनन्द नहीं था। पड़ौसियोंका सुख सभीको दुख दे रहा था ! और पुराने दुख चले गये थे—लेकिन उनकी जगह बिल्कुल ही अभिनव दुख और चिन्तायें साथमें आ गई थीं ! दुख बदल गये थे लेकिन चित्त अब भी वही थे और इसलिये दुखी थे ! संसार नया हो गया था लेकिन व्यक्ति तो वही थे और इसलिये वस्तुत: सब कुछ वही था। एक व्यक्ति जरूर ऐसा था जिसने दुख छोड़ने और सुख पानेके आमंत्रण को नहीं माना था। वह एक नंगा वृद्ध फकीर था। उसके पास तो अभाव ही अभाव थे। और उसकी नासमझी पर दया खाकर सभीने उसे चलनेको बहुत समझाया था। जब सम्राट भी स्वयं जा रहे थे तो उस दरिद्रको को जाना ही था। लेकिन उसने हँसते हुए कहा था। "जो बाहर है वह आनन्द नहीं है, और जो भीतर है उसे खोजने कहाँ जाऊँ ? मैंने तो सब खोज छोड़कर ही उसे पा लिया है। लोग उसके पागलपन पर हँसे थे और दुखी भी हुये थे। उन्होंने उसे अज्ञमूर्ख ही समझा था और जब उनके झोंपड़े महल हो गये थे। और मणि माणिक्य कंकड़ पत्थरोंकी भाँति उनके घरोंके सामने पड़े थे, तब उन्होंने फिर उस फकीर को कहा था। "क्या अब भी अपनी भूल समझमें नहीं आई ?" लेकिन फकीर फिर हँसा था और बोला था। "मैं भी यही प्रश्न आप सबसे पूछनेकी सोच रहा था ?"

मैं एक ८४ वर्षके बूढ़े आदमीकी मरणशय्याके पास बैठा था। जितनी बीमारियाँ एक ही साथ एक ही व्यक्ति को होनी सम्भव हैं, सभी उन्हें थीं। एक लम्बे अर्सेसे वे असह्य पीड़ा झेल रहे थे। अन्तमें आँखें भी चली गई थीं। बीच-बीच में मूर्छा भी आ जाती थी। बिस्तर से तो कई वर्षों से नहीं उठे थे। दुख ही दुख था। लेकिन फिर भी वे जीना चाहते थे। ऐसी स्थितिमें भी वे जीना चाहते थे। मृत्यु उन्हें अभी भी स्वीकार नहीं थी। जीवन चाहे साक्षात् मृत्यु ही हो फिर भी मृत्यु को कोई स्वीकार नहीं करता है ? जीवनका मोह इतना अंधा और अपूर क्यों है ? यह जीवैषणा क्या-क्या सहने को तैयार नहीं कर देती है ? मृत्युमें ऐसा भय क्या है ? और जिस मृत्युको मनुष्य जानता ही नहीं, उसमें भय भी

कैसे हो सकता है ? भय तो ज्ञातका ही हो सकता है। अज्ञातका भय कैसा। उसे तो जानने की जिज्ञासा ही हो सकती है।

मृत्युसे भय क्यों ?

उन वृद्धको जो भी देखने जाता था, उसके सामने ही रोने लगते थे, शिकायतें ही शिकायतें ! मृत्यु क्षण तक भी शिकायतें नहीं मरती हैं ? शायद, मृत्युके बाद भी वे साथ देती हैं !

डाक्टरों, वैद्यों, हकीमों—सभीसे वे ऊब चुके थे, लेकिन अभी भी निराश नहीं थे, किसी न किसी चमत्कारके बल और आगे भी अभी जीनेकी उन्हें आशा थी।

मैंने एकांत देखकर उनसे पूछा। "क्या आप अब भी जीना चाहते हैं ?" निश्चय ही वे चौंके थे, सोचा होगा यह कैसी अपशकुनकी बात मैंने पूछी ! फिर बड़े कष्टसे बोले थे। "अब तो परमात्मासे एक ही प्रार्थना है कि उठाले !" लेकिन जो वे कह रहे थे, उसकी असत्यता उनके चहरेके कण-कणसे प्रगट होती थी।

एक कथा मुझे स्मरण आई थी।

एक लकड़हारा था। दीन, दरिद्र, दुखी और वृद्ध। पेट भर पाने योग्य लकड़ियाँ भी वह अब नहीं काट पाता था। उसकी जीवन शक्ति रोज-रोज क्षीण होती जाती थी। संसारमें आगे पीछे भी उसका कोई नहीं था। जंगलमें लकड़ियाँ काटकर एक दिन वह उन्हें बाँध रहा था। तभी उसके मुँहसे निकला—"इस वृद्धावस्थाके कष्टपूर्ण जीवनसे छुटकारा दिलानेके लिये मौत भी मुझे नहीं आती ?" किन्तु उसके मुँहसे इन शब्दोंके निकलते ही उसने किसीको पीछे खड़ा हुआ अनुभव किया। कोई अदृश्य और अत्यन्त ठंडा हाथ भी उसके कंधे पर था। उसके तन-प्राण काँप उठे। उसने मुड़कर देखा, कोई भी तो नहीं था। फिर भी कोई जरूर था। उसके कंधे पर ठंडे हाथका भार स्पष्ट था। इसके पहले कि कुछ बोलता, वह अदृश्य शक्ति स्वयं ही बोली। "मैं मृत्यु हूँ, बोलो मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ ?" उस बूढ़े लकड़हारेकी बोलती ही खो गई। सर्दीके दिन थे, लेकिन उसके शरीरसे पसीना धारोंमें बहने लगा। किसी भाँति शक्ति जुटाकर उसने कहा—"हे देवी ! मुझ गरीब पर दया करो, मुझसे तुम्हें क्या काम है ?" मृत्युने कहा —"मैं हाजिर हूँ, क्योंकि तुमने मुझे याद किया था ?" उस वृद्ध लकड़हारेने होश सम्हाला और बोला—"क्षमा करें, मैं तो भूल ही गया। इस लकड़ियोंके गट्ठरको उठानेमें मेरी मदद करदें, इसलिए ही आपको पुकारा था। और भविष्यमें एक तो मैं बुलाऊँगा ही नहीं, और भूलसे यदि बुला भी लूँ तो भी आपको आने की आवश्यता नहीं है। प्रभु कृपासे मैं बहुत आनन्द में हूँ।"

मैं यह सोच ही रहा था कि एक व्यक्तिने आकर उन वृद्धसे कहा—"एक फकीर आया है। उसकी चमत्कारिक शक्तियोंकी बड़ी चर्चा है। क्या आपको दिखानेके लिये मैं उन्हें बुला लाऊं ?" वृद्धके चेहरे पर आशाकी चमक आ गई और वे किसी तरह उठकर बैठ गये और बोले —"फकीर कहाँ है ? जल्दी लिवा लायें। मैं ऐसा कोई ज्यादा बीमार भी तो नहीं हूँ। असलमें डाक्टर ही मुझे मारे डाल रहे हैं। परमात्मा बचाना चाहता है। इसीलिये

तो में उन सबके बावजूद बचा हुआ हूँ। प्रभु जिसे बचाना चाहता हैं। उसे कौन मार सकता है ?"

फिर मैंने विदा ली। किन्तु घर पहुँचा ही था कि पीछेसे ही खबर पहुँची कि वृद्ध अब इस संसारमें नहीं हैं !

अहंकार का भवन

एक करोड़पतिने महल बनवाया था। उसका जीवन बीतते-बीतते वह महल बनकर तैयार हुआ था। अक्सर ही ऐसा होता है। रहनेके लिये जिसे बनाते हैं, उसे बनानेमें ही रहनेवाला चुक जाता है। निवास तैयार करते हैं और समाधि तैयार होती है। यही हुआ था। महल तो बनगया था लेकिन बनाने वालेके जानेके दिन आ गये थे। किन्तु महल अद्वितीय बना था। अहंकार तो अद्वितीयता ही चाहता है। उसके लिये ही तो मनुष्य अपनी आत्मा भी खो देता है। अहं जो कि है ही नहीं, सर्व प्रथम होकर ही तो स्वयंके होनेका अनुभव कर पाता है। सौन्दर्यमें, शिल्पमें, सुविधामें सभी भाँति वह भवन अद्वितीय था और धनपतिके पैर पृथ्वी पर नहीं पड़ रहे थे। राजधानी भरमें उसकी ही चर्चा थी। जो भी देखता था मंत्रमुग्ध हो जाता था। अंततः स्वयं सम्राट भी उसे देखने आया था। वह भी अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर सका। उसके स्वयंके महल भी फीके पड़ गए थे। भीतर तो उसे ईर्ष्या ही हुई, पर ऊपरसे उसने प्रशंसा ही की। धनपतिने तो उसकी ईर्ष्याको ही वस्तुतः प्रशंसा माना ! सम्राटकी प्रशंसाका आभार मानते हुये उसने कहा—"सब परमात्माकी कृपा है।" लेकिन हृदयमें तो वह जानता था ही कि सब मेरा पुरुषार्थ है ! सम्राटको विदा देते समय द्वार पर उसने कहा—"एक ही द्वार मैंने महलमें रखा है। ऐसेमें चोरी असंभव है। कोई भीतर आवे या बाहर जावे, इसी द्वारसे आना जाना अनिवार्य है।" एक वृद्ध भी द्वार पर भीड़में खड़ा था। भवनपतिकी बात सुनकर वह जोरसे हँस पड़ा। सम्राटने उससे कहा—"क्यों हंसते हो ?" वह बोला—"कारण भवनपतिके कानमें ही बता सकता हूँ।" फिर वह भवनपतिके पास गया और कानमें बोला—"महलके द्वारकी तारीफ सुनकर ही मुझे हँसी आ गई थी। इस पूरे महलमें वही तो एक खराबी है। मृत्यु उसी द्वारसे आयेगी और आपको बाहर ले जायेगी। वह द्वार और न होता तो सब ठीक था।"

जीवनके जो भी भवन मनुष्य बनाता है, उन सभीमें यह खराबी रहती है। इसलिये तो कोई भी भवन आवास सिद्ध नहीं होता है। एक द्वार उन सभीमें शेष रह जाता है और वही मृत्युका द्वार बन जाता है।

लेकिन क्या जीवनका ऐसा भवन संभव नहीं है, जिसमें मृत्युके लिये कोई द्वार ही न हो ?

हां, संभव है।

किन्तु उस भवनमें दीवारें नहीं होती हैं, बस द्वार ही द्वार होते हैं। द्वार ही द्वार होनेसे द्वार दिखाई नहीं पड़ते हैं।

और मृत्यु वहीं आ सकती है, जहाँ द्वार है। जहाँ द्वार ही द्वार है, वहाँ द्वार ही नहीं है।

अहंकार जीवनमें दीवारें बनाता है। फिर स्वयंके आने जानेके लिये उसे कमसे कम एक द्वार तो रखना ही होता है। यही द्वार मृत्युका द्वार भी है।

अहंकारका भवन मृत्यसे नहीं बच सकता है। उसमें एक द्वार सदा ही शेष है। वह स्वयं ही वह द्वार है। यदि वह एक भी द्वार न छोड़े तो भी मरेगा। वह आत्मघात है।

किन्तु, अहंकारशून्य जीवन भी है। वही अमृत जीवन है। क्योंकि मृत्युको आनेके लिये उसमें कोई द्वार ही नहीं है और न मृत्युको गिरानेके लिये उस भवनमें कोई दीवारें ही हैं।

अहंकार जहाँ नहीं है, वहाँ आत्मा है।

आत्मा है आकाश जैसी असीम और अनन्त, और जो असीम है और अनन्तहै, वही अमृत है।

प्रेम ही प्रार्थना है

मैं एक छोटेसे गाँवमें अतिथि था। गाँव तो छोटा था, लेकिन उसमें मंदिर भी था, मस्जिद भी थी, गिरजा भी था, लोग बड़े धार्मिक थे और सुबह होते ही अपने-अपने पूजा गृहोंमें जाते थे। रात्रि भी पूजागृहसे लौटकर ही सोते थे। आये दिन धार्मिक उत्सव भी होते रहते थे। लेकिन, गाँवका जीवन और गाँवों जैसा ही था। धर्म और जीवन एक दूसरे को छूते नहीं मालूम होते थे। जीवनका अपना रास्ता है और धर्मका अपना। दोनों समानान्तर चलते हैं, इसलिये उनके कहीं मिलनेका सवाल ही नहीं है। परिणाममें धर्म निष्प्राण हो जाता है और जीवन अधर्म। जो सारी पृथ्वी पर हुआ है, वही उस गाँवमें भी हुआ था। मैं एक-एक, दो-दो दिन गाँवके सभी पूजागृहोंमें गया और मैंने परमात्माके तथाकथित भक्तों और पुजारियोंके हृदयमें झाँकनेकी चेष्टाकी। उनकी आंखोंमें खोजा, उनकी प्रार्थनाओंमें कुरेदा, उनसे बातें कीं, उनके जीवनमें टटोला, उनका आना जाना, उठना बैठना देखा। उनमें से कुछके घर भी गया, उनकी दुकानों पर भी बैठा। जागतेमें उन्हें समझा, निद्रामें भी उनकी बड़बड़ाहट सुनी। उनके पड़ोसियोंसे उनके संबंधमें पूछा। एक भगवानके भक्तोंसे दूसरे भगवान्के भक्तोंसे सुना। एक मंदिरके पुजारियोंसे दूसरे मंदिरके पुजारियोंके बावत जानकारी ली। एक धर्मके पण्डितोंसे दूसरे धर्मके पण्डितोंके सम्बन्धमें चर्चाकी। ज्ञात हुआ कि धार्मिक दीखने वाला यह गाँव बिल्कुल अधार्मिक था। धर्मका आवरण था, अधर्मका जीवन था। अधर्मके जीवनके लिये ही धर्मके आवरणकी जरूरंत थी। क्या हत्यागृहोंको छिपानेके लिये ही पूजागृह नहीं हैं ? परमात्माके पुजारियोंको परमात्मासे कोई भी सम्बन्ध नहीं था। परमात्माको वे जरूर ही बचा रखना चाहते थे क्योंकि परमात्मा पैसे लाता था और परमात्माके भक्तोंको भी परमात्मासे कोई प्रेम नहीं था। संसारकी भय-भीतियोंसे वे परमात्मामें सुरक्षा खोज रहे थे, और संसारके प्रलोभनोंमें सहायक होनेको वे उससे प्रार्थना कर रहे थे। जिनका यह जीवन बुझनेको था, वे आगेके लिये उससे आश्वासन चाह रहे थे। प्रेम सबका सुखसे था, भोगसे था, संसारसे था, और इसलिये ही उनकी कोई भी प्रार्थना परमात्माकी प्रार्थना नहीं थी। अपनी प्रार्थनाओंमें वे परमात्माको छोड़कर और सबकुछ

माँग रहे थे। और वस्तुत: प्रार्थनामें जब तक कोई माँग है, तब तक वह प्रार्थना परमात्माके लिये है ही नहीं। प्रार्थना जब माँगसे मुक्त होती है, तभी वह प्रार्थना बनती है। परमात्माके लिये भी माँग हो, तो भी वह प्रार्थना परमात्माकी प्रार्थना नहीं रह जाती है। समस्त माँगसे मुक्त होकर ही प्रार्थना परमात्मासे युक्त होती है। निश्चय ही ऐसी प्रार्थना स्तुति नहीं हो सकती है। स्तुति प्रार्थना नही, खुशामद है। स्तुति रुसवत है। वह निम्नमनकी अभिव्यक्ति तो है ही, साथ ही परमात्माके प्रति धोखा भी है। और परमात्माको धोखा देनेसे ज्यादा मूढ़ता और क्या हो सकती है ? उस भाँति मनुष्य स्वयं ही स्वयंके हाथों ठगा जाता है।

मित्र ! प्रार्थना माँग नहीं है, वह प्रेम है, वह आत्मदान है।

प्रार्थना स्तुति नहीं है, वह तो कृतज्ञताकी अत्यन्त निगूढ भाव दशा है। और जहाँ भावकी प्रगाढता है, वहाँ शब्द कहाँ ?

प्रार्थना वाणी नहीं, मौन है। वह शून्यमें समर्पण है,वह शब्द नहीं। शून्यका संगीत है। ध्वनियाँ जहाँ समाप्त होती हैं, वहीं वह संगीत प्रारम्भ होता है।

प्रार्थना पूजा नहीं है और न ही प्रार्थनाके कोई पूजागृह हैं। उसका बाहरसे कोई सम्बन्ध नहीं, पर से उसका कोई नाता ही नहीं, वह तो स्वयंका ही अंतरतम जागरण है।

प्रार्थना क्रिया नहीं, चेतना है। वह करना नहीं, होना है।

प्रार्थनाके लिये तो बस प्रेमका आविर्भाव ही चाहिये। उसके लिये परमात्माकी कल्पना भी अनावश्यक नहीं, बाधक भी है। जहाँ प्रार्थना है, वहाँ परमात्मा है। किन्तु जहाँ परमात्माकी कल्पना है, वहाँ उस कल्पनाके कारण ही परमात्मा उपस्थित होनेमें असमर्थ हो जाता है।

सब एक हैं, परमात्मा एक हैं, किन्तु असत्य अनेक है। कल्पनायें अनेक हैं और इसीलिये मन्दिर अनेक हैं। इसीलिये तो मन्दिर परमात्मा तक पहुँचनेके लिये द्वार नहीं, दीवार ही बन जाते हैं।

प्रेममें ही जिसने परमात्माका मन्दिर नहीं पाया, उसे किसी भी मन्दिरमें परमात्मा नहीं मिल सकता है।

और प्रेम क्या है ? क्या वह परमात्माके प्रति असक्ति है ? आसक्ति प्रेम नहीं है। जहाँ आसक्ति है, वहाँ शोषण है। आसक्तिमें दूसरा है साधन, साध्य है स्वयं और प्रेममें तो वस्तुतः दूसरा है ही नहीं। प्रतिका सम्बन्ध, अहं सम्बन्ध है और जहाँ अहंकार है, वहाँ परमात्मा कहाँ ? प्रेम तो बस है, वह किसीके प्रति नहीं है। वह तो बस है। प्रेम जहाँ किसी के प्रति है, वहीं वह मोह है, आसक्ति है, वासना है। प्रेम जब बस है, तब वह वासना नहीं, प्रार्थना है। वासना सागरकी ओर बहती नदियोंकी भाँति है। प्रेम सागरकी भाँति है, वह किसीके प्रति बहाव नहीं है, वह तो स्वयं है। वह किसीके प्रति आकर्षण नहीं, वरन् स्वयं में ही होना है, और सागरकी भाँति प्रेम ही प्रार्थना है। वासना बहाव है, खिचाव है, तनाव है। प्रार्थना स्थिति है, प्रार्थना स्वयंमें विश्रांति है।

प्रेम अपनी पूर्णतामें अकारण, अलक्ष्य और अप्रेरित स्फुरणा है।

मैं ऐसे ही प्रेमको प्रार्थना कहता हूँ।

●

भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र अद्भुत, अलौकिक, अप्राकृत तथा दिव्य हैं। उसके तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, उसके चरित्र भी उसी प्रकार पवित्र बन जाते हैं। जो मनुष्य श्रद्धा विश्वास पूर्वक सर्व प्रकारसे भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें जाता है, वही उनकी लीलाके तत्व-रहस्य को जान सकता है।

वीर रसमय श्रीकृष्ण

—स्वामी श्रीजयरामदेवजी

श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म माने जाते हैं। उनका अवतार पृथ्वी पर धर्म स्थापनके लिये और अधर्मका नाश करनेके लिये होता है। फिर उन्होंने रास लीला आदि कार्य क्यों किये ? इस प्रकारके प्रश्न लोग करते रहते हैं। परन्तु उनके चरित्रोंका विचार पूर्वक अध्ययन करने पर पूर्ण समाधान हो जाता है। भगवान श्रीकृष्णने बाल्यकालसे ही अलौकिक कार्य आरम्भ कर दिये थे। जन्म लेते ही पूतनाका संहार किया। एक राक्षस बगुलेका रूप बनाकर आया उसे मार डाला। कालीनागको नाथ कर यमुनासे बाहर निकाला। उनपर कालीके भयंकर दर्शनका विष प्रभाव न कर सका। उन्होंने अजगरके पेटमें गये सब बालकोंको निकाल कर जीवित कर दिया और उसे मार डाला। यहाँ तक कि विशाल गोवर्धन पर्वतको उठाकर सात दिन तक लिये खड़े रहे। तब वे सात वर्षकी आयुके थे। क्या कोई सात वर्षका बालक ऐसा कर सकता है ?

भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रमें सम्पूर्ण वीरतामय लीलाएँ हैं। रासलीला भी एक महान् वीरताका उदाहरण है। सैकड़ों नवयुवती गोपिकाओंके साथ नृत्य गान करते हुए भी उनके मनमें तनिक भी काम उत्पन्न नहीं हुआ। श्रीराधाजीको एकान्तमें लेजाकर भी वे उनको त्यागकर चले गये। कामदेवके साथ पूर्णरूपसे युद्ध करके इस लीलामें उन्होंने उसे परास्त किया। रासलीला नहीं, यह काम-युद्धमें श्रीकृष्ण-विजयकी लीला है। इसलिये यह सम्पूर्ण रास चरित्र विचारने पर वीररसमय प्रतीत होता है, शृंगाररसमय नहीं।

श्रीकृष्ण गोचारणके समय सखाओंके साथ मल्ल-युद्धका नित्य प्रति अभ्यास करते थे। जब कंसने मथुरामें बुलाया तो ब्रजमें सबको क्षण मात्रमें छोड़कर चल दिये। तनिक

भी उनका मन कहीं आसक्त नहीं हुआ। मथुरामें सहस्त्रों सैनिकों को मार डाला। अखाड़ेमें बड़े-बड़े पहलवान चाणूर मुष्टिक आदि को परास्त कर महाबलवान् हाथी को खेलमें मार डाला। जिस कंस ने दिग्विजय करके बड़े-बड़े पहलवान राजाओं को परास्त किया था उसी कंस को श्रीकृष्ण ने युद्धमें उसीकी तलवार छीन कर उसका वध किया। कंस बड़े ऊँचे मचान पर बैठा था। श्रीकृष्ण ने पक्षीके समान ऊँचे उड़कर उछल कर उसको पकड़ कर नीचे अखाड़ेमें गिरा दिया और उसका संहार कर डाला। फिर राजा जरासंध विशाल सैना लेकर युद्ध करने आया उसको श्रीकृष्ण ने हरा दिया, वह हारकर भाग गया। इस प्रकार १७ बार वह युद्ध करने आया और हार खाकर भागा।

जब श्रीकृष्ण ने देखा कि जरासन्ध बार-बार आकर युद्ध करता है और मथुरामें युद्ध होनेके कारण मथुरा वासी बहुत कष्ट पाते हैं तो माता देवकी तथा पिता वसुदेव आदि सबको सुखी करनेके लिये समुद्रके भीतर सोने का एक विशाल किला बनवाया। जिसे द्वारिकापुरी कहा जाता था। भगवान् रणमें जरासंध से हारकर द्वारिका पुरी नहीं भागे थे। वह तो अपनी प्रजा को सुखी करनेके लिये मथुरा छोड़कर द्वारका चले गये थे। कालयवन और जरासन्ध ने समझा कि डरकर द्वारका भाग गये हैं। पर ऐसी बात नहीं थी। वह पूर्ण राजनीति से काम लेते हुए चलते थे। राजकीतिका कौशल पूर्णरूप से श्रीकृष्णने महाभारतके समय दिखलाया है। महाभारत पढ़ने वाले उनका आनन्द ले सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने ही उत्साह से हीन हुए अर्जुन को युद्धके लिये प्रेरणा दी थी। गीता सुनाकर उसके रोम-रोममें वीर रसका संचार कर दिया। युद्ध-भूमिमें श्रीकृष्णके सामने कोई नहीं ठहरता था। यहाँ तक कि महाभारतके समय उन्होंने प्रतिज्ञा करली कि हम इस युद्धमें शस्त्र ही नहीं उठायेंगे। क्योंकि उस समय उनसे युद्ध करने वाला कोई था ही नहीं। उनके शस्त्र उठाने पर समस्त सेना थोड़ी देरमें ही समाप्त हो जाती। इसलिये उन्होंने अर्जुनके रथ पर बैठकर केवल युद्धका खेल देखा था। उनकी महान् वीरताका सर्वत्र दर्शन होता है। जो लोग उनको केवल माखन चोर या रासलीला करने वाला ही समझते हैं वह अज्ञानी हैं। शाल्व राजाके अजेय विमान को श्रीकृष्ण ने तोड़कर उसका वध किया था, ऐसे ही भौमासुर की अजेय नगरी विध्वंस करके उसे मारा था और ऊषा अनिरुद्धके प्रकरणमें सहस्त्रबाहु से घोर युद्ध करके उसको परास्त किया था। पग-पग पर इस प्रकार श्रीकृष्ण वीररस मय दर्शित होते हैं। आज भी हमारे सामने भारत पर आक्रमण करने वाले दूसरे देशोंका आतंक विद्यमान है। हमें भी इस समय श्रीकृष्णके समान काम विजय करके महान् वीररसका आदर्श सन्मुख रखना चाहिए। और जैसे उन्होंने समस्त शत्रुओंका संहार किया था वैसे ही भारतके बच्चे-बच्चे को देशके शत्रुका मानमर्दन करना आवश्यक है।

सद्विचार पूर्वक श्रीकृष्णके गीता सन्देशको शिरोधार्य करें। हृदयकी दुर्बलता त्यागकर आज वीररसका उद्दीपन करने की आवश्यकता है। श्रीकृष्णका स्मरण वीररस मय श्रीकृष्णकी छवि को आदर्श रखकर देशको शत्रुओं को विनाश करनेके लिये जोशके साथ कदम उठाना होगा।

श्रीचैतन्य महाप्रभुका ब्रजागमन

श्रीबालकृष्णदास खेमका

कलियुग पावनावतार श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु द्वारा संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् पुरीधाम से दोवारा व्रज वृन्दावन दर्शन करनेके लिए प्रस्थान करनेका प्रसंग श्रीचैतन्य-चरितामृत आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

प्रथम वार दक्षिण भ्रमण करके पुरी लौटने पर श्रीमन्महाप्रभु अपने परमप्रिय भक्त श्री सार्वभौम भट्टाचार्य्य एवं श्रीरायरामानन्दजीका आलिङ्गन करते हुए अति मधुरताके साथ बोले—

"तवे प्रभु सार्वभौम रामानंद स्थाने। आलिङ्गन करि कर कहे मधुर बचने॥
बहुत उत्कंठा मोर जाइते वृन्दावन। तोमार हटे दुई बत्सर ना कैला गमन॥
अवश्य चलिबो दोहें करइ सम्मति। तोमा दोहां बिने मोर नाहि अन्यगति॥
(चै० चरि० १६ परिच्छेद)

तुम लोगोंके हठसे मुझे दो वर्ष हो गये हैं। वृन्दावन नहीं जा सका हूं। अबके तो अवश्य जाऊँगा। मैं गौड़ देश बंगाल होकर जाना चाहता हूँ। वहाँ साक्षात् मां (जननी) एवं जाह्नवी (श्रीगंगा) दोनों परम दयामयी हैं। इनके दर्शन करता हुआ जाऊँगा।

इस प्रकार जगन्नाथपुरीके अपने परम प्रिय भक्तगणसे सम्मति लेकर श्रीभुवनेश्वर कटक आदि स्थानोंसे होते हुए बंगभूमिमें पदार्पण किया औरकृपामयी माँ (शचीमाता) के दर्शन कर श्रीअद्वैताचार्य्य आदि समस्त भक्तवृन्दसे मिलकर श्रीगौराङ्गदेव रामकेलिग्राम में आये, जहाँ बंगालके नवाब हुसैनसाहके परम प्रवर मंत्री (दरीवखास साकर मल्लिक) श्रीरूप-सनातन रहा करते थे। (इन लोगोंने ही आगे चलकर श्रीमहाप्रभुकी परम कृपा उपलब्ध करके परम वैराग्य धारणकर समस्त वैभवोंको ठुकराकर श्रीमहाप्रभुकी आज्ञा पाकर श्रीवृन्दावन-गोवर्धन आदि स्थानोंमें वास किया और लुप्त प्रायः तीर्थोंका उद्धार किया) वे उनसे मिले और वृन्दावन गमनकी वार्ता की।

श्रीरूप श्रीसनातनने देखा महाप्रभुके साथ हजारों नरनारी भक्तगण श्रीवृन्दावन जा रहे हैं। उन्होंने सोचा यह सब इतनी भीड़-भाड़ तो प्रभुके उद्वेग का कारण बनेगी। तब वे

हाथ जोड़कर बोले प्रभु वृन्दावन जानेकी यह परिपाटी तो नहीं होनी चाहिए "वृन्दावम जाइवार इहाँ नाहीं परिपाटी" (चैतन्य चरितामृत) यह सुनकर प्रभु वहींसे पुरी लौट आये ।

पुनः शकाब्द १४३६ के लगभग शरद ऋतुके प्रवेशकाल आते ही प्रभुके हृदयमें वृन्दावन दर्शनकी अत्यन्त उत्कंठा उठी और एक दिन श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीरायरामानन्दजीसे हाथ पकड़कर बहुत कातर भावसे गद्गद स्वरमें बोले—

"मोर सहाय कर यदि तुमि दुईजन, तब आमी जाइ देखि श्रीवृन्दावन ॥
रात्रि उठी बन पथे पालाई जाबो, एकाकी जाइवो कारे सङ्गे ना लईवो ॥"
(चै० च० १७)

मैं आधीरातको उठकर बनपथसे श्रीवृन्दावन दर्शन हेतु भाग जाऊँगा । किसीको साथ नहीं लूँगा । तुम लोग दोनों मेरी इसमें सहायता करो । पहले मैं बंगभूमि होता हुआ जा रहा था । हजारों जन मेरे साथ हो गये । वृन्दावनबिहारीने ही रूप-सनातनके मुखसे मुझे मना करवा दिया । तब मैं यहाँ (पुरी) चला आया, अब जंगलोंमें होता हुआ वृन्दावन जाऊँगा ।

महाप्रभुकी ऐसी वाणी सुनकर दोनों भक्त हाथ जोड़कर बोले—आप स्वतंत्र ईश्वर हैं । आपकी लीला हम लोग क्या समझें, पर हमारे हृदयमें तभी परम संतोष होगा कि आप कम से कम दो सेवक साथ ले जावें । ये लोंग रास्तेमें आपके लिए भोजन आदि की व्यवस्था कंद-मूल फलसे कर दिया करेंगे । कहीं कोई ग्राम आगया तो रसोई वना दिया करेगें । नहीं तो जंगलमें आपको वहुत असुविधा रहेगी । आपके वस्त्र आदि भी ये भक्त सम्हालकर ले चलेगें । हमारी यह प्रार्थना आप अवश्य स्वीकार करें । इसमें आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

तब श्रीमहाप्रभुने इन दोनों भक्त परिकरकी बात मानली और एक दिन संध्या समय श्रीजगन्नाथदेवके दर्शन कर मध्यरात्रिको उठकर कटकको दाहनी तरफ छोड़कर घोर जंगलके पथसे श्रीकृष्ण-प्रेममें उन्मत्त होकर चल पड़े । रास्तेमें वनपशु हिंसक जीव सिंह, हाथी, गेंडे आदि महाप्रभुका उन्मत्तकारी कृष्णनाम कीर्तन देखकर झुंडके झुंड महाप्रभुके साथ चलने लगे—

"गच्छन् वृन्दावनं गौरो व्याघ्रे भैण खगान् बने ।
प्रेमोन्मत्तान् सहोन्नृत्यान्, विदधे कृष्ण जल्पिनः ॥"
[चै० च० १७]

इस प्रकार प्रेममें बिभोर होकर प्रभुकी चमत्कारिता देखकर साथमें बलभद्र भट्टाचार्य्य आश्चर्य चकित हो गये । एक तरफ प्रभुके सिंह, वाघ, गेडे, आदि महाप्रभुका रूप देखते चल रहे थे, दूसरी तरफ हिरण आदि अहिंसक जीव सव प्रकारका भय त्यागकर नेत्रोंसे महाप्रभुका अलौकिक रूप, नृत्य, गान, उन्मादनकारी लीला देखते हुए साथ चलने लगे ।

महाप्रभु यह देखकर हँस पड़े और श्रीकृष्णलीलाके समय व्रजमें जब ब्रह्माजी आये और वृन्दावनमें काम, कोधादिसे शून्य समस्त पशु-पक्षिओंको देखकर उन्होंने जो श्लोक बोला वही श्लोक महाप्रभु भी बोलने लगे:—

"यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः ।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ।।"

[श्रीमद् भा० द० १३-६०]

[श्रीवृन्दावनकी अद्भुत शोभादर्शन करते हुए श्रीब्रह्माजी बोले—यह वृन्दावन श्रीकृष्णकी लीला भूमि होनेके कारण काम, क्रोध, लोभ तृष्णादिसे वर्जित है और जिनके स्वभावमें दुस्त्यज् वैरभाव रहता है, वे पशु पक्षी भी परस्पर प्रेमी मित्रकी तरह आपसमें मिलकर यहाँ विचरण करते हैं ।]

इस प्रकार जंगलोंमें घूमते हुए प्रभु श्रीधाम काशी पहुँचे और श्रीविश्वनाथजीका दर्शन कर वहाँसे प्रयाग होकर मथुरा आए । मथुरा पहुँचकर सबसे पहले उन्होंने विश्राम घाट पर यमुना-स्नान किया एवं श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका दर्शन किया ।

मथुरा आसिया (प्रभु) कैल विश्रान्त तीर्थ स्नान ।
जन्मस्थान देखि करिला केशव प्रणाम ।।

[चै० च० १७ परिच्छेद]

इस प्रकार कलियुग पावनावतार श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु कार्तिक पूर्णिमाके दिन मथुरा आये । महाप्रभुने जन्मस्थानके दो बार दर्शन किये । एक बार तो मथुरामें पहुँचते ही और दूसरी बार व्रज मंडलमें भ्रमण करनेके बाद एक महीना तक अक्रूर तीर्थमें निवास और वृन्दावनमें नृत्य लीला अवलोकनके समय । और सब जगह प्रभुने एक बार ही दर्शन किया ।

श्रीकृष्णकी लीलाके समयके बहुतसे स्थान लुप्तप्रायः देखकर महाप्रभुके मनमें अनुताप हुआ, जैसे श्रीराधाकुण्डके विषयमें लिखा है:—

तीर्थ लुप्त जानि प्रभु सर्वज्ञ भगवान् ।
दुई धान्य क्षेत्रे अल्पजले कैला स्नान ।।
देखि सब ग्राम्य लोकेर विस्मय हेल मन ।
प्रेमे प्रभु करे राधाकुण्डेर स्तवन ।।

(चै० च० १८ परिच्छेद)

महाप्रभु जब व्रजमंडलसे लौटे तो प्रयागराजमें श्रीरूप गोस्वामीसे उनकी भेट हुई । महाप्रभुने उन्हें वृन्दावनमें रहकर भजन करते हुए लुप्त तीर्थ उद्धार करनेकी आज्ञा दी ।

"वृन्दावनीय रसकेलिवार्ता कालेन लुप्तां निजशक्ति मुत्कः ।
सञ्चार्य्य रूपे व्यतनोत् पुनः स प्रभुर्विधौ प्रागिव लोकसृष्टिम् ।।

(चै०च० १९ परिच्छेद)

महाप्रभुकी वृन्दावन आगमनलीलाका बहुत विशद वर्णन चैतन्य चरितामृतमें है । इसी कार्तिक पूर्णिमाको महाप्रभुके वृन्दावन व्रजमंडल आगमनका उत्सव वृन्दावनमें अब भी मनाया जाता है ।

"मौन, परिशुद्ध, और आडम्बर-शून्य आचरणसे ही वह 'जीवन' और 'समाज' गठित होता है, जिसे आनन्द और सुखोंका उद्‍गम कहा जा सकता है। इसके विपरीत किए गए प्रयासका फल केवल क्षणिक ही होकर रह जाता है।"

संध्या : यह या वह

—श्रीराधेश्याम बंका

संध्या प्रतिदिन आती है। संध्या कहते हैं संधिकी वेलाको, जब रात और दिनकी संधि होती है। दिन और रातके सम्मिलन-विन्दु संध्यामें सब ओर एक-सा प्रकाश फैल जाता है। चाहे पूर्वकी हो या पश्चिमकी, दोनों संध्याओंमें क्षितिज पर लालिमा छा जाती है। संध्याके समय पक्षियोंकी गूंजसे आकाशकी दिशाएँ भर जाती हैं। फूल खिल उठते हैं, महक बिखर जाती है। तारोंकी नगण्य टिमटिमाहटसे आकाशका आंचल धीरे-धीरे झिलमिलाने लगता है। पूर्वी या पश्चिमी संध्याके आते ही सर्वत्र एक-सी चेष्टाएँ हमेशा होती हैं। दिन और रातका सम्मिलन है, धूमिल प्रकाश है, तारोंकी टिमटिमाहट है, क्षितिज पर लालिमा है, पक्षियोंकी गूँज है, फूलोंकी मुस्कराहट है—इस प्रकारकी अन्य अनेक बातोंका संकेत किया जा सकता है, जो पूर्वी और पश्चिमी संध्याकी सम-स्वरूपता सिद्ध करती हैं। किन्तु इन तथ्योंके आधार पर दोनों संध्यामें समानता होकर भी एकता नहीं है।

संध्या : एक आती है सवेरे, दूसरी आती है शामको। एक आती है पूर्वमें, दूसरी आती है पश्चिममें। संध्याके आते ही लालिमा छा जाती है और छाती है क्षितिज पर, किन्तु दोनों छाती हैं एक दूसरेके ठीक आमने-सामने पूर्व और पश्चिममें। पूर्वी संध्या दिवसको जन्म देती है तो पश्चिमी संध्या दिवसका अवसान करती है। एककी परिणति है धवलतामें, तो दूसरेकी परिणति है कालिखमें। दोनों समय पक्षियोंकी गूंजसे आकाश भर जाता है, परन्तु पूर्वी संध्यामें पक्षी निकलते हैं चारेकी खोजमें कर्मठताकी गूंज लिये। पश्चिमी संध्यामें पक्षी लौटते हैं आने वाले अंधकारसे डरकर हल्ला मचाते हुए घोंसलेकी शरणमें। पूर्वी संध्यामें सूर्यका उदय होता है। उदित सूर्य जगतीके लिये देता है कर्मकी प्रेरणा, परन्तु पश्चिमी संध्यामें डूबते हुए सूर्यके साथ अनेकोंकी आशाएँ डूबती हैं।

पूर्वमें आने वालीका नाम संध्या है, पश्चिममें आने वालीका नाम संध्या है। दोनोंका नाम एक है, स्वरूप एक, किन्तु प्रेरणा अलग है, परिणति अलग है।

अब हम सोचें, हमारे कर्म-विधानका, हमारे धर्मानुष्ठानका, हमारे व्याख्यानका हमारे दानका स्वरूप क्या है एवं प्रेरणा-परिणति क्या है ?

दान यह भी देता है और दान वह भी देता है। दोनों अभाव-ग्रस्तको दान देते हैं। दोनों कम्बलका दान करते हैं। पर एक देता है जाकर और एक देता है बुलाकर। खेतकी रखवाली करने लिये जाड़ेकी रातमें गाँवकी पगडण्डीके किनारे पेड़की छायामें जो सिकुड़ा-सिमटा किसान पड़ा है, एक दानी उस किसान पर चुपचाप कम्बल डालकर आगे बढ़ जाता है। यह देता है किसानको रातमें गाँवके सूनेपनमें जाकर। वह देता है विद्यार्थीको दिनमेंनगरकी हलचलमें बुलाकर। विद्यार्थी, जिसको सहारा नहीं; जिसके पास पैसा नहीं, जिसके पास कमानेकी क्षमता नहीं, जिसके पास जाड़ा काटनेके लिये वस्त्र नहीं, ऐसे विद्यार्थीकी सेवा निश्चय ही महान् कार्य है। प्रत्येक व्यक्ति इस सेवाका अनुमोदन करेगा। किन्तु किसान और विद्यार्थीको दिये गये कम्वलके दानमें पूर्व-पश्चिमका अन्तर है। एकमें आत्म-प्रदर्शनकी सम्भावना नहीं, दूसरेमें प्रदर्शन हो तो हर्ज नहीं। किसान द्वारा आभार प्रदर्शनके किये जानेकी गुंजाइश नहीं, पर विद्यार्थी द्वारा हो तो सुननेमें हर्ज नहीं। दोनोंने कम्बल दान दिया, पर एक दान प्रदर्शन-निरपेक्ष है और दूसरा दान प्रदर्शन-सापेक्ष।

अनुष्ठान यह भी करता है और अनुष्ठान वह भी करता है। एक बार गांधीजीने २१ दिनका उपवास किया। किसी प्रायश्चितके लिये जिससे कि आत्म-शोधन हो। २१ दिनका उपवास कोई साधारण चीज नहीं है। इतना बड़ा साहसिक उपवास सफलता-पूर्वक पूरा हो जाय, इसके लिये सारे भारतमें जगह-जगह प्रार्थना की गयी, मनौतियाँ मनाई गईं। गाँधीजीके सुदीर्घ जीवनके लिये जो अनुष्ठान हुए, उनका समाचारपत्रोंमें विज्ञापन भी हुआ। सभीकी सद्भावनासे प्रायश्चित स्वरूप किया जाने वाला उपवास सानन्द सम्पन्न हो गया। जिन-जिनकी सद्भावनाके, प्रार्थनाके, अनुष्ठानके फलस्वरूप देशके नेता गांधीजीका जीवन बचा; उन-सबके प्रति देश कृतज्ञ है। जिन-जिन स्वजनोंके अनुष्ठानका विज्ञापन हुआ, वे स्वजन यशके भागी भी हुए। पर विज्ञापनकी जगतीसे दूर एक यह भी था जो मूक भावसे बापूकी मंगल कामनामें लीन था, जो मूक भावसे देशकी निधिकी रक्षाके लिये ब्राह्मणोंसे पाठ-पूजन करवा रहा था। करवा रहा था एकमात्र देश-सेवाकी भावनासे ओत-प्रोत होकर, एकमात्र भारतमाँकी भक्तिमें डूबकर। गांधीजीके प्राणोंकी रक्षाके लिये सर्वत्र अनुष्ठानादि हुए। अनुष्ठान इसने भी किया और उसने भी किया, परन्तु एकका अनुष्ठान मौन था दूसरेका मुखर।

दोनों सम्माननीय व्यक्ति हैं। दोनोंसे मिलनेके लिये लोग आते हैं। आने वाले आते ही प्रणाम करते हैं, पूरा सम्मान देते हैं, शिष्टाचारका पूरा ख्याल रखते हैं। मनमें बराबर ध्यान बना रहता है कि हिलने में, बोलनेमें, उठनेमें, बैठने आदिमें कोई अभद्रता न हो जाय, कोई भूल न हो जाय। इतना होकर भी इनसे मिलने वालोंमें एक बेपरवाही है, एक

बेखटकापन है। मिलने वालोंके मनमें एक निर्भयता है, एक सहजता है। इसी तरह लोग उनसे भी मिलते हैं, पर मिलनेमें भयकी मिलावट है। अन्दर-ही-अन्दर एक प्रकारकी खिचावट है। मनपर एक प्रकारकी घुटन सवार है। कोई 'चीज' मनमें खटकती रहती है। उस चीजका आतंक भीतरी मनमें है और बाहरी वातावरणमें है। यह भय, यह खटक, यह घुटन उनसे मिलनेका सारा मजा किरकिरा कर देता है। दोनों स्थानोंपर मिलनेके लिये जाने वाले व्यक्ति एक ही हैं, फिर भी सम्माननीय व्यक्तिके व्यक्तित्वके कारण एक स्थानके शिष्टाचारमें स्निग्धता है, दूसरे स्थानके शिष्टाचारमें रुक्षता है। एक शिष्टाचार सहज श्रद्धासे प्रेरित है, दूसरे शिष्टाचार पर आतंककी छाया मँडराती है। दोनों सम्माननीय व्यक्तियोंके प्रति किया जाने वाला शिष्टाचार भद्रतापूर्ण होकर भी एक स्वाभाविक है और दूसरा कृत्रिम।

अब हम कमरेके एकान्तमें स्वयं विश्लेषण करें, स्वयं निर्णय करें हमारा आचरण कितना निरपेक्ष है, कितना सापेक्ष है, कितना मौन है, कितना मुखर है। हमारे प्रति की जाने वाली चेष्टाओंमें कितनी स्वाभाविकता है और कितनी कृत्रिमता है? हमारे आचरण जितने ही निरपेक्ष हैं, मौन हैं, स्वाभाविक हैं, उतने ही हम पूर्वी संध्याके समीप हैं और पूर्वी संध्याके समान स्वयं हमारे जीवनमें तथा समाजमें शुभ्रताका विस्तार होगा। सापेक्ष, मुखर और कृत्रिम चेष्टाओंका फल होगा दाह, दुःख, दर्द, ठीक पश्चिमी संध्याकी तरह। हम यह न सोचें कि हमारे अन्तरके भावोंको कोई नहीं देखता। अन्तर—जो सभी आचरणोंका मूल है, जो सभी कार्योंका प्रेरक है, जो सम्पूर्ण गतिविधियोंका संचालक-विस्तारक है, वह अन्तर अपने अनुरूप वातावरण बना लेता है। अपने वातावरणको, अपने परिवारके वातावरणको, पड़ोसके वातावरणको, समाजके वातावरणको उत्कृष्ट या निकृष्ट बनाना हमारे हाथमें है। अन्तरका भाव या नीयत बहुत बड़ी चीज है। जैसा भीतरी भाव होगा, वैसा ही चारों तरफ समाज होगा। कार्यके स्वरूपकी अपेक्षा कार्यकी प्रेरणा और कार्यका प्रतिफल महत्त्वपूर्ण है। दान देना, अनुष्ठान करना, सम्माननीय बनना तथा इसी प्रकारके मम पर जीवनके नानाविध कार्य करना ऊपरसे एक होकर भी इनमें महान् अन्तर है। यह अन्तर इसीलिये है कि कार्यकी प्रेरणामें अन्तर है, और कार्यके बदलेमें चाहे जाने वाले प्रतिफलमें अन्तर है। किसी भी कार्यको या अनुष्ठानको करनेसे पहले सोचें, अपितु अपने जीवनके पूरे नक्शेके बारेमें सोचें, हमारा व्यक्तित्व कैसा हो, हमारे आचरण कैसे हों? पूर्वी संध्या जैसे अथवा पश्चिमी संध्या जैसे?

स्वर्ग या नरक

देवलोक और मृत्यु लोक कहीं पृथक-पृथक नहीं हैं; सत्य-भाषण देव लोक है, असत्य भाषण मृत्यु लोक है, सदाचार स्वर्ग है, अनाचार नरक है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके प्रेरणाप्रद महोत्सव

श्रीबंशीधर उपाध्याय

जगद्गुरु श्रीकृष्णके पावन जन्मस्थानपर, जबसे श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ द्वारा रंग-मंचका निर्माण हुआ, आये दिन भाँति-भाँतिके धार्मिक एवं सांस्कृतिक महोत्सवोंके आयोजन होते रहते हैं। इनमेंसे जन्माष्टमी और विजयादशमीके अवसरोंपर आयोजित महोत्सवोंने तो बड़े-बड़े मेलोंका रूप ग्रहण कर लिया है। इन दोनों महोत्सवोंमें मथुरा-वृन्दावन और व्रजप्रदेशके निवासी तो अपार संख्यामें सम्मिलित होते ही हैं, भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंके अगणित यात्री तथा विदेशोंके बहुतसे पर्यटक भी भाग लेकर आनन्दका अनुभव करते है।

जन्माष्टमी-महोत्सव

जन्माष्टमी-महोत्सवका आयोजन प्रति वर्ष श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके तत्वावधानमें मथुराकी श्रीकृष्ण-जन्म-महोत्सव-समितिद्वारा होता है। उसकी गरिमाका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि अबतक उसमें देशके बड़े-से-बड़े सन्त-महात्मा, विद्वान एवं नेता सम्मिलित हो चुके हैं। इस वर्ष जन्माष्टमीके प्रातःकाल जन्मस्थानके भव्य मंचपर जो श्रद्धांजलि-समर्पणका कार्यक्रम सम्पन्न हुआ, उसकी अध्यक्षता आध्यात्मिक जगतके मूर्धन्य विद्वान् स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीने की और उसमें भूतपूर्व केन्द्रीय वित्त-मन्त्री श्रीमुरारजी देसाई, उत्तर प्रदेशके राज्यपाल श्रीविश्वनाथ दासजी, सार्वजनिक निर्माण-विभागके मन्त्री श्रीजगनप्रसादजी रावत तथा विधान-परिषदके अध्यक्ष श्रीदरबारीलाल शर्मा जैसे अनेक महानुभाव सम्मिलित हुए।

माननीय श्रीविश्वनाथदासजी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति श्रद्धांजलि समर्पित करने उठे तो भाव-विभोर हो गये और उन्होंने अवरुद्ध कंठसे केवल इतना ही कहा कि "आजका दिन भाषण करनेका नहीं, आचरण करनेका है। आज हमें ऐसा उत्सव मनाना चाहिये, जिसका सीधा सम्बन्ध हृदयसे हो। मुझे इस बातकी बड़ी प्रसन्नता है कि आजकी पवित्र वेलामें भगवान् श्रीकृष्णके इस लोक-पावन जन्मस्थानपर आने और दर्शन करनेका सौभाग्य मिला है। धन्यवाद।"

भूतपूर्व केन्द्रीय वित्तमन्त्री श्रीमुरारजी देसाईने अपनी धीर-गम्भीर शैलीमें कहा कि "श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम थे। उनकी रासलीलाओंका अनुकरण तो हम नहीं कर सकते, किन्तु उन्होंने गीता द्वारा जो मार्ग बताया है, उसपर हमें अवश्य चलना चाहिये। उसमें

सभी परिस्थितियोंके लिये मार्ग-दर्शन किया गया है। गीताके उपदेशोंको जीवनमें उतारकर मनुष्य अपने-आपको चाहे जैसा बना सकता है।"

श्रीमुरारजी देसाईने अन्तमें कहा—"इतिहास साक्षी है कि संसारके बड़े-बड़े देश समाप्त हो गये, किन्तु हमारा देश सब प्रकारकी आपदाओंको पार करके जीवित है। इसका एकमात्र कारण हमारे देशकी धर्मपरायणता है। इसीलिये श्रीकृष्णने यहाँ जन्म ग्रहण किया और जीवनभर कर्त्तव्यपरायण बने रहे। अतः हमलोगोंको, जो श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् मानते हैं, चाहिए कि हम उनके गीतोक्त धर्मोपदेशोंका पालन करें और फलासक्तिका त्याग करके कर्तव्यपरायण बनें। इसीसे हमारा और हमारे देशका कल्याण होगा।"

सबके अन्तमें अध्यक्ष स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीने अपने विद्वतापूर्ण ओजस्वी भाषणमें श्रीकृष्णके दिव्य जन्म एवं जीवनपर प्रकाश डालते हुए कहा कि "श्रीकृष्ण केवल भारतीयोंके ही नहीं, समस्त विश्ववासियोंके आराध्य हैं। वे अर्जुनके माध्यमसे सारे संसारकी प्रजाको जीवनोपयोगी शिक्षाएँ देकर जगद्गुरु बन गये हैं। यही कारण है कि उनके इस पुनीत जन्मस्थानका, जिसका पुनरुद्धार श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके द्वारा हो रहा है, दर्शन करनेके लिये पृथ्वीके कोने-कोनेसे लोग यहाँ आते हैं और अपनी-अपनी भावभरी श्रद्धांजलियाँ समर्पित करते हैं।"

श्रद्धांजलि-समर्पणके समस्त कार्यक्रम, जिनमें विभिन्न कलाकारों द्वारा प्रस्तुत संगीत एवं नृत्य इत्यादि भी सम्मिलित थे, मथुराके सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डाक्टर हजारीलाल माहेश्वरी द्वारा बड़े रोचक ढंगसे संचालित हुए। आकाशवाणीने समस्त कार्यक्रमोंको रिकार्ड करके सबका सारांश प्रसारित किया।

श्रद्धांजलि-समर्पण-समारोहके पश्चात् दिनमें तीन बजेके लगभग विभिन्न झाँकियोंके साथ शोभायात्रा निकली, जो मथुरा नगरका भ्रमण करके सायंकाल जन्मस्थानपर समाप्त हुई। तत्पश्चात् रात्रिमें साढ़े आठ बजेसे सुप्रसिद्ध स्वामी हरगोविन्दजीकी मण्डलीद्वारा श्रीकृष्णकी जन्म-लीला प्रारम्भ हुई, जो मध्य रात्रि तक चलती रही। उसके पश्चात् भी दस दिनोंतक कृष्ण-लीलाएँ होती रहीं और उनको लाखों व्यक्तियोंने मन्त्र-मुग्ध होकर देखा।

विजयादशमी-महोत्सव

जन्माष्टमीके बाद विजयादशमीकी पावन वेला आयी और उसके उपलक्ष्यमें मथुराके रामभक्तोंने भी अपनी राम-लीला समिति द्वारा रामलीलाओंका आयोजन किया, जिसे अपार जन-समूहोंने देखा और सराहा। इस वर्षकी राम-लीलाएँ किसी एक मण्डली द्वारा प्रदर्शित न होकर मथुराके विभिन्न कलाकारों द्वारा अभिनीत हुईं, जिनके संगठन और दिग्दर्शनका श्रेय संघके सम्मानित सदस्य लाला गिरिराजधरण अग्रवालके सुपुत्र श्रीरामबाबू अग्रवालको है।

अभिनन्दन

दीपावलीके पावन पर्वपर हम
अपने उपभोक्ताओंका हार्दिक
अभिनन्दन करते हैं।

श्रीहनुमान सुगर एण्ड इण्डस्ट्रीज लिमिटेड
मोतिहारी (बिहार)

श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान की पत्रिका

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

ष्ण-ज॰स्थान-सेवासंघ, मथुरा
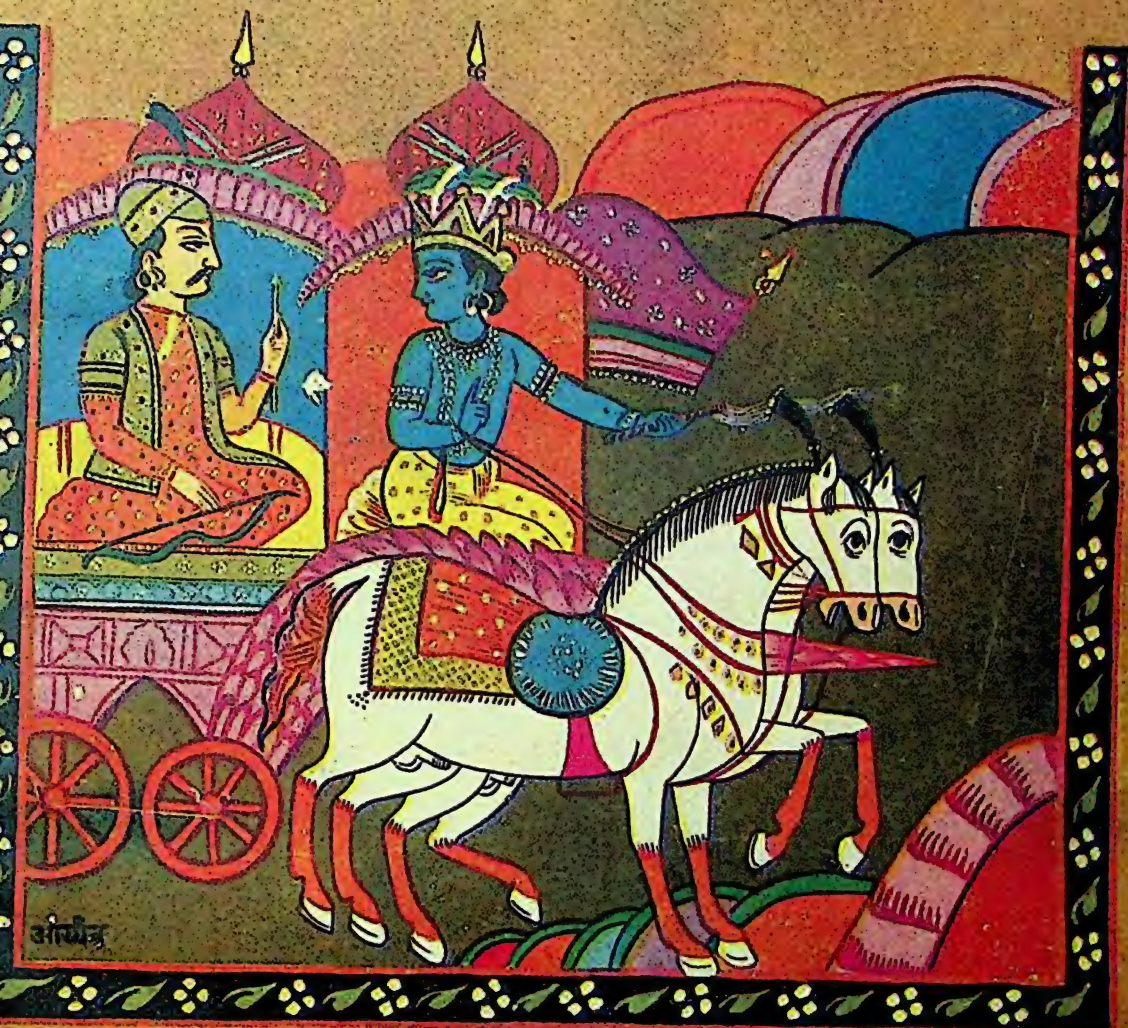
काश्मीरके राज्यपाल डा० कर्णसिंह श्रीकृष्ण-जन्मस्थानमें—

डा० करणसिंह महारानी यशोराज्यलक्ष्मीके साथ मन्दिरमें प्रसाद ग्रहण करते हुए।
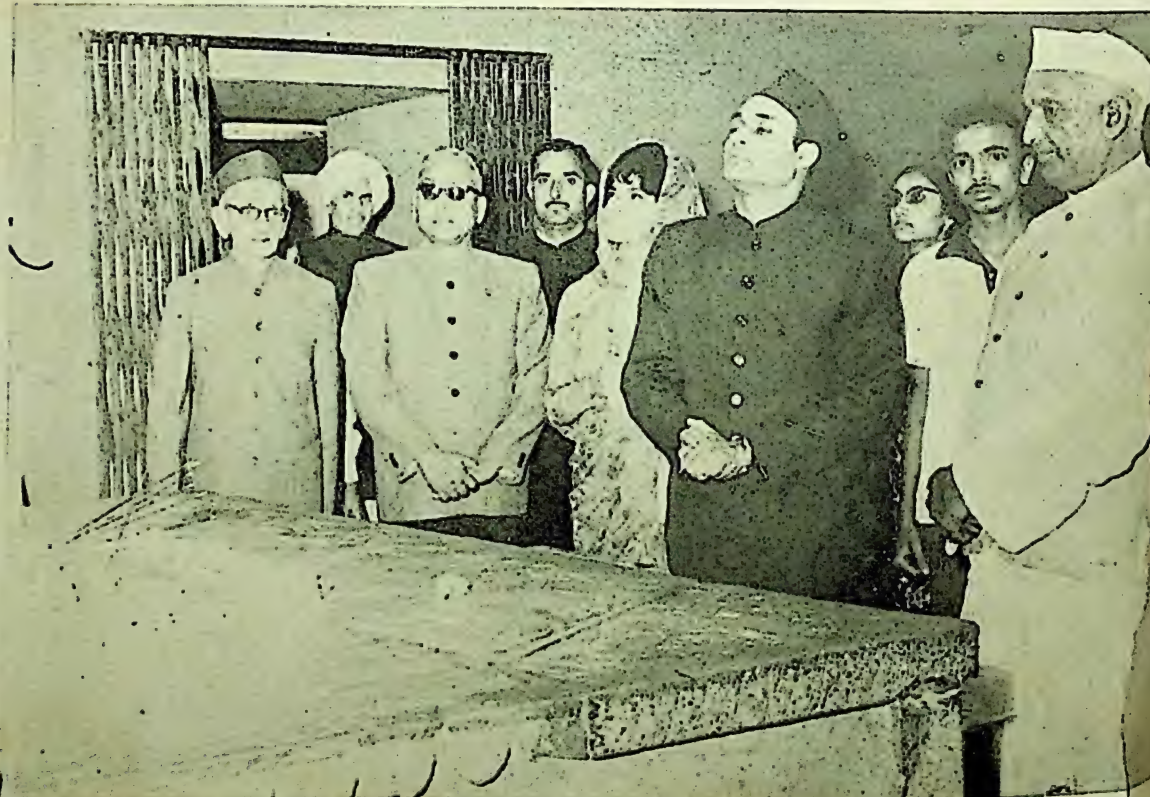
डा० करणसिंह और महारानी यशोराज्यलक्ष्मी श्रीकृष्ण चबूतरेके नीचे खुदाईमें

श्रीकृष्ण-सन्देश
(द्वैमासिक)

आत्मानं सततं विद्धि

वर्ष—२] मार्गशीर्ष-पौष २०२३ वि० [अङ्क—३

सम्पादक
हितशरण शर्मा, एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रबन्ध-सम्पादक
देवधर शर्मा

प्रकाशक
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
दूरभाष : ३३८

मूल्य
एक रुपया
वार्षिक
सात रुपया

आवरण-चित्र
गीतोपदेश : काश्मीर कलम
अठारहवीं शताब्दी

अनुकृतिकार
के० सी० आर्यन्

मुद्रक :
राधा प्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान विश्वका एक दिव्य धाम—
दर्शकों, भक्तोंकी श्रद्धांजलियां

भगवान् श्रीकृष्णके जन्म-स्थानकी यात्रा करनेका आज प्रथम वार अवसर प्राप्त हुआ, और देखकर अत्यन्त हर्षित तथा आनन्दित हुआ।

लक्ष्मीदास मस पटेल
(मोम्बासा, केनिया)

यद्यपि हम भारतमें बहुत दिनोंसे निवास कर रहे हैं, पर हमारे मित्रोंने मथुराके सम्बन्धमें हमें कभी कुछ नहीं बताया। इस दूसरे 'काशी'को देखकर हमें अत्यधिक विस्मय और हर्ष प्राप्त हुआ।

एर्नस्ट कोप्जे
(जर्मन)

आज मैंने 'श्रीकृष्ण-जन्मस्थान'की यात्राकी, और उसके प्राचीन भवनसे बहुत ही प्रभावित हुआ।

ई० वी० हांट
(नाइजीरिया, अफ्रिका)

मैं भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानकी यात्राके लिए बहुत ही उत्सुक तथा उत्कंठित था। आज मेरे लिए यह एक महान् अनुभव था।

एम० डी० वाल्काट
(लंदन)

जो श्रीकृष्णका स्मरण करते हैं, उनके लिए दर्शनीय, और प्रशंसनीय, श्रेष्ठ तथा भव्य स्थान।

एम० वाई० ग्रेनाल
(जेरूसेलम, इज़रायल)

मैंने भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानका भ्रमण किया। मुझे स्थानको दिखाने, और ट्रस्टके उद्देश्योंको समझानेमें जो विनम्रता प्रदर्शितकी गई, उसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं। आशा है अल्पकालमें ही जन्म-स्थानके संबंधमें भक्तोंकी कामना पूर्ण हो सकेगी।

शिवपाल सिंह
(कंट्रोलर नापतोल, लखनऊ)

श्रीकृष्ण भगवान्के जन्मस्थानकी यात्रा की। मुगल सम्राटों द्वारा विनष्ट किए जानेके कारण पवित्र स्थलों और स्मारकोंके दर्शनकी अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। आज भी यदि इस स्थानका विकास हो जाय, तो भावनाएँ उसे 'सत्य'का रूप दे सकती है। आशा है, ऐसा करनेका प्रयास किया जाएगा।

एस० सी० पुरी
कुमासू अशान्ति, घाना,
पश्चिमी अफ्रिका)

बड़े ही आनंदके साथ मैंने श्रीकृष्ण भगवानके पवित्र जन्मस्थानका दर्शन किया और दर्शन करके अत्यन्त हर्षित हुआ। यह दिव्य स्थान सम्पूर्ण भारतमें अधिक पवित्र होकर प्रकाशित हो, और भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ट्रस्टका कार्य तथा प्रयास परिपूर्ण हो। शुभ कामनाओंके साथ—

स्वामी स्वरूपानंद
(थुकाल सरी, निरुवला, केरल राज्य)

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानका दर्शन करके हमें अधिक प्रसन्नता प्राप्त हुई।

श्रीमती और श्रीमाइकेल
(अमरीकी दूतावास, नई-दिल्ली)

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानकी यात्रा अत्यन्त सुखद रही।

जान एच० कर्सी
(अमरीकी दूतावास, करांची, पाकिस्तान)

अपने आराध्य देवके जन्मस्थानके पुनर्निमाणके प्रयाससे मैं बहुत ही प्रभावित हुआ।

डा० कृष्णचन्द्र कपूर
(पो० बा० नं० ५८, लारी, युगांडा, पूर्वी अफ्रिका)

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानके पुनरुद्धारकी सफलताके लिए शुभकामनाएँ।

बी० एस० श्रीवास्तव
(निर्देशक, यातायात, दिल्ली)

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानकी यात्रा अत्यंत शान्तिदायिनी और बहुत ही प्रभावपूर्ण है। निश्चय ही यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्मारक है।

एस० एन०
(जिला ट्रैफिक सुपरिन्टेन्डेण्ट, एन० ई० रेलवे, वाराणसी)

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।

वर्ष २ मार्गशीर्ष-पौष २०२३ अङ्क ३

द्रौपदीकी प्रार्थना

गोविन्द, द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रिय ।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।।

हे द्वारिकावासी गोविन्द, गोपियोंके प्रिय कृष्ण! कौरवोंसे-दुष्ट वासनाओंसे घिरी हुई मुझे क्या तुम नहीं जानते ?

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ।।

हे नाथ, रमाके नाथ, व्रजनाथ, दुःखका नाश करने वाले जनार्दन! मैं कौरव रूपी समुद्रमें डूब रही हूँ । मुझे बचाओ ।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरु मध्येऽवसीदतीम् ।।

हे विश्वात्मन्, विश्वको उत्पन्न करने वाले महा योगी सच्चिदानन्द स्वरूप कृष्ण ! हे गोविन्द ! कौरवोंके बीच कष्ट पाती हुई मैं तुम्हारी शरण आयी हूँ । मुझे बचाओ ।

[महाभारत]

"श्रीकृष्ण हमारे सामने पूर्ण भगवत्ताके सर्वोच्च आदर्शकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ सर्वथा पूर्ण तथा मानवताके सर्वोच्च आदर्श से पूर्ण सर्वांग सुन्दर विग्रहके रूपमें प्रगट होते हैं। उनके भीतर मनुष्य और ईश्वर-नर और नारायणके भाव पूर्ण तथा समन्वित हैं।"

भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी विशिष्टताएं

महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी पूर्णानन्दजी महाराज

"'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म-परमात्मा के अवतार थे। वे योद्धा, राजनीतिज्ञ, शास्त्रवेत्ता, दौत्यकर्म, मल्लयुद्ध आदि विद्याओं के अतिरिक्त रथ-संचालनकी कलामें भी निपुण थे। उन्होंने आर्य-संस्कृति पर आघात करने वाले कंस, जरासन्ध, शिशुपाल, दुर्योधन, अघासुर, वकासुर, शाल्व, दन्तवक्त्र, पौण्ड्र आदिका वध कराकर आर्य-संस्कृतिकी रक्षा की। क्योंकि ये आसुरी-प्रकृतिके उपासक थे, जिसका वर्णन हमें गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी-संपद्के नामसे उपलब्ध होता है। यथा :—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

(गी० अ० १६। ४)

ये उपरोक्त दुर्योधनादि राजा आसुरी-प्रकृति एवं अनार्य-संस्कृतिके पोषक थे। अतः महाभारतके युद्धमें उनकी पराजय कराई, इसके प्रतिकूल पाण्डव लोग आर्य-संस्कृतिके संरक्षक तथा दैवी प्रकृतिके उपासक थे। यथा :—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
(गी० अ० १६-१-२-३ ।)

पाण्डव लोग दैवी-सम्पदके उपासक थे । अतः उनकी विजय कराई ।

दौत्यकार्यमें कुशल—भगवान् श्रीकृष्णकी कुशलता एवं नीति परायणताका ज्वलन्त उदाहरण हमें उस समय मिलता है, जब वे पाण्डवोंकी ओरसे सन्धि-प्रस्ताव लेकर कुरुराज दुर्योधनकी सभामें जाते हैं । उन्होंने वहाँ जाकर कौरवोंको समझाया कि वनवासकी अवधि समाप्त हो गई है । न्यायोचित पाण्डवोंका राज्य लौटा दीजिये, अर्थात् पाँच गाँव और कुछ जीविका-निर्वाहके लिए सामग्री देकर सन्धि कर लीजिए । किन्तु दुर्योधनने सन्धि-प्रस्तावको ठुकरा कर कहा—

"सूच्यग्रेण न दास्यामि बिना युद्धेन केशव ।।"

हे केशव ! बिना युद्धके मैं सुईके अग्रभाग बराबर पृथ्वी नहीं दूँगा । इतना ही नहीं, दुर्योधनने श्रीकृष्णको छल-कपटसे पकड़नेके लिए निमन्त्रण दिया । किन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उसे ठुकरा दिया, और कहा—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
न च सम्प्रीयसे राजन् ! न चैवापद्गता वयम् ॥
(महा० भा० उ० अ० ९१ श्लो० २५ ।)

हे राजन् दूसरेके घरमें भोजन ग्रहण करनेके दो कारण होते हैं—एक प्रीति तथा दूसरे विपत्ति । अर्थात् एक प्रेम पूर्वक निमन्त्रण देने पर दूसरेका अन्न ग्राह्य होता है, और दूसरा आपत्तिकालमें दूसरेका अन्न खाया जाता है । किन्तु यहाँ पर दोनों कारण नहीं हैं । न तो तुम्हारेमें हमारे प्रति प्रेम या भक्ति-भाव है और न हम विपत्ति ग्रस्त हैं, फिर बताओ तुम्हारे घर भोजन कैसे किया जाय ? भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधनके हृदयकी कुटिल चालको अच्छी तरह जानते थे । वहांसे लौट कर भगवान्ने पाण्डवोंको सब समाचार सुनाया और युद्धके लिए तैयार किया—

"तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः ।।"

हे कौन्तेय, उठो और युद्धके लिए तैयार हो जाओ । अपने अधिकारको प्राप्त करो । 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीतिके अनुसार दुष्टोंके साथ व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि कहा है कि—

"अधिकार खोकर बैठना यह महादुष्कर्म है ।
न्यायार्थ अपने बन्धुको दण्ड देना धर्म है ।"

रथ-संचालन विद्यामें प्रवीण—भगवान् श्रीकृष्ण रथ-विद्यामें भी बड़े कुशल थे। महाभारतमें पाण्डवोंकी विजयका मुख्य श्रेय उन्हींको है। श्रीकृष्ण जैसे कुशल सारथीके कारण ही अर्जुनको युद्धमें सफलता प्राप्त हुई। अर्जुन जानता था कि भगवान् लड़ें या न लड़ें, किन्तु वे जिस पक्षमें रहेंगे, उसी पक्षकी विजय निश्चित है। इसीलिए जब अर्जुन और दुर्योधन, दोनों महाभारतके युद्धकी सहायता एवं निमंत्रण देनेके लिए भगवान्के पास द्वारका पहुँचे, तो अर्जुनने निःशस्त्र भगवान्को चुना और दुर्योधनने भगवान्की सुसज्जित चतुरङ्गिणी, विशाल सेनाको चुना। क्योंकि दुर्योधनने सोचा, कि जब भगवान् कृष्ण लड़ेंगे ही नहीं, तो फिर मैं उन्हें लेकर क्या करूँगा? मुझे तो शत्रुओंके साथ सामना करना है, उपदेश थोड़े ही सुनना है। किन्तु अर्जुन जानता था कि भगवान् मेरे पथ-प्रदर्शक हैं। उपदेशकी भी आवश्यकता पड़ सकती है। लड़नेके लिए तो मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ। इसीलिए गीताके अन्तमें संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि—

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

जहाँ पर योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं, जहाँ पर धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री-लक्ष्मी, विजय, विभूति, न्याय आदि सभी गुण हैं, ऐसा मेरा निश्चित मत है।

भगवान् श्रीकृष्ण सत्य संकल्प थे। उनके सत्य संकल्पसे ही महाभारतमें अर्जुनकी रक्षा हो सकी। यदि भगवान् अर्जुनके सारथी न होते, तो घोड़े तथा रथ सहित अर्जुन उसी दिन युद्धमें जलकर भस्म हो गया होता, जिस दिन अश्वत्थामा ने पार्थके ऊपर आग्नेयास्त्र छोड़ा था। किन्तु भगवान्ने ही अपने सत्य संकल्पसे युद्धकी परिसमाप्ति तक अर्जुनके घोड़े तथा रथको ज्यों का त्यों जीवित रखा। युद्धकी समाप्ति होने पर जब भगवान् और अर्जुन अपने शिविरको लौटे, तो भगवान् कृष्णने कहा—अर्जुन नीचे उतरो। किन्तु अर्जुनने प्रश्न किया—भगवन्! आज आप मुझसे प्रथम उतरनेको क्यों कहते हैं? प्रतिदिन तो आप ही प्रथम उतरते थे। भगवान्ने कहा— पहले तुम नीचे उतरो, फिर मैं तुम्हें बताऊँगा। अर्जुन नीचे उतरा और पीछे मुड़कर देखा, तो घोड़े सहित रथ भस्म का ढेर बन गया। भगवान्ने कहा—'अर्जुन! यह रथ तथा घोड़े उसी समय जलकर भस्म हो गये थे, जिस समय अश्वत्थामा ने आग्नेयास्त्र छोड़ा था। किन्तु मैंने युद्धकी समाप्ति-पर्यंत अपने सत्य संकल्पसे रोक रखा था।' अर्जुन उसी समय भगवान्के चरणों पर गिर पड़े और गद्‌गद-कण्ठसे भगवान्की स्तुति करने लगे—'भगवान्! इसीलिए मैंने निःशस्त्र आपको चुना था कि आप आपत्तिमें मेरी रक्षा करेंगे।'

भगवान् और कृष्णका शब्दार्थ—भगवान् शब्दमें भगके छः अर्थ हैं—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणः"।

जिसमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन षड्वस्तुओंका

समावेश हो, उसे 'भग' कहते हैं। 'भगः अस्यास्तीति भगवान्'—यह उसका व्युत्पत्त्यर्थ है अथवा जो इन षड्वस्तुओंको जानता हो, उसे भगवान् कहते हैं—

उत्पत्तिः प्रलयं चैव भूतानां गतिमागतिम्।
वेत्ति विद्यां चाविद्यां च वाच्यो भगवानिति॥

जो सृष्टिके उत्पत्ति-प्रलय, भूत-प्राणियोंके गमनागमन और विद्या-अविद्याको जानता हो—उसे भगवान् कहते हैं। श्रीकृष्णमें इन सभी बातोंका समावेश पाया जाता है, इसलिये उन्हें भगवान्‌की संज्ञा दी जाती है। श्रीकृष्ण शब्दका भी यही अर्थ व्युत्पत्ति से प्रतिध्वनित होता है—

"कृषि भूवाचकः शब्दोणश्च निवृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परमानन्दं कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'कृष' भू —पृथ्वीवाचक शब्द है अर्थात् पृथ्वी पर व्याप्त दुःख-दैन्य आदि, और ण प्रत्यय निवृत्ति वाचक है, जो पृथ्वी पर व्याप्त दुःख-दैन्य आदि की निवृत्ति करता हो, वही कृष्ण है अथवा कृषका अर्थ संसार यानी माया और ण प्रत्ययका अर्थ उसकी निवृत्ति, उन दोनोंका निवृति पूर्वक जो एकतारूप परमानन्द हो, उसे कृष्ण कहते हैं। भागवतमें ग्वाल-बालोंकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्द गोप व्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

व्रजमें बसने वाले नन्द गोपादिकोंका अहो भाग्य, अहो भाग्य है, कि जिनके मित्र साक्षात् परमानन्द पूर्ण सनातन ब्रह्म हैं।

अतः जिस किसी दृष्टिकोणसे देखिये, भगवान् श्रीकृष्ण अद्वितीय सिद्ध होते हैं। यही उनका संक्षिप्त विवेचन है।

यमराजका दूतोंको आदेश

जिनकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, उन्हीं पापियोंको ही मेरे पास लाया करो।

[श्रीमद्भागवत]

"त्यागको दुःखके रूपमें अंगीकार कर लेना नहीं, बल्कि त्यागको भोगके रूपमें ही वरण कर लेना उपनिषद्का अनुशासन है। उपनिषद्ने जिस त्यागकी बात कही है, उस त्यागमें ही पूरा-पूरा ग्रहण है। वह त्याग ही गंभीरतर आनन्द है. वह त्याग ही निखिलके साथ योग है, और भूमिके साथ मिलन है। इसीलिए भारतवर्षका जो आदर्श तपोवन है, वह शरीरके विरुद्ध आत्माका, संसारके विरुद्ध संन्यासका निरन्तर मल्ल युद्ध करनेका कोई मल्ल क्षेत्र नहीं है।"

तपोवन

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आधुनिक सभ्यता-लक्ष्मी जिस कमल पर विराज रही है, वह ईंट और लकड़ीसे बना है, वह है नगर या शहर। उन्नतिका सूर्य जैसे-जैसे मध्य आकाशमें आ रहा है, वैसे-वैसे शहर रूपी कमलके दल खिल-खिलकर क्रमशः चारों तरफ व्याप्त हुये जा रहे हैं। बेचारी वसुन्धरा इस बढ़ते हुए सुर्खी चूनेके गारेको रोकनेमें असमर्थ हो रही है।

नगरमें ही मनुष्य विद्या सीख रहा है, विद्याका प्रयोग कर रहा है, धन कमा रहा है, अपनेको हर तरफसे शक्ति और सम्पदासे परिपूर्ण करनेका प्रयत्न कर रहा है। इस सभ्यतामें सबसे बढ़कर जो कुछ श्रेष्ठ पदार्थ है, वह है नगरकी सामग्री।

वस्तुतः इसके अतिरिक्त और किसी प्रकारकी कल्पना करना दुष्कर है। जहाँ अनेक मनुष्योंका सम्मिलन है, वहाँ विचित्र बुद्धियोंके संघातसे चित्त जागृत हो उठता है और चारों ओर धक्के खा-खाकर प्रत्येककी शक्ति गतिको प्राप्त होती है। इस प्रकार चित्त-समुद्रका मंथन होते रहनेसे मनुष्यका निगूढ़ सार पदार्थ स्वतः ऊपर आकर बहने लगता है।

उसके पश्चात् जब मनुष्यकी शक्ति जाग उठती है, तो वह सम्भवतः ऐसा क्षेत्र चाहने लगती है, जहाँ वह अपना सफल प्रयोग कर सके, वे क्षेत्र कहाँ हैं? जहाँ अनेक मनुष्योंके अनेक प्रकारके उद्यम भाँति-भाँतिके सृष्टि-कार्यमें सर्वदा ही सचेष्ट हो रहे हैं, वहीं है वह क्षेत्र, और वह है नगर।

प्रारम्भमें मनुष्य जब अधिक भीड़ एकत्र करके किसी स्थानमें नगरकी रचना कर बैठता है, तब उसकी वह रचना सभ्यताके आकर्षणसे नहीं होती। अधिकांश क्षेत्रोंमें शत्रुओं-के आक्रमणोंसे आत्म-रक्षा करनेके लिए ही मनुष्य किसी सुरक्षित, और सुविधाजनक स्थानमें एकत्र होकर रहनेकी आवश्यकता अनुभव करता है, परन्तु किसी भी कारणसे हो एक स्थानमें, बहुतोंके एकत्र होनेका कोई आयोजन होने पर वहाँ भाँति भाँतिके मनुष्योंकी आवश्यकता होती है, और वहीं पर सभ्यताकी अभिव्यक्ति स्वतः होने लगती है।

परन्तु भारतवर्षमें यह एक आश्चर्यजनक बात देखी गई, कि यहाँकी सभ्यताका मूल प्रश्रवण (सोता) नगरमें नहीं, वनमें है। भारतवर्षका आश्चर्यजनक विकास जहाँ दिखाई देता है, वहाँ मनुष्यके साथ मनुष्य बहुत ही समीप सटकर, बिलकुल गुट बाँधकर नहीं बैठे। वहाँ वृक्ष, लता और नदी सरोवरको मनुष्यके साथ मिलकर रहनेका पर्याप्त अवकाश मिला था। वहाँ मनुष्य भी था, फिर भी निर्जनता या सुनसानने भारतवर्षके चित्तको जड़-सा नहीं बना दिया, बल्कि उसकी चेतनाको और भी उज्वल कर दिया था। ऐसी घटना संसारमें और भी कहीं हुई है, ऐसा तो मालूम नहीं होता।

हम लोगोंने यही देखा है, कि जो मनुष्य परिस्थितियों वश वनमें घिर जाते हैं, वे क्रमशः जंगली हो जाते हैं। या तो वे व्याघ्रसे हिंसक हो जाते हैं, या फिर हरिणके समान भोले बने रहते हैं। परन्तु प्राचीन भारतवर्षमें हम देखते हैं, वनकी निर्जनताने मनुष्यकी बुद्धिको पराजित नहीं किया, बल्कि उसे एक ऐसी शक्ति दी थी कि उस वनवाससे निकली हुई सभ्यताकी धाराने समस्त भारतवर्षको अभिषिक्त कर दिया, और आज तक उसका प्रवाह बन्द नहीं हुआ।

इस प्रकार वनवासियोंकी साधनासे भारतवर्षने सभ्यताकी जो संचालन-शक्ति प्राप्त की थी, कदाचित् वह बाहरके आघातसे ही नहीं हुई, नाना प्रयोजनोंकी होड़से नहीं जागी। इसलिए वह शक्ति प्रधानतः बहिर्मुखी नहीं हुई। उसने ध्यानके द्वारा विश्वकी गम्भीरतामें प्रवेश किया है, निखिलके साथ आत्माका सम्बन्ध स्थापित किया है। यही कारण है, कि भारतवर्षने मुख्यतः ऐश्वर्यके उपकरणोंके द्वारा ही अपनी सभ्यताका परिचय नहीं दिया। इस सभ्यताके जो कर्णधार थे, वे निर्जनवासी थे, और कमसे कम आवश्यकताएँ रखने वाले तपस्वी थे।

और समुद्र-तटने जिस जातिका पालन-पोषण किया है, उसे वाणिज्य-सम्पदा दी है। मरुभूमिने जिन्हें थोड़ा सा दूध पिलाकर भूखा रख छोड़ा है, वे दिग्विजयी हुए हैं। इसी प्रकार एक एक विशेष सुयोगसे मनुष्यकी शक्तिने एक-एक विशेष मार्ग प्राप्त किया है।

समतल आर्यावर्तकी वनभूमिने भी भारतवर्षको एक विशेष सुयोग दिया था। भारतवर्षकी बुद्धिको उसने संसारके अंतरतम रहस्य-लोककी खोजके लिए प्रेरित किया था। उस महासमुद्र तटके अनेक सुदूर द्वीप-द्वीपान्तरोंसे वह जिस सम्पदाको आहरण कर लाई थी, समस्त मनुष्य-जातिको आये दिन उसकी आवश्यकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। जिस

औषधि-वनस्पतिके भीतर प्रकृतिके प्राणोंकी क्रिया दिन-रात और ऋतु-ऋतुमें प्रत्यक्ष हो उठती है, और प्राणोंकी लीला तरह-तरहकी विचित्र भंगियों, ध्वनियों, और रूप-वैचित्र्यमें निरन्तर नये-नये भावोंमें प्रकाशित होती रहती है, उसके बीचमें ध्यान-परायण चित्त लेकर जो रहा करते थे, वे अपने चारों ओर एक आनन्दमय रहस्यका अनुभव किया करते थे। इसीलिए वे इतने सहज रूपमें कह सकते थे, "यदि दं किंच सर्वं प्राण एजति निःसृतं।" अर्थात् यह जो कुछ है, सभी कुछ परम प्राणसे निकलकर प्राणोंमें ही कम्पित हो रहा है। वे स्वरचित ईंट, लकड़ी, लोहेके कठिन पिंजड़ेमें नहीं रहते थे, जहाँ वे रहते थे, वहाँ विश्व-व्यापी विराट जीवनके साथ उनके जीवनका अविरत योग (सम्बन्ध) था। इसी वनने उन्हें छाया दी है, फल-फूल दिये हैं, कुश समित् (तृण और यज्ञ काष्ठ) पहुँचाया है, उनके दैनिक समस्त कर्म, अवकाश और आवश्यकताओंके साथ इस वनके आदान-प्रदानका जीवन-मनका सम्बन्ध था। इसी उपायसे अपने जीवनको चारों ओरके एक बड़े जीवनके साथ जोड़कर वे अपने जीवनका ज्ञान प्राप्त कर सके थे। अपने चारों तरफको वे शून्य, निर्जीव और पृथक नहीं समझते थे। इस बातको वे अपने सहज-स्वाभाविक अनुभवसे स्पष्ट जानते थे, कि विश्व-प्रकृतिमेंसे उन्होंने प्रकाश, हवा, अन्नजल आदि जो कुछ भी दान ग्रहण किया है, वह दान मिट्टीका नहीं, वृक्षका नहीं, शून्य आकाशका नहीं, बल्कि एक चेतनामय अनन्त आनन्दमें से ही उसका मूल प्रस्रवण या उद्गम है। इसीलिए उन्होंने निःश्वास प्रकाश और अन्न-जल सब कुछको बड़ी श्रद्धाके साथ भक्तिपूर्वक ग्रहण किया था, इसीलिये निखिल चराचरको अपने प्राणों द्वारा, चेतनाके द्वारा, हृदयके द्वारा, ज्ञानके द्वारा, अपनी आत्माके साथ आत्मीय रूपमें एक करके प्राप्त करना ही भारतवर्षका यथार्थ पाना है।

इसीसे हम समझ सकते हैं, कि वनने भारतवर्षके चित्तको अपनी एकान्त छायामें, निगूढ़ प्राणोंमें, रखकर कैसे सुन्दर ढंगसे पाला है। भारतवर्षमें बड़े-बड़े दो प्राचीन युग बीत चुके हैं, वैदिक युग, और बौद्ध-जैन युग। इन दोनों युगोंको वन ही ने धात्रीके रूपमें धारण किया है। केवल वैदिक विषयोंने ही नहीं, भगवान बुद्ध और महावीरने भी कितने ही आम्रवनों और कितने ही वेणु वनोंमें अपने उपदेशोंकी वर्षा की है, राजप्रसादमें वे समाये ही नहीं, वनोंने ही उन्हें अपने हृदयसे लगाया था।

क्रमशः भारतवर्षमें राज्य, साम्राज्य और नगर-नगरियोंकी स्थापना हुई। देश-विदेशके साथ उसके वाणिज्यका आदान-प्रदान चला, अन्न-लोलुप कृषि-क्षेत्रोंने धीरे-धीरे छाया-शांत अरण्योंको दूरसे दूर हटा दिया, परन्तु उस प्रतापशाली, ऐश्वर्यपूर्ण यौवन-दीप्त भारतवर्षने वनका ऋण स्वीकार करनेमें कभी लज्जाका अनुभब नहीं किया। तपस्याको ही उसने अन्य समस्त प्रयासोंकी अपेक्षा अधिक सम्मान दिया है। और वनवासी प्राचीन तपस्वियोंको ही अपना आदि पुरुष मानकर भारतवर्षके राजा-महाराजाओंने भी गौरव अनुभव किया है। भारतवर्षकी पुराण कथाओंमें जो कुछ महत्, आश्चर्यकारी और पवित्र है, जो कुछ श्रेष्ठ और पूज्य है, वह सबका सब प्राचीन तपोवनकी स्मृतिके साथ विजड़ित है। बड़े-बड़े राजाओंके राज्य करनेकी कथा याद कर रखनेका उसने प्रयत्न नहीं किया, परन्तु नाना भ्रांतियोंके भीतरसे गुजरते हुए भी, वनकी सामग्रीको अपने प्राणोंकी सामग्री बनाकर

आज तक वह उसे वहन करता आया है। मानव इतिहासमें भारतवर्षकी यही सबसे बड़ी विशेषता है।

भारतमें विक्रमादित्य जब राजा थे, उज्जयिनी जब महानगरी थी, और कालिदास जब कवि थे, तब इस देशमें तपोवनका युग चल रहा था। तब हम मानवोंके महा मेलेके बीचमें खड़े थे। तब चीन,हूण, शक, इरानी, ग्रीक, रोमन सब हमारे चारों तरफ भीड़ लगाए हुए थे। उस समय का दृश्य जनक सरीखे राजाको एक ओर हल हाथमें लिये खेती करते और दूसरी ओर देश-देशांतरसे आये हुए ज्ञान-पिपासुओंको ब्रह्म-ज्ञानकी शिक्षा देते हुए देखनेका दृश्य नहीं था। परन्तु उस ऐश्वर्य-मदसे गर्वित युगमें भी उस समयके श्रेष्ठ कविने तपोवनकी कथा ऐसे सुन्दर ढंगसे कही है, कि उसे देखनेसे साफ समझमें आ जाता है, कि तपोवन हमारी दृष्टिसे ओझल हो जाने पर भी, हमारे हृदयमें जमकर बैठा हुआ है। कालिदास विशेष रूपसे भारतवर्षके ही कवि हैं, यह बात उनके तपोवनके चित्रणसे ही प्रमाणित हो जाती है। ऐसे परिपूर्ण आनन्दके साथ तपोवनके ध्यानको और कौन मूर्तिमान कर सका है।

रघुवंश काव्यकी ज्यों ही यवनिका उठती है, त्यों ही सबसे पहले तपोवनका शान्त, सुन्दर, पवित्र दृश्य हमारी आँखोंके सामने प्रकाशमान हो उठता है।

उस तपोवनमें वनान्तरसे कुश-समिध और फल आदि संग्रह करके तपस्वी आते दिखाई देते हैं और मानो एक अदृश्य अग्नि उनका प्रत्यागमन करती दिखाई देती है। वहाँ हरिण-हरिणियाँ ऋषि-पत्नियोंकी सन्तान-सी मालूम होती हैं। उन्हें निवार-धान्यका भाग मिलता है। और वे बिना किसी संकोचके कुटीरका द्वार घेरे पड़ी रहती हैं। मुनि-कन्याएँ पेड़-पौधोंमें पानी देती हैं और पौधोंके नीचेका आलवाल ज्यों ही जलसे भर जाता है, त्यों ही वे हट जाती हैं, पक्षी निःशंक होकर जल पीयें, यही उनका अभिप्राय रहता है। वहाँ हम देखते हैं, सूर्य पश्चिमाकाशकी ओर बढ़ रहा है, सन्ध्या समागम होनेके पहले ही कुटीरके पहले प्रांगणमें नीवार-धान्यका ढेर लग गया है, और वहाँ हरिण-हरिणियाँ रौंथकर रही हैं। आहुतिका सुगन्धित धुँआ पवनमें प्रवाहित होकर आश्रमोन्मूख अतिथियोंके सम्पूर्ण शरीरको पवित्र कर रहा है। तरुलता और पशु-पक्षी सबके साथ मनुष्यके मिलनकी पूर्णता यही उसके भीतरका भाव है।

सम्पूर्ण अभिज्ञान शाकुन्तल नाटकमें, भोग लालसासे निष्ठुर राजप्रासादको धिक्कार देता हुआ जो एक तपोवन विराज रहा है, उसका भी मूल स्वर यही है चेतन-अचेतन सबके साथ मनुष्यके आत्मीय सम्बन्धका माधुर्य।

कादम्बरीमें तपोवनके वर्णनमें कवि लिखते हैं, वहाँ लताएँ पवनमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करती हैं, वृक्ष फूल बिखेर-बिखेर कर पूजा करते हैं, कुटीरके आँगनमें श्यामाक धान्य सुखानेके लिये फैला दिए गए हैं, वहाँ आँवले, लवली, लवंग, कदली-बदरी आदि फल संग्रह किये गये हैं, वटुकोंके अध्ययनसे वन-भूमि मुखरित है, वाचाल शुक पक्षी लगातार

सुननेसे कंठस्थ हुये आहुति मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे हैं, अरण्य कुक्कुट वैश्वदेव वलि पिंड भक्षण कर रहे हैं, पासके सरोवरसे कल हंस शिशु आ-आकर नीवार वलि खाते और चले जाते हैं, हरिणियाँ अपने जिह्वा-पल्लवोंसे मुनि-बालकोंका लेहन कर रही हैं।

इसकी भीतरी बात यही है, चेतन-अचेतन सबके साथ मनुष्यके आत्मीय सम्बन्धका पवित्र माधुर्य। तरु लता और जीव जन्तुओंके साथ मनुष्यके विच्छेदको दूर करके तपोवन प्रकाशमान हो रहा है, यही पुरानी बात ही हमारे देशमें प्रारम्भसे चली आ रही है।

केवल तपोवनके चित्रमें ही यह भाव प्रकट हुआ हो, सो बात नहीं। मनुष्यके साथ विश्व-प्रकृतिका सम्मिलन ही हमारे देशके समस्त प्रसिद्ध काव्योंमें प्रस्फुटित हुआ है। जो घटनाएँ मानव-चरित्रका आश्रय लेकर व्यक्त होती रहती हैं, वे ही कदाचित् प्रधानतः नाटककी उपादान सामग्री होती हैं। इसीलिए अन्य देशोंके साहित्यमें हम देखते हैं कि नाटकमें विश्व-प्रकृतिका केवल आभास मात्र रह जाता है, उसमें उसे अधिक स्थान देनेका अवकाश ही नहीं रहता। हमारे देशके प्राचीन नाटक जो आज तक अपनी ख्याति-रक्षा करते आये हैं, उनमें देखा जाता है कि प्रकृति भी नाटकमें अपने प्राप्य अंशसे वंचित नहीं हुई।

मनुष्यको घेरे हुए जो यह जगत प्रकृति है, यह तो अन्तर्गत भावसे मनुष्यकी सम्पूर्ण विचारधारा और समस्त कर्मोंके साथ जकड़ी हुई है। मनुष्यका लोकालय (वस्ती) केवल एकाग्र रूपसे मानवमय हो जाय और उसको संघोंमेंसे प्रकृतिको यदि किसी तरह प्रवेशाधिकार न मिले तो हमारी विचारधारा और कार्य क्रमशः कलुषित और व्याधि ग्रस्त होकर अपनी अथाह गंदगीमें आत्महत्या करके मर मिटेंगे। यह जो प्रकृति हमारे भीतर नियमित कार्य कर रही है, फिर भी मालूम होता है मानों वह चुपचाप खड़ी है, मानो हम ही लोग सब बड़े भारी कामके आदमी हैं, और वह बेचारी केवल शोभाकी वस्तु है, इस प्रकृतिको हमारे देशके कवियोंने भली भाँति पहचान लिया था। यह प्रकृति मनुष्यके सम्पूर्ण सुख-दुखोंमें जो अपना स्वर मिला रही है, उस स्वरको हमारे देशके कवि सदैव अपने काव्योंमें बजाते आ रहे हैं।

ऋतु संहार कालिदासकी कच्ची उमरकी रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसमें तरुण-तरुणियोंका जो मिलन-संगीत है, उसका स्वर ग्राम लालसाके निम्नसप्तकसे ही आरम्भ हुआ है। वह 'शकुन्तला' और कुमारसम्भवकी तरह तपस्याके उच्चतम सप्तक तक नहीं पहुँचा।

परन्तु कविने नवयौवनकी इस लालसाको, प्रकृतिके इस विचित्र और विराट सुरके साथ सुर मिलाकर मुक्त आकाशमें उसे झंकृत कर दिया है। धारा-यंत्रसे मुखरित निदाघकी दिनान्तकी चंड किरणोंने इसमें अपना राग मिला दिया है, वर्षामें नवीन जल-सिंचनसे ताप-हीन, शान्त वनान्तमें पवनसे हिलती हुई कदम्बकी शाखायें इस छन्दमें नाच रही है, आपक्व शालि-रुचिरा शारद-लक्ष्मी अपनी हंस-रव-नुपुर-ध्वनिको इसके ताल पर बजा रही हैं और

वसन्तकी दक्षिण पवनसे चंचल कुसुमित आम्र शाखाका मर्मर गुञ्जन इसीकी तानमें विस्तीर्ण हो रहा है।

इस विराट प्रकृतिके भीतर जिस वस्तुका जहाँ स्वाभाविक स्थान है, वहाँ उसे रख कर देखा जाय तो ज्ञात होगा, कि उसकी अत्युग्रता बिलकुल जाती रही है और वहाँसे हटाकर यदि उसे केवल एक मनुष्यकी सीमामें ही, सीमावद्ध संकुचित बनाकर रखा जाय, तो वह व्याधिकी तरह अत्यन्त उत्तप्त ओर रक्त वर्ण दिखाई देगी। शेक्सपियरके दो-एक खण्ड काव्य हैं, इनका वर्णनीय विषय है नर-नारीकी आसक्ति। पर उन काव्योंमें आसक्ति ही एकान्त रूपसे जमकर बैठ गई है, उसके चारों ओर और किसीके लिए स्थान ही नहीं, न आकाश है, न हवा है, और न प्रकृतिके गीत-गंध-वर्ण-विचित्र आवरणसे, जो विश्वकी सम्पूर्ण लज्जाकी रक्षा किये हुए है, उसका कोई सम्बन्ध ही है। इसीलिए उन काव्योंमें प्रवृतिकी उन्मत्तता अत्यन्त दुःसह रूपसे प्रकट हो रही है।

'कुमार संभव'के तीसरे सर्गमें जहाँ मदनके आकस्मिक आविर्भावके यौवन-चांचल्य की उद्दीपनाका वर्णन है, वहाँ कालिदासने उन्मत्तताको एक संकीर्ण सीमामें ही सर्वमयके रूपमें दिखानेका प्रयास मात्र किया है। आतशी शीशेके भीतरसे एक विन्दुमात्रमें, सूर्यकी किरणें इकट्ठी हो जानेसे वहाँ आग जल उठती है, पर वे ही किरणें जब आकाशमें सर्वत्र स्वभावतः बिखरी हुई रहती हैं, तब वे गरमी तो अवश्य पहुँचाती हैं, पर जलाती नहीं। कालिदासने बसन्त और प्रकृतिकी सर्वव्यापी यौवन-लीलाके बीचमें हर पार्वतीके मिलन-चाञ्चल्यको निविष्ट करके उसके संभ्रमकी रक्षा की है।

कालिदासने पुष्प-धनुषकी डोरीको विश्व-संगीतके स्वरके साथ विच्छिन्न और बे-सुरा करके नहीं बजाया, उन्होंने जिस पटभूमिका पर अपना चरित्र चित्रण किया है, वह तरु-लता और पशु-पक्षियोंको लिए हुए समग्र आकाशमें अति विचित्र वर्णोंमें विस्तृत हुआ है।

केवल तृतीय सर्ग ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण कुमार संभव काव्य ही एक विश्वव्यापी पटभूमिकापर अंकित है। इस काव्यकी भीतरी कथा एक गंभीर और चिन्तन कथा है। जो पाप-दैत्य प्रबल होकर सहसा स्वर्गलोकको न जाने किधरसे नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, उसको पराजित करने योग्य वीरता कैसे जन्म लेती है, यह एक समस्या है। यह समस्या मनुष्यकी चिरकालीन समस्या है। प्रत्येक मनुष्यके जीवनकी समस्या भी यही है, और यह सम्पूर्ण जातिमें, सारे राष्ट्रमें नई-नई मूर्तियोंमें प्रकट होती रहती है।

कालिदासके समयमें भी एक समस्याने भारतवर्षमें अत्यन्त उत्कट रूप धारण किया था, यह बात कविके काव्योंके पढ़नेसे स्पष्ट मालूम हो जाती है। प्राचीनकालमें हिन्दूसमाज की जीवन यात्रामें जो एक सरलता और संयम था, उस समय वह टूट रहा था। राजा-महाराजागण उस समय अपने राज धर्मको भूलकर अपने निजी सुखमें डूबने लगे थे, भोगी हो गये थे। और इधर शकोंके आक्रमणसे भारतवर्षकी तब बार-बार दुर्गति हो रही थी। बाहरी दृष्टिसे देखनेसे, भारतवर्ष उस समय भोग-विलासके उपकरण और काव्य-संगीत-

शिल्पकलाकी चर्चामें सभ्यता-श्रेष्ठता प्राप्त कर रहा था। कालिदासकी काव्यकलाके भीतर उस समयके उपकरण बहुल संभोगका राग बजा ही न हो, सो बात नहीं। वस्तुत: उनके काव्यके बाहरी अंशपर, तत्कालीन शिल्प-कलाका पर्याप्त प्रभाव था। इस प्रकार हम एक दिशामें, उस युगके समयके साथ उस युगके कविका योग या सम्बन्ध स्पष्ट देख सकते हैं।

किन्तु उस प्रमोद भवनके स्वर्ण जड़ित अन्त:पुरके भीतर बैठकर काव्य-लक्ष्मी वैराग्य-विकल-चित्तसे किसके ध्यानमें मग्न थी ? हृदय तो उनका यहाँ नहीं था। मन तो उनका इस आश्चर्यकारी कारु-विचित्र माणिक्य-कठिन कारागारसे बार-बार मुक्तिकी ही कामना कर रहा था।

कालिदासके काव्योमें बाहरके साथ भीतरका, अवस्थाके साथ आकांक्षाका एक द्वंद विद्यमान है। भारतवर्षमें तपस्याका जो युग उस समय बीत चुका था, ऐश्वर्यशाली राज-सिंहासनके पास बैठे हुये कवि उसी निर्मल, सुदूर कालकी ओर एक वेदनाका भार लिए हुए देख रहे थे।

रघुवंश काव्यमें कवि भारतके जिस प्राचीन सूर्यवंशी राजाओंके चरित-गानमें प्रवृत्त हुए थे, उसमें उनकी वह वेदना निगूढ़ रूपसे विद्यमान है।

हमारे देशके काव्योंमें परिणामको अशुभकारी रूपमें दिखानेकी प्रथा ठीक नहीं समझी जाती। वास्तवमें जिन रामचन्द्रके जीवनमें, रघुका वंश उच्चतम शिखर पर पहुंचा है, वहीं काव्यकी समाप्ति होती, तभी भूमिकाके वाक्य सार्थक हो सकते थे।

कविने भूमिकामें कहा है—"इस काव्यमें मैं वाक्संपदामें दरिद्र होने पर भी, उन्हीं रघुराजके वंशका गुण-कीर्तन करूंगा, जो जन्म कालसे शुद्ध थे, जो फल-प्राप्ति तक कार्य करते थे, समुद्र तक जिनका राज्य था, और स्वर्ग तक जिनका रथ-मार्ग था, यथा विधि जो अग्निमें आहुति दिया करते थे, यथा काम जो प्रार्थियोंके अभावकी पूर्ति किया करते थे, यथापराध जो दण्ड देते थे, यथाकाल जो जाग्रत हो जाया करते थे, त्यागके लिये जो अर्थ संचय करते थे, सत्यके लिए जो मितभाषी थे, यशके लिए जो विजयकी इच्छा करते थे, और सन्तानकी प्राप्तिके लिये दारा ग्रहण करते थे, शैशवमें जो विद्याभ्यास करते थे, यौवनमें जिनके विषय-सेवा थी, वार्धक्यमें जो मुनि वृत्ति ग्रहण करते थे और योग-साधनके पश्चात् जिनका देह-त्याग होता था; कारण उनके गुणोंने मेरे कानमें प्रवेश करके मुझे चंचल कर दिया है।"

परन्तु गुण-कीर्तनमें ही इस काव्यकी समाप्ति नहीं हुई। कविको किस चीजने इतना चंचल कर दिया था, यह बात रघुवंशका परिणाम देखनेसे ही समझमें आ जाती है। रघुवंश को जिनके नामसे इतना गौरव प्राप्त हुआ है, उनकी जन्म कथा क्या है ? उनका आरम्भ कहाँ है ?

तपोवनमें दिलीप-दम्पतिकी तपस्यासे ही ऐसे राजाने जन्म लिया था। कालिदासने अपने राज प्रमुखोंके समक्ष इस बातको अपने नाना कौशलसे कहा है, कि कठिन तपस्याके बिना कोई भी महान् फल प्राप्त नहीं होता। रघुवंशका आरम्भ राजोचित ऐश्वर्य गौरवके वर्णनसे नहीं हुआ। सुदक्षिणाको अपनी बाईं तरफ लिये हुए राजा दिलीपने तपोवनमें प्रवेश किया। चारों समुद्र, जिनकी अनन्य शासना पृथ्वीकी खाई थे, ऐसे राजा अविचलित निष्ठा और कठोर संयमके साथ बराबर तपोवनकी धेनुकी सेवा करते रहे थे।

संयममें, तपस्यामें, तपोवनमें, रघुवंशका आरम्भ है और मदिरामें, इन्द्रिय भोगोंकी मत्ततामें, प्रमोद भवनमें उसका उपसंहार। इस अन्तिम सर्गके चित्रमें वर्णनकी उज्वलता पर्याप्त है, किन्तु जो अग्नि लोकालयको जलाकर भस्म कर डालती है, वह भी तो कम उज्वल नहीं होती। एक पत्नीके साथ दिलीपका तपोवनमें वास, शान्त, और फीके वर्णसे अंकित हैं, और बहुनायिकाओंके साथ अग्नि वर्णनका आत्म घात असंयत बाहुल्यके साथ मानो आगकी रेखामें वर्णित है।

प्रभात जैसा शान्त पिंगल-जटाधारी ऋषि बालकोंके समान पवित्र है, और अपना मोती-सा सौम्य उज्वल प्रकाश लिए हुए शिशिरसे भीगी हुई पृथ्वी पर धीर पदोंसे अवतरण करता है और नवजीवनकी अभ्युदय वार्तासे जगतको उद्बोधित कर देता है, कविके काव्यमें भी उसी प्रकार तपस्याके द्वारा सुसमाहित राज-महात्म्यमें वैसे ही स्निग्ध तेज और संयत वाणीसेमहोदयशाली रघुवंशकी सूचनाकी गई है। और नाना वर्ण विचित्रित मेघ जलसे घिरा हुआ अपराह्न जैसे अपनी अद्भुत रश्मि-छटासे पश्चिम आकाशको क्षण भरके लिए प्रगल्भ बना देता है, और देखते-देखते भीषणक्षय आकर उसकी समस्त महिमाका अपहरण कर लेता है, और अन्तमें कुछ ही क्षणमें वाक्यहीन, कर्महीन अचेतन अन्धकारमें सब कुछ विलुप्त हो जाता है, उसी प्रकार कविने काव्यके अन्तिम सर्गमें विचित्र भोग आयोजनके भीषण समारोहोंमें ही रघुवंश ज्योतिष्कके बुझनेका वर्णन किया है।

काव्यके इस आरम्भ और समाप्तिमें कविके हृदयकी एक बात छिपी हुई है, वे नीरव दीर्घ निश्वासके साथ कहते हैं, क्या था, और क्या हो गया? उस प्राचीन समयमें जबकि सामने अभ्युदय था, तब तपस्या ही थी सबसे बढ़कर प्रधान ऐश्वर्य और आज जबकि सामने दीख रहा है विनाश, विलासके उपकरणोंके ढेरोंका अन्त नहीं, और भोगकी अतृप्त अग्नि सहज शिलाओंमें प्रज्वलित हो-होकर अपने चारों ओरकी आँखोंको झुलसाये दे रही है।

आत्म त्याग और दुःख स्वीकार, इन दो बातोंका माहात्म्य वर्णन हम किसी-किसी धर्मशास्त्रमें विशेष रूपसे पाते हैं। जगतके सृष्टि कार्यमें उत्ताप जैसे मुख्य चीज है, मनुष्यके जीवन गठनमें दुःख भी उसी प्रकार एक जबरदस्त रासायनिक शक्ति है। इसके द्वारा चित्त-का दुर्भेद्य काठिन्य गल जाता है और असाध्य हृदयकी गाँठ खुल जाती है। इसलिए संसारके दुःखको जो सुख रूपमें ही समभाव स्वीकार कर सकते हैं, वे यथार्थ तपस्वी हैं।

परन्तु इससे कोई यह न समझ ले कि इस दुःख स्वीकारको ही उपनिषदने अपना लक्ष्य बनाया है। त्यागको दुःखके रूपमें अंगीकार कर लेना नहीं बल्कि त्यागको भोगके रूपमें वरण कर लेना उपनिषद्का अनुशासन है। उपनिषद्ने जिस त्यागकी बात कही है, उस त्याग हीमें पूरा-पूरा ग्रहण है, वह त्याग ही गंभीरतर आनन्द है, वह त्याग ही निखिल-के साथ योग है, और भूमिके साथ मिलन है, इसीलिए भारतवर्षका जो आदर्श तपोवन है वह शरीरके विरुद्ध आत्माका, संसारके विरुद्ध संन्यासका निरन्तर मल्ल युद्ध करनेका कोई मल्ल क्षेत्र नहीं है। 'यत्किञ्च जगत्यां जगत' अर्थात् जो कुछ है सबके साथ त्यागके द्वारा बाधाहीन मिलन, यही है तपोवनकी साधना। इसीलिए तरुलता और पशु-पक्षियोंके साथ भारतवर्षके आत्मीय सम्बन्धका योग ऐसा घनिष्ठ है कि अन्य देशके लोगोंके लिए वह अद्भुत मालूम होता है।

प्रबलतामें सम्पूर्णताका आदर्श नहीं है। समग्रके सामंजस्यको नष्ट करके प्रबलता अपनेको स्वतन्त्र रूपमें दिखलाती है, इसीलिए वह बड़ी मालूम होती है, परन्तु असलमें वह छोटी है। भारतवर्षने उस प्रबलताका चयन नहीं किया, उसने पूर्णताका ही चयन किया था। वह परिपूर्णता निखिलके साथ योगमें है, और वह योग अहंकारको दूर करता है विनम्र होकर। यह विनम्रता एक आध्यात्मिक शक्ति है। दुर्बल स्वभावके लोग इसे नहीं पा सकते। वायुका जो प्रवाह नित्य है, उसकी शक्ति शांतताके द्वारा ही आँधीसे अधिक है। इसीलिए आँधी केवल संकीर्ण स्थानको ही कुछ समयके लिए क्षुब्धकर सकती है और शान्त वायु प्रवाह समस्त पृथ्वीको नित्य काल तक वेष्टित किए रहता है। यथार्थ नम्रता जो सात्विकताके तेजसे उज्वल है, जो त्याग और संयमकी कठोर शक्तिसे प्रतिष्ठित है, वही नम्रता सत्य रूपमें समस्तको प्राप्त करती है। इसीलिए महात्मा ईसाने कहा है कि जो विनम्र है, वही जगद्विजयी है, श्रेष्ठ धनका अधिकार एक मात्र उसी को है।

❁

भक्तकी आकांक्षा

यह विनती रघुबीर गुंसाई।
और आस-बिस्वास भरोसो, हरो जीव जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति कुछ, रिधि-सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़े अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरियाई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ अंड की नाई॥
या मन में जहँ लगिया तनु की प्रीत प्रतीत सगाई।
ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों, होहिं सिमिटि इकठाई॥
[गो० तुलसीदासजी]

"माँ ! तुम मुझे अंगीकार करो या न करो, अपनाओ या त्याग करो, मैं तो तुम्हारा दास हूँ, मैं 'जगदम्बाका दास"—इस वचनसे ही तीनों लोकोंको जीत लूँगा।"

परम पुरुषकी परम शक्ति

श्रीआनन्द प्रिय

सतयुगकी कथा है। असुरोंने स्वर्ग पर आक्रमण किया। असुरोंकी प्रचण्ड शक्ति और सेना। देवता भयसे विकंपित हो उठे। अशक्त और निस्सहाय देवता परमात्माके निकट प्रार्थना-रत हुए—"हे प्रभो, अशरण शरण, हे अनाथोंके नाथ, इस आपदासे हम सबका त्राण कीजिए।"

परमात्माने अदृश्य रूपमें देवताओंकी आर्त्त पुकार सुनी, देवताओंकी रग-रगमें वीरताका विद्युत-प्रवाह संचरित हो उठा, निर्बल और भयभीत देवता शौर्यसे उद्दीप्त हो उठे। वे युद्ध में संलग्न हुए, और असुरोंने पराजित होकर पातालमें शरण ली।

देवता विजयोल्लासमें आत्म-विस्मृत हो उठे। देवलोकमें, कोने-कोनेमें इस अपूर्व विजयको स्मरणीय बनानेके लिए विजय-स्तम्भ निर्मित किए जाने लगे। एक विशाल आनंदोत्सवका आयोजन भी हुआ। इस प्रकार देवता मदोन्मत्त होकर उन परमात्माको भूल गए, जिनकी कृपासे उन्होंने दुर्दान्त और प्रचंड शक्तिशाली असुरों पर विजय प्राप्त की थी। इसके विपरीत देवताओंकी छाती दर्पसे फूल उठी। वे इस विजयके मूलमें अपने शौर्य, और अपने साहसका महत्व देखने लगे, और उसीकी प्रशंसामें मग्न हो गए।

परमात्मा तो अन्तर्यामी हैं। देवताओंका दर्प, और मिथ्या गर्व परमात्मासे छिपा न रहा। फिर भी परमात्मा देवताओं पर कुपित न हुए। किन्तु उन्होंने देवताओंके दर्पको भंग करनेके लिए एक सुन्दर व्यवस्था अवश्य की।

विजयोत्सवके दिनका प्रभात काल था। देवलोकमें चतुर्दिक विजयके मदका सागर-सा प्रवाहित हो रहा था। परमात्मा देव लोकमें एक विशाल, समुज्वल यक्षकी मूर्तिके रूपमें प्रगट हो उठे।

सम्पूर्ण देवलोकमें चारों ओर एक कोलाहल सा उत्पन्न हो उठा। सब विजयोत्सव को भूलकर उसी मूर्तिके सम्बन्धमें सोच-विचार करने लगे—"कौन है इस मूर्तिके रूपमें! ऐसी विराट और ज्योतिष्मयी मूर्ति तो उन्होंने कभी नहीं देखी थी।"

देवताओंकी सभा एकत्र हुई। मूर्तिके सम्बन्धमें आलोचना-प्रत्यालोचना चलने लगी। अन्ततः देवराजने, सबके परामर्शसे अग्नि देवको सम्बोधित करके कहा—"अग्निदेव, आप सर्वज्ञ हैं, महा तेजस्वी हैं। अतः आप उस विराट मूर्ति-पुरुषके पास जाकर देखें कि वह क्या है—कौन है?"

अग्निदेवके मनमें अहंकार जागृत हो उठा। वे अपने प्रताप और तेजसे गर्वान्वित होकर, शीघ्र ही उस मूर्तिकी ओर चल पड़े।

अग्निदेव यक्षकी मूर्तिके निकट जाकर खड़े ही हुए थे, कि मूर्तिके भीतरसे गम्भीर स्वर निःसृत हुआ—"कौन हो तुम?"

अग्निदेव क्रोधसे काँप उठे, अखिल ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा है, जो अग्निदेवसे अपरिचित है। फिर भी अग्निदेवने शान्त भावसे उत्तर दिया—"क्या तुम मुझे नहीं जानते? मैं वही अग्निदेव हूँ, जिसके प्रभावसे ही जगतमें सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। यह सम्पूर्ण विश्व-विश्वकी यह सम्पूर्ण धन-सम्पदा मेरे ही अधीन है।"

यक्षने विस्मय प्रकट किए बिना, अविचल भावसे पुनः प्रश्न किया—"आप अपनी महा शक्तिको किस रूपमें धारण करते हैं?"

अग्निदेवने सगर्व उत्तर दिया—"आँखोंके समक्ष यह जो दृश्य जगत है, मैं उसे क्षण मात्रमें जलाकर भस्म कर सकता हूँ।"

यक्षने विद्रूप प्रगट करते हुए कहा—"बहुत खूब, अच्छा तो घासके इस तिनकेको भी जलाकर भस्म करदें। क्योंकि इसका भार मुझे कष्ट दे रहा है।"

यक्षने घासका एक तिनका अग्निदेवके समक्ष फेंक दिया। अग्निदेवके लिए भला वह तिनका क्या वस्तु है? वे तो उसे देखते ही देखते जलाकर भस्म कर देंगे। उन्होंने एक स्फुलिंग छोड़ दी। पर यह क्या? स्फुलिंग तो तिनकेको स्पर्श तक नहीं कर पा रही है। अग्निदेवने सैकड़ों-करोड़ों स्फुलिंगें छोड़ीं। पर तिनके पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। विस्मय! महा विस्मय!! महा तेजधारी अग्निदेव स्वयं तिनके पर टूट पड़े, पर तिनका तो ज्योंका त्यों अखंडित बना रहा।

अग्निदेवका दर्प चूर्ण हो गया। वे सिर नत किए हुए देवताओंकी सभामें लौट गए। उन्होंने म्लान मुख, लज्जाके स्वरमें कहा—"मेरी सर्वज्ञता, मेरी दाहकताका दर्प चूर्ण हो गया। वह विराट पुरुष कोई रहस्यमय पुरुष है, उसने एक ही झटकेमें मेरे तेजको—मेरे प्रतापको तुच्छ बना दिया।"

अग्निदेव म्लान-मुख एक कोनेमें जाकर बैठ गये। देवता स्तब्ध हो गए। सभामें घोर शांति छा गई। सब मन ही मन सोचने लगे—"कौन है वह रहस्यमय पुरुष, विराट् पुरुष! क्या देवताओंमें ऐसा कोई नहीं, जो उसका परिचय प्राप्त कर सके।"

अब सबकी दृष्टि पवन देव पर पड़ी। देवराज इन्द्रने सबके परामर्शसे पवन देवको निकट बुलाकर कहा—"पवनदेव ! अब तो आप ही उस विराट मूर्ति-पुरुषके पास जायें, और उसका रहस्योद्घाटन करें।"

पवनदेव गर्वित हो उठे, वे कुछ ही क्षणोंमें यक्षके समक्ष जाकर उपस्थित हो गए। यक्षने पवनदेवको देखते ही उनसे भी गम्भीर कंठमें प्रश्न किया—"कौन हो तुम !"

पवनदेवने उत्तर दिया—"सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें विचरणकी शक्ति रखने वाला मैं पवन-वायु देव हूँ।"

यक्ष हँस पड़ा, और हँसते ही हँसते बोला—"बहुत अच्छे हैं आप ! पर क्या आप बता सकते हैं, कि आपकी शक्ति आपमें किस रूपमें निवास करती है।"

पवनदेवकी शक्ति ! विश्वमें किसे पवनदेवकी शक्ति ज्ञात नहीं है ! पवनदेव क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने तीव्र स्वरमें उत्तर दिया—"मेरी शक्तिका स्वरूप ! जानना चाहते हो, मेरी शक्तिका रहस्य ! यह जो जगत दिखाई पड़ रहा है, मैं इसे क्षण मात्रमें उड़ा ले जा सकता हूँ।"

यक्षने कृत्रिम रूपसे विस्मय प्रगट करते हुए कहा—"बड़े महिमावान् हैं आप ! कृपया इस तिनकेको भी उड़ा ले जाइये, जिसे मैं आपके समक्ष डाल रहा हूँ।"

यक्षने एक तुच्छ तिनका पवनदेवके समक्ष डाल दिया। क्षुब्ध पवनदेव ! वे क्रुद्ध होकर एक साथ ही तिनके पर टूट पड़े। पर उड़ा ले जानेको कौन कहे, तिनकेमें कम्पन तक न हुआ। पवनदेव लज्जित हो उठे। वे भी विषण्ड मुख देव सभामें लौटकर गए। उन्होंने म्लान मुख घोषणा की—"सचमुच वह विराट पुरुष कोई रहस्यमय पुरुष है। उसने तो अपने एक तिनके पर ही मेरी सम्पूर्ण शक्ति तोल ली। मुझे दुख है। मैं कुछ भी जान न सका।" और पवनदेव भी सिर नत, एक कोनेमें जाकर बैठ गये।

देवता विस्मयान्वित हो उठे। अग्निदेव और पवनदेवकी अखण्ड शक्ति जिसके समक्ष तुच्छ बन गई, वह अवश्य-अवश्य कोई असाधारण है, अकल्पित हैं। पर कौन उसके रहस्य-का भेदन करे ? जब अग्निदेव और पवनदेवका ही कुछ वश न चला, तब तो अब देवराज इन्द्रको छोड़कर उसके रहस्यको भेदनेकी शक्ति किसीमें अवशेष नहीं है।

सभी देवताओंने मिलकर देवराज इन्द्रसे निवेदन किया—"हे देवराज, हे मघवा, आप हम सबमें अधिक प्रतापी, अधिक तेजवान और अधिक बुद्धिमान हैं। अब आप ही उस रहस्यमय पुरुषके निकट जाकर उससे पूछें, कि वे कौन हैं ?"

देवराज अब करें तो क्या करें ? उन्होंने जो चित्र अभी अभी देखे थे, उनसे उनके बल, तेज, और बुद्धि पर भी तुषार सा गिर पड़ा था। उन्होंने अपने सम्मानकी रक्षाके उद्देश्यसे कहा—"अच्छी बात, मैं जा रहा हूँ।"

इन्द्रने कहनेको तो कह दिया, पर स्पष्टतः उनकी आकृति दुःश्चिन्ताकी रेखाओंसे भर गई थी। वे पवनदेव और अग्निदेवके पराजय-चित्रोंको देख-देखकर आकुल हो रहे थे।

यदि अग्निदेव और पवनदेवकी भाँति वे भी पराजित हुए, तो फिर क्या उनकी मान-मर्यादा और उनकी कीर्तिका ऊँचा सिंहासन अक्षुण्ण रह सकेगा ? पर क्या हो सकता है अब ? अब तो जाना ही पड़ेगा यक्षके निकट। और इन्द्र आशंकित, विकम्पित चरणोंसे यक्षके निकट जा पहुंचे।

आश्चर्य, महान् आश्चर्य ! देवराज इन्द्र ज्यों ही मूर्तिके समक्ष खड़े हुए, मूर्ति मानो उनके सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण तेज, और सम्पूर्ण बल-विक्रमका उपहास करनेके उद्देश्यसे ही अन्तर्हित हो गई। देवराज, अवाक् देवराज उसकी ओर देखने लगे। देवराज उस समय और भी अधिक स्तब्ध, अधिक हतबुद्धि हो गए, जब उन्होंने देखा, कि विशाल मूर्ति पुरुषके स्थान पर, एक अद्भुत नारी-मूर्ति अवस्थित है। ऐसी नारी-मूर्ति, जिसके रोम-रोममें सौन्दर्य-जगतका चित्र बड़े कौशलसे चित्रित है।

उस महा तेजस्विनी किशोरीका रूप और लावण्य ! उसके रूप और लावण्यके समक्ष सूर्य और चन्द्रमाकी दीप्ति भी परिम्लान सी लगती थी। उसका स्निग्ध, शान्त, मनोरम मुखमण्डल। उसके अधरोंसे मृदु हँसी ऐसी फूट रही थी, मानों सम्पूर्ण विश्वकी मृदुता उसमें सिमटकर एकत्र हो गई हो। उसकी सरलता, शुचिता, और स्नेहमयता ! विश्वका कोई भी प्राणी उसे देखकर, उसे "माँ-माँ" कहनेसे अपनेको रोक नहीं सकता था।

देवराज इन्द्र-विजड़ित देवराज इन्द्र ! देवराज इन्द्रके भी दोनों हाथ जुड़ गए। उन्होंने श्रद्धापूर्वक उस मातृ-मूर्तिके समक्ष सिर झुकाते हुए निवेदन किया—"माँ, तुम कौन हो ? तुम्हारे पूर्व यहाँ जो विराट-पुरुष थे, वे कौन थे ?"

मातृमूर्ति मुसुकुरा उठी। उस मुसुकराहटसे ऐसा लगा, मानो दसों दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं हों। स्वयं देवराज इन्द्रके अन्तरका कोना-कोना भी आलोकित हो उठा। देवीने इन्द्रके प्रश्नका उत्तर दिया—मृदु स्वरमें, सुकोमल वाणीमें। देवीका वह मृदुस्वर ! ऐसा लगा, मानो उसमें लोक-लोकोंका माधुर्य हो, ऐसा लगा, मानो उसमें गंधर्वों और किन्नरोंके संगीतका सौष्टव हो। देवीका स्वर, देवराजके श्रवणोंसे होता हुआ उसके मर्मस्थलसे जा मिला। देवराज इन्द्रके मनमें, युग-युगोंका छाया हुआ अज्ञानतम नष्ट हो गया नष्ट हो गया।

देवीने कहा—"वत्स ! देवराज, मैं उमा हूँ, पर्वतराज हिमालयकी दुहिता, हेमाभरण-भूषिता हेमावती। जिनको तुमने यहाँ देखा है, वे स्वयं परम पुरुष थे, परमात्मा थे। मैं उन्हींकी महा शक्ति हूँ। वे ब्रह्म हैं—मैं ब्रह्मविद्या। तुम अज्ञानताके कारण अहंकारमें ग्रसित हो उठे थे, और यह सोचने लगे थे, कि तुमने अपनी शक्तिसे असुरों पर विजय प्राप्त की है। तुम उन परम पुरुषको भूल गए थे, जिन्होंने मन-मानसमें प्रविष्ट होकर असुरोंसे युद्ध करनेके लिए तुममें शक्ति और साहसका संचार किया था। तुम्हारी उसी अज्ञानताको तुम पर प्रगट करनेके लिए आज यहाँ प्रगट होकर उन्होंने तुम्हारे दर्पको चूर्ण किया है—सत्पथ पर चलनेके लिए तुम्हें प्रेरणा प्रदान की है वत्स ! अब तुम्हारा हृदय अहंकार और अज्ञानसे शून्य है। अब तुम वस्तुतः शुद्ध-बुद्ध इन्द्र हो।"

इन्द्रके मस्तकका किरीट देवीके चरणों पर पुष्पकी भाँति गिर पड़ा। देवी अदृश्य हो गईं—अन्तर्धान !

●

"हमें चाहिए, कि दुःखोंकी संभावनाओंसे विचलित न हों, दुःखोंकी संभावनाओंको ही दबायें। हमें चाहिए, कि हम सुखोंकी अधिक आशा न करें। नहीं तो, हमारी आशायें निराशाओंमें बदली नहीं, कि वेदना उभरी। हम अधिक सुखोंको आशा ही क्यों करें? क्यों न यह धारणा बनालें कि जो सुख मिल जाये, वे ग्राह्य और स्वप्न-सुख अग्राह्य हैं।"

सुखी समाज-एक विचार-निदान

श्रीहरिभाऊ उपाध्याय

सुख और शान्ति केवल इस युगके ही मानवकी आवश्यक्तायें नहीं हैं, युग युगसे मनुष्य इनके लिये प्रयत्नशील रहा है। आदि पुरुषसे लेकर नवतम पुरुष तक सुख-शान्तिको चाहते रहे हैं। आजके युगमें और आनेवाले युगोंमें भी मनुष्यको इनकी बहुत आवश्यकता है। आबाल वृद्ध सभी इसके लिये प्रयास करते हैं। कहना न होगा कि इनमेंसे अधिकांश प्रयत्न-विफल होते आये हैं। सतत प्रयत्नोंके करते रहने पर भी कुछ लोग ही सुख-शान्ति प्राप्त कर पाते हैं।

आखिर ऐसा क्यों होता है? क्यों न सभी मनुष्य सुखी और शान्तिमय होते हैं—इसका उत्तर पानेके लिये हमें इस बात पर विचार करना होगा कि मनुष्य सुख क्यों चाहता हैं, क्यों उसका मन शान्ति-शान्तिकी रट लगाये रहता है। मानव जीवन संघर्षमय है। किसी सीमा तक जीवन और संघर्ष पर्यायवाची शब्द बन गये हैं। जन्मसे लेकर मृत्यु तक, उत्पत्तिसे विलय तक, संघर्ष ही संघर्ष है। साथ ही संसार द्वन्द्वमय है, यहाँ हर शब्दके विपरीतार्थक शब्द होते हैं। अतः जन्मसे एक ही परिस्थितिमें रहकर मानव-मन ऊब उठता है, कष्टोंसे व्याकुल होने लगता है। इसी मनके ऊबनेके स्थान पर वह शान्ति और कष्टोंकी असहनशीलताके स्थान पर सुख चाहता है। यदि जीवन संघर्षमय न होता, यदि शरीर साधनके लिये कोई कष्ट न उठाना पड़ता तो प्रगट है कि न तो किसीको शान्तिकी आवश्यकता होती, और न कोई सुखका अभिलाषी बनता। ठीक उसी प्रकार

जिस प्रकार रातके बिना दिनका कोई मूल्य नहीं, और अंधकारके बिना प्रकाश व्यर्थ है। दूसरे शब्दोंमें संघर्ष शून्यता ही शान्ति और कष्टोंका अभाव ही सुख है।

ऊपरके परिच्छेदसे यह निष्कर्ष निकला कि सुखका सम्बन्ध शरीरसे तथा शान्तिका सबन्ध मनसे, और फिर आत्मासे है। सुख कैसे प्राप्त किया जाता है? मेरे विचारमें शारीरिक आवश्यकताओंकी सम्यक् पूर्तिसे सुख मिलता है, दूसरे शब्दोंमें इंद्रियाँ विषयोंमें सुख देखती हैं। अतः इंद्रियों द्वारा विषयोंसे तृप्त होनेमें सुख प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ किसी एक विषयमें एक इंद्रियकी अल्पांश भी अतृप्ति हुई कि वह दुःख, वेदना आदि पुकार उठता है। अगला प्रश्न है कि इन्द्रियाँ क्यों अतृप्तिका अनुभव करती हैं? इसके दो प्रमुख कारण हो सकते हैं। एक विषय-वस्तुका अभाव अर्थात् उत्पादनकी कमी, और दूसरा—वितरणमें असमानता। आज देशमें जिस दरसे जन-संख्या बढ़ रही है, उस दरसे उत्पादन नहीं। मेरा प्रयोजन यह नहीं कि उत्पादनमें बढ़ोत्तरी नहीं हो रही हैं। बढ़ोतरी हो रही है और पिछले १९ वर्षोंमें उत्पादन बढ़ता ही रहा है। (इसका कारण केवल जन्मदरका बढ़ना ही नहीं, समय समय पर बर्मा, लंका या पाकिस्तान आदि देशोंसे लाखोंकी संख्यामें आये हुए शरणार्थी भी हैं)। यदि यह कहा जाय कि देशमें प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. मार्शलका जन- संख्याका नियम लागू हो रहा है, (जन-संख्याका गुणोत्तर श्रेणीमें और उत्पादनका समान्तर श्रेणीमें बढ़ना)— तो अत्युक्ति न होगी। ऐसी दशामें इन्द्रियोंके विषय-पूर्तिमें अभाव होना स्वाभाविक ही है। यदि यह अभाव नहीं हो तो कोई कारण नहीं कि भारतीय समाज सुख-विहीन हो जाय।

दूसरा और पहलेसे भी प्रमुख कारण है वितरणमें असमानता। जिस समाज या देशमें वितरणमें समानता न होगी, वहाँ उत्पादन कितना ही क्यों न बढ़े, लोग सुखी नहीं रह सकते। यहाँ वितरणमें समानताका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक मनुष्यको बराबर उत्पादन-भाग मिलने लगे। बल्कि यह प्रयोजन है कि हर मनुष्यको उसकी आवश्यकता की पूर्ति योग्य उत्पादनांश मिले। स्पष्ट है कि हर मनुष्यकी आवश्यकताएं समान व एक जैसी नहीं होतीं। अतः वितरण बराबर नहीं हो सकता। हाँ, पूर्वोक्त अर्थोंमें समान अवश्य होना चाहिये। यदि वितरण समान हो— जो कि समाजवादका प्रमुख उद्देश्य है, तो थोड़े उत्पादनमें ही लोग सुखी रहने लगें, ठीक उसी प्रकार जैसे एक कुटुम्बके लोग थोड़ी वस्तुमें यथा योग्य बाँटकर खाते और सन्तोष लाभ करते हैं।

आज प्रत्येक भारतवासीका कर्तव्य है कि वह दोनों- उत्पादनकी वृद्धि और वितरणकी समानताकी ओर अधिकसे अधिक ध्यान देकर अधिकसे अधिक इन दोनों ध्येयोंकी उपलब्धिके लिये प्रयत्नशील रहे। प्रत्येक देशवासी तन मनसे सहयोग दे। यदि हम सभी सामूहिक रूपसे प्रयत्न करें तो कोई कारण नहीं कि ये कठिनाइयाँ दूर न हों अर्थात् यह कि, उत्पादन न बढ़े और वितरण में समानता की मात्रा न बढ़े। इन दोनों उपलब्धियों को पाकर हर भारतवासी सुख प्राप्त कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

दूसरी समस्या है हमारे सामने शान्ति प्राप्ति की । जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है— शान्तिका संम्वध मन और आखिरमें आत्मासे है । शान्तिके अभावका कारण है मनका अनियंत्रित होना । जरा सी वेदना हुई कि मनमें ज्वार सा आ गया, जरा सी कड़वी बात सुनी, कि मनमें क्षोभ उमड़ पड़ा, जरा सा लोभ सामने आया कि मनमें लालच तरंगे लेने लगा । इन सबके पीछे क्या है ? अशान्ति. केवल अशान्ति । यही नहीं, थोड़ा सा सुख लाभ हुआ कि मनमें खुशीका पारावार उमड़ पड़ता है । परिणाम क्या होता है ? इस सुख लाभमें जहाँ जरा सी कमी आई नहीं कि मन व्यथासे चीख उठता है । यदि मन पर पूर्णतः नियंत्रण रखा जाय तो आत्मामें शान्ति ही शान्ति है । नियंत्रणसे तात्पर्य है कि सुख व दुःख दोनोंको ही तटस्थ भावसे देखना चाहिये, दुःखसे विचलित न होना और सुखमें छलक न पड़ना । हमें चाहिए कि हम दुःखोंकी सम्भावनासे विचलित न हों, दुःखोंकी सम्भावनाको ही दबायें। हमें चाहिए कि हम सुखोंकी अधिक आशा न रखें । नहीं तो हमारी आशाएँ निराशाओंमें बदली नहीं, कि वेदना उभरी । हम अधिक सुखों की आशा ही क्यों रखें ? क्यों न यह धारणा बना लें कि जो सुख मिल जाये वे ग्राह्य और स्वप्न सुख अग्राह्य हैं। इस प्रकार यदि मन पर नियंत्रण रहा तो अवश्य ही शान्ति लाभ होगा ।

सुख और शान्ति दो अलग तत्व होते हुए भी परस्पर सम्वन्धित हैं । इनके आपसके सम्वन्ध उसी प्रकार परस्पर जकड़े हुये हैं, जिस प्रकार शरीर और आत्मा के । दोनों एक दूसरेके पूरक हैं । अतः किसी एक की प्राप्तिके लिये दूसरेकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, हमारे लिये दोनों ही प्राप्य हैं ।

●

कर्मका रहस्य

दूसरोंके दोषों और अवगुणोंकी ओर देखनेमें आप जितना समय लगाते हैं, उतना अपने दोषोंके निरीक्षण तथा आत्म परिष्करणमें लगाइये । आप अपने चरित्रका गठन करेंगे, अपने आचरणको पवित्रताके सांचेमें ढालेंगे, तो समाज अपने ही आप परिष्कृत और चरित्रवान बन जाएगा ।

आप स्वयं पवित्र आचरण बनानेके उद्योगमें संलग्न हों, यही कर्मका रहस्य है ।

—स्वामी विवेकानन्द

"भगवान श्रीकृष्ण अनादि और अव्यक्त पुरुष हैं। उनकी लीलाओं, कार्यकलापों, और उनके संदेशों तथा वाक्योंके प्रति हम सबकी प्रगाढ़ श्रद्धा है। फिर यह बात सत्य क्यों नहीं हो सकती कि आज भी वे अपने सखाओं, भक्तों, और प्रेमियोंके साथ वृन्दावन में निवास करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णका ही एक आशीर्वादात्मक वाक्य है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—"वृन्दावन मुझे सबसे अधिक प्रिय है। मैं प्रति क्षण वृन्दावन में निवास करता हूँ।"

वृन्दावनके देवता

श्रीशिवानाथ त्यागी

स्वर्गके देवता चिर-प्रसिद्ध हैं। स्वर्गके देवताओंके स्तवनमें अनेक भक्तों, आचार्यों, और श्रद्धालुओंने विभिन्न रूपोंमें अपने भाव-चित्र भी अंकित किए हैं। अनेक कलाकारोंने, पाषाणों और भित्तियों पर उनके भाँति-भाँतिके चित्र चित्रित करके अपनी 'कला'को सार्थक करनेके साथ ही साथ अपने मानव जीवनको भी सफल बनाया है। इसी प्रकार अनेक शब्द-शिल्पियोंने भी, अपने शब्दों, भाषा, और भावोंकी तूलिकासे, उनका चित्रांकन करके, अपनी मानवताको अमर बनानेका यत्न किया है। देवालयों, और उपासना-प्रतिष्ठानों में, स्वर्गके देवताओंकी विभिन्न प्रकारकी मूर्तियाँ स्थापित हैं, जो वंदन, अर्चन, और स्तवनकी दृष्टिसे अत्यधिक पूज्य हैं। प्रतिदिन संध्या, प्रातः या विशेष धर्म-पर्वों और तिथियों पर उनके प्रति जो भाव-पुष्प अंजलियाँ अर्पितकी जाती हैं, उनमें अनजाने ही सही, कुछ क्षणोंके लिए श्रेष्ठ मानवताकी अनुभूतियाँ साकार हो उठती हैं।

पर हम सबकी दृष्टि केवल मंदिरों की देहलीके भीतर ही रह जाती है। हम सब अपने स्वर्गके देवताओंकी अक्षयता और अमरताको जानते हुए भी उनमें विश्वास नहीं करते। यही कारण है, कि हम सब जब अपने देवालयों, और पूजा-प्रतिष्ठानोंसे बाहर निकलते हैं, तो हमारे नयनोंकी झाँकीमें वह 'गंगा जल' नहीं होता, जिसकी 'बूँद' मात्रसे देवता तृप्त हो जाते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि हमने अपने देवताओंकी सीमा अपनी ही भाँति बहुत छोटी बना ली है। यही कारण है, कि मंदिरों और पूजा-प्रतिष्ठानोंको छोड़कर, और न तो कहीं हम अपने देवताओंको ढूँढ़ते हैं, और न वे हमें प्राप्त ही होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अनादि, और अव्यक्त पुरुष हैं। उनकी लीलाओं, कार्यकलापों, और उनके संदेशों तथा वाक्योंके प्रति हम सबकी प्रगाढ़ श्रद्धा है, फिर यह बात सत्य क्यों नहीं हो सकती कि आज भी, वे अपने सखाओं, भक्तों और प्रेमियोंके साथ 'वृन्दावन'में वास करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णका ही एक आशीर्वादात्मक वाक्य है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

"वृन्दावन, मुझे सबसे अधिक प्रिय है। मैं प्रति क्षण वृन्दावनमें निवास करता हूँ।"

भक्तों, आचार्यों, और प्रेमियोंने भी वृन्दावनकी प्रार्थनामें, अपनी भावनुभूतियोंके शत-शत श्रद्धा-दीपक जलाए हैं। बाबा नागरी दासके दीपककी लौमें, उनके प्राणोंका ही स्वर जगमगा रहा है—

"ब्रज-सुख चलु 'नागर' लुभायो मन,
हमको न भायो यहाँ बैकुंठ को आयबो।"

'व्यास' तो वृन्दावन की भावार्चनामें सबको पीछे छोड़ गए हैं। वे अनुभूतियोंके ही सागरमें डुबकियाँ लगाकर कहते हैं—

"चार पदारथ करत मजूरी, मुक्ति भरै जहँ पानी।
करम धरम दोउ बटत जेवरी, घर छावैं ब्रह्मासे ज्ञानी।"

कोई भी यह कहनेका साहस नहीं कर सकता, कि उक्त वाक्यों, और पंक्तियोंमें वास्तविकता नहीं है, क्योंकि आज भी वह 'वृन्दावन' विद्यमान है, जहाँ 'चारों पदार्थ' मजदूरी करते हैं, और जहाँ 'ब्रह्मा' ऐसे ज्ञानी भी 'श्रमिक'का कार्य करते हैं। देखने, और जानने वाले आज भी 'वृन्दावन' में उक्त वाक्योंकी चरितार्थता पाते हैं। जिस किसीने तलवारकी धार पर चलनेका साहस किया, उसने अपनी इन्हीं आँखोंसे इन पंक्तियोंके वास्तविक चित्र भी देखे, "आज भी भगवान् श्रीकृष्ण, आराध्या श्रीराधिका, और गोप-गोपियोंके साथ वृन्दावनमें रासलीला करते हैं।"

वृन्दावनके मध्यमें एक सघन कुंज है, जिसे 'सेवा कुंज' कहते हैं। अब तो 'सेवा-कुंज'की सघनलताओं, बल्लरियोंकी छँटाई कर दी गई है, और उसे एक नया रूप प्रदान करनेकी चेष्टाकी जा रही है, पर कुछ वर्षों पूर्व वहाँ लताएँ ही लताएँ थीं। मंदिरमें पहुँचनेके लिए पग-पग पर उन लताओंको हाथोंसे हटाना होता था। लताओंको हटाते हुए उन डालियों, शाखाओं, और मूलों पर भी बरबस दृष्टि पड़ ही जाती थी, जो युगोंसे वृन्दावनमें खड़े-खड़े 'तप' करते हुए श्याम रंगमें डूब गए थे। मन विभोर हो जाता था उन लताओं, डालियों, शाखाओं, और मूलोंको देखकर। आँखोंके सामने स्वतः एक चित्र अंकित हो जाता था, महान् चित्र, अपूर्व चित्र, युग-युगोंकी अनुभूतियोंका संचित वह पावन चित्र, जिस पर मानवता गर्व करती है।

सेवा कुंजके सम्बन्धमें यह जन-श्रुति है, कि भगवान् श्रीकृष्ण आज भी, रातमें, अपने प्रिय सखा, और सखियोंके साथ 'कुंज'में रास करते हैं। कुछ वयोवृद्ध, साधक,

और भक्तोंके मुखसे यह बात भी सुननेको मिलती है कि उन्होंने स्वयं रासलीलामें ध्वनित वाद्योंकी गूँज अपने कानोंसे सुनी है। यह बात तो प्रत्यक्षत: देखनेको मिलती है, कि बन्दर इत्यादि जीव, जो दिनमें कुंजके भीतर रहते हैं, सायंकाल होते ही बाहर निकल जाते हैं। भक्तों, साधकों, और प्रेमियोंका कथन है, कि कोई भी प्राणी, आजके युगमें, अपनी वाह्य आँखोंसे भगवान् श्री कृष्णकी रासलीलाको नहीं देख सकता। पर दो बंगाली साधक अपनी श्रद्धा और भक्ति-भावना पर नियंत्रण न रख सके। कहा जाता है, कि वे सेवाकुंजकी सघनलताओंमें छिपकर बैठ गए, और सायंकालके पश्चात् भी कुंजसे बाहर न निकले। रातमें उन्होंने जो कुछ भी देखा हो, पर प्रातः काल उन्हें जब देखा गया, तो वे चेतना-शून्य थे, और इंगितोंसे कुछ कहकर निष्प्राण हो गए।

'सेवाकुंज'के अतिरिक्त वृन्दावनमें और भी कई विशिष्ट तथा पावन स्थल हैं, जहाँ रातमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा रास करनेकी बात कही जाती है।

एक दुर्लभ चित्र तो स्पष्टत: देखनेको मिलता है। वह चित्र है भक्ति, प्रेम, और दार्शनिकताकी अजयताका, जो वृन्दावनमें पग-पग पर चित्रित है। आजके युगकी उस भौतिक वीभत्सतासे वृन्दावन आज भी अछूतासा है, जिसने भारतके नगरोंको ही नहीं, बहुतसे तीर्थ स्थानोंको भी अपने आवरणसे ढँक रक्खा है। सड़क-सड़क पर शान्ति, गली-गलीमें, "जय श्रीराधे श्याम" और "जय श्री जी" का स्वर—यह केवल, इस धरती पर वृन्दावनमें ही मिलेगा। जो भी वृन्दावन जाता है, वृन्दावनको छोड़ते समय उसकी आँखें सजल हो जाती हैं। लगता है, मानों वह अपने किसी दुर्लभ प्रियकी आनन्द-स्थलीको ही छोड़ रहा हो। वस्तुत: शरीरके भीतरकी आत्मा, अपने प्रियतम श्री कृष्णकी आनन्द-स्थली, वृन्दावनको छोड़ते हुए अधीर हो उठती है। वृन्दावनके किसी भी यात्रीके नयनोंके वे आँसू। उनमें भगवान् श्रीकृष्णके ही 'प्रेम' औ 'भक्ति'के अनुपम भावचित्र होते हैं।

फिर विस्मयकी वात क्या, यदि वृन्दावनमें देवता निवास करते हों। जब वृन्दावनमें भगवान् ही प्रतिक्षण निवास करते हैं, तब भला देवता क्यों न निवास करेंगे? कई पुराणों और धर्म-ग्रंथोंमें यह वात पढ़नेको मिलती है, कि स्वर्गके देवता वृन्दावनमें वनकी लताओं, तरुओं, और शाखाओंके रूपमें आज भी निवास करते हैं। पर हम जिन देवताओं की यहाँ चर्चा करने जारहे हैं, वे तो जीते जागते, और प्राणमय हैं। हो सकता है, कि स्वर्गके देवता उनके रूपमें जन्म लेकर, वृन्दावनकी गलियों, और सड़कों पर विचरण करनेका महान आनंद प्राप्त कर रहे हों। जब वे वृन्दावनमें निवास करनेके लिए तरु, मूल, शाखा, और लताएँ बन सकते हैं, तब वे मनुष्य क्यों नहीं बन सकते?

प्रभात होने पर, सूर्यकी आभा फूटनेके साथ ही, बड़ी सरलतासे वृन्दावनकी गलियों, और सड़कों पर इन देवताओंको देखा जा सकता है। भाल पर श्वेत तिलक, गलेमें तुलसीकी माला, कंधे पर कंथा, हाथमें पात्र, और मुँहमें 'राधेश्याम'। वृन्दावनकी किसी भी गलीमें, किसी भी सड़क पर, इनका दर्शन किया जा सकता है। इनमें स्त्री और

पुरुष-दोनों ही होते हैं। हो सकता है, आजके वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ उन्हें 'याचक' कहकर अपनी प्रभुता, और 'अहं'के प्रदर्शनका यत्न करें, पर यदि उनके अंतस्‌में प्रविष्ट होकर देखा जाय, तो वहाँ स्वर्गीय प्रेम और भक्तिको छोड़कर और कुछ न प्राप्त होगा—किसी-किसीके प्रेम और भक्तिको देखकर तो वस्तुतः स्वर्गकी सम्पदाको भी भूलजानेके लिए विवश होना पड़ता है। अतः विस्मय नहीं मानना चाहिए, यदि उन्हें देवताओंकी संज्ञासे विभूषित किया जाए।

प्रभातका समय था। सूर्यकी किरणें निकल चुकी थीं। हठात् धर्मशालाका द्वार मुखरित हो उठा—"राधेश्याम, जय गोविन्द।" एक वृद्धा तपस्विनीका स्वर था। गेरुआ वस्त्र, हाथमें पात्र, एक छड़ी, और आकृति पर सौम्य भाव। कमरेमें आ गईं, श्रीकृष्णकी चर्चा चली। चर्चाके साथ ही अश्रुके पनारे बह चले, और देखते ही देखते मूर्च्छित हो गईं। कुछ देरमें स्वस्थ हुईं, और मधुकरी लेकर चली गईं। आज भी वे हैं। प्रतिदिन तीन घरोंमें ही मधुकरी लेती हैं। श्रीकृष्ण भगवान् ही उनके सर्वस्व हैं। श्रीकृष्णके लिए ही वे जीवित हैं। उनका भगवान् श्रीकृष्णके साथ वैसा ही सम्बन्ध और व्यवहार है, जैसा हम सबका अपने कुटुम्बके प्रियजनोंके साथ होता है। उनकी श्रेष्ठ अनुभूतियों और भाव-सम्पदाओंको देखकर भी उन्हें देवताओं- देवियोंसे कम प्रतिष्ठा दी जाय, तो यह उनके साथ नहीं, अपनी ही आत्माके प्रति वंचकता होगी।

एक दूसरे दिन एक वृद्ध पुरुष भी इसी रूपमें देखनेको मिले। श्रीकृष्ण भगवानके प्रेममें जब उनकी आँखोंसे आँसू चलने लगे, तो उन्हें देखकर 'अहं' के ऊँचे-ऊँचे कगार तक ढ़ह गए। वे भी बालकोंकी भाँति सुबकते-सुबकते अचैतन्य होकर 'चैतन्य' बन गए। उनकी भावानुभूतियाँ ऐसी थीं, जिन पर वस्तुतः दैवत्वको निछावर किया जा सकता था। यह दो चित्र तो केवल दृष्टांतके लिए हैं। वृन्दावन की सड़कों और गलियोंमें कितने ही ऐसे जन विचरते हैं, जिनके भीतर इस प्रकारके देव-दुर्लभ चित्रोंको अंकित करने वाला "जागृत प्रेम" अदृश्य रहता है। वृन्दावनमें कितने ही श्रेष्ठ भक्त, आचार्य और संत निवास करते हैं, जिनके प्रेमको देखकर यदि देवताओंके मनमें भी स्पृहा उत्पन्न हो उठती हो तो विस्मय नहीं। उनका वह 'प्रेम' स्वर्गीय होता है—अलौकिक होता है। फिर कौन है, जो उन्हें स्वर्गके देवताके नामसे न पुकारने का अपराध करेगा?

राम नाम

सत गुरु संग न संचरा, राम नाम उर नांहि।
ते घट मरघट सारिखा, भूत बसैं ता मांहि॥
राम नाम ध्याया नहीं, हूआ बहुत अकाज।
'दरिया' काया नगर में, पंच भूत का राज॥

"सत्य और ब्रह्मचर्यको हर उपनिषद्ने बड़े सम्मान और आग्रहसे अपनाया है। ब्रह्म बाहरसे कुछ और, और भीतरसे कुछ और न होकर सर्वदा एक रस है। वह नमककी डलीके समान व्यवधान-शून्य, और अविच्छिन्न है। समस्त उपनिषद् साहित्यमें इसी विज्ञानका प्रस्तार है।"

तत्त्व चिन्तनकी दिशाएँ

श्रीदेवदत्त शास्त्री

ब्रह्मविद्याका उद्भव और विकासका युग तत्त्वचिन्तनका युग रहा है। उस समय जो तत्त्वचिन्तन हुआ, उसमें स्वच्छन्द प्रतिभा, उर्वर मस्तिष्कका पूर्ण प्रभाव रहा है। यही कारण है, कि तत्त्वचिन्तनकी दिशामें धार्मिक और सामाजिक सुधारोंकी एक ऐसी नई लहर पैदा हुई, जिसने वाह्याडम्बरों और दकियानूसी विचारोंको छिन्न-भिन्न करती हुई समाजमें तात्त्विक चेतनाका उदय किया।

व्यापक बुद्धिवादी प्रभाव ब्रह्मविद्या या उपनिषद् चिन्तनकी दृष्टिमें देवताओं और यज्ञोंकी उपासनाको आडम्बर समझा गया। 'प्लवा एते अदृढा यज्ञ रूपा: कहकर उस ब्रह्म-विद्याने यज्ञको टूटी हुई नाव बताया और इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओंकी उपासनाके स्थान पर एकमेवब्रह्मकी स्थापना और उपासनाकी नई दिशाका बोध कराया।

ब्रह्मविद्याकी इस तत्त्वचिन्तनकी दिशासे हमें एक नये आचरण-मार्गका उपदेश मिलता है, जिसमें शुचिता, संकल्प-दृढ़ता, जितेन्द्रियता, शक्ति, सत्य, ज्ञान, और विज्ञान द्वारा समाहितचित्त होकर परब्रह्मकी प्राप्तिका साधन और आत्मदर्शन—आत्मदर्शनकी प्रभाविक प्रेरणा है।

ब्रह्मविद्याके प्रतिपादक उपनिषद्में हमें उर्वर मस्तिष्क और सन्तुलित चेतनाका अपूर्व संगम दिखायी पड़ता है। एक स्थान पर जहाँ नायमात्मा बल हीनेन लभ्य: कहकर आत्मबलकी प्रधानता और महत्ता बतलायी गई है, वहीं दूसरे स्थान पर यह भी कहा गया है कि 'यह आत्मा न उपदेशोंसे मिलता है, न स्वाध्यायसे, और न मेधासे मिलता है, बल्कि यह जिसे वरणकर लेता है, वही उसे पा लेता है। उसके सामने यह आत्मा अपनेको खोल देता है।

इस कथनसे यह तात्पर्य निकलता है, कि उपनिषद् एक ओर जहाँ तपके अभावमें आत्मज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ बतलाती है, वहीं आत्माकी सहज कृपाका उल्लेखकर भक्ति-भावनाका भी समर्थन करती है। लेकिन आत्माके स्वरूपका विवेचन करना ही ब्रह्मविद्या के तत्त्वचिन्तनकी दिशा मुख्य है। इसलिए उपनिषदोंमें बुद्धिवादी तत्त्वोंका प्रचुर प्रभाव है। कदाचित् यही कारण है, कि मानवचिन्तनके इतिहासमें उपनिषदोंका महत्त्व सर्वोपरि प्रतिस्थापित हुआ है। सभी भारतीय धर्मों और सम्प्रदायोंमें उपनिषद्का महत्त्व निर्विरोध स्वीकार किया गया है।

ब्रह्मविद्याका गूढ़ सिद्धान्त एक ऐसा मध्य बिन्दु है, जिसमें भारतीय-दर्शन, और सिद्धान्त तो समाहित ही है, ईरानके सूफ़ी, नवप्लेटानिकों, अलैक्जैण्ड्रियन और क्रिश्चियनके रहस्यमय थिओसाफिकल 'लोगोस' के सिद्धान्त और ईसाई रहस्यवादी एरकर्ट एवं टेलरके उपदेश तथा शोपेनहरके दार्शनिक विचार भी उपनिषद्से प्रेरित और प्रभावित हैं।

लक्ष्यकी एकता—ब्रह्मविद्या एक ब्रह्मकी अभिव्यक्ति है, और उसमें ब्रह्मवादी विचारोंके उपदेश ही सन्निहित हैं। ब्रह्मविद्याके प्रतिपादक उपनिषद् साहित्यके अध्ययनसे ज्ञात होता है, कि विभिन्न व्यक्तियों, सम्प्रदायों, चरणों, परिषदोंके भिन्न-भिन्न विचारव्यूह होते हुए भी सभी उपनिषदोंका लक्ष्य एक है। विभिन्न दृष्टिकोणों, और पहलुओंसे संसारकी वास्त-विकताको देखना, उसकी खोज करना ही इनका स्पष्ट लक्ष्य है। अनेक उपनिषदों द्वारा खोजे गए इस लक्ष्यके प्रति अनुसन्धान करने वालोंकी गहरी निष्ठा और ईमानदारी टपकती है। उपनिषदोंकी सबसे बड़ी विशेषता तात्पर्यकी एकता है। सभीकी चिन्तनाका यही परिणाम निकलता है कि—'स्थूल सृष्टि और अनेक प्राकृतिक शक्तियोंसे परे एक चेतन—सृष्टि है, जिसे ब्रह्म कहा जाता है। इस परिणामको निकालनेमें सभी उपनिषद्कार एक मत हैं, जबकि मुख्य प्रतिपाद्य विषय तत्त्व-चिन्तनके अतिरिक्त अनेक स्फुट विचार ऐसे हैं, जिनमें अनात्मवादी तत्त्व भी निहित हैं।

तात्पर्यकी एकता—आत्माकी सर्वात्मकता, एकरूपता बताना, तथा जीवात्मा और परमात्मामें वास्तविक भेदका अभाव बतलाना, और सत्-चित्-आनन्द रूप आत्माकी एकरसरूपताका अनुभव कराना, ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन करानेवाली उपनिषदोंका लक्ष्य है। जितनी भी उपनिषदें उपलब्ध हैं, उन सबमें यत्र-तत्र विचार-वैषम्य होते हुए भी उनके तात्पर्यकी एकता विशिष्ट महत्व रखती है।

सत्य और ब्रह्मचर्यको हर उपनिषद्ने बड़े सम्मान और आग्रहसे अपनाया है। 'ब्रह्म 'बाहरसे कुछ और भीतरसे कुछ और न होकर सर्वदा एकरस है। वह नमककी डलीके समान व्यवधानशून्य और अविच्छिन्न है'—समस्त उपनिषद् साहित्यमें इसी विज्ञानका प्रस्तार है। विविध देहोंमें स्थित आत्माकी एकताका प्रतिपादन करना—ब्रह्मविद्याका महान् तात्पर्य रहा है।

जीवात्मा और परमात्माकी अभिन्नता बतानेमें सभी उपनिषद् एकमत हैं। ईशा-वास्य उपनिषद् कहती है कि—'जो सब भूतोंको आत्मामें ही देखता है, तथा सब भूतोंमें

आत्माको, ही देखता है, वही इस सर्वात्मभावके दर्शनके कारण किसीसे घृणा नहीं करता है ।

कठोपनिषद् कहती है कि, 'जो एक, सबको अपने वशमें रखनेवाला और सभी जीवों का अन्तरात्मा है तथा जो अपने एकरूपको नाना रूपोंमें व्यक्त करता है, ऐसे आत्मदेवको जो धीर-विवेकी लोग अपनी बुद्धिमें स्थित हुआ देखते हैं, उन्हींको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है । अन्यको नहीं ।'

केनोपनिषद् कहतो है कि— 'जो वाणी द्वारा व्यक्त नहीं होता, वल्कि वाणी ही जिसके द्वारा अभिव्यक्त हुआ करती है, उसे तुम ब्रह्म समझो । देशकालकी सीमाओंसे वँधी हुई जिस वस्तुकी उपासना अज्ञानी लोग करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।'

मुण्डक उपनिषद् बतलाती है कि—'जो अज्ञानरहित, शरीररहित, गुणरहित, शुद्ध एवं अविनाशी आत्माकी उपासना करता है, वह उस परम अक्षर, ब्रह्मको प्राप्त करता है । वह सर्वज्ञ और सर्वरूप बन जाता है ।'

उस जाननेयोग्य आत्माका परिचय और स्वरूप बताते हुए माण्डूक्य उपनिषद् कहती है कि—'आत्मा न तो तेजस् स्वरूप है और न विश्वरूप ही है । जाग्रत और स्वप्नके बीच की अवस्था भी वह नहीं है । और न सुषुप्तावस्थारूप है । वह सभी विषयोंका प्रज्ञाता, चेतन रूप नहीं है, और न अचेतनरूप ही है । न तो वह दृष्टिका विषय है और न व्यवहारका । उसे हाथों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है । उसकी कोई परिभाषा नहीं बनाई जा सकती है । वह अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है । सभी अवस्थाओंमें एकात्मप्रत्ययरूप है । प्रपंचसे उत्पन्न धर्मोंका उसमें अभाव है । वह शान्त है, शिव है, अद्वैत है ।'

अग-जग सभीके आधारभूत-प्रज्ञान ब्रह्मको बताती हुई ऐतरेय उपनिषद् कहती है कि-'जितना भी जंगम जीव समुदाय है, जितने पक्षी हैं, और जो यह स्थावर जगत् है, वह प्रज्ञाद्वारा ही देखा जाता है । वह सब कुछ प्रज्ञानमें ही प्रतिष्ठित है । समस्त लोकका प्रज्ञान एक है । प्रज्ञा ही उसकी प्रतिष्ठा है । प्रज्ञान ही ब्रह्म है ।'

एक ही वाक्यमें छांदोग्यउपनिषद् यह कह कर कि— 'एतद्रूप ही' सबकुछ है । यह सत्य है, यह आत्मा है, यह तुम हो'-आत्मवादकी चरमसीमा पर प्रतिष्ठित कर देती है ।

इसी ढंगसे तैत्तरीय उपनिषद् कहती है कि— 'यह जो पुरुषमें है, और यह जो आदित्यमें है-यह एक है ।'

श्वेताश्वतरका कहना है कि—'जो कलारहित, कर्मरहित है, शान्त निर्दोष और निर्लिप्त है, जो अमृतका सर्वोत्तम सेतु है और जिसका ईंधन जल चुका है, उस धूमादिशून्य अग्निके समान वह दीप्तिमान है, उसे जो विवेकी अपने अन्तःकरणमें स्थित देखते हैं,उन्हींको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं ।'

अमृतब्रह्मका परिचय देती हुई बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि-'जिसमें मनुष्य, देवता, पितर और राक्षस सभी वर्ग तथा निर्विकार प्रकाश प्रतिष्ठित है, उस आत्माको ही मैं अमृतब्रह्म मानता हूँ, और उस अमृतब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत हूँ।'

उपनिषदोंके उपर्युक्त वाक्योंसे एक ही सारांश-एक ही तात्पर्य यह निकलता है, कि 'परमानन्दस्वरूप ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं। उसकी अखण्ड सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। वस्तुतः उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित यही सत्य है—यही तथ्य है।

कर्मसिद्धान्त—कर्मसिद्धान्तको लेकर दर्शनशास्त्रोंमें परस्पर वैमत्य सा प्रतीत होता है। दर्शनशास्त्र कर्मकी अपेक्षा ज्ञानको अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। दार्शनिक मान्यता है कि—सारी विपत्तियों और कठिनाइयोंकी जड़ अविद्या-अज्ञान है। परमश्रेय, परमशान्ति का केन्द्र विद्या है। जहाँ विद्या-ज्ञान हैं, वहीं शक्ति है। इसलिए चिरकालसे भारतीय दार्शनिक विद्या-ज्ञानकी खोज करता आ रहा है।

'वेद, वेदान्त, दर्शन आदि सभीने एक मत होकर यही सारांश बताया है कि परमात्मतत्त्व या मोक्ष प्राप्त करनेका केवल एक ही मार्ग है, विद्या-ज्ञान। इसलिए अविद्या से पार होकर विद्याको प्राप्त करना चाहिए। कठोपनिषद्का सिद्धान्त है कि श्रेय और प्रेय एक दूसरेसे भिन्न दो वस्तुएँ हैं। इन दोनोंसे विषय भिन्न हैं। और वे विषय जीवको अलग अलग ढँगसे बाँधते हैं। जो जीव श्रेयका वरण करता है, उसका तो कल्याण होता है और जो प्रेयको चुनता है, पुरुषार्थसे पतित बन जाता है।

इन दार्शनिक सिद्धान्तोंसे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि वेद, वेदान्त, दर्शन आदि हमें कर्मकी शिक्षा न देकर, केवल ज्ञानकी शिक्षा देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अध्यात्मदर्शनमें कर्मके लिए कोई स्थान ही नहीं है।

दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि वही वेद, वेदान्त, तथा पुराण और धर्मशास्त्र आदि आस्तिक दर्शन एवं शास्त्र पुनर्जन्मको मान्यता देते हुए पूर्वजन्मके कर्मोंका विपाक भी स्वीकार करते हैं। उनका यह भी कथन है कि—'अपने संस्कारों—कर्मोंके कारण प्राणी एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको धारण करता है। उसे जो सुख, दुःख भोगना पड़ता है, उससे ईश्वरका कोई वास्ता नहीं, वह तो उसके कर्मोंका फल है।'

तब तो यह कहा जा सकता है, कि जब स्वकर्मोंका ही परिणाम झेलना पड़ता है, तो फिर ईश्वर और उसकी सत्ता स्वीकार करने एवं ईश्वर-प्राप्तिके लिए कठिन तपःसाधना करनेकी क्या आवश्यकता है। ज्ञान-कर्मके इस भ्रम जालमें फँसा हुआ तार्किक ऐसे प्रसंगोंमें ऐसी ही तर्क-बुद्धिका सहारा लेता है। लेकिन तर्ककी काईको हटाकर हमें तनिक अधिक गहरे विचार-सागरमें डूबना चाहिए। जो कुछ गलत सही हम लोग सोचते हैं, वह सब हमारे विचारोंका परिणाम है।

वेदों और वेदान्तके रहस्यवादी प्रयोजनोंको समझनेके लिए संतुलित मस्तिष्कसे विचार करनेकी क्षमता होनी चाहिए। शास्त्रकी शैली और विचारोंको समझनेकी चेष्टा

करनी चाहिए। वेदान्तका यह कथन कि 'अज्ञानका नाश ज्ञानसे ही हो सकता है, कर्मसे नहीं—एक अर्थमें इसलिए सही जान पड़ता है कि यदि कर्मको प्रधानता देते हैं, तो निश्चित है कि अद्वैतके स्थान पर हमें द्वैतकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी और जहाँ हमारे और ज्ञानके बीच में द्वैत घुस गया, तो फिर मतिभ्रम होना स्वाभाविक हो जाता है। इस समस्याका सुझाव कठोपनिषद् करती है यह कहकर कि—'कर्म तो किए जाएँ, किन्तु निष्काम-भावसे, वासनाओंकी तृप्तिके लिए नहीं, बल्कि उनको शान्त और निर्मूल बनानेके लिए।'

इस सिद्धान्तको और अधिक स्पष्ट करती हुई ईशावास्योपनिषद् कहती है कि—'समस्त चराचर जगत् ईश्वरसे व्याप्त है। जो कुछ जगत् है, वह परमात्माकी अभिव्यक्ति है। ऐसा समझकर स्वभावत: जो मिल जाय, उसे अनासक्त भावसे ग्रहण करना चाहिए। त्यागकी भावना सदा सामने रखनी चाहिए। दूसरोंका धन हड़प लेनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार जो कर्म करता रहता है, उसे सुख-दुःख, आशा-निराशा, भय, विपत्ति लिपट नहीं सकती, इतना ही नहीं, वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है।'

वृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि—'कर्ममें संलग्न वह आत्मा समस्त प्राणियोंका आश्रय है। यजन, पूजनसे वह देवलोकका, स्वाध्याय शिक्षणसे ऋषियोंका, सन्तानोत्पत्ति कर्मसे पितरोंका, और दीन-दुखियों, पशु-पक्षियोंको भोजन देनेसे वह मनुष्यों और पशु-पक्षियों का आश्रय बन जाता है।'

सत्य बोलने, ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेके कर्म सिद्धान्त पर सभी उपनिषदें एकमत हैं। वस्तुतः सत्य और ब्रह्मचर्य ही मनुष्यके सर्वश्रेष्ठ आचार, सदाचार, आचरण और कर्म हैं। **सत्यप्रियाहिदेवाः** कहकर सत्य पर आचरण करनेका उपदेश उपनिषदोंने सर्वत्र और बारंबार दिया है। उपनिषद्कारोंने बल देकर समझाया है कि 'कोई भी यज्ञ, अनुष्ठान कर्म करनेसे पूर्व यह संकल्प किया जाए कि **इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि** अर्थात् मैं झूठको छोड़कर सत्यको ग्रहण करता हूँ।'

कर्म सिद्धान्तकी इस व्याख्यासे निष्कर्ष यह निकलता है कि कर्म वही करना चाहिए जो अभेद भावनाकी ओर हमें ले जाने वाला हो। सदाचरण ही कर्म है। वृहदारण्यक उपनिषद् दान, दया, और दमनको ऐसा सत्कर्म बतलाती है, जो मनुष्यको सामान्य धरातलसे ऊँचा उठाकर परमात्मा तक पहुँचा देता है।

तत्त्व चिन्तनमें अशिवतत्व—ब्रह्मविद्याकी तत्त्वचिन्तन दिशाके दो रूप एक दूसरेसे विरुद्ध भाव रखते हुए दो समानान्तर रेखाओंकी भाँति स्थित हैं। जिसमेंसे एकको हम शिवतत्त्व और दूसरेको अशिवतत्त्व कह सकते हैं। सामान्यतया उपनिषद् ज्ञान-विज्ञानका अजस्र स्त्रोत है ब्रह्मविद्याका उद्‌भावक केन्द्र है। उपनिषद्का शाब्दिक और वाचिक अर्थ भी शिवतत्त्व समन्वित है। स्वयं उपनिषदोंने उपनिषद् शब्दकी जो निरुक्ति और व्याख्या की है, उससे भी इस अध्यात्मविद्याकी अनन्त गारिमा प्रकट होती है।

उपनिषद् शब्दकी व्याख्या करती हुई छान्दोग्य उपनिषद् कहती है कि— 'यदा वैंवली भवति, अथ उत्थाता भवति, उतत्तिष्ठत् परिचारिता भवति, परिचरन् उपासत्ता भवति, श्रोता भवति, मन्ताभवति, बोद्धाभवति, कर्त्ताभवति, विज्ञाता भवति— 'जब मनुष्य बलवान् होता है, तब वह उठकर खड़ा होता है और उठकर खड़ा होने पर गुरुकी सेवा करता है। फिर वह गुरुके समीप जाकर बैठता है, पासमें जाकर वह गुरुका जीवन-क्रम और जीवन-दर्शन ध्यानसे देखता है, उसका व्याख्यान सुनता है, उसे मनन करता है, समझता है, और उसके अनुकूल आचरण करता है, अन्तमें उसे विज्ञानकी प्राप्ति होती है। यही उपनिषद् है।'

यही उपनिषद् अन्यत्र फिर कहती है कि—

ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी, अत्यन्तमात्मानम् आचार्यकुले अवसादयन्।

—'ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुके समीप रहकर, गुरु-सेवामें अपने आपको डुबा देने वाला ब्रह्मचारी जिस रहस्यात्मक विद्याको प्राप्त करता है, वही है उपनिषद्।'

उपनिषद् शब्दकी उक्तम व्याख्यासे उपनिषद् विषयक महत्ता और सांस्कृतिक निष्ठा का बोध हो जाता है। वेदोंके अद्वैत तत्त्व, और वस्तुतत्त्वको पहचाननेके लिए तर्ककी उपयोगिता—इन दोनों प्रवृत्तियोंके आपसमें मिलनेसे उपनिषदोंका जन्म हुआ है।

सृष्टिके आरम्भमें एक ही वस्तु वायुके बिना ही अपनी शक्तिसे साँस लेती थी— **आनीदवातं स्वधयातदेकम्**- अद्वैत प्रवृत्ति थी। **संगच्छध्वंसंवदध्वं संवोमनांसि जानताम्**- —"आपसमें हिलमिलकर रहो, मिलजुलकर विषयका विवेचन करो, तथा एक दूसरेके मनको समझो।' —यह दूसरी तर्क प्रवृति थी। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियोंका पर्यवसान उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्या या तत्त्वज्ञानके रूपमें हुआ है।

उपनिषदोंमें आत्मा तथा परमात्माके एकीकरणके साथ ही तर्कमूलक तत्त्वज्ञानका ऊहापोह बड़ी कुशलतासे हुआ है। उपनिषदोंकी ब्रह्मविद्याका यह पावन प्रवाह शिवतत्त्वकी पावन पृष्ठभूमिमें हुआ है, जो अपनी ज्ञान तरंगोंसे युगयुगसे भारतीय मानसको आसिंचित करता आ रहा है।

इसी शिवतत्त्वके साथ ही अशिवतत्त्वका भी प्रवाह प्रारंभसे तिल-तण्डुल न्याय चरितार्थ करता हुआ प्रवाहित है। इस अकलुष ब्रह्मविद्यामें आसुरीभावोंका संमिश्रण हमें उपनिषद्कालके प्रारंभसे ही मिलता है।

ऐसे कलुष एवं आसुरीभावोंको ब्रह्मविद्यासे सम्पृक्त पाकर ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों वंशवृद्धिका अभाव रहा होगा। उस अभावमें ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेके अनेक उपाय किये जाते रहे होंगे। उपनिषद्के एक प्रवक्ता दीर्घतमा हैं। पञ्चविंश ब्राह्मणमें उनकी माताका नाम 'उशिज' बताया गया है। उस उशिजको बृहद्देवता शूद्रा दासी बतलाता हुआ कक्षीवान् आदि ऋषियोंकी माता कहता है। यही नहीं, बल्कि दीर्घतमाने ही 'उशिज'के गर्भसे कक्षीवान् ऋषियोंको पैदा किया— ऐसा भी बताया गया है।

इसी प्रकार कण्व वंशीय 'वत्स', ऐलुषकवष, सत्यकाम, जाबाल आदि उपनिषद्वक्ता शूद्रा, या दासीपुत्र हैं। उपनिषदोंसे यह भी ज्ञात होता है कि उस समयके समाजमें वर्ण-संघर्ष व्याप्त था। एक ओर दासी और शूद्रा पुत्र ऋषि ब्राह्मण बननेके लिए प्रयत्नशील थे, दूसरी ओर चारवर्णोंमें क्षत्रिय जातिको ब्राह्मण वर्णके स्थान पर प्रतिष्ठित किया जा रहा था। बृहदारण्यक स्पष्ट कहती है, कि सबसे पहले क्षत्रिय जाति उत्पन्न हुई, और फिर क्षत्रियसे ही ब्राह्मण वैश्य आदि जातियाँ पैदा हुईं।

उपनिषद्की ब्रह्मविद्याको क्षत्रिय अपनी निजी सम्पत्ति समझकर उस पर अपना एकाधिपत्य जमाए हुए थे। उनके पास ब्राह्मण विद्यार्थी बनकर हाथमें कुश मोटक धारणकर ब्रह्मविद्याका ज्ञान प्राप्त करने जाते थे। छांदोग्यउपनिषद्में लिखा है कि— 'तुमसे पहले कोई ब्राह्मण इस विद्याको नहीं जानता था— **न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।** यहीं पर यह उपनिषद् इतना और कहती है, कि इस विद्यामें सर्वत्र क्षत्रियोंका ही अधिकार रहा है— **सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत**

इस विद्याकी जो परम्परा छान्दोग्य उपनिषद्में बताई गई है, उसमें भी क्षत्रियोंकी ही प्रधानता है— **तद्धै तद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः।**

—'इस विद्याको ब्रह्माने प्रजापतिको, प्रजापतिने मनुको, और मनुने प्रजाको बतलाया।'

इसीका समर्थन बृहदारण्यकमें भी मिलता है—

अथेदं विद्येतः पूर्वं न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवासताम्

इससे पूर्व कोई ब्राह्मण इस विद्याको नहीं जानता था।

मुण्डक उपनिषद्की दृष्टिमें वेदमें ज्ञानकी शिक्षा नहीं है, वे तो केवल यज्ञकी विधियोंके प्रतिपादक हैं, और स्वर्गकी कामनाके प्रचारक मात्र हैं। चारों वेद और छहों शास्त्रोंको यह उपनिषद अपरा विद्या बतलाती है। तात्पर्य यह कि जिससे अक्षर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह परा विद्या इनमें नहीं है।

छान्दोग्यमें एक स्थल पर तो यहाँ तक कहा गया है कि- 'मछुवा जैसे मछलीको जलमें देखता है, उसी तरह मृत्युने देवोंको ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेदमें स्थित देखा है। वे देवता मृत्युके इस तात्पर्यको समझकर ऋक्, यजु, और सामके स्वरके ऊपर प्राप्त हुए।'

छान्दोग्यकी इस आख्यायिका सारांश इतना ही है कि—

वेदों पर आश्रित रहने वाले मृत्युके वशीभूत होते हैं और वेदोंके आगे स्वरका आश्रयण करनेवाले मृत्युसे छूटकर मुक्त हो जाते हैं।

इस तरह अनेक स्थलों पर वेदों और ब्राह्मणोंके प्रति हीन भाव उपनिषदोंमें मिलता है। अनेक स्थलों पर क्षत्रियोंकी अपेक्षा ब्राह्मणोंको हीन बताया गया है।

तत्त्वचिन्तनकी दो दिशाएँ एक ही उपनिषद्में मिलती हैं। किसी भी उपनिषद्में देखा जाए, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ही उपनिषद्में एक जगह तो श्रेयका समर्थन किया जाता है, और दूसरी जगह वही उपनिषद् प्रेयका भी वरण करती है। छान्दोग्य, मुण्डक, वृहदारण्यकसे यह बातस्पष्ट हो जाती है।

तत्त्वचिन्तनकी इन परस्पर विरोधी दो दिशाओंको देखते हुए यही अनुमान होता है कि जो दल श्रेयका समर्थन करता है, वह वैदिक ऋषि या आर्य जातिका हो सकता है, और जो दल प्रेयका समर्थन करता है, वह असुर या अनार्य हो सकता है।

वेदान्तकी परिभाषामें श्रेयको विद्या और प्रेयको अविद्या कहा गया है। कठोपनिषद्का कहना है कि, श्रेय और प्रेय दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। श्रेयसे निवृत्ति और प्रेयसे प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तिसे जन्म-मरण हुआ करता है। धन, सम्पदा आदि भौतिक सुख प्रेयके अन्तर्गत हैं, तथा भौतिक सुखोंका त्याग और परलोक-चिन्तन आदि श्रेयमें रहता है।

कठोपनिषद् द्वारा किए गए श्रेय और प्रेयके इस भेदसे भी यह प्रकट होता है कि, ब्रह्मप्राप्तिकी कामना करने वाले ब्रह्मज्ञानी श्रेय मार्गी थे, और भौतिक सुख, ऐश्वर्य को ही सब कुछ समझने वाले अवैदिक—असुर प्रेयमार्गी थे। इन्द्र श्रेयमार्गी था और विरोचन प्रेयमार्गी था। इनकी कथा लिखकर छान्दोग्य उपनिषद्ने इस भेदका स्पष्टीकरण किया है। कथाका सारांश इस प्रकार है—

'इन्द्र (वैदिक) और विरोचन (अवैदिक) दोनों एक साथ प्रजापतिके पास ज्ञान की शिक्षा लेने जाते हैं। प्रजापति अपने गूढ़ उपदेशों द्वारा दोनों शिष्योंकी परीक्षा लेते हैं। इन्द्र सुसंस्कृत और विरोचन मलिन बुद्धिका सिद्ध होता है। प्रजापति जो उपदेश देते हैं, इन्द्र बराबर उस पर तर्क और शंकाएँ उपस्थित करता है, किन्तु विरोचन चुपचाप सुनता रहता है। प्रजापति जो कुछ भी कहते हैं, वह उस पर विश्वास कर लेता है। अन्तमें प्रजापति उन दोनोंको एक शीशाके सामने खड़ा करते हैं। शीशेमें अपनी-अपनी आकृति देखकर दोनों कहते हैं—

'भगवन्, हम दोनोंके शरीर जैसे स्वच्छ थे, वैसे ही दर्पणमें भी दिखायी पड़ते हैं। जैसे हम वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हैं, ठीक वैसे ही दर्पणमें भी अपनेको देख रहे हैं।'

तब प्रजापतिने कहा—'यही आत्मा है, यही अमृत है। यही अक्षय है, और यही ब्रह्म है।'

यह सुनकर दोनों चले गए, तब प्रजापतिने मन ही मन कहा—'यह दोनों आत्मा को न जानकर, न पाकर जा रहे हैं। ये अवश्य नष्ट होंगे।'

असुरोंका राजा विरोचन अपने समाजमें जाकर यही प्रचार करने लगा कि 'जो कुछ हैं, हम ही हैं। हम लोग स्वयं पूजनीय हैं। अपने आपकी उपासना करनेसे दोनों लोकोंकी प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार असुरगण देहात्मवादी बनकर, अपने आपको सब कुछ मानकर निश्चेष्ट हो गए। उन्होंने यज्ञ, दान आदि करना बंद कर दिया।

लेकिन इन्द्रको फिर भी सन्तोष न हुआ, और उसने पुनः प्रजापतिके पास जाकर उनसे उपदेश प्राप्त किया।

छान्दोग्य उपनिषद्में स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि—'विरोचनकी इस शिक्षासे जब असुर लोग अपने आपको ईश्वर समझने लगे, तो परिणाम यह हुआ कि आज-कल उन असुर परिवारोंके लोग दान और यज्ञमें श्रद्धा नहीं करते। इसीलिए लोग उनके ज्ञानको 'असुर उपनिषद्, कहते हैं। वे मुर्देको वस्त्राभूषणोंसे सजाते हैं, और समझते हैं कि इसीसे हम परलोक जीत लेंगे।

'प्रेय' की उपासना करने वाले लोगोंके ज्ञानको छान्दोग्य उपनिषद् स्पष्टतया 'आसुर उपनिषद्' कहती है। ऐसे ज्ञानी मुर्दोंको गाड़ते हैं, उन्हें वस्त्राभूषणोंसे सजाते हैं, और उनके द्वारा परलोक जीतनेकी इच्छा रखते हैं।

इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकारके ज्ञानी असुर मिश्र, असीरिया, बेबीलोनिया आदिके निवासी रहे होंगे, जो भारत आकर अपनी ऐसी आसुरी भावनाओंका प्रचार करते रहे होंगे। क्योंकि मिश्र, असीरियामें शव—ममीको सँवारने और 'पिरामिड' बनाकर उसे सुरक्षित रखनेकी प्रथा बहुत पुरानी है।

असुर कहे जाने वाले व्यक्तियोंने ही वेदों और ब्राह्मणोंकी निन्दा उपनिषदोंमें की है। उनके आसुरी विचारोंका जाल उपनिषद् साहित्यमें बिछा पड़ा है। कठोपनिषद्, छान्दो-ग्य उपनिषद्, बृहदारण्यकमें ऐसे अनेक वर्णन और आख्यान हैं, जिनसे उपनिषद् प्रवक्ताओं के आसुरी विचारोंका अन्दाज आसानीसे लगाया जा सकता है।

अशिव तत्त्वोंका निदान—ऐतिहासिक तथ्योंके आधार पर ऐसा अनुमान है कि भारतमें उपनिषदोंके समयसे बहुत पहले ही विभिन्न संस्कृतियों और जातियोंका समागम होना प्रारम्भ हो गया था। बाहरसे आने वाली आचार-शून्य जातियाँ यहाँ आ आकर बसने लग गई थीं, जिन्हें वैदिककालमें असुर और परिश्र कहा जाता था, क्योंकि इन जातियोंके लोग असंस्कृत-आचारभ्रष्ट और क्रिया-लुप्त थे। कालान्तरमें उन्हींमें से जो लोग यहाँके निवासी बन गए थे, उनमेंसे अधिकांश अपनेको भिन्न कहने लग गए। वे लोग भारतीय आर्योंसे रोटी-बेटीका भी संबन्ध जोड़ने लगे। आर्योंके बीचमें चिरकालसे रहते हुए उन लोगोंके स्वभाव, चरित्र, और संस्कारोंमें भी परिवर्तन होते गए। उन लोगोंके क्षत्रिय वर्गने संभवतः एक ऐसा संगठन कायम किया, जिसने ब्राह्मणों और वेदोंके प्रति घृणा और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके बीच वर्ण संघर्ष और वर्ग-संघर्षका बीज बोया। इस संघर्षका मूल कारण आर्य और अनार्य भावनाओंकी आपसी टकराहट ही है, जो विभिन्न जातियों के समागमसे उत्पन्न हुई।

अपने धार्मिक, सामाजिक सिद्धान्तों एवं अनार्य भावनाओंका सम्मिश्रण उपनिषदों में लगातार होता रहा है। यह प्रवृत्ति हमें सोलहवीं शताब्दी तक मिलती है। उपनिषदों

ने मुसलमान उलमाओंको भी प्रभावित किया है। यह नहीं कहा जा सकता, कि मुसलमान उलमाओंका प्रयोजन क्या रहा है, किन्तु उन्होंने अपने कलमका सफल प्रयोग अल्लोपनिषद्के कलमें रखकर किया। उपनिषद्के विशाल साहित्यमें अल्लोपनिषद् भी अपना स्थान बनाए हुए है।

ब्राह्मणों, आरण्यकोंसे उपनिषदोंका संकलन किया गया है। किसी एक व्यक्ति द्वारा उपनिषदोंकी रचना न होनेसे तथा भारतमें प्रारम्भसे ही विचारस्वातंत्र्यका पूर्ण अधिकार होनेसे पुराणों और उपनिषदोंमें सैकड़ों वर्ष तक लगातार मिश्रण होते रहे हैं। जिसके जो जीमें आया, वही उसने निबद्ध कर दिया। यही कारण है कि उपनिषदोंमें दिव्यभावोंमें, दिव्यविचारोंके साथ आसुरी भावों और विचारोंका सम्मिश्रण हुआ है। इस प्रकारका मिश्रण हमें ईशावास्योपनिषद्में भी मिलता है। शुक्लयजुर्वेद संहिता के चालीस अध्याय को ही उपनिषद् बताकर अलग कर दिया गया है। मूल संहितामें एक मन्त्र है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥

किन्तु ईशोपनिषद्में डेढ़ श्लोक अधिक मिलता है—

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्मा दृष्टये।
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्यव्यूह रश्मीन् समूहः।
तेजोयत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।

भाष्यकारोंका मत है कि डेढ़ी काण्व शाखा की है, और ईशोपनिषद् काण्वशाखासे लिया गया है। यह ठीक है कि यह प्रक्षेप काण्वशाखामें मिलता है। किन्तु उसमें वह कहीं बाहरसे लाकर प्रविष्ट किया गया है।

वैदिक मन्त्रोंकी विशेषता और शुद्धता उनके स्वाध्यायकी विधिसे ही जीवित है। स्वर, क्रम, पद, घन, जाटा, माला आदिसे अध्ययन किये जानेके कारण वेद मन्त्रोंका न तो अशुद्ध उच्चारण हो सकता है और न उनमें आधी मात्रा घटायी जा सकती है। इसलिए यह अनुमान सही है, कि काण्व शाखासे ही इसका मिश्रण शुरु हुआ है, और किसी प्रयोजन विशेषसे ही यह धृष्टताकी जा सकती है। ईशोपनिषद्का यही एक मन्त्र ज्योंका त्यों वृहदारण्यकमें मिलता है। इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद्के तृतीय मुण्डकके नवें खण्डमें एक श्लोक ऋचा बनाकर मिला दिया गया है, किन्तु उसके नवें खण्डमें जो श्लोक डाल दिया गया है, वह वेदोंमें कहीं नहीं है।

संकलन-सम्पादककी भूलें—प्रक्षेपोंके अतिरिक्त उपनिषदोंके संकलन और सम्पादनमें भी भयंकर भूलेंकी गई हैं। वैदिक साहित्यमें **अग्नेर्वेर्ग्वेदोर्वायो यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेद :** लिखा हुआ मिलता है, जिसका तात्पर्य है कि अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और सूर्यसे सामवेदका सम्बन्ध है। वेदोंमें सर्वत्र भुवः वायु स्थानी होनेसे यजुर्वेदसे सम्बन्ध रखता है।

और स्वः आदित्य स्थानी होनेसे सामवेदसे सम्बन्ध रखता है, किन्तु तैत्तरीय उपनिषद् इस वैदिक नियमका उल्लंघन करते हुए कहती है :—भूः ऋग्वेद है, भुवः सामवेद है, और स्वः यजुर्वेद है।

इस पाठालोचनसे यह प्रतीत होता है कि यह अंश किसी ऐसे व्यक्तिका लिखा हुआ है या जोड़ा हुआ है, अथवा सम्पादित किया हुआ है, जो वेद और उसके नियमोंसे नितान्त अनभिज्ञ रहा होगा।

वृहदारण्यक उपनिषद्में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीका संवाद एकबार लिखा जानेके बाद दो एक शब्दोंको घटा-बढ़ाकर दुबारा उसे लिखा गया है। इसी उपनिषद्के वंश ब्राह्मण प्रकरणमें तीन बार तीन भिन्न स्थानोंमें दिया गया है, और उपनिषद्के अन्तके तीन ब्राह्मण निरर्थक और अप्रासांगिक हैं।

एक स्थान पर यह उपनिषद् सारी सृष्टिमें ब्राह्मण वंशकी प्राथमिकता और श्रेष्ठता बतलाती है, और दूसरे स्थान पर चारों वर्णोंसे क्षत्रिय वर्णको श्रेष्ठ बतलाती है। इस तरह हर उपनिषद् अपने कथनका खण्डन स्वयं करती है, और प्रत्येक उपनिषद् दूसरेसे सैद्धांतिक वैमत्य रखती है। वृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि प्रारम्भमें केवल एक आत्मा था, दूसरी कोई चीज नहीं थी। छान्दोग्य कहती है कि आरंभमें केवल अकेला सत् था और कुछ नहीं था।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में वैदिक संस्कृति, आर्य संस्कारों, और विचारोंके साथ अवैदिक भावनाओं, विचारोंका सम्मिश्रण समय-समय पर होता रहा है, जैसाकि छान्दोग्यकी गवाहीसे प्रमाणित है। छान्दोग्य उपनिषद् ऐसे विचारों, ऐसी आसुरी भावनाओंके प्रतिपादक उपनिषद्को असुर उपनिषद्को संज्ञा देती है।

●

तिहारो कृष्ण कहत कहा जात ?

तिहारो कृष्ण कहत कहा जात ?
बिछुरें मिलन बहुरि कब ह्वै है, ज्यों तरवर के पात ॥
पित्त बात कफ कंठ बिरोधै, रसना टूटै बात।
प्रान लए जम जात, मूढ़ मति ! देखत जननी-तात ॥
छन इक माँहि कोटि जुग बीतत, नर की केतिक बात ?
यह जग-प्रीति सुवा-सेमर ज्यों, चाखत ही उड़ि जात ॥
जन कैं फंद परयो नहिं जब लगि, चरननि किन लपटात।
कहत सूर बिरथा यह देही, एतौ कत इतरात ॥

—सूरदासजी

रामहिं केवल प्रेम पियारा।
जानि लेउ, जो जाननि हारा ॥

भगवान श्रीकृष्णके प्रिय

श्री विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

'स मे प्रिय:' 'सच मे प्रिय :' 'मे प्रियो नर:'

'तेऽतीव मे प्रिया:' इन वाक्योंका प्रयोग भगवान् श्रीकृष्णने किया है। ये अंश उद्धृत हैं, श्रीमद्‌भगवतगीताके बारहवें अध्यायसे। इस अध्यायके अन्तिम आठ श्लोकोंमें यह प्रसङ्ग आपको प्राप्त है। इस अध्यायमें वर्णित भक्तोंके लिये साधन तथा भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके लक्षण, इस प्रकार इन्हें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो क्रमोंमें विभक्त किया जा सकता है। उत्तरार्द्धमें वर्णित गुण तो भक्तोंके स्वाभाविक लक्षण हैं, जो साधकों द्वारा सदा ही अनुकरणीय हैं। भगवान्‌का वचनामृत तो यह है ही। भगवान्‌ने इसे 'धर्म्यामृत' शब्दसे विभूषित किया है। भाव यह है कि गुण धर्मसे कभी पृथक् नहीं होते। स्वर्ग धर्मका फल है, तो मोक्ष ज्ञानका फल है। दोनों फलात्मक हैं। इसके बाद दोनोंका कोई परिणाम नहीं, किन्तु यहाँ वर्णित ये गुण धर्म भी हैं, और अमृत भी।

येतु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया: ॥

उक्त स्थलमें भगवान्‌ने अपने अतीव प्रिय या प्रिय भक्तोंके गुणोंका उल्लेख किया है। उनके गुणधर्मके अनुसार सात कक्षाएँ बनती हैं।

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' श्लोकमें तथा 'सन्तुष्ट: सततं योगी'में भक्तकी अभिमानशून्यता एवं वैराग्यका प्रतिपादन जहाँ है, वहीं संयमका सम्पादन भी। 'यस्मान्नोद्विजते लोको'में भक्तके शान्त स्वभावका दिग्दर्शन है। 'अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष:' में भगवत्सेवाके नैपुण्यका निरूपण है। 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि' में ज्ञानी भक्तके आनन्दभावका चित्रण है। 'शम: शत्रौ च मित्रे च' में समतामें स्थितिका सामञ्जस्य है। 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' में भक्तकी भगवान्‌के प्रति दृढ निष्ठाका दर्शन है। इसी प्रकार भक्तकी परायणता 'ये तु धर्म्यामृतमिदं' में परिलक्षित है। विद्वानोंने इनके इस प्रकार सात नाम दिये हैं :

(१) अद्वेष्टा (२) अनुद्वेजक (३) अनपेक्ष (४) शमायन (५) समभक्त (६) अनिकेत (७) श्रद्दधान।

इस प्रसङ्गमें यह बात विशेष ध्यान देनेकी है कि यहाँ वर्णित भक्त आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थीका वर्णन नहीं हैं, बल्कि सन्तुष्टः सततं योगी' और 'सर्वारम्भपरित्यागी'की चर्चा है। यहाँ आर्तका रुदन नहीं, क्योंकि 'गतव्यथः' है। जिज्ञासुका वर्णन नहीं, क्योंकि यहाँ उद्वेगका अभाव है। 'यस्मान्नोद्विजते'का प्रयोग है। अर्थार्थी अभिप्रेत नहीं, क्योंकि 'सन्तुष्टो येनकेनचित्' है। इसी प्रकार वाह्य वेष - परिधानका भी जिक्र नहीं है। तिलक-माला, काला-गोरा, ब्राह्मण-शूद्र, रामानुज-माध्व किसी वर्ग- वर्णका भी वर्णन नहीं। यहाँ तो 'अनपेक्षः' की अपेक्षा है। ऐसे उन भक्तोंका थोड़ा विवरण लीजिए, जो भगवान्को प्रिय हैं।

द्वेषरहित

किसी भी प्राणीसे जो द्वेष नहीं करता, वह द्वेष-रहित भक्त है। जबतक द्वेष रहता है, भक्ति नहीं। सर्व साधारणके प्रति मित्रता और करुणाका भाव नहीं रहा, तो वह द्वेषवान् होगा, किसीके प्रति द्वेषवान् होगा तो रागवान् भी अवश्य होगा। इसी तरह किसी के प्रति रागवान् होगा, तो 'निर्ममः' 'निरहंकारः'की सङ्गति कैसे बैठेगी ? न वह 'मय्यर्पितमनोवृद्धिः' ही हो सकेगा। साथ ही उसका निश्चय डगमगानेवाला होगा, और वह संयतयोगी नहीं रह सकेगा—तब उसका 'अहंकार' उसे कैसे छोड़ेगा ? इस प्रकार इन दोषोंसे रहित गुणवान् भक्त ही 'मेरा प्रिय' है। यह बात भगवान्ने कही।

उद्वेगरहित

जो लोकमें उद्वेग पैदा नहीं करता, और प्राणीमात्रसे उद्विग्न होता नहीं-वह सुखदुःखभयसे मुक्त शान्तस्वभाववाला पुरुष 'मेरा प्रिय' है। चित्तकी व्याकुलता ही उद्वेग है। यह गुण अन्तस्थ हृदयका है, किन्तु इस स्वभाववाले भक्तका दर्शन करके दूसरोंका उद्वेग- वेचैनी मिटती है। क्योंकि भगवान् स्वयं उसके हृदयमें विराजमान हैं। और वह उनकी सेवा-अर्चा-क्रीड़ामें निमग्न है। इस प्रकार वह उद्वेगका उद्गम नहीं। वह तो प्रियदर्शन है। अतः भगवान् श्रीकृष्णको प्रिय है।

अपेक्षारहित

भक्तको भगवान्के अतिरिक्त किसकी आवश्यकता है ? भगवान् हृदयमें हैं, तो उसे संसारका कोई ऐश्वर्य-उत्कर्ष क्या दूसरेसे लेना पड़ेगा ? क्या उसे ज्ञान चाहिए ? नहीं, क्योंकि ज्ञाननिधान उसके निकट हैं। क्या विश्वका कोई सम्बन्ध चाहिए ? नहीं, क्योंकि उसके सर्वसम्बन्ध-सम्बन्धी 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' वही और वहीं हैं। उसका खाना, पीना, उठना-बैठना सब भगवान्में ही है। क्या उसे मोक्ष चाहिए ? नहीं, क्योंकि उसकी अनपेक्षा ही मोक्ष है। इस प्रकार ज्ञान-मोक्ष-व्यवहार सभी उसके अपने स्वरूप हैं। वह पवित्र ही नहीं, वह पवित्र करनेवाला है। वह सम्पूर्ण विकल्पोंसे उदासीन है। किसी हेयोपादेय क्रियाके आरम्भमें उसकी रुचि नहीं—वह सम्पूर्ण व्यथाओंसे मुक्त है। इस प्रकारका वह भक्त भगवान्का प्रिय है।

शान्त

भक्तके लिये भगवान्से बड़ी और प्रिय कोई दूसरी वस्तु नहीं है तो, वह अन्य किस वस्तुको प्राप्त करके हर्षित होगा ? द्वेष-दुःख और अप्रियता-उत्पादक पदार्थ भी क्या

भगवान्‌से भिन्न हैं ? नहीं, तो द्वेषका प्रश्न ही नहीं रह जाता। भक्तका कोष उसके हृदयमें है, जिसके छीने जानेका कोई भय नहीं।

शरीर रहते प्रियता-अप्रियता आती है, किन्तु भक्तके भाव ही उस सम्बन्धमें विलक्षण हैं. वह जानता है और देखता है कि इन सबके देनेवाले उसके प्रियतम ही हैं। फिर किसी प्रकारका कोई शोक नहीं, और न किसी प्रकारकी कोई कामना ही शेष रही। इस तरहका भक्त जब भगवान्‌की तरफ अग्रसर है, तब संसारके सभी छोटे-बड़े, शुभ-अशुभ उसके पीछे बहुत दूर छूट जाते हैं। छोड़ना नहीं पड़ता, शुभाशुभकी उपेक्षा उसका स्वभाव हो जाता है। वह शान्तचित्त, कर्मविक्षेपसे मुक्त परमात्मामें तल्लीन है। अन्य सभी तरङ्गें शान्त हैं, यह भक्त भगवान्‌का प्रिय है।

सम

भक्त सम है। सम सर्वात्मा भगवान्‌का नाम है। सभी तत्त्व शत्रु-मित्र सबको समान रूपसे ताप-ठण्डक, श्वांस अवकाश, प्रकाश वितरण करते हैं। इसी प्रकार भक्तकी दृष्टि तत्त्वदृष्टि है। संसारकी सभी वस्तुएँ तत्त्वदृष्टिसे एक हैं। ईश्वर नाना रूपोंमें प्रतीत हो रहा है। सब आनन्दके ही आकार हैं, अतः समभक्त सब भेददृष्टिको प्राप्त नहीं करता। वह तो शत्रु-मित्र, मानापमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख सबमें एकरस परमात्माका दर्शन करता है, और इस प्रकार संसारके प्रति आसक्त नहीं होता। वह सङ्गविवर्जितः भक्त भगवान्‌का प्रिय है।

अनिकेत

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यने 'अनिकेत' शब्दकी व्याख्यामें यहाँ प्रयुक्त भक्तको ज्ञानी भक्त माना है। ऐसा भक्त जो मकान-कुटीका उपयोग न करे, ऐसा भक्त जो विचरण करता रहे, पृथ्वीमें किसी स्थलको अपना न समझे, 'ममत्व' न करे।

श्रीरामानुजाचार्यने अर्थ किया है— मकान-दूकान तो रहे, उसमें आसक्त नहीं होना। उसे अपना नहीं समझना। जो कुछ हो, वह भगवत्सेवाके लिए। श्रीयादवप्रकाशजी ने जो श्रीरामानुजाचार्यके गुरु थे, इन लक्षणोंको गृहत्यागी विरक्त महात्माके लिए माना है। श्रीवल्लभाचार्यने 'अ' का अर्थ भगवान् 'वासुदेव' किया है। वे जिसके घरमें हों। श्रीमद्भागवत् के ग्यारहवें स्कन्धमें भगवान्‌के मन्दिरमें रहनेको 'निर्गुणस्थिति' बतलाया गया है। भगवान् तो अपने भक्तको अपने हृदयमें ही रख लेते हैं। फिर उसके अतिरिक्त भगवान्‌को और कौन प्रिय होगा ?

श्रद्धाकी ओर

यहाँ प्रयुक्त शब्द 'श्रद्दधान' है। भगवान्‌के प्रति पूर्ण श्रद्धा प्राप्त नहीं, अपितु श्रद्धालु भक्तके प्रति भी श्रद्दधान। ज्ञानीका सहज स्वभाव साधकके लिए साधन है। ऊपर ज्ञानी भक्तके जो लक्षण बताये गये हैं, अथवा जो शास्त्र और गुरुजनोंने भक्तिके सम्बन्धमें आदेश किये हैं, उनके प्रति श्रद्धावान् तथा नवधा-भक्ति आदिमें दृढ़ निष्ठावाला भक्त भगवान्‌का प्रिय है। इसी प्रकार भगवत्परायण एवं भगवान्‌के प्रति उन्मुख और भक्त-गुणगणोंको ग्रहण करनेकी ओर तत्पर व्यक्ति भी भगवान्‌को प्रिय है।

"शब्दसे परे जो सत्य था, उसे देखनेकी पाण्डवोंमें क्षमता नहीं थी। इसीलिए अत्यन्त शक्तिशाली और साहसी होते हुए भी उन्होंने बार बार चोट ही खायी। यदि भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा उन्हें शब्दातीत सत्यका रहस्यन प्राप्त हुआ होता तो निश्चित था, कि उनका महा अधर्मी रिपुओंके द्वारा विनाश हो जाता।"

बंदी सत्य—विमुक्त सत्य

श्रीमकरंद दबे

अपने शब्द पर स्थिर रहनेमें भी एक शक्ति है। किन्तु अपने शब्दपर ही साग्रह स्थिर रह जाना अधमता है। इस सत्यको श्रीकृष्णसे बढ़कर किसीने भी स्पष्टताके साथ प्रगट नहीं किया है। पांडवोंका सबसे बड़ा बंधन था उनके शब्द। शब्दसे परे जो सत्य था, उसे देखनेकी पांडवोंमें क्षमता नहीं थी। इसीलिए अत्यन्त शक्तिशाली और साहसी होते हुए भी उन्होंने बार-बार चोट ही खायी। यदि भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा उन्हें शब्दातीत सत्यका रहस्य न प्राप्त हुआ होता तो निश्चित था, कि उनका महाअधर्मी रिपुओंके द्वारा विनाश हो जाता। मानों धर्मराजके द्वारा ही मानव-आत्माके मूल, और मुक्त धर्मका लोप हो जाता। श्रीकृष्णने इसे नहीं होने दिया। उन्होंने मानव जातिको, इस सत्यको जीवित रहकर दिखाया।

पांडव शब्दके बंधनमें किस प्रकार बँधते गये, इसके कुछ प्रसंग देखिये :—

अर्जुनने स्वयम्बरमें मत्स्यवेध किया, परिणामतः द्रोपदीने वरमाला पहनायी। पाँचो भाई द्रोपदीको साथ लेकर कुन्तीके पास आये। भीम ठहरा विनोदी। उसने बाहरसे ही हाँक लगायी—"माँ, हम भिक्षा लाये हैं।" कुन्तीने स्वभाववश ही भीतरसे उत्तर दिया—"पाँचों भाई मिलकर उपभोग करो।" कुन्तीको स्वप्नमें भी ध्यान न था, कि प्रश्न द्रोपदीका है। पीछे उसे बड़ा पछतावा हुआ। किन्तु पाँडवोंके लिए तो माँके शब्द ही सर्वोपरि थे। शब्दकी पूजा करनेमें पाँचों में कोई किसीसे कम न था। अतः द्रोपदीको पाँचों पतियोंकी पत्नी बनना पड़ा। यह एक महान् अनर्थ था। किन्तु धर्म-भीरु पाँडव उसीको धर्म मान, उसका अंचल पकड़ कर बैठ गए।

अधिक स्वतंत्र स्वभावकी द्रोपदीने भी उसे जीवन धर्मके रूपमें अंगीकार किया। जब माताके आदेशका परिपालन करनेमें युधिष्ठिर जैसे धर्मनिष्ठ, और अर्जुन जैसे नर-सिंहने आपत्ति नहीं प्रगट की, तब उसके सदृश आदर्श कुल वधू, भला क्यों आपत्ति करती ? अपने लक्ष्य-धर्मके ऊपर तब उसने शब्द-धर्मकी शिला रखली। यह शब्द-भक्ति अंतरात्माके प्रति उसका अपराध था, और यह कब प्रकट रूपसे सामने आया ? महा प्रस्थानके समय।

स्वर्ग आरोहरण करते हुए द्रोपदी सर्व प्रथम गिरी। तब युधिष्ठिरने कहा—'पाँचों पांडवोंको एक सा प्रेम करनेके बजाय, द्रोपदीका आकर्षण अर्जुनकी ओर अधिक था, इसीलिए वह गिरी', कदाचित् अधिक सच बात तो यह थी कि द्रौपदीका आकर्षण अर्जुनकी ओर अधिक नहीं, बल्कि उसका आकर्षण केवल अर्जुनकी ही ओर था। किन्तु इस सत्यको वह निर्भीकतापूर्वक प्रगट न कर सकी। वह सर्व प्रथम गिरी। किस तरह तेजवान् स्त्री-पुरुष शब्दको ही आदर्श मानकर सिर पर बिठा लेते हैं, यह इसका अच्छा दृष्टांत है।

दूसरा एक प्रसंग देखें :

पाँचों भाइयोंने परस्पर निश्चय किया था, कि जब एक भाई द्रोपदीके पास हो, तब अन्य कोई उसके समीप न जाये, और जो इस नियमका उल्लंघन करे, वह बारह वर्ष तक वनमें रहे। गायोंको बचानेके निमित्त जब अर्जुनको अपने शस्त्रके लिए शस्त्रागारमें जाना पड़ा, तब वहाँ युधिष्ठिर द्रोपदीके पास थे। वचन भंग हो गया। फिर वचनका पालन भी प्रत्येक स्थितिमें होना ही चाहिए।

इस नियमको बनानेका तात्पर्य यह था, कि भाइयोंमें परस्पर किसी तरहकी ईर्ष्या या मनोमालिन्य न उत्पन्न हो। एक भाई दूसरेका छिद्रान्वेषी बननेका यत्न न करे-यह भावना इस नियमके मूलमें थी। यहाँ अर्जुन एक पवित्र कार्यके लिए, गायोंकी रक्षाके लिए अनिच्छासे वहाँ आया था। किन्तु पाण्डव तो शब्दको पकड़कर बैठ जानेवाले मनुष्य थे। अपने शब्दकी रक्षाके लिए अर्जुन वनमें चला गया।

तीसरा प्रसंग :—

अर्जुनका प्रण था, कि यदि कोई गांडीवकी निन्दा करेगा, तो वह उसका वध कर डालेगा। कर्णसे हारकर युधिष्ठिर पड़ाव पर लौटे थे। अर्जुनको पता लगा, तो वह उनका कुशल पूछनेके लिए भागा चला आया। युधिष्ठिरने सोचा, कि अर्जुन कर्ण पर विजय प्राप्त करके आया होगा। किंतु जब उन्हें ज्ञात हुआ, कि कर्ण तो अब भी अविजित है, तो उनका मस्तिष्क भन्ना उठा। एक तो कर्णने उनकी मखौल उड़ाकर बहुत अपमान किया था, और फिर घावकी पीड़ासे व्याकुल। अपनी स्वाभविक और संयमित मनः स्थितिमें नहीं थे। उन्होंने अर्जुनको फटकार बताई, 'धिक्कार है तुम्हारे गांडीव को।' बस, बात प्रारंभ हो गई।

अर्जुनको अपना प्रण स्मरण हो आया। वह इस बातको भूल गया कि सामने कौन है, और किस मनोव्यथाके कारण बोल रहा है। वह युधिष्ठिरका शिरोन्मूलन करनेके लिए

झपटा। यदि उस समय श्रीकृष्ण भगवान् बीचमें न पड़ते, तो उस बचनव्रतीमहावीरका क्या हाल होता। अत्यधिक दुःखके कारण युधिष्ठिरने गांडीवधारी अर्जुनको दो कड़े शब्द भले ही कह दिए, किन्तु इतनेसे ही यह बात तो नहीं कही जा सकती थी, कि वे प्राण-प्रिय भाईका तेजोभंग करना चाहते थे। अर्जुन जो शूरता नहीं प्रगट कर पाया था, उसीका मन-स्ताप उन शब्दोंके मूलमें था।

किन्तु अर्जुनको इन सभी बातोंका ध्यान कहाँ ? वह तो अपने इन शब्दोंको पकड़ कर बैठ गया, कि जो गांडीवका निरादर करेगा, उसका वह वध कर देगा। देव-सदृश ऐसे अग्रजका वध करके निश्चय ही वह स्वयं भी दूसरे क्षण आत्महत्या कर लेता। प्रथम तो ऐसे प्रणोंका कोई अर्थ ही नहीं होता, और फिर उसके परिपालन के लिए ऐसा नीच कृत्य करना तो निरा पागलपन है। इस प्रसंगमें श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

त्वया चैवं व्रतं पार्थ बालेनैव कृतं पुरा।
तस्मादधर्म संयुक्तं मौर्ख्यात् कर्म व्यवस्यसि॥

(महाभारत कर्ण पर्व)

कई बार जब ठंडे मस्तिष्कसे विचार करते हैं, तो हमें यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता, कि जैसा श्रीकृष्णने कहा है, हमारे अधिकांश शब्द अज्ञानतापूर्ण एवं गलत आवेगमें बहकर कहे हुए होते हैं। क्या यही शब्द संपूर्ण जीवनभरके लिए सत्य रहेंगे, और जिसे हमारी अंतरात्मा हमारा कर्तव्य घोषित करे, वह असत्य हो जायगा ? धर्म-भीरु व्यक्तियों के लिये यहाँ सूक्ष्म बुद्धि और जागृत विचार-दृष्टिकी अधिक आवश्यकता है। अर्जुनमें इस विचार-दृष्टिका अभाव था। धर्मभीरु होते हुए भी वह विवेकहीन था—ऐसा श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं। अन्यथा ऐसा हीनकार्य करनेके लिए वह किस प्रकार उद्यत हो जाता। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

न हि धर्म विभागज्ञः कुर्या देवं धनंजय।
यथात्वं पांडवाद्येह धर्मभीरुरपण्डितः॥

(महाभारत, कर्ण पर्व)

भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन अधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्यको धर्मज्ञ ही नहीं, धर्म विभागज्ञ भी होना चाहिए। ऐसा ज्ञान यदि मनुष्यमें न हो, तो जो धर्म मनुष्यकी मुक्ति, आनंद; और सफलताका मुख्य कारण समझा जाता है, वही उसके लिये कठिन आपदाका बंधन बन जाता है। पांडव वर्षों तक, इसी प्रकारके शब्दोंके कारामें दुःखसे तड़पते रहे।

पाण्डवोंकी इस निर्बलतासे कौरव भली भाँति परिचित थे। वे बड़े निपुण, कानूनके परिज्ञाता थे। कानूनकी कलम-कलम, और शब्द-शब्द द्वारा प्रतिद्वन्दीको पकड़कर 'चित्त' करते थे। अत्यधिक साहसी, और बलवान होते हुए भी धर्मनिष्ठ और आदर्शवान् पाण्डव उनके सामने असहाय थे। शकुनिने कपटकी शक्तिसे धर्मराजको हराया। धर्मराजने यह जानते हुए भी कि उनकी पराजयके पीछे कौनसा कारण और आधार था, उन्होंने उस हारको

'हार' अंगीकार कर लिया। उनमें यह शक्ति नहीं थी, कि अन्यायसे पूर्ण ऐसे निर्णयको ठुकरा देते।

कौरवोंको दृढ़ विश्वसा था, कि जुएकी भाँति युद्धमें भी पांडव अवश्य पराजित होंगे। भीष्म, द्रोण, और कर्ण जैसे महारथी अपने अस्त्र-शस्त्रोंका वीरतापूर्वक प्रयोग करें, अथवा कपटका जाल बिछाकर शत्रुका संहार करें, जैसाकि अभिमन्युके सम्बन्धमें हुआ, तो भी धर्मकी दुहाई देते ही पांडव ठंडे पड़ जायेंगे—यह बात कौरवोंको अच्छी तरह ज्ञात थी।

किन्तु एक महान् मनुष्यने कौरवोंके इस खेलको मिट्टीमें मिला दिया। एक ऐसा पुरुषोत्तम पांडवोंका पक्षधर था, जिसने स्वयं शस्त्र-रहित होते हुए भी कौरवोंके संपूर्ण शस्त्रोंको व्यर्थ बना दिया। ठीक समय पर वे पुरुषोत्तम पांडवोंको उस 'सत्य' पर ले गए, जो शब्दोंके बहुत ऊपर प्रतिष्ठित था, और स्वयं सर्वदा अन्याय करते हुए, पग-पग पर धर्मकी दुहाई देते रहनेवाले उन शब्द धर शत्रुओंका विनाश किया।

रथका चक्रपृथ्वीमें धँस जाने पर जब कर्ण अर्जुनको धर्मके लक्षणोंका स्मरण कराता है, और धर्मनिष्ठके कर्तव्यका पाठ पढ़ाने लगता है, तब श्रीकृष्ण भगवान् उसके एक-एक अधर्मपूर्ण कृत्यका स्मरण कराकर उससे पूछते हैं।—'क्वते धर्मस्तदा गतः....। तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? यदि उस समय धर्म नहीं था, तो अब केवल धर्म-धर्म रट लगाकर तालू सुखाने से क्या लाभ ?

यद्येवं धर्मस्तत्र न विद्यते हि
किं सर्वथा तालुविशोषणेन ।।

सत्वहीन, प्राणहीन और अर्थहीन शब्दोंसे ऊपर उठनेका श्रीकृष्णमें कितना महान् सामर्थ्य था। धर्मके बन्धनको छिन्न भिन्न कर, धर्मकी आत्माको विमुक्त करनेकी कैसी निर्भीक घोषणा थी यह ! आज भी विस्मय होता है।

कहा जाता है युधिष्ठिर कभी असत्य नहीं बोले। किन्तु द्रोणवधके समय उन्होंने 'अश्वत्थामा हतः' इतना असत्य अवश्य कहा, और इसीलिये उनका रथ, जो पृथ्वीसे एक बालिश्त ऊपर चला करता था, पृथ्वीसे छू गया। वस्तुतः प्रतीत तो यह होता है, कि श्रीकृष्णके कहनेके अनुसार यदि धर्मराज अश्वत्थामा हतः' इतना कह कर मौन हो जाते तो उनका रथ पृथ्वीसे एक बालिश्त और ऊपर उठ जाता। अन्तर्यामी श्रीकृष्णके वचनको निःसंशय ग्रहण करनेके स्थान पर, वे 'नरो वा कुंजरो वा' कह गए, और इसीलिये उनका जीवन-रथ नीचे उतर गया।

मनुष्यका मन ईश्वरकी प्रेरणाको नीति और अनीतिके बंधनोंमें बाँधे बिना निर्भय और असंशय भावसे ग्रहण नहीं कर पाता। भीतरका सत्यात्मा जो कहता है, हम अपनी निर्बलताके कारण उसे जितना ही नीतिके धागेमें पिरोते हैं,उतने ही नीचे गिरते हैं। युधिष्ठर नीचे उतर आये, क्योंकि इस सत्य प्रेरणाको वे सीधे ग्रहण नहीं कर सके और उन्होंने उसे शब्दोंमें घेरनेका प्रयत्न किया।

कृष्ण जैसा सामर्थ्य भला किसमें था ? शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञाके होते हुए भी जब वे रथका चक्र हाथमें लेकर भीष्मकी ओर झपटते हैं, तब निरर्थक शब्दोंकी भित्तिको ढहाकर सदा विमुक्त सत्य पुरुषके रूपमें किस प्रकार ज्योतिष्मान् हो उठते हैं। उस क्षण भीमपितामह भी, हाथ जोड़कर, उनका जो प्रणमन करते हैं, वह इसी सत्यके तेजके कारण ही तो। श्रीकृष्णके मुखमण्डल पर उस समय कैसी आभा खेल रही होगी। भीष्म जैसे महाव्रती भी उनके दर्शनसे विमुग्ध हो जाते हैं। इसमें यदि भीरुता या कुटिलता होती तो क्या यह संभव था ?

श्रीकृष्ण यह भली भाँति समझ गए थे, कि पांडवों पर शब्दोंका कितना प्रबल बंधन है, और महाभारतके युद्धमें, प्रत्येक विकट प्रसंग पर, उन्होंने इस बंधनको भेद डाला। श्रीकृष्णका स्पष्ट दर्शन है कि सत्य और धर्म शब्दोंके बंधनमें बंदी नहीं बनाए जा सकते। इसीलिए शाब्दिकरूपसे सत्य और धर्मका उलंघन करते हुए भी वे सत्य प्रतिज्ञ और धर्म निष्ठ रहे। परीक्षितको जीवित करते हुए वे कहते हैं—

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥
(महाभारत, आश्व मेधिक पर्व)

यदि सत्य और धर्म मुझमें सदा स्थिर रहे हों, तो अभिमन्युका यह मृत बालक जीवित हो उठे।

इन शब्दोंसे श्रीकृष्णने केवल परीक्षितको ही नहीं, अपितु परि+इक्षितको, अर्थात् मात्र शब्दोंकी पिटारीमें बंद न होकर चारों ओरसे जीवन पर सम्यक दृष्टि डालने और स्वीकारने वाले सत्यको भी पुनर्जीवन प्रदान किया।

[गुजरातीसे अनूदित]

कृष्ण नाम

एक कृष्ण नाम करे सर्व पाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश ॥
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद कम्प पुलकादि गद्गदाश्रुधार ॥
अनायासे भव क्षय कृष्णेर सेवन।
एक कृष्ण नामेर फले पाई एतो धन ॥

—श्रीकृष्णदास कविराज

'कुरुर अम्माकी जो अनन्य भक्ति मुझमें है, तुम उसका अनुमान भी नहीं लगा सकते। तुम इस जन्ममेंही मेरे भक्त हो, और कुरुर अम्मा न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरसे मेरी भक्ति करती आ रही है। यह तुम्हारा अभिमान तुम्हारी तपश्चर्याके लिये अभिशाप और घातक है। कुरुर अम्माकी भक्तिके समान पद पानेके लिये तुम्हें हजारों जन्म लेने पड़ेंगे।'

प्रेम और तपस्या

श्रीमती टी० सी० कुमुचुटी अम्मा

ट्रावनकोर कोचीन राज्यके अंतर्गत त्रिचुरके समीप नाम्बुदिरी नामका एक परिवार है, जिसका एक अंग कुरुरके नामसे प्रसिद्ध है। केरलमें यह परिवार उस श्रेणीमें गिना जाता है, जिसमें लोग अत्यन्त कट्टर-धार्मिक, एवं सनातन धर्मी होते आये हैं। बहुत प्राचीन कालसे इस परिवारके लोग अपनी ईश्वर भक्तिके लिये प्रसिद्ध हैं, और विशेषकर घरकी महिलाएँ तो गोपालकृष्णको ही अपना इष्टदेव मानती हैं।

श्रीकृष्णके अनन्य भक्त विल्वमंगलके जीवनकालमें इस परिवारकी एक महिला, जिनका नाम मना था, गोपालकृष्णकी अनन्य भक्त थीं। कहा जाता है, गोपालकृष्ण उनके संकेतों पर नाचा करते थे।

मना जब पूजा पर बैठतीं, तो एक अबोध एवं नटखट बालककी भाँति वहाँ गोपाल कृष्ण प्रकट हो जाते, और उनके साथ अनेक प्रकारकी बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ करने लगते। कभी कभी उनके जपमें बाधा डालते हुए पूजा-समाप्तिके पूर्व ही देवताको चढ़ाई जानेवाली सारी मिठाई वह चट कर जाते और मना उन्हें उसी प्रकार डाँटती, जैसे कोई माँ अपने किसी नटखट और शैतान बच्चेको प्यार और दुलारसे डाँटती और फटकारती है। उस समय श्रीकृष्ण उनके क्रोध पर हँस देते और अपनी मुसुकानकी एक दिव्य तथा असाधारण छाप छोड़कर अन्तर्धान हो जाया करते।

इस परिवारके निकट ही चेम्मनगट नामका एक दूसरा परिवार था, जो अपनी धर्मपरायणता तथा भक्तिमें उस परिवारसे भी कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था। श्री विल्वमंगल अपने पर्यटन कालमें चेम्मनगटके यहाँ अधिक ठहरते थे।

एक दिनकी बात है, कुरुर अम्मा और इस परिवारकी दूसरी महिला चेम्मनगट अम्मा, दोनों साथ ही प्रातःकाल तालाबमें स्नान करनेके लिये गयी थीं। स्नान करनेके बाद चेम्मनगट अम्मा अपने बाल सुखाने लगीं और कुरुर अम्मा सीढ़ियों पर अपने कुछ भीगे कपड़ोंको धोने लगीं। संयोगवश, कुरुर अम्माके कपड़ोंके एकाध छींटे चेम्मनगट अम्माके ऊपर आ पड़े। वह बहुत अप्रसन्न हुई। तिरस्कार करती हुई कुरुरसे कहा—'अरे तू देखती नहीं है, तेरी साड़ीका छींटा मेरे ऊपर आ रहा है, जानती नहीं, कि मैं अभी बिल्व मंगलजीके लिये नैवेद्य तथा भिक्षा तैयार करने जा रही हूँ।' चेम्मनगट अम्माके इन अपमान जनक शब्दोंको सुनकर कुरुर अम्माके हृदय पर एक गहरा आघात हुआ। विषका घूंट समझकर उन्होंने इसे पी लिया और मौन होकर निश्चय किया, कि आज वह इस मानसिक क्लेश तथा असंतोष को अपने इष्टदेव गोपालकृष्णसे कहेंगी।

स्नान करके लौटनेके पश्चात् जब कुरुर अम्मा नित्यके नियमानुसार पूजा पर बैठीं, तो उनके चिरपरिचित गोपाल अपनी पुरानी नटखट आदत और चपलताके साथ वहाँ प्रगट हुए। परन्तु आज ज्योंहीं उन्होंने क्रीड़ा करना प्रारम्भ किया, कुरुर अम्माने अत्यन्त करुणा भरे मार्मिक शब्दोंमें कहा, 'गोपाल जब मैंने अपने आपको तुम्हें सौंप दिया है, तो तुम दूसरों के सामने मेरा अपमान और निरादर कैसे देखते हो? क्या तुम अपने भक्तों के ऊपर इसी प्रकारकी कृपा दिखाते हो? बताओ तो सही, मुझमें कौनसा ऐसा दोष है, जो चेम्मनगट मुझे हेयकी दृष्टिसे देखती है? उसे बड़ा अभिमान है कि बिल्वमंगल उसके यहाँ ठहरते हैं उसकी भिक्षा ग्रहण करते हैं। मुझमें कौनसा ऐसा अभाव है, जो बिल्वमंगलको मेरे यहाँ आतिथ्य स्वीकार करनेके लिये रोकता है? गोपाल आज मुझे हार्दिक पीड़ा हो रही है। आज मैं तुम्हें ऐसे नहीं जाने दूँगी। तुम्हें और तुम्हारे भक्त बिल्वमंगल दोनोंको अच्छा पाठ पढ़ाऊंगी।' इस प्रकार गोपालकृष्णसे बातें करते हुए कुरुर अम्माने गोपालको पकड़कर एक बड़े पात्रके अन्दर बन्द कर कपड़ेसे ढंक दिया। कृष्ण उसमें छटपटाने लगे। उन्होंने प्रार्थना करते हुए कुरुर अम्मासे कहा 'कुरुर मुझे छोड़े दे, बाहर आने दे, बिल्वमंगल पूजा कर रहा है। यदि मैं उसके नैवेद्य तथा भिक्षा स्वीकारके लिये ठीक समय पर नहीं पहुँचा तो अच्छा नहीं होगा। वह तब तक भोजन नहीं लेगा, जब तक मैं उसकी भिक्षा स्वीकार न कर लूंगा। तू जानती है, वह बड़ा क्रोधी है। मुझे उसके क्रोधका बहुत भय है। अतः मेरी प्यारी कुरुर अम्मा, तू मुझे मुक्त कर दे।'

कुछ समय तक तो कुरुर अम्माने कृष्णको मुक्त करनेसे अस्वीकार कर दिया और कहा 'अच्छा गोपाल, मुझे अब पता लगा कि, तुम मेरे प्रेमकी उपेक्षा कर, बिल्वमंगलके क्रोधकी अधिक चिन्ता करते हो। क्या मेरी निस्वार्थ भक्तिका यही पुरस्कार है?'

श्रीकृष्णको बिल्वमंगलके क्रोधसे अधिक भयभीत होते देख और उनकी बार-बार प्रार्थना सुनकर कुरुर अम्माका हृदय भर आया और उन्होंने गोपालको मुक्त कर दिया।

गोपाल काँपते हुए, धूल भरे और लम्बी लम्बी साँस खींचते बिल्वमंगलके पास पहुँचे।

विल्वमंगल इस समय गोपालको पुकार रहे थे और न प्रकट होने पर मन ही मन खीभ रहे थे। जब कृष्णको आते हुआ देखा, तो वे क्रोधसे काँप उठे। ज्योंही गोपाल निकट आये, उन्होंने उन्हें बाँए हाथसे ढकेलकर धक्का देते हुए कहा, 'क्या मेरी असीम एवं अगाध भक्ति और पूजाका यही परिणाम है ? कुरुर अम्मा एक साधारण कीर्त्तन करने वाली स्त्री है, मैं एक संन्यासी हूँ, और सर्व साधनोंको पूर्ण कर तपश्चर्या कर चुका हूँ। तुमने कुरुरके यहाँ इतना समय लगाकर और मेरी पूजामें विलम्ब करके मेरा बड़ा अपमान किया है।'

गोपालकृष्णने कहा 'विल्वमंगल, मैं सब जानता हूँ। इसमें सन्देह नहीं, कि तुमने सभी साधन और तपश्चर्याकी सीमाको पार कर लिया है, परन्तु कुरुर अम्माकी जो अनन्य भक्ति मुझमें है, तुम उसका अनुमान भी नहीं लगा सकते। तुम इस जन्ममें ही मेरे भक्त हो और कुरुर अम्मा न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरसे मेरी भक्ति करती आरही है। यह तुम्हारा अभिमान तुम्हारी तपश्चर्याके लिये अभिशाप और कलंक है। कुरुर अम्माकी भक्ति के समान पद पानेके लिये तुम्हें हजारों जन्म लेने पड़ेंगे। तुमने मुझे बाँए हाथसे धक्का दिया, निरादर किया, क्रोध प्रगट किया, इसलिये तुम्हें अब मुझे प्राप्त करनेके लिये पुनः तपस्या करनी पड़ेगी और मैं तुम्हें आनन्द वनमें मिलूँगा।'

इतना कहकर श्रीकृष्ण अंतर्धान हो गए।

भगवानकी सहज कृपा

अन्य कामी यदि करे कृष्णेर भजन।
ना मागिले कृष्ण तारे देन स्वचरण॥
कृष्ण कहे आमा भजे, मागे विषय-सुख।
अमृत छाड़ि विष मागे एइ बड़ा मूर्ख॥
आमि विज्ञ, एइ मूर्खे 'विषय' केने दिव।
स्वचरणामृत दिया विषय भुलाइव॥

[श्रीचैतन्य चरितामृत]

—किसी दूसरी कामनासे भी यदि कोई कृष्णका भजन करता है, उसको कृष्ण न माँगने पर भी अपने चरण प्रदान करते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं, जो भजता है मुझको, और माँगता है विषय-सुख, वह अमृत छोड़कर विष माँगता है, अतः वह बड़ा मूर्ख है। पर मैं तो विज्ञ हूं, मैं उस मूर्खको विषय क्यों दूँगा ? मैं तो उसे स्वचरणामृत देकर विषयोंकी विस्मृति करा दूँगा।

"जिसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षणके लिए भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी खिलखिला कर हँसने भी लगता है। कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कहीं नाचने लगता है। भैया उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपनेको, बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है।"

व्रजके संत

श्रीअखिलेश

भारतके इतिहासमें व्रजका अधिक पुनीत और गौरवपूर्ण स्थान है। भारतके इतिहास, संस्कृति, और धर्मके निर्माणमें, चिरन्तन कालसे 'व्रज' योग प्रदान करता आ रहा है। मथुरा व्रजकी प्रमुख नगरी है, जो प्राचीन कालसे ही इतिहासके पृष्ठोंमें अपना नाम जोड़ती आ रही है। मथुरा श्रीकृष्ण भगवान्की जन्मभूमि होनेके कारण धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता की सदा-पुण्य स्थली रही है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक युगमें भी राजनीति, धर्म, और संस्कृतिकी दृष्टिसे मथुराका अधिक महत्त्व रहा है। मथुराके अतिरिक्त व्रजमें और भी कितने ही स्थान हैं, जो धर्म, संस्कृति, और इतिहासकी दृष्टिसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन सम्पूर्ण स्थानोंमें जीवनकी जो गाथाएँ निर्मित हुई हैं, उनका प्रभाव 'व्रज'के जन-पदों तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि उन्होंने समय-समय पर राष्ट्रके समग्र जन-जीवनको भी आंदोलित और विलोड़ित किया है।

साहित्य और कलामें भी व्रजका योग अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्रजभाषाका साहित्य, जिसने हिन्दीके माध्यमसे सम्पूर्ण भारतीय जीवनको प्रभावित किया है, मुख्य रूपसे व्रजमें ही निर्मित हुआ है। व्रजकी सीमामें एकसे एक बढ़कर यशस्वी कवि, आचार्य, संत, और कलाकार उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं, वाणियों, और कृतियोंके द्वारा भारतीय जीवन-प्रवाहको नई दिशाएँ प्रदान की हैं। इन महा कवियों, सन्तों और आचार्योंने केवल भारतीय जीवनको आंदोलित ही नहीं किया, वरन् उन्होंने अपने प्रभावसे व्रजकी सीमाके बाहर सहस्रों कवि, संत, और आचार्य भी पैदा किए। व्रजकी सीमाके बाहर व्रज सम्बन्धी जिस साहित्य और कलाकी सृष्टि हुई है, वह व्रजके ही सन्तों, कवियों आचार्योंकी ही वाणियोंकी देन है।

'धर्म'की दृष्टिसे व्रजका अत्यधिक पुनीत और महत्त्वपूर्ण स्थान है। मथुरामें ही भगवान् श्रीकृष्णने जन्म लिया था। गोकुल, नन्दग्राम, वृन्दावन, गोवर्द्धन और बरसाना प्रभृति स्थान 'व्रज'में ही हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णकी बाल, रास, और अन्यान्य चरित्र लीलाओंसे सम्बन्धित हैं। भारतके धर्म और प्राचीन संस्कृति ग्रंथोंमें इन सम्पूर्ण स्थानोंकी पुनीतता, और गौरवमयताके अद्वितीय चित्र मिलते हैं। मथुरा सप्त पुरियोंमें से एक पुरी है। भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मस्थली होनेके कारण उसकी महत्ता कवियों, आचार्यों और सन्तोंकी वाणियोंमें अजस्र स्रोतोंमें फूट पड़ी है। पद्मपुराणके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णने मथुराकी महत्ता और उसकी गौरवमयताके चित्रांकनमें निम्नांकित शब्दोंका प्रयोग किया है—"जप तप आदि साधनोंके द्वारा जब मनुष्यके अन्तःकरण शुद्ध एवं शुभ संकल्पसे युक्त हो जाते हैं, तथा वे निरन्तर ध्यान रूपी धनका संचय करने लगते हैं, तब उन्हें मेरी उत्तम पुरी मथुराका दर्शन होता है। अन्यथा वे श्रेष्ठ द्विज भी हों तो भी सैकड़ों कल्पों इस पुरी को नहीं देख पाते हैं।" इसी प्रकार पद्मपुराणमें ही 'वृन्दावन'की गौरव शालीनता और पावनताके सम्बन्धमें निम्नांकित पंक्तियाँ मिलती हैं—'वृन्दावन इस भूतल पर, नित्य धामके नामसे प्रसिद्ध है। वह सहस्र दल कमलका केन्द्र स्थान है। उसके स्पर्श मात्रसे यह पृथ्वी तीनों लोकोंमें धन्य समझी जाती है। भूमण्डलमें वृन्दावन गुह्यसे भी गुह्यतम, रमणीय, अविनाशी तथा परमानन्दसे परिपूर्ण स्थान है।"

मनुस्मृतिकारने व्रजकी महत्ता और उसकी पावनताका चित्रण निम्नांकित शब्दोंमें किया है :—

"व्रजमें जितने भी स्थान हैं, वे प्रायः सभी भगवान् श्रीकृष्णकी रम्य लीला-स्थली हैं। उन सबमें ही भगवदीय पुनीतभाव व्यक्त हैं, अतः व्रज अत्यन्त पावनभूमि है।"

और तो और, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी व्रज पर मन-प्राणसे निछावर थे। सूरदासजीकी "ऊधो मोंहि व्रज बिसरत नाहीं" पंक्तिमें भगवान् श्रीकृष्णके व्रज-प्रेमके उद्वेलित सिन्धुका कुछ कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

व्रजभूमि युग-युगोंसे देवताओं और मनुष्योंको अपनी ओर आकर्षित करती रही है। कई पौराणिक ग्रन्थोंमें यह बात मिलती है कि व्रजमें, विशेषकर वृन्दावनमें स्वर्गके देवता और देवियाँ तरु लताओं और शाखाओंके रूपमें निवास करती हैं। व्रजमें अनेक गण्यमान्य संत, भक्त, आचार्य और कवि भी हुए हैं, जिन्होंने व्रज-विभूतियोंके गानमें ही अपनी अखंड वाणी-शक्तिका प्रयोग किया है। इनमें बहुतसे भक्तों, आचार्यों और कवियोंका आविर्भाव तो व्रजकी भूमिमें ही हुआ है, किन्तु बहुतसे ऐसे भी मनीषी हैं, जो व्रजकी अपूर्व छटाके आकर्षणसे ही व्रज-भूमिमें आकर बस गए थे, और उन्होंने व्रजकी धरामें उत्पन्न साधकों, सन्तों, और कवियोंकी भाँति ही व्रजके चरणोंमें अपनी भाव-कुसुमांजलि अर्पित करके अपने मानव जीवनकी सार्थकता सिद्ध की है।

यहाँ व्रजके कुछ ऐसे ही सन्तों और भक्तोंका परिचयात्मक चित्र अंकित किया जा रहा है, जिन्होंने अपनी भाव-सुमनांजलिसे आराध्य व्रजके प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट करनेके साथ ही साथ साहित्यके कोषमें अक्षय मणियाँ भी डाली हैं।

श्रीश्रीभट्टजीको व्रज भाषाका बाल्मीकि कहा जाता है। कुछ विद्वानों और आचार्योंके मतानुसार सर्वप्रथम श्रीभट्ट जीने ही व्रज भाषामें रचना की। यही कारण है कि कुछ लोग उन्हें व्रज भाषाका आदि वाणी नियामक कहते हैं। श्रीभट्ट बहुत बड़े भक्त और सन्त थे। उनकी भक्ति और प्रेम सम्बन्धी भावानुभूतियाँ बड़ी श्रेष्ठ थीं। उनकी रचनाओंमें, उनकी अनुभूतियोंके श्रेष्ठ चित्र आज भी देखनेको मिलते हैं। श्रीहरि व्यासदेवजी श्रीभट्ट जीकी शिष्य परम्परामें थे। उन्होंने 'महा वाणी' की रचना की है। भक्ति क्षेत्रमें, निम्बार्क परम्परामें वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे। संस्कृत भाषा पर उनका एकाधिपत्य था। संस्कृतमें उनकी कई रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें उनके गुरु ज्ञान और पांडित्यकी शुभ्रज्योति दृष्टिगोचर होती है। मथुरा उनका निवास स्थान था।

श्रीमद्गोस्वामी वल्लभाचार्यजीके नामसे केवल व्रज ही नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्ष चिर-परिचित है। आज जिस शुद्धाद्वैत सम्प्रदायकी यश-सुरभि भारतके कोने-कोनेमें परिव्याप्त है, वल्लभाचार्य ही उसके प्रवर्त्तक माने जाते हैं। भक्ति और उपासनाके क्षेत्रमें भी वल्लभाचार्यजीने अधिक सुकीर्ति प्राप्त की थी। कहा जाता है कि उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके बाल रूपकी उपासना करके अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। गोकुल और गोवर्द्धन उनकी साधनाका केन्द्र था। उनके पश्चात् उनके वंशमें और भी कई विद्वान और आचार्य हुए हैं, जिन्होंने भक्ति और साधनाके क्षेत्रमें अत्यधिक यश अर्जन किया है।

वल्लभाचार्यजीकी शिष्य परम्परामें कई ऐसे भक्तों, सन्तों और महा कवियोंका आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने अपनी भक्ति और साधवाके साथ ही अपनी रचनाओंके द्वारा भी अमर कीर्ति प्राप्त की है। अष्ट छापके आठ कवियोंकी वह माला जिसके पुष्पोंकी सुरभिसे आज भी हिन्दी साहित्य सुवासित है, वल्लभाचार्यजीकी शिष्य परम्परा द्वारा ही ग्रथित हुई थी। अष्ट छापकी माला, जिन कवि-प्रसूनोंको लेकर गूथी गई थी, उनके नाम इस प्रकार हैं—श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीगोविन्द स्वामी, श्रीछीत स्वामी, श्रीकृष्णदास, श्रीचतुर्भुजदास, श्रीनन्ददासजी, श्रीसूरदासजी, और श्रीकुम्भनदासजी। यों तो अष्टछापके सभी कवियोंने भक्ति, और रचनाके क्षेत्रमें सुकीर्ति प्राप्त की है, पर उनमें सूरदासजी सर्वश्रेष्ठ हैं। सूरदासजी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त होनेके साथ ही साथ महान् काव्य-शिल्पी थे। उन्होंने 'सूरसागर'की रचना करके अमर कीर्ति प्राप्त की है। नन्ददासके 'भ्रमरगीत'में भी प्रेम और वियोगके द्वन्द्वात्मक भावोंका विकास बड़ी सुन्दरताके साथ हुआ है।

हरिराम व्यास व्रजभूमिके बाहरके थे, जो व्रजके सौन्दर्य पर रीझकर व्रजमें ही बस गये थे। उन्होंने व्रज-सौष्ठवका रसास्वादन करनेके लिए अपने राजकीय सुखों और वैभवोंका परित्याग कर दिया था। वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रेम और भक्तिमें राजकीय भवनको छोड़कर व्रजभूमिमें 'पर्ण कुटी'में निवास करते थे। उनके द्वारा श्री व्यासवाणीकी

रचना हुई है, जिसमें उनके भक्ति-पूर्ण हृदयकी मार्मिक झाँकी देखनेको मिलती है। नागरीदासजी भी व्रज सौष्ठव पर मन-प्राणसे निछावर थे। भगवान् श्रीकृष्णके सौंदर्य पर उन्होंने भी अपने राजकीय सुखोंको उत्सर्ग कर दिया था। यद्यपि उनका जन्म राजवंशमें हुआ था, पर जब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमकी वंशी सुनी, तो सब कुछ छोड़ कर व्रजभूमिमें आ पहुंचे और उसकी पावन धरामें लोट-लोटकर अपने जीवनको धन्य बनाने लगे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके प्रेम और भक्तिमें डूबकर प्राण-स्पर्शी पदोंकी रचना की है। उनके द्वारा एक ग्रंथकी भी रचना हुई है, जिसका नाम 'नागर समुच्चय' है।

'रसखान'ने तो भगवान् श्रीकृष्णके प्रेम और भक्तिमें विश्वकी सम्पूर्ण मान्यताओं-को भी तोड़ दिया है। उन्होंने "गोकुल गाँवके ग्वारन" पर अपनी जाति और अपना धर्म तक निछावर कर दिया। वे पहले दिल्लीमें रहते थे, किन्तु जब लौ लगी तो गोकुल जा पहुँचे, और गोकुलनाथ पर शत-शत प्राणोंसे बिक गए। उनके प्राणोंसे निकली हुई सरस पंक्तियाँ पाषाणमें भी प्रेम जगा देती हैं। 'आनन्दघन'जीको व्रज-रजमें लोटनेसे कितना आनन्द प्राप्त होता था, इसकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता। उनकी रचनाओंमें आज भी उनके मनका आनन्द छलकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। श्रीनारायण स्वामी'श्री' और नारायण रूप भगवान् कृष्णके प्रेममें अधिक तन्मय दृष्टिगोचर जान पड़ते हैं। उनकी रचनाओंमें आज भी उनके प्राणोंकी तन्मयता बोलती-सी जान पड़ती है।

श्री निम्बार्क सम्प्रदायके सन्तों और प्रवर भक्तोंने रसकी धारा प्रवाहित करनेमें अद्वितीय कीर्ति प्राप्त की है। उनके रसके आधार हैं—श्रीकृष्ण और राधिका, जिन्हें रसिकजन 'प्रिया' और 'प्रियतम' भी कहते हैं। इन सन्तोंमें श्री रूप रसिकदेव और श्री भगवत रसिकदेव जी अप्रतिम हैं। इन दोनों ही सन्तोंने श्रीकृष्ण और राधिकाकी 'प्रिया प्रियतम'के रूपमें अटूट साधना की है। साधनाके साथ ही साथ उन्होंने उनके प्रेममें डूबकर, उनके चरणोंमें भाव-सुमनांजलि भी अर्पित की है। उन्होंनेजो रचनाएँ की हैं, वे भाव और रस-सिक्त होनेके साथ ही गेय भी हैं। आज भी कितने ही लोग उनकी रचनाओंको गाते और आनन्द प्राप्त करते हैं। प्रायः रासलीलाओंमें उन्हींके पदोंके आधार पर भगवान्की लीलाएँकी जाती हैं।

व्रजके सन्तों और भक्तोंमें श्री स्वामी हरिदासजीका नाम बड़े गौरवके साथ लिया जाता है। स्वामी हरिदास जी उच्चकोटिके साधक होनेके साथ ही साथ कुशल संगीतज्ञ भी थे। उन्होंने संगीत कलामें अक्षय कीर्ति प्राप्त की थी। वे वृन्दावनमें निवास करते थे। आज भी वृन्दावनमें, निधिवनमें उनकी कुछ जीवनोपयोगी वस्तुएँ पवित्र स्मृतिके रूपमें सुरक्षित रखी हुई हैं। स्वामी हरिदासजीकी शिष्य परम्परामें भी कई ऐसे सन्त हुए हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति और वाणीसे सुकीर्ति प्राप्त की है। इन सन्तोंमें श्री विट्ठल विपुलदेव जी, श्रीविहारीदेव जी, श्री सरसदेवजी, और श्री पीताम्बर देवजी आदिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधना और भक्तिके क्षेत्रमें श्री किशोरीदासजीने भी अधिक यश अर्जन किया है। श्री किशोरीदासजी द्वारा एक महा काव्यकी रचना भी हुई है, जिसका नाम "निजमत

सिद्धान्त" है। रामायणकी भाँति 'निजमत सिद्धान्त'में भी दोहे, चौपाइयों और 'काण्डों'की शैलीका उपयोग किया गया है।

भक्ति, साधना, और रचनाके क्षेत्रमें श्री हित सम्प्रदाय, और श्रीराधा वल्लभीय सम्प्रदायके सन्तोंने भी अमर कीर्ति प्राप्त की है। श्री हित सम्प्रदायके प्रवर्त्तक श्री गो० हित हरिवंश चन्द्रजीकी कीर्ति सुरभिसे आज भी व्रजका कोना-कोना सौरभित है। वे एक महान् संत थे। 'राधा' जीकी उपासनामें उन्होंने मानव-हृदयकी सर्वश्रेष्ठ अनुभूतियाँ प्रगट की हैं। उनके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि वे वंशीके अवतार थे, और उन्हें महत्त्वपूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन्होंने श्रीहित चौरासी, श्रीराधा सुधानिधि और यमुनाष्टककी रचना करके रचनाके क्षेत्रमें महान् यश अर्जित किया है। श्रीराधा वल्लभीय सम्प्रदायके संतोंमें श्रीहित चाचा वृन्दावनदासजी बहुत बड़े संत और विद्वान थे। उन्होंने कई ग्रंथोंकी रचना की है। उनके रचित ग्रंथोंमें "श्रीव्रज प्रेमानन्द सागर" अधिक प्रसिद्ध है। यह एक महा काव्य है, जिसमें उनके भक्ति-प्रवण हृदयके मार्मिक चित्र देखनेको मिलते हैं। श्री दामोदरदासजी भी राधावल्लभीय सम्प्रदायके ही सन्त थे, जो सेवकके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनकी 'सेवक वाणी'में भक्ति और प्रेमके उत्कृष्ट चित्र मिलते हैं।

श्रीहित रूपलालजी गोस्वामी, श्री गोस्वामी हरिदास जी, श्रीललितकिशोरी जी, श्री ललित माधुरी जी, श्री गदाधर भट्टजी, श्री सूरदास मदनमोहनजी, श्रीमाधुरीदासजी, श्री बल्लभरसिकजी, श्रीवंशीअलिजी, और श्रीहठीजी आदिका भी व्रजके सन्तोंमें आदरपूर्ण स्थान हैं। इन सभी सन्तोंने भी भक्तिके क्षेत्रमें सर्वश्रेष्ठ अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, और अपनी श्रेष्ठ रचनाओंके द्वारा व्रजभाषाके साहित्य-निर्माणमें योग प्रदान किया है।

कौन ऐसा है, जो व्रजके इन संतोंके चरणोंमें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करके अपने मानव-जीवनको सफल बनानेके लिए विकल न होगा, क्योंकि इन सन्तोंने उस पवित्र व्रज-भूमिके स्तवन गानमें अपना तन-मन, प्राण अर्पित कर दिया है, जिसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही कहते हैं—

"ऊधो, मोहि व्रज बिसरत नाहीं।"

●

राधा-स्तुति

राधा-राधा कहत हैं, जे नर आठो याम।
ते भव-सिंधु उलंघि कें, वसत सदा व्रजधाम॥
राधा राधा जे कहैं, ते न परें भव फंद।
जासु कंध पर कर कमल, धरे रहत व्रज चंद॥

—*श्री हठी जी*

"यदि मनुष्य मृत्युके पश्चात् पुनः शरीर धारण करके, जन्म लेनेके लिए बाध्य न हो तो वह जरा, व्याधि, और मृत्युकी पीड़ाओंसे मुक्ति पा सकता है। वह कौनसा पाप है, जिस पर चलकर मनुष्य मृत्युके पश्चात् शरीर धारण करनेके लिए बाध्य नहीं हो सकता। महात्मा बुद्धने उस पथका उद्घाटन किया है। वह पथ है आत्मदर्शन।"

जरा, व्याधि और मृत्युपर विजय

श्रीअनिलचन्द्र

बाल्यावस्था और किशोरावस्थामें मनुष्य विश्वमें जिस ओर दृष्टि डालता है, उसे उल्लास ही उल्लास, आनन्द ही आनन्द और सौन्दर्य ही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थने अपनी निम्नांकित पंक्तियोंमें उसका चित्रण इस रूपमें किया है:—

"मेरे जीवनमें एक दिन था, जब पृथ्वीके प्रांत, कुंज, वन, निर्झरिणी, और सरिताके साधारण दृश्यमें भी मुझे स्वर्गीय आनन्द, सौंदर्य, सजीवता, और मृदुताका ही आभास प्राप्त होता था।"

पर आयु वृद्धिके साथही मनुष्यकी आँखें परिवर्तित हो जाती हैं, और उसके आनंदमय स्वप्नका भवन ढह जाता है। बाल्यावस्था और किशोरावस्थामें वह जगतकी जिन वस्तुओं और दृश्योंमें 'सुख' और 'आनन्दकी' झलक पाता था, वृद्धावस्थामें वही वस्तुयें, और वही दृश्य निःसार तथा आनंदहीन प्रतीत होने लगते हैं।

सिद्धार्थने देखा, मानव जीवनका यह परिवर्तन—

"काल का प्रवाह—भीषण प्रवाह,
धन, यौवन, सौन्दर्य—सभी गिर
पड़ते हैं टूट-टूट कर,
रहता है न शेष चिह्न मात्र उसका।"

उन्होंने उस भयानक जराके चित्रोंको देखा, जो उछलते हुए यौवनको दबाकर उसके वक्षःस्थल पर आरुढ़ हो जाती है, और सभी इन्द्रियोंको विकल तथा विषण्ण बना देती है।

उन्होंने उन रोगोंकी विभीषिकाओंको भी देखा, जो जीवन-तरु को कुरूप बना देते हैं, और उसके सम्पूर्ण पत्रों तथा डालियोंको अशक्त बनाकर गिरा देते हैं। उन्होंने मृत्युकी वह तमिस्रा भी देखी, जो मनुष्य के जीवनके संपूर्ण कोलाहल, सम्पूर्ण द्वन्द्व, और सम्पूर्ण हास-विलासोंको ढंक लेती है। सिद्धार्थ मानव जीवनके इस परिवर्तन, घोर परिवर्तन को देखकर व्याकुल हो उठे। उनके भीतर प्रश्न जाग उठे—

"क्या मेरा कोई अस्तित्व नहीं ?
क्या जो कुछ मैं देख रहा हूँ,
उसका यही अंतिम परिणाम है ?"

सिद्धार्थ इन प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त करनेके लिए, सत्यको ढूंढ़नेके लिए स्त्री, पुत्र, राज्य, सुख और वैभवको त्याग कर घरसे निकल पड़े, और संन्यासी हो गए।

सिद्धार्थने अपने प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त करनेके लिए बहुत दिनों तक कठोर साधना की। उन्होंने सिद्धि प्राप्त करके, मानव जातिके कल्याणका वह संकल्प भी पूर्ण किया, जिसके लिए वे अपने नवजात पुत्रके मोहकी लौह जंजीरोंको काटकर, घरसे निकले थे। सिद्धार्थकी वह सिद्धि ! मानव जातिका उनका वह कल्याण मंत्र ! उसका रूप क्या है—उसका अर्थ क्या है ? मनुष्य तो आज भी जरा और व्याधिके बंधनोंसे मुक्ति नहीं पा सका। स्वयं महात्मा बुद्ध भी जरा-ग्रस्त होकर, व्याधिसे पीड़ित ही हुए थे, और अस्सी वर्षकी अवस्थाके पश्चात् उन्हें भी मृत्युके अंकमें सोना पड़ा था। महात्मा बुद्धने स्वयं देखा—स्वयं अनुभूति प्राप्त की—"जिसने शरीर धारण किया है, उसे जरा, व्याधि और मृत्युसे उत्पीड़ित होना ही पड़ेगा—

जन्म धारण किया है जिसने
उसे जाना पड़ेगा अवश्य
मृत्यु की गोद में
चिर स्थिर क्या हो सकता है, कभी,
जल का हाय जीवन-प्रवाह ?"

पर यदि मनुष्य मृत्युके पश्चात् पुनः शरीर धारण करके जन्म लेनेके लिए बाध्य न हो, तो वह जरा, व्याधि, और मृत्युकी पीड़ाओंसे मुक्ति पा सकता है। पर वह कौन सा पथ है, जिस पर चलकर मनुष्य मृत्यु के पश्चात् शरीर धारण करनेके लिए बाध्य नहीं हो सकता ? महात्मा बुद्धने इस पथका उद्घाटन किया है। वह पथ है आत्म-दर्शन—मनुष्य अपनी संपूर्ण वासनाओंको छोड़कर, इन्द्रियोंको वशमें करके, अन्तर्मुख होकर अपने शरीरमें ही अपनी आत्माका अनुसंधान करे। शरीरके भीतर आत्मा ही वह सत्ता है, जो अनादि है, अनन्त है। आत्मा ही जरा, व्याधि और मृत्युकी पीड़ाओंसे परे है। संसारका कोई सुख, कोई दुख आत्माको स्पर्श नहीं करता। आत्मा चिर शान्तिमय है, चिर ज्योतिर्मय है, और है चिर आनन्द मय। यही आत्मा हमारी मूल सत्ता है, हम सबका वास्तविक 'मैं' है। यह शरीर 'मैं' नहीं। पुराने वस्त्रकी भाँति इस शरीरको छोड़नेके पश्चात् भी 'मैं' रहता हूँ, मैं

रहूँगा, मेरी आत्माको किसी भी प्रकारकी क्षति प्राप्त नहीं होती, न कभी होगी। इसी आत्माको जानना-पहचानना ही शाश्वत ज्ञान है, दिव्य चेतना है। आत्माकी शाश्वतताको समझना ही वास्तविक अमृत है, अमरत्व है। योग साधनाके द्वारा इस 'अमृत तत्त्व'को प्राप्त किया जा सकता है। महात्मा बुद्धने इसी 'अमृत तत्त्व'की सिद्धि प्राप्तकी थी, महात्मा बुद्धने 'आत्मा' शब्दका प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने 'आत्मा'के स्थानपर 'निर्वाण' शब्दको प्रयुक्त किया है। इसका कारण यह है, कि सभी प्रकारकी 'अहम्-जनित' कामनाओं और वासनाओं का 'निर्वाण' करने के पश्चात् ही उस आत्मिक चैतन्यमय शान्तिमें प्रवेश किया जा सकता है, जिसमें प्रवेशके पश्चात् न जरा है, न मृत्यु है, और न पुनर्जन्मकी विवशताएँ हैं। महात्मा बुद्धकी शिक्षा और उनका उपदेश मूल रूपमें उपनिषद् और वेदकी ही शिक्षा है। केवल अपने ढंगसे उन्होंने उसका साधारण जनवर्गमें प्रचारमात्र किया है।

पर संसारमें कितने ऐसे मनुष्य हैं, जो इस महादर्शके मार्ग पर चलकर, संसारकी आसक्तिको छोड़कर 'मुक्ति' प्राप्त करनेके लिए उत्कंठित हैं। आध्यात्मिक आदर्शोंकी उच्चता और उनके महत्त्वको स्वीकार करने पर भी आज मनुष्य जरा-व्याधि-मृत्युसे पूर्ण सांसारिक जीवनके प्रति अनुरक्त है। इसका एकमात्र कारण यह है, कि इस दुखपूर्ण जीवनमें जो रस है, जो 'आनन्द' है, उसका आकर्षण मानवके लिये अधिक तीव्र है, अधिक प्रबल है। फिर मानव शरीरको किन उपायोंसे जरा और व्याधिके दुःखोंसेमुक्त किया जा सकता है, तथा जीवनको किस प्रकार सभी प्रकारके दुःखोंसे छुड़ाया जा सकता है ? इसके लिए मनुष्य युग-युगोंसे चेष्टा करता चला आ रहा है।

आधुनिक विज्ञानने इस बातकी घोषणा की है, कि स्तनपायी जीवोंको पूर्ण वयस्क होनेमें जितना समय लगता है, उसीके हिसाबसे उनकी आयु उस से पाँच गुना होती है। इस हिसाबसे मनुष्यकी आयु १२५ वर्ष होनी चाहिए। क्योंकि मनुष्य भी स्तनपायी जीव है, और वह पच्चीस वर्षमें पूर्ण वयस्क होता है। भारतके उपनिषद्कारोंका भी कथन है-

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।

'इस संसारमें कर्म संपादन करते हुए एक शतवर्ष जीवित रहना चाहता हूँ।' वस्तुतः कर्म ही शक्ति है। इसी प्रकार इन्द्रियोंकी शक्तियोंकी स्वस्थता और प्रभावपूर्णताका नाम ही यौवन है। अतः उपनिषद्के आदर्शानुसार एक शत वर्ष तक जीवित रखनेका अर्थ यौवनकी रक्षा, तथा जरा और व्याधियों पर विजय प्राप्त करना ही है। पर वह किस प्रकार किया जा सकता है ?भारतके योगियों और ऋषियोंने इसके व्यावहारिक दृष्टान्त उपस्थित किए हैं। वे केवल वाह्य वैज्ञानिक प्रणालीके ऊपर ही निर्भर नहीं रहते थे, वरन् योग साधनाके द्वारा शरीरको जरा और व्याधियोंसे मुक्त करते थे। इतना ही नहीं, मृत्युको भी विजित करते थे। साधारण मनुष्यों की भाँति उनकी जब तब मृत्यु नहीं हो जाती थी, वरन् उनकी 'इच्छा मृत्यु' होती थी, अर्थात् जब वे शरीर छोड़नेकी इच्छा करते थे, तभी उनकी मृत्यु होती थी। उपनिषद्का भी कथन है—

उन्होंने उन रोगोंकी विभीषिकाओंको भी देखा, जो जीवन-तरु को कुरूप बना देते हैं, और उसके सम्पूर्ण पत्रों तथा डालियोंको अशक्त बनाकर गिरा देते हैं। उन्होंने मृत्युकी वह तमिस्रा भी देखी, जो मनुष्य के जीवनके संपूर्ण कोलाहल, सम्पूर्ण द्वन्द्व, और सम्पूर्ण हास-विलासोंको ढँक लेती है। सिद्धार्थ मानव जीवनके इस परिवर्तन, घोर परिवर्तन को देखकर व्याकुल हो उठे। उनके भीतर प्रश्न जाग उठे—

"क्या मेरा कोई अस्तित्व नहीं ?
क्या जो कुछ मैं देख रहा हूँ,
उसका यही अंतिम परिणाम है ?"

सिद्धार्थ इन प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त करनेके लिए, सत्यको ढूंढ़नेके लिए स्त्री, पुत्र, राज्य, सुख और वैभवको त्याग कर घरसे निकल पड़े, और संन्यासी हो गए।

सिद्धार्थने अपने प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त करनेके लिए बहुत दिनों तक कठोर साधना की। उन्होंने सिद्धि प्राप्त करके, मानव जातिके कल्याणका वह संकल्प भी पूर्ण किया, जिसके लिए वे अपने नवजात पुत्रके मोहकी लौह जंजीरोंको काटकर, घरसे निकले थे। सिद्धार्थकी वह सिद्धि ! मानव जातिका उनका वह कल्याण मंत्र ! उसका रूप क्या है—उसका अर्थ क्या है ? मनुष्य तो आज भी जरा और व्याधिके बंधनोंसे मुक्ति नहीं पा सका। स्वयं महात्मा बुद्ध भी जरा-ग्रस्त होकर, व्याधिसे पीड़ित ही हुए थे, और अस्सी वर्षकी अवस्थाके पश्चात् उन्हें भी मृत्युके अंकमें सोना पड़ा था। महात्मा बुद्धने स्वयं देखा—स्वयं अनुभूति प्राप्त की—"जिसने शरीर धारण किया है, उसे जरा, व्याधि और मृत्युसे उत्पीड़ित होना ही पड़ेगा—

जन्म धारण किया है जिसने
उसे जाना पड़ेगा अवश्य
मृत्यु की गोद में
चिर स्थिर क्या हो सकता है, कभी,
जल का हाय जीवन-प्रवाह ?"

पर यदि मनुष्य मृत्युके पश्चात् पुनः शरीर धारण करके जन्म लेनेके लिए बाध्य न हो, तो वह जरा, व्याधि, और मृत्युकी पीड़ाओंसे मुक्ति पा सकता है। पर वह कौन सा पथ है, जिस पर चलकर मनुष्य मृत्यु के पश्चात् शरीर धारण करनेके लिए बाध्य नहीं हो सकता ? महात्मा बुद्धने इस पथका उद्घाटन किया है। वह पथ है आत्म-दर्शन—मनुष्य अपनी संपूर्ण वासनाओंको छोड़कर, इन्द्रियोंको वशमें करके, अन्तर्मुख होकर अपने शरीरमें ही अपनी आत्माका अनुसंधान करे। शरीरके भीतर आत्मा ही वह सत्ता है, जो अनादि है, अनन्त है। आत्मा ही जरा, व्याधि और मृत्युकी पीड़ाओंसे परे है। संसारका कोई सुख, कोई दुख आत्माको स्पर्श नहीं करता। आत्मा चिर शान्तिमय है, चिर ज्योतिर्मय है, और है चिर आनन्द मय। यही आत्मा हमारी मूल सत्ता है, हम सबका वास्तविक 'मैं' है। यह शरीर 'मैं' नहीं। पुराने वस्त्रकी भाँति इस शरीरको छोड़नेके पश्चात् भी 'मैं' रहता हूँ, मैं

रहूँगा, मेरी आत्माको किसी भी प्रकारकी क्षति प्राप्त नहीं होती, न कभी होगी। इसी आत्माको जानना-पहचानना ही शाश्वत ज्ञान है, दिव्य चेतना है। आत्माकी शाश्वतताको समझना ही वास्तविक अमृत है, अमरत्व है। योग साधनाके द्वारा इस 'अमृत तत्त्व'को प्राप्त किया जा सकता है। महात्मा बुद्धने इसी 'अमृत तत्त्व'की सिद्धि प्राप्तकी थी, महात्मा बुद्धने 'आत्मा' शब्दका प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने 'आत्मा'के स्थानपर 'निर्वाण' शब्दको प्रयुक्त किया है। इसका कारण यह है, कि सभी प्रकारकी 'अहम्-जनित' कामनाओं और वासनाओं का 'निर्वाण' करने के पश्चात् ही उस आत्मिक चैतन्यमय शान्तिमें प्रवेश किया जा सकता है, जिसमें प्रवेशके पश्चात् न जरा है, न मृत्यु है, और न पुनर्जन्मकी विवशताएँ हैं। महात्मा बुद्धकी शिक्षा और उनका उपदेश मूल रूपमें उपनिषद् और वेदकी ही शिक्षा है। केवल अपने ढंगसे उन्होंने उसका साधारण जनवर्गमें प्रचारमात्र किया है।

पर संसारमें कितने ऐसे मनुष्य हैं, जो इस महादर्शके मार्ग पर चलकर, संसारकी आसक्तिको छोड़कर 'मुक्ति' प्राप्त करनेके लिए उत्कंठित हैं। आध्यात्मिक आदर्शोंकी उच्चता और उनके महत्त्वको स्वीकार करने पर भी आज मनुष्य जरा-व्याधि-मृत्युसे पूर्ण सांसारिक जीवनके प्रति अनुरक्त है। इसका एकमात्र कारण यह है, कि इस दुखपूर्ण जीवनमें जो रस है, जो 'आनन्द' है, उसका आकर्षण मानवके लिये अधिक तीव्र है, अधिक प्रबल है। फिर मानव शरीरको किन उपायोंसे जरा और व्याधिके दुःखोंसेमुक्त किया जा सकता है, तथा जीवनको किस प्रकार सभी प्रकारके दुःखोंसे छुड़ाया जा सकता है? इसके लिए मनुष्य युग-युगोंसे चेष्टा करता चला आ रहा है।

आधुनिक विज्ञानने इस बातकी घोषणा की है, कि स्तनपायी जीवोंको पूर्ण वयस्क होनेमें जितना समय लगता है, उसीके हिसावसे उनकी आयु उस से पाँच गुना होती है। इस हिसावसे मनुष्यकी आयु १२५ वर्ष होनी चाहिए। क्योंकि मनुष्य भी स्तनपायी जीव है, और वह पच्चीस वर्षमें पूर्ण वयस्क होता है। भारतके उपनिषद्कारोंका भी कथन है-

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।

'इस संसारमें कर्म संपादन करते हुए एक शतवर्ष जीवित रहना चाहता हूँ।' वस्तुतः कर्म ही शक्ति है। इसी प्रकार इन्द्रियोंकी शक्तियोंकी स्वस्थता और प्रभावपूर्णताका नाम ही यौवन है। अतः उपनिषद्के आदर्शानुसार एक शत वर्ष तक जीवित रखनेका अर्थ यौवनकी रक्षा, तथा जरा और व्याधियों पर विजय प्राप्त करना ही है। पर वह किस प्रकार किया जा सकता है? भारतके योगियों और ऋषियोंने इसके व्यावहारिक दृष्टान्त उपस्थित किए हैं। वे केवल वाह्य वैज्ञानिक प्रणालीके ऊपर ही निर्भर नहीं रहते थे, वरन् योग साधनाके द्वारा शरीरको जरा और व्याधियोंसे मुक्त करते थे। इतना ही नहीं, मृत्युको भी विजित करते थे। साधारण मनुष्योंकी भाँति उनकी जब तब मृत्यु नहीं हो जाती थी, वरन् उनकी 'इच्छा मृत्यु' होती थी, अर्थात् जब वे शरीर छोड़नेकी इच्छा करते थे, तभी उनकी मृत्यु होती थी। उपनिषद्का भी कथन है—

न तस्य रोगः न जरा, न मृत्यु :
प्राप्तस्य योगाग्नि मयं शरीरम् ।।

जिन्होंने योगाग्निमय शरीर प्राप्त किया है, उन्हें रोग नहीं होता, जरा नहीं होती, और अनिच्छित मृत्यु भी नहीं होती।

पर यह योग साधना किस प्रकार की जा सकती है? इसके लिये संयम, और सदाचार बहुत आवश्यक हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योग भवति दुःखहा ।।

जो व्यक्ति आहार विहार, संपूर्ण कर्म, निद्रा और जागरणसे संयमी होता है, उसका योग दुःख विनाशक होता है।

अज्ञानतावश सभी प्रकारके विषयोंके प्रति अनुचित आचरण और असंयम ही जरा, रोग और मृत्युका मूल कारण है। यही कारण है, कि प्राचीन कालमें भारतमें बालक-बालिकाओं को ब्रह्मचर्याश्रममें ही शिक्षा प्राप्त करनी होती थी, पर वर्तमानकालकी शिक्षा विधिमें इस विधानको स्थान नहीं। परिणामतः भारतीय नरनारी दिनों-दिन क्षीण, दुर्बल और स्वल्प जीवी होते जा रहे हैं। पर क्या आजके युगमें यह संभव है कि प्राचीन कालकी शिक्षा प्रणाली पुनः परिचालित हो सकेगी? नहीं, फिर भी जो दीर्घायु और चिर यौवनके आकांक्षी हैं, उन्हें बाल्यावस्था से ही पवित्रता, मिताचार, और संयमका अभ्यास तो करना ही चाहिये, या उन्हें इस ओर प्रवृत्त करना ही चाहिए। गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

'काम, क्रोध और लोभ ही मनुष्यके प्रधान शत्रु, और नरकके द्वारके समान हैं।'

इन्हीं शत्रुओंको दृढ़ संकल्प द्वारा जय करना होगा; नहीं तो किसी भी मनुष्यको जीवनमें वास्तविक सुख, शान्ति, और आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। आनन्दोपभोग, यहाँ तक, कि शारीरिक और इन्द्रिय आनन्दोपभोग भी पाप नहीं है। भगवान् स्वयं चिर आनंदमय हैं, उन्होंने आनंद, और सुखके लिये ही इस विश्वकी रचना की है। किन्तु जो क्षणिक उत्तेजना और सुखके लोभसे असंयमी तथा अमिताचारी हो जाते हैं, उनके जीवनकी वास्तविक आनन्दोपभोगकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वे जीवित रहते हुए भी उस आनन्द और सुखके स्वाद से वंचित हो जाते हैं, जो केवल उन्हींके लिये है।

जिन्हों ने अपने मनको संयमके रज्जुसे कसकर बाँध रक्खा है, उनका शरीर, प्राण, और इंद्रियों पर असाधारण प्रभुत्व होता है। आजकल मनुष्य जिन सभी दुःखों और पीड़ाओंको अपरिहार्य समझता है, उनका शमन भी मनकी शक्तिके द्वारा किया जा सकता है। किन्तु संयमके द्वारा अकाल मृत्यु, अकाल वार्धक्य, और नाना प्रकारके रोगोंसे मुक्ति पाने पर भी, इन सब पर पूर्ण-रूपेण विजय नहीं मिलती। पूर्ण रूपेण विजयका उपाय तो केवल योग-साधन ही है। आत्माको जाननेसे ही, भगवानको जानने से ही, भगवानके

साथ सज्ञान-संयुक्त होने से ही आत्मशक्तिके द्वारा मन, प्राण यहाँ तक कि शरीरकी त्रुटियाँ तथा अपूर्णता दूर हो सकेंगी, और तभी मनुष्य वास्तविक रूपमें जरा, रोग, और मृत्यु पर विजय भी प्राप्त कर सकेगा। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी इसी ओर इंगित किया है—

'जरा मरण मोक्षाय मामाश्रिता यतास्ति जे।'

जरा और मृत्युके बंधनोंसे मुक्त होनेके लिये सभी प्रकारकी कामनाओं और वासनाओंको छोड़कर,—बाह्य आकर्षणोंसे विमुख होकर अन्तर्मुखी होना पड़ेगा तथा भगवान्की शरणमें जाकर योग-साधना करनी होगी और योग-साधनाके द्वारा आत्मप्राप्ति करनी होगी। किन्तु आत्मप्राप्तिके पश्चात् भी इस दुःखमय, अनित्य सांसारिक जीवनमें पुनः लौटकर आनेका क्या अर्थ है? वास्तवमें आत्म-प्राप्तिका अर्थ यह है, कि जबतक यह शरीर रहे, बाह्य सुख-दुःखों में रति न हो, केवल आनन्द-परमानन्दकी अनुभूति हो, और स्वाभाविक मृत्यु होने पर ब्रह्ममें प्रविष्टि हो जाय, तथा पुनःजन्म न लेना पड़े। पुनः जन्म न हो, पुनः जरा, व्याधि और मृत्युके बंधनोंमें न आग्रस्त होना पड़े साधारण रूपसे इसीके लिये अध्यात्म-साधना की जाती है। यही योग-साधनाका भी लक्ष्य है। महात्मा बुद्धने इसी पथका उद्घाटन किया है। भारत चिर प्राचीन कालसे अध्यात्म-साधनाके इस पथ पर चलता चला आ रहा है।

महामनीषी अरविन्दने भी योग-साधनाकी ओर ही इंगित किया है। उनका कथन है, कि मुक्ति और आध्यात्मिक उच्च पदको प्राप्त करना ही मानव जीवनका लक्ष्य नहीं है, वरन् उसका लक्ष्य है आत्मा और भगवान्की शक्तिके द्वारा जड़शील मानव शरीरको जरा, व्याधि, और मृत्युकी पीड़ाओंसे निष्कृति दिलाना। इस लक्ष्य तक पहुँचने वाला ही मानव 'अति मानव' है- नश्वर शरीरी होने पर भी देवता है। इस लक्ष्यको प्राप्त करने पर ही वे क्रांन्तियाँ-आँधियाँ पूर्ण हो सकेंगी, जो आज पृथ्वी पर उठ पड़ी हैं। अरविन्दकी इस योग साधनाके इस सिद्धान्तमें वेद, उपनिषद् और पाश्चात्य विज्ञानका अपूर्व ढंगसे समन्वय हुआ है। पृथ्वीके क्रम-विकासके परिणाम स्वरूप जिस प्रकार जड़ से उद्भिज, उद्भिजसे पशु, और पशुसे मानवकी विवृति हुई है, उसी प्रकार अरविन्दके सिद्धांतानुसार मानवसे ही 'अति मानव' उद्भावित होगा। मनुष्यके जीवनका यही परम लक्ष्य है। अतः मनुष्यकी संपूर्ण चेष्टाओं, और संपूर्ण साधनाओं का यही लक्ष्य होना ही चाहिये। विश्वमें भारत ही एक ऐसा देश है, जो विश्वके संपूर्ण मानवको इस महान् और आनंदमय साधनाके पथ पर अग्रसर कर सकेगा।

●

नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होहिं न कोटिक गुंजा॥
—तुलसीदास जी

"सखे, मैं तुम्हारी भक्ति और प्रेमसे अत्यन्त संतुष्ट हूँ। फिर तुम क्यों तपस्या करते हो ? तुम क्या अभी मुझको पर समझते हो ? मित्र, मैं तुमसे अभिन्न हूं।—"यह कहकर सुर-वर श्री कृष्णने अपने सब आभूषण उतारकर भद्रतनुको पहना दिए।"

श्रीकृष्ण-भक्ति की डोर में

पुरुषोत्तम नामके नगरमें भद्रतनु नामके एक ब्राह्मण रहते थे। यह सुश्री, प्रियवादी एवं पवित्र कुलके थे। परन्तु कुसंगके प्रभावसे वह दुराचारी, विलासी व व्यसनी हो गए थे। सत्यभाषण, गुरु-अतिथियोंकी पूजा आदि पुण्य-कर्ममें उनकी रुचि नहीं थी। एक दिन उस पापाचारी ब्राह्मणने लोकलज्जाके भयसे पितृश्राद्ध किया, परन्तु उस दिन भी यह व्यसनसे निवृत्त नहीं रहे। उनका दुराचार देखकर सुमध्या नामकी एक वारांगनाने उनको धिक्कार देकर कहा—"तुम जैसे पुत्रसे तुम्हारे पिता पुत्रहीन हो गये हैं। उनका उद्धार नहीं होगा क्योंकि पितृश्राद्धके दिन भी तुम वेश्यालयमें आये हो। इस लगनसे यदि तुम भगवान विष्णुमें अपना ध्यान लगाते, तो तुम्हारी सद्गति होती। जीवन अनित्य है, यह जानकर भी धर्ममें तुम्हारी रुचि नहीं होती। अभी भी समय है, तुम पापवासना परित्याग करके पुण्य अर्जन करो।"

सुमध्याके ये वचन सुनकर भद्रतनुको चैतन्य हुआ। वह सोचने लगे—"अहो, यह वारांगना भी मुझसे अधिक धर्मात्मा है। पवित्र ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेकर भी मेरे मनमें धर्म, ज्ञान, ईश्वरभक्तिका लेश भी नहीं है। अब मेरी क्या गति होगी ?"

ऐसी चिन्ता करते हुए भद्रतनुने सर्वधर्मज्ञ, महात्मा मार्कण्डेय मुनिके आश्रममें जाकर मुनिवरसे कहा—"हे मुनिश्रेष्ठ, आप नारायण स्वरूप हैं। आपको सर्वलोक हितैषी, ज्ञानसागर, निर्विकार महात्मा जानकर, पापाधम मैं आपकी शरणमें आया हूँ। मेरा उद्धार कीजिए।"

मार्कण्डेयने कहा—"तुम पश्चात्तापके कारण पापमुक्त हो। जगन्नाथ तुम पर प्रसन्न हैं, क्योंकि तुम्हारी आत्माने आत्म चैतन्यको प्राप्त किया है। तुम्हारा शुभ समय उपस्थित हुआ है। तुम दान्त नामके महाप्रज्ञ धार्मिक ब्राह्मणके पास जाओ। वह तुमको जानने योग्य सब ज्ञान सिखायेंगे।"

तब भद्रतनुने दान्तके सुन्दर, पवित्र आश्रममें जाकर उनकी चरण वन्दना की। दान्त ने मधुर वचनसे कहा—"भद्र तुम कौन हो, कहाँसे, किस प्रयोजनसे आए हो?" भद्रतनुने दान्तसे सब वृतान्त कहा। सौम्य मूर्ति दान्तने प्रसन्न चित्तसे कहा—

"विप्र, चिन्ता न करो। कुसंग त्याग करके केशवकी आराधना करो। भगवान् विष्णुके नाम स्मरण करके अहोरात्र विष्णुव्रतका पालन करो नित्य पंच महायज्ञका अनुष्ठान करो। हरिकथा-श्रवण व हरिनाम मन्त्र जपा करो। इसी प्रकार तुम ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष-लाभ कर सकोगे।" ऐसा कहकर ब्राह्मण दान्तने इन सब धर्माचरणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया। दान्तके वचनके अनुसार, भद्रतनु एकान्त चित्तसे हरिपूजन करने लगे। करुणामय हरि उनकी दृढ़ भक्तिसे अत्यन्त प्रसन्न होकर तेजोमय रूपमें सहसा आविर्भूत हुए। ब्राह्मण भद्रतनु जगदीश कमालापतिका साक्षात् दर्शन पाकर परम हर्षसे कृतांजलि होकर उनका स्तव करने लगे—

"हे कमलाकान्त, इस संसारमें मेरे जैसा कोई भाग्यवान नहीं है। पापी होकर भी मैंने आपका दर्शन प्राप्त किया। मेरा जन्म सार्थक है। हे केशव! मेरा मन सदा आपका चिन्तन करे। आपके दर्शनसे मेरा पाप दूर हो गया। मैं कृतार्थ हूँ।" ऐसा कहकर भद्रतनु विष्णुके चरणकमल पर पतित हुए। भक्त-वत्सल हरिने भक्तकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर कहा—"वत्स, उठो। मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण करूंगा। तुम वर मांगो।"

भद्रतनुने कृतांजलि होकर कहा—"हे परमेश, मेरे जैसा भाग्यवान् संसारमें कौन है? महापापिष्ठ होकर भी मैंने आपका दर्शन किया। मेरा और क्या अभीष्ट हो सकता है? फिर भी हे देवेश, हे अच्युत, मैं आपसे यही वर मांगूंगा कि जन्म-जन्मातरमें भी आपके चरणोंमें मेरी भक्त अटल होवे।"

भगवान् श्री हरिने भद्रतनुका वचन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—"हे विप्र, तथास्तु। परन्तु, तुम मेरे भक्त-श्रेष्ठ हो, मैं तुमसे मित्रता करना चाहता हूँ। तुम मेरे सेवक नहीं, मित्र हो।" यह कहकर भक्तवत्सल नारायणने प्रेमसे अपनी कंठमाला भद्रतनुको पहना दी। भद्रतनुने भी श्री हरिको तुलसीमाला अर्पण की। भगवानने बाहु प्रसारित करके भद्रतनुको आलिंगन किया। इस प्रकार दोनोंकी मित्रता स्थापित होने पर दोनों परम आनन्दसे क्रीड़ा आदि मनोविनोदके द्वारा समय बिताने लगे। एक दिन श्री विष्णुने भद्रतनुको कृश व परिश्रान्त देखकर, इसका कारण पूछा। भद्रतनुने कहा—

भगवान्, आपकी तुष्टिके लिए, मैं सदा तपस्यामें निरत रहता हूँ। यही मेरी कृशताका कारण है।" भक्तवत्सल, परम कारुणिक भगवान्ने परम विस्मयसे कहा—

"सखे, मैं तो तुम्हारी भक्ति और प्रेमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। फिर तुम क्यों तपस्या करते हो? मेरे मित्रके लिए इसकी क्या आवश्यकता है? तुम क्या अभी मुझको पर समझते हो? मित्र, मैं तुमसे अभिन्न हूँ।" यह कहकर सुरवर कृष्णने अपने सब आभूषणउतार कर भद्रतनुको पहना दिये। भद्रतनु भी परम प्रीत व प्रसन्न होकर सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन ब्राह्मण, श्रेष्ठ दान्तने भद्रतनुका सुन्दर, सुविभूषित हास्योज्वल रूप देखकर अत्यन्त विस्मित होकर कहा—

"भद्र, अभी तुम संसारके विषयभोगमें अनुरक्त हो। मेरी शिक्षाका तुम पर कुछ भी सुफल नहीं हुआ? तुम्हारे साथ में भी निन्दाका पात्र हो गया हूँ। तुम जैसे पापीको शिष्य बनाकर अब मैं पश्चाताप कर रहा हूँ। "यह सुनकर भद्रतनुने अत्यन्त नम्रतासे कहा—"हे विप्रवर, आपने भूल की हैं। मुझसे आपका कोई अपयश नहीं हुआ। आपकी कृपासे मेरा अभीष्ट सिद्ध हुआ है। "दान्तने कहा—"तुम्हारा अभीष्ट कैसे सिद्ध हुआ? इतने अल्प समयमें तुम्हारी तपस्याका अन्त कैसे हुआ?"

भद्रतनुने कहा—"विप्रवर, श्री भगवान्‌ने मुझपर कृपा की है। उनके प्रसादसे मेरा अभीष्ट सिद्ध हुआ है। अधिकन्तु, भक्तवत्सल, श्री हरिने मेरे साथ मित्रता-सम्बन्ध स्थापित किया है। अहोरात्रमें उनसे अभिन्न हूँ। ये आभूषण उन्हीं के हैं। उन्हींने मुझको पहना दिये हैं।" सुनकर दान्तने गद्‌गद् होकर कहा, "तुम महाभाग्यवान् हो। सात हजार वर्षसे मैं तपस्या कर रहा हूँ, पर अभी भी मेरा अभीष्ट सिद्ध नहीं हुआ और तुमको देवदुर्लभ हरिदर्शन प्राप्त हुआ। तुम धन्य हो। अब तुमसे मेरा एक अनुरोध है। तुम कृपया मुझको भी हरिदर्शन कराओ।"

दान्तके वचन सुनकर विष्णुभक्त भद्रतनुने दूसरे दिन श्रीश्री जगन्नाथसे विनीत वचन कहे—

"हे कमलापते, मेरा गुरु विप्रवर दान्त आपके दर्शनका भिखारी है। वह आपके अत्यन्त भक्त, तपोनिष्ठ, महात्मा हैं। यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मेरे गुरु पर भी कृपा कीजिए। उनको दर्शन देकर मेरी लाज बचाइये। भद्रतनुके कातर वचन सुनकर प्रभावित हुए श्रीहरिने सम्मति दे दी। दान्तने सर्वभूषणयुक्त श्रीविष्णुके परम मनोहर, योगिजन दुर्लभ रूपको देखकर वाष्पाकुलनयन तथा हर्ष-गद्‌गद् कंठसे उनकी स्तुति की। भक्तिग्राही, दयामय, भगवानने भी दान्तके मस्तक पर अपना कर-पद्‌म रखकर कहा—"द्विजवर, तुम मेरे परम भक्त हो, इसीलिए मेरे दर्शन पानेमें समर्थ हुए हो। अब मेरी कृपासे तुम्हारा कल्याण होगा।" ऐसा कहकर श्री ने दान्तको भी आलिंगन देकर कृतार्थ किया। विप्रवर दान्तने विष्णुकी अर्चना करके विष्णुलोक को प्राप्त किया। विष्णुभक्तिरत भद्रतनु भी आयु समाप्त होने पर देवदुर्लभ मोक्षलाभसे धन्य हुए।

●

हरि-भगतनके चरितकों, बरनै सो कवि कौन।

कोमल, पङ्कजते अधिक, तिनके हिय हरि-भौन॥

"हिन्दू धर्मकी विशेषता यह है, कि वह सर्व व्यापक है और प्रत्येक नए मत, विचारका स्वागत करता है। उसका दावा है, कि वह मानव जाति, मानव प्रकृति, तथा सम्पूर्ण विश्वका धर्म है । वह किसी दूसरे धर्मके विकासका विरोध नहीं करता; क्योंकि वह सर्वग्राही तथा विस्तृत सीमांचलमें अन्य धर्मोको ग्रहण करनेकी शक्ति रखता है।"

समष्टिगत हिन्दू धर्म

स्व० डा० सी० पी० रामस्वामी अय्यर

साधारण रूपमें जिसे हिन्दू धर्म या विश्वास कहा जाता है, वह एक समष्टि धर्म है । उसमें विभिन्न दर्शनों पर आधारित विश्वासके अनेक रूप सम्मिलित हैं, और वह तत्त्वत: अनेक निष्ठाओंका संश्लेषण है। वह अनेक धर्मशास्त्रों पर विश्वास करता है, जिसमें से कुछको ईश्वरकी वाणीके रूपमें माना जाता है, परन्तु वह एक या अनेक ग्रंथोंका धर्म नहीं है। उसमें असम्बद्धता होते हुए भी उसके अस्तित्त्व पर कोई आँच नहीं आती और वह सुस्थिर रूपसे कार्यशील है। वह बहुत भी प्रार्थनाओं, आराधनाओं, कर्म-काण्डों, कहानियों, किम्वदन्तियों, चमत्कारिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं, विभिन्न गतियों, और जन्म-जन्मान्तरोंके वर्णनोंमें विद्यमान है, किन्तु उनसे कोई भी ऐसा केन्द्र विन्दु नहीं है, जिसके असत्य सिद्ध हो जाने या विवाद पूर्ण होनेसे हिन्दू धर्म छिन्न-भिन्न हो सकता है ।

पुनर्जन्मका सिद्धान्त

हिन्दू धर्मके सभी रूप इसके कुछ नियमोंको समान रूपसे मानते हैं। कार्य और कारण. विकासके श्रमिक नियम, और संपूर्ण शक्ति तथा जीवनकी एकताके नियम, जिसे कर्म और पुनर्जन्मका सिद्धांत भी कहा जाता है, सभी हिन्दू धर्मावलम्बी मानते हैं। परमात्माको छोड़कर, सभी जीव और पदार्थों की,—पत्थरसे तारे तक, कीड़ेसे सर्वोच्च प्राणी, देवोंतक-सबकी यही गति होती है। अनेक जन्मों, तथा रूपोंमें, कर्म, ज्ञान, और भक्तिके मार्ग पर, शंकाओं तथा अज्ञानताओंका निवारण करनेके पश्चात् ही उस सत्यको प्राप्त किया जा सकता है, जो साकार भी है, और निराकार भी है।

उदार धर्म

हिन्दू किसी भी धर्म या दर्शनसे घृणा नहीं करता। आध्यामिक खोज या सत्य की उपलब्धिके लिए हिन्दूधर्ममें कोई भी मार्ग निषिद्ध नहीं है। एक उच्च हिन्दू एक सच्चे ईसाई या सच्चे मुसलमानसे घृणा नहीं करता' उसे धर्ममें तथा इन धर्मोंके भौतिक सिद्धान्तों में कोई विरोध या असाम्य दृष्टिगोचर नहीं होता। जहाँ तक सबलता, प्रामाणिकता, तथा प्रेरणादायक शक्तिका प्रश्न है, हिन्दू धर्मके दृष्टिकोण तथा संसारके अन्य महान् धर्मोंमें कोई असमानता नहीं है। शारीरिक क्षेत्रकी भांति मानसिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रमें भी, बुद्धि, मन तथा स्वभावसे हिन्दू सदा नए विचारोंका स्वागत करता है।

विदेशी विद्वानों का मत

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके संस्कृतके प्रोफेसर सर मोनिअ विलियम्सने हिन्दू धर्मका वर्णन निम्न शब्दोंमें किया है:—

"हिन्दू धर्मकी एक विशेषता यह है, कि वह सर्व व्यापक है और प्रत्येक नये मत, विचारका स्वागत करता है। उसका दावा है, कि वह मानव जाति, मानव प्रकृति, तथा सम्पूर्ण विश्वका धर्म है। वह किसी दूसरे धर्मके विकासका विरोध नहीं करता, क्योंकि वह सर्वग्राही तथा विस्तृत सीमामें अन्य धर्मोंको ग्रहण करने की शक्ति रखता है।"

हिन्दू धर्म की वास्तविक शक्ति

यह सत्य है, कि हिन्दू धर्ममें बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिन्हें अन्य धर्मावलंबी भी सरलतासे ग्रहण कर सकते हैं। मानव-चरित्र की अनन्त विभिन्नताओंके प्रति अनुकूलताकी अनन्त शक्ति ही हिन्दू धर्मकी वास्तविक शक्ति है। इसका उच्च आध्यात्मिक तथा अमूर्त पक्ष, भौतिक दर्शनके अनुकूल है। उसका व्यावहारिक तथा मूर्त पक्ष कवि तथा काल्पनिककी भावनाओंके अनुकूल है। इसी प्रकार उसका शांत तथा भक्ति पक्ष भी शान्ति तथा एकान्त प्रिय व्यक्तिके लिए अनुकूल है।

विभिन्न युगोंसे चलते हुए हिन्दू दृष्टिकोण और विश्वासका यही वास्तविक रूप है।

मानव जातिके आध्यात्मिक विकास, अन्य धर्मों तथा अपने धर्मके प्रति हिन्दुओंका क्या दृष्टिकोण है; इस पर भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है:—

"कोई व्यक्ति किसी भी धर्मको मानते हुए, किसी धर्मके द्वारा या किसी भी रूपमें, वह मेरी ही पूजा करता है। यदि वह अपनी श्रद्धा तथा संकल्पमें दृढ़ है, तो मैं उसकी श्रद्धा और संकल्पको बल प्रदान करूंगा, तथा उसे स्वीकार करूंगा।"

मूल सिद्धांत

यद्यपि हिन्दूधर्मके अनेक रूप हैं, पर उसकी मुख्य विशेषताएं निम्न पंक्तियोंमें झलकती हैं—

"विचार रूपी बीजसे कार्य रूपी फल उगते हैं।"
"कार्य रूपी बीजसे गुण रूपी फल पैदा होते हैं।"
"गुण रूपी बीजोंसे चरित्र रूपी फल मिलते है।"
"चरित्र रूपी बीजसे लक्ष्य रूपी फल प्राप्त होता है।"

अनुभवोंकी अनन्तता तथा कर्मकी व्यापकता हिन्दू-विचार धाराको एक अखण्ड रूप प्रदान करते हैं। डा० राधाकृष्णनके अनुसार हिन्दू धर्म और दर्शन, परीक्षणसे ही प्रारंभ होता है, और उसीमें बार-बार लौट आता है। आध्यात्मिक जीवनके एक विशेष रूप तथा अनुभवकी स्वीकृतिसे ही वह बँधा हुआ नहीं है। वह विभिन्न दृष्टिकोणोंको भी मानता है। मनुष्यकी आत्माको पवित्रता प्रदान करने वाला प्रत्येक विचार तथा पद्धति हिन्दूधर्मके अन्तर्गत प्रामाणिक मानी जाती है : वह एक कट्टरपंथी मत, नहीं, बल्कि आध्यात्मिक विचारों और अनुभवोंका संग्रह है । उसके अंतर्गत अनेक मत-मतान्तर हैं। साधकने सत्यकी प्राप्ति चाहे, जिस मन्दिरमें की हो—यहूदी पूजा स्थल, गिरजामें, या मजिस्दमें, वह उसकी छत्र छायामें शरण पा सकता है। समाज शास्त्र रहस्य वाद, तथा धर्मके विद्यार्थियोंमें सहिष्णुता बढ़ रही है। मनुष्यका जन्मजात स्वभाव. युगकी धारा, तथा समयकी आवश्यकता—सब मिलकर धर्म और दर्शनके चरित्रको निर्धारित करते हैं। सब दिन-प्रतिदिन यह अनुभव कर रहे हैं, कि विभिन्न धर्म और दर्शन, एक दूसरेके विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। सभीका लक्ष्य एक है। रूढ़िवादिता अब शनैः शनैः लुप्त होती जा रही है। उसके स्थान पर अब यह माना जाने लगा है, कि धर्मोंमें मत भेद स्वाभाविक हैं, और उनमें मेल मिलाप संभव है।

संकल्पकी स्वतंत्रता

आजके युगमें विभिन्न धर्मों और दर्शनोंमें मेल-मिलाप और सहयोगकी जो धारा चल पड़ी है, उसमें हिन्दूधर्मके विद्वानों और आचार्यों द्वारा जीवनकी समस्याओंके प्रति अपनाया गया दृष्टि कोण प्रामाणिक योग दान है। संसारकी बहुत-सी असमानताओंको दूर करनेके लिए कर्मका हिन्दूसिद्धान्त अधिक मूल्य रखता है। सर्व साधारणकी धारणाके विरुद्ध, यह सिद्धान्त संकल्पकी स्वतंत्रताका प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

●

धरम-मरम समुझैं वही, जिनके जीवन स्याम।
करम करें उलटे सदा, जिनकी है मति बाम॥

"जिसकी महिमाका गान हिमसे ढँके हुए पहाड़ कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग समुद्र अपनी सहायक नदियोंके साथ सुना रहा है, और ये विशाल दिशाएँ जिसके बाहुओंके सदृश हैं। उस आनन्द स्वरूप प्रभुको मेरा नमस्कार है।"

भक्ति करे कोई सूरमा

श्रीआनन्द स्वामी

इतिहासके पृष्ठोंमें शौर्य, साहस और त्यागकी बहुत सी कथाएँ मिलती हैं किसी कथामें उसके नायकके गुण युद्ध-भूमिमें वीरताके बने हुए अनुपम चित्र देखनेको मिलते हैं तो किसीमें उसका नायक देश और मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिए फाँसीका फन्दा अपने गलेमें लगाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। किसी कथामें उसका नायक देशकी भक्तिमें कारागार की कोठरियोंमें मांसोके तंतु तोड़ता हुआ दिखाई पड़ता है, तो किसी कथामें नायककी पीठ पर सत्ताधारियोंके कोड़े भी बरसते हुए देखनेको मिलते हैं। तात्पर्य यह, कि शौर्य, साहस और त्यागकी जितनी कथाएँ मिलती हैं, सबमें एक अनुपम शक्ति, एक अनुपम दृढ़ता, और एक अनुपम धैर्य तथा सहनशीलताका ही चित्र देखनेको मिलता है। पर भक्तिके क्षेत्रमें, भक्तोंके द्वारा शौर्य साहस और त्यागके जो चित्र बने है, यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाए तो उनमें दृढ़ता, धैर्य और सहनशीलताकी कुछ और ही अनूठी भावनाएँ देखनेको मिलेंगी। हम यह नहीं कहते, कि युद्ध-भूमि और देशप्रेमके क्षेत्रमें शौर्य और त्यागके जो चित्र बने हैं, उनका महत्त्व नहीं हैं। हम तो केवल इतना ही कह रहे हैं, कि भक्तिके क्षेत्रमें, भक्तोंके द्वारा शौर्य, साहस, और त्यागके जो चित्र अंकित किए गए हैं, उनमें सहनशीलता, धैर्य और त्यागकी कुछ अपूर्व उद्दाम भावनाएँ देखनेको मिलती हैं।

युद्ध-भूमिमें गोले गोलियोंको खाकर प्राणोत्सर्ग करना अत्यधिक साहसका कार्य है, पर उसका मूल्य उस साहससे न्यून ही आँका जायगा, जो किसी महान् लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए भूख, प्यास, शीत, और वर्षा तथा धूपको सहन करनेमें प्रगट किया जाता है। इसी प्रकार कारागारकी कोठरियोंमें कुछ और अधिक वर्षों तक यंत्रणाएँ सहन करना सरल नहीं हैं—

पर इस त्यागका मूल्य भी उस त्यागके समक्ष निष्प्रभ दिखाई पड़ता है, जो किसी महान् उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए अतुल वैभव, प्रेम, और सर्व प्रकारकी ममताके वज्र-बंधनोंको तोड़ने में प्रगट किया जाता है। महात्मा ईसा, और सुकरात ऐसे महान् वीरोंके द्वारा इसी प्रकारके अद्वितीय चित्र अंकित किए गए हैं। राजनीतिक क्षेत्रकी समस्याओंको लेकर बने हुए शौर्यके कितने ही चित्र मिट गए; और कितने ही अधिक प्रचारके पश्चात् भी मिटते जा रहे हैं, पर दार्शनिकों, भक्तों, और ईश्वर प्रेमियोंके चित्र अब तक अक्षुण्ण हैं, और वे इसी प्रकार अक्षुण्ण रहेंगे। इसका केवल कारण यही है, कि शौर्यके इन चित्रोंमें जागृत आत्माकी स्वाभाविक दृढ़ता, स्वाभाविक धैर्य, और स्वाभाविक सहनशीलता है।

भारत युग-युगोंसे भक्ति, धर्म, और अध्यात्मका प्रधान क्षेत्र रहा है। भारतमें भक्ति, धर्म और अध्यात्मके संबंधमें जितनी अनुभूतियाँ प्राप्त की गई हैं, उतनी विश्वके किसी भी क्षेत्र या देशमें नहीं प्राप्त की जा सकी हैं। भक्ति, धर्म और अध्यात्मकी अनुभूतियाँ और ज्ञान ही भारतका अपना वैभव है। भारत अपने इसी वैभवसे विश्वमें गरिमामय है, और इसी प्रकार सदा गरिमामय बना रहेगा। भारतमें अनेक भक्त, अनेक धर्मात्मा, और अनेक आचार्य तथा अनेक दार्शनिकोंका आविर्भाव हुआ है। इन संपूर्ण भक्तों, आचार्यों और दार्शनिकोंने भक्ति, धर्म और अध्यात्मके क्षेत्रमें सर्वश्रेष्ठ अनुभूतियाँ प्राप्त करनेके लिए जो त्याग, जो धैर्य, जो साहस और जो सहनशीलता प्रदर्शित की है, शब्दोंमें शक्ति नहीं कि, उसका वास्तविक चित्र अंकित किया जा सके। वे सम्पूर्ण भक्त, आचार्य और दार्शनिक आज भी अपने तप, त्याग, धैर्य और सहनशीलतासे प्राण-प्राणमें, घर-घरमें जीवित हैं, अमर हैं, और युग-युगों तक अमर रहेंगे। उन्होंने महान् लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए-विश्वको सुन्दर बनानेनेके लिए महान् पराक्रमकी जो सीढ़ियाँ बनाई हैं, वे युगों तक केवल हमारे ही लिए नहीं, संपूर्ण प्राणी मात्रके लिए भी अवलंब और आधार बनी रहेंगी।

जड़ भरत। कितना शौर्य था उनमें, कितना महान् त्याग था। वे अनन्य भक्त थे, विरक्त थे, ईश्वरके बन्दे थे। वे सबसे पृथक एकान्तमें रहते थे। ईश्वरके संबंधमें चिंतन करना-सोचना ही उनका कार्य था। दूसरोंकी तो बात ही क्या, उन्हें अपने शरीर और शरीरके दुःख-सुखकी भी चिन्ता न रहती थी। वे मैले कुचैले कपड़े और सड़े-गले अन्नसे ही जीवन-निर्वाह करते थे। धरती ही उनका बिछौना और आकाश ही उनके लिए छायाके सदृश था। धूपसे पृथ्वी जलती रहती, शीतके प्राण-कम्पक वायु-झोंकें चलते रहते, पानीके अभंग शर बादलोंसे बरसते होते, पर जड़ भरतकी छाती खुली रहती। बड़े आनंदसे, हँसते हुए-गुनगुनाते हुए वे उन शरोंके आघात अपनी छाती पर सहन कर लेते। शरीर भी है उनका; इस बातका उन्हें ज्ञान ही न रहता। वर्षों बीत जाते, और सिर तथा दाढ़ीके बाल बढेंगे रूपसे बढ़ते ही जाते। लोग उन्हें उन्मत्त कहते। वे उन्मत्तोंकी भाँति आचरण भी किया करते थे।

पर क्या वे उन्मत्त थे—विक्षिप्त थे? नहीं, वे तो किसी महालक्ष्यकी खोजमें तन्मय थे—वे तो किसी महाज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही पीड़ाओंका हँस-हँस कर आलिंगन करते थे।

परिश्रमकी आगमें-पीड़ाओंकी ज्वालामें अपनेको जलाना उन्हें सुख कर प्रतीत होता था। वे जब अपने पैतृक; कृषि-कार्योंमें जुटते तो अकेले ही बिना कुछ खाये-पीये इतना काम कर डालते थे, कि उसे दर्जनों व्यक्ति एक साथ मिल कर भी उतने समय भी नहीं कर सकते थे। उनकी श्रम-साधना और उनके द्वारा पूर्ण किए हुए कार्योंको जो भी देखता, वह विस्मयमें डूब जाता।

महात्मा जड़ भरत महालक्ष्यकी प्राप्तिके लिए केवल दुःखोंका सामना ही नहीं करते थे, वरन दूसरोंके कल्याणके लिए प्राणोत्सर्गके लिए भी प्रति क्षण उद्यत रहते थे। एक बार कुछ दस्युओंने संतान-प्राप्तिकी कामनामें, भद्र कालीको नर-बलि देनेका संकल्प किया। उन्होंने 'बलि'के लिए एक मनुष्यको पकड़ा, पर रात्रिके अंधकारमें वह भाग गया। दस्युओंने उसका पीछा किया। वह तो न मिला, पर मार्गमें खेतोंकी रखवाली करते हुए मिले जड़ भरत। दस्युओंने उन्हें जा पकड़ा, और कहा, 'चलो।' जड़ भरत मुस्करा उठे। उन्होंने भी दस्युओंकी बात दोहरायी—'चलो।' दस्यु प्रसन्न होकर जड़ भरतको भद्र कालीके समक्ष ले गए। किन्तु जब वे उनका बलिदान करने लगे, तो उनके अंग-अंगसे भद्र कालीकी ज्योति फूट पड़ी, और उसने हुंकारके साथ दस्युओंका वध करके जड़ भरतके प्राणोंकी रक्षा की।

एक दूसरी बार सिन्धु सौवीर-नृपति रहूगण अपनी आत्म-तृष्णाको शान्त करनेके लिए पालकी पर चढ़ कर कपिल मुनिके आश्रममें जा रहे थे। इक्षुमती नदीके तट पर, उनकी पालकीका एक कहार अवसर पाकर भाग गया। नृपति रहू गण चितामें पड़ गए। हठात् उनकी दृष्टि जड़ भरत पर पड़ी, और उन्होंने उन्हें पकड़ कर पालकी ढोनेके कार्यमें लगा दिया। महात्मा जड़ भरतने रंच मात्र भी आपत्ति न की। वे सानंद दूसरे कहारोंके साथ मिल कर पालकी कंधे पर रखकर आगे बढ़े। पर उनके पैर रह-रहकर डगमगा उठते थे। क्योंकि वे जब पथ पर चलते थे, तो चींटियोंको बचा-बचाकर पैर रखते थे! नृपति रहू गण क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने जड़ भरत को 'सावधान' और 'सचेत' किया। पर जड़ भरतकी चाल क्यों अन्य कहारोंके सदृश होने लगी, क्योंकि उन्हें तो छोटे-छोटे जीवों, और चींटियोंके प्राणोंको बचानेकी चिन्ता थी।

नृपति रहूगण क्रुद्ध हो उठे, पर महात्मा जड़भरतने उनके क्रुद्ध स्वरोंका भी शान्त वाणीमें ऐसा उत्तर दिया, कि राजा विस्मयमें मग्न हो गए। वे महात्मा जड़भरतके ज्ञान-पूर्ण शब्दोंको सुनकर पालकीसे नीचे उतर पड़े, और उनसे आग्रह-पूर्वक उनका परिचय पूछने लगे। रहूगणको जब जड़भरतका वास्तविक परिचय प्राप्त हुआ, तो उन्होंने उनके चरणों पर गिरकर उनसे अपनी भूलके लिए बहुत-बहुत याचनाकी। इतना ही नहीं, उन्होंने उनसे आत्म-ज्ञान प्राप्त करके अपूर्व संतृप्ति भी प्राप्त की।

महान् लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये महात्मा जड़भरतकी कष्ट-साधना वंदनीय है। वे वस्तुतः खांड़े की धार पर ही चले थे, जिस पर कोई नहीं चल सकता। उन्होंने मानवकी गोदमें जन्म लेकर उस प्रकृतिको ललकार बताई थी, जो अपने को "अजेय" और 'अपरा"

समझती है। वे किसी महान् चिन्तनमें सब कुछ भूल गए थे—अपनेको भी भूल गये थे। उन्हें स्मरण था, तो केवल वह महान्-वह अतिमहान्,जो प्रकृतिके कण-कणमें समाविष्ट है। उनकी भक्ति उनकी साधना, केवल उन्हींके लिये नहीं थी। वह थी अखिल विश्वके लिये अखिल विश्वको सत्यं, शिवं, सुन्दरम्के स्वरोंसे भर देनेके लिए। उनके शौर्य, उनके साहस और उनके त्यागका ही परिणाम है, कि आज हमारी आँखोंके समक्ष उनकी ऐसी अपूर्व ज्ञान-पंक्तियाँ आ सकी हैं, जो अंधकारमें हमारे लिए दीपकका काम करती हैं। देखिए, उनकी पंक्तियोंमें ज्ञानका कैसा उज्वल प्रकाश है:—

''विषयासक्त' मन जीवको संसार-संकटमें डाल देता है, विषय-हीन होने पर वही उसे शांतिमय मोक्ष पद प्राप्त कराता है। जिस प्रकार घी से भीगी बत्तीको खाने वाले दीपकसे तो धूमवाली शिखा निकलती रहती है और जब घीं समाप्त हो जाता है, तब वह अपने कारण, अग्नि तत्त्वमें लीन हो जाता है। इसी प्रकार विषय और कर्मोंसे आसक्त हुआ मन तरह-तरहकी वृत्तियोंका आश्रय लिए रहता है, और उनसे मुक्त होने पर वह अपने तत्त्वमें लीन हो जाता है।'

जीवके परम सुख और शांतिका यह सन्देश क्या अपूर्व संदेश नहीं है? यदि संसारके संपूर्ण प्राणी इस संदेशको ग्रहण करके चलें, तो क्या यह सच नहीं है, कि संसारके ऊपर से वह 'तम' दूर हो जाए, जिसके घुंएसे आज सभी समाकुल हैं। पर यह संदेश जड़भरत कैसे देनेमें समर्थ हुए? केवल भक्तिसे, आराधनासे, चिंतनसे, यदि वे महान् पराक्रमी बनकर खांड़की धार पर न चलते, तो न तो उन्हें यह अपूर्व संदेश देनेकी शक्ति प्राप्त होती, और न आज हम उनके ज्ञानके प्रकाशसे लाभ ही उठा पाते! भक्त, आचार्य और दार्शनिक इसी प्रकार खाँड़की धार पर चलते हैं, और अपनेको मिटाकर जीवनका अमृत पिला जाते हैं।

हमें 'अहम्'को त्यागकर भक्तों, आचार्यों, और दार्शनिकोंके पावन चरित्रोंमें ही व्यष्टि और समष्टिके कल्याणकी राह खोजनी चाहिए।

●

स्वप्न-भंग

सुषुप्तिमें प्रवेश करनेके समय सारा का सारा स्वप्न जगत् नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह सारा जगत् प्रलयमें अन्तर्धान हो जाता है। पृथ्वी, पहाड़, दसों दिशाएं, सब क्रियाएं, काल, क्रम आदि सब बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं, कुछ शेष नहीं रह जाता।

जैसे जागृत अवस्थामें स्वप्नका और स्वप्नावस्थामें जाग्रतका पता नहीं लगता, वैसे ही जगत् भी प्रलय में पूर्णतया शान्त हो जाता है।

प्रलयके समय अत्यन्त गहन शान्ति रहती है। न तेज रहता है और न अंधेरा। जो कुछ भाव पदार्थ रहता है, वह अव्यक्त है।

—ब्रह्मदेव शास्त्री

"यदि हम चाहते हैं, कि हमारे घरोंमें रघु ऐसे दिग्विजयी वीर जन्म धारण करें, तो हमें नन्दिनोकी सेवामें; कष्टोंकी आगमें जलना ही पड़ेगा—उसे प्रसन्न करके उसका अमर वरदान प्राप्त करना ही पड़ेगा।

काश, हममें सुबुद्धि जागृत होती और हम सब गो सेवाके महत्त्व को समझ सकते।"

गो सेवा का प्रसाद-चक्रवर्ती पुत्र

श्रीआनंदरंजन

सूर्यवंशके नृपति महाराज दिलीप, और राजमहिषी सुदक्षिणा ! रूप, गुण, दया, सबमें दोनों ही अद्वितीय, दोनों ही एक सदृश। उनके सुशासित राज्य, अयोध्याकी गरिमा और वैभवके समक्ष इन्द्रका स्वर्ग भी तुच्छ प्रतीत होता था।

किन्तु वे निःसंतान थे। निःसंतान रहनेका उनका दुःख अपार था—असीम था। सूर्यवंशके गुरु थे महर्षि वशिष्ठ—महाज्ञानी, महातपी वशिष्ठ। वे राज्य-सीमासे दूर, तपोवनमें निवास करते थे। एक दिन महाराज दिलीपने अपनी राज्य-महिषी, सुदक्षिणा सहित गुरु वशिष्ठ जीके आश्रममें प्रवेश किया।

गुरु वशिष्ठके हृदयमें भी सूर्यवंशके कल्याणकी कम चिन्ता नहीं थी। गुरु वशिष्ठकी सहधर्मिणी, अरुन्धती देवी भी सूर्यवंशके कल्याणके लिए उनसे एक विशिष्ट यज्ञ करनेके लिए बार बार अनुरोध किया करती थीं। सौभाग्यवश, महाराज दिलीप भी अपनी राज-महिषी सहित आश्रममें उपस्थित हुए।

महर्षि वशिष्ठ महाराज दिलीपके दुःखके कारणोंको जाननेके लिए अन्तर्मुख हुए। ध्यानसे पृथक होने पर उन्होंने दिलीपसे कहा—"महाराज, मुझे आपके दुःखके कारण और उसके प्रतिकारके उपायका पता चल गया है। आपने महाराज, एक बार वंदनीय सुरभि (एक गाय) के प्रति अश्रद्धा प्रदर्शित की थी। उसने रुष्ट होकर आपको अभिशापित किया है। जब तक आप अपनी सेवाओंसे उसकी सन्तानको तुष्ट न करेंगे, आप निःसन्तान ही रहेंगे।"

पर चिन्ताकी बात नहीं राजन् ! आपके भाग्यवश ही 'सुरभि'की कन्या, नन्दिनी हमारे आश्रममे निवास करती है। आप स्त्री-पुरुष, दोनों अनन्य मनसे नन्दिनीकी सेवा करके निश्चय मन वांछित फल प्राप्त करेंगे।''

ठीक इसी समय नन्दिनीने भी गोष्ठमें प्रवेश किया। महर्षि वशिष्ठने उसकी ओर इंगित करके कहा—"देखिये राजन्, यही नन्दिनी है। इसकी सुश्रुषा से आपकी कामना को पूर्ण होनेमें विलंब न लगेगा।"

गुरु वशिष्ठकी आज्ञा ! महाराज दिलीप अपनी राजमहिषी सुदक्षिणा सहित, नन्दिनीकी सेवाके लिए आश्रममें रहने लगे। राजाने राज्य और उसके वैभवको नन्दिनी की सेवाके लिये छोड़ दिया। राज महिषी भी राजसी वस्त्र और अलंकारोंको छोड़ कर साधारण गृहिणीकी भांति जीवन व्यतीत करने लगी। पर्णकुटी ही दोनोंके लिए भव्य भवन बन गई। दोनों पृथ्वी पर कुशकी शय्या पर ही रात बिता देते। सुदक्षिणा प्रति दिन नंदिनीको नहलाती धुलाती, पुष्प माला अर्पण करती, और उसके मस्तक पर चन्दन-कुंकुम का टीका लगाया करती, महाराज दिलीप दिन भर उसके साथ वनमें परिभ्रमण करते। वह जब चलती, तब राजा चलते, वह बैठती तो राजा बैठ जाते, और वह जब खड़ी हो जाती, तो राजा भी खड़े हो जाते थे। संध्या समय आश्रममें उसके लौटने पर राजा भी लौटकर आते थे और उसके विश्राम करनेके पश्चात् स्त्री, पुरुष, दोनों फल-फूल खाकर सो जाते थे।

इसी प्रकार बहुत दिन व्यतीत हो गए। अन्ततः नन्दिनी तुष्ट हुई और उसने महाराज दिलीपको वरदान दिया, 'यशस्वी और प्रतापी पुत्र प्राप्त करोगे।'

नन्दिनीके वरदान स्वरूप महाराज दिलीपने जिस पुत्र-रत्नकी प्राप्तिकी उसका नाम रघु था। रघु दिग्विजयी रघु ! उन्होंने अपने बल-विक्रम और शौर्यसे संपूर्ण भूमण्डल को नाप लिया था।

रघुके पुत्र का नाम अज, और अजके पुत्रका नाम दशरथ था। दशथरके ही पुत्र वे राम थे, जिनके चरण की धूल लेनेके लिए आज भी संपूर्ण भारत समाकुल रहता है।

यह एक कथा है। पर इस कथामें एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष अन्तर्हित है। इस कथा से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें भारतवर्ष में 'गोसेवा' कितने महान् धर्मके रूपमें विवेचितकी जाती थी ! बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट और उनकी राजमहिषियाँ तक 'गोसेवा' का व्रत धारण करती थीं। उनकी दृष्टिमें 'गो' देवता थी। वे गोकी सेवा करके अपने व्यक्तिगत जीवन और राज्य के लिये सुख, शांति, वैभव, और कल्याण प्राप्त करते थे। यही कारण है कि गो उनके लिए-उनकी प्रजाके लिए "गोधन" थी।

पर दुर्भाग्य ! आज हम अपनी अज्ञानताके कारण अपने इस कल्याण-स्रोत गोसेवा को भी छोड़ बैठे हैं। चिकित्सा शास्त्रोंमें स्पष्टतः गो दुग्धको 'अमृत' और आयु वर्द्धकके

के रूपमें स्वीकार किया गया है, पर आज वह हमें कहाँ प्राप्त होता है ? क्या यह भी सत्य नहीं है, कि आज 'सुरभि' हम सबके द्वारा निराहत है ? क्या यह भी सत्य नहीं है कि आज हम सब नन्दिनीकी सेवा भी भूल बैठे हैं। फिर तो यदि हम यह कहें. कि आज हम उसके अभिशाप स्वरूप ही निर्बल और अशक्तके रूपमें मृत्युके मुखमें जा रहे हैं, तो विस्मयकी बात क्या? निश्चय, आजकी अकाल और अल्प मृत्युएँ हमारे संमुख नन्दिनीकी सेवाके महत्व का चित्रांकन करती हैं।

यदि हम चाहते है, कि हमारे घरोंमें रघु जैसे दिग्विजयी वीर जन्म ग्रहण करें तो हमें नन्दिनीकी सेवामें कष्टोंकी आगमें जलना ही पड़ेगा, उसे प्रसन्न करके उसका अमर वरदान प्राप्त करना ही होगा।

"काश हममें सुबुद्धि जागृत होती, और हम सब गोसेवाके महत्वको समझते।

श्रीराधा

निगमादि अगम्या श्रीराधा। प्रेमावधि रम्या श्रीराधा।
जगवंदन-वंदित श्रीराधा। नंदनंदन-नंदित श्रीराधा।
निस जागर-साजित श्रीराधा। सुखसेज-बिराजित श्रीराधा।
ब्रजचंद-चकोरी श्रीराधा। वृजभान किशोरी श्रीराधा।
ब्रजमोहन मोहनि श्रीराधा। अभिलाषनि-देहनि श्रीराधा।
वृन्दावन सोभा श्रीराधा। क्रीड़ा-तरु गोभा श्रीराधा।
अतिसय-रति-रुपिनि श्रीराधा। माधुर्य अनूपिनि श्रीराधा।
कमनीय कुमारी श्रीराधा। हरि बल्लभ-प्यारी श्रीराधा।
श्रीकृस्ना कर्षिनि श्रीराधा। आनंदघन बर्षिनि श्रीराधा।
दिव्यांसुक-बेसी श्रीराधा। अतिमंजुल केसी श्रीराधा।
अभिसार-प्रपन्ना श्रीराधा। अत्यन्त प्रसन्ना श्रीराधा।
कल-केलि-परावधि श्रीराधा। रसरीति-रहःसिद्धि श्रीराधा।

"चाहे जो भी उसे कहलो, पर वह है ईश्वर-परमात्मा, जो चिर शाश्वत है, चिर सत्य है। यह आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, तारे, सागर, पहाड़ सब मिट सकते हैं, प्रलयके गर्भमें समा सकते हैं, पर उसे कोई नहीं मिटा सकता। वह स्वयं प्रलयोंका 'प्रलय' और 'कालों'का भी 'महाकाल' है। उसकी शाश्वतता प्रलयके वक्षःस्थल पर नृत्य करती है, कालकी छाती पर बैठकर डमरू बजाती है।"

देहीं कृष्ण नाम जपले

तारिणीनाथ शास्त्री

यह संपूर्ण जगत नाममय है। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि सबके अपने-नाम हैं। पर मनुष्य और पशु-पक्षियों तथा कीड़े-मकोड़ोंकी नाम-परंपरामें अंतर है। मनुष्यके नाम दो वर्गोंमें विभाजित हैं—जातिवाचक, और व्यक्तिवाचक। मनुष्यका एक 'नाम' मनुष्य है, जो जातिवाचक है, अर्थात् उसका प्रयोग उन संपूर्ण लोगोंके लिए किया जाता है, जो 'मनुष्य' हैं। 'मनुष्यमें' प्रत्येक मनुष्यका अपना पृथक-पृथक नाम होता है। इस नामको 'व्यक्तिवाची' नाम कहते हैं, अर्थात् इस नामका सम्बन्ध केवल उसी एक व्यक्तिसे होता है, जिसका वह नाम होता है। पर पशुओं, पक्षियों, और कीड़े-मकोड़ोंके प्रायः जातिवाचक ही नाम होते हैं। चेतना, ज्ञान और विकासके क्षेत्रमें, अधिक पीछे होनेके कारण, पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े मानवके 'व्यक्तिवाद' के अंचलको नहीं ग्रहण कर सके हैं। यही कारण है, कि उनके 'व्यक्तिवाची' नाम नहीं होते। कुछ लोग मोर, मृग, सिंह, गाय, बैल आदिको जो पशु-पक्षी वर्गके जीव हैं, उनकी अपनी पृथक विशिष्टताओंके कारण उन्हें व्यक्ति वाचकताके क्षेत्रके भीतर ले सकते हैं, पर यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाए, तो उनके यह पृथक वर्गी नाम भी घूम-फिरकर जातीयवाचक ही रह जाते हैं।

यहाँ यह प्रश्न नहीं है, कि किसका नाम जातिवाचक है, और किसका व्यक्ति-वाचक। यहाँ कहना तो केवल इतना ही है, कि इस जगत्में जो कुछ है, उसका अपना नाम है। आजसे नहीं, चिर दिनोंसे—सृष्टिके आदिसे 'वस्तु' और 'नाम'की परंपरा चलती आ रही है। वस्तु बनी, जीवने शरीर धारण किया, तो शीघ्र ही उनका नाम भी पड़ गया। पर क्यों पड़ गया ? क्या केवल पुकारने की सुविधाके लिए—पहिचानकी सरलता के लिए। हो सकता है, 'नाम'के मूलमें यह भाव भी हो, पर केवल इसी भावसे मनुष्य

'नाम-पूजक' बने, यह बात समझमें नहीं आती। अपने जन्मसे लेकर मृत्यु तक, पग-पग पर अपने 'स्वार्थों'के लिए संघर्ष करने वाला 'मनुष्य' केवल 'पुकारनेकी सुविधा'के लिए 'नाम'के पीछे भागने वाला नहीं। अवश्य, 'नाम'में मनुष्यके लिए कोई रहस्यात्मक आकर्षण है। आइए, देखें वह रहस्यात्मक आकर्षण क्या है ?

मनुष्यके उस रहस्यात्मक आकर्षणको जाननेके लिए हमें दो वस्तुओंको सामने रखकर उनका सूक्ष्म रूपमें मंथन करना होगा। उन दो वस्तुओंमें एक तो मनुष्यका 'शरीर' है, और दूसरा उसके शरीरका नाम है, जिससे वह पुकारा जाता है। आइए देखें, इन दोनोंमें किसकी स्थिरता, या सार्थकता अधिक है ? शरीरकी, या नाम की ? शरीर बड़ा मूल्यवान है। कोई शरीरके मूल्यका अंकन कर ही नहीं सकता। मनुष्य जप-तपसे लेकर गृहस्थीके साधारण कार्य तक—जो कुछ भी करता है, शरीरसे ही तो करता है। उसका सर्व-स्पर्शीमन, उसकी अजेय आत्मा उसके शरीरके ही भीतर तो निवास करती है। पर शरीर कहाँ एक रस-एक रूप रहता है ? मनुष्यके लाख-लाख चाहने पर, लाख-लाख प्रयत्न करने पर भी वह उसे छलता ही रहता है, और एक दिन ऐसा छल जाता है कि, बेचारे मनुष्यके हाथ कुछ भी नहीं लगता। आज बाल्यावस्था, कल यौवन, और फिर वृद्धावस्था—यह शरीरकी वंचकता ही तो है, और वह मृत्यु-महामृत्यु, जिसकी ज्वालामें शरीरका सब कुछ 'शेष' हो जाता है, महा वंचकताके अतिरिक्त और क्या है ?

सत्य है, कि मनुष्यकी शरीरके प्रति गहरी आसक्ति है। आसक्ति होनी भी चाहिए; क्योंकि संसारके महासमुद्रमें वह अपने शरीरके ही द्वारा तो संतरण करनेमें समर्थ हो पाता है। पर उसकी सहज दृष्टिमें, शरीरकी वंचकता नाचती भी रहती है। शरीरके लिए 'नाशवान्', और 'क्षण भंगुर' आदि उपाधियोंका निर्वाचन उसने शरीरकी 'वंचकता' को ही देखकर किया है। पर नाम ! नाम तो केवल 'नाम' है। उसका न रूप है, न आकार है। वह न तो 'बाल' होता है, न युवा, और न वृद्ध। शरीरकी भाँति वह मृत्यु और महा-मृत्युकी ज्वालामें भस्म भी नहीं होता। वह तो 'अक्षर' है, अर्थात् वह 'शक्ति' है, जिसका कभी 'क्षर' अथवा विनाश नहीं होता। मृत्युके पश्चात् भी वह रहता है—सदा रहता है, युग-युगों तक रहता है। फिर मनुष्य ऐसे नामको कैसे तज सकता है ? उसके पीछे भागना—उसे सँजोकर रखना तो मनुष्यका अपना सहज स्वभाव है। सच है, 'मनुष्य'के चोलेमें उसकी सहजता परिलुप्त रहती है। पर वह उसके भीतर विद्यमान तो रहती ही है। अनजानमें ही सही, यदि वह 'नाम' रूपी 'अक्षर'से प्रीति रखता है, तो विस्मय क्या ?

पर यह तो एक नया ही प्रश्न सामने आ गया—'मनुष्यका 'सहज' स्वभाव। मनुष्यका कुछ 'सहज' स्वभाव भी होता है ? आखिर, यह 'सहज' क्या वस्तु है ? क्या वह शरीर, जो बड़ा अमूल्य होता है ? नहीं; वह तो नष्ट हो जाने वाला है। फिर क्या उसका वह मन, जो बड़ा वेगवान् होता है ? नहीं, वह तो केवल 'क्षणोंका' सहचर होता है। फिर वह 'सहज' क्या है—क्या ? वह 'सहज' है, मनुष्यकी आत्मा, उसके शरीर और मनका विधाता, वास्तवमें वह 'मनुष्य' नहीं है, जो 'शरीर' है, या जिसे तुम अपनी आँखोंसे देख रहे हो। मनुष्य तो 'वह' है, जो इस शरीरके भीतर है, और जिसे तुम देखते हुए भी नहीं देख रहे हो। यह शरीर तो मृत्युकी ज्वालाओंमें भस्म हो जाने वाला है, पर इस शरीरके

भीतर जो वास्तविक 'मनुष्य' है, उसकी सत्ता उसके पश्चात् भी बनी रहती है, अर्थात् वह नित्य है 'नित्य'के साथ ही साथ वह एक 'रस' है, एक रूप है। उसे 'आत्मा' कहते हैं। अब ज़रा सोचो तो! 'नाम' भी 'अमर', और वह 'आत्मा' भी अमर, जो मनुष्यके शरीरमें रहता है, या स्वयं वास्तविक 'मनुष्य' है। फिर मनुष्य 'नाम'से क्यों न प्रीति करे? 'नाम'के भीतर तो आत्माका—मनुष्यका अपना ही 'स्वरूप' झलकता हैं, या यों कहिए, कि 'नाम'में मनुष्य को अपने मूलकी, किसी महाप्रदीपकी महाज्योति झलकती हुई दृष्टि गोचर होती है।

अब एक और प्रश्न सामने आ गया—"अपने मूलकी, किसी महाप्रदीपकी, महाज्योतिकी।" क्या मनुष्यका-आत्माका कोई मूल भी है? क्या 'आत्मा' कोई ऐसी किरण या ज्योति-रेखा है, जिसका कोई 'महापुंज है? हां, है, और उसका नाम परमात्मा है, ईश्वर है, विभु है। उसीको वहुतसे लोग 'ॐ, और बहुतसे लोग ब्रह्मा, विष्णु, और 'शिव' कहते हैं। उसीको लोग 'श्रीराम' और श्री कृष्ण, भी कहते हैं। अनेक लोग उसे 'ब्रह्म'की संज्ञा देते हैं। चाहे जो भी उसे कह लो, पर वह हैं ईश्वर-परमात्मा, जो चिरशाश्वत है, चिरसत्य है। यह आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चंद, तारे, सागर, पहाड़ सब मिट सकते हैं, प्रलयके गर्भमें समा सकते हैं, पर उसे कोई नहीं मिटा सकता। वह स्वयं प्रलयोंका, प्रलय और कालोंका भी महा काल है। उसकी शाश्वतता प्रलयके वक्षःस्थल पर नृत्य करती है—'काल'की छाती पर बैठकर डमरू बजाती हैं। उसका नाम, काल और सीमाओंके पार बहुत पार गूंजता रहता है। युग आते हैं, और चले जाते हैं, पर उसके 'नाम'की अखंडित माला शेष ही रहती है। केवल उसीके नामकी नहीं, उन सभी नामोंकी भी, जो उसीके नाम हैं। यह आत्मा-यह मनुष्य उसी 'नाम धारी'का तो एक अंश है, उसी महाज्योतिकी तो एक रेखा है। फिर वह 'नाम'की डोरके सहारे क्यों न उस 'महानाम'की ओर अग्रसर हो? फिर वह क्यों न 'नाम'-'प्रेम'के द्वारा उस महा 'नामधारी'से प्रेम करनेका अभ्यास करे? क्योंकि वही तो उसकी 'पूर्णता' है। वही तो उसका चरम लक्ष्य है। उसने जन्म धारण किया है, उसीमें मिलनेके लिए—उसीको पानेके लिए। जब तक वह उसे पा न लेगा, बरावर चलता रहेगा—कर्मोंकी 'लड़ी' पिरोता रहेगा। उसे पानेका एक ही तो उपाय है—'नाम, महानाम'को जपे—'मनुष्य' परमात्माके उस 'नाम'का 'जप' करे, संकीर्तन करे, जो 'सर्वोपरि' है, शाश्वत है, नित्य हैं।

बड़े-बड़े भक्तों, दार्शनिकों, और आचार्योंने भी 'नाम'को अर्थात् मनुष्यको 'महानाम' के जापकी सलाह दी है। गोस्वामी तुलसीदासजी राम-चरित-मानसमें, 'महानाम'की वेदी पर अपनी श्रद्धाके फूल चढ़ाते हुए कहते हैं:—

"राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहु, जो चाहसि उजियार॥

'यदि तुम अपने भीतर और बाहर—चारों ओर प्रकाश ही प्रकाशके आकांक्षी हो, तो राम नाम रूपी मणि-दीपको, अपनी जिह्वाके द्वार पर रख लो।"

हिरण्यकश्यप जब अपने पुत्र प्रह्लादको यंत्रणाएँ देने लगा, तो प्राह्लाद महानामके ही महापोत पर सवार होकर यंत्रणाओंके भीषण महा समुद्रको पार कर गए। 'प्रह्लाद' महानामके ही 'महापोत' पर बैठकर बड़ी निर्भीकतासे घोषणा करते हैं:—

राम नामं जपतां कुतो भयं, सर्वता पश मनैकभेषजम् ।
पश्यातात मम गात्र संनिधौ, पावकोदोपि सलिलायतेऽधुना ॥

"पिताजी, राम नामका जपकरने वालोंको भय कहाँ ? क्योंकि रामनाम सर्व प्रकार के तापोंको शमन करनेके लिए एक मात्र औषधि है । फिर पिता जी, देखिए न, मेरे शरीरके सामीप्यमें आकर आज अग्नि भी जलके समान शीतल हो रही है ।"

चैतन्य महाप्रभुने भी अपने "श्रीचैतन्य शिक्षाष्टक"में महानामकी सार्थकता सिद्ध करते हुए मनुष्यको उसकी ओर प्रेरित किया है:—

नाम्नामकारि बहुधा निज सर्व शक्ति,
स्तत्रापिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवान् ममापि,
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ।

'हे प्रभो, आपने अपने नाममें अपनी समस्त शक्ति निहित कर दी है । और आपकी दयालुता इतनी है, कि अपने नामका स्मरण करनेके लिए कोई समय भी नियत नहीं किया है । आपकी मुझ पर इतनी असीम कृपा है, पर मेरा यह दुर्भाग्य, कि अभी तक आपके नाममें मुझे अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ ।'

कबीर दासजी भी अपनी निम्नांकित पंक्तियोंमें नामका ही ध्वज उड़ाते हुए दृष्टि गोचर होते हैं:—

मन ऐसा निर्मल भया, जैसे गंगा नीर ।
पाछे-पाछे हरि फिरें, कहत कबीर कबीर ॥

'महानाम'का—प्रभुके नामका जब इतना महत्त्व है, तो 'नाम' अर्थात् मनुष्य 'नाम'से क्यों न प्रीति करे ? 'नाम'से ही प्रीति करते-करते तो उसकी 'महानाम'से प्रीति लग जाएगी, और फिर उसके जीवनका वेड़ा, जो महासमुद्रकी तरंगों पर झूल रहा है, पार लग जाएगा, पर उसे पग-पग पर सावधान भी रहना है । यदि अपने 'नाम'से प्रीति करनेमें कहीं वह उसीमें उलझकर रह गया, तो फिर उलझा ही रहेगा, और उसका हाथ उससे छूट जाएगा, जिसे 'महानाम' कहते हैं । 'मनुष्य'को अपने 'नाम'से प्रीति करनेसे कोई नहीं रोकता । कोई रोक भी नहीं सकता, क्योंकि 'नाम' नामसे, प्रीति तो करेगा ही । कहना तो यह है, कि 'नाम'से प्रीति करते हुए भी उसकी दृष्टि 'महानाम'की ही ओर रहनी चाहिए ।

तभी मनुष्यका 'नाम'से प्रीति करना सार्थक होगा, उसका सहज स्वभाव सिद्ध होगा । गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी निम्नांकित पंक्तियोंमें यही बात तो कही है:—

राम नाम अवलंब बिनु, परमारथकी आस ।
बरषत वारिद बूँद गहि, चाहत चढ़न आकास ॥

तो फिर आओ, सब एक साथ मिलकर उस महानामका जाप करें—

"श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे,
हे नाथ नारायण वासुदेव ॥

●

"श्रीकृष्णकी ललित लीला-भूमिसे न जाने क्यों मेरा मन बँधा रहता है। मुझे ऐसा लगता है, जैसे ब्रज ही मेरा अपना प्रदेश हो। मेरा मन जब भी ऊबता या अशान्त होता है, वृन्दावन भाग खड़ा होता है। अपूर्व शान्ति प्राप्ति होती है. आकुल-व्याकुल मनको। मेरा अपना मत है, आजके युगमें ब्रज भूमि ही धरतीका वह टुकड़ा है, जो उस भौतिकताको ललकार रहा है—जिसकी तमिस्रा सम्पूर्ण विश्वको मलिन बना रक्खा है।"

कृष्ण लीलाका आकर्षण

श्रीव्यथित हृदय

दिल्ली-स्थित कोटलाके मैदानमें श्रीकृष्ण-लीलाका विज्ञापन-पट विगत! भाद्रपद मासके कृष्ण-पक्षमें जब भी मैं उधरसे निकलता, मेरी दृष्टि उस विज्ञापन-पटपर पड़ जाती और मनमें साध उत्पन्न हो जाती कृष्ण-लीला देखनेकी। श्रीकृष्ण-लीलाका रस सुधाके समान सुस्वादु है। जब भी मैं ब्रजकी ओर जाता हूँ और वहाँ जहाँ कहीं भी कृष्ण-लीला होती है, अवश्य देखनेकी चेष्टा करता हूँ।

पर कोटलाकी श्रीकृष्ण-लीला उस समय न देख सका। मन तड़प-तड़पकर रह गया। कदाचित् मेरे तड़पते हुए मनकी पुकार उन अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीकृष्ण तक पहुंची, जो सबके हृदय-प्रदेशमें प्रतिष्ठित हैं। कुछ दिनोंके पश्चात् ही मुझे मथुरा-स्थित, श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके सचिव तथा बिरला गीता-मन्दिरके व्यवस्थापक श्री देवधरजी शर्माका पत्र मिला, जिसमें उन्होंने जन्मस्थानके रंगमंचपर नाट्य बेलेट सेन्टर, दिल्ली द्वारा श्रीकृष्ण-लीलाके प्रदर्शनकी चर्चाकी थी, और मुझे यह सलाह दी थी कि मैं अवश्व उस लीलाको देखूँ। क्योंकि वह श्रीकृष्ण-लीला तो है ही, 'कला' और 'रस' की दृष्टिसे भी अद्वितीय है।

एक तो श्रीकृष्ण-लीला और दूसरे ब्रजकी ओर जानेका सुयोग। श्रीकृष्णकी ललित लीलाभूमिसे न जाने क्यों मेरा मन बँधा रहता है। मुझे ऐसा लगता है, जैसे ब्रज ही मेरा

अपना प्रदेश हो। मेरा मन जब कभी ऊबता या अशान्त होता है, वृन्दावन भाग खड़ा होता हूँ। अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है आकुल-व्याकुल मनको। मेरा अपना मत है, आजके युगमें ब्रजभूमि ही धरतीका वह टुकड़ा है, जो उस भौतिकताको ललकार रहा है, जिसकी तमिस्राने सम्पूर्ण विश्वको मलिन बना रक्खा है।

मैं अपने आदरणीय मित्र श्रीशर्माजीके आह्वानपर अपनी धर्मपत्नी सहित यथावसर मथुरा पहुँचा, और उन्हींके पास बिरला-धर्मशालामें ठहरा। अपने सैलानी स्वभावके कारण देशकी बहुत-सी धर्मशालाओंमें ठहर चुका हूँ। किन्तु इतनी स्वच्छ, सुन्दर, सुखद, शान्तिप्रद और सब प्रकारकी सुविधाओंसे सम्पन्न धर्मशालामें निवास करनेका यह पहला ही अवसर था। बिरला-धर्मशालाके सामने ही लगभग पन्द्रह लाख रुपयोंकी लागत वाला विशाल गीतामन्दिर है, जिसमें गीता वक्ता श्रीकृष्णकी भव्य प्रतिमा प्रतिस्थापित है और जिसका दर्शन बिना किसी भेदभावके मानव-मात्र कर सकते हैं। गीतामन्दिरके भीतर-बाहर दीवारोंपर लगे चित्र तथा शिलालेख इतने आकर्षक हैं कि बरबस उनपर दर्शकोंकी दृष्टि पड़ जाती है और वे उनसे उद्बोधन एवं प्रेरणा प्राप्त करते हैं। मन्दिरके प्रांगणमें निर्मित गीता रथ, गीतास्तम्भ और गीता भवन भी दर्शनीय हैं। गीताभवनमें कथा-प्रवचन और भजन-कीर्तनके कार्यक्रम प्रायः बराबर चलते रहते हैं, जो दर्शकोंमें आध्यात्मिक ज्ञान एवं शान्तिका संचार करते हैं। सचमुच बिरला-बन्धु, विशेषकर धर्मप्राण सेठ जुगलकिशोरजी बिरला वंदनीय हैं, जिन्होंने प्रमुख तीर्थस्थानोंपर इतने लोकोपयोगी मन्दिरों एवं धर्मशालाओंके निर्माण करवाये हैं।

श्रीकृष्ण-लीला देखनेके लिए मैं यथासमय श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर जा पहुँचा। जिसने विश्वके मानव-समाजको गीता-जैसा शाश्वत ज्ञान दान किया, उसका जन्मस्थान कितना महनीय, और महिमामय है—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु विधिकी विडम्बनासे उसका इतिहास भी उत्कर्ष-अपकर्षकी सुखद-दुखःद गाथाओंसे परिपूर्ण है। श्री मद्भागवत-महापुराणके अनुसार यहाँ सर्वप्रथम स्वयं श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभने अपने कुल-देवताकी स्मृतिमें एक कीर्ति-मन्दिरका निर्माण करवाया था। कालान्तर पश्चात् सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यसे लेकर ओरछाके हिन्दुत्वाभिमानी राजा वीरसिंहजू देव तकने इस स्थान पर अनेकानेक मन्दिरोंके निर्माण करवाये। उन मन्दिरोंकी भव्यता, विशालता, तथा अनुपम कलाकृतियोंका वर्णन इतिहासके पृष्ठोंमें अंकित हैं। दुर्भाग्यवश ये सभी मन्दिर महमूद गजनवी, सिकन्दर लोदी, और औरंगजेबकी क्रूरतापूर्ण कट्टरताके शिकार हो गये—एक भी मन्दिर सुरक्षित नहीं बच सका। जगद्गुरु श्रीकृष्णका जन्मस्थान सैकड़ों वर्षों तक उपेक्षित खण्डहरोंके रूपमें पड़ा रहा। किन्तु अब पुनः उसके अच्छे दिन आये हैं और वह नवनिर्माणकी ओर अग्रसर हो रहा है। इसका श्रेय महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीय, सेठ जुगलकिशोरजी बिरला तथा उनके सहयोगी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार और सेठ जयदयालजी डालमिया इत्यादिको तो है ही, मेरे आदरणीय मित्र श्रीदेवधर शर्माको भी है, जो लगभग पच्चीस वर्षोंसे बड़ी निष्ठाके साथ इस पुण्यभूमिके विकास-कार्योंमें लगे हुए हैं। अब यह पवित्र स्थान इस योग्य हो गया है कि, प्रतिदिन देश-विदेशके सैकड़ों

तीर्थयात्री यहाँ आकर विश्वात्मा श्रीकृष्णके चरणोंमें श्रद्धा समर्पित करते हैं। निश्चय ही वह दिन दूर नहीं, जब महामना मालवीयजी और श्रीबिरलाजी द्वारा स्थापित सेवा-संघके सत्संकल्पानुसार यह पुनीत स्थल भगवान् श्रीकृष्णके गौरवानुकूल विकसित होकर उनके उपदेश-सन्देशका विश्वव्यापी केन्द्र बन जायेगा और यहाँसे देश-विदेशके जिज्ञासुगण दिव्य प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

इन विचारोंका चिन्तन करते-करते मैं खो-सा गया। चेतना तब लौटी, जब धर्म-पत्नीने श्रीकृष्ण-लीलाका स्मरण दिलाया। देखा सामने खुले हुए रंगमंच पर बिजलीकी बत्तियाँ जगमगा रही हैं और सहस्त्रों दर्शक अपना-अपना स्थान ग्रहण कर रहे हैं। मैंने ऐसा खुला रंगमंच कभी नहीं देखा था। मथुरावासियोंका यह सौभाग्य है कि, उन्हें नट-नागर श्रीकृष्णके जन्मस्थानपर सेवासंघकी कृपासे ऐसा प्रशस्त रंगमंच मिला है, जहाँ आये दिन नये-नये आयोजन होते रहते हैं और जिन्हें देखनेके लिए कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। कभी कृष्ण-लीला, कभी रामलीला तो कभी चैतन्यलीला। सब लीलायें एक-से एक बढ़कर, प्रभावोत्पादक, जिन्हें सहस्रों-सहस्रों व्यक्ति एक साथ बैठकर देखते हैं।

रंगमंचके सामने मैं भी दर्शकोंके बीचमें जा बैठा और पर्देकी ओर उत्कंठा भरी दृष्टिसे देखने लगा। कुछ क्षणोंके पश्चात् ही आध्यात्मिक जगत्के मूर्धन्य विद्वान् स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती आये, फिर पूजनीया माता श्रीआनन्दमयीके भी दर्शन हुए और इन दोनों महान् सन्तोंने दर्शकोंकी अगली पंक्तिमें स्थान ग्रहण किया। जो लीला इस प्रकारके वीतराग महात्माओंके मनमें भी आकर्षण उत्पन्न करे, उसका रस, उसकी कला सचमुच ही अनुपम होगी—ऐसा मैं सोच ही रहा था कि, पर्दा हटा और लीला प्रारम्भ हुई। श्रीकृष्ण-जन्म और फिर उसके पश्चात् एक-एक करके क्रमानुक्रम दृश्य सामने आने लगे। लगभग ढाई घण्टेके स्वल्प समयमें श्रीकृष्ण-जीवनकी प्रायः सभी प्रमुख घटनाएँ रंगमंचपर उपस्थित हो गयीं। अन्तिम दृश्य था श्री कृष्णका गीतोपदेश, जो बड़ा ही प्रभावशाली था। मौन और सांकेतिक अभिनय द्वारा भावा, भिव्यक्तिका वह दृश्य प्रथम बार ही मेरी आँखोंके सामने उपस्थित हुआ था। एक तो श्रीकृष्ण-लीला, जिसमें सत् है, शौर्य है, कर्मके लिए प्रेरणा है और है प्राणोंको प्राणोंसे बाँधनेकी क्षमता; दूसरे मौन, सांकेतिक कलायुक्त श्रेष्ठ अभिनय। मन आनन्दसे भर गया और उस गुम्फनकारके प्रति प्रशंसाके शब्द निकल पड़े,—जिसने लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके विशाल चरित्रसे सर्वोत्तम कथा-पुष्पोंका चयन करके अपनी भाव-बाटिका का संयोजन किया है।

लीला समाप्त होनेके पश्चात् बिरला-धर्मशाला लौटा। ज्ञात हुआ कि, यह वही कृष्ण-लीला है, जो दिल्लीके कोटला मैदानमें हुई थी। यह भी ज्ञात हुआ कि, लीलाके सभी कलाकार इसी धर्मशालामें ठहरे हुए हैं और उन्होंने सेठ जुगलकिशोर बिरला द्वारा प्रदत्त आतिथ्य-सत्कारके अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यय स्वीकार नहीं किया है। वे श्री शर्माजीके अनुरोधपर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अपनी कला समर्पित करनेके उद्देश्यसेही मथुरा आये हैं। अतः ऐसे कलाकारोंसे परिचय प्राप्त करनेकी जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीशर्माजीने कलाकारोंका परिचय कराया। उन्होंने एक स्वस्थ-सुन्दर व्यक्तित्वकी ओर संकेत करते हुए कहा—"यह हैं श्रीभगवानदास वर्मा। यही कल रंगमंचपर गीतावक्ता श्रीकृष्णके रूपमें उपस्थित थे। इन्होंने ही उस भाव-नाटिकाका संयोजन और कला-निर्देशन किया है।" फिर भगवानदासजी वर्मासे देरतक बातें हुईं—कलाके सम्बन्धमें, अभिनयके सम्बन्धमें, उस भाव-नाटिकाके सम्बन्धमें और उनकी श्रीकृष्ण-भक्तिके सम्बन्धमें। श्री भगवानदासजी वर्माके एक-एक शब्द मेरे मनपर प्रभाव डालते गये और मुझे ऐसा लगा कि, वे कोरे कलाकार ही नहीं, कलाको "सत्यं शिवं सुन्दरम्" के ढांचेमें ढालनेका प्रयत्न करनेवाले महान् साधक हैं। उन्होंने गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ टैगोरके शान्ति-निकेतनमें शिक्षा पाई है और उनका आदर्श सदा-सर्वदा सामने रखकर कलाकी उपासनामें संलग्न है।

एक तो भाई शर्माजीकी सलाह और दूसरे श्रीभगवानदास वर्माजीका स्नेहाग्रह। मैं दूसरे दिन भी रुक गया और मैंने पुनः श्रीकृष्ण-लीला देखी। उस दिन चालीस-पचास हजार दर्शकोंकी भीड़ थी। वही कलकी कृष्ण-लीला। पर आज ऐसी लगी, जैसे सर्वथा नवीन हो। सभी दृश्य मनको मोहित करनेवाले और ऐसे सजीव कि, मानों वास्तविक हों। उस दिन तो जनताके हृदयका बाँध टूट पड़ा और सब आबालवृद्ध दर्शक भावविभोर हो गये।

इस अनुपम आकर्षक कृष्ण-लीलाके पृष्ठगीत सूर-साहित्य और 'कृष्णायन' काव्यसे लिये गये हैं तथा उन्हें स्वर दिया है सुप्रसिद्ध संगीतकार श्रीअनिल विश्वास एवं उनकी धर्मपत्नी कपूरने। नाट्य बेलेट सेन्टरकी संस्थापिका एवं संचालिका हैं श्रीमती कमला लाल, जिनकी कृष्ण-लीलामें प्रगाढ़ श्रद्धा है। आजके युगमें जबकि अभिनय-कला अश्लील कथा-कहानियोंके आवरणमें विकृत हो रही है, श्रीमती कमलालालने उसे अपने नाट्य बैलेट सेन्टरकी कृष्ण-लीला द्वारा परिष्कृत करनेका प्रशंसनीय प्रयास किया है। उसमें राष्ट्रीयता, सामाजिकता, साहित्यिकता सभी कुछ हैं। वे स्वयं तो आदर्श कलाकी उपासिका हैं ही, उनकी संस्थाके सभी सदस्यों पर भी उनके उन्नत विचारोंकी छाप है। यही कारण है कि, स्वर्गीय श्रीजवाहरलाल नेहरूने इस कृष्ण-लीलाको कई बार देखा था। नैपालके सम्राटने भी एक बार श्रीनेहरूके साथ इस कृष्ण-लीलाको देखा तो प्रभावित हो गये और उन्होंने दो बार नाट्य बैलेट सेन्टरको अपने देशमें आमन्त्रित किया। भारतकी विभिन्न राज्य-सरकारें भी अपने-अपने प्रदेशमें यह कृष्ण-लीला करवा चुकी हैं। नाट्य बैलेट सेन्टरने कृष्ण-लीलाके अतिरिक्त और भी कई प्रादेशिक नृत्य तैयार किये हैं, जो राष्ट्रपति नासिर, राष्ट्रपति टीटो जैसे प्रमुख अतिथियोंके समक्ष प्रस्तुत किये जाकर प्रशंसा प्राप्त कर चुके हैं।

●

जेन मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥

'श्रीमद् भागवत मन्दिरका निर्माण, जो अभी चल रहा है, संघका एक स्तुत्य और प्रशंसनीय प्रयास है। जिस समय यह मन्दिर बनकर तैयार हो जायगा, वह भारतके ही नहीं, संपूर्ण विश्वके आकर्षण का केन्द्र होगा। पर यह सब पूज्य मालवीयजीकी ही प्रेरणाका फल होगा।'

महामना मालवीयजीके जन्मदिवसके उपलक्ष्यमें एक पुनीत संस्मरण

श्रीव्यथितहृदय

गौर वर्ण, मस्तक पर श्वेत चंदन विंदु, सिर पर श्वेत साफा, और गलेमें दुपट्टा। यह थे ऋषितुल्य मालवीयजी। उनका वेष, उनके विचार, सब ऋषितुल्य ही थे। सर्वप्रथम मैंने उनका दर्शन मिर्जापुरमें किया था। उन दिनों मैं मतवालाका सहायक संपादक था। चारों ओरसे, स्वतंत्रता-युद्धाग्निकी लपटें उठ रही थीं। पूज्य मालवीयजी मिर्जापुरके एक राजीनतिक संमेलनमें बोल रहे थे। उनकी वाणीमें अद्भुत आकर्षण था, अद्भुत प्रभाव मयता थी। यह प्रथम ही सुअवसर था, जब वाणीके ऐसे अखंड प्रवाह-चित्रका मुझे दर्शन हुआ था। उनके शब्द आज भी मेरे कर्ण-कुहरोंमें टकराते हैं। उन्होंने एक ओर जहां स्वातंत्र्य युद्धमें भाग लेनेके लिये जनताका आवाहन किया था, वहीं दूसरी ओर हिन्दुओंके संगठन पर बल दिया था। मुझे स्मरण है, उन दिनों कांग्रेसके क्षेत्रमें उनके भाषणोंक आलोचना होती थी, पर यह कहनेमें संकोच नहीं, कि जिन दिनों कांग्रेस जिना और उसके अनुयायियोंके कुचक्रमें फँसती जा रही थी, पूज्य मालवीयजी ही ऐसे थे, जिन्होंने हिन्दुओंकी नावको कांग्रेसकी नूतन राष्ट्रीयता-प्रवाहमें डूबनेसे बचाया।

दूसरी बार पूज्य मालवीयजीको मैंने वहुत निकटसे देखा-उनके चरणोंके पास ही बैठकर उनके उस मुखमण्डलको देखा, जो भव्य होने पर भी एक विशाल जातिके भविष्यकी चिन्तासे मुरझाया हुआ था। उन दिनों मैं अभ्युदयका सहायक सम्पादक था। अछूतोंकी समस्याको लेकर गांधीजीका अनशन चल रहा था। मैं अभ्युदय परिवारकी ओरसे, पूज्य मालवीयजीका मत प्राप्त करनेके लिये उनकी सेवामें उपस्थित हुआ था। वे अधिक

अस्वस्थ थे। फिर भी उन्होंने मुझे अपने चरणोंमें बैठकर कुछ पंक्तियाँ लिखनेका अवसर दिया। उनके एक-एक शब्दमें महान् हिन्दू जातिके लिये चिंता थी। वे किसी भी मूल्य पर, अछूतोंको हिन्दू जातिसे पृथक होनेके विरोधी थे।

पूज्य मालवीयजीकी यही सबसे बड़ी विशेषता थी कि, वे भारतकी राष्ट्रीयताका मूल्यांकन हिन्दू-दृष्टिकोणसे करते थे। वे जब भावी भारतके निर्माणकी बात करते थे, तो उनके सामने कपिल, कणाद, गौतम, भारद्वाज और वाल्मीकिके विचारोंका आदर्श होता था। वे स्वराज्य और स्वतंत्रताके अनन्य पोषक थे, पर उनके स्वराज्य और उनकी स्वतंत्रतामें 'हिन्दू धर्म' और हिन्दू जातिका पोषण था। वे १८८६में कांग्रेसके सदस्य बने थे। उन्होंने कांग्रेसके अधिवेशनों, और आंदोलनोंमें भाग लिया तथा कारावासका दंड भी भोगा पर उन अवसरों पर कभी वे मौन न रहे, जब उन्होंने देखा, कि कांग्रेस अल्पसंख्यकोंके मोहमें फँस कर उनकी बलि देने जा रही है, जो भारतके प्राण हैं, बहुमतके रूपमें उसके अंक में निवास करते हैं। उन्होंने बहुमतके स्वत्वोंके लिये-हिंदुओंके अधिकारोंकी रक्षाके लिये जूझनेमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं प्रगट की। अंग्रेज शासकोंसे उन्होंने मोर्चा लिया, कांग्रेसके बड़े बड़े विरोध-अवरोधोंकी भी उन्होंने चिन्ता नहीं की। वे आजीवन अपने सिद्धांत पर, अपने व्रत पर दृढ़ रहे। वे धीमी गतिसे चले, पर अपने पथ पर बराबर चलते रहे। उन्होंने अपने जीवनके प्रारंभमें जो पताका हाथमें ली थी, उसे कभी किसी मूल्य पर भी झुकने दिया। वे कोटि कोटि धर्म-प्राण भारतीयोंके प्राण ही बनकर रहे। और चिरकाल तक प्राण बने रहेंगे। उनकी कीर्तिलता कभी शुष्क नहीं होगी। वह जल सिंचन और पोषणके अभावमें भी निरंतर बढती जायगी, और बढ़ती जायगी।

हिन्दु विश्वविद्यालय पूज्य मालवीयजीकी कीर्तिका एक अमर स्तंभ है। हिन्दू विश्व विद्यालयकी स्थापनामें उनका उद्देश्य उस शिक्षाका प्रचार नहीं था, जिसने आज जीवन और समाजको निष्क्रिय बना दिया है। भले ही शिक्षाके संबंधमें, वे अपने स्वर्णिम स्वप्नोंको पूर्ण न कर पाये हों पर यही क्या कम है, कि उन्होंने शिक्षाके क्षेत्रमें भारतीय राष्ट्रीयताके लिये हिन्दू धर्म और संस्कृतिकी अजेयता सिद्ध की। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि, वे अन्यान्य धर्मों और सम्प्रदायोंके प्रति अनुदार थे। उनके विश्वविद्यालयमें अन्यान्य धर्मानुयायी विद्यार्थियोंकी संख्या बहुत ही अल्प होती थी, पर विश्वविद्यालयका द्वार सबके लिये खुला रहता था। वे धर्म और संप्रदायकी दृष्टिसे भेद-भाव करनेके प्रबल विरोधी थे। वे शिक्षाके क्षेत्रमें हिन्दू धर्म और संस्कृतिका प्रचार अवश्य चाहते थे, पर उनके प्रचारमें अन्यान्य धर्मों और संस्कृतियोंके लिए घृणा नहीं थी। उनके विश्वविद्यालयमें सभी धर्मानुयायी विद्यार्थियोंके साथ एकसा व्यवहार किया जाता था। कहा जाता है, कि एक बार जब किसी मुसलमान विद्यार्थीने उनके सामने भोजन सम्बंधी असुविधाका प्रश्न उपस्थित किया, तब उनका हृदय दुःख और क्षोभसे भर उठा था, और उन्होंने उसे निम्नांकित शब्दोंमें उत्तर दिया था— 'मेरा चौका, तुम्हारे लिये सदा खुला है।'

पूज्य मालवीयजी राजनीतिके क्षेत्रमें अपने ढंगसे राष्ट्रीय एकताके पूर्ण पक्षपाती थे। वे विशुद्ध हृदयसे राष्ट्रकी बिखरी हुई जातियोंका समन्वय चाहते थे। उन्होंने राष्ट्रीय

रंगमंचसे बार-बार निम्नांकित पंक्तियोंकी घोषणा की थी—'जब कभी राष्ट्रके कल्याणकी समस्या उत्पन्न हो, तब प्रत्येक जातिको, चाहे वह हिन्दू हो, चाहे मुसलमान हो, अथवा ईसाई, एकतासे काम करना चाहिए। भले ही एक-दूसरेके धार्मिक विचारोंमें मतभेद हो, किन्तु राष्ट्रके लिए उन मतभेदोंको पृथक रख देना चाहिए। कलियुगमें एकता ही शक्ति है। सबकी उन्नति एकता ही में है। यदि आपसमें एकता नहीं होगी, तो विदेशी सदा अपना प्रभुत्व जमाते रहेंगे। इसलिये प्रत्येक देश-सेवकको एकताका आदर्श लेकर आगे बढ़ना चाहिए।'

पर वे राष्ट्रकी एकताके लिए हिन्दुओंका संगठन बहुत ही आवश्यक मानते थे। उनका कथन था कि, हिन्दुओंके छिन्न भिन्न होनेसे राष्ट्रका निर्माण नहीं, अपितु नाश तथा विनाश होगा। वे राष्ट्रका निर्माण धर्मकी ही आधार-शिला पर करनेके पक्षपाती थे। अपने इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए उन्होंने साप्ताहिक 'अभ्युदय'का प्रकाशन आरंभ किया था। भारतीय सनातन धर्म महासभाकी स्थापना भी उन्होंने इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए की थी। उन्होंने हिन्दुओंमें शक्ति और एकताका महामंत्र फूंकनेके लिए ही महावीर स्वयंसेवक दल, और व्यायामशालाओंका निर्माण किया था। वे देश-विदेशमें, जहाँ भी कहीं बोलते थे, हिन्दू धर्म, संस्कृति और जातिको कभी नहीं भूलते थे। इंगलैण्डमें भी, उन्होंने जिन स्वरोंमें हिन्दू जातिका प्रतिनिधित्व किया था, उसके लिए युग-युगों तक हिन्दू जाति उनकी चिरऋणी रहेगी।

पूज्य मालवीयजी परम भागवत थे। भगवान् श्री कृष्णमें उनकी अपूर्व निष्ठा थी। मथुरामें श्रीकृष्ण जन्मस्थानको जब वे विपन्न और जर्जरावस्थामें देखते थे, तो उनका हृदय दुःखसे मथ उठता था। उन दिनों उस भूमि पर काशीके श्रीरायकृष्णदासजीका एकाधिपत्य था। पूज्य मालवीयजीने धर्म-प्राण, श्रद्धेय श्री जुगलकिशोर बिरलाजीसे श्रीकृष्ण जन्मस्थानकी चर्चा की, और उसके पुनःनिर्माणकी इच्छा प्रगट की। श्रद्धेय बिरलाजीने उनकी इच्छाके अनुसार ही आर्थिक सहायता प्रदान की, और १८ फरवरी १९४४ को श्रीरायकृष्णदासजीसे जन्मस्थानकी भूमि प्राप्त कर ली। दुःख है कि पूज्य मालवीयजी अपनी अंतिम इच्छाको साकार रूपमें न देख सके, क्योंकि १२ नवम्बर १९४३ को वे महा प्रयाण कर गए, पर उनकी प्रेरणा श्रद्धेय बिरलाजीके प्राणोमें संचरित होती रही। परिणाम स्वरूप उन्होंने २१ फरवरी १९५१ को 'श्रीकृष्ण जन्मभूमि' ट्रस्टकी स्थापना की। उसी ट्रस्टकी रजिस्ट्री 'श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ'के नामसे हुई है, जिसने आज 'श्रीकृष्ण जन्म-स्थान'का स्वरूप ही परिवर्तन कर दिया है। आज श्रीकृष्ण जन्मस्थान, वस्तुतः श्रीकृष्ण जन्मस्थान है। जन्मस्थानकी भूमि पर पैर रखते ही, उसकी भव्यताको देखकर हृदय आनंद और उल्लाससे पूर्ण हो जाता है। श्रीमद्भागवत मंदिरका निर्माण जो अभी चल रहा है, संघका एक स्तुत्य और प्रशंसनीय प्रयास है। जिस समय यह मंदिर बनकर तैयार हो जायगा, वह भारतके ही नहीं, संपूर्ण विश्वके आकर्षणका केन्द्र होगा। पर वह सब पूज्य मालवीयजी की ही प्रेरणा का फल होगा। मालवीयजीकी कीर्ति उस मन्दिरके रूपमें युग-युगों तक स्थिर रहेगी। देशके कोटि-कोटि लोग उसे मस्तक झुकायेंगे

और मालवीयजीकी स्मृतिमें उनके चरणों पर श्रद्धाके पुष्प चढाकर आनंद-विभार होंगे।

पूज्य मालवीयजीका जन्म प्रयागमें २५ दिसम्बर १८६१ ई.को संध्याकी शुभ वेलामें ६ बजकर ५४ मिनिट पर हुआ था। उनके पिता संस्कृतके प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने 'सिद्धान्तोत्तम' नामक एक सुन्दर ग्रन्थकी रचना भी की थी। स्वयं पूज्य मालवीयजी हिन्दी, संस्कृत, और अंग्रेजीके प्रकांड विद्वान थे। कानूनकी परीक्षा भी उन्होंने उत्तीर्ण की थी। उन्होंने अध्यापन तथा वकालतका कार्य भी किया था। अंग्रेजीके इन्डियन यूनियन तथा हिन्दुस्तानके सम्पादनमें उनकी अद्‌भुत प्रतिभा देशके सामने प्रगट हुई थी। उनकी लेखन और वक्तृत्व शैली पर माँ भारती के ही वरदकी छाप थी। उनके शब्दों और वाणीमें मंत्रकी सी शक्ति थी। वे अपनी वाणीमें श्रोताओंको डुबाने, और तन्मय बना देनेकी अपूर्व शक्ति रखते थे। वे अतीतमें अन्यतम आस्था रखनेवाले भारतके अन्यतम नेता थे। स्वयं राष्ट्रपिता गांधीजी, और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर भी उनका हृदयसे संमान करते थे। महात्माजीकी निम्नांकित पंक्तियोंमें पूज्य मालवीयजीके प्रति उनके हृदयकी श्रद्धा साकार हो उठी है—'काशीका हिन्दू विश्वविद्यालय मालवीयजीके जीवनका सबसे बड़ा कार्य है। उन्होंने राष्ट्रकी जैसी सेवा की, वह किसीसे छिपी नहीं है। उनकी सेवाओंका काशी हिन्दू विश्व विद्यालय एक नमूना है। मालवीयजी राष्ट्रीय दृष्टिसे कितने सफल नेता हैं, इसका प्रमाण हिन्दू विश्व विद्यालयसे प्राप्त हो सकता है। उनकी सफलता इसीसे सिद्ध है कि इस विश्व विद्यालयके विद्यार्थी अपने चरित्रको ऊँचा उठानेमें अधिकसे अधिक त्याग करते हैं। राष्ट्रीय संग्राममें भी यहांके छात्रोंने पूर्ण रूपसे भाग लिया, मालवीयजीकी सफलताका यह भी ज्वलंत उदाहरण है।'

वस्तुतः पूज्य मालवीयजी धन्य थे। देशके धार्मिक, सामाजिक, और राजनीति जीवनको उनसे जो प्रेरणा प्राप्त हुई है, उसके लिये देश युग-युगों तक उनका चिरऋणी रहेगा।

●

निवेदन

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जो तनु दियो ताहि विसरायो, ऐसो नमकहरामी॥
भरि-भरि उदर विषै कौं धायो, जैसें सूकर-ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरी-विमुखन की निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो जग मोते, सब पतितन में नामी।
'सूर' पतित कौं ठौर कहाँ है, तुम विनु श्रीपति स्वामी॥

'मनुष्य का मन भविष्यके कार्योंको करनेका हिसाब लगाया करता है, किन्तु काल उसके नाशवान् शरीरको लक्ष्य करके मुस्कराता रहता है, इसलिये धर्मको ही सहायक मानकर सदा उसीके संग्रहमें लगे रहना चाहिए । क्योंकि धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर नरकके पार हो जाता है ।"

धर्म ही ऐश्वर्यका जनक है

श्रीसुरेश चन्द्र

महाभारत युद्धके पश्चात् महाराज युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञकी आयोजना की थी । यज्ञमें बड़े-बड़े नृपति, ऋषि, महात्मा संमिलित हुए थे । स्वयं आदि पुरुष भगवान श्रीकृष्ण भी उस यज्ञके आदरणीय अतिथि थे । यज्ञकी समाप्ति पर, अवभृथ स्नानके पश्चात् भी युधिष्ठिरके मनको शांति प्राप्त न हुई । उनके मन में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न जाग उठे । वे प्रश्न राज्य, वैभव, सुख, और मुक्तिके संबंधमें न थे । वे प्रश्न उस आत्माके प्रश्न थे, जिसके भीतर पूर्ण प्रकाश था, पूर्ण ज्ञान था ।

महाराज युधिष्ठिर अवसर पाकर भगवान श्रीकृष्णके निकट जा पहुंचे । भगवान श्रीकृष्णने प्रेम से विभोर होकर, उन्हें अपने ही निकट बिठाया। युधिष्ठिरके बैठने से यदुनंदन आनंदित हो उठे । उन्होंने अपनी अनुकम्पा-भरी चितवनसे उनकी ओर देखते हुए कुशल-क्षेम पूछा ।

युधिष्ठिर गद्गद् हो उठे । मुरलीधरके प्रेमने उन्हें विभोर कर दिया । वे आनंदाश्रुभरे नेत्रोंसे श्यामसुन्दर की ओर देखते हुए विनीत स्वरमें बोल उठे, 'प्रभो' यज्ञ तो निर्विघ्न समाप्त हो गया, पर मनकी तृषा शांत न हुई । मैं आपकी शरण हूं, मुझ पर कृपा कीजिए ।'

महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण भगवानके चरणों पर लोट गए । भगवानने उन्हें प्रेमसे अपने कर-कमलोंसे उठाया, और उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए मृदु स्वरमें पूछा; 'क्या बात है पाण्डु नंदन ! आपको क्या चाहिए ?' महाराज युधिष्ठिरने विनीतकंठसे कहा

'जनार्दन मेरा मन व्याकुल हो रहा है, धर्म का गूढ़ रहस्य जाननेके लिए। यदि आप वस्तुतः मुझे अपना प्रेम पात्र समझते हैं, तो भक्त वत्सल, मुझे यह बताइये कि वैष्णव धर्म का स्वरूप क्या है ?'

भगवान श्रीकृष्णका हृदय प्रसन्नतासे भर उठा। वे वरद दृष्टिसे युधिष्ठिर की ओर देखकर मुस्करा उठे, और फिर गंभीर-मुख मुद्रासे धर्मके रहस्यों का उद्‌घाटन करने लगे। उन्होंने कहा—

'हे सर्व श्रेष्ठ व्रत का पालन करने वाले कुन्ती पुत्र, तुम धर्मके लिए इतना उद्योग करते हो, इसलिए विश्वमें कोई भी वस्तु तुम्हारे लिए दुर्लभ नहीं है, राजेन्द्र! श्रवण किया हुआ, देखा हुआ, कहा हुआ, पालन किया हुआ, और अनुमोदन किया हुआ, धर्म मनुष्यको इन्द्र पद पर पहुँचा देता है। परंतप, धर्म ही जीव का माता पिता, रक्षक, मित्र, भ्राता, सखा, और स्वामी है। काम भोग, सुख, उत्तम ऐश्वर्य और सर्वोत्तम स्वर्ग की प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है। यदि इस विशुद्ध धर्म का सेवन किया जाय, तो यह महान भय से रक्षा करता है। धर्मसे ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व और देवत्व की प्राप्ति होती है। धर्म ही मनुष्य को पवित्र करता है। युधिष्ठिर, जब काल-क्रमसे मनुष्य का पाप नष्ट हो जाता है, तभी उसकी बुद्धि धर्माचरणमें लगती है। सहस्त्रों योनियोंमें भटकने के पश्चात् मनुष्य योनि का मिलना अत्यन्त कठिन होता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर भी जो धर्म का अनुष्ठान नहीं करता, वह महान् लाभ से वंचित रह जाता है। आज जो लोग निन्दित, दरिद्र, कुरूप, रोगी, दूसरोंके द्वेष-पात्र, और मूर्ख देखे जाते हैं, उन्होंने पूर्व जन्ममें धर्म का अनुष्ठान नहीं किया है। किन्तु जो दीर्घजीवी, शूरवीर, पंडित, भोग-सामग्रीसे सम्पन्न, निरोग, और रूपवान हैं, उनके द्वारा पूर्व जन्ममें निश्चय ही धर्म का सम्पादन हुआ है। इस प्रकार शुद्ध भावसे किया हुआ धर्म का अनुष्ठान, उत्तम गति की प्राप्ति कराता है। परन्तु जो अधर्म का सेवन करते हैं, उन्हें पशु-पक्षी आदि तिर्यकयोनियोंमें गिरना पड़ता है। कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर, अब तुम्हें एक रहस्य की बात बताता हूँ। सुनो पाण्डुनंदन, मैं तुमसे परम धर्म का वर्णन अवश्य करूँगा। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, और सदा मेरी शरण में स्थित रहते हो, तुम्हारे पूछने पर मैं परम गोपनीय आत्म-तत्व का भी वर्णन कर सकता हूं, फिर धर्म-संहिताके लिए तो कहना ही क्या है ?'

महाराज युधिष्ठिर आनन्दसे गद्‌गद हो गए। उनके नेत्र आनंदाश्रु से भर गए। विभोरतामें मुक्ता सदृश अश्रु की बूंदें अच्युत के चरणों की ओर ढुलकने लगीं। दयामय वंशीधरने उन बूंदों की ओर देखकर, पुनः गंभीर मुख मुद्रा से कहना प्रारंभ किया —

'इस समय धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश करने के लिए ही मैंने अपनी माया से मानव रूप में अवतार धारण किया है। जो लोग मुझे केवल मनुष्य-शरीर में ही समझ कर मेरी अवहेलना करते हैं, वे मूर्ख हैं, और संसार के भीतर बार-बार तिर्यक योनियों में भटकते रहते हैं। इसके विपरीत जो ज्ञान-दृष्टि से मुझे सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित देखते हैं, वे सदा मुझमें मन लगाये रहने वाले मेरे भक्त हैं। ऐसे भक्तोंको मैं परम धाममें अपने पास

बुला लेता हूं । पाण्डुपुत्र, मेरे भक्तों का नाश नहीं होता । वे निष्पाप होते हैं। मनुष्योंमें उन्हीं का जन्म सफल है, जो मेरे भक्त हैं । पाण्डुनंदन, पापोंमें अभिरत मनुष्य भी यदि मेरे भक्त हो जायँ, तो वे सारे पापों से वैसे ही मुक्त हो जाते हैं, जैसे जलसे कमलका पत्ता रहता है । सहस्त्रों जन्मों तक तपस्या करनेसे जब मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उसमें निःसंदेह भक्ति का उदय होता है । मेरा जो अत्यन्त गोपनीय, कूटस्थ, अचल, और अविनाशी परस्वरूप है, उसका मेरे भक्तोंको जैसा अनुभव होता है, वैसा देवताओंको भी अनुभव नहीं होता । पाण्डव, मेरा जो अपर स्वरूप है, वह अवतार लेने पर दृष्टिगोचर होता है । संसारके समस्त जीव, सब प्रकारके पदार्थोंसे उसकी पूजा करते हैं । सहस्त्रों और करोड़ों कल्प आकर चले गए, पर जिस वैष्णवरूपको देवगण देखते हैं, उसी रूपसे मैं भक्तोंको दर्शन देता हूं । जो मनुष्य मुझे जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, और संहारका कारण समझकर मेरी शरण लेता है, उसके ऊपर कृपा करके मैं उसे संसार-बन्धनसे मुक्त कर देता हूँ ।'

महाराज युधिष्ठिर आत्मविस्मृत होकर तन्मय हो उठे। भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें जागृत अवस्था में लाते हुए अपनी गोपनीयता का पुनः रहस्योद्घाटन करने लगे—

'मैं ही देवताओं का आदि हूँ । ब्रह्मा आदि देवताओं की मैंने ही सृष्टि की है । मैं ही अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर संपूर्ण संसारकी सृष्टि करता हूँ। मैं अव्यक्त परमेश्वर ही तमोगुणका आधार, रजोगुणके भीतर स्थित, और उत्कृष्ट सत्वगुणमें भी व्याप्त हूँ । मुझे लोभ नहीं है । ब्रह्मासे लेकर छोटेसे बड़े तक-सबमें मैं व्याप्त हूं । द्युलोकको मेरा मस्तक समझो । सूर्य और चन्द्रमा मेरी आँखें हैं । गो, अग्नि, और ब्राह्मण मेरे मुख हैं । और वायु मेरी साँस है । आठ दिशाएँ बाहें, नक्षत्र मेरे आभूषण और सम्पूर्णभूतोंको अवकाश देने वाला अन्तरिक्ष वक्षस्थल है । बादलों और वायुके चलनेका जो मार्ग है, उसे मेरा अविनाशी उदर समझो। युधिष्ठिर द्वीप, समुद्र और जंगलोंसे भरा हुआ यह सबको धारण करने वाला भूमण्डल मेरे दोनों पैरोंके स्थानमें है। आकाशमें मैं एक गुण वाला हूं, वायु में दो गुण वाला हूँ, अग्निमें तीन गुण वाला हूँ और जलमें चार गुण वाला हूँ । पृथ्वी में पाँच गुणोंसे स्थित हूँ । वही तन्मात्रा रूप पंच महाभूतोंमें शब्दादि पाँच गुणोंसे स्थित हूँ । मेरे हजारों मस्तक, हजारों मुख, हजारों नेत्र, हजारों उदर, हजारों उरु, और हजारों पैर हैं । मैं पृथ्वीको सब ओर से धारण करके नाभिसे दस अंगुल ऊंचे सबके हृदयमें विराजमान हूँ । सम्पूर्ण प्राणियोंमें मैं आत्मरूपसे स्थित हूँ, इसलिए सर्व-व्यापी कहलाता हूँ ।'

महाराज युधिष्ठिरके अन्तरका कोना-कोना शुभ्र आलोकसे जगमगा उठा । भगवान्ने अपनी सर्वव्यापकता और गुह्यताका एक और पर्दा उठाते हुए कहा—'राजन्, मैं अचिंत्य, अनन्त, अजर, अजन्मा, अनादि, अवध्य, अप्रमेय, अव्यय, निर्गुण, गुह्यस्वरूप, निर्द्वन्द, निर्भय, निष्कल, निर्विकार, और मोक्षका आदि कारण हूँ। नरेश्वर स्वधा, स्वाहा भी मैं ही हूँ । मैंने ही अपने तेज, और तपसे चार प्रकारके प्राणी समुदायको स्नेह पाश-रूप रज्जुसे बाँध कर अपनी मायासे धारण कर रखा है । मैं चारों आश्रमोंका धर्म, चार प्रकारके होताओंसे सम्पन्न होने वाले यज्ञका का फल भोगने वाला चतुर्व्यूह, चतुर्यज्ञ, और चारों

आश्रमोंको प्रकट करने वाला हूँ। युधिष्ठिर, प्रलय कालमें समस्त जगत का संहार करके उसे अपने उदर में स्थापित कर, दिव्य योगका आश्रय ले, मैं एकार्णव के जलमें शयन करता हूँ। एक हजार युगों तक रहने वाली ब्रह्मा की रात पूर्ण होने तक महार्णवमें शयन करने के पश्चात्, स्थावर जंगम प्राणियों की सृष्टि करता हूँ। प्रत्येक कल्पमें, मेरे द्वारा जीवोंकी सृष्टि, और संहार की लीला होती है, किन्तु मेरी मायासे मोहित होने के कारण वे जीव मुझे नहीं जान पाते। प्रलय कालमें जब दीपकके शान्त होने की भाँति समस्त व्यक्त सृष्टि लुप्त हो जाती है, तब खोज करने योग्य मुझ अदृश्य-स्वरूप की गतिका उनको पता नहीं लगता।'

महाराज युधिष्ठिरको ऐसा लगा, जैसे वे स्वयं 'ब्रह्म' के रूपमें परिवर्तित हो गए हों—स्वयं वे भगवान् श्रीकृष्णकी सत्तासे उद्दीप्त हो उठे हों। भगवान् श्रीकृष्णने उनके नेत्रोंके सामनेसे अब उस पर्देको उठाया, जिसके आगे कुछ नहीं था। भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

'राजन्, कहीं कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें मेरा निवास न हो तथा कोई ऐसा जीव नहीं है, जो मुझमें स्थित न हो। जो कुछ भी स्थूल, सूक्ष्म रूप यह जगत् हो चुका है, और होने वाला है इन सबमें इसी प्रकार मैं ही जीव-रूपसे स्थित हूँ। अधिक कहनेसे क्या लाभ ? मैं तुमसे यह सच्ची बात बता रहा हूँ, कि भूत और भविष्य जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ। भरतनन्दन, सम्पूर्ण भूत मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, और मेरे ही स्वरूप हैं। फिर भी मेरी मायासे मोहित रहते हैं, इसलिए मुझे नहीं जान पाते। राजन्, इस प्रकार देवता, असुर और मनुष्यों सहित समस्त संसारका मुझसे ही जन्म और मुझमें ही लय होता है।'

महाराज युधिष्ठिरकी आकुलता शान्त हो गई। उन्हें ऐसा लगा, जैसे उनके हृदयमें अमृत-विन्दुओंकी वर्षा हो रही हो। युधिष्ठिर भगवान्के चरण-कमलों पर लोट गए। भगवान्ने उन्हें उठाकर अपने अंकसे लगाते हुए कहा....'महाराज युधिष्ठिर आप धन्य हैं। यदि आप धर्मके संबंधमें अपनी जिज्ञासा न प्रगट करते, तो क्या मैं यह सब कुछ कह पाता, जो आज-अभी कहा है।'

●

एकमंत्र

हरे हरेति वै नाम्ना शम्भोश्चक्रधरस्य च।
रक्षिता बहवोमर्त्याः शिवेन परमात्मना ।।

'हे हरे' और 'हे हर' इस प्रकार भगवान् शिव और विष्णुके नाम लेनेसे परमात्मा शिवने बहुतेरे मनुष्योंकी रक्षा की है।'

'देश-मातृका पूजन हिन्दू धर्मका एक अंग है, और उसके वचन तथा प्रार्थनाओं पर राजनीतिका प्रभाव नहीं होता। अध्यात्म वस्तु पर अवश्य विजयी होगा। विचार सर्वग्राही एवं सार्वभौमी हैं।'

भारतकी मूलभूत एकता

डा० राधाकुमुद मुकुर्जी
(अनु० श्रीजगमोहनराव भट्ट)

जब सम्पूर्ण मानवता अधिकाधिक राजनीतिक सहयोग और मानव जातिकी महत्त्वशाली एकता पर आधारित एक विश्वकी कल्पना कर रही है, उस संसिद्धिकी आत्मपरक अथवा मनोवैज्ञानिक स्थितिके लिये उदार दृष्टिकोण और अन्तर्राष्ट्रीय मस्तिष्ककी संस्कारिता पर विचार कर रही है, तब भाषावादकी संकुचित भावनाका शिकार होकर विभाजनके नए क्षेत्रोंका निर्माण मानवताकी प्रगतिके लिये अत्यन्त घातक है।

संगठित एकताके रूपमें भारतने प्रकृति द्वारा प्रेरित विशेष विचारधारा, दृष्टिकोण, और परम्पराओंका विकास किया है। इतिहास द्वारा इनको बार-बार बल मिला है। उनका संचित वेग राजनीतिके एक झटकेसे विचलित नहीं होगा—उसके सम्मुख घुटने टेकेगा नहीं।

कोई इस तथ्यसे अस्वीकार नहीं करेगा कि, प्रकृतिने भारतको अविवादेय प्राकृतिक इकाईके रूपमें बनाया है। इसकी एशियाके शेष भागोंसे, उल्लेख योग्य प्राकृतिक सीमाओं द्वारा स्पष्ट रूपमें पृथक रचना है। उत्तरी सीमाओं पर पर्वत हैं, और दक्षिणमें सागर हैं।

और इस सुनिश्चित भौगोलिक एकतासे भी अधिक गहन, इसके अन्तरतममें आन्तरिक एकता सन्निहित है, जिसकी नींव युगोंकी चट्टानों पर स्थित है।

ये चट्टानें भारतके धातु-धनके स्त्रोत हैं। केवल राजनीतिक विचारोंको दृष्टिमें रखकर, देशके धरातलीय कृत्रिम विभाजनोंसे वे प्रभावित नहीं होते हैं। प्रतिशोधके साथ उन्होंने उस धरातलके नीचे एक गहनतर एवं अखण्ड एकता निर्माण करली है। यह एकता निरन्तर तथा महाद्वीपीय भूमिके नीचे अभिव्यक्त होती हुई विभिन्न राज्योंके भौगोलिक क्षेत्रोंका अपने वृहद् वर्गमें सम्मिलन करती है। यह एकता कृत्रिम सीमाओंकी पूर्ण अवहेलना करती है। ये कृत्रिम सीमाएँ ही उन क्षेत्रोंको ऊपर-ऊपरसे टुकड़े-टुकड़े कर देती हैं।

अपनी भूगर्भीय संरचनाकी सुदृढ़ नींव पर आधारित भारतकी भौगोलिक एकता, जो उस नींवमें व्यापक तथा गहन रूपसे समायी हुई है, अपना विभाजन किये जाने पर मानव-बुद्धि पर हँसती है; क्योंकि यह विभाजन किसी प्राकृतिक अथवा भौतिकी आधार पर होता नहीं है।

यह द्रष्टव्य है कि भारतके प्राकृतिक साधन भारतके विभिन्न भागोंमें इस प्रकार विभाजित एवं फैले हुए हैं, कि वे भाग इकट्ठे ही रहने चाहिये, और जहाँ तक सम्भव हो, एक ही सामान्य आर्थिक प्रणालीमें संगठित रहने चाहिये। तभी अलग-अलग भागोंकी समृद्धि इनकी पूर्ण सामर्थ्यानुसार हो सकेगी।

अधिकतम जनसंख्याकी अधिकतम भलाई करने वाली औद्योगिक उन्नतिकी पुकार राजनीतिक, और प्रशासनिक विभाजनोंके मध्य एकताकी पुकार है।

विदेशी पूँजी और आयातको निम्नतम मूल्य पर उपलब्ध करनेके मार्गमें एकताके लिये वित्तीय पुकार भी किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

भारतका भाषायी विभाजन विभाजित प्रदेशोंमें विशिष्ट राष्ट्रीय तथा ऐतिहासिक स्मृतियोंको विस्मृत नहीं कर सकता।

यह शताब्दियोंसे चले आए जीवन और इतिहासको समाप्त नहीं कर सकता।

यह अनिवार्यत: आवश्यक है कि, ये राज्य अपने निवासियोंके जीवनकी गहनतर एकताओंका सम्मान करें, उनको बनाए रखें, एवं उनकी वृद्धि करें। ऐसा करते समय अपने मतभेदों पर बल देनेकी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि वे अपेक्षाकृत रूपमें ऊपरी एवं केवल राजनीति तक ही सीमित हैं, क्योंकि राजनीति जीवनके हितोंको समाप्त नहीं कर सकती।

संस्कृतिका क्षेत्र बहुत व्यापक है, और यह मतभेदोंका निपटान अत्यधिक सर्वतोमुखी समन्वयमें करती है।

भारतमें, इसके नागरिकोंको चाहिये कि एक बहुविध अखिल भारतीय दृष्टिकोणका निर्माण करनेके लिये अपनी एकताओंका प्रसार करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझें। भारत एक सुदृढ़ राष्ट्रीय इकाईके रूपमें विकसित हो—इसके मार्गमें अनेक बाधाओंमेंसे एक बड़ी बाधा स्थानीयता और प्रान्तीयताकी संकुचित भावनाका दमन करना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, धार्मिक, और राष्ट्रीय कर्तव्य समझा जाना चाहिये।

यह सौभाग्यकी बात है कि इस विशाल भावात्मक दृष्टिकोणकी संवृद्धिके लिये कोई भी हिन्दू अपने पवित्र धर्म-ग्रंथोंसे निरन्तर प्रेरणा प्राप्त कर सकता है।

अनेक प्रकारसे भिन्न-भिन्न दृश्यमान रूपोंमें प्रस्तुत भारत माताकी पूजा करनेमें यह ग्रंथ उसके सहायक होते हैं, और वह इस विराट-देहके भव्य तथा महिमामय रूपका ध्यान उस शुद्धिकारी मंत्रोच्चारणके साथ-साथ करता है:—

'गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती,
नर्मदे सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिम् कुरु।'

देशमातृका पूजन हिन्दू-धर्मका एक अंग है, और इसके वचन तथा इसकी प्रार्थनाओं पर राजनीतिका प्रभाव नहीं होता।

अध्यात्म वस्तु पर अवश्य विजयी होगा। विचार सर्वग्राही एवं सार्वभौमी हैं।

विश्व-वन्धुत्वकी भावनाके सृजनमें मानवताको सभी प्रकारकी सहायता देनी चाहिये।

हिन्दू दर्शन-शास्त्रानुसार आत्माका निवास उस पिंडमें होता है, जिसमें और जिसके द्वारा यह कार्य करती है। इसे एक वाहन, उपकरण, एक भौतिक संरचनाकी आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा यह अभिव्यंजित होती है और वस्तुके वाह्य संसारमें अपना वाह्य रूप वनाए रखती है। और ऐसा प्रतीत होता है कि, यही सिद्धान्त राष्ट्रवादकी आत्मा (भावना) में भी लागू होता है।

सभी प्रकारके राष्ट्रीय विकासके लिये सार्वजनीन पितृभूमिकी प्राथमिकता है। उसी जीवमान केन्द्रविन्दुके चहुं ओर तो वे भावनाएँ, संस्थाएँ, परम्पराएं एवं अन्य तत्त्व एकत्र होंगे, जो एक राष्ट्रकी भाषा और साहित्य, धर्म और संस्कृतिका निर्माण करते है। ये ही तत्त्व तो पितृभूमिको वनाए रखने एवं इसको एक मूल्यवान सांस्कृतिक इकाईके रूपमें स्वतन्त्र विकास करनेके लिये प्रयत्न करते रहते हैं।

एक सार्वजनीन देशका, सार्वजनीन प्राकृतिक परिवेशका संगठनकारी प्रभाव वास्तव में अरोध्य है, और यह निस्संकोचरूपमें स्पष्ट कहा जा सकता है कि, यह रीति-रिवाजों, रहन-सहन, भाषा और धर्म जैसे मतभेदोंकी विभेदकारी, विनाशक शक्तियों तथा वृत्तियोंका प्रभावकारी प्रतिरोध करता रहेगा।

अव जैसा कि, भारत स्वतन्त्र एवं सार्वभौमिकता सम्पन्न राष्ट्र है, इसकी समस्याओं में सवसे महत्त्वपूर्ण समस्या भारतीय जनतामें भेद डालने वाले जातिगत, धार्मिक तथा भाषायी मतभेदोंसे उत्पन्न विभेदकारी शक्तियोंके विरुद्ध भारतकी आन्तरिक संलाग तथा एकताको सामर्थ्यशील बनाना है।

इनको तव तक एक जीवित राष्ट्रमें, एक महापराक्रमी राजनीतिक अस्तित्वमें संयुक्त नहीं किया जा सकता, जव तक कि सर्वप्रथम वे यह नहीं समझते तथा अनुभव नहीं करते कि, हमारे रहनेके लिये, हमारे द्वारा सेव्य एक ही सार्वजनीन देश है, कि हम सव एक मातृभूमिसे सम्बन्ध रखते हैं, तथा एक ही देशकी माटीसे उत्पन्न उसके लाड़ले सपूत हैं।

स्वतन्त्र भारतके नागरिकोंको चाहिये कि छोटे-छोटे भाषायी राज्योंमें बांट कर भारतको विघटित करनेके वर्तमान राजनीतिक विचारके विरुद्ध, संगठित ऐक्यके प्रतीकके रूपमें, अपने मातृदेशका जीवित भावात्मक रूप, अपने समस्त सांस्कृतिक तथा सामाजिक विभेदोंको भुला कर भी सप्राण रखें।

आज वड़ी भारी आशंका है कि, भाषावादकी भावना राष्ट्रवादकी भावनाको विलुप्त न कर दे और अखिल भारतीय दृष्टिकोणके सृजनको विषाक्त न कर दे।

महाबलिदानी गोभक्त श्रीपाहुजा

श्रीराधेश्याम बंका, गीताप्रेस, गोरखपुर

बलिदानोंकी गाथाएँ प्रेरणाका अविरल स्रोत हैं। देशकी, धर्मकी, सत्यकी रक्षाके लिये प्रत्येक प्राणोत्सर्ग समाजमें चेतनाकी सृष्टि और वृद्धि करता है। श्रीपाहुजाके बलिदानकी गाथा भी ऐसी ही है।

धर्माग्रही एवं सरल हृदय श्रीपाहुजामें इतनी आस्तिकता, इतनी दृढ़ता, इतना त्याग होगा, यह किसे कल्पना थी ? श्रीपाहुजाकी उम्र थी ५१ वर्षकी। पूरा नाम था श्रीमेहरचन्दजी पाहुजा। मूल निवासी थे फतेहपुर कुरेशीवाला, बहावलपुर रियासत (अब पाकिस्तान) के किन्तु भारत-विभाजनके बादसे दिल्लीमें ही रह रहे थे। पाकिस्तानमें पेशा था कपड़ेका व्यापार और तब थे भी बड़े सम्पन्न, किन्तु दिल्लीमें एक साधारण-सी नौकरी करते थे जिससे परिवारका भरण-पोषण कठिनतासे हो पाता था।

सं०२०२३, कार्तिक कृष्ण ९ सोमवार, (७ नवम्बर, ६६) को सर्वदलीय गोरक्षा महाभियान समिति द्वारा संगठित महाविराट् प्रदर्शन दिल्लीमें होने वाला था। इसके एक दिन पूर्व साधारण सभामें भाषण देते हुए पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीने कहा था कि प्राणोंका उत्सर्ग किये बिना भारतका कलंक गोवध बन्द नहीं होगा। जब तक गोवध बन्द न हो जाय, तब तक जो व्यक्ति आमरण अनशन कर सकें वे हाथ उठायें। अनेक हाथ उठाने वालोंमें श्रीपाहुजा भी थे। तभी उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि गोवध बन्द नहीं हुआ तो आगामी गोपाष्टमीसे आमरण अनशन आरम्भ कर दूँगा। महाविराट् प्रदर्शनमें गोली-काण्ड हुआ, गोभक्तोंके मत्थे झूठा दोष मढ़ा गया और सरकारने गोवधको रोकनेके लिये कोई कदम नहीं उठाया। फलस्वरूप जगद्गुरु पुरी-शंकराचार्य पूज्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवजी तीर्थ तथा पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीने अपनी पूर्व घोषणानुसार गोपाष्टमी, २०२३ (२० नवम्बर, ६६) से आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। पूज्य ब्रह्मचारीजीके साथ उनके आश्रम संकीर्त्तन भवन, वंशीवट, वृन्दावनमें ही श्रीपाहुजाजीने अपना आमरण अनशन-व्रत आरम्भ कर दिया। उनके साथमें अन्य अनेक साथियोंने भी अनशन व्रत आरम्भ किया।

यह न समझा जाय कि श्रीपाहुजाकी गोभक्ति श्रीब्रह्मचारीजीके आह्वानपर उमड़ पड़ी। यह गोभक्ति तो उनकी नस-नसमें समायी हुई थी। भारत-विभाजनके पूर्व जब वे अपने मूल-स्थान पाकिस्तानमें रहते थे, तब घर सुख-सुविधासे सम्पन्न था। उस समय यदि इनको सन्देह हो जाता कि कोई व्यक्ति चाहे वह मुसलमान हो या अन्य, गायको कष्ट देनेके लिये अथवा वध करनेके लिये ले जाता है तो उस गायको खरीद कर गोशालामें दे दिया करते थे। जैसी उनकी गो-भक्ति थी वैसी उनकी गीताभक्ति थी। भगवद्गीताका नित्य पाठ किया करते थे। गीताके सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारनेकी सतत चेष्टा किया करते थे। आमरण अनशनके दिनोंमें माला पर उनका जप हमेशा चलता रहता था। श्रीपाहुजाकी सत्य-निष्ठा और वचन-पालन एक आदर्श वस्तु है। पाकिस्तानसे आकर दिल्लीमें उन्होंने मनियारीकी दुकान खोली, पर वह नहीं चली। फिर गीताप्रेसकी धार्मिक पुस्तकोंकी दुकान खोली, पर उसमें घाटा लग गया। फिर नौकरी करनेका निश्चय किया। जिस दुकानको श्रीपाहुजा छोड़ने वाले थे उस दुकानको लेनेके लिये लोगोंने छः-सात हजार रुपयोंकी पगड़ी देनेका प्रस्ताव सामने रखा परन्तु श्रीपाहुजाको पगड़ी लेना पाप-कर्म लगा। गरीबी थी फिर भी सत्यकी टेक मनमें थी। पगड़ी नहीं ली और दुकान सरकारको देदी, सरकार चाहे जिसे दे। नौकरी करते समय भी वही नेकनीयती, वही ईमानदारी। जिस दुकानमें काम करते, उसका मालिक एक सेर चीनीके १७ पैकेट बनाता। इस प्रकार हर पैकेटमें छटाँकसे कम चीनी होती। पर ग्राहक द्वारा छटाँक चीनी माँगने पर मालिक एक पैकेट दे देता। श्रीपाहुजाने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया कि वह ग्राहकोंको यह पैकेट नहीं देगा। श्रीपाहुजाजीने तौलमें कभी बेईमानी की ही नहीं।

श्रीपाहुजाजीके आमरण अनशनके दिन-पर-दिन निकलने लगे। किन्तु मनमें वही उमंग, वही निश्चय और वही उत्साह था। अपने पुत्रको भी अपने अनशनकी सूचना नहीं दी। अपने मित्रसे सूचना पाकर उनका पुत्र उनके पास आया। उनकी पत्नी दिल्लीसे उनके पास वृन्दावन आयीं। मोहाविष्ट परिवारने अनशन-व्रतके परित्यागके लिये अनुरोध किया पर यह एक विफल प्रयास था। फिर परिवार वालोंने पूज्य ब्रह्मचारीजीसे कहा कि आप अनशन तोड़नेके लिये कह दें। आपकी आज्ञा अवश्य ही मान लेंगे। परिवारके अत्यधिक अनुरोध पर पूज्य ब्रह्मचारीजीने श्रीपाहुजाको व्रत तोड़नेके लिये कहा। इस पर श्रीपाहुजाने पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीसे पूछा:—"आपने ६ नवम्बरको मुझसे गोवध-निषेधके उद्देश्यसे आमरण अनशनके लिये हाथ उठवाया था। क्या गोवध बन्द हो गया? यदि आप जबरदस्ती मेरा व्रत भंग करवा देंगे तो मैं पागल हो जाऊंगा।" इसी अवसर पर श्रीपाहुजाजीने पूज्य ब्रह्मचारीजीको भगवद्गीताका अमर श्लोक दिखाया :—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

पूज्य ब्रह्मचारीके पास कोई उत्तर नहीं था। पूज्य ब्रह्मचारीजीका अन्तर श्रीपाहुजाके उस निश्चय पर निछावर हो गया।

उनकी पत्नीको घरकी भी चिन्ता रहा करती थी। उनकी पत्नीने कहा—"मैं आपके व्रतको भंग नहीं करवाऊंगी। परन्तु आप अपने घर दिल्ली चलें। आपको अनशन

करना है तो वहीं करें। वहाँ मैं आपकी कुछ सेवा भी कर सकूंगी।" इस पर श्रीपाहुजाजी ने कहा—"दिल्ली तो पापका घर है। मैं वहाँ नहीं जाऊंगा। और भला यह स्थान कैसे छोड़ूं, जहाँ यमुनाजीका किनारा है, अखण्ड हरिनाम संकीर्तन हैं, सन्तोंका सतत दर्शन है और गोपालक साँवरे गोपालकी भूमि है।" श्रीपाहुजाजी अपने परिवारवालोंको अपने पास बैठने नहीं दिया करते थे। उनको भय था कि ये परिवारवाले उनके अनशन व्रतको तुड़वानेका प्रयत्न करेंगे और कहीं यह मन मोह-ग्रस्त न हो जाय। इन दिनों श्रीभीमसेनजी चोपड़ाने श्रीपाहुजाजीकी बड़ी सेवा की। श्रीपाहुजाने श्रीचोपड़ाजीसे कहा:—"आप मेरी सहायता कीजिये। मेरा परिवार मोहवश अनशन-व्रत भंग करनेके लिये कह रहा है। आप सबको समझा दीजिये कि मेरी सद्गतिसे उन सबका मस्तक ऊंचा उठ जायगा। व्रतसे गिर जाने पर हम किसीको मुँह दिखलानेके लायक भी नहीं रहेंगे।"

दर्शनके लिये आने वाले सज्जन पूछते—"क्या कोई तकलीफ है?" आश्रमवासी पूछते क्या कोई परेशानी है? प्रेस-रिपोर्टर, स्वजन, सहानुभूति-दिखलाने वाले सभी श्रीपाहुजाजीसे उनकी तकलीफ-परेशानी जाननेके लिये भाँति-भाँतिके प्रश्न करते किन्तु श्रीपाहुजाजी सबको एक यही उत्तर देते—"मुझे कोई परेशानी नहीं। मुझे कोई तकलीफ नहीं। मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा साँवरा मेरे साथ है। उसकी मुझपर अनन्त कृपा है। मैं बड़ा खुश हूँ। बस चारों ओर आनन्द है।"

लोग बार-बार यह चेष्टा करते कि श्रीपाहुजाजीका अनशन स्थगित हो जाय। श्रीपाहुजाजीकी अत्यन्त करुणापूर्ण स्थिति सबके मनको हिला देती थी, पर यह बात श्रीपाहुजाको कदापि अभीष्ट नहीं थी। जिस किसीको देखकर श्रीपाहुजाको यह लगता कि यह मेरे व्रतमें सहायक होगा तो उसका हाथ पकड़कर उसके कानमें उससे बार-बार कहते—"मेरी एक सहायता करो। सहायता यही कि मेरा व्रत लोग तुड़वाने न पावें। मेरा व्रत निभ जाय।" जब समाजके सम्माननीय लोग श्रीपाहुजाको व्रत विसर्जनकी राय देते तो उनको बड़ा दुःख होता। एकबार तो सर्वदलीय गोरक्षा महाभियान समितिकी ओरसे भी व्रत-विसर्जनके लिये अनुरोध किया गया था। इस प्रकारके अन्य अनुरोध आनेपर श्रीपाहुजाजी कहा करते थे—"हिन्दु समाजका बड़ा दुर्भाग्य है। समाजके नेता तथा संत-महात्मा आत्म-बलिदानकी बातें कहते हैं और जन-समाजका बलिदानके लिये आह्वान करते हैं किन्तु जब वस्तुतः बलिदानका अवसर आता है तो बलिदानसे विरत होने और करने लगते हैं। बलिदानके अवसर पर पैरोंके नीचेसे जमीन खिसकने लगती है, पैर लड़खड़ाने लगते हैं। बलिदानका अवसर आते ही समझौतेकी बात करने लगते हैं केवल प्राणोंका मोह लेकर। बिना बलिदानके जाति उठती नहीं, चेतना आती नहीं, जन-जागरण होता नहीं। मुझे गोके लिये बलिदान हो जाने दो। मेरे बलिदान से आप लोग घबराइये नहीं। मैं तो मरूँगा नहीं। धर्मयुद्धमें मरनेवाला कभी मरता नहीं। वह तो सदा अमर है, वह तो सदा अमर है।" श्रीपाहुजा इस बातका सतत उल्लेख करते कि विदेशोंसे आये अन्नको खाकर जीवित रहने वालोंको धिक्कार है। देशमें प्रतिदिन तीस

हजार गांय कटती रहें और गायका माँस-हाड़-चमड़ा निर्यात करके बदलेमें अन्न मँगाकर पेट भरते रहें, ऐसा जीना शर्मकी बात है।

श्रीपाहुजाजीकी स्थिति गम्भीर होती गयी। परिवार वालोंकी व्यथा बढ़ती ही जाती थी। उनकी व्यथासे द्रवित होकर पूज्य ब्रह्मचारीजीने कहा—"मैंने भी वैद्यकी दवा ली है, तुम भी ले लो।' तब श्रीपाहुजाजीने एक बार दवा ली। ली यह कहकर कि "यदि दवा न लूंगा तो इसका अर्थ यह होगा कि मैं अपनेको पूज्य ब्रह्मचारीजीसे अधिक सुदृढ़ और बड़ा मानता हूँ। मैं अंहकारी हूँ सन्ताज्ञाकी अवहेलना न हो, इसलिये स्वीकार करता हूँ। सच बात तो यह है कि मैं न तो महात्मा हूँ न सन्त हूँ। एक साधारण गृहस्थ हूँ। बहुत पतित हूँ! पुलिसने एक दफा जबरदस्ती ले जाकर मुझे ग्लूकोज़का इंजेक्शन लगा दिया। फिर भी मेरे प्राण नहीं गये। मुझे तो तभी मर जाना चाहिये था।'

श्रीपाहुजाजीकी स्थिति चिन्ताजनक तो होती ही जा रही थी। करुणाके वशीभूत होकर पूज्य ब्रह्मचारीजीने पुलिससे कहा कि आप इन्हें ले जाकर इनका उपचार कीजिये। पुलिस द्वारा ले जानेका मतलब था वृन्दावनसे बाहर ले जाकर मथुरा जेलमें रखना। ऐसा ज्ञात होने पर श्रीपाहुजाजीने भरी आँखोंसे कहा—"मेरी इस असहायावस्थामें मेरी इस दुर्बलताके कारण पुलिस स्वयं घसीटकर ले जाती तो और बात थी, उस समय भी मेरा साँवरा मेरी रक्षा करता। वह साँवरा पुलिस वालोंकी बुद्धिको ऐसा बदल देता कि वे मेरा व्रत भंग नहीं कर सकते थे। वे मुझे वृन्दावनसेबाहर मथुरा जेलमें नहीं ले जाते। परन्तु कम-से कम आप लोग तो मुझे वृन्दावनकी भूमिसे बाहर मत जाने दीजिये। यही मेरी करबद्ध प्रार्थना है। पुलिस ले जाने लगे तो आश्रमवासी पुलिसका रास्ता रोक लें। यदि ऐसा नहीं होगा तो मैं अपनी पत्नी और पुत्रसे कह दूंगा कि भले सिर कट जाय पर पुलिसको मेरा शरीर मत ले जाने देना। और आप सभी भले मेरा साथ न दो, मेरा साँवरा मेरे साथ है,वह मेरी टेक निभायेगा। वह मुझको वृन्दावनकी भूमिसे बाहर नहीं ले जाने देगा।" उनकी इस आस्तिकताने सबको आश्चर्यमें डुबो दिया। उनकी इस दृढ़ताने जन-जनको रुला दिया।

अवस्था सोचनीय हो गई। आश्रमवासी चाहते थे कि पुलिस श्रीपाहुजाजीको तंग न करे। अतः श्रीरामकृष्ण मिशन अस्पतालमें भर्ती करानेकी योजना बनी। वहांके डॉक्टर तैयार भी हो गये। किन्तु डॉक्टरोंने कहा—"हम जो भी देंगे, वह खाना-पीना पड़ेगा।" श्री पाहुजाजीने श्री चोपड़ाजीसे पूछा—"ये डाक्टर क्या कह रहे हैं? आप मेरे धर्मके साथी हैं। आप सारी बात स्पष्ट बतायें।" श्री चोपड़ाजीने कहा—"डाक्टर आपके सामने स्पष्ट कह रहे हैं कि वे जो कुछ भी देंगे, आपको खाना-पीना पड़ेगा।" श्रीपाहुजाने कहा—"नहीं, कभी नहीं, मैं अपना अनशन नहीं तोड़ूंगा। मैंने ६ नवम्बरको भरी सभामें गोवध-निषेध तक आमरण अनशन करनेके लिये हाथ उठाया है। मैं अनशन नहीं छोड़ूंगा।" आश्रमवासियोंका यह प्रयास भी विफल गया।

श्रीपाहुजाजीने अपने जीवनका बीमा करा रखा था। परन्तु अपनी गरीबीके कारण उसका रुपया भर नहीं सके थे। अतः जीवन बीमा पालिसी खत्म हो गयी थी। किन्तु

उसके रु० १६८-०० मिलने वाले थे। अपने पुत्र श्रीजयदयालको बुलाया और कहा कि (क) अढ़ाई आने वाली एक हजार गीता बँटवा देना जिसका दाम लगभग ९० रुपया होगा। (ख) रु० ५७-५० का प्रसाद जमुनाजीके किनारे बँटवा देना (ग) रु० १०-४७ गोशालाको दान कर देना। यह सब तो उस १६८ रुपयेमें से कर देना। फिर एक बछिया गोशालाको दान कर देना। और सवामन गुड़के लड्डू गायोंको खिला देना।

मरणासन्न श्रीपाहुजाजीने ३०-१२-६६ की रात साढ़े दस बजे अपनी पत्नी-पुत्रको बुलाकर कहा—"कल मेरा शरीर नहीं रहेगा। आप लोग यहाँ पर एक बाल्टी पानी और अंगीठी रख लेना। ब्रह्म मुहूर्तमें स्नान कराकर मेरे कपड़े बदल देना। इस कमरेमें रहने वाले किसी अनशनकारीको या आश्रमवालेको कोई तकलीफ नहीं हो। स्नान कराकर लिपी-पुती जमीनपर मुझे लिटा देना और मेरे समीपमें गाय हो। वह काली रात भी बीती। प्रातः भोरमें श्रीपाहुजाजीने अपनी पत्नीसे पूछा—"क्या पानी तैयार है? मुझे स्नान कराओ। मेरे जानेका समय आ गया है।" उनको विधिवत् शुद्धता पूर्वक स्नान कराया गया। अन्त समीप जानकर उन्होंने पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीके अन्तिम दर्शन किये। पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीने उनके कानमें तारक मन्त्र दिया। तुलसीकी माला पहनायी। श्रीजीका चरणोदक दिया। व्रजकी रजका तिलक लगाया गया। लोगोंने फिर श्रीपाहुजाजीको लाकर उस लिपी-पुती जगहपर लिटा दिया। वहीं पर गाय बंधी थी। संयोगकी बात, गायने अपना पिछला भाग श्रीपाहुजाजीकी ओर किया और अपने पवित्र गोमूत्रसे उनको नहला दिया। सब उपस्थित जन "धन्य", "धन्य", "जय", "जय" पुकार उठे। अन्तिम समयमें भी मुख पर वही प्रसन्नता, वही प्रशान्तता, वही प्रफुल्लता। धीरे-धीरे उनकी वाणी शान्त होने लगी और सदाके लिये शान्त हो गई। मृत्युके बाद तो उनका मुखमण्डल दीप्तिसे और भी चमक उठा। उनकी अन्तिम अभिलाषा पूर्णतः पूर्ण हुई, उनकी मृत्यु वृन्दावनकी भूमिमें हुई, सन्तके आश्रममें हुई, गोमाताके आश्रममें हुई और आराध्य गोपालकी सन्निधिमें हुई। सबने उस महावीरके, महाबलिदानीके पावन शवको प्रणाम किया। पूज्य ब्रह्मचारीजीने साष्टाँग प्रणाम किया। श्रीविहारीजीकी विशेष प्रसाद माला चढ़ाई गई। उनकी शोभा यात्रामें हजारों कण्ठ एक स्वरसे श्रीपाहुजाकी गोभक्तिकी उच्च ध्वनिसे जयजयकार कर रहे थे।

श्रीपाहुजा चले गये किन्तु उनकी आस्तिकता, गोभक्ति, निश्चय, गीतानिष्ठा, उत्साह, टेक सदा ही प्रेरणाकी वस्तु रहेगी। अपनी मृत्युशैयापर उन्होंने छः पंक्तियोंकी एक कविता लिखी थी। अपनी पत्नीसे मिलनेवालोंसे उन्होंने कहा कि इसको अच्छी तरहसे रट लो। खूब याद कर लो। कविताके शब्द अत्यन्त साधारण हैं किन्तु उन शब्दोंमें एक महा-बलिदानीकी व्यथाभरी आवाज़ है:—

दया कर दया कर दया वंशी वाले। गउओंको आकर बचा वंशी वाले।।
गीताका वादा निभा वंशी वाले। आसुरी शासन मिटा वंशी वाले।।
संतोंकी शान बढ़ा वंशी वाले। भारतकी आन बचा वंशी वाले।।

रास लीलाका समारम्भ

श्रीवनविहारी प्रसाद 'भूप'

[विद्वान् लेखकके द्वारा अनुवादित श्रीमद्भागवतके दशम् स्कन्धकी रासपञ्चाध्यायीका प्रथम अध्याय नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें उन्होंने मूल छन्दोंका ही प्रयोग किया है। अगले अध्यायोंका अनुवाद भी श्रीकृष्ण-सन्देशके आगामी अंकोंमें क्रमशः प्रकाशित किया जावेगा।

—स०]

श्रीशुकदेवजीने कहा

लखे वो शारदी राका सजे उत्फुल्ल मल्लिका।
कृपा धारे स्व-दा भूमा भजे माया निजात्मिका ॥१॥

माङ्गल्य रोली उडुराजने मली।
त्यों मंजु प्राची मुखमें कराब्जसे ॥
दृग्धारियोंका हर ताप आप यों।
ज्यों आ प्रिया पास पिया प्रवाससे ॥२॥

देखे कुमुद् वन्त छटा अनन्त वो।
श्री आननाभा सम लालिमा नयी ॥
शोभी वन-श्री मृदु रश्मि राशिसे।
वंशी बजायी हरिने मनोहरी ॥३॥

त्यों वे सुने वो ध्वनि प्रीति वर्द्धिनी।
हारीं विहारी हरि हाथ चित्त जो ॥
धायीं लखे अन्य न धन्य गोपियाँ।
साँचे पिया और अहो विभोर हो ॥४॥

करोंसे दोहनी छूटी कड़ी टूटी विमोह की।
भला को धीरे-धीरे जो उतारे क्षीर खौलता ॥५॥

जिमाना छोड़ वैसे ही रिझाना बाल अंकके।
पतिश्चर्या चलीं त्यागे उठाया ग्रास हाथका ॥६॥

बिसरे देहकी सज्जा संकरे अञ्जनाद्ध ही।
धरे रत्नादि भी ज्यों त्यों चलीं प्राणेश पास वे ॥७॥

जगतके रोकते नाते दृढ़ाते बन्ध किन्तु वे।
न लौटीं मोहिता साधो हृतात्मायें मुकुन्दसे ॥८॥

न पायीं कक्ष से सद्य अहो त्यों मुक्ति द्वार जो।
हुई वे आप ही राजन् समाधिस्था वहीं तभी ॥९॥

जला दुर्दैव छूते ही महाज्वाला वियोग की।
मिले आ ध्यानमें कान्हा मिला सर्वस्व लाभ वो ॥१०॥

सदा भर्तार यों सांचे भजे वे जार प्रीतिसे।
छुड़ा ली बंध वो भारी न छूटे कोटि जन्म जो ॥११॥

राजा ने कहा

उन्हें आराघतीं ब्रह्मन् न वे ज्यों ब्रह्म कान्त ज्यों।
गुणों से ही बँधी एवं तरीं कैसे भवाब्धि वे ॥१२॥

श्रीशुकदेवजीने कहा

बताया पूर्वमें पाये जरासन्धादि मुक्ति ज्यों।
उन्हें सद्वेष भी ध्याते न क्यों ये प्रीतिसे भला ॥१३॥

परं कल्याणको लेते अजन्मा जन्म विश्वमें।
अव्यय अप्रमेयात्मा निर्गुण ही गुणस्थ हो ॥१४॥

कहीं भी वह्नि छू जाते बने तद्रूप काष्ठ ज्यों।
किसी भी रूप ध्याते त्यों उन्हें पाते तदात्म हो ॥१५॥

अँधेरा कौन सा ऐसा टिके जो पास सूर्य्यके।
निजात्मा कृष्णको पाये भला हो बंध प्रश्न क्या ॥१६॥

विलोके पास आयीं यों अनन्या गोपियाँ वहाँ।
कहे सु-श्रेष्ठ वक्ता वे रचा वाणी विमोहते ॥१७॥

श्रीभगवान्ने कहा

स्वागत है महाभागे करूं क्या प्रेय आपका।
बखानें हेतु आने का न कोई क्लेश तो वहाँ ॥१८॥

लसी कैसी निशा घोरा सु-सेव्या घोर जीवसे ।
अतः लौटें नहीं अच्छा यहाँ वासा सुतीय का ॥१९॥

पिता माता तथा प्यारे तुम्हारे पुत्र आदि जो ।
बिना देखे असे चिंता न दें सन्ताप यों उन्हें ॥२०॥

वनश्री देख ली फूली लसी राकेश रश्मिसे ।
कलिंदी नीरसे भाते, मरुतसे पत्र क्रीड़ते ॥२१॥

करें देरी न त्यों लौटें, करें सेवा स्व-कान्त की ।
सु-तोषें बाल जो रोते दुहें गो बाट जोहती ॥२३॥

न ये आश्चर्य जो आयीं खिचीं मत्प्रीतिसे यहाँ ।
कि मेरे आत्मसे सारा जगत् ये नेह धारता ॥२३॥

अ-माया भर्तुकी सेवा भलाई तत् कुटुम्ब की ।
सदा पुत्रादि की रक्षा यही है धर्म नारिका ॥२४॥

अभागा दीन वा क्रोधी कुरोगी मूढ़ बुद्धि भी ।
न त्यागें भर्त्तु निष्पापी महत् लोकेच्छु नारियां ॥२५॥

परे स्वर्ग कीर्तिसे ओछा भरा जो कलेश भीतिसे ।
कराता नारिकी निन्दा जगत्में औपपत्य वो ॥२६॥

सुने गाये लखे ध्याये सदा सम्प्रीति भाव जो ।
शुभे जागे नहीं वैसी लहें सु-प्रीति पास से ॥२७॥

श्रीशुकदेवजीने कहा

सुना गोविन्दका जैसे उन्होंने विप्रियोक्त ये ।
हुईं चिन्तातुर त्यों वे लखे यों ध्येय दूरता ॥२८॥

नीचे किये मुख उदास उसांस लेतीं
सूखे सु-लाल अधरा शुचि वाम भोली ।
लेखें मही चरणसे न हिलें न बोलें
मुक्ताश्रुअञ्जन घुली तन लग्न रोली ॥२९॥

वाणी सुने सजनकी मनमें हिरानी
त्यागे समस्त जग काम मुकुन्द-कामा ।
रोते सु-लाल चख पोंछ गुलाल जैसे
बोलीं सम्हाल दुःख गद्गद् कण्ठ वामा ॥३०॥

गोपियोंने कहा

ये आप योग्य नहिं निष्ठुर उक्ति स्वामी
जारे सभी विषय पाद पराग ध्यातीं ।
त्यागें हमें न हठसे वर दे वरें त्यों
ज्यों पूरुषादि भजते जन मुक्ति कामी ॥३१॥

जैसा कहे उचित कान्त कुटुम्ब सेवा
है धर्म-मर्म गुरु कर्म सु-नारियोंका ।
है सर्व-आत्म प्रिय आप पदाब्ज पूजा
मुख्यार्थ वेद गति ! त्यों तन-धारियोंका ॥३२॥

सेवें सदैव-प्रिय स्वात्मा सुजान जाने
जारें स-यत्न दुखदा जग प्रीति सारी ।
तोषें अनन्य परमेश्वर त्यों न तोड़ें
हे पद्म-नेत्र चिर आस लता हमारी ॥३३॥

था एक चित्त सुखसे प्रभुने हरा वो
थे लिप्त वृत्ति करते कर कर्म सारे ।
जाते न पाँव पग एक पदाब्ज त्यागे
कैसे फिरें व्रज, करें फिर क्या मुरारे ॥३४॥

तापापहन्तृ अधरामृत दे उबारें
जारें विमुग्धकर भाव प्रभो ! तुम्हारे ।
जो ना कहें तन सखे विरहाग्नि जारे
पायें हरे ! हिय धरे पदपद्म प्यारे ॥३५॥

पातीं महासुख रमा पद-पद्म पा जो
होते कृतार्थ रज शीश विधीश धारे ।
पाये वहीं पद सु-धन्य अनन्य गोपी
पाती न अन्य लख आप रमीं मुरारे ॥३६॥

वे श्री सुरादि जिनकी मृदु दृष्टि चाहें
बृन्दा-युता सुभग अंग निवासिनी हो।
चाहें पदाब्ज रज सेवित भृत्यसे जो
चाहें वही हम कृपा अनुरागिनी हो ॥३७॥

तोषें दलें दुख तजे विषयाब्धि आयीं
पूजा सजा चरण पास तवास धारे।
दें दास्य हास्य दृग सैन अचैन दाहे
तप्तात्म जान निज मान हमें मुरारे ॥३८॥

देखे मुखेन्दु अलकावृत कर्ण शोभा
शोभे कपोल दृग सैन सु-हास साने।
ध्याये सुधाधर बनीं चिर सेविकायें
श्री-धाम वक्ष भुज निर्भय श्याम जाने ॥३९॥

को नाथ मंजु मुरली लय लीन हो जो
मोहे न त्याग कुल कानि त्रिलोक जोहे।
संसार सुन्दर स्व-रूप निहार एवं
जो धार पक्षि पशु वृक्ष सभी विमोहे ॥४०॥

भीतार्ति हन्तृ व्रजके बन आप भूमन्
कल्याण खान सुर-त्राण स्वयं पधारे।
हे दीन-नाथ निज हाथ हमें उबारें
प्यारे कराब्ज तपते हिय शीश धारे ॥४१॥

श्रीशुकदेवजीने कहा

सभीकी व्यग्र वाणी वो सुने योगेश्वरेश यों।
कृपासे मुस्कुरा राजन् रमे वे आत्मराम त्यों ॥४२॥

शोभी हँसी मंजुल विश्व पावनी
शोभीं प्रफुल्लानन मग्न हो सभी।
धारे महोदार कृपाऽच्युतेश यों
तारे घिरे चन्द्र यथा लसे तभी ॥४३॥

सभीके साथ ही गाते दृढ़ाते भक्ति धन्यता।
लुभाते मंजु माली वे सजाते भूमि डोलते ॥४४॥

पधारे तीर कृष्णाके कृपा धारे लिये सभी ।
लसी सद्वासिता रेती सुधा सींची हिमो-ज्वला ॥४५॥

सर्वात्म काम-जित धाम महा कृपाके ।
ले हाथ साथ नव रास सुधा लुटाते ॥
पेखे स-मोद हँस श्याम ललाम वामा ।
शोभे अपार सुख दे निजमें रमाते ॥४६॥

लहे सम्मान वो भारी उदारात्मा मुकुन्दसे ।
हुई हो गर्विता किंचित सु-वामा आत्म-मानिनी ॥४७॥

अहं ये भक्त का देखे हुए सद्यः अदृश्य त्यों ।
मिटाने दोष वो साधो कृपा ठाने व्रजेश वे ॥४८॥

श्रीमद्भागवती कृष्ण-सुधा-सागर भागवद् रास क्रीड़ा-वर्णन नामक उन्तीसवां अध्याय सम्पूर्ण ॥२९॥

(क्रमशः)

श्रीकृष्ण जन्मस्थान : समाचारोंके सन्दर्भमें

श्रीवंशीधर उपाध्याय

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके भव्य रंगमंचसे विगत जन्माष्टमी तथा रामनवमीके अवसरों पर आयोजित कृष्ण-लीलाओं एवं राम-लीलाओं आदिके समाचार श्रीकृष्ण संदेश के पिछले अंकमें प्रकाशित हो चुके हैं। उनके पश्चात् जो आयोजन हुए, वे इसप्रकार हैं:—

आजसे लगभग डेढ़ वर्ष पहले, जन्माष्टमीसे पूर्वकी जन्माष्टमीके अवसरपर, दिल्लीके नाट्य बैलैट सेण्टरने जन्मस्थानके रंगमंचसे, जो कृष्ण-लीला प्रदर्शित की थी, उसे मथुरा-वृन्दावनके निवासी कभी भूल नहीं सकते। किन्तु उस प्रदर्शनसे सैंटरकी संचालिका श्रीमती कमलालाल, निर्देशक श्रीभगवानदास वर्मा तथा अन्य सहयोगी कलाकारोंको भी कुछ ऐसी दिव्य अनुभूति हुई कि, उन्होंने इस पुण्यभूमि पर बार-बार आने और अपनी कला निवेदित करने का संकल्प कर लिया।

नाट्य बैलैट सेण्टर द्वारा कृष्ण-लीलाका पुनः प्रदर्शन

सौभाग्यसे उनका यह सत्संकल्प पूरा हुआ गत दीपावलीके मंगलमय प्रकाश-पर्व पर। श्रीमती लाल, श्रीवर्मा तथा अन्य समस्त कलाकार दीपावलीके दिन मथुरा पधारें तथा पहलेकी भाँति ही बिरला धर्मशालामें ठहरे। इस बार भी श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके संस्थापक धर्मप्राण सेठ जुगलकिशोरजी बिरलाकी ओरसे कलाकारोंके भोजनादिकी सुव्यवस्था हुई और कलाकारोंने दीपावलीके तीसरे दिन भैयादूज से लेकर पंचमी अर्थात् चार दिनोंतक जन्मस्थानके उसी खुले रंगमंचसे कृष्ण लीलाओंका प्रभावशाली प्रदर्शन किया। यद्यपि लीलाएं वही थीं—जो पहले प्रदर्शित हो चुकी थीं, तथापि मथुरा-वृन्दावनके निवासियोंने सहस्त्रों-सहस्त्रोंकी संख्यामें उपस्थित होकर उन्हें ऐसी उत्कण्ठा और तन्मयतासे देखा—मानों वे उनके लिये नित्य नवीन हों। इस बार विशेषता यह रही कि, इन अद्भुत प्रदर्शनोंको आध्यात्मिक जगतकी दिव्य विभूति श्रीआनन्दमयी माँ और स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती जैसे उद्भट सन्तोंने भी देखा और सराहा। लीला समाप्त होनेपर नाट्य बैलैट सेण्टरके समस्त कलाकारोंने श्रीमन्माध्व सम्प्रदायाचार्य श्रीपुरुषोत्तमलालजी गोस्वामीके नेतृत्वमें 'जय जय गोविन्द गोपाल गिरिधारी' इस नाम-कीर्तनके साथ गोवर्द्धनकी परिक्रमा की और उनका भक्तिभाव देखकर दर्शक विभोर हो गये।

डा० कर्णसिंह का शुभागमन

श्रीकृष्ण-लीला प्रदर्शनके दिनोंमें ही १६ नवम्बरको काश्मीरके भूतपूर्व महाराजा और वर्तमान राज्यपाल, डाक्टर कर्णसिंह अपनी धर्मपत्नी महारानी, यशोराज्यलक्ष्मीके साथ मथुरा पधारे और श्रद्धा-भक्ति-समन्वित होकर श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके दर्शन किये। मन्दिरके भीतर प्रतिष्ठित बाल कृष्ण-विग्रहके समक्ष ध्यान एवं स्तवन करनेके पश्चात् बाहर निकले तो डाक्टर कर्णसिंहने विशाल भागवत-भवनके निर्माण-कार्यको भी देखा और विदा होते समय दर्शक-पुस्तिकामें महारानीके हस्ताक्षरों सहित यह अंकित किया कि, आज इस पवित्र भूमिके दर्शन करके हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। संघकी ओरसे संयुक्त मन्त्री श्रीभगवानदास भार्गव तथा उपमन्त्री श्रीदेवधर शर्मा ने महाराजा और महारानीका भव्य स्वागत किया।

गीताजयन्ती-महोत्सव

मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी शुक्रवार तदनुसार २३ दिसम्बरको गीताजयन्ती-महोत्सव मनाया गया। उसदिन गीतावक्ता श्रीकृष्णके पावन प्राकट्य-स्थानपर प्रातःकाल ७ बजेसे १ बजे तक पण्डित श्रीभगवानदत्तजी चतुर्वेदीके नेतृत्वमें मथुराके वरिष्ठ विद्वानोंने गीताका अखण्ड पाठ किया, जिसमें बहुतसे गीताप्रेमी नागरिक भी सम्मिलित हुए। उसके पश्चात् ादनवीर सेठ जुगलकिशोरजी बिरला द्वारा निर्मित गीतामन्दिरमें विशाल सम्मेलन हुआ, जिसमें अनन्तश्री-विभूषित स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती तथा सुप्रसिद्ध हरिभक्ति-परायण श्रीडोंगरेजी महाराज आदिके गीता विषयक उद्‌बोधक प्रवचन हुए।

अच्युतं केशवं

अच्युतं केशवं रामनारायणं
कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं
जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे॥
अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं
माधवं मोहनं राधिका राधितम्।
वल्लवीवल्लभं योगीजनदुर्लभं
देवकीनन्दनं कृष्णचन्द्रं भजे॥
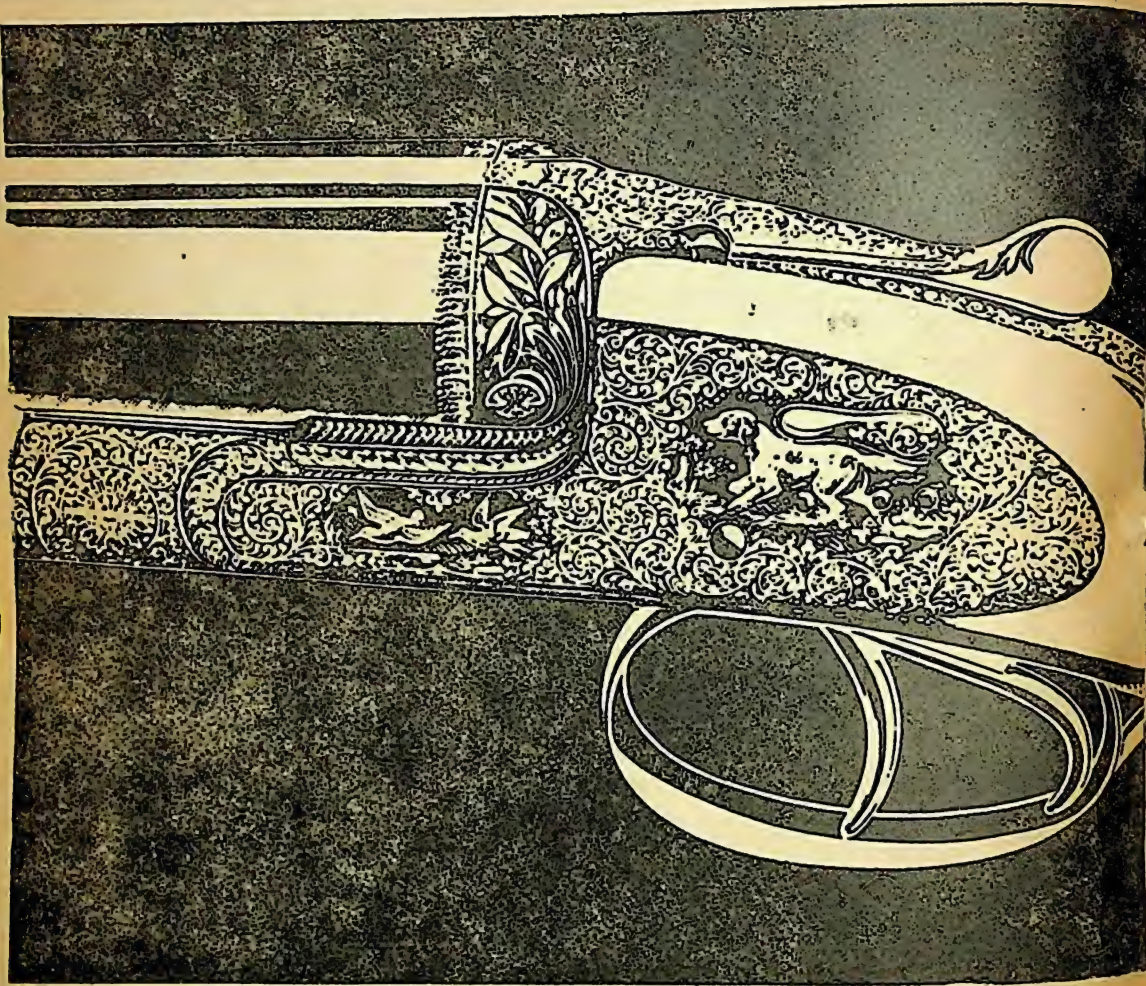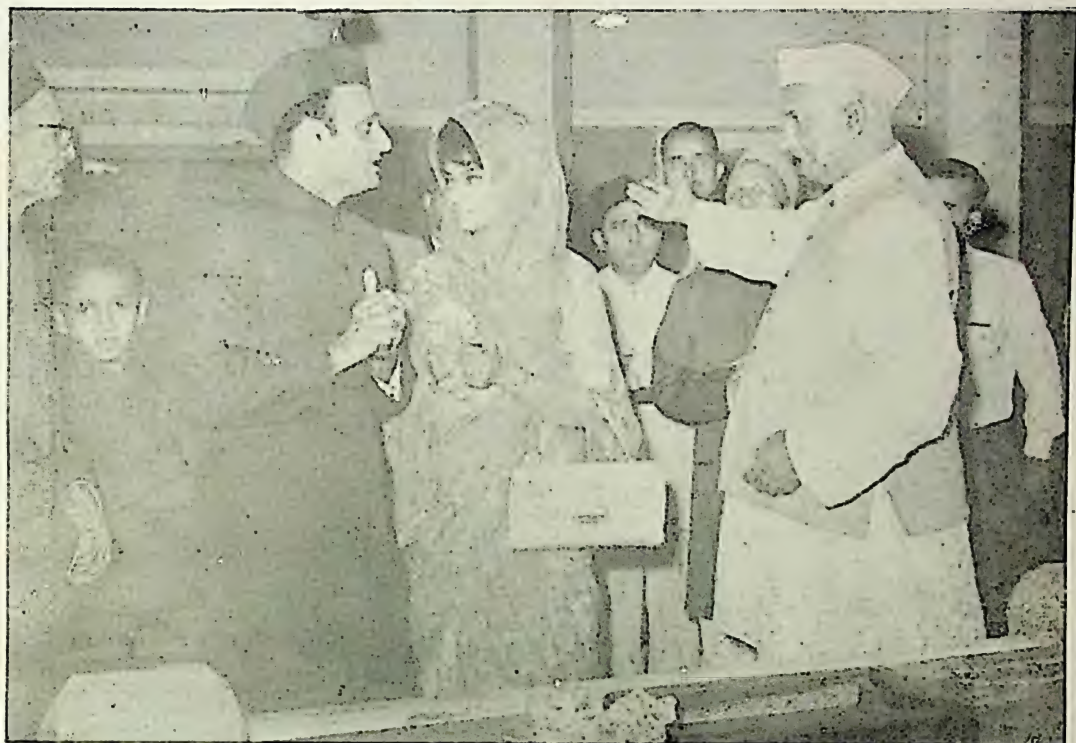
संघके उपमन्त्री श्रीदेवधर शर्मा डा० कर्णसिंहके समक्ष श्रीकृष्ण जन्मस्थानके प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डाल रहे हैं।
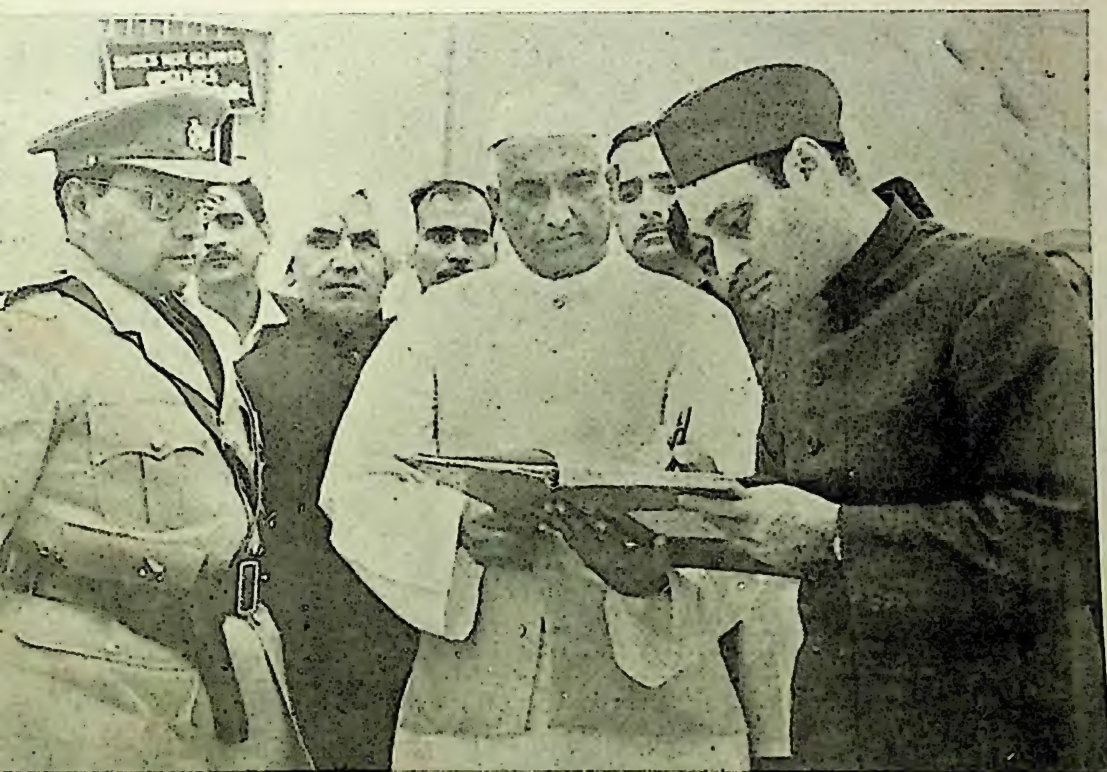
डा० कर्णसिंह जन्मस्थानकी दर्शक-पंजिकामें अपने विचार अंकित करते हुए।

* कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् *

'श्रीकृष्ण-सन्देश'

के

ग्राहक

बनिए और बनाइए

क्योंकि —

★ यह श्रीकृष्ण-प्रेमी जनताका अपना पत्र है,
★ श्रीकृष्णकी दिव्य लीला-गुण-कर्म एवं वाणीसे अभिप्रेरित है,
★ निष्पक्ष एवं प्रमाणिक पाठ्य-सामग्रीसे भरपूर है,
★ नैतिक बल, पवित्राचरण एवं स्वधर्म-निष्ठाको बढ़ानेवाला है।

यदि आप —

★ लेखक हैं तो प्रेरणादायक लेख भेजकर
★ कवि हैं, तो निष्ठा-वर्द्धक कविताएँ लिखकर
★ अधिकारी या सेवक हैं, तो अपना सहयोग देकर
★ उद्योगपति या व्यापारी हैं, तो अपने संस्थानोंके विज्ञापन देकर

अपना सहयोग प्रदान करें।

श्रीकृष्ण-सन्देशकी सफलता आपके सहयोगपर निर्भर है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुराके लिए श्रीदेवधर शर्मा द्वारा प्रकाशित एवं राधाप्रेस, दिल्ली-३१ में मुद्रित।

श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान की पत्रिका

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

कृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

डालमिया उद्योग-समूहके विशेष सहयोगसे जन्मस्थान पर निर्मित हो रहे भागवत-भवनके प्रतिरूप (माडल) का पार्श्व-चित्र

श्रीकृष्ण-सन्देश
(द्वैमासिक)

आत्मानं सततं विद्धि

वर्ष—२] माघ-फाल्गुन २०२३ वि० [अङ्क—४

सम्पादक
हितशरण शर्मा, एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रबन्ध-सम्पादक
देवधर शर्मा

प्रकाशक
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
दूरभाष : ३३८

मूल्य
एक रुपया
वार्षिक
सात रुपया

आवरण-चित्र
गीतोपदेश : काश्मीर कलम
अठारहवीं शताब्दी

अनुकृतिकार
के० सी० आर्यन्

मुद्रक :
राधा प्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१

विषय-संकेत

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।

वर्ष २ माघ-फाल्गुन २०२३ अङ्क ४

श्रीकृष्णः शरणं मम

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः ।
पापीपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ।।

मैं समस्त साधनोंसे हीन, सब ओरसे पराधीन तथा पापोंसे पुष्ट हूँ। मुझ दीनके लिए श्रीकृष्ण ही शरण हैं।

संसारसुखसम्प्राप्तिसम्मुखस्य विशेषतः ।
बहिर्मुखस्य सततं श्रीकृष्णः शरणं मम ।।

मैं सांसारिक सुखकी प्राप्तिके सम्मुख रहता हूँ—उधर ही मेरा झुकाव है और उसीके लिए मैं सदा यत्नशील रहता हूँ। अतएव अन्तर्मुख न होकर विशेषतः बहिर्मुख हो गया हूँ। ऐसी दुरवस्थामें पड़े हुए मुझ दीनके लिए सदा श्रीकृष्ण ही शरण हैं।

सदा विषयकामस्य देहारामस्य सर्वथा ।
दुष्ट स्वभाववामस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ।।

जिसके मनमें सदा विषयोंकी कामना बनी रहती है, जो सर्वथा शरीरको ही सुख पहुँचानेमें लगा हुआ है, तथा जो अपने दुष्ट स्वभावके कारण सबसे टेढ़ा ही रहता है, ऐसे मुझ दीनके लिए श्रीकृष्ण ही शरण हैं।

मथुराकी महत्ता

● जिसकी पावन धरतीपर भगवान् श्रीकृष्णने जन्मग्रहण किया
● जहाँ विशाल भागवत-भवनका निर्माण हो रहा है ।

श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सम्पादक—'कल्याण'

मथुरापुरीकी महिमा अनिर्वचनीय है । जहाँके कारागारसे भी अनिर्वचनीय, अजन्मा, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन-विग्रह भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव हो, उस अचिन्त्य माहात्म्यशालिनी पुरीकी महत्ताका वर्णन कौन कर सकता है ? यह सप्त मोक्षप्रदायिनी पुरियोंमें से एक है, अतएव अनादि और शाश्वत है । यहाँ श्रीहरिका नित्य संनिधान है । यही वह भूमि है, जहाँ तपस्या करके भक्तराज ध्रुवने ध्रुवपद पाया था । यही वह पुण्य धरातल है जहाँ लवणासुरका वध करके श्रीरामचन्द्रजीके कनिष्ठ भ्राता श्रीशत्रुघ्नने राजधानी स्थापित की थी । इसके भी पूर्व महाराज मान्धाता यहाँ राज्य करते थे, जिन्हें मधु दानवने समरांगण में वीरगतिकी प्राप्ति करायी थी । अतः इस पावन भूमिकी इतिहास-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । श्रीकृष्णप्रेयसी कालिन्दीके पुण्य सलिलसे जिसका पद-प्रान्त निरन्तर प्रक्षालित हो रहा है, उसकी पावनताके विषयमें क्या कहा जा सकता है? इसीलिये मथुराको तीन लोकसे न्यारी कहा जाता है । एक भावुक विद्वानने तो यहाँ तक कहा है कि 'मथुरा'—तीन अक्षर तीनों वेदोंसे भी बढ़कर हैं; क्योंकि वेदत्रयी तो परब्रह्मके पीछे दौड़ती है और परब्रह्म मथुरापुरीके पीछे भागता है ।

> मथुरेति त्रिवर्णीयं त्रयीतोऽपि गरीयसी ।
> सा धावति परं ब्रह्म ब्रह्म तामनुधावति ।।

मथुरापुरीकी महिमाका प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले एक महात्माका उद्गार सुनिये—

> अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी ।
> विना कृष्णप्रसादेन क्षणमेकं न तिष्ठति ।।

अहो ! मथुरापुरी धन्य है, वैंकुठसे भी अधिक गौरवशालिनी है । यहाँ श्रीकृष्णकी कृपाके बिना कोई क्षणभर नहीं ठहर सकता ।

ऋग्वेद-विष्णुसूक्तमें व्रजधाम, मथुरामण्डल एवं गोलोकधामके विषयमें सुन्दर प्रकाश डालनेवाली एक ऋचा उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है—

> ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
> यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः ।
> अत्रा ह तदुरुगायस्य वृष्णः
> परमं पदमवभाति भूरि ।।

इस मन्त्रमें इन्द्रदेव भगवान् श्रीकृष्ण-बलभद्रकी स्तुति करते हुये कहते हैं—'प्रभो ! हम देवता लोग आप दोनों बन्धुओंके मनोरम वासस्थान इस मथुरामण्डलमें आनेकी बड़ी इच्छा रखते हैं, परन्तु आपकी कृपाके बिना यहाँ आना और रहना सम्भव नहीं हो पाता। अहा ! यहाँके विभिन्न स्थानोंमें परम मनोहर सींगवाली असंख्य गौएँ चरती रहती हैं। बहुसंख्यक विद्वानों द्वारा जिनकी कीर्ति गायी जाती है, उन वृष्णिवंशावतंस (अथवा सम्पूर्ण कामनाओंकी बर्षा करनेवाले) पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णका वह सुप्रसिद्ध गोलोक नामक परमधाम निश्चय ही यहाँ अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है।

इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, श्रीहरिवंशपुराण, पद्मपुराण ब्रह्मवैवर्तपुराण, गर्गसंहिता आदि ग्रन्थोंमें मथुराकी अनुपम महिमाका विभिन्न प्रकारसे विशद वर्णन है।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐहलौकिक लीलासंवरण करके परमधाम पधारनेके पश्चात् महाराज युधिष्ठिरने हस्तिनापुरके राज्यपर परीक्षितको और मथुरामण्डलके राज्य पर श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभको प्रतिष्ठित करके स्वयं भाइयों सहित महाप्रस्थानका आश्रय लिया। वज्रनाभने राजा परीक्षितके सहयोगसे तथा महर्षि शाण्डिल्यके निर्देशसे उजड़े हुये मथुरामण्डलको पुनः बसाया और अनेकानेक मन्दिर बनवाये। कंसका वह कारागार, जिसे आज कटरा-केशवदेव कहते हैं, श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव-स्थान होनेसे सबके आकर्षणका केन्द्र बनगया। कारागार केशवदेवके मन्दिरके रूपमें परिणत हुआ और इसीके आस-पास पुरीका प्रमुख भाग सुशोभित हुआ। कालक्रमसे यहाँ अनेकानेक भव्य विशाल गगनचुम्बी मन्दिरोंका निर्माण हुआ। इनमेंसे कुछ तो कालके प्रभावसे नष्ट हो गये और कुछ विधर्मी आक्रामकों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये। ईस्वी सन्से पूर्ववर्ती महाक्षत्रप सोदासके समयका जो शिला-लेख उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार किसी वसु नामक व्यक्तिने श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर एक मन्दिर, तोरणद्वार और वेदिकाका निर्माण कराया था। उसके पश्चात् दूसरा विशाल मन्दिर ईस्वी सन् ४००के लगभग सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-कालमें निर्मित हुआ। उस समय मथुरा नगरी संस्कृति एवं कलाका बहुत बड़ा केन्द्र थी और यहाँ हिन्दू धर्मके साथ-साथ बौद्ध-धर्मका भी उत्कर्ष था। इस स्थानके पास ही बौद्धों और जैनियोंके भी विहार एवं मन्दिर बने हुये थे। उनके प्राप्त अवशेषोंसे यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णका यह जन्मस्थान बौद्धों तथा जैनियोंके लिये भी आदर एवं सम्मानका केन्द्र था। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा निर्मित उक्त मन्दिर बड़ा ही भव्य था। सन् १०१७ ईस्वीमें आक्रमणकारी गजनीके महमूदने उस मन्दिरको तोड़ा और लूटा। महमूदके मीरमुन्शी उल्तअलवीने अपनी तारीखे यामिनी नामक पुस्तकमें उक्त मन्दिरके विषयमें जो कुछ लिखा है, उससे मथुराकी तत्कालीन अपार समृद्धिका पता लगता है। सुल्तान महमूदने मन्दिरके बावत खुद लिखा है कि अगर कोई आदमी इस तरहकी इमारत बनवाना चाहे तो उसे दस करोड़ दीनार खर्च करने पड़ेंगे और उसको बनवानेमें दोसौ सालसे कम नहीं लगेंगे, चाहे उसके लिये ऊँचे-से-ऊँचे तर्बेजुकार कारीगरोंको ही क्यों न लगा दिया जाय। बड़े ही दुर्भाग्य और दुःखकी बात है कि इस प्रकार मन्दिरकी महानताका वर्णन करनेवाले गजनीके महमूदने घोर अज्ञानमयी

अधर्ममयी धर्मान्धताके वशमें होकर मन्दिरको नष्ट कर डाला, और कलाकी दृष्टिसे भी उसे सुरक्षित नहीं रहने दिया।

इसके बाद संवत १२०७ (सन् ११५० ई०) में महाराज विजयपालके शासनकालमें जज्ज नामक किसी व्यक्तिने श्रीकृष्ण जन्मस्थान पर एक नया मन्दिर बनवाया। इसका पता कटरा-केशवदेवसे ही प्राप्त संस्कृत शिलालेखसे लगता है। सन् १५१५ ई०के लगभग श्रीचैतन्य महाप्रभु इस मन्दिरमें पधारे थे। यह विशाल मन्दिर भी १६ वीं शताब्दीके आरम्भमें सिकन्दर लोदीके शासन-कालमें धराशायी कर दिया गया।

तदनन्तर लगभग १२५वर्ष बाद जहाँगीरके शासन-कालमें ओरछा नरेश राजा वीरसिंह देव बुंदेलाने इसी जन्मस्थान पर तैंतीस लाख रुपयोंकी लागतसे लगभग ढाई सौ फुट ऊंचा एक दूसरा भव्य मन्दिर बनवाया और उसके चारों ओर एक ऊंची प्रचीर बनवायी जिसका कुछ भाग अभी तक अवशिष्ट है। इस प्राचीरके दक्षिण-पूर्व कोनेमें एक विशाल कूप और उससे ऊपर एक ऊंचे बुर्जका भी निर्माण हुआ। उस कुएँका पानी लगभग साठ फुट ऊँचा उठाकर मन्दिरके प्रांगणमें फौव्वारे चलाये जाते थे। वह कुँआ और बुर्ज आज भी मौजूद हैं। इनका जीर्णोद्वार अत्यन्त ही आवश्यक है। १६५० ई०के लगभग मथुराकी यात्रा पर आये हुए टेवर्नियर नामक फ्रांसीसी यात्रीके वर्णनके अनुसार जगन्नाथ और बनारसके बाद मथुराका यह मन्दिर ही सबसे प्रसिद्ध था, भारतके अत्यन्त उत्कृष्ट मन्दिरोंमेंसे एक था। इसकी बड़ी कुर्सी अठपहलू बनी हुई थी। मन्दिरमें लाल रंगके पत्थर लगे थे। मन्दिरके चारों ओर पत्थरोंपर नक्काशी थी, जिनमें भाँति-भाँतिके जानवरोंकी आकृतियाँ बनी हुई थीं। विशाल चबूतरे पर आधेमें मन्दिर और आधेमें जगमोहन बना था। बीचमें एक बड़ा मण्डप था। मन्दिरमें अनेक खिड़कियाँ और गवाक्ष थे। यह इतना ऊंचा और विशाल था कि ५-६ कोसकी दूरीसे दिखायी देता था। इटालियन यात्री मनूचीके लिखे अनुसार केशवदेव-मन्दिर का स्वर्णाच्छादित शिखर इतना ऊंचा था कि छत्तीस मील दूर आगरासे भी दिखायी देता था। भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानपर बने हुए इस अन्तिम स्मारकको भी औरंगजेबने १६६९ ई० में नष्ट कर दिया और मन्दिरकी बड़ी कुर्सीके एक भागमें-मन्दिरके ही मसालेसे एक मस्जिद बनवादी।

सन् १८०३ ई० में मथुराका प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत आ गया। १८१५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनीने कटरा-केशवदेवको नीलाम कर दिया, जिसे बनारसके तत्कालीन राजा पटनीमलने खरीदा। राजा पटनीमल एक उदार और धार्मिक व्यक्ति थे, उनकी प्रबल इच्छा थी कि जन्मस्थानपर भगवान् केशवदेवके मन्दिरका पुनर्निमाण करा दिया जाय। परन्तु उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। उनके बाद उनके उत्तराधिकारी वंशजों का अधिकार एवं स्वामित्व कटरा-केशवदेव पर बना रहा। मथुराके मुसलमानोंने दो बार सिविल कोर्टमें कटराके तत्कालीन स्वामी रायकृष्णदासके अधिकारको चुनौती दी। परन्तु वे हार गये। इलाहाबाद हाईकोर्टने दोनों बार यह फैसला दिया कि कटरापर रायकृष्णदास का ही वास्तविक स्वत्व एवं अधिकार है।

दिवंगत महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय भगवान् श्रीकृष्णके इस ऐतिहासिक एवं वन्दनीय जन्मस्थानकी दुर्दशासे अत्यधिक व्यथित थे। उन्होंने इस पुण्यभूमिका पुनरुद्धार करनेका विचार किया और धर्मप्राण श्रद्धेय श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाकी आर्थिक सहायतासे १८ फरवरी सन् १९४४ को इसे रायकृष्णदासजीसे खरीद लिया। परन्तु महामना मालवीयजीकी इच्छा भी उनके जीवनकालीनमें पूरी नहीं हो सकी। अपने परलोकवासके पूर्व उन्होंने श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके सम्बन्धमें मार्मिक उद्गार प्रकट कर कहा कि भगवान् श्रीकृष्णके स्मारक-निर्माणका कार्य शीघ्र सम्पन्न हो।

महामना श्रीमदनमोहनजी मालविय

महामना श्रीमालवीयजी महाराजकी अन्तिम अभिलाषाके अनुसार श्रद्धेय श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाने २१ फरवरी सन् १९५१ को श्रीकृष्ण जन्मभूमि ट्रस्टकी स्थापनाकी और कटरा-केशवदेव पर उस ट्रस्टका अधिकार होगया। इसी ट्रस्टकी रजिस्ट्री सोसाइटीज् रजिस्ट्रेशन एक्टके अनुसार श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके नामसे हो गयी है। इस ट्रस्ट-कमेटीके सर्वप्रथम सभापति लोक-सभाके भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीगणेश वासुदेव भावलंकर थे। उनके निधनके पश्चात् अब भूतपूर्व लोकसभाध्यक्ष तथा बिहारके वर्तमान राज्यपाल श्री एम० अनन्तशयनम् आयंगार सभापति हैं। देशके चुने हुए महानुभाव इसके पदाधिकारी और सदस्य हैं।

श्रद्धेय श्रीजुगल किशोरजी बिरला

संस्थाका मुख्य उद्देश्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी पवित्र जन्मस्थलीका सर्वांगीण विकास करके उसको ऐसा रूप दिया जाय जो भारतीय नीति, संस्कृति, धर्म और दर्शनका केन्द्र बन जाय तथा वहाँसे देश-विदेशमें श्रीमद्भगवद्गीताका सन्देश प्रसारित होता रहे।

इस मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बहुतसी योजनाएँ थीं, जिनमें निम्नलिखित सम्पन्न हुई हैं या होने जा रही हैं।

पहली योजनाके अनुसार मथुराके कुछ उत्साही नवयुवकोंने संघके उपाध्यक्ष स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीकी अध्यक्षतामें १५-१०-५३को श्रमदान-कार्य प्रारम्भ किया और श्रीबाबूलालजी बजाज एवं श्रीफूलचन्दजीके नेतृत्वमें दो वर्षसे अधिक समय तक बड़ी लगन और उत्साहसे श्रमदान करके अधिकांश ऊँचे-ऊँचे टीले खोद डाले एवं गहरे-गहरे गड्ढे भरकर जमीनको समतल कर दिया। वे सारे नवयुवक धन्यवादके अधिकारी हैं। पुराने प्राचीरके उत्तरी तथा पश्चिमी भाग भी प्रायः निर्मित हो चुके हैं।

दूसरी योजनाके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन एवं पूजन-अर्चनके लिये एक भव्य मन्दिरका निर्माण भी भाई रामकृष्ण जयदयाल डालमियाकी सराहनीय सहायतासे उनकी स्वर्गीया माताकी पुण्यस्मृतिमें पूरा हो चुका है। इस केशवदेव-मन्दिरमें भगवान्के बाल-विग्रहकी प्रतिष्ठा संवत् २०१४में अषाढ़ शुक्ला २ को हुई और भाद्रपद कृष्णाष्टमी संवत् २०१५को उसके उद्घाटन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था।

तीसरी योजनाके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थान कृष्ण-चबूतराका जीर्णोद्धार तथा उसपर संगमरमरकी एक विशाल कलापूर्ण छतरीका निर्माण मेरे आदरणीय बन्धु श्रीरामनाथजी गोयनका (मद्रास निवासी) के उदारदानसे सम्पन्न हो गया है और प्रतिदिन सहस्त्रों व्यक्ति उसका दर्शन करके प्रसन्नताका अनुभव करते हैं।

चौथी योजनाके अन्तर्गत श्रीकृष्ण-लीला इत्यादि सांस्कृतिक समारोहके लिये रंगमंचका निर्माण-कार्य भी सम्पन्न हो चुका है और उसके दोनों ओर कार्यालय, विद्यालय, पुस्तकालय, औषधालय, विश्रामालय इत्यादि के लिये पाँच-पांच कमरोंके निर्माण उदार-दाताओंके दानसे हो चुके हैं। इन दाताओंमें सेठ गंगादासजी भँवर, राजमाता ग्वालियर तथा सेठ गिरिधरदासजी कोठारीके नाम प्रमुख हैं।
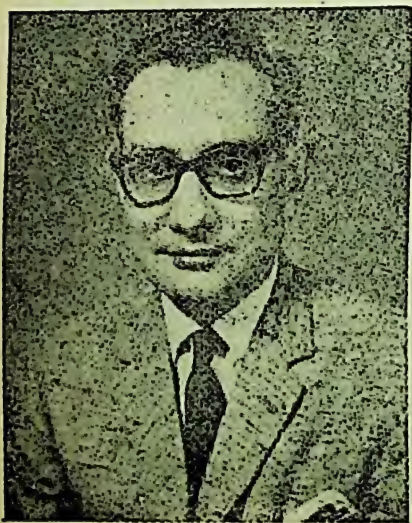
श्रीगिरधरदासजी कोठारी

पाँचवी योजनानुसार वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० झाँसीके प्रधान संचालक पण्डित श्रीरामनारायणजी शर्मा वैद्यके सत्यप्रयत्नसे सुयोग्य चिकित्सककी देख-रेखमें एक निःशुल्क आयुर्वेदिक चिकित्सालयकी स्थापना हो गयी है, जिससे प्रतिदिन सैकड़ों रोगी लाभ उठा रहे हैं। अब उस चिकित्सालयके लिये स्वतन्त्र भवन भी बन चुका है।

छठवीं योजनाके अनुसार संघने श्रीकृष्ण सन्देश नामक द्वैमासिक पत्रका प्रकाशन प्रारम्भ किया है जिसका उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्णके धर्मोपदेशोंका प्रचार-प्रसार करना है और जो अपना द्वितीय वर्ष समाप्त करके आगामी जन्माष्टमीसे मासिक होने जा रहा है।

सातवीं योजना भागवत-भवनके निर्माणकी है, जिसका शुभारम्भ हो चुका है। इसके शिलान्यासका सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त हुआ। इस भागवत-भवनके लिये चि० विष्णुहरि डालमियाने अपने औद्योगिक प्रतिष्ठानोंसे लाखों रुपये दान दिलाये हैं और भविष्यमें भी दिलायेंगे ऐसी आशा है। किन्तु यह एक बहुत बड़ा भवन होगा जो न केवल श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा का गौरववर्द्धन करेगा अपितु समस्त भारतवर्षमें अपने ढंगका अद्वितीय होगा और देश-विदेशके पर्यटकोंके लिये आकर्षणका केन्द्र बन जायेगा। वास्तुकला विशेषज्ञोंके अनुसार इसमें ३०-३५ लाख रु० लग सकते हैं। अतः इसका निर्माण किसी व्यक्ति विशेषके बसका नहीं है। उसके लिये समस्त श्रीकृष्ण-प्रेमियोंका सहयोग अपेक्षित है। वास्तविकता तो यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छासे ही इस कार्यका शुभारम्भ हुआ है और उन्हींकी इच्छासे पूर्ण भी होगा। वे ही दाता हैं और वे ही देय हैं। वे ही सहायक हैं और वे ही रक्षक हैं। ऐसे पुण्यकार्योंमें जो धन व्यय होता है, वही सार्थक है।
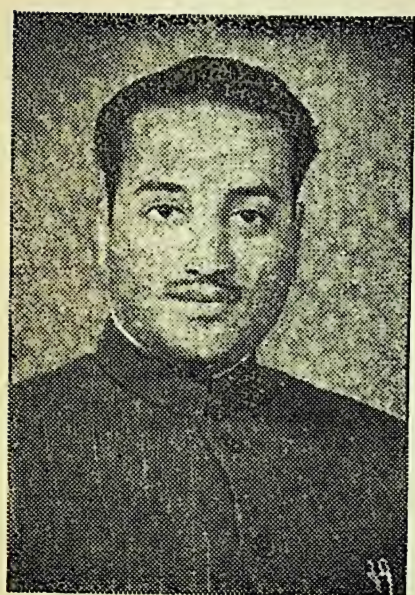
श्री विष्णुहरि डालमिया

श्रीमद्भागवत भागवतधर्मका श्रेष्ठतम ग्रन्थ है। इसमें जिन राग-द्वेष-रहित सर्वभूत-हितकर सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, उनका स्वीकार और सेवन करनेसे विश्वमें परम शान्ति और परम सुखका अनायास ही उदय हो जायेगा। श्रीमद्भागवतका एक श्लोक है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भागवत ११। २। ४१)

आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी, नक्षत्र, तारे, सब प्रकारके चराचर जीव, सब दिशाएं, वृक्ष-लता-द्रुमादि, नदियाँ, समुद्र-सभी भगवान्के शरीर हैं। अतः जीवमात्रको अनन्य भावसे प्रणाम करें। चराचर जीव सभी प्रणामके और सेवाके पात्र हैं।

आजका बड़े-से-बड़ा मनुष्य अखिल विश्व-भ्रातृत्वकी बात कहता है। वह विश्व-भरके मानवमें बन्धुत्वकी स्थापना तथा सभी मानवोंका हित चाहता है। मानवके लिये चाहे असंख्य प्राणियोंकी हत्या करनी पड़े, इसमें उसको कोई आपत्ति नहीं है। इसीसे आज मनुष्यके हितके लिये नाना प्रकारके विभिन्न नामोंसे जीवहत्याके कारखाने बने

हुए और बनते जा रहे हैं। हमारे यहाँकी जो करोड़ों रुपये लगाकर वैज्ञानिक हत्याशालाएँ-कसाईखाने खोलनेकी योजनाएँ हैं, जो विकासके नाम पर विनाशका काम करेंगी, वे भी इस मानव हितकी भ्रान्त धारणाकी सूचक हैं। पर हमारे भागवतकार केवल मनुष्योंमें ही नहीं, केवल चेतन प्राणियोंमें ही नहीं, अखिल विश्वके समस्त चराचर भूतोंमें भगवान्को देखकर उन सभीका हित करनेकी शिक्षा देते हैं।

भागवतका एक अन्य श्लोक है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(७।१४।८)

जितनेसे अपना पेट भरे, उतने पर ही मनुष्योंका अधिकार है; इससे अधिक पर जो अपना अधिकार समझता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये।

ये देवर्षि नारदजीके वाक्य हैं। आजका कोई साम्यवाद या समाजवाद इससे अधिक और क्या कहेगा? पर आज वादोंमें जहाँ दूसरेके विनाशकी आकांक्षा-चेष्टा तथा राग-द्वेष भरे हैं, वहाँ भागवत-धर्मके इस सिद्धान्तमें सबके हितके लिये प्रेमपूर्वक सबके प्रति सर्वस्व-वितरणका पवित्र आदेश है।

भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं:—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३।१३)

"यज्ञावशेष अर्थात् सबको सबका हिस्सा देकर बचे हुए अन्नको खानेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं; पर जो पापी लोग केवल अपने ही लिये पकाते हैं—कमाते हैं वे पाप खाते हैं।" भागवत-धर्ममें मनुष्यका प्रत्येक कर्म होता है भगवान्की सेवाके लिए—"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" और भगवान् हैं "सर्वभूतमय"। अतएव उसके द्वारा जो भी विचार-कर्म होंगे, सभी विश्व-कल्याणके लिए ही होंगे। यों होने पर न कहीं अर्थ-वैषम्य होगा, न कोई सूखा या अभाव ग्रस्त ही रहेगा, न छीना-झपटी और कलह-कलेश ही रहेंगे, वैर-विरोध और क्रोध-हिंसा रहेंगे। सबका सारा जीवन परस्परके सुख-साधन और हित-साधनमें लगेगा। सबके जीवन विषाद-भय-रहित हर्ष और विश्वाससे भर जायेंगे।

अतएव भागवत भवनके इस महान् निर्माण-कार्य द्वारा दर्शकोंमें भगवद्-भावका वितरण होगा, जिसकी अनिवार्य आवश्यकता आजके युगको है। अतः कोटि-कोटि प्राणियोंके परमाराध्य श्रीकृष्णके पावन जन्मस्थानपर होने वाले इस पुनीत निर्माण कार्य तथा अन्य निर्माणकार्योंमें जितना सहयोग किया जाये वह थोड़ा है।

●

"वेदकालसे लेकर और अब तककी जीवन-पगदंडी पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो यही पाते हैं, कि जिसने भी जीवनकी सँकरी घाटीमें, दो वज्र-पाटोंके बीचमें पड़ने पर, अहंको छोड़कर आर्त्तस्वरमें कहा, "अशरणशरण हरी" उसका मार्ग चमत्कारिक रूपसे प्रशस्त हो गया, अंधकारके गह्वरमें भी उसके समक्ष प्रकाशकी रेखा चमक उठी, और आकाशके आधार-हीन पथमें भी उसे आधार प्राप्त हो गया।"

अशरणशरण हरी

श्रीदेवप्रिय

जीवनका रथ ! बड़ा विचित्र है जीवनका यह रथ ! कभी इसके पहिए पगदंडी पर-पथ पर नाचते हुए चलते हैं, और कभी जाकर पंकमें-दल-दलमें फँस जाते हैं। ऐसे दलदलमें फँस जाते हैं, कि साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े शक्ति सत्ताधारियों, और बड़े-बड़े ज्ञान-उद्भटोंकी बुद्धिके भी पंख झड़ जाते हैं। फिर तो उस समय एक ही वाक्य स्मरण आता है—"अशरणशरण हरी।" कुछ आस्तिकों, धर्म-आस्थालुओं, और ईश्वर प्रेमियोंको ही नहीं, बड़े-बड़े नास्तिकोंको भी, जीवनका पथ तिमिरावृत होने, हर, निराशाओंसे आच्छन्न होने पर, स्मरण हो आता है—"अशरणशरण हरी।"

वेदकालसे लेकर, और अब तककी जीवन-पगदंडी पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो यही पाते हैं, कि जिसने भी जीवनकी सँकरी घाटीमें, दो वज्र-पाटोंके बीचमें पड़ने पर, अहंको छोड़कर आर्त्तस्वरमें कहा, "अशरणशरण हरी" उसका मार्ग चमत्कारिक रूपमें प्रशस्त हो गया, अंधकारके गह्वरमें भी उसके समक्ष प्रकाशकी रेखा चमक उठी, और आकाशके आधार-हीन पथमें भी उसे आधार प्राप्त हो गया। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखसे कहा है:—

"जो जीव अपने ज्ञान और बलके दर्पसे पृथक होकर, आर्त्तवाणीमें मुझे पुकारता है, मैं उसके पास पहुँचनेमें संपूर्ण ब्रह्माण्डको भूल जाता हूँ।"

विश्वके महान् भक्तों, दार्शनिकों, और आचार्योंने भी सशक्तवाणीमें घोषित किया है, कि जीवनके तमसाच्छन्न होने पर, आर्तवाणीमें पुकारने पर, परमपिता परमात्माकी

ओरसे चमत्कारिक प्रश्रय प्राप्त होता है। निम्नांकित श्लोकमें उसी घोषणाका चित्र है:—

नाम्नोस्ति यावती शक्तिः पाप निर्हरणे हरेः।
तावत्कुर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥

ऐसा कोई पाप नहीं, ऐसा कोई ताप नहीं, जो परमपिता परमेश्वरको स्मरण करते ही-पुकारते ही विनष्ट न हो जाए। श्रीमद्‌भागवतकारने भी निम्नांकित पंक्तियोंमें इसीकी घोषणा की है:—

सकृन्मनः कृष्ण पदार विन्दयो,
निवेशितं तद्‌ गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाश भृतश्चत भटान्
स्वप्नेपिपश्यन्ति हि चीर्ण निष्कृताः॥

"जो पुरुष केवल एक बार भी अपने चित्तको श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंमें लगा देते हैं, वे पापसे मुक्त हो जाते हैं। पाश हाथमें लिए घोर रूप यमदूतोंको वे स्वप्नमें भी नहीं दीखते।"

और भी सशक्त घोषणा आगेकी पंक्तियोंमें देखिए:—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोय चारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥

"मृत्युके समय पुत्रका नाम लेनेमें भगवान्‌का नाम, उच्चारण कर महापापी अजामिल भी भगवान्‌के धामको चला गया, तब जो व्यक्ति श्रद्धासे उनका नाम लेता है, उसके मुक्त होनेमें क्या संदेह है?"

मधुसूदन सरस्वतीने अपने 'भक्ति रसायन' में उसी घोषणाको अपनी वाणीमें, कुछ और ही ढंगसे घोषित किया है:—

भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेवहि।
मनोगतस्तदाकार रसना मेति पुष्कलम्॥

"भक्तिके द्वारा जब भक्तके सरस चित्तमें साक्षात् परमानन्द स्वरूप भगवान् स्वयं प्रगट होते हैं, तब दुःख, भय आदि किस बात का।"

संत-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी वाणीमें बार-बार उसी घोषणाकी पुनरावृत्ति की है:—

'राम राम राम जीय जौलौं तू जपि है,
तौलौं तू कहूं जाय तिहूं ताप तपि है॥

× × ×

"ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपाल! तेरे,
नाप के प्रताप न त्रिताप तन दाहिए।"

पर पुकारनेका-स्मरण करनेका ढंग चाहिए। निस्संदेह हम पुकारते हैं—हम सब पुकारते हैं, पर उस पुकारमें, उस स्मरणमें हम कहाँ अपने अस्तित्वसे-अपने 'अहं'से पृथक होते हैं ? हम दोष देते हैं, परमात्माको, उस परमात्माको, जो हम सबका पिता है, पालक है, त्राता है, बंधु है, और जो हमारी आर्त-पुकारोंको सुननेके लिए प्रतिक्षण अपने कोटि-कोटि श्रवण-रंध्रोंको खोलकर, स्नेहसे हम सबकी ओर देखता रहता है। यदि हम अंतरमें प्रविष्ट होकर अपने 'आत्म रूप'का निरीक्षण करें, तो हम अपनी आर्त-पुकारमें, अपने स्मरणमें अपना 'अहं' और अपना 'बुद्धि-चातुर्य' ही पायेंगे। किसी एक भक्तने ठीक ही कहा है—

कौन कहता है भगवान् आते नहीं ?
द्रौपदी की तरह हम बुलाते नहीं।
कौन कहता है भगवान् खाते नहीं,
'शबरी' की तरह हम खिलाते नहीं।"

सचमुच अहंका परित्यागकर, आर्तवाणीमें पुकारने पर-स्मरणकरनेपर, भगवान् आते हैं, अवश्य आते हैं। 'गज'की आर्तवाणी इसका प्रमाण है। वह पवित्र नदी-गण्डकी नदी ! 'गज' बड़े आनन्दसे, बड़ी निश्चिततासे अपनी सूँड़में, पानी भर-भरकर उछाल रहा था। पर यह क्या ? सहसा उसे ज्ञात हुआ, कि कोई प्रवल जन्तु उसके पैरोंको मुँहमें दाबकर उसे गहरे जलकी ओर खींचकर लिए जा रहा है। अरे, यह तो 'ग्राह' है। गज अपनेको 'ग्राह'के पंजेसे मुक्त करनेके लिए प्रयत्न करने लगा, पर ग्राहने उसके संपूर्ण प्रयत्नोंको असफल कर दिया। उसने देखते ही देखते 'गज' को इस प्रकार दबा लिया, कि 'गज' निरुपाय हो उठा—विवश ! चारों ओर अथाह जल राशि, 'ग्राह' गजको अपने वज्र-दशनों से जकड़े हुए उसे अथाह जलकी ओर खींचकर लिए जारहा था। गज करे तो क्या करे ? वह अपने त्राणके लिए पुकारे तो किसे पुकारे ? आखिर उसके पशु-शरीरमें, दैवी चेतना जाग पड़ी, और वह अपनी सूँड़को अनन्त ब्रह्माण्डकी ओर उठाकर, बड़ी ही आर्तवाणीमें पुकार उठा—"अशरणशरण हरी।" 'गज'के पुकारनेकी देर थी। उसकी आर्तवाणी ब्रह्माण्डमें गूँज उठी, और गूँज उठी भगवान्‌के कर्ण-कुहरोंमें। भगवान दौड़ पड़े, लोक-लोकोंको नापते हुए, संपूर्ण ब्रह्माण्डको अपनी गतिसे दाबते हुए। पलक मारते ही जा पहुंचे, उस अथाह-जल सिंधुमें, और ग्राहको मारकर गजके प्राणोंकी रक्षा की।

'गज'की आंखें सजल हो उठीं। वह कृतज्ञता स्वरूप कहे तो क्या कहे ? वह 'मूक' बनकर, भगवान्‌के विराट् अंकमें लोट गया। भगवान्‌ने अपनी दयालुताके साथ ही साथ उसके नामको भी अमर बना दिया। न जाने कितने महाकवि, न जाने कितने साधक, और न जाने कितने भक्त 'गज'की आर्तवाणीकी प्रशंसा कर चुके हैं, पर अब भी न जाने कितने महा-कवियों, साधकों, और भक्तोंके मनमें 'गज'की आर्तवाणीकी प्रशंसा करनेकी अभिलाषा अवशेष है।

द्रौपदीकी आर्तवाणी ! द्रौपदीकी आर्तवाणी भी इस बातका प्रमाण है, कि भगवान् आर्तवाणीसे पुकारने पर-द्रवित चित्तसे स्मरण करने पर आते हैं—अनिवार्य

रूपमें आते हैं। हस्तिनापुरकी कुरु सभा ! सभामें एकसे एक पंडित, एक-से एक तात्त्विक, और एक-से एक योद्धा तथा महारथी विराजमान थे। उसी सभामें, विद्वानों और वीरोंकी उसी सभामें, दुर्योधनकी प्रेरणासे दुःशासन करने लगा एक नारीको आवरण विहीन। नारी साधारण नहीं, असाधारण. पाण्डवोंकी प्राणवल्लभा द्रौपदी ! पर निःसहाय, विवश ! उसने कातर दृष्टिसे अर्जुनकी ओर देखा, भीमकी ओर देखा, युधिष्ठिरकी ओर देखा, और देखा द्रौणाचार्यकी ओर. भीष्मकी ओर। उसने नयनोंमें अश्रु भर कर एक-एकसे प्रश्न किया, एक-एकको अपनी सहायताके लिए 'आहूत' किया। पर सबके सब मौन, निरुत्तर !! आखिर द्रौपदी—विवश. और असहाया द्रौपदी आर्तस्वरमें पुकार उठी—"अशरण शरण हरी।"

द्रौपदीकी पुकार—सकरुण पुकार आकाशके स्तरोंको भेदती हुई, दूर-बहुत दूर 'हरी'के श्रवण-रंध्रोंमें जा पड़ी। कथा है, कि भगवान् श्रीकृष्ण उस समय रुक्मिणीके साथ 'पासा' (एक खेल) खेल रहे थे। द्रौपदीकी करुण पुकार श्रवणोंमें पड़ते ही वे पासा फेंकते ही फेंकते बोल उठे—"देवी, यह दिया।" "क्या दिया", "किसे दिया"? रुक्मिणी विस्मित होकर बोल उठी। पर विस्मय, महान् विस्मय !! श्रीकृष्ण तो कुछ उत्तर न देकर अदृश्य हो चुके थे, और वे अब पलक मारते ही हस्तिनापुरमें, कुरु सभामें थे। दुःशासन रह-रहकर द्रौपदीके 'वस्त्र'को खींचकर उसे नग्न करनेका प्रयत्न कर रहा था, पर उसका 'वस्त्र' बढ़ता ही जा रहा था—और बढ़ता ही जा रहा था। दुःशासन 'वस्त्र' खींचते-खींचते स्वेदमें डूबकर परिश्रान्त हो गया, पर द्रौपदीके 'वस्त्र'का छोर उसे मिला ही नहीं। भगवान् श्रीकृष्णकी अनुकम्पासे द्रौपदीके उस 'वस्त्र'में कोटि-कोटि आकाश और धरतीकी असीमिता-सी समाविष्ट हो गई। द्रौपदीकी लाज बच गई, और उसकी कहानी युग-युगोंके लिए स्मरणीय बन गई—अति स्मरणीय बन गई।

इसी प्रकारकी एक नहीं, अनेक कहानियाँ हैं, अनेक घटनाएँ हैं, जो हमारे सामने यह चित्र प्रस्तुत करती हैं, कि भगवान् आर्तस्वरसे पुकारने पर—द्रवित चित्तसे स्मरण करने पर आते हैं, अवश्य आते हैं।

आइए द्रवित चित्तसे, अहंको छोड़कर, हम सब भी पुकारना-स्मरण करना सीखें—"अशरणशरण हरी।"

स्वर और वाणी सधने पर निश्चय हरी आयेंगे, और उन दारुण विपत्तियोंका नाश करेंगे, जिनसे हम सब विकल हैं।

पर इसके लिए 'अहं'को छोड़ना होगा, इन्द्रियोंको दबाकर आत्माके स्वरमें बोलना होगा। फिर तो अशरणशरण हरी दूर नहीं, पास ही हैं, बहुत पास ही हैं।

प्रबिशि नगर कीजै सब काजा।
हृदय राखि कोशल पुर राजा॥

"श्रीकृष्णकी विचारधारा और व्यवहार गीतामें समाविष्ट है। गीतामें कृष्णने अपने पूर्वके सारे विचारोंका समन्वय किया है। वैदिक विचार, सांख्य विचार, योग विचार-सारे विचारोंको गीतामें योग्य स्थान दिया गया है। ज्ञान, भक्ति, और कर्मका उसमें समुच्चय है। गीता सागर इतना विशाल है, कि उसमें जो चाहे सो मिलता है।"

भारतीय संस्कृतिमें श्रीकृष्णका स्थान

श्रीव्रजलाल वियाणी

सारा विश्व चेतनामय है, मानव जीवनका प्रधान आधार विचार-शक्ति है। मानवने विचारशक्ति पर आधारित अपने जीवनकी जो व्यवस्था निर्माण की है, वह ही संस्कृति कहलाती है।

भिन्न-भिन्न महापुरुषोंने अपनी विचारशक्ति पर आधारित भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंका निर्माण किया है। प्रचीनकालमें वह संस्कृति धर्मका रूप ले लेती थी। महापुरुषोंके साथ अन्य व्यक्तियोंने भी अपनी शक्तिके अनुसार छोटी-मोटी संस्कृतियोंका निर्माण किया है। इस अर्थमें हर व्यक्तिकी अपनी संस्कृति होती है। यह भिन्नता होते हुये भी किसी एक व्यापक संस्कृतिका वह मानव गिना जाता है।

वर्तमानमें प्रधान संस्कृतिका हम दर्शन करें तो दीखता है कि वैदिक संस्कृति है, बौद्ध संस्कृति है, जैन संस्कृति है, चीनी संस्कृति है, क्रिस्चियन संस्कृति है, मुस्लिम संस्कृति है और है पारसी संस्कृति।

हर संस्कृतिका कोई न कोई व्यक्ति निर्माता होता है। बौद्ध संस्कृतिके निर्माता बुद्ध गिने जाते हैं, जैन संस्कृतिके निर्माता महावीर, चीनी संस्कृतिके निर्माता कन्फ्यूशियस, क्रिस्चियन संस्कृतिके ईशू, मुस्लिम संस्कृतिके मोहम्मद, पारसी संस्कृतिके निर्माता जरथुस्त्रहै। यह आर्य संस्कृतिकी विशेषता है, कि इसका निर्माता कोई व्यक्ति नहीं है। अतः आर्य संस्कृति व्यापक है। 'हर मानव अपनी संस्कृतिका अधिकारी है', यह तत्त्व यदि किसी संस्कृतिमें मान्य किया गया है तो वह केवल आर्य संस्कृतिमें।

आर्य संस्कृति वेदोंसे चली आई है, और अभी चल रही है। हर महापुरुषने इस संस्कृतिको पोषित किया है, इसको सामयिक बनानेका यत्न किया है।

मानव अपने विचारोंमें परिवर्तन करता है, उसीके साथ व्यवहारमें भी परिवर्तनका वह अधिकारी है। इसी अर्थमें व्यक्तियों द्वारा निर्मित संस्कृति कुछ अंशमें गौण है, और जो संस्कृति समयके साथ बदलनेकी क्षमता रखती है, वही विश्व संस्कृतिका रूप धारण करने की अधिकारी है।

आज एक प्रवाह है, विश्व संस्कृतिका। उसका रूप किस प्रकार होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता, पर यह निश्चित है कि सारी संस्कृतियोंमें जो योग्य है, उसको ग्रहण कर विश्व संस्कृतिका निर्माण होगा। जिस संस्कृतिमें उस विश्व संस्कृतिके लिये पोषक अंश अधिक होगा, वह विश्व संस्कृतिके निर्माणमें सर्वाधिक योगदान देगी।

हमारी धारणा है, कि अन्य सारी संस्कृतियोंकी अपेक्षा भारतीय संस्कृतिमें यह क्षमता अधिक परिमाणमें है।

आज हम भारतीय संस्कृतिके क्षेत्रमें देखें तो यह कहेंगे कि वर्तमान भारतीय संस्कृति श्रीकृष्णके विचारोंपर आधारित है। श्रीकृष्णका जीवन इतना व्यापक और सर्वस्पर्शी है, कि जीवनमें जिसे जो चाहिये, वह सब मिल सकता है। ज्ञानियोंके लिए गीता ज्ञान है, भावनासे प्रेरित अर्जुनको युद्धके लिए तत्पर करनेमें विवेककी विजय है, वीरोंके लिए बाल्यकालसे लेकर जीवनके अन्त तक समर है, रसिकोंके लिये रास है, संगीत प्रेमियोंके लिये मुरली है, धनिकोंके लिए द्वारिकाकी अतुल संपत्ति है, भोजन प्रेमियोंके लिए माखन मिश्री है, गरीब मित्रोंके लिये सुदामाका प्रसाद है, सेवकोंके लिए सारथि है, सुधारकोंके लिए रुक्मिणीका और सुभद्राका विवाह है, इंद्रकी पूजाको त्याग गोवर्द्धनपूजन है, गाय चरानेको गोपाल हैं, गोवर्द्धन धारी हैं राधाका अलौकिक प्रेम है, द्रौपदीका चीर हरण है। कृष्णने ब्राह्मणोंका काम किया, क्षत्रियोंका काम किया, वैश्योंका काम किया और किया सारथिका काम भी। कृष्ण सरितामें जीवनके सारे रहस्य प्रवाहित हैं, जिसको जो चाहिये वह ले ले।

श्रीकृष्णकी विचारधारा और व्यवहार गीतामें समाविष्ट है। गीतामें कृष्णने अपनेके पूर्वके सारे विचारोंका समन्वय किया है। वैदिक विचार, सांख्य विचार, योग विचार सारे विचारोंको गीतामें स्थान दिया गया है। ज्ञान, भक्ति और कर्मका उसमें समुच्चय है। गीता सागर इतना विशाल है, कि उसमें जो चाहे, सो मिलता है।

श्रीकृष्णके पश्चात्की विचारधारा गीता पर प्रायः आधारित है। अनेक महापुरुषोंने गीताके आधार पर भिन्न-भिन्न पंथोंका निर्माण किया है। गीता पर आधारित छोटे मोटे पंथ या जन समूह जहाँ तहाँ दिखाई देते हैं।

आधुनिक विचारधारा जितनी गीतासे प्रभावित है, उतनी अन्य किसी ग्रन्थसे नहीं। जितने तात्विक और व्यावहारिक उदाहरण गीतासे दिए जाते हैं, उतने किसी अन्य ग्रन्थसे नहीं। भारतमें गीताको लेकर जितना साहित्य निर्माण हुआ, उतना अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं। पाश्चात्य साहित्यमें भी गीताका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अन्य देशोंमें गीताके विषयमें जितना लिखा गया है, उतना किसी दूसरे भारतीय ग्रन्थके विषयमें नहीं। संक्षेपमें, यह कहदें तो अनुचित नहीं होगा कि भारतीय संस्कृति प्रायः कृष्णमय है।

●

"हम जीव जो ईश्वरके पुत्र हैं, शरीरमें ही निवास करते हैं। अतः हमें शरीरकी उपेक्षा नहीं, अपने पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए शरीरकी साधना करनी चाहिए। आओ, शरीरकी साधनाके लिए शिव संकल्प करें; क्योंकि हमें एकसो बीस वर्ष जीवित रहकर 'शत ऋतु' बनना है।"

शरीर मंदिरम्

श्रीविशेश्वरनाथ

हमारा शरीर पंच भूतोंसे निर्मित है। एक न एक दिन इसे नष्ट हो ही जाना है। हम प्रति दिन 'शरीर' को नष्ट होते हुये देखते हैं। हमारे संपूर्ण धर्माचार्य भी यही कहते हैं। शरीर केवल नष्ट ही नहीं हो जाता, वरन् वह मल मूत्र, रक्त, मज्जा और पीवका भंडार भी है, । आश्चर्य है कि हम ऐसे शरीरके भारको दिन-रात वहन करते हैं।

शरीर ही नहीं, हम जिस जगतमें रहते हैं, वह भी शरीरकी ही भाँति नश्वर है। साराका सारा जगत जैसे भागता-सा जा रहा है, प्रतिक्षण बदलता-सा जा रहा है। कल हमने संसारमें जो कुछ देखा था, जिसे जिस रूपमें देखा था, वह आज उस रूपमें नहीं दिखाई पड़ रहा है। निश्चय है, कल वह किसी और ही रूपमें दिखाई पड़ेगा। संसारका प्रतिक्षण, प्रति वस्तु-इसी प्रकार परिवर्तनके चक्रमें बँधी हुई है। इतना ही नहीं, परिवर्तनके अतिरिक्त संसारमें चारों ओर दुःख और शोककी काली घटाएँ भी दिखाई पड़ती हैं। धर्माचार्य, और धर्मशास्त्र भी कहते हैं, कि संसार दुःखमय है, रोगमय है। आश्चर्य है, फिर भी हम जगतमें रहते हैं, उससे मोह करते हैं।

क्यों? आइये इस बातको सोचें, इस पर विचार करें। हम जिस प्रकार अपना 'घर' बनाते हैं, और उसके प्रति अपना मोह प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार यह जगत भी तो एक 'घर' के ही समान है, जिसे परमात्माने हमारे लिये निर्मित किया है। सच है, जगत रूपी यह घर परिवर्तनशील है, दुःख और रोगमय है; पर क्या यह परित्यागके योग्य है? इस जगतमें ही तो वह पृथ्वी है, जिसके ऊपर हम निवास करते हैं, इस जगतमें ही तो वह सूर्य है, जो हमें प्रकाश देता है, इस जगतमें ही तो वे पर्वत हैं, जिनसे हमें जीवनोपयोगी

औषधियाँ प्राप्त होती हैं, और इस जगतमें ही तो वे सरिताएँ और निर्झर हैं, जो हमें सु-स्वादुकर जल प्रदान करते हैं। इस जगतमें ही रह कर तो हम उस 'आनन्द' और परमानन्दकी खोज करते हैं, जिसकी उपलब्धि हमारा परम लक्ष्य है।

निश्चय है, जगतकी सार्थकता है। श्रीमद्‌भागवत गीताके ग्यारहवें अध्यायके एक श्लोकके अनुसार संपूर्ण जगत भगवान् श्रीकृष्णका ही रूप है। भगवान् श्रीकृष्णने अपने विराट् विश्व रूपको प्रगट करके स्पष्ट शब्दोंमें इस तथ्यकी घोषणाकी है, कि जगत और जगतकी संपूर्ण वस्तुओंमें वे ही विराजमान हैं। उपनिषदोंमें भी "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" के द्वारा संपूर्ण विश्वको 'ब्रह्ममय' बताया गया है। वेदमें इसी बातकी और भी अधिक स्पष्ट रूपसे विवेचना की गई है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मता आपः स प्रजापतिः ॥

इस विश्वमें अग्नि, वायु, जल इत्यादि नाना प्रकारके जो पदार्थ हैं, वे ब्रह्ममय हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है, कि यह संसार केवल दुःखमय है? यदि यह दुःखमय और नाशवान है, तो भगवान्‌का स्वरूप होनेके कारण क्या 'आनन्दमय' नहीं है? निश्चय, संसार जितना दुःखमय है, उससे कहीं अधिक आनन्दमय है। जगतकी यही आनंदमयता तो हमें प्रतिक्षण आकर्षित करती है, हमारे मनको बाँधकर अपने पास रखती है।

जगतकी भाँति ही शरीरकी भी सार्थकताकी कथा है। सच है, जगतकी भाँति शरीर भी परिवर्तनशील, नश्वर, और दुःख तथा रोगमय है; पर क्या यह सच नहीं है, कि शरीर रूपी मन्दिरमें ही हमारा वह आत्मा रूपी श्रीकृष्ण निवास करता है, जिसे 'जानना' या प्राप्त करना हमारे जीवनका परम लक्ष्य है? इतना ही नहीं, इस शरीरमें ही हमारी वे इन्द्रियाँ निवास करती हैं, जो आत्मा रूपी श्रीकृष्णकी उपलब्धिमें हमारी सहायिका बनती हैं। शरीरकी इन्द्रियोंसे ही हम उन समस्त कार्योंको पूर्ण करनेमें समर्थ होते हैं, जिनकी समष्टि ही संसारके 'सौन्दर्य' और प्रबल। आकर्षणका स्वरूप धारण करती है। फिर क्या शरीर उपेक्षा करनेके योग्य है? क्या उसे कारागार और दुःखका घर समझकर उसकी ओरसे आँख बंदकर लेना चाहिए? नहीं, जो लोग ऐसा सोचते हैं, निश्चय वे भूल ही करते हैं। कहा गया है, "नात्मानमवमन्यते" अपने संबंधमें निंदा और अपमानजनक भाषाका प्रयोग करना उचित नहीं है। शरीर भी तो अपना ही है—सबसे बढ़कर अपना है। फिर शरीरके सम्बन्धमें क्यों इस विचारको जन्म लेने दिया जाए कि वह कारागार है, रोग और शोकका घर है!

वेदोंमें स्पष्ट रूपसे शरीरकी महत्ता और सार्थकताको स्वीकार किया गया है। प्राचीन ऋषियों-महर्षियोंके मतानुसार शरीर एक मन्दिरके सदृश है। शरीर रूपी मन्दिरमें विभिन्न देवताओंका निवास रहता है। कहा गया है, कि शरीर रूपी मन्दिरमें तैंतीस देवता निवास करते हैं, जिनमें सूर्यका अंश नेत्रोंमें, वायुका वक्षःस्थलमें और अग्निका

वाणी, मुख, तथा जठराग्निमें होता है। इसी प्रकार शेष देवताओंका निवास भी शरीरके दूसरे भिन्न-भिन्न अंगोंमें होता है।

यजुर्वेदके निम्नांकित श्लोकमें भी शरीरकी महत्ता और उसकी सार्थकताकी घोषणा की गई है :-

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त
रक्षन्ति सदय प्रमादम् ।
सप्तायः स्वयतो लोकमीयुस्तत्र
जाग्रतास्वप्न जो सत्र सदौच देवौ ।
(यजु० ३४।५५)

—शरीर सप्त ऋषियोंका आश्रम है। वे ऋषिप्रमाद न करते हुये शरीरके संरक्षणमें सदैव निरत रहते हैं।

—शरीर सप्त सरिताओंका पवित्र तीर्थ स्थल है। जागृत अवस्थामें सातों नदियाँ बाहर आती हैं और सुप्तावस्थामें पुनः शरीरके भीतर लौट आती हैं।

—शरीर एक पवित्र यज्ञशाला है। दो देवता प्रतिक्षण जागकर शरीरकी यज्ञशालाके संरक्षणमें संलग्न रहते हैं।

ऐसा पवित्र और महत्वपूर्ण शरीर क्या दुःख पूर्ण हो सकता है ? धर्मशास्त्रोंमें शरीरमें निवास करने वाले जीवोंको 'शत क्रतु' अर्थात् "सौ यज्ञों" का कर्त्ता बननेके लिए कहा गया है, और उसके लिए समयका विभाग भी किया गया है। धर्मशास्त्रोंके अनुसार जीवको प्रथम बीस वर्षका अपना समय विद्याध्ययनमें लगाना चाहिए और शेष सौ वर्षके समयमें सौ यज्ञ करके 'शत क्रतु' बनना चाहिए। पर यह कैसे हो सकता है? क्या शरीरकी उपेक्षा करनेसे ? नहीं, शरीरकी साधना करनेसे। हम जीव जो ईश्वरके पुत्र हैं, शरीरमें ही निवास करते हैं। अतः हमें शरीरकी उपेक्षा नहीं, अपने पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये शरीरकी साधना करनी चाहिए।

आओ, शरीरकी साधनाके लिये शिव संकल्प करें, क्योंकि हमें एकसौ बीस वर्ष तक जीवित रहकर 'शत क्रतु' बनना है।

आदर्श नायक

वह, जिसकी पूजा की जाती है, न बलवानोंसे झुकता है, और न सुदृढ़ व्यक्तिसे डरता है—दुराचारियोंसे प्रेरित अशिष्ट दस्युओंका भी वह सामना करता है—जैसे ही जैसे इन्द्रके लिए अगम्य पर्वत समतल भूमि है और गहरे समुद्र भी चलकर पार जाने वाले नदी नाले हैं।

(ऋगवेद ६-२४-८)

"इस देशकी भूमिमें प्रकृतिने गौके रूपमें सैकड़ों धाराओं वाला बड़ा झरना ही खोल दिया है। यह झरना 'साहस' है। वेदकी भाषामें जो अपरिमित होता है, जिसकी इयत्ता नहीं, जो महान्‌से भी महान् , उसे 'साहस्र' कहते हैं। यह विशेषण स्वयं सृष्टिकर्ताके लिये आता है। उसीका कविने 'गौ' के लिये प्रयोग किया है।"

गौ भारत राष्ट्रकी धात्री—कामधेनु

स्व० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल

वेदोंमें भूमि पर आश्रितजीवन की जो कल्पनाएं हैं, उनमें संभवतः सबसे अधिक सुन्दर, सत्य, सरस और उपयोगी यह है—

'सहस्रों वा एव शतधार उत्सोयद् गौः' (शतपथ, ७-५-२-३४) 'सहस्र गुना महान्, सौ धाराओं वाला यह झरना है, जो गौ है, सचमुच इस देशकी भूमिमें प्रकृतिने गौ के रूपमें सैकड़ों धाराओं वाला बड़ा झरना ही खोल दिया है। यह झरना साहस्र है। वेदकी भाषामें जो अपरिमित होता है, जिसकी इयत्ता नहीं, जो महान्‌से भी महान् है, उसे साहस्र कहते हैं। यह विशेषण स्वयं सृष्टि कर्ताके लिये आता है। उसीका कविने गौ के लिए प्रयोग किया है। गौ-रूपी झरना साहस्र क्यों है ? इसलिये कि वह कभी छीजता नहीं। अन्य झरनोंमें जल घटता-बढ़ता है, वे परिमित हैं, जैसे प्राकृतिक कारणोंसे बन गए हैं, वैसे चलते रहते हैं। पर गौ का झरना कितना बढ़ सकता है, इसकी सीमा नहीं है। पहाड़ी झरने और जल धाराएं एक देशीय हैं, जहाँ हैं, वहीं उनका उपयोग है। पर गौ का झरना सारे देशमें, गाँव-गाँवमें, खूंटे-खूटे पर इच्छानुसार बांधा जा सकता है, जिसके ऊपर चाहो, उस झरनेकी दुधिया धार छोड़ दो, जिस घरको चाहो इस घियाल झरनेसे भरदो, शतपथ ब्राह्मणने गौ की जो परिभाषा ऊपर बाँधी है उसका मूल युजर्वेदमें है, जहाँ कहा है।

यह झरना सौ धाराओं वाला है।

यह झरना सहस्र गुणित (साहस्र) है।

यह झरना जलके बीचमें से झरकर उसे दूध बना रहा है।

यह झरना आदित्य रूप है, अनंत प्रकृतिका अपना रूप है।

इस झरनेसे जनताके लिये घी दुहा जा सकता है।

हे बुद्धियुक्ति प्राणी, तुम्हारे जीवनके जो ऊँचे स्रोत हैं, वहाँ तक पहुँचो, और इस झरनेकी हिंसा मत होने दो।

गौ के चार थनोंमें मानो चार समुद्र ही समा गए हैं। उसकी सुधा धारिणी धार एक होते हुए भी सौ गुनी है। उसीसे दूध, दही, मट्ठा, लौनी, घी, खोया, छाछ, लस्सी, पनीर क्या नहीं होता ? गौ की संख्या-वृद्धि ज्यामिति वर्गकी तरह दुगने, चौगुने, सोलह गुने प्रमाणसे बढ़ती है। अतएव वह सचमुच सहस्र गुणित या अपरिमित है। पानीको दूध बनानेकी शक्ति गौ के झरनेमें ही है। धरती पर मेघोंने जो घास तिनके उपजाये हैं, उन्हें खाकर गौ इस दूधके झरनेको उत्पन्न करती है। जनोंके लिये घीकी धार के फव्वारे इसी स्रोतसे छूटते हैं।

भारतकी स्वराज्यमयी भूमि पर क्या चाहिए ?

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो। अस्तु तनू बलम्।

'गौएँ चाहिए और शरीर-बलसे बलिष्ठ प्रजाएँ चाहिये। आज इस भूमि पर नित्य बछड़ा चुखाने वाली, दुहनेमें सहेज गौएँ चाहिये:-

'अयं धेनु सुदुधां नित्यवत्सां वशं दुहां'

गौ और हमारे जनपद जनका सम्बन्ध बहुत पुराना है। गौ के रूप, रंग, स्वभाव और शरीर गठनका सूक्ष्म अध्ययन यहाँ किया गया है। हमारी बोलियाँ उनका वर्णन करने वाले शब्दोंसे भरी हुई हैं। अनेक शब्द संस्कृतसे निकले हैं, कुछ ठेठ बोलियोंमें जन्मे हैं। अथर्ववेदका 'नित्यवत्सा' शब्द ऊपर आया है। नित्यवत्सा वह गाय है, जो सदा बछड़े वाली रहे, जो एक ब्यांतसे लेकर दूसरे ब्याँत तक बराबर दूध देती रहे, जिसके नीचे बछड़ा हमेशा चौंखता रहे। पाणिनिने ऐसी गायको 'महागृष्ट' कहा है। पहली बार ब्यायी हुई पहलवान गाय 'गृष्टि' हुई। वह यदि दूसरी ब्याँत तक बराबर दूध देती चली जाय, तो उसे 'महागृष्टि' कहा जायगा ऐसी गायके लिये सूरदासने व्रजभाषाके भंडारमें से "नैचकी' शब्दका प्रयोग किया है। 'नित्य वत्सा' की ही संज्ञा "नैत्यिकी' है, अर्थात जो नित्य दूधकी हो। नैत्यिकी-नैच्चिकी-नैचिकी-नैचकी- यह विकास क्रम है। हेमचन्द्रके अनुसार नैचिकी गाय सब गायोंसे बढ़िया मानी जाती है। (नैचिकी तूत्तमा गोषू, अभि धान चिंतामणि) नैचकी गाय बरस-बियावर होती है। बरस-बरस पर बियाने वाली गायके लिये पाणीनिका एक सरस सूत्र है, 'समां-समां विजायते' जिसके अनुसार ऐसी गाय पुराने समयमें 'समासमीन' कहलाती थी। पतंजलिने लिखा है, कि; जो साल-सालकी बियानी हो, वह अच्छी गाय है, पर जो बरस- बियावर होते हुये हर बार बछिया दे, वह गाय और भी बढ़िया हुई।—

गौरियं या समां समां विजायते ।
गौतरेयं या समां समां विजायतेस्त्री वत्साच ।।
(भाष्य-५-३-५५)

गौ आजतक हमारी बोलियोंमें सीधेपनका उपमान है। 'गो है' यह बड़ा सार्थक वाक्य है । दुध्नेमें जो भली मानस हो, वह सहेज कहलाती है । वेदमें उसे सुदुधा कहते हैं। पृथ्वीकी प्रशंसामें एक जगह कहा गया है कि, वह हमारे लिये धन समृद्धिकी हजार धारायें ऐसे देती रहे, जैसे अचल भावसे बिना फड़फड़ाने वाली गाय :—

ध्रुवेव धेनुरन पस्फुरन्ती,

गायोंमें कपला गाय सबसे सीधी और निरीह मानी गई है। कपला वह गाय है, जिसके सींग कानोंके नीचे मुड़े रहते हैं, और डुगडुग हिलते हैं।

बैल भारतीय किसानके जन्मके साथी, और सखा रहे हैं। किसानके जीवनकी गाड़ी खींचने वाला बैल किसानके लिये ऐसा ही है, जैसा देहके लिये प्राण। 'जसहर चरिउ' के कर्ता पुष्प दंत कविने बैलकी प्रशंसामें ठीक ही कहा है—

विणु धवलेण शयडु
कि हल्लइ ।
विणु जीवण देह कि
चल्लइ ।

—धौलेके विना कहीं छकड़ा हिलता है ? जीवके विना कहीं देह चलती है ?

आषाढ़में पानी बरसनेके वाद खेतकी पहली फाड़ 'पाँसा' कहलाती है । असाढ़ीकी जुताईके लिये ही 'पाँसा' का उपाड़ शब्द है । 'पाँसाकी जुताई बड़ी कड़ी मानी गई है । तमाम जंगल एक साथ जुतायीमें आ जाता है, और कामकी मारामार रहती है । उस गाढ़े समयमें दो प्राणी हिम्मत नहीं हारते, या तो दधीचिकी हड्डीसे बने किसान या उनके बैल। उस समय बैलकी कमाईसे कृतज्ञ किसानका हृदय कह उठता है—"भैया गायके जाये कूँ बड़ी खुदायी है ।" बड़े बूढ़े कह गये हैं,—"गेहूँ कु बीस वाह ईख कूँ तीस" । यदि बैल न होते, तो कौन छाती फाड़-फाड़ कर खेतोंको असाढ़ीके लिये बीस-बीस, तीस-तीस बाहन देता कराल हल जब खड़े हुये चलते हैं, तब बैलों पर भारी जोर पड़ता है, पर फिर भी खेतोंमें खूंड़ खींच कर हलाई भरते हुए उनके 'पौरुख' नहीं थकते । ऐसे ही माघ पूसके जाड़ोंमें 'चरसिये' और 'कीलिये, किसान बैलोंके बलबूते पर कुओंको खेतोंमें उलीच कर रख देते हैं—

पर सच पूछिये, तो किसान जिससे रो देता है, वह गादर बैल है। जिसके पल्ले गादर पड़ जाय, वह भाग्यका पोचा है ।

वह किसान है पातर। जो बरदा राखै गादर।
ताखा भैंसा गादर बैल । नारी कुलच्छिन बालक छैल ।
इनसे वाचें चातुर लोग। राज छाड़िकें साधें योग ।

उसे राज छोड़कर योग साधना पड़ता है। जब गादरकी कृपासे खेती बाड़ी कुछ पूरी नहीं पड़ेगी, तव योग तो साधना ही हुआ। गादरकी माया अपरंपार है। किसान कितना ही चुस्त हो, गादर पल्ले पड़ जाय, तो 'घुरिया धाम' किये विना नहीं छोड़ता, किसानका सारा काम यह हो जाता है। गादरको आलस्यका अवतार ही समझिए—

इक दिन रहा अदिनका फेर।
तारा पर हम चरी अनेर॥
केहू बटोही हर-हर कीहा।
अस कै गिरे चेत नहीं रहा॥
चरवाहे पुपई लायन जाय।
घरसे गुसैंया खटिया लै आय॥
सात पाँच जन लिहेन उठाय।
लैगे गुलौरीमें दिहेन बहाय॥
आगि लागि हम भीतरहिं जरे।
जुआ देखिके नाहिन निकरे॥

—एक दिन तालके किनारे हम बेरोक टोक चर रहे थे। बदकिस्मतीसे किसी बटोही ने 'हर-हर' शब्द बोल दिया। हमने क्या समझा, कि हल आ गया। ऐसे गिरे, कि होश न रहा। चरवाहोंने 'पोई-पोई' करके बहुत हल्ला मचाया, तब घरसे मालिक खटिया ले आये, हमें लादकर घर ले गए, और गुड़गोईमें लिटा दिया। संयोगसे वहाँ आग लग गई। हम वहीं जल मरे, पर टससे-मस न हुए।

गादर बैलकी कामके प्रति जो मनोवृत्ति होती है, उसका चित्र उसीके शब्दोंमें सुनने लायक है—

छाती फटै खुर भर्राय। खरी बिनौराके मोरे।
डंडा चार बबुरके सहबै। राजा होय गोरुनमें रहबै॥

—हल हेंगा खींचनेसे छाती फटती है, खुर चिर जाते हैं। कौन खली, बिनौलेके लालचमें पड़कर झंझट मोल ले। भले ही बबूलके चार डंडेकी मार पड़े। अपनेरामको तो गोरुओंके बीचमें मस्त घूमने दो।

गौ के प्रति देशके प्राचीन भावोंको फिर हमें प्राप्त करना है। गौ के शतधार झरनेको राष्ट्रके नवोदयमें सहस्रधार बनाना होगा। कहते हैं वेदोंमें बहुत ऊँचा ज्ञान है, हो सकता है। पर उस साहित्यमें से जीवनके लिये आवश्यक यदि कुछ चुनना हो, तो एक सूक्त लेकर हम संतोष करेंगे, जिसमें भारतीय घरोंकी अधिष्ठात्री शाला देवीका ही रूप खड़ा किया है—

—हे गृहदेवी, जिस नींव पर तुम टिकी हो, वह घी से सींची गई है। उसीमें क्षेम भरा है। तुम्हारे उस रूपमें वीरोंका निवास है, जिनके शरीर कभी रिसते नहीं। हे शाला,

तुम गोमती हो, गोधन पर तुम टिकी हो। घी दूधकी सबल धार तुम्हारे मंगल-द्वारमें प्रवेश करती है। तुम वह कोठार हो, जिसकी छत ऊँची है, और जिसमें फटका पिछोरा अन्न भरा रहा है। हे देवी शाला, जिस दिन यहाँ छोटा कुमार आये, उसी दिन उसका भाई कूदता हुआ बछड़ा भी आये और उसके साथ आये संझाको पन्हाती हुई दुधार धेनु। हवा, पानी, धूप, गर्मी अपना-अपना चक्कर चलाती हुई इस घरके जीवनको ठीक रखती है। हवाओंमें जो गीलापन है, वह घी बनकर इसमें बरसता है, और हमारी खेतिहर भूमि, सब तरहके धान्यसे लहलहा उठती है।

हाँ इस घरमें हमारा तरुण कुमार गायके बछड़ेके साथ आयेगा और फेनिल दूधसे भरे गगरे, दहीके कलसोंके साथ आयेंगे। हे देवि, घी का पूर्ण कुम्भ यहाँ भरदो, जिसमें अमृतकी धार मिली हो। फिर घी का माट पीने वालोंके शरीर पर अमृतका पुचारा फेर दो। यक्ष्माका नाश करने वाले अमृतको हमारे इन घरोंमें पूरा ही उड़ेल दो।

इस गानके सुरमें घी-दूधकी लय है। जिन फूसके छप्परोंमें ढाई सौ पीढ़ी सौ-सौ वर्ष तक जीवित रहीं, वे क्षीर गंगाके तट पर बने थे, उनमें मनुष्यके तरुण कुमारोंके साथ गायोंके बछड़े भी जीवनके नव मंगलमें साझीदार थे, उनमें फेनिल दूधके माँट और दहीके हंडे गृहस्थकी बहंगीमें एक साथ लदते थे। पुर और जनपदोंमें पनपने वाले भारतीय जीवनके ये सच्चे चित्र थे। उनमें गौ का शतधार झरना झरता था। आज गौ-रूपी दुधिया झरनेकी घर-घर बाट देखी जा रही है।

●

परमानंद वाणी

विमल जस वृन्दावन के चन्द को।
कहा प्रकास सोम सूरज को सो मेरे गोविन्द को।
कहत जसोदा सखियन आगे वैभव आनंदकंद को।
खेलत फिरत गोप बालक संग ठाकुर 'परमानन्द' को ॥१॥

× × ×

प्रीति तो नन्द नन्दन सों कीजै।
संपति-विपति परे प्रतिपाले कृपा करै तौ जी जै।
परम उदार चतुर चिंतामनि सेवा सुमिरन माने।
चरन कमल की छाया राखे अंतरगति की जाने।
वेद-पुरान-भागवत भाखै कियो भक्त को भायो।
'परमानन्द' इन्द्र को वैभव विप्र सुदामा पायो ॥२॥

"उड़िया बाबाने जो कुछ कहा, उसे प्रमाणित कर दिखाया। उन्होंने प्रेमके द्वारा प्रेम-स्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लिया था। वे जब परमात्माके प्रेममें विभोर होकर समाधिस्थ हो जाते थे, तो जीवनमें ही 'मुक्त हो जाते थे-'उन्मुक्त'। वे सशरीर होते हुए भी सत्यदर्शी आत्मा थे-महाज्ञानी परमहंस थे।"

आत्म-द्रष्टा प्रवरसंत-उड़ियाबाबा

श्रीवासुदेव

गोपाष्टमीका दिन था। मैं रिक्शे पर बैठकर, वृन्दावनके संतोंके दर्शनार्थ निकला। पहले ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीके आश्रमकी ड्योढ़ी, फिर पागल बाबाका द्वार, फिर माँ आनन्दमयीकी चौखट, और फिर अनंत श्रीस्वामी अखंडानन्दजीका फाटक। मार्गमें ही दृष्टि पड़ी उड़ियाबाबाके आश्रम पर। कई वर्ष पूर्वकी स्मृतियाँ जाग उठीं। सन और मास क्या था, स्मरण नहीं। मैं उन दिनों प्रयागमें रहता था। अलीगढ़के अपने एक प्रकाशक मित्रके साथ पहले पहल उड़िया बाबाके आश्रममें गया, और उनके चरणोंका दर्शन कर आत्म-विभोर हो उठा था। चलनेको जब उद्यत हुआ, तो उन्होंने 'प्रसाद' लेकर जानेकी आज्ञा दी। उनके आश्रमका वह प्रसाद ! मोटे-मोटे लिहड़ और दाल। अद्भुत स्वाद था उस प्रसादमें। ऐसा लगा, मानों मोहनभोग ही हो। अब भी जब मेरी आन्तरिक वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं, तो मुझे वह दिन और उस दिनका 'प्रसाद' स्मरण हो आता है, और जब स्मरण हो आता है, तो उसके लिए मनमें कामना भी उत्पन्न हो उठती है। पर क्या वह फिर प्राप्त हो सकता है ?

उसके पश्चात् तो उड़ियाबाबाके कई बार दर्शन हुये। जब भी वृन्दाबन जाता था उनके आश्रममें जाकर 'रास' अवश्य देखता था। 'रास' देखनेके साथ ही साथ उनके दर्शनका सुयोग भी प्राप्त हो जाता था। जब तक 'रास' समाप्त न हो जाता, वे अपने आसन पर बैठे हुए दर्शकोंकी दृष्टियोंका केन्द्र बने रहते थे। उनके साथ ही साथ 'हरिया' बाबा भी बैठे हुये होते थे। 'रास' जब समाप्त होता, तो लोग इन दोनों प्रवर संतोंकी चरण-धूलि लेनेके लिए दौड़ पड़ते थे। उड़िया बाबा किसीको आशीर्वाद देते, किसीकी पीठ ठोंकते,

श्रौर किसीको देखकर मुसकुरा दिया करते थे। उन्हीं आशीर्वाद प्राप्त करने वालोंमें एक 'मैं' भी होता था। कितना सुख मिलता था उनके चरण स्पर्शसे ! उस सुख—उस महान् आनंदका चित्र शब्दोंसे श्राँका ही नहीं जा सकता।

उड़ियाबाबा उच्च कोटिके प्रवर संत थे। आधुनिक कालमें उन्होंने प्रेम और भक्तिको सिद्धि करके वैज्ञानिक जगतमें उसकी अखंडता और अमरताका चित्र अंकित किया था। उन्होंने प्रेम श्रौर भक्तिसे उस सत्यका साक्षात्कार किया था, जिसकी सत्ता विश्वके कण-कणमें समाविष्ट है। उनका कथन था, कि 'जगतमें जीवका श्रागमन केवल ईश्वरकी प्राप्तिके लिए ही हुश्रा करता है, प्रेम ही जीवका सहज स्वभाव है। यह हो नहीं सकता, कि जीवके भीतर प्रेमके लिए श्राकर्षण न हो। जीव जब श्रपने प्रेमके द्वारा प्रेम स्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है, तब 'प्रेम' की श्रोरसे उसकी संतृप्ति हो जाती है। प्रेम स्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेका एक मात्र साधन भजन है, 'केवल भजन है।' उड़िया बाबाने जो कुछ कहा, उसे प्रमाणित कर दिखाया। उन्होंने प्रेमके द्वारा-प्रेम स्वरूप परमात्माकोप्राप्त कर लिया था। वे जब परमात्माके प्रेममें विभोर होकर समाधिस्थ हो जाते थे, जीवनमें ही मुक्त हो जाते थे—उन्मुक्त। वे सशरीर होते हुये भी 'सत्यदर्शी' आत्मा थे महान् ज्ञानी परहंस थे।

उड़ियाबाबाका जन्म सं० १९३२ वि० में भाद्रपद मासकी कृष्ण श्रष्टमीकी रात में ठीक उसी समय हुश्रा था, जब उनके माता-पिता बड़े समारोहके साथ श्रीकृष्ण जन्मोत्सव मनानेमें संलग्न थे। उड़ियाबाबाके पिताका नाम श्रीवैद्यनाथ मिश्र, श्रौर माताका नाम श्रीमती लक्ष्मीदेवी था। उडियाबाबाके पूर्वज चैतन्य महाप्रभुके श्रनन्य प्रेमी श्रौर उड़ीसाके भगवद् भक्त नृपति महाराज गजपति प्रतापरुद्रकी गुरु-परम्परामें से थे। उनके पूर्वजोंमें श्रीकाशीनाथ मिश्र श्रपनी भागवद् भक्तिके लिए उड़ीसाके कोने-कोनेमें प्रसिद्ध थे। वे नंगे पांव चला करते थे, बैलगाड़ी या किसी भी जीवकी गाड़ी पर यात्रा करना उनकी दृष्टिमें श्रधर्म था। वे परम वैष्णव थे, पर जीवनके श्रंतिम दिनोंमें, उनका झुकाव शाक्त धर्म की श्रोर हो गया था। उड़ियाबाबाके माता-पिता श्रीकृष्ण भगवान्के श्रनन्य भक्त थे। श्रीकृष्ण भगवान्की भक्ति श्रौर प्रेम ही उनके माता-पिताके जीवनका एकमात्र श्रवलंब था।

उड़िया बाबाका बाल्यावस्थाका नाम श्रार्तत्राण मिश्र था। वे जब तीन दिनके थे, उसी समय उनकी माता महाप्रयाण कर गईं। श्रतः उनका पालन-पोषण उनकी चाची के द्वारा हुश्रा। उनकी चाचीने कभी बालक श्रार्तत्राणको मातृ स्नेहके श्रभावका श्रनुभव न होने दिया। बालक श्रार्तत्राणका हृदय सदैव उनके वात्सल्य स्नेहसे अभिषिक्त सा रहा करता था। बालक श्रार्तत्राण देखनेमें परम सुन्दर श्रौर विलक्षणसे जान पड़ते थे। उनकी आकृति पर, श्रौर नेत्रोंमें सदैव एक श्रनूठी गम्भीरतासी खेलती रहती थी। उनके स्पर्श मात्रसे एक श्रनुपम श्रानंद श्रौर रसकी अनुभूति होती थी।

उड़िया बाबाकी प्रारंभिक शिक्षा 'उड़िया' श्रौर संस्कृतमें हुई। पहले वे श्रपने घर पर ही पढ़ा करते थे, तत्पश्चात् मयूरभंजकी एक संस्कृत पाठशालामें भरती हुए। पर

कुछ दिनोंके पश्चात् ही वे 'वाल्यावेड़ा' चले गए, और राजा कृष्णचन्द्रके विद्यालयमें शिक्षा प्राप्त करने लगे। यहींसे उन्होंने काव्यतीर्थकी प्रामाणिक योग्यता प्राप्तकी। 'वाल्यावेड़ा' में ही एक ऐसी घटना घटी, जिससे आर्तत्राण मिश्रके जन्म जन्मान्तरके संस्कार जागृत हो उठे, और वे भगवद्-भक्तिकी ओर उन्मुख हो उठे।

राजाकृष्णचन्द्र परम वैष्णव थे। उन्होंने एक मन्दिरका निर्माण कराया था। मन्दिरका नाम था गोपीनाथजी का मन्दिर। मन्दिरके प्रांगणमें समय-समय पर भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ हुआ करती थीं। कार्तिक शुक्लपूर्णिमाका उत्सव चल रहा था। मन्दिरके प्रांगणमें लीलाका क्रम चल रहा था। एक दिन, रातमें जब लीला हो रही थी, तो लीलामें ब्रह्मा द्वारा गोप-वात्सापहरणका प्रसंग उपस्थित हुआ। इस अवसर पर भगवान् श्रीकृष्णके प्रगट हुए चमत्कारको देखकर, आर्तत्राण मिश्र, जो लीलाके दर्शकोंमें थे, आत्म-विभोर हो उठे। उन्हें अपनी सुध-बुध भी न रही। उन्हें ऐसा लगा, मानों भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाने उनके मन और प्राणोंको विजड़ित सा कर लिया हो।

वे वहाँसे लौटकर जब अपने निवास-स्थान पर गये, तो तीन दिन और तीन रात्रि तक बराबर उस लीलाका चिंतन करते रहे। परिणामतः उनके अंतरके द्वार खुल गये। उनके भीतर वह सत्य जाग उठा, जिसकी खोजके लिये उनका जन्म हुआ था। वे उस 'सत्य' को, उस परम 'ज्ञान'को प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो उठे, और पढ़ना-लिखना छोड़कर अपने घर चले गए। दिन रात चिंतन, और चिंतन! चिंतनसे जब मन पृथक होतातो साधु-सेवा और लोक-कल्याण सम्बन्धी कार्यों में जुट पड़ते। ईश्वरके विश्वास, प्रेम, और श्रद्धाने एक नहीं, चारों ओरसे उनके मनको घेर लिया। दिव्य शक्तियाँ चमत्कारोंके रूपमें भी उनके सामने आने लगीं। फलतः उनके मनमें विरक्तिका पौधा अंकुरित होने लगा।

इन्हीं दिनों उड़ीसामें चारों ओर अकाल मुँह फैलाकर दौड़ पड़ा। स्त्रियाँ, बच्चे और पुरुष अकालके मुँहमें जाने लगे। चारों ओर रोदन, चारों ओर हाहाकार। आर्तत्राणकी आत्मा तड़प उठी। वे दुखियोंके उद्धारके लिए, उन्हें अकालसे मुक्ति दिलानेके लिये एक धोती, लोटा और ग्यारह रुपये लेकर भगवती कामाख्या देवीके द्वार पर जा पहुँचे। वे दुखियोंकी करुण कथाएँ माँ को सुनानेके लिये मन्दिरके द्वार पर जम गये, और मंत्रानुष्ठान करने लगे। स्वप्नमें माँ का आविर्भाव हुआ। मां ने अपने आशीर्वादसे उन्हें कृतकृत्य कर दिया, उनकी कामनामें फल लगा दिया। इन्हीं दिनों उन्हें एक सिद्ध महात्माका दर्शन हुआ, जिनका नाम पूर्णगिरि था, और इन्हीं दिनों उन्हें शंकराचार्य कृत 'विवेक चूणामणि'की व्याख्याएँ भी सुननेका अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ।

इन संपूर्ण घटनाओंका आर्तत्राण मिश्रके ऊपर और भी अधिक प्रभाव पड़ा। उनके हृदयकी रही-सही आसक्तियाँ भी विनष्ट हो गई। वे पूर्णरूपसे घर छोड़कर निकल पड़े, और काशी जा पहुँचे। काशीमें मणिकर्णिकाके निकट, एक गुफामें रहकर जप-तप करने लगे। वे काशीमें जब तक रहे, बराबर जप-तप करते रहे। उनकी भाषा उड़िया

थी। अतः उन्हें कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता था। काशीमें उन्होंने कई दिन केवल जल पीकर व्यतीत किये थे, और कई रातें विना अन्न-जलके ही काट देनी पड़ी थीं। फिर भी वे आत्म-विभोर ही रहा करते थे। बाबा विश्वनाथ, और माँ अन्नपूर्णाका दर्शन उनका नित्यका नियम था।

काशीसे वे वैद्यनाथ धाम चले गए। वैद्यनाथ धाममें उनके मनमें सरस्वतीको सिद्ध करनेका विचार उत्पन्न हुआ, पर विराट् 'सत्य'के आकर्षणने उन्हें ऐसा न करने दिया। वे वैद्यनाथ धामसे अपने घर लौट गए, पर 'सत्य'के आकर्षणमें उलझा हुआ उनका मन घर पर भी न रमा। वे कुछ दिनों तक घर पर रह कर पुरी चले गए। पुरीमें उन्होंने गोवर्धन मठके तत्कालीन शंकराचार्य श्रीमधुसूदन तीर्थसे दीक्षा ग्रहण की। अब उनका नाम आर्तत्राण मिश्रसे चेतनानन्द हो गया। पर अब भी उन्हें संतृप्ति प्राप्त न हुई। दीक्षा लेनेके पश्चात् उनके भीतर ज्ञानकी प्यास और भी अधिक प्रबल हो उठी, और वे एक सिद्ध गुरुकी खोज में निकल पड़े।

पुरीसे चलकर वे 'बड़पेटा' पहुँचे। 'बड़ पेटा'में कालियाकान्तके सुप्रसिद्ध मन्दिरके महन्तकी सेवा करके, उन्होंने उनका उत्तराधिकार प्राप्त किया। वहीं उन्हें वाक्-सिद्धि भी प्राप्त हुई, और उनकी दूर-दूर तक ख्याति फैल गई। पर उन्हें अपनी यह सुख्याति खटकने लगी; क्योंकि उन्होंने जिस महासत्यके अन्वेषणका व्रत लिया था, उसकी पूर्णतामें इस सुख्यातिसे बाधा उपस्थित होने लगी। अतः उन्होंने 'बड़पेटा'के मन्दिरके उत्तराधिकारका 'पद' छोड़ दिया, और वे केवल पन्द्रह रुपये लेकर वहाँसे चल पड़े। वहाँसे चलकर पुरी पहुँचे। पुरीमें उन्होंने गोवर्धन मठके शंकराचार्यसे संन्यासकी दीक्षा ली। अब उनका नाम पूर्णानन्द तीर्थ हो गया। पर शनै. शनैः उनका यह नाम भी छूट गया, और वे उड़िया बाबाके नए नामसे चारों ओर विख्यात हो उठे।

संन्यास लेनेके पश्चात् 'उड़िया बाबा'ने नए जीवनमें पदार्पण किया। उन्होंने सत्यके अन्वेषणके लिए संपूर्ण देशकी यात्रा करनेका निश्चय किया। वे पुरीमें रेलगाड़ी पर सवार होकर काशीके लिए चल पड़े। उन्होंने काशीके लिए प्रस्थान करनेके पूर्व अपना दण्ड समुद्रमें फेंक दिया। पर वे रेलगाड़ीसे काशी न पहुँच सके। मार्गमें ही एक ऐसी घटना घटी, जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने आजीवन पैदल चलनेकी प्रतिज्ञा कर ली। बात यह है, कि जब वे पुरीसे चले, तो मार्गमें गाड़ी पर सो गए, जिससे गाड़ी बदल न सके, और छपरा जा पहुँचे। छपरामें उन्हें टिकट निरीक्षकने गाड़ीसे उतार दिया, और फिर पैदल ही चल कर वे काशी पहुँचे, और काशीसे चार मील दूर, एक गुफामें निवास करने लगे।

पाँच महीनेके पश्चात्, वे पैदल ही चलकर प्रयाग पहुँचे, और फिर गंगाके किनारे-किनारे आगे बढ़े। जब फतहपुर पहुँचे, तो सूर्य देवता अस्त हो चुके थे। सामने गंगाजीका स्वच्छ और शान्ति मय प्रवाह! उनका मन उस पुण्य प्रवाहको देखकर विभोर हो उठा, और उन्होंने निश्चय किया, कि अब वे गंगाजीकी अखंड शान्तिमयी गोदमें आत्मार्पण कर देंगे। वे आत्मार्पणके लिए उद्यत हुए ही थे, कि उनका अन्तर्जगत एक दिव्य प्रकाशसे आलोकित

हो उठा। उनके मन और और प्राणोंको, एक दिव्य चेतना ने जकड़-सा लिया। उनके पैरोंकी गति अवरुद्ध-सी हो उठी, और वे गंगाजीके उस शीतल तथा शान्तिप्रद प्रवाहकी ओर देखते रह गए—केवल देखते रह गए !!

अंधकार हो चला था। पास ही एक शिवालय था। उड़िया बाबाने धीरे-धीरे चलकर शिवालयमें प्रवेश किया। शिवालयमें उन्हें दो परम हंसोंके दर्शन हुए। निशाके अंधकारमें, उनका हृदय, भगवान् आशुतोषकी कृपासे, ज्ञान-ज्योतिसे आलोकित हो उठा। वे आत्मा और परमात्माके दिव्य स्वरूपको समझनेमें समर्थ बन गये। उन्होंने उस अभय पदका साक्षात्कार किया जो बड़े-बड़े योगियोंके लिए भी अत्यधिक दुर्लभ होता है। यद्यपि उन्हें अपने लक्ष्यकी प्राप्ति हो गई, पर फिर भी उन्होंने अपनी यात्रा अक्षुण्ण रक्खी। वे कानपुर, बिठूर होते हुए बरुआ घाट पहुँचे, और फिर फर्रुखाबाद होते हु', कासगंज पहुँचे। वहाँसे रामघाट गए। रामघाट और अनूप शहरके मध्यमें, गंगा-तटकी एकान्तता, और मनोहरताको देखकर उड़िया बाबाका मन विमुग्ध हो उठा, और उन्होंने वहीं रहकर भगवान्का भजन करनेका निश्चय किया।

फर्रुखाबाद और रामघाटके बीचमें कई ऐसी घटनाएँ घटीं, जो बड़ी चमत्कारिक हैं। एक दिन उड़िया बाबा फर्रुखाबादके आगे नहरके किनारे-किनारे चले जा रहे थे। उनका शरीर भूख-प्याससे अत्यंत शिथिल होता जा रहा था। जब उन्हें ऐसा लगने लगा, कि अब वे आगे नहीं बढ़ सकेंगे, तब उन्हें दो सुंदर बालक दिखाई पड़े। उन बालकोंने रोटी और केलेका साग लाकर उड़िया बाबाको दिया। उड़िया बाबाने उसे खाकर शक्ति ही नहीं प्राप्तकी, वरन् उससे उन्हें महान् आत्म-बोध भी प्राप्त हुआ।

उड़िया बाबा लगभग दस वर्षों तक, राम घाटके समीपवर्ती वनोंमें रहकर भगवान्का भजन करते रहे। इन्हीं दिनों हरि बाबासे भी उनका संपर्क हुआ। जब आस-पास उड़िया बाबाकी सिद्धता और उनके अन्तर्ज्ञानकी ख्याति अधिक फैल गई, तो उन्होंने वह स्थान भी छोड़ दिया। वे वहाँसे ऋषिकेश, और लक्ष्मण झूला गए। इस प्रकार वे कई वर्षों तक भागीरथीके तट पर भी विचरण करते रहे, और फिर वृन्दावन चले गए। वृन्दावनमें उन्होंने 'श्रीकृष्णाश्रम'की स्थापनाकी। उड़िया बाबा जब तक धरती पर रहे, उनका 'श्रीकृष्णाश्रम' भक्तों और प्रेमियोंके आकर्षणका केन्द्र बना रहा। आज भी 'श्रीकृष्णाश्रम'में पहुँचने पर भक्ति, और प्रेम साकार हो उठता है।

ॐ

"आज हमारे, तुम्हारे, और सबके जीवनके दुखका कारण यही है, कि हमने धर्मके साथ मित्रताका सम्बन्ध तोड़ लिया है। आज हम वेद, शास्त्र, पुराण, नीति, सत्य आदि सबसे मुँह मोड़कर चल रहे हैं। इसका परिणाम हमारी आंखोंके सामने ही है—दुख, निराशा, और अकाल। अब भी यदि हम धर्मको अपना मित्र मान लें तो निश्चय है, कि छाई हुई कुहा फट जाएगी।"

हमारा अनन्य मित्र—धर्म

श्रीप्रियव्रत

हम जबसे होश सँभालते हैं, किसी ऐसे मित्रकी खोजमें संलग्न हो जाते हैं, जो दुख-सुखमें हमारा सचाईसे साथ दे सके। हम अपने जीवनमें कितने ही लोगोंको अपना मित्र बनाते हैं, और कितने ही पुराने मित्रोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद भी कर लेते हैं। नए मित्रोंको खोजने, और पुराने मित्रोंसे सम्बन्ध तोड़नेके व्यापारमें ही हमारे जीवनका दिन शेष हो जाता है। पर हमारे भीतर नए मित्रोंको खोजने और पानेकी स्पृहा बनी ही रहती है।

अवश्य, मित्रोंको खोजने, और उन्हें परखनेका हमारा मापदंड अज्ञानतामूलक है। हम अपनी जिन इच्छाओं और वासनाओंकी पूर्तिके लिए मित्रोंको खोजते हैं, यदि देखा जाए तो वे ही हमारी स्वार्थमूलक वासनाएँ अनन्य मित्रकी प्राप्तिके मार्गमें शिलाकी दीवाल खड़ी करती हैं। क्या हमें कभी ऐसा कोई मित्र प्राप्त हो सकता है, जो हमारी संपूर्ण भौतिक वासनाओंकी पूर्तिके लिए अपनेको लचा सकता हो अथवा अपनी आत्माहुति दे सकता हो!!

हमें ऐसा मित्र प्राप्त करनेके लिए सर्वप्रथम अपनेको दूसरोंके लिए लचाना पड़ेगा—सर्वप्रथम दूसरोंके लिए अपनी आहुति देनी पड़ेगी। यदि हम अपने जीवनके क्षणोंका उपयोग दूसरोंके कल्याण और सुखके लिए करनेको तैयार रहें, तो निश्चय हमें एक ऐसे अनन्य मित्र और सहचरकी प्राप्ति हो सकेगी, जो न केवल हमारे ऐश्वर्य-वृद्धिमें ही सहायक होगा, वरन् निराशाके अंधकारमें भी हमारे लिए आशाका-प्रकाशका स्तम्भ ही होगा। वस्तुतः वह हमारा अनन्य मित्र होगा, अनन्य सहचर होगा। ऐसे एक मित्रको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् हमारी वह स्पृहा भी शान्त हो जाएगी, जो अनन्य मित्रकी प्राप्तिके लिए हमारे मनमें उत्पन्न होती है, और उत्पन्न होकर उसे व्याकुल बनाती रहती है।

पर वह हमारा मित्र कौन होगा ? क्या कोई मनुष्य ? नहीं, निम्नांकित पंक्तियोंमें उस मित्रका चित्रण बड़ी सुन्दरताके साथ किया गया है:—

धनानि भूमौ पशवो हि गोष्ठे,
नारी गृह द्वारि सखा श्मशाने ।
देहश्चितायां पर लोक मार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

—मनुष्यके शरीर छोड़ने पर उसका संचित धन भूमिमें, या तिजोरीमें ही पड़ा रह जाता है। पशु पशुशालामें ही बँधे रह जाते हैं। प्राण-वल्लभा सहधर्मिणी, केवल गृह-द्वार तक ही साथ देती है। मित्र तथा बंधुगण श्मशान तक साथ देते हैं। कुटुम्बी और पालित तथा पोषित लोग चिता तक साथ देते हैं। किन्तु परलोक मार्गमें तो केवल धर्म ही साथ देता है।

वस्तुतः धर्म ही मनुष्यका सच्चा मित्र होता है। यदि मनुष्य सच्चे हृदयसे धर्मसे मित्रताका सम्बन्ध स्थापित करता है, तो धर्म भी आदिसे लेकर अंततक उसका साथ देता है। दुखमें, निराशाओंके अंधकारमें, धर्म ही है, जो मनुष्यका हाथ पकड़ता है, और उसे फिर प्रकाशमें लाता है। धर्म केवल मनुष्यकी परलोक संबंधी कामनाओंकी ही पूर्ति नहीं करता वरन् वह लौकिक मार्गोंको भी प्रशस्त करता है। 'नारायण उपनिषद्'में उपनिषद्कार ने धर्मकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।" अर्थात् धर्म ही संपूर्ण जगतका आधार है। जब धर्म संपूर्ण विश्वका आधार है, तो इस कथन में क्या आश्चर्य कि धर्म ही है, जो मनुष्यके जीवनका कर्णधार है।

धर्म ही है, जो भगवान्को सबसे अधिक प्रिय होता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—"यदा यदाहि धर्मस्य··· ।" गीताके इस वचनके अनुसार धर्मका ह्रास होने पर, उसके उत्थानके लिए स्वयं भगवान् अवतार लेते हैं। जब धर्मके लिये स्वयं भगवान् ही अवतार लेते हैं, तो फिर उस मनुष्य पर भगवान्की कितनी कृपा होती होगी, जिसने धर्मसे मित्रताका संबंध स्थापित किया है। संस्कृतमें एक कविने धर्मके स्तवनमें बड़े अमूल्य भाव सँजोए हैं। निम्नांकित पंक्तियोंमें उन भावोंका हिन्दी अर्थ—चित्र देखिए :—"संसारमें जिनका अस्तित्व है, जो अपने अस्तित्वमें सुशोभित हैं, उनमें जो सत्ता रूपसे प्रकाशित होता है, चेतनोंमें चैतन्य रूपसे शोभा पाता है, तथा आनन्दकी अनुभूति करने वालोंमें अमन्द आनन्द बनकर छा रहा है, वह धर्म साक्षात् नन्दनन्दनका रूप है। मैं उन धर्म देवताको सादर प्रणाम करता हूँ, जो अपना रक्षण या पालन किये जाने पर समस्त जीवोंकी रक्षा करता है, अपनेको क्षति पहुँचायी जाने पर उन क्षति पहुँचाने वालोंको क्षीण कर देता है, तथा अपने ऊपर आघात होने पर उन धर्म-द्रोहियोंका भी सर्वनाश कर डालता है, जिसके बिना कहीं कोई भी वस्तु टिक नहीं सकती, वह धर्म साक्षात् भगवान् है। सबको धारण करनेवाले उन भगवान् धर्मकी सदा ही विजय होती है। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका मूल है, परलोकमें गए हुए जीवका जो एक मात्र बन्धु है, जो अपना सेवन किए जाने पर सेवकके लिए मंगलमय फल प्रदान करता है, तथा जो सब ओरसे रक्षा करने वाला अमोघ उत्तम कवच है, उस धर्मका मैं वरण करता हूँ। जिनका आश्रय लेकर ही ब्रह्मा जी इस सारे

जगतकी सृष्टि करते हैं, जिनके बलसे ही विष्णु भगवान् सम्पूर्ण विश्वका भरण-पोषण करते हैं, तथा महादेवजी जिनकी शक्तिसे ही मृत्यु पर विजय पाकर समस्त संसारके संहार-कार्यमें समर्थ होते हैं, उन पूज्यपाद धर्म देवताकी मैं शरण लेता हूँ। पृथ्वी पर जिसकी स्थापना और रक्षाके लिए ही भगवान् श्रीहरि लोकमें नाना प्रकारके अवतार धारण करते, भूतलका भार उतारते, तथा दुष्ट दलका दलन करके साधु जनोंकी रक्षा करते हैं, उस धर्मकी सदा जय हो। भूतल पर धर्म ही धान्यकी वृद्धि करता, अनाजकी उपज बढ़ाता, धनकी प्राप्ति कराता, मनको प्रिय लगने वाले अभीष्ट पदार्थोंको प्रस्तुत करता, दुर्भिक्ष मिटाकर सुभिक्ष लाता, दुश्चिन्ताएँ दूर करता, और समस्त रोग-व्याधियोंको शान्त कर देता है। धर्मात्मा वीर पुरुष ही प्राण देकर भी अपने राष्ट्रकी रक्षा करना चाहता है, और युद्धके मुहाने पर सोत्साह आगे बढ़ता है, वह युद्धसे कभी मुँह नहीं मोड़ता, और मृत्युको गले लगाकर भी कीर्तिका ही वरण करता है, अतः सब लोगोंको धर्मका ही सेवन करना चाहिए। जो उत्साह शौर्य, धृति, दक्षता, और सत्य—इन उत्तम गुणोंकी प्राप्ति कराता, समस्तबाधाओंको दूर हटाता, मृत्यु भयका भेदन करता, और युद्धसे पीछे न हटनेका भाव जगाता है, उस धर्मकी शरण लो।" ऐसे परम प्रेय, और श्रेय धर्मसे जिस मनुष्य ने प्रीति जोड़ ली है, उसे इह-लोक, परलोक—किसी लोकमें भी क्या दुःख प्राप्त हो सकता है ?

युधिष्ठिरकी धर्म-मित्रताका दृष्टान्त आदर्श है। पाण्डवों पर क्या नहीं बीती ? युधिष्ठिरकी धर्म-प्रियताके ही कारण उनकी सर्वत्र विजय हुई। वनमें, रणमें, जलमें, अग्निमें-सर्वत्र युधिष्ठिरके धर्म-मित्रने ही पाण्डवोंकी रक्षा की। स्वर्गारोहणके समय भी धर्म-मित्र ही, स्वानके रूपमें युधिष्ठिरके साथ-साथ लगा रहा। युधिष्ठिरके सभी बन्धु द्रोपदी सहित एक-एक करके वर्फमें गिर पड़े, पर युधिष्ठिर धर्म की शक्तिसे स्वर्गकी ओर बढ़ते गए, और बढ़ते गए। युधिष्ठिर प्रथम महामानव थे, और हैं, जिन्होंने अपने धर्म मित्रकी सहायतासे पैदल सशरीर स्वर्ग गमन किया। स्वर्गका विमान जब उनके सामने उपस्थित हुआ, उस समय भी उन्होंने अपने साथी श्वानके ही कल्याणकी चिंता की। उन्होंने स्वर्ग जाना अस्वीकार कर दिया, पर अपने साथी श्वानको, जो उनके पीछे-पीछे वर्फमें चल रहा था, छोड़ना उन्हें स्वीकार न हुआ। पर वह श्वान तो श्वान नहीं, वह तो उनका धर्म मित्र था, जो परलोकके मार्गमें भी उनका साथ दे रहा था। युधिष्ठिरके त्याग और प्रगाढ़ मैत्री को देखकर धर्म भी प्रभावित हो उठा, और उसने अपने अनन्य मित्र युधिष्ठिरको वास्तविक स्वरूपका दर्शन देकर उन्हें सदाके लिये कृत-कृत्य कर दिया। युधिष्ठिरके वे वाक्य, जो उन्होंने श्वानकी रक्षाके लिये इन्द्रसे कहे थे, आज भी उनकी धर्म-मित्रताकी घोषणा कर रहे हैं—

भीतं भक्तं ते भक्त नान्यदस्तीर्त चार्ति,
प्राप्तां क्षीणं रक्षणे प्राण लिप्सुम्।
प्राणा त्यागाद प्यहं हे नैव मोक्तं,
यतैयं वै नित्यमेदत् व्रतं मे ॥

—भयभीत भक्त, जिसे किसी अन्यका आश्रय न हो, निर्बलताके कारण शरणमें आकर अपने प्राणोंकी रक्षा चाहता है, ऐसे शरणागतकी रक्षा अपने प्राणोंका उत्सर्ग करके भी करना चाहूँगा, ऐसा मेरा परम व्रत है।

अब प्रश्न यह है, कि धर्मसे मित्रता किस प्रकारकी जाए। यद्यपि युधिष्ठिरके उक्त वाक्यमें धर्मसे मित्रताका सार छिपा हुआ है, फिर भी धर्मकी मित्रताके लिए निम्नांकित पंक्तियां अधिक सहायक हो सकती हैं—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवाव धार्यताम ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत ।।

—धर्मकी मित्रताके लिये अपने प्रतिकूल आचरणका दूसरोंके लिये प्रयोग नहीं करना चाहिए, अर्थात् दूसरोंके लिए वही व्यवहार करना चाहिए, जो स्वयं हम अपने लिए चाहते हैं।

आज हमारे तुम्हारे, और सबके जीवनके दुःखका कारण यही है, कि हमने धर्मके साथ मित्रताका संबंध तोड़ लिया है। आज हम वेद, शास्त्र, पुराण, नीति, सत्य आदि सबसे मुँह मोड़कर चल रहे हैं, इसका परिणाम हमारी आँखोंके सामने ही है दुःख, निराशा, और अकाल ? अब भी यदि हम धर्मको अपना मित्र बनालें, तो निश्चय है, कि छाई हुई कुहा फट जाएगी, और आगे बढ़नेके लिए हमें प्रकाश-प्रशस्त पथ मिल जाएगा मिलजाएगा।

प्रयाण गीत

[१]
प्यार करो मत कोई मुझको,
मैं मंजिल का राही।
जाने छोड़ चला कब जाऊँ,
होगी बड़ी तबाही।

[२]
जंजीरे कानून कड़ी हैं,
मैं हूँ एक सिपाही।
जाने कब फरमान मिले रे,
मुझको शाहं शाही।।

[३]
रोक सकेंगी नहीं किसी की,
मुझको प्रीति दीवारें।
बाँध सकेंगी नहीं किसीकी,
कोटि कोटि मनुहारें।

[४]
गीली पलकें व्यर्थ बनेंगी,
व्यर्थ अश्रु की धारें।
व्यर्थ बनेगी सारी हिय की
सकरुण करुण पुकारें।

[५]
रोक सकेगा नहीं मुझे,
शृङ्गार किसी के तन का।
बाँध सकेगा नहीं मुझे,
उपहार किसी के मन का।

[६]
रुकने को हैं चरण नहीं,
चाटुन देख कर धन का।
बँधने को मन नहीं हमारा,
प्रीति देख जन-जन का।।

[६]
होगा जब आह्वान हमारा,
छोड़ चला जाऊँगा।
बिना मोह के नाते-रिश्ते,
तोड़े चला जाऊंगा।।

[८]
चाव भरी आँखों से भी,
मुँह मोड़ चला जाऊँगा।
बाँध सकेगा मुझे न कोई;
तोड़ चला जाऊंगा।

"थाईलैण्डमें 'राधाकृष्ण' के शुभागमन पर किसी भव्य समारोह का आयोजन किया जाना, तथा राजगुरु जैसे विशिष्ट व्यक्ति द्वारा उन्हें अपने मन्दिरके लिए स्वीकार किया जाना, निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।"

भारतके राधाकृष्ण—थाईलैंडमें

श्रीलल्लनप्रसाद व्यास

थाईलैंडकी राजधानी बैंकाकमें भारत और थाईलैंडके युगों पुराने सांस्कृतिक संबंधोंके इतिहासमें शायद एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ उस समय जुड़ा, जब विगत ६ मार्च ६६ को स्थानीय संस्था 'थाई-भारत कल्चरल लाज' और उसके यशस्वी संचालक पं० रघुनाथ शर्माके सहयोगसे आयोजित एक समारोहमें प्राच्य संस्कृति परिषद् (काउन्सिल फार कल्चरल रिलेशन्स इन ईस्ट)ने थाईलैंडके राजगुरु, वामदेव मुनिको राधाकृष्णकी दो सुन्दर संगमरमर की मूर्तियाँ भेंट कीं। यह कार्यक्रम अभूतपूर्व इस दृष्टिसे था, कि बौद्धदेश थाईलैंडमें राम, विष्णु, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, इन्द्र, गणेश, गरुड़, सीता, लक्ष्मी, उमा आदि भारतीय देवी-देवताओंका प्रवेश तो बहुत पहले हो चुका था, तथा यहाँके धार्मिक एवं साहित्यिक ग्रन्थोंमें इनकी चर्चा भी है, किन्तु राधाकृष्ण यहाँके लिए सुपरिचित नहीं। अतएव थाईलैंडमें राधाकृष्णके शुभागमन पर किसी भव्य समारोहका आयोजन किया जाना तथा राजगुरु जैसे विशिष्ट व्यक्ति द्वारा उन्हें अपने मन्दिरके लिए स्वीकार किया जाना, निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

इस घटनाका महत्त्व इस संदर्भमें और भी बढ़ जाता है; क्योंकि थाई राजगुरु मूलतः हिन्दू ब्राह्मण ही हैं, और उनके पूर्वज लगभग एक हज र वर्ष पूर्व भारतसे ही वहाँ गए थे। यद्यपि इस देशमें हिन्दू धर्म, जिसे ब्राह्मण धर्म भी कहते हैं, प्रायः लुप्त हो चुका है; किन्तु यहाँके धार्मिक और सामाजिक जीवनमें प्रचलित कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परम्पराएँ आज भी हिन्दू हैं। राजगुरु आज भी धोती पहनते हैं, यज्ञोपवीत धारण करते हैं तथा सिर पर शिखा रखते हैं। बैंकाक स्थित इनके प्रमुख मन्दिरमें, जिसे 'देवस्थान' भी कहते हैं, बुद्धदेवकी मूर्तिके साथ-साथ विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, उमा, लक्ष्मी आदिकी भी मूर्तियाँ हैं। राजगुरुको नरेशका सम्मान, और संरक्षण प्राप्त होता है तथा उनकी जीविका भी राजवृत्तिसे

ही चलती है। नरेश द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले अनेक समारोहों अथवा विधि-विधानोंके समय राजगुरुकी अपनी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

वैसे तो राजगुरुकी परम्परा इस देशमें बहुत पुरानी है, किन्तु इनकी ओर यहांके बसने वाले प्रवासी भारतीयोंका कोई विशेष ध्यान नहीं गया। बस, उनके बारेमें जानकारी ही रही। सौभाग्यसे बैंकाकमें बसने वाली एक कर्मठ और भावनाशील भारतीय महिला, श्रीमती कृष्णा पावाका इनकी ओर विशेष ध्यान आकर्षित हुआ तथा उनके ही माध्यमसे राजगुरुका सम्पर्क भारतके कुछ प्रमुख विद्वानोंसे हुआ। प्राच्य संस्कृति परिषद् भी श्रीमती पावाका विशेप आभार मानता रहा है, क्योंकि राधाकृष्णकी मूर्ति-समर्पणकी भूमिका उन्होंने ही तैयारकी थी, और इसके लिए सर्वप्रथम राजगुरुको सहमत भी उन्होंने ही किया।

किन्तु कार्यक्रमको गरिमा मुख्यरूपसे प्राप्त इसलिए हुई, कि थाईवासी और भारत-वासियोंकी सबसे महत्वपूर्ण संस्था 'थाईभारत कल्चरल लाजने' इसमें सहयोग प्रदान किया और अपने ही विशाल भवनमें इसकी व्यवस्थाकी। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह थी, कि थाईलैंडके शिखरके बौद्धमतावलम्बी विद्वान, फया अनुमानि राजधोनने समारोह की अध्यक्षताकी। इन्होंने अपने अत्यन्त प्रभावी भाषणमें यही कहा, कि भारत सदियोंसे विश्वको एक महान तत्वज्ञान देनेमें समर्थ रहा, और आज भी है तथा हिन्दू धर्ममें मानवको सर्वोच्च आत्मिक उपलब्धियोंको प्रदान करनेकी व्यवस्था है। उन्होंने यह भी कहा कि भारतीय लोग दार्शनिकताके उच्चतम विन्दुको स्पर्श करनेमें सक्षम हैं।

अध्यक्षश्री अनुमानि श्रीराजधोनने प्राच्य संस्कृति परिषद्के कार्यक्रमोंकी बड़ी सहारना की, जिनका उद्देश्य पूर्व एशियाके देशोंमें समान सांस्कृतिक मूल्यों, और आदर्शोंके आधार पर एक सांस्कृतिक कड़ीका निर्माण करना है। श्री राजधोनने, जो थाई-भारतके कल्चरल लाजके प्रधान भी हैं, इच्छा व्यक्तकी कि थाईलैंडमें दोनों संस्थाओंके बीच अधिकतम सहयोग होना चाहिए। चूंकि प्राच्य संस्कृति परिषद की ओरसे आयोजित होने वाला यह अपने ढंगका दूसरा कार्यक्रम था, अतएव वे परिषद्की गतिविधियोंसे विशेषरूपसे परिचित थे। इसके पूर्व १५ फरवरी १९६६ को लखनऊ स्थित राजभवनमें राज्यपाल, श्रीविश्वनाथदासकी अध्यक्षतामें एक कार्यक्रम आयोजित हुआ था, जिसमें थाई रामायण "रामाकियेन" का सेट भारतीय भाषाओंमें अनुवाद हेतु तुलसी स्मारक समिति उ. प्र. को सौंपा गया था। इस समारोहमें थाईलैंडके राजदूत, श्रीचित्ति सुचरितकुल विशेष अतिथि के रूपमें उपस्थित थे। इन दोनों कार्यक्रमोंकी भारत तथा थाईलैंडके समाचार पत्रोंमें पर्याप्त चर्चा रही।

थाई राजगुरुफ्रा वामदेव मुनिने राधाकृष्णकी मूर्तियाँ स्वीकार करते हुए इस बातके लिए विशेष प्रसन्नता व्यक्तकी कि इस कार्यक्रमसे दोनों देशोंके सांस्कृतिक संबंध सुदृढ़ होंगे। उन्होंने भारतसे अधिकाधिक सांस्कृतिक सहयोग पर बल दिया।

लाजके संचालक पं० रघुनाथ शर्मा और मानव कल्याण यज्ञके प्रवर्तक पं० विद्याधर शुल्कने भी इस अवसर पर प्रेरक उद्‌बोधन किया, जिसमें भारत और थाईलैंडके अनेक विद्वान तथा जापान, सिंगापुर आदिके भी प्रवासी भारतीय उपस्थित थे।

"हृदयको स्पंदित करके रसका आस्वादन कराने वाला तत्त्व भाव तत्व ही है। इसकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है। आध्यात्मिक साधनामें इसी पर आधारित साधना ही भक्ति है। भाव-साम्राज्यमें जाकर भक्त न जाने कितने अगणित संबंधोंको अपने, और भगवान्के बीच स्थापित कर लेता है।"

आंध्रके भक्त कवि रामदास

डा० के० रामनाथन् एम. ए., पी. एच. डी.

आँध्र प्रदेशके गाँव-गाँव और शहर-शहरमें प्राय: श्रीरामजीके मंदिर दिखाई पड़ते हैं। श्रीरामनवमीके नवरात्रियोंके शुभ अवसरपर ऐसा कोई राम मंदिर मिलना कठिन है, जहाँ रामदासके कीर्त्तनोंका गायन या भजन न होता हो। इसी पुण्य पर्वके अवसर पर देशके सुदूर प्रांतोंसे भक्त लोग भजन करते हुए प्रसिद्ध पुण्य क्षेत्र भद्राचलम् जाते हैं और भक्तरामदासके निर्मित कराये हुए श्रीराममंदिरमें पधारकर भगवान् श्रीरामजीका दर्शन और सेवा करके कृतकत्य हो जाते हैं। नामदेव, कबीरदास, सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास, चैतन्यदेव, पुरंदरदास, अन्नमाचारी, त्यागराजस्वामी, आंडाल आदि इने गिने भक्ताग्रसरोंमें रामदासका नाम आता है। इन महानुभावका असली नाम "कंचले गोपन्न" था। इनका जीवन काल ई० १६२० से १६८० तक माना जाता है।

"रामदास चरित्रमु" नामक ग्रंथसे रामदासजीके जीवनके संबंधमें पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रामदासजी जन्मत: रामभक्त थे। जब वे रामायण पढ़ते थे, तब उन्हें दु:ख इस बातका होता था, कि श्रीरामजीके अवतारके समयमें इनका जन्म न होकर अब क्यों हुआ? उक्त ग्रंथमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि कबीरदासजी दक्षिणकी यात्रा करते-करते रामदासके गाँवमें पहुँच गये, और राममंत्र देकर उन्हें रामभक्ति में दीक्षित कराया। ऐतिहासिक दृष्टि से उस कालमें कबीरदासजीका दक्षिणमें जाना संभव नहीं दीखता। इसलिये इस कबीरको उत्तर भारतके निर्गुण संप्रदायके प्रवक्ता कबीरदासजीसे अलग माना जा सकता है। जो भी हो, जब रामदासको गुरुमुखसे राममंत्र प्राप्त हुआ, वे आनंद-विभोर होकर "तारकमंत्रमु कोरिन दारिकुनु धन्युडनयितिनि वोरन्ना" कहते हुए कीर्त्तन गाने लगे। बचपनसे ही हरिदासों की सेवामें अपना समस्त ऐश्वर्य लुटानेमें उन्हें बहुत आनंद होता था। ये सहज-सरल जीवन

व्यतीत करते थे। उस समय गोलकुंडाकी राजधानी हैदराबादमें तनीषा नामक मुसलमान राजाका शासन था। हैदराबादसे कुछ मील दूरी पर, एक पहाड़ पर इस राजाका जो बहुत मज़बूत किला है, वह खँडहरके रूप में आज भी है। इसी किलेके भीतर एक अँधेरे कमरेमें १२ वर्ष तक रामदास कैद में रहे थे। आजकल यह किला यात्रियोंके आकर्षणका केन्द्र बना हुआ है। तनीषाके दरबारमें रामदासके दो मामा थे। उनकी सहायतासे रामदास तनीषाके द्वारा भद्राचलम् तालूकके तहसीलदार नियुक्त किये गये। जिस करके रूपमें धन वसूल कर खजानेमें उन्होंने जमा किया था, उसमेंसे छः लाख मुद्राओंको उन्होंने भद्राचलम् में श्रीरामजीके मंदिरके निर्माणके लिए खर्च कर डाला। यह बात जानकर तनीषाने सरकारी पैसेको तुरंत भिजवानेकी ताकीद दी। रामदास पर राज-द्रव्यके अपहरणका जुर्म लगाया गया। वे तनीषाके क़िलेकी एक कोठरीमें बन्द किए गए, और उन्हें हर रोज कठोरसे कठोर दंड दिया जाने लगा। इस दशामें भी रामदासका श्रीरामके प्रति विश्वास अडिग रहा। अंतमें जीवनसे ऊबकर विषपानके लिए वे कृत-निश्चित् हो गये। श्रीराम और लक्ष्मण रामदासके सेवकोंके रूपमें तनीषाके अंतःपुरमें प्रगट हुऐ, और रामदासकी ओर से छः लाख रुपये उन्हें देकर उनसे रसीद ले ली। फिर श्रीराम तनीषाके रूपमें प्रगट होकर वह रसीद रामदासको देकर अंतर्धान हो गये। इस बीचमें लक्ष्मणने सर्पका वेष धारण करके विष-पात्रको मिट्टीमें ढकेल दिया। तनीषाकी आँखें खुल गईं, तुरंत श्रीरामदास को क़ैदसे मुक्त कराया, और उन्हें सलाम करते हुए बहुत ही पश्चाताप प्रगट किया। अंतमें भगवान् श्रीराम से अभिभूत होकर तनीषाने भद्राचलम् प्रांत उन्हींको समर्पित किया। इसके प्रमाणमें एक रसीद रामदासको देकर भगवान्से प्राप्त समस्त धन रामदासको लौटाकर वे विदा हो गए।

कीर्तनोंके अतिरिक्त रामदासजीने "दाशरथि" नामक एक शतककी रचना की है। रामदासके लगभग १०० कीर्त्तन ही देखने को मिलते हैं। इनके कीर्त्तन पांडित्य-प्रदर्शन से रहित होकर, सरल-स्पष्ट लयान्वित हैं। उनमेंसे भावस्फुरण भी मार्मिक होता है। रामदासका उद्देश्य पांडित्य-प्रकर्ष नहीं था। संगीत उनकी भक्ति साधनाका केवल एक उपकरण मात्र था। इनके कीर्त्तन सहज भक्तिभावावेश और तन्मयताके कारण अप्रयत्न रूप से फूट पड़े हैं। इसीलिए एक ही साथ समवेत स्वरमें गाए जाने पर भी इन गीतोंमें मिठास और भी निखर आता है। भजनगोष्ठियोंमें रामदासके कीर्त्तनोंके बाद ही शेष कीर्तनोंका स्थान है। आंध्रमें आनंद और विरागको सर्वप्रथम प्रयोग करनेका गौरव इन्हीं को है। पुत्र-मरण होने पर रामदाससे गाया हुआ 'कोदंड रामा" वाला कीर्त्तन भजन-गोष्टियोंमें आनंद और विरागमें गाया जाता है। प्राससे युक्त यह कीर्त्तन सुनकर श्रोताओंके शरीर भावावेगसे कंपित हो जाते हैं। इस गीतसे श्रीरामजीका हृदय पिघल गया, और उन्होंने उनके पुत्रको प्राणदान दिया। रामदासने संस्कृतमें भी सफल रूपसे पाँच-छः कीर्त्तनोंकी रचना की। यह कीर्त्तन सुन लीजिए:—

भजरे श्रीरामं हे मानस भजरे रघुराम्।
भजरघुरामम् मंडनभीमम् रजनिचरौघविरामम् रामम् भजरे॥

इनके कीर्तनोंमें यत्र-तत्र संस्कृत समास प्रयुक्त होने पर इनकी शैली सर्व-जन सुबोध द्राक्षा-पक में रहती है।

हृदयको स्पंदित करके रसका आस्वादन करानेवाला तत्व भावतत्व ही है। इसकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है। आध्यात्मिक साधनामें इसीपर आधारित साधना ही भक्ति है। भाव साम्राज्यमें जाकर भक्त न जाने कितने अगणित संबंधोंको अपने और भगवान्के बीच स्थापित कर लेता है। रामदासके लिये माँ-बाप, दाता, रक्षक और सब कुछ भगवान् श्रीराम ही हैं। अपने घटमें अगणित लोकोंका सृजन करके, चराचर जीव कोटियोंको पिता सदृश रक्षा करने वाले करुणासागर भगवान् श्रीरामजीसे वे, कभी अपने को उनके पुत्र मानकर रक्षा करनेकी प्रार्थना करते हैं। स्पष्ट है, इनका श्रीराम केवल दशरथसुत नहीं है, ये समस्त लोकोंमें व्याप्त हैं, और इनमें ही सारे लोक अधिष्ठित हैं, ऐसा कोई रूप नहीं है, जो उनका न हो। जब भक्त को यह ज्ञात होता है, भगवान् कोटि-कोटि ब्रह्मांडोंके नायक और परम पवित्र हैं, तब वह भगवान्के उस ऐश्वर्यके सामने अपने को सब प्रकारसे हीनातिहीन अनुभव करने लगता है, और कैंकर्यभावसे अपनेको उस पर न्यौछावर करने लगता है। रामदासने समस्त पापियोंमें अपनेको सबसे बड़ा स्वीकार करके भगवान्से यह प्रार्थनाकी इस पापीकी रक्षा करनेमें ही तेरा बड़प्पन है। भगवान्से उनका निवेदन है, भवसागरको पार करनेकी मुझमें शक्ति कहाँ? आश्रितजनपोषक, भक्तवरद, कारूण्यालय भगवान् अब मुझे तेरी कृपाका ही एक मात्र भरोसा है। हे राम! मेरे क्रूर कर्मोंकी गिनती आप मत कीजिये—

> एतीरुगननुदयचूचुदवो यिनवंशोत्तमरामा।
> नातरमा भवसागरमीदनु नलिनद लेक्षणरामा॥
> क्रूर कर्ममुलु नेरक चेसिति नेरमुलुचकु रामा।
> दारिद्रयमु परिहारमुचेयवु, दैवशिखामणि रामा॥

वे श्रीरामसे प्रार्थना करते हैं, बहुदुःखरूपी उद्दंड तरंगोंके झोंकोंसे युक्त असंख्य जन्म-कर्म रूपी दुस्तर सागरमें तैरनेकी शक्ति मुझमें कहाँ? तुम्हारी चरणभक्ति रूपी नावका ही मुझे एकमात्र भरोसा है:—

> अगणित जन्मकर्म दुरितांबुधिलों बहुदुःख वीचिकल्।
> बुगवडि नीदलेक जगतीधवनीपदभक्ति नावचे॥
> दगिलि तरिपंगोरिति पदंपडि नादुभयंबु दीर्पवे।
> तगदनि चित्तमंदिडक दाशरथी करूणापयोनिधी॥

रामदासको भगवान् का "पतित पावन" रूप सबसे श्रेष्ठ लगता है। इसीलिए वे कहते हैं, तुम्हारी प्रबल मायासे दशरथ, सुग्रीव, पांडव आदिने क्रमशः सुत, बलवान एवं मित्रकी दृष्टिसे तुम्हारे प्रति व्यवहार किया। तुम्हें 'पतितपावन' समझनेकी बुद्धि उनमें कहाँ? भक्तिकी साधना भक्तको नितांत उल्लास और आनंद प्रदान करनेवाली है। इसीलिए भक्तोंने मोक्षकी भी परवाह न करके भक्तिकी याचना भगवान्से की। मोक्ष-

सुख परोक्ष है, और उसके संबंधमें अनुमान नहीं किया जा सकता। पर भक्ति करनेमें जो आनंद है, वह प्रत्यक्ष है। अज्ञात आनंदकी अपेक्षा ज्ञात आनंद वांछनीय है। इसीलिए रामदास श्रीरामकी भक्तिके इच्छुक हैं, और उसके सामने मुक्तिकी उन्हें कोई परवाह नहीं है।

वैष्णव धर्मके 'डेंकलै' संप्रदायमें मार्जालन्यायकी मान्यता है। बिल्ली अपने बच्चे को स्वयं कष्ट सहनकर एक स्थानसे दूसरे स्थान तक ले जाती है। मार्जाल शिशुको कहीं भी जानेके लिए तनिक भी कष्ट नहीं होता है। इसी प्रकार जब भक्त त्रिकरणशुद्धिसे भगवान्के अनन्य शरणमें जाता है, तब उनकी हर प्रकारसे रक्षा करनेका भार भगवान का ही हो जाता है। रामदास भी इसी प्रकार केवल भगवान् पर ही भरोसा रखते हैं। वे इसीलिए कहते हैं, भरत जैसे पादुका पूजा, गुह जैसे नौका चलाना, सीताकी भाँति मधुरभक्ति, गजेन्द्रकी तरह आर्तपुकार, भक्तोंके समान भजन इनमेंसे एक भी पद्धतिको मैं अपना नहीं सकता। फिर भी तुम्हें मेरी रक्षा करनी होगी।

भगवद्भक्तिके लिए लौकिक सुखों और वस्तुओंके प्रति अनासक्ति और विरागका होना नितांत आवश्यक है। विरागका तात्पर्य समाजसे अलग होना नहीं है, बल्कि अनासक्तिके साथ जीवन व्यतीत करके सुख और दुखके द्वन्दसे परे रहना होता है। रामदास बार-बार अपने मनको मनुष्य जीवनकी निस्सारताका स्मरण दिलाते हैं। नारी-गर्भ रूपी नरकमें हर एक मनुष्यको रहना पड़ता है। अंतमें घृणित योनिद्वारसे उन्हें जन्म लेना पड़ता है। बालकपनमें दुर्गंध के बीच उन्हें रहना पड़ता है। बाल्यावस्था क्रीड़ासे, यौवन कामवासनाओंके अन्वेषणमें, बादमें पत्नी-सुतकी चिन्तामें, वृद्धपन रोग और कमजोरीसे व्यतीत हो जाता है। अंतमें मृत्यु आ घेरती है। जन्म-मरण चक्रसे बचनेका एक मात्र उपाय श्रीराम भक्ति ही है। वे पत्नी-सुत-संपत्ति और शरीरमें प्रगाढ़ आसक्ति रखने वाले लोगोंको चेतावनी देते हैं, शरीरको छोड़कर जीवके अकेले प्रस्थान करते समय इनमें से कोई साथ नहीं देगा :—

"पोय्येटप्पुडुवटराडुगा पुच्चिन वक्कैना"

लौकिक जीवन और शरीरकी निस्सारता और निरर्थकताको ध्यानमें रखकर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होनेका रामदासजीने बार-बार संदेश दिया। उनका कहना है, साधुजन-पीड़क मनुष्यको ब्रह्महत्याका पाप मिलता है। दान-धर्म न करना, परधनका अपहरण, गरीब और अनाथ लोगोंका शोषण, मित्र-द्रोह, परनारीरत होना, आदि पापोंका एकमात्र परिणाम भयंकर नरकवास है।

चरित्र संगठनमें संगतिका बहुत बड़ा हाथ है। इसीलिए रामदास केवल रामके दासोंको सार-स्वरूप समझकर उनके साथ घनिष्ट संबंध रखते हैं, और कामके दासोंसे वे सतत बहुत ही दूर रहते हैं :—

"रामदासुलुमाकु सारां सारां, कामदासुलुमाकु दूरां दूरां"

भक्ति साधनामें भगवान्के नामजपका बड़ा ही महत्व है। इस नाम पर काबू पाकर भक्त भगवान्को यह चुनौती दे सकता है कि तू मेरे पास आ, या न आ इसकी हमें कोई परवाह नहीं है, हमारे पास तेरा नाम है. यह हमारे लिए पर्याप्त है। रामदास गाते हैं कि प्रह्लाद आदि अगणित भक्तोंको तारनेवाले तेरे नामकी मधुरिमा अवर्णनीय है। समस्त मधुर फलोंसे भी मधुर, नवरसों और नवनीतसे भी यह स्वादिष्ट है :—

"श्रीराम नीनाम मेमि रुचिरा वो राम नीनाम मेमिरुचिरा"

इस असार संसार-सागरको पार कराने वाला एक मात्र साधन यही है। समस्त रोगोंको तत्क्षण दूर करने वाली एक अमूल्य औषधि रामदासके पास है। उसकी महिमा की घोषणा करके जन-जनसे उसे खरीदनेका वे अनुरोध कर रहे हैं। काम-क्रोध लोभ. मद, मात्सर्यको और काजल सरीखे काले पर्वत-श्रेणी रूपी प्रारब्ध कर्मोंको यह दवा दूर करने वाली है। इतना ही नहीं, यह सरल रूपसे मुक्ति भी दिलाने वाली है। रामनाम-स्मरण ही यह दवा है :—

"काट्टुक कांडुलवंटि कर्ममुलुडबापुमडु
रामजोगिमंदुकानुरे पामरुलार, रामजोमि मंदुकानुरे"

उपनिषदोंमें ब्रह्मको 'शब्दब्रह्म' या 'नादब्रह्म' की उपाधि दी जा चुकी है। इस नाद ब्रह्मको प्राप्त करानेके लिए नादकी साधना करना परम आवश्यक है। योगमें अनहदनादकी साधनासे साधक कुंडलिनी शक्ति उत्पन्न करके ब्रह्मके साथ एकाकार हो जाता है। भक्तिमार्गमें भी कीर्त्तनका यही स्थान समझना चाहिए। इसीलिए रामदासजी कहते हैं तप, दान, यज्ञ आदि सब कीर्तनके सामने कुछ नहीं हैं। रामदासजीने धर्म की बाहरी चहलपहलकी अपेक्षा भीतरी तत्व पर ध्यान देगेका लोगोंको संदेश दिया है। उनके मतानुसार पुण्यक्षेत्रयात्रा और पुण्यनदी, तथा तीर्थोंमें स्नानकी अपेक्षा भगवत्कथा-श्रवण कई गुना श्रेष्ठ है। परधनशोषण से दूर रहे तो मंदिर-निर्माणकी कोई आवश्यकता नहीं है। दीन अनाथ और भक्तोंकी सेवा करनेवालोंको हरिपूजा करनेकी क्यों आवश्यकता है? सतत स्थिरतासे हरिस्मरण करनेवालोंको तप, यज्ञ, व्रत करनेकी क्या जरूरत है? यज्ञयागकी अपेक्षा भूखे अतिथियोंको अन्न देना ही सर्वोत्तम है। उनकी दृष्टिमें यह समस्त जगत राममय है और हर एक व्यक्तिके अंतरंगमें आत्मा रामका निवास है, इसलिये वे मानवसेवा पर भी अधिक बल देते हैं।

रामदासको उन चरणोंका ही एकमात्र भरोसा है, जिन्होंने अरण्यमें पत्थरको स्त्री बनाया :—

"वनमुनरातिनि वनितगजेसिन शरणमु शरणमु नीदिव्य चरणामुलेनम्मिति"

रामदासको श्रीरामजीसे किसी प्रकारकी संपत्ति या आभूषण पानेकी इच्छा नहीं है। नवरत्नखचित हेमकिरीट, या अन्य किसी चीज को हे भगवान्, मैंने आपसे नहीं माँगा। बस मेरी एकमात्र अभिलाषा है आपको मैं यहाँ पा सकूँ और सेवा कर सकूँ—

"प्रेम तो नवरत्न खचितंबुल दापिन हेमकिरीटं-बडिगितिना-सीतारामस्वामि ने जेसिन नेरमेयो"
भगवान्के अखंड मौनको देखकर वे पूछने लगते हैं, तुम एक शब्द भी मुझसे नहीं वोलते हो, मानो तुम्हारा प्रत्येक शब्द सुवर्णका टुकड़ा हो :—

पलुके बंगारमायुना कोदंडपाणि पलुकेबंगारमायुना ।
पलुके बंगारमायु पिलिचिन पलुकवेमि ॥

बेचारे रामदासने मंदिरके निर्माणमें और श्रीराम, सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न के गहनोंके लिए छः लाख रुपए खर्च किए। परिणाम यह हुआ, उनके पाँवोंमें वेड़ियाँ डाली गयीं। तिस पर भी रामजी बोलते तक नहीं। रामदासका असहिष्णु हृदय एकदम चीख उठता है :—

रामजी ! आप तो खूब मजे में विहार कर रहे हैं। जरा बतलाओ तो सही कि इस सारे धनको तेरे बाप दशरथने भेजा है या ससुर जनक जी ने ?

नीवु कुलुकुचु तिरिगुंदवुवर बूबुसोम्मनि ।
रामचन्द्रा मीतांडि दशरथमहाराजु पुट्टुनारामचन्द्रा ।
लेकमी मामजनकमहाराजुपपुना रामचन्द्रा"

किन्तु यह असहिष्णुता क्षण भरमें समाप्त होती है, और वे तुरंत पश्चाताप करने लगते हैं, रामजी ! मुझसे निंदा सुनकर तुम दुखित मत होना। राजसेवकोंके पीटने पर तंग आकर ही मैंने आपकी निंदा की। कभी-कभी वे भगवान्को धमकी भी देने लगते हैं :—हे श्रीराम जी ! बिना मेरी रक्षा किए आपको एक कदम भी आगे बढ़ने नहीं दूंगा। मेरे पंजेसे तुम्हें कोई नहीं छुड़ा सकता। माँ सीताकी वजहसे अब तक मैंने आप पर हाथ नहीं उठाया :—

"गरिमतोड भासीतनुजूचि काचिति निंवाका"

एक और अवसर पर वे यहाँ तक कह देते हैं तुम परम द्रोही हो। मूर्ख प्रह्लाद ने तुम्हें पतित-पावन और शिवजी ने आदिब्रह्म कैसे माना ? इनके चंगुलमें वर लक्ष्मी कैसे आयी ? जलोद्भव बुद्बुद्के समान रामदासका नशा एक ही क्षणमें विलुप्त हो जाता है। अंतमें वे भगवान् के पैरों पर पड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहते हैं, भगवान् मेरी बातें सच्ची नहीं हैं। इनको बालकों की प्रेमसिक्त बातें समझो :—

"मुद्दमाटलुगानि मूर्खवादमुगवु मुरहरननुगावुरामा"

रामदासजीका यह स्वर रामके प्रति उनके घनिष्ट नैकट्यक परिचायक है। भगवान्के ऐश्वर्य रूपकी उपासनाकी यह चरम परिणति है। इस प्रकारकी प्रगल्भोक्तियाँ शैलीगत मात्र हैं, भागवत नहीं। उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। जब उन्हें कोई चारा नहीं रह जाता है, तब वे सीता माँ से भी रामकी शिकायत करने में नहीं चूकते—रामको मैंने दयासागर, भक्तवत्सल समझा। लेकिन मुझे अब पता चला, वे बड़े कठोर :—

"दशरथात्मजुडुंतो दयाशालियनुकाटि धर्महीनुडेयम्मा ।"

अंत में वे सीताजीसे रामजीको सिफारिश करानेके लिए भी उद्यत हो जाते हैं। कभी-कभी वे एकाग्र होकर मनोपूजामें मस्त हो जाते हैं—हे इंद्रियो ! तुम शोर मचाना बंद कर दो। इस अमूल्य समय में सकल ब्रह्मांड नायक श्रीरामको मैंने भक्तिसे अपने हृदय-कमलमें वसाया है, और मैं उनकी प्रार्थनामें खोया हुआ हूँ। कुछ पदोंमें उन्होंने श्रीरामजीके साक्षात्कारका भी स्पष्ट संकेत दिया है :—

"दर्शनमायेनुश्रीरामुलवारिदर्शनभायेनु ।"

इस प्रकार हम देखते हैं, रामदास सोलह आने भक्त हैं और संगीत उनके भक्ति-मार्गका एकमात्र साधन है। इनकी भाषा शैली और भावकल्पना अत्यंत सरल और सरस है। इनका समस्त जीवन एक बड़े आदर्श भक्तका है। भक्त, गायक, और कीर्त्तनकारके रूप में जन-जनके हृदय में इनका स्थान अमर हो गया है। कृत्रिमता और पांडित्य-प्रदर्शन से वे कोसों दूर हैं। इस महान भक्त, कवि; गायक पर सारी मानवता गर्व कर सकती है।

हरि खेलत होली

(१)

गोरी भोरी जाऊँना ना अकेली पनघट आजु,
मारग में होरी बरजोरी मची भारी है।
भरि न सकैगी घट अटक परैगो कोऊ,
सारी भींज जाइगी मिलैगी तोहि गारी है॥
सास रिसियाइगी ननंद खिसियाइयी औ,
सुनल सहेलीहू हँसैगी दै दै तारी है॥
ग्वालन के संग भरी पिचकारी लियें,
जमुना के तीर ठाड़ौ सामरौ बिहारी है॥

(२)

आज अनंग उमंग भरें उरमें रसरंग तरंग अनूठी।
खेलि रहीं नँदलाल सों फाग सनै ब्रजवाल न एकहू रूठी॥
लाल गुलाल उड़ै ब्रजमें अनुराग की मानों घटा नभ ऊठी।
डारहिं स्यामपै बामसुरंग औ ताकिकें मारें अबीरकी मूठी॥

"संसारकी मान्यताओंके साथ मेरे विचारोंका मेल कैसे बैठ सकता है ? व्यर्थ ! तुमने संन्यासी देखे ही कहाँ ? उन्हें तो वेदोंका शिखर रूप माना जाता है। मुझे तो भर्तृहरिके ये शब्द याद आते हैं— संन्यासी, तू अपने मार्ग पर चल ! कोई तुझे पागल कहेगा, कोई चाण्डाल कहकर घृणा करेगा, किन्तु साथ-साथ ऐसे लोग भी मिलेंगे, जो तुझे ऋषि मानकर तेरी बातोंको सुनेंगे।"

आत्माका मार्ग

स्वामी विवेकानन्द

मैं अच्छी तरह जानता हूँ, संसारमें उन्नति प्राप्त करनेके लिए सुशील होना आवश्यक है। सुशील होना अच्छा है, लेकिन अतिशय नम्रतामें मेरा विश्वास नहीं। मेरा आदर्श तो है, 'सम दर्शिता'—जिसमें प्रत्येक व्यक्तिके साथ समान बर्ताव करनेका बोध रहता है।

सामान्य मनुष्यका कर्त्तव्यके समाज आदर्शों और नियमोंका पालन करना है, किन्तु सत्यके पुत्र इस नियमसे वद्ध नहीं हैं। एक ऐसी सनातन मर्यादा चली आ रही है, प्रत्येक व्यक्तिको यहाँ अपनी परिस्थितिके अनुसार, वातावरण और समाजकी परिस्थितिको ध्यानमें रखकर रहना पड़ता हैं। उसका समाज उसे अनेक प्रकारकी सुविधाएँ देनेको तैयार है।

परन्तु सत्यका पथिक तो इसके विपरीत अकेला रहकर समाजकी गतिविधिका निरीक्षण करता है। मनुष्य यदि समाजका दास बने तो, उसे जीवनके सभी प्रकारके आनन्द, भोग प्राप्त हो सकते हैं, और समाजके प्रतिकूल रहने पर, जीवन नितान्त कष्टमय हो जाता है। लेकिन यह अंतिम सत्य नहीं। समष्टिकी पूजा करने वाला क्षणमें विशिष्ट बन जाता है, और सत्यका पुजारी संसारमें अमर बन जाता है।

मैं यहाँ सत्यकी तुलना, दग्ध कर देने वाली विनाशक शक्तिके साथ कर रहा हूँ। जहाँ वह प्रवेश करती है, वहाँ सबकुछ जलकर स्वाहा हो जाता है। कोमल पदार्थों पर उसका शीघ्र प्रभाव पड़ता है, जबकि स्थूल पदार्थोंको पिघलते थोड़ी देर लगती है। किन्तु प्रत्येक दशामें यह शक्ति तो काम करती ही है।

मुझे अत्यन्त खेदके साथ स्वीकार करना पड़ता है, मैं विनम्र अथवा सुशील नहीं बन सकता। मेरा मार्ग ही कुछ ऐसा है, वह प्रत्येकको रुचिकर नहीं हो सकता। और मैं भी अपनी वर्तमान स्थितिका परित्याग करनेमें असमर्थ हूँ।

यौवन और सौन्दर्यका मोह क्षणिक है। जीवन और सम्पत्ति नाशवान् है, नाम और यश स्थायी हो ही नहीं सकते—यहाँ तक, पर्वत भी धूलमें मिल जाते हैं। मित्रता और प्रेमका नाश हो जाता है। मात्र सत्यका सम्बन्ध ही सनातनके साथ है। हे मेरे सत्य देवता, तू मुझे मार्ग दिखा, मैं हूँ, वैसा ही मुझे रहने दे। निर्भय बनकर, क्रय-विक्रय किये विना, मैत्री और वैरकी भावनासे मुक्त होकर हे संन्यासी, तू सत्यको पकड़, और इसी क्षण संसार से मुक्त हुआ अपनेको मान। भविष्यकी चिन्ता क्यों करता है ? संसारकी चिन्ता तुझे क्यों नहीं छोड़ती ? ज्ञान, तू ही मेरा पथ-प्रदर्शक बन !

धन और नामसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं। मेरे लिए ये धूल समान हैं। मैं, मात्र मेरे भाइयोंकी सहायता करने आया था। मुझमें धन कमानेकी योग्यता ही नहीं। ईश्वर रक्षक है। ऐसा अन्य कौनसा प्रवल आकर्षण है, जो इस अन्तरतमके निश्चल सत्यका त्याग कराकर वाह्य विषयोंकी ओर मुझे खींच सकता है।'

यह मस्तक इतना दुर्बल है, कभी-कभी इसे संसारकी सहायता लेनी पड़ती है। लेकिन इससे मुझमें कोई भय नहीं जागृत होता। मेरा धर्म कहता है, भय सबसे बड़ा पाप है···। सत्यके देवताकी सेवा करनेका अधिकार उस व्यक्तिको नहीं होता, जो अन्य-का आश्रय खोजता है हे हृदय, शान्त हो ! अकेला विहार करना सीख। ईश्वर तेरा साथी है। जीवन भी क्या है ? क्या मृत्यु भी एक भ्रम नहीं ? यह सव कुछ नहीं है। केवल ईश्वर की व्यापक संज्ञाका अनुभव ही हमें चार ओरों होता है।

मन ! तू निर्भय क्यों नही बनता ? मुक्त होकर विचर ! अपनी यात्रा लंबी है। इसके लिए समय बहुत कम है, और मृत्युका समय निकट आ रहा है। मुझे शीघ्र ही घर जाना है। मेरे आचरणका हिसाब करनेका समय भी नहीं रहा, मैं अपना सन्देश भी किस प्रकार दूँ ?

स्वप्न ! हाँ, अब तक मैं स्वप्न ही देख रहा था। अब स्वप्नका क्या प्रयोजन है ? विवेक, तू स्वप्न मत देखा कर। एक शब्दमें तुझे एक सन्देश देने का है। तेरे पास इतना समय ही कहाँ है, तू संसारके साथ समझौता करे ! तूने यदि ऐसा किया भी तो वह एक ढोंग ही होगा। वास्तव में भोग-विलासके लिए जीनेसे मैं हज़ार बार मरना श्रेयस्कर मानता हूं। मैं स्वदेश में होऊँ या विदेश में, इस मूर्ख जगत की कितनी ही आवश्यकताओंके सामने मस्तक क्यों झुकाऊं ?

क्या आपको कोई ऐसा सन्देह हुआ है, मुझे कुछ काम करना है ? मुझे संसार में कोई काम नहीं करना है। मुझे केवल एक ही सन्देश देना है, जो मैं अपने ही ढंगसे दूंगा। मेरे उपदेशमें हिन्दुत्व या ईसाइयतकी गंध नहीं होगी। संसारके किसी भी धर्मकी

संकीर्णताका सन्देश लेकर मैं नहीं आया। मेरा धर्म मोक्ष है। मेरे धर्म पर यदि कोई संकट आया, तो शान्ति या क्रान्ति द्वारा मैं उसकी रक्षा करनेको तत्पर रहूँगा···।

तुमने अभी उस स्रोतका जल ग्रहण किया ही नहीं, जिसमें विवेक, अविवेक मर्त्य अमर, संसार केवल शून्यकी कल्पना और मनुष्य, देवता वन जाता है। हो सके तो, संसारी इस मोह-जालसे मुक्त हो जा। तभी मैं तुमको वास्तवमें साहसी और स्वाधीन समझूँगा।

जो तुम ऐसा नहीं कर सकते तो कमसे कम उन लोगोंका उत्साह बढ़ाओ, जो समाज रूपी असत् देवताके साथ धर्म-युद्ध करनेको कटिबद्ध हुए हैं। जिनके जीवनका ध्येय ही समाजमें प्रचलित आडम्बरोंका निराकरण करना है, और यदि तुम इन्हें प्रोत्साहन न दे सको तो, आखिर चुप रहना तो तुम्हारे हाथमें ही है। इन्हें इस कीचड़में घसीटनेका प्रयत्न मत करो। और 'समझौता' जैसे निरर्थक शब्दका नाम लेकर इन्हें नम्र अथवा सुशील बनने का उपदेश न दो।

मैं इस संसारसे ही घृणा करने लगा हूँ—यह स्वप्न, ये डरावनी आकृतियाँ, यहाँके मन्दिर, देवस्थान, पुस्तकें, और अमानुषी व्यवहार, यहाँके सौम्य चेहरे, और उनके भीतरमें छिपी विकृति बुद्धि, सांसारिक अन्याय, बाहरी दिखावट, और अभ्यन्तरकी कलुषिता व अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, और इन सबके उपरान्त 'व्यावसायिकता' संसारकी मान्यताओंके साथ मेरे विचारोंका मेल कैसे बैठ सकता है? व्यर्थ! तुमने संन्यासी देखे ही कहाँ? उन्हें तो वेदोंके शिखर रूप माना जाता है। मुझे तो भर्तृहरिके ये शब्द याद आते हैं—"संन्यासी, तू अपने मार्ग पर चल। कोई तुझे पागल कहेगा, कोई चाण्डाल कहकर घृणा करेगा, किन्तु साथ-साथ ऐसे लोग भी मिलेंगे, जो तुझे ऋषि मानकर तेरी बातोंको सुनेंगे। संसारके लोगोंकी बातोंको बुरा मत मान। हाँ, जब वे तुमपर प्रहार करें, तब यह बात ध्यानमें रख, जब हाथी बाजारसे निकलता है, तो कुत्ते उसके पीछे भौंकते ही हैं। लेकिन वह अपने मार्ग पर सीधा चला जाता है। यही नियम है। जब कोई महान् आत्मा पृथ्वीपर जन्म लेती है, तब उसके सामने भौंकने वाले लोगोंका अभाव नहीं होता।"

ईश्वर तुम्हें सुखी रखे, और इस मूर्ख जगत की दुश्चिताओंसे मुक्त हो।

मूल्य

ऊँचे शैल-शिखर पर बने हुए उस सुन्दर मन्दिरकी पाषाण-प्रतिमाने बड़ी ही करुण और दयासे युक्त होकर, नीचे तक चली गयी क्षीण और उस धुँधली पगडंडीसे कहा—"अरी, तुमने ऐसे कौनसे पाप किये थे जो तुम्हें रात-दिन मनुष्योंके पैरों की चोट इस प्रकार सहनी पड़ती है। तुम्हारी बुरी गति देखकर हमारा कलेजा मुँहको आ जाता है।" चंचल लहरोंकी तरह सुन्दर, उस पगडंडीने सहज भावसे ही प्रसन्नताके साथ उत्तर दिया—"यह तो मेरे पुण्योंकी कमाई है देव, मैं भगवान् और भक्तोंकी दूरीको पाटती हूँ। मन्दिर तक पहुँचाने वाले यात्रा पथसे अधिक सार्थकता जीवनकी और क्या हो सकती है? दूसरोंको दिव्यताके उन्नत शिखरों पर चढ़ानेका जो माध्यम बने, क्या वह कम महिमावान् है।" [प्रसंगतोया से]

"वह परमात्मा श्रीकृष्ण भक्तोंके कार्य करते हैं, कितने ही भक्तोंको साक्षात् प्रकट होकर अब भी दर्शन देते हैं। मीराके साथ वह वार्तालाप करते थे, सूरदासको दर्शन दिया ही था। श्रीविल्वमंगल, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीहरिव्यास, श्रीहरिदास, श्रीहरिवंश आदि सहस्रों महापुरुषोंको साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया।"

श्रीकृष्णका ऐश्वर्य

श्रीस्वामी जयरामदेवजी

श्रीकृष्ण कौन हैं? कोई साधारण पुरुष हैं या महापुरुष? कोई देवता हैं, या ईश्वर? अंशावतार हैं, या पूर्णब्रह्म? ऐसे प्रश्न लोग करते हैं। परन्तु, इसका निर्णय स्वयं दिव्यदृष्टि प्राप्त होने पर ही हो सकता है, अथवा दिव्यदृष्टि प्राप्त महर्षियोंके अनुभवोंसे होता है। यदि किसीको पूर्ण जिज्ञासा है तो वह योग साधना करे, तप करे, और दिव्यदृष्टि प्राप्त कर पूर्ण संतोषके लिए प्रभुका स्वरूप यथार्थ रूपसे जान ले। यदि ऐसा नहीं कर सकते, तो दूसरे महर्षियोंकी दिव्यदृष्टिसे प्राप्त अनुभव पर विश्वास करना होगा।

वेदव्यासजीको दिव्यदृष्टि प्राप्त थी। वे दूसरोंको (संजय आदिको भी) दिव्य-दृष्टि दे सकते थे। योगबलसे वे सब लोकोंमें चले जाते थे। उनके लिखे ग्रन्थ महाभारत तथा श्रीमद्भागवत्में श्रीकृष्णको साक्षात् पूर्णब्रह्म माना गया है। महर्षि गर्गने भी गर्ग संहितामें श्रीकृष्णको पूर्णब्रह्म माना है। महाभारतके ही अन्तर्गत भगवान्ने गीता सुनाई है, जिसमें स्वयं श्रीकृष्ण भी अपनेको पूर्णब्रह्म बताते हैं। श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध में ब्रह्माजी भी कहते हैं—

अहोभाग्य महोभाग्यं नन्द गोप ब्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध १४ अध्याय।)

ब्रजके इन गोपालोंका धन्य भाग्य है, क्योंकि सच्चिदानन्दकन्द परमानन्दरूप साक्षात् पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण जिनके मित्र हैं। उन्हें सखा बनाकर उनके साथ अनेक खेल खेलते हैं।

यह पुराण ५ हजार वर्ष पूर्वके हैं। अभी ५०० वर्ष पहिले काशीके महान् विद्वान और योगीश्वर, श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने भी श्रीकृष्णका तप द्वारा साक्षात्कार प्राप्त किया था। वह पहले अद्वैतवादी थे। उन्होंने गीताका भाष्य रचा है। उनका वह ग्रन्थ मधुसूदनी गीताके नामसे संकृत-साहित्यमें प्रसिद्ध है। उन्होंने लिखा है—

"कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।"

श्रीकृष्णसे परे कोई तत्त्व वह नहीं मानते। श्रीकृष्ण ही परात्पर ब्रह्म हैं। यह प्राचीन एवम् नवीन समस्त महर्षियोंके अनुभवसे सिद्ध हो जाता है। वह परमात्मा श्रीकृष्ण भक्तोंके कार्य करते हैं, कितने ही भक्तोंको साक्षात् प्रकट होकर अब भी दर्शन देते हैं। मीराके साथ वह वार्तालाप करते थे। सूरदासको दर्शन दिया ही था। श्रीविल्वमंगल, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीहरिव्यास, श्रीहरिदास, श्रीहरिवंश आदि सहस्रों महापुरुषोंको साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया। श्रीवृन्दावनमें कितने ही भक्त ऐसे हुए हैं और वर्तमान हैं, जिनके कठिनसे कठिन कार्य प्रभुने किए हैं। इन सब प्रमाणोंसे निश्चय होता है, श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, और भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करते हैं। अतः यदि हम पूर्णरूपेण तत्परताके साथ उनकी उपासना करें तो वह हमें प्राप्त हो सकते हैं, और मुक्ति-भुक्ति आदि सब कुछ प्रदान कर सकते हैं।

अब उनके चरित्रोंसे यदि ऐश्वर्य पर विचार करते हैं, तो उनका ऐश्वर्य असीम है। उन्होंने बड़े-बड़े राक्षसोंको मार दिया, यह उनकी वीरता है। जब वह पूर्ण ब्रह्म हैं तो राक्षसोंको मार डालना कौनसी बड़ी बात है; उनका ऐश्वर्य कुछ लीलाओंमें विशेष झलकता है। जिस समय श्रीकृष्णने अजगर रूपधारी अघासुरको मारा, और जिसकी ज्योति निकलकर श्रीकृष्ण के चरणोंमें लीन हो गई, यह दृश्य देखकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। श्रीब्रह्माजीने श्रीकृष्णकी उस समय परीक्षा लेनेका निश्चय किया। ब्रह्माजी बनमें चरते हुए बछड़ों और ग्वालवालोंको मायासे चुराकर ले गए और अपने लोकमें जाकर छुपा दिया।

उस समय श्रीकृष्णने अपनी लीलासे क्षणमात्रमें वैसे ही सहस्रों बछड़े तथा वैसे ही सैकड़ों ग्वाल-बाल बना लिए। एक वर्ष तक यह लीला चलती रही। किसीने नहीं समझा, यह श्रीकृष्णने नवीन सृष्टि बनाली है। जब एक वर्ष पश्चात् ब्रह्माजीने देखा, वैसे ही बालक-बछड़े खेल रहे हैं, तो उन्होंने आकर श्रीकृष्णसे क्षमा माँगी और चुराकर ले गए हुए बालक-वत्स सब लाकर समर्पण किए। श्रीब्रह्माजीने जान लिया, यह परात्पर पूर्णब्रह्म प्रभु ही लीलासे गोप वेष धारण कर पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। अन्यथा किसीकी भी सामर्थ्य नहीं थी, जो वैसे ही बालक-बछड़ोंकी रचना कर एक वर्ष तक उनके साथ खेलता रहे। उन्होंने उस समय प्रार्थना की कि—

नौमीड्यतेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय, गुंजावतंस परिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्त्रजेकवलनेत्र विषाणवेणु, लक्ष्मश्रयेमृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

"हे नील नीरदके समान श्यामल अंगों वाले, बिजलीके समान चमकता पीताम्बर धारण करने वाले, गुंजा फूलोंके हार, मोरमुकुट, आदि आभूषण धारण करने वाले, कमल

फे से नेत्रों वाले, वंशी भृंग बाजे लिए, लक्ष्मीका चिह्न वक्षःस्थलपर धारण किए, कोमल चरणों वाले, नंद गोप कुमार श्रीकृष्ण आपको प्रणाम है। मेरा अपराध क्षमा करो। जैसे गर्भमें दुख देनेवाले बालकके ऊपर माता दया ही करती है, ऐसे ही हे अनन्त ब्रह्माण्ड नायक प्रभो, हम सब आपके ही उत्पन्न किए हुए हैं। हमारे अपराधों पर दण्ड न देकर हमें दयालुता बस क्षमा कर दें।" जिनसे ब्रह्माजीने भी इस प्रकार बड़ी लम्बी स्तुति करके क्षमा माँगी, उन श्रीकृष्णको लोग साधारण महापुरुष समझ कर संतोष मान लेते हैं। आगे चलकर इन्द्रने भी श्रीकृष्णकी महिमा नहीं समझी। उन्होंने भी श्रीकृष्णके ऊपर क्रोध करके चाहा, वर्षा करके ब्रजमण्डलको ही बहा दें। ब्रजका नाम निशान भी नहीं रक्खेंगे। देखें कैसा ईश्वरका अवतार हुआ है। प्रलयकालीन मेघों द्वारा घोर वर्षा प्रारम्भ की।

श्रीकृष्णने इन्द्रका मद चूर्ण करनेके लिए गोवर्द्धन पर्वत उखाड़ कर बायें हाथकी उँगुली पर धारण कर लिया। सात रात और सात दिन तक घोर वर्षा होती रही। सभी ब्रजवासी पर्वतके नीचे खड़े रहे। हजारों ब्रजवासी श्रीकृष्णका अद्भुत चमत्कार देखकर आश्चर्य कर रहे थे। उधर श्रीकृष्ण अपनी योगमायासे समस्त वर्षाके जलको सुखाते भी रहे। मेघ बरसते बरसते थक गए। इन्द्रके हृदयमें उधर अग्नि उत्पन्न हुई। इन्द्र घबड़ा उठे, और त्राहि-त्राहि करते हुए आए।

श्रीकृष्णके चरणोंमें पड़कर इन्द्रने क्षमा माँगी। उनका सारा ऐश्वर्य मद चूर हो गया। इन्द्रने बड़ी प्रार्थना की, और कहा—"मैं इस अभिमानमें था, मैं तीनों लोकों का शासक हूँ। मुझसे बड़ा कौन है। आप समस्त जगतके कर्त्ता हैं, आपकी महिमाका ज्ञान मुझे नहीं था। आप मुझे क्षमा करदें। मैंने आपको बड़ा कष्ट दिया। आप इतने बड़े पर्वतको एक हाथकी उँगली पर धारण कर सात दिन तक लिए खड़े रहे। अब मेरे शरीर में बड़ी जलन उत्पन्न हो गई है। मैं उससे जला जा रहा हूँ। मेरा यह ताप आप शान्त कर दें। आप कृपालु हैं, मुझ पर कृपा करें।" भगवान् श्रीकृष्ण ने दया करके इन्द्रको क्षमा कर दिया। इन्द्र वन्दना करके चले गए।

उपरोक्त दोनों घटनाओंमें, ब्रह्मा और इन्द्र-दोनों ही पहिले श्रीकृष्णको साधारण समझते हैं, और जब श्रीकृष्णका पराक्रम देखते हैं, तो वे नतमस्तक होकर क्षमा माँगते हैं। श्रीकृष्णकी अपार महिमा और ऐश्वर्यका ज्ञान जब उनको होता है, तो वे अपना बड़प्पन भूलकर श्रीकृष्ण के दास बन जाते हैं। जब देवताओंकी यह दशा है, कि श्रीकृष्णके परत्व को नहीं समझ सके, तो साधारण मनुष्योंकी बुद्धि उन्हें कैसे समझ सकती है ? माया सबके मस्तकको भ्रममें डाले रहती है। यह मायापतिको पहचानने नहीं देती। जब मायापति श्रीकृष्ण ही किसी पर कृपा दृष्टि करदें, तो कुछ उनका परत्व समझ में आता है।

ये माया है प्रबल इतनी न कोई भेद पाता है।
कृपा जिस पर हो ईश्वर की वही कुछ जान जाता है॥

●

'धर्म' ही हमारा मित्र है। ईश्वर ही हमारा नेता है।

"वसुदेवजीने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—नहीं कुमार, ऐसा कभी न होगा। सूर पुत्र, वसुदेव कभी किसीको यह कहनेका अवसर न देगें, कि उन्होंने अपनी भार्याके प्राणोंकी भिक्षा, सत्यको बेचकर ग्रहणकी।"

यमुनातीरे

श्रीकौशल

प्रभातकी वेला थी। सूर्यकी सुनहली किरणें यमुनाके श्याम जलपर खेल रहीं थीं। यमुनाका शान्त और निर्मल प्रवाह शनैः शनैः बहता जा रहा था, और बहता जा रहा था। चारों ओर तटपर शान्ति थी। केवल बीच-बीचमें घोड़ोंकी टापों की ध्वनि आ रही थी। हाँ,—वह घोड़ोंकी टापोंकी ही ध्वनि थी। रथोंमें जुते हुए, सहस्रों घोड़े, एक लयसे धरतीके ऊपर 'टाप' पर 'टाप' मारते हुए, यमुनाके तटवर्ती पथसे आगे बढ़े चले जा रहे थे। पक्षी रह-रह कर चहचहा रहे थे, तटवर्ती झोंपोंमें धूपकी सेज पर सोई हुयी हिरणियाँ रह-रहकर उन्हें विस्फारित नेत्रोंसे देख रही थीं। वे मधुर घंटियाँ, और घुंघुरुए बजाते हुए, एकके पश्चात् एक आ रहे थे, और आगे बढ़ते जा रहे थे, बढ़ते जा रहे थे।

एकसे एक बढ़कर मनोरम रथ थे, रंग रंगके प्रसाधनोंसे सजे हुए। उनमें जुते हुए, इठलाते, चंचल अश्व! किसीका रंग श्याम, तो किसीका श्वेत, और किसीका बादामी; धरती पर टाप मारते हुए, वायुको भी दाबनेके लिए, उमंगसे आगे बढ़े जा रहे थे। सबसे आगे के सर्व-सुन्दर स्वर्ण रथमें जुते हुए श्याम रंगके घोड़े तो उछलकर गगनपर चढ़ जानेके लिए मचल रहे थे। रह-रहकर बलिष्ठ सारथी युवक घोड़ोंकी वल्गाको खींचता था, पर घोड़े आगे टाप मारनेके लिये मचल ही पड़ते थे।

सारथी युवक खीझके स्वरमें बोल उठा—"क्या हो गया है, आज इन घोड़ोंको। लगता है, मानो एक ही टापमें धरतीको नाप लेना चाहते हों। बहन देवकी, यह घोड़े तुम्हें मथुराकी राजकीय सीमासे बाहर निकालनेके लिए जैसे समाकुलसे हो रहे हैं।"

देवकी! हाँ मथुराके नृपति उग्रसेनके कनिष्टबंधु श्रीदेवककी पुत्री, देवकी! देवकी अपने पति वसुदेवके साथ रथपर बैठकर अपने ससुराल जा रही थी। उग्रसेनका पुत्र, कंस

बड़े स्नेहसे, देवकीके रथके घोड़ोंकी वलगा अपने हाथमें लेकर, घोड़ोंको बढ़ाये चला जा रहा था। देवकीके रथके पीछे-पीछे और भी रथ थे, हाथी थे, बैलगाड़ियाँ थीं। देवकने देवकीको दहेज देनेमें कुवेरका भण्डार लुटा दिया था।

कंसकी वात सुन करके भी देवकी मौन ही रही। केवल वसुदेवकी ओर देखकर, सिरनत हो गई। कंस पुनः वोल उठा—'बहन देवकी, देखो हमें भूल न जाना! यह मथुरा, यह यमुना! हमें पूर्ण आशा है वहन देवकी, तुम इसे कभी न भूल सकोगी, कभी न!'

देवकीने कंसकी ओर देखा। कंस देवकीकी ही ओर देखकर अपनी बात समाप्त कर रहा था। घोड़ोंकी रास उसके हाथमें थी, और घोड़े वायुके सागरमें कूदेसे जारहे थे।

वसुदेव बोल उठे—'मथुरा और यमुनाको ही क्यों कुमार, भला देवकी तुम्हें भी कैसे भूल सकेगी? तुम्हारे ऐसे वलिष्ठ, और महापराक्रमी भाईका स्नेह उसे कहाँ मिलेगा?'

कंस अट्टहास करके हँस उठा—'वलिष्ठ और महापराक्रमी।'

कंसने आवेगमें घोड़ोंकी पीठ पर, कसकर कशाघात किया। घोड़े हिनहिना उठे। कंसने भी, घोड़ोंकी भाँतिही हिनहिनाते हुए कहा—'मेरा वल और पराक्रम! मेरे बल और पराक्रमकी तो आप उस समय प्रशंसा करेंगे आर्य, जव मैं संपूर्ण धरतीको अपने पैरों से नाप लूँगा।'

कंसने अपनी वात समाप्त करके वसुदेवकी ओर देखा। वसुदेवकी आकृति पर गंभीरता उमड़ रही थी। वसुदेवके कुछ बोलनेके पूर्व ही शीघ्रतासे देवकी बोल उठी—"और तब मैं अपने महापराक्रमी भाईकी वलिष्ठ भुजाओंकी बलैयाके गीत गाऊँगी।'

कंस दर्पके साथ जोरसे हँस उठा—'गाओगी नहीं देवकी, तुम्हें गाना ही पड़ेगा। मेरा पराक्रम, तुम्हें गानेके लिए वाध्य करेगा, वाध्य करेगा!'

कंसकी वाणी देवकीके कर्ण-कुहरोंमें गूँज उठी। पर कंसके कर्ण-कुहरोंमें कोई दूसरा ही रव-महारव गूँज उठा—"मूर्ख, जिस देवकीसे तू अपने पराक्रमके गीत गानेकी आशा कर रहा है, उसीके गर्भसे उत्पन्न आठवाँ पुत्र, तुम्हारा सर्वान्त करेगा?"

कंस चकित-विस्मित हो उठा। वह घोड़ोंकी रासको खींचता हुआ बोल उठा—'यह रव, किसकी वाणीका रव! क्या आकाश वाणी! आर्य, आपने भी सुना! अभी अभी, किसीने क्या कहा है?'

वसुदेवने भीत नेत्रोंसे कंसकी ओर देखा। कंसके कर्ण-कुहरोंमें प्रतिध्वनित रव वसुदेव और देवकीके कानोंमें भी गुंजित हुआ था। पर फिर भी वसुदेवने कंसकी वातका कुछ उत्तर न दिया, और देवकी! देवकी भयभीत मुद्रासे कंसकी ओर देखने लगी, और देखने लगी।

कंसकी दृष्टि अस्थिर-सी हो उठी थी। वह कभी वसुदेवकी ओर, कभी देवकीकी ओर, और कभी आकाश तथा सामने फैले हुए अनन्त वायुमण्डलकी ओर देख रहा था। अरे यह

क्या ? यह तो फिर आकाशका सागर मथ उठा, और देखते ही देखते संम्पूर्ण गगन मण्डल गूंज उठा—"मूर्ख, जिस देवकीसे तू अपने पराक्रमके गीत गानेकी आशा कर रहा है, उसके गर्भसे उत्पन्न आठवाँ पुत्र तुम्हारा सर्वान्त करेगा ?"

कंस चीत्कारकर उठा—'आकाशवाणी, आकाशवाणी !' उसने नेत्रोंमें क्रूरताका विष उँड़ेलकर वसुदेवकी ओर देखा, और देखा, देवकीकी ओर। वसुदेव गुमसुम, स्तब्ध, और देवकी ! देवकीका हृदय तो फेनिल सागर बना हुआ था।

कंसकी तनी हुई भौंहें और भी अधिक तन गईं। वह हाथमें घोड़ोंकी रास पकड़े हुए सोचने लगा, रह रहकर सोचने लगा। उसके कर्ण-कुहरोंमें आकाशवाणीके शब्द रह-रहकर टकरा रहे थे, और टकरा-टकराकर उसके प्राणोंके भीतर तूफान उत्पन्न कर रहे थे—बहुत बड़ा तूफान—'यह देवकी ! इसके गर्भका आठवाँ पुत्र उसका काल, उसकी मृत्यु !'

कंस काँप उठा। उसे लगा, कि स्वयं देवकी ही उसकी मृत्यु हो। वह घोड़ेकी रास छोड़कर, नीचे कूद पड़ा, और म्यानसे खड्ग खींचकर तड़ित वेगसे देवकी पर टूट पड़ा।

रथके घोड़े हिनहिना उठे। आसपास वृक्षोंकी डालियों पर बैठे हुए पक्षी आकाशमें उड़-उड़कर चहचहाने लगे, और धूपकी सेजों पर सोयी हुई हिरणियाँ उठ-उठकर खड़ी हो गईं, और विस्फारित नेत्रोंसे उस तलवारकी ओर देखने लगीं, जो सर्पिणीकी भाँति देवकी पर झपट पड़ी थी।

पर देवकी तक पहुँचनेके पूर्व ही वसुदेवने उसे अपनी ढाल पर ले लिया।

कंसकी कोपाग्नि भड़क उठी। वह नेत्रोंसे चिनगारियाँ उँड़ेलता हुआ, बोल उठा—'मैं देवकीको, जीवित रहनेके लिए छोड़ नहीं सकता वसुदेवजी ! सुनी नहीं, आकाशवाणी ! इसका आठवाँ गर्भ ! इसका आठवाँ गर्भ !!'

कंसकी तलवार, फिर सर्पिणीकी भाँति देवकी पर टूटनेके लिए व्यग्र हो उठी, पर वसुदेवजीने तड़ितगतिसे नीचे कूदकर कंसको पकड़ लिया। कंस वसुदेवजीको झटकता हुआ बोल उठा—"क्या तुम युद्ध करोगे वसुदेवजी ! मैं देवकीके साथ ही साथ तुम्हें भी आज मृत्यु की गोदमें सुलाकर छोड़ूँगा !"

कंसके नथने रह-रहकर फड़क रहे थे। तलवारकी मूठपर पड़ी हुई उसकी मुष्टिका रह-रहकर कसती जा रही थी। वसुदेवजी उसकी ओर देखकर, अपने भीतरकी सम्पूर्ण आर्द्रता, और मृदुला बिखेरते हुए बोल उठे—'नहीं, नहीं कुमार, भला मैं तुमसे युद्ध करूँगा ? कहाँ तुम, कहाँ मैं !! तुम्हारा पराक्रम, तुम्हारी वीरता ! मैं क्या कुमार, उसे स्वर्गका अधिपति, इन्द्र भी नहीं छू सकता।'

कंसकी मुष्टिका कुछ शिथिल हुई। वह वसुदेवकी ओर देखने लगा, और देखते ही देखते फिर क्रोधके स्वर में बोल उठा—'तो फिर पृथक हो जाइए वसुदेवजी ! आज मेरी तलवार देवकीका सर्वान्त ही करके रहेगी। उसके गर्भका आठवाँ पुत्र ! मैं देवकीका सर्वान्त करके उसके आठवें पुत्रके उत्पन्न होनेकी आशा-संभावनाका ही सर्वान्त कर दूँगा।'

कंसकी मुष्टिकामें और भी अधिक तीव्रता उत्पन्न हो उठी। वसुदेवजी कंसके और भी अधिक निकट जाते हुए बोल उठे—'नहीं, नहीं कुमार, मैं ऐसा न होने दूंगा। मैं तुम्हारी उस वीरताको कलंकित न होने दूंगा कुमार, जिसके यशका गान मनुष्य ही नहीं, देवता भी कर रहे हैं। तुम्हारे जैसे महापराक्रमी और शूरवीरकी तलवार एक नारी पर उठेगी कुमार, अबला नारी पर! 'नारी' भी कैसी, जो तुम्हारी बहिन है, और जिसके विवाहकी लाक्षाकी रेखायें भी अभी धूमिल नहीं हुई हैं।'

कंसके नेत्र स्थिर हो उठे, और वह विजड़ित-सा वसुदेवजीकी ओर देखने लगा। वसुदेवजी अपनी वाणीमें, प्रभावमयता भरते हुए पुनः बोल उठे—'हाँ कुमार, मैं सत्य कह रहा हूँ। देवकी पर प्रहार करनेसे तुम्हारी वीरता कलंकित हो जायगी। सोचो तो कुमार, कहाँ तुम और कहाँ देवकी! देवकी एक निःशक्त नारी, और तुम मथुराके नृपति, इन्द्र विजेता। तुम्हारी तलवार देवकीके कंठ पर पड़नेके लिए नहीं है कुमार!'

पर देवकीके गर्भका आठवाँ पुत्र!—कंसने वसुदेवकी ओर तीव्र दृष्टिसे देखते हुए कहा—उसका आठवाँ पुत्र मेरी मृत्यु! आपने आकाशवाणी नहीं सुनी वसुदेवजी!

सुनी कुमार!—वसुदेवजीने उत्तर दिया—पर क्या विश्वास, आकाशवाणी सत्य होकर रहेगी! केवल आकाशवाणीके ही आधार पर अपनी स्नेहमयी बहिनको मृत्युकी वेदिका पर बलि चढ़ा देना तुम्हारे जैसे परम ज्ञानीको शोभा नहीं देता कुमार! मानलो आज देवकीकी बलि देदी, और यदि आकाशवाणी सत्य न हुई तो!

आकाशवाणी!—कंस गंभीरताके स्वरमें बोल उठा—आकाशवाणी देववाणी होती है वसुदेवजी! आजतक तो कभी सुना नहीं, देववाणी असत्य हुई है!

मानता हूँ कुमार!—वसुदेवजीने कंसके प्राणोंको अपने शब्दोंमें जकड़नेके उद्देश्यसे कहा—आकाशवाणी कभी असत्य नहीं होती। पर कुमार, एक बात पूछता हूँ, क्या तुम उसका उत्तर दोगे!'

कंस निर्निमेष वसुदेवजीकी ओर देखता बोल उठा—'क्यों नहीं? जो कुछ पूछना चाहते हैं, शीघ्र पूछिए। मैं अवश्य उत्तर दूंगा, अवश्य उत्तर दूंगा।'

वसुदेवजीकी आकृति पर गंभीरता खेल गई। वे अपने भीतरकी संपूर्ण शक्ति अपनी वाणीमें भरकर बोल उठे—'बताइए कुमार, शान्त चित्त होकर बताइए! क्या इसके पूर्व आपकी कभी मृत्यु नहीं हुई है, और यदि देवकीके गर्भका आठवाँ पुत्र आपकी मृत्युका कारण न बने, तो क्या आपकी कभी मृत्यु न होगी!'

कंस अपने भीतरके उद्वेगों-आवेगोंसे मथित होता बोल उठा—'मैंने समझा नहीं वसुदेवजी! वसुदेवजी, तुम क्या कहना चाहते हो? जो कुछ कहना चाहते हो, शीघ्र कहो वसुदेवजी, स्पष्ट और साफ-साफ कहो!!'

वसुदेवजीने कंसकी ओर देखा, और देखा उसके उस अन्तरालको, जिसमें कोपके बवण्डर उठ रहे थे। वसुदेवजीकी गंभीरता और भी अधिक गंभीर हो गई, और वे उसमें डूबते

हुए बोल उठे— 'मैं यह कहना चाहता हूं कुमार, मृत्यु जीवनमें अवश्य आती है। जीव जन्म लेता है और फिर उसे अपने कर्मोंके अनुसार मृत्युकी गोदमें सोना भी पड़ता है। जब मृत्यु अवश्यम्भावी है कुमार, तो क्या उससे बचनेके लिए पापका आश्रय लेना उचित है? यदि तुम मृत्युसे बच सकते कुमार, तो मैं अवश्य तुम्हें यही सलाह देता, तुम देवकीकी वलि देकर मृत्यु से बच जाओ। पर दुःख तो यही है कुमार, तुम देवकीकी वलि देकर भी मृत्युसे न बच सकोगे—न बच सकोगे!'

वसुदेवजीके अंतिम शब्दोंने कंसको विक्षिप्त-सा बना दिया। उसने एक ही झटके में उन संपूर्ण अमृत-प्यालोंको तोड़-फोड़कर चूर-चूरकर डाला, जिन्हें वसुदेवजीने बड़े यत्नसे गढ़-गढ़कर तैयार किये थे। वह अपनी मुष्टिकासे तलवारकी मूंठको कसकर दबाता हुआ दर्पके साथ बोल उठा—'मृत्यु! मैं मृत्युको भी अपने पराक्रमसे रौंदकर रहूँगा वसुदेवजी! वसुदेवजी, मृत्यु मेरे जीवनमें कभी न आयेगी, कभी न आयेगी। मैं एक-एक करके उन संपूर्ण फंदोंको काट दूंगा वसुदेवजी, जिनकी समष्टिको ही लोग 'मृत्यु' कहते हैं। यह देवकी! यह देवकी भी मेरी मृत्युका एक फंदा है वसुदेवजी, मैं आज इस फंदेको काटकर रहूँगा—काटकर रहूँगा'!!

कंसकी तलवार पुनः उठ पड़ी, और वसुदेवजी पुनः आर्द्रताके साथ बोल उठे—'नहीं कुमार, ऐसा मत करो। देवकी तो निपराध है कुमार। अपराध देवकीके द्वारा नहीं कुमार, उसके उस पुत्रके द्वारा होगा, जो अभी उसके गर्भमें आने वाला है। तुम देवकीको छोड़दो कुमार। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, देवकीके गर्भसे जितनी भी संतानें उत्पन्न होंगी, मैं सबको लाकर तुम्हारे चरणोंमें डाल दूंगा!'

कंस स्तब्ध-सा हो उठा। उसकी उठी हुई तलवार रुक गई। वह वसुदेवजी की ओर देखता हुआ बोल उठा—'वसुदेवजी, समझ-बूझकर प्रतिज्ञा कीजिए। कहीं ऐसा न हो, संतानके मोहमें पथभ्रष्ट होना पड़े!'

वसुदेवजीने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—कुमार, ऐसा कभी न होगा। सूर पुत्र वसुदेव, कभी किसीको यह कहनेका अवसर न देंगे, उन्होंने अपनी भार्याके प्राणोंकी भिक्षा सत्यको बेचकर ग्रहण की।

कंसकी तलवार झुक गई, और फिर वसुदेव बोल उठे—'तो क्या, अब मुझे जानेकी आज्ञा है कुमार'!!

कंसने कुछ उत्तर न दिया। वसुदेवजी कूदकर रथपर जा बैठे। एक कशाघात, घोड़े हिनहिनाकर चल पड़े। पर अब घोड़ोंकी रास वसुदेवजीके हाथ में थी।

कंस खड़ा-खड़ा रथकी ओर देखने लगा, और सोचने लगा, दूर की बात, बहुत दूर-की बात!

❁

जिस पुरुषके हृदयमें वासुदेवकी निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता सद्‌गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं।

गूकल हृदय म्योन तति चोन गूर्यावानु,
च्यथ ध्यमर्शु दिफतिमानु बगुवानो।
ग्रच म्याजि गूपियि चे पतु लारानु।
बनसरीनादु वादुम तानो।
न शिरिथ ह्यस तु होशम शिरिथ परतु पानु॥

'हे भगवान्, मेरा हृदय ही गोकुल है। वहीं तुम्हारी गउएँ रहती हैं। मेरे हृदयकी वृत्तियाँ ही गोपिकाएँ हैं, जो आपकी वंशी-ध्वनिको सुनकर परम उन्मत्ता हो अपने और परायेका भेदभाव भुलाकर तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ पड़ती हैं।

कश्मीरी कवि परमानन्दकी कृष्णलीला

श्रीशिवसागर त्रिपाठी

कृष्ण भारतीय जन-जीवनके कण-कणमें कहीं यदुकुलकुलकमलदिवाकर, वीरपुंगव, राजाश्रेष्ठ कंसारि, तो कहीं गोपाल, गोपीजनवल्लभ, और राधाधर-सुधापान, शालि-वनमालीके रूपमें अन्तः तक समाये हुए हैं। सर्वप्रथम महाकवि' 'अश्वघोष' की वाणी से, 'ख्यातानि कर्माणि च यानि सौरेः शूरादयस्तेष्ववला बभुवुः' जो सुधारस प्रवाहित हुआ, उससे सिंचित हुए बिना भारतीय-साहित्यका कोई भी अंग वंचित न रह सका। संस्कृतेतर भाषासाहित्य, प्रधानतः—हिन्दी, गुजराती, और कश्मीरी आदि भाषाओंमें श्रीकृष्ण चरितका जो अंकन, एवं उनकी लीलाओंका जो मनोरम गुम्फन कविवाणी द्वारा निर्भय कल्पना-भावमें हुआ है, उसके अनुशीलन, अथवा आलोडन-विलोडनसे आज भी हमारा हृदय कृष्णके अनुपम रूप और उनकी लीलाओं पर मुग्ध हुए विना नहीं रहता। सूर, नन्ददास, रसखान, मैथिलि कवि विद्यापति एवं गुजरातीकवि दयारामकी ही भाँति कश्मीरी कवि परमानन्दजी ने भी कृष्णचरितका गान अत्यन्त ही सरस, मनोरम काव्यशैली, और मनोवैज्ञानिक भाव-व्यंजना-के साथ किया है। इतना अवश्य है, उनके समग्र वर्णन को अन्ततोगत्वा भक्तिपरक कहा जाय तो अधिक संगत होगा।

परमानन्दजी पूर्ण कवि थे। उन्होंने कृष्णचरितसे सम्बन्धित-स्फुट और प्रबन्ध, दोनों प्रकारकी रचनाएँ की हैं राधा—स्वयम्वर और सुदामु चर्यथ। कविकी रचनाओंमें

भक्ति, शृंगार, और आध्यात्म तीनों प्रकारके भावोंका अंकन हुआ है। भक्तिपरक रचनाओं में कविने कृष्णको माता, पिता, बन्धु, रक्षक, विपत्ति-विदारक. अनाथोंके नाथ आदि रूपोंमें मानकर, उनसे प्रार्थनाकी है, अनुनय, निवेदन, और अनुरोध किया है। आध्यात्मिक पृष्ठभूमिमें कविने जीव और आत्माके रूपक द्वारा श्रीकृष्णके सान्निध्यमें पहुँचनेकी अभिलाषा व्यक्तकी है। इसका पूर्ण प्रतिपादन 'सुदामा चर्यथ'में प्रकट हुआ है। शृंगारपरक भावोंकी अभिव्यंजना, राधाविषयक प्रेमानुरागको लेकर ही परमानन्दजी को करना इष्ट था। अस्तु, परमानन्दजीको सांसारिक प्रिय वस्तुओं, वन्धु-बान्धवों पर कुछ भी विश्वास नहीं, अनुराग नहीं, उनसे कोई मोह नहीं; क्योंकि सांसारिक चित्तवृत्ति तो ईर्ष्या, मोह, माया, और मत्सरकी जननी है, अतः वे भगवान् पर, उनकी कृपा पर आश्वस्त होकर कहते हैं—

परमानन्दु छुय च्ये सन्तानु अरमानु
सनतान ओसुय स्वनु तानो,
हा चे सन्तान मा आसिहिय मारानु।
सनतानु सुन्दि खोतु टोठ जान बगवानु
टाठ्यन टाठ्य खश करानो···।।

'हे परमानन्द, तुम निस्सन्तान होनेके कारण चिन्तातुर हो, तुम्हारे विचारसे पुत्र अमूल्य निधि है, परन्तु तुम यह क्या नहीं सोचते, पुत्र तुम्हें मार भी सकता है—यदि पुत्र कुपुत्र हुआ तो तुम्हारी प्रतिष्ठाकी भी हानि होगी। इसलिए पुत्र-पुत्र न करो, उसकी चिन्ता हृदय से निकाल दो, भगवान् श्रीकृष्णको ही परमप्रिय जानो, उनके ही नाम का स्मरण करो।', कितनी अगाध श्रद्धा, कितनी उत्कट भक्ति, और कितना दृढ़ विश्वास है! इससे यह भी ज्ञात होता है, कवि निस्सन्तान थे।

मेरा पथ टेढ़ा-मेढ़ा है, और पापोंका वोझ मेरे सिर पर लदा हुआ है, परन्तु इस वोझकी रस्सियाँ ढीली-ढाली हैं और वोझका परिमाण है बहुत बड़ा। रस्सियों के ढीली होनेके कारण वोझ फिसलकर कन्धों पर आ गया है। अब इस ढीले बोझ को लिए हुए मैं घाट तक कैसे पहुँचूँगा? शरीरके सभी अंग अकड़ चुके हैं, और मेरा गन्तव्य बहुत दूर है, साथ ही इन्द्रियाँ सर्वस्व लूट लेनेके लिए सन्नद्ध हैं।—अब मैं असहाय हूँ, अतः हे प्रभु—

तार दिम यवु तवु बवसर नतु फटु
रंगु रंगु मंगनस वु टंगु आसुत
मोंगमय यिकुवट चुंति दिम यिकुवटु ।।

'जिस भी किसी प्रकार हो सके, इस जनको तुम भवसागरसे पार करो, अन्यथा निरुपाय और निस्सहाय होकर वह इसीमें डूब जायगा। बार-बार यह याचना कर-करके मैं अब ऊब गया हूँ। अबकी वार पुनः निवेदन किया है, फिर नहीं करूँगा—"त्राहि माम त्राहे पाहे मुरारी। कटु संकट हीमो कटु दारी।"

राधा-स्वयंवरमें कवि कहता है—'तपस्या करनेवाले अभिमानसे हर्षोन्मत्त होकर उमग उठे, हम भगवान्का रहस्य जानलें, परन्तु आयु समाप्त हो गयी, फिर भी नहीं जान

पाये, और दूसरे जन्म में पुनः उसकी खोजमें घूमने लगे—आप जब स्वयं किसी पर अनुग्रह करके अपना आपा दिखाकर, उसका रहस्य आभासित करा देते हैं, तो वह अपना अहं त्याग कर आपका साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो पाता है। इसलिए यह परमानन्द—

राथ दोह परमानन्द छुय कांछानु।
परमु आनन्दु युद छु पान्य पानो,
वन्य वन्य वनुनुय वन्य चे दीवानु॥
भक्तन चान्मय छु असत्वथ क रानु,
स्वस्थित तिहुन्दि मुखु आसानो,
बुजिरस हथु हथु अथरोट कांछानु॥

'आपका चिन्तन रान-दिन करता रहता है। जब वह स्वयं परमानन्द है तथापि वह बार-बार आपके भजन गाता रहता है, और वन-वनमें आपकी खोज किया करता है, इतना ही नहीं, वह आपके भक्तोंको भी सदा अनुनय-विनय द्वारा प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। कारण, उसे पता है, भक्तोंका अनुग्रह परमावश्यक है।'

परमान्दजीने श्रीकृष्ण लीलाका वर्णन भक्तिभावमें ही रमकर किया है, कहीं भी उन्होंने उनके रूप आदिका वर्णन अभीष्ट नहीं समझा है। हाँ राधाके रूपकी एक झाँकी अवश्य लीजिए—

चन्दन मंजुलिम आसिस अलुरानु
स्वनु जालारु मुख्तु वुरानो
मुख तस वुछिथ मुखुतस ओश यीवानु।
त्युथ छुनु आकाशि चन्दुरसु प्रजुलानु
चन्द्रलूख स्वन्दुरन ति आसानी
मोख्तु फोलरव दायि डबु बा लिजिक रानु॥

'मोती जड़ित सोनेकी झालरसे युक्त पालनेमें राधाके मुख-सौन्दर्यको देखकर स्वयं मोती वेचारे लज्जित होकर रुँआसे होने लगते हैं। यही नहीं, उस राधाकी मुखाभ के सामने स्वयं चन्द्रमाकी भी कान्ति व्यर्थ है। उसकी सुन्दरताकी ईर्ष्या इन्द्रकी अप्सरायें तक करती हैं। वह एक अमूल्य मोती थी, जिसे उसकी सेविकाएँ दिल रूपी डिबियामें संरक्षणकी दृष्टिसे सदा रखा करती थीं।'

रास और वंशीध्वनि

अन्य कृष्णभक्त कवियों की भाँति परमानन्दजीने भी कृष्णकी रासलीला एवं वंशीवादन-प्रभावका वर्णन करना अनुचित नहीं समझा है। यह और बात है, एतद्विषयक पद उनकी कवितामें अत्यल्प मात्रामें प्राप्त होते हैं। पर जो भी हैं, वे भाव, व्यंजना तथा विषयकी दृष्टिसे उत्कृष्ट हैं'—'कान्हाकी वंशीध्वनिको सुनकर बछड़े तथा गायें चरना बन्द कर देती थीं, व्यास नारद तथा अन्य संन्यासी अपने शरीर पर भस्म मला

करते थे। उन्हें ईर्ष्या थी, ये गोपिकाएं ही क्या, परमभाग्य-शालिनी हैं, यदि हम भी इसी प्रकार गोपियाँ होते तो कृष्णकी वंशीध्वनिके मधुर नाद-श्रवण करनेका सौभाग्य अवश्य मिलता।" क्योंकि वे देखते थे कि—

मुरली वूज्य वूज्य स्वरु आसु उलानु
असान कुनि कुनि बदानो
तनु मनु गूर्य-कनि अरन्य छावानु॥

'वंशीकी ध्वनि गूंजी नहीं, गोपिकाएं मुग्ध होकर, अपनी सुध-बुध खो बैठती थीं। वे सबकी सब ऊहापोहमें पड़कर कभी हंसती, और कभी रोने तक लगती थीं। यही नहीं, उस वंशीध्वनिका श्रवण करके, पूर्णतया मुग्ध होकर उसीका अनुसरण सी करतीं, वन-वीथिकाओंमें घूमने लगती थीं। फिर वन-मध्य वे गोपिकाएं प्रेमाधिक्यसे स्वरानुसरण करती हुई नृत्य एवं रास करने लगतीं।' कवि का कथन है—

प्रेमासव पान करके हजारों गोपिकाएं रास-मण्डलके अगल-बगल नृत्यमें लीन थीं। वे एक दूसरेका हाथ पकड़कर राधा, राधा—कृष्णकी रट लगाती जाती थीं इसे देखकर कविवाणीका रास देखिए—

रास गव येति समि रसु समुदुर
रास गव येति चमि चोक तु मोदुर
रास गव जि रूदुमुत आसि नु अपरादा।

'रास उसे कहते हैं, जब प्रेमानन्दका सागर उमड़ता है। रास उस स्थितिका नाम है, जहां मीठे-कड़वेकी प्रतीति न रहने पाये। रास वहां रहता है, जहां कोई अपराध न रहा हो।'

कितना सारयुक्त कथन है!

●

अमर बिन्दु

सहजो सुमिरण कीजिये,
हिरदै मांहि दुराय।
ओठ ओठ सूना मिलै,
सकै नहीं कोउ पाय॥
राम नाम यों लीजिये,
आणे सुमिरण हार।
'सहजो' कै करतार ही,
जाणै ना संसार॥
जाग्रत में सुमिरण करे,
सोवत में लव लाय।
'सहजो' इकरस हो रहै,
तार टूटि ना जाय॥
सील क्षमा संतोष गह,
पाँच इंद्रिय जीत।
नाम नाम लै सहजिया
मुक्त होण की रीत॥
'सहजो' नौबत श्वासकी
बाजत है दिन रैन
मूरख सोवत है कहा,
चेतन को नहिं चैन।

—सहजोबाई

"यह विचार लाना अज्ञानता है—निरी अज्ञानता है, संसार हमीं से है, या संसार में हमीं केवल एक हैं ज्ञानी शूर-वीर, धर्मध्वजी, उदार, नेता, रण-कुशल, सुन्दर और वैभव सम्पन्न।"

जयी पितामह

श्रीअखिलेश

महाभारतका युद्ध समाप्त हो गया था। भीष्म बाणोंकी शय्या पर लेटे हुए अपने जीवनकी महासंध्याकी प्रतीक्षा-पथ पर आँखें लगाए हुए थे। पाण्डव प्रतिदिन भीष्मकी सेवामें उपस्थित होते, उनके चरणोंमें श्रद्धाके पुष्प चढ़ाते, और उनसे ज्ञान, नीति, और धर्मकी बातें सुना करते थे। पितामहकी पाण्डवोंके लिए छूट थी, वे जीवनकी इस संध्या वेलामें, अपनी चाहे जो भी ग्रंथि सुलझा सकते हैं—किसी भी प्रश्नको पूछ कर, उसका उत्तर उनसे जान सकते हैं।

दोपहरकी वेला थी। पाण्डव पितामहको घेरकर, बैठे हुए बड़ी श्रद्धासे निर्निमेष उनकी ओर देख रहे थे। शान्तिमूर्ति, अविचल पितामहने युधिष्ठिरकी ओर देखा, और देखते ही देखते कहा—"युधिष्ठिर, तुम्हें मुझसे और कुछ तो नहीं जानना है ? तुम मेरी सभी बातें भली भाँति समझ तो गए हो ?"

"हाँ पितामह !—युधिष्ठिरने विनीततासे उत्तर दिया—मैं सबकुछ समझ गया हूँ। अब कुछ समझना शेष नहीं है पितामह ! आपकी असीस अनुकम्पाके लिए मैं कृतज्ञ हूँ पितामह ! आपने मेरे हृदयकी सारी ग्रंथियाँ खोल दीं—मेरे संपूर्ण प्रश्नोंका उत्तर देकर मुझे चिर आश्वस्त बना दिया···।"

भीष्म मुस्करा उठे। कुछ क्षणों तक मन ही मन सोचते रहे। फिर विचारोंमें डूबे हुए अपने ही आप बोल उठे—"मुझे सुख और संतोष है युधिष्ठिर, तुम्हें अब मुझसे कुछ भी जानना नहीं है। मैं अब अपनी महाप्रयाण यात्राको बड़ी निश्चिन्तताके साथ पूर्ण करूंगा।"

पितामह मौन हो गए, कुछ सोचने लगे। कुछ क्षणोंके पश्चात्-युधिष्ठिरकी ओर देखकर पुनः बोल उठे—"युधिष्ठिर, मेरी एक अन्तिम अभिलाषा है। क्या तुम पूर्ण कर सकोगे ?"

"क्यों नहीं पितामह"—युधिष्ठिरने उत्तर दिया।

"मेरी इच्छा है युधिष्ठिर!—भीष्मने सोचते ही सोचते कहा—मेरा अन्तिम संस्कार किसी ऐसे स्थान पर किया जाय, जहाँ आज तक किसीका अंतिम संस्कार न हुआ हो।"

युधिष्ठिरके मुखसे निकल पड़ा—"ऐसा ही होगा पितामह! आपकी इस अन्तिम इच्छाको मैं अवश्य पूर्ण करूँगा।"

पितामहके अधरों पर मुस्कराहटकी हल्की रेखा दौड़ गई, और उन्होंने आँखें बंद करलीं, सदाके लिए आँखें बंद करलीं।

युधिष्ठिरने अपने महापराक्रमी चारों भ्राताओंको आदेश दिया, वे शीघ्र ही किसी ऐसे स्थानकी खोज करें, जहाँ किसीका अंतिम संस्कार न हुआ हो।

चारों भाई चारों दिशाओंकी ओर चल पड़े। संवाद भी भेजे गए। दूत और सैनिक-सामन्त भी छिटक पड़े। पर कहीं भी कोई ऐसा स्थान न मिला, जहाँ किसीका अंतिम संस्कार न हुआ हो।

पाण्डव चिन्तित हो उठे, और निराश। युधिष्ठिरकी चिंताका तो कहना ही क्या? उनेके लिए यह कितने दुःखकी बात है, वे पितामहकी एक लघु कामनाको भी पूर्ण करने में अपनेको असमर्थ पा रहे हैं।

एकदिन युधिष्ठिरके सामनेसे एक अति वृद्ध निकला। उसके वृद्धत्व पर अनुभवों की छाप थी। युधिष्ठिर उसे देखकर विनीत भावसे उससे पूछ बैठे—"बाबा, क्या आपको किसी ऐसे स्थानका पता है, जहाँ अभी किसीका शव न जलाया गया हो।"

वृद्धने एक पहाड़ीका नाम बताते हुए उत्तर दिया—"हाँ है, वह अमुक पहाड़ी। मैंने अपनी इतनी लंबी अवस्थामें कभी नहीं देखा, जब वहाँ किसीका शव जलाया गया हो, या कोई दफन किया हो।"

पाण्डव प्रसन्न हो उठे। पितामहका शव अंतिम संस्कारके लिए पहाड़ी पर पहुँचाया गया। चिता निर्मित हुई। पितामहका शव चिता पर रखा ही जा रहा था, कोई अकाशवाणीमें बोल उठा :—

अत्र भीष्म शतं दग्धं पाण्डवानां शत त्रयम्।
द्रोणाचार्य सहस्रंच कर्णं संख्या न विद्यते॥

पाण्डव विस्मित हो उठे—आश्चर्य चकित। युधिष्ठिरकी मुखाकृति पर म्लानता की रेखा दौड़ पड़ी। भीमने दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा—"तो फिर यह समझा जाय, हमारा श्रम व्यर्थ हुआ?"

नकुलने दुःख प्रकट करते हुए कहा—"हत भाग्य, हम पितामह की एक अन्तिम इच्छा भी न पूर्ण कर सके।"

अर्जुन भी बोल उठे—"पर निस्पृह पितामहने ऐसी साधारण, किन्तु असाधारण कामना क्यों की, क्यों?

युधिष्ठिर अभी तक मौन थे। उन्होंने अपने भ्राताओंकी बात सुनकर सबकी ओर देखते हुए कहा—"पितामह महान् थे, अति महान्। उनमें प्रकांड ज्ञान था। उन्होंने हमें अनेक प्रकारकी शिक्षाएँ दीं। पर क्या हम ठीक-ठीक उन्हें समझ सके? उन्होंने एक अंतिम और सबसे बड़ी शिक्षा हमें और दी है।"

अर्जुनने उत्कंठासे प्रश्न किया—"कौन सी शिक्षा?"

युधिष्ठिरने उत्तर दिया—"अर्जुन, तुम्हें अपने गांडीवका गर्व है न, भीम, तुम्हें अपनी भुजाओंकी शक्ति का दर्प है न, नकुल सहदेव, तुम्हें अपने सद्गुणों, और बुद्धिका अभिमान है न! यही क्यों, मुझे भी तो अपने सत्य और धर्मका अहंकार था। कौरवोंको युद्धमें पराजित करनेके पश्चात् हम सबके अहंकारोंका शिखर और भी अधिक ऊँचा उठ गया था। पर पितामहने एक ही झटकेमें उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। पितामहका उद्देश्य केवल हमारे मदको चूर्ण करना था, ध्वस्त करना था। नहीं तो, इतने महान् वीतरागी होकर भला अपने मृत शरीरके लिए क्यों क्या चिन्ता करते?

'अर्जुन, पितामहकी शिक्षाका सार आकाशवाणीमें निहित है' हम सब यही तो समझते थे, इस पहाड़ी पर आज तक किसीका शव नहीं जलाया गया, पर इसके पूर्व "यहाँ सौ भीष्मोंका शव जलाया जा चुका है, तीनसौ पाण्डवोंका अंतिम संस्कार हुआ है, एक सहस्र द्रोणाचार्य का पार्थिव शरीर भस्मके रूपमें परिणत हो चुका है, और कितने कर्ण यहाँ मिट्टीमें मिल चुके हैं, इसकी तो गणना ही नहीं है।"

अर्जुनके भीतरसे एक दीर्घ निश्वास निकल पड़ी। भीमने व्यथा मिश्रित स्वरमें कहा—"दादा, क्या हमारे जैसे बलवानों, शूरवीरों और महाज्ञानियोंका यही अंतिम परिणाम है?"

युधिष्ठिरने उत्तर दिया—"हाँ संसारका प्रवाह-अखंड रूपसे चलता ही रहता है। कितने ही पुष्प संसारके प्रवाहमें बह गए, कितने बहे जा रहे हैं, और कितने अभी बहेंगे कोई नहीं कह सकता, कोई नहीं कह सकता!"

यह विचार माना अज्ञानता है, निरी अज्ञानता है, संसार हमीं से ही है, या संसारमें केवल हमीं एक हैं, ज्ञानी, शूरवीर, धर्मध्वजी, उदार, नेता, रणकुशल, सुन्दर और वैभव सम्पन्न!!

अर्जुन, पितामहने हमें सचमुच महान् शिक्षा प्रदानकी है। पितामह विजयी हुए अर्जुन! उन्होंने अपने मृत शरीरसे हम सबको पराजित करके, अपनी अजेयताकी घोषणा की है।

आओ, अर्जुन हम सब उन्हें नत होकर प्रणाम करें!"

पाण्डव नत हो गए। उनका वह विनत प्रणाम!

कौन कह सकता है, उसमें महान् पितामहके लिए उनके हृदयकी कितनी श्रद्धा थी।

●

'संतोष' ही परम धन, और 'शान्ति' ही सुख का स्रोत है।

"गीता महाभारतका नवनीत है। इसमें ज्ञान, उपासना एव कर्मकाण्डकी पवित्र त्रिवेणीका संगम है, जिसमें अवगाहन कर जीवनका हर क्षेत्र शुद्ध, सरल, और सुखमय बन जाता है। यह वह कामधेनु है, जिसको दुहकर धनुर्धर पार्थने पिया है। इस छोटे-से ग्रंथमें भगवान् वेदव्यासने 'गागरमें सागर' भरने वाली कहावतको चरितार्थ कर दिखाया है।"

गीताका प्रथम मन्त्र—धृतराष्ट्र उवाच

श्रीउमाशंकर दीक्षित, एम. ए., सा०, रत्न

श्रीमद्भगवद्गीता विश्व मानवधर्मका सर्वमान्य, सद्ग्रन्थ है। विश्वके हर मानव ने इसे हृदयंगम किया है। सात सौ श्लोकोंकी इस लघु कृतिने समस्त विश्वको ज्ञानका वह आलोक प्रदान किया है, जिसके दिव्य प्रकाशसे मानसका कोना-कोना चमक उठा है। गीता महाभारतका नवनीत है। इसमें ज्ञान, उपासना, एवं कर्मकाण्डकी पवित्र त्रिवेणीका संगम है, जिसमें अवगाहन कर जीवनका हर क्षेत्र शुद्ध, सरल, और सुखमय बन जाता है। यह वह कामधेनु है, जिसको दुहकर धनुर्धर पार्थ ने पिया है। इस छोटेसे ग्रन्थमें भगवान् वेद-व्यासने 'गागर में सागर' भरनेवाली कहावतको चरितार्थ कर दिखाया है। इसमें वेदशास्त्रोंके अगम्य विश्वदर्शनको बड़े ही सरल शब्दोंमें प्रकटकर दिखाया गया है। सद्गृहस्थको कर्तव्य-परायणता, तथा संन्यासीको मोक्ष-धर्मका उपदेश देकर गीताने जीवनके लोक और परलोक दोनों पहलुओंको अति सुगमतासे सुलझा दिया है। अंधकारमय जीवनको एक ज्योतिर्मय मार्ग प्रशस्त करना ही गीताका परम लक्ष्य है।

श्रीमद्भगवद्गीताकी अन्य धर्म ग्रन्थोंसे श्रेष्ठता प्रतिपादन करने में उसका सबसे छोटा होना, सर्वशास्त्र-सिद्धान्तोंका निचोड़ होना, तथा स्वयं पद्मनाथ भगवान्के मुखारविन्द द्वारा प्रकट होना प्रमुख है। इसमें कोई सन्देह नहीं, उपर्युक्त यह सभी विशेषताएँ गीता-को सर्वश्रेष्ठता प्रदान करती हैं। परन्तु सबसे महान् विशेषता है इस सद्ग्रन्थके प्रारम्भ होनेका ढंग।

आजतक सभी धार्मिक या साहित्यिक पुस्तकोंका श्रीगणेश, गणेश सरस्वती, गुरु, इष्ट या भगवान्‌की स्तुति द्वारा मंगलाचरण करके किया जाता है। अधिक न करनेपर मंगलमय शब्द ही डाल दिया जाता है, परन्तु श्रीमद्‌भगवद्‌गीताका प्रारम्भ अपनी अलग विशेषता है। न इसमें किसीकी स्तुति है, न मंगलकामना। अपितु उसका प्रारम्भ एक ऐसे व्यक्ति या पात्रके नामसे किया है, जो दोनों आँखोंसे अन्धा है। गीताके प्रारम्भमें सबसे पहला मन्त्र है—

'धृतराष्ट्र उवाच—'

अर्थात् गीता प्रारम्भ होनेसे पूर्व धृतराष्ट्र बोला। ऐसा क्यों? क्योंकि लोकमें यदि यात्रा आदिके समय एकाक्षी (काणा) व्यक्ति सामने आ जाय, तो अपशकुन होता है। परन्तु इसके श्रीगणेशमें तो दोनों आँखोंका अंधा व्यक्ति बोलता है। फिर भी 'गीता सुगीता कर्त्तव्याः' है।

यह बात देखनेमें बड़ी विचित्र सी लगती है। परन्तु इस 'धृतराष्ट्र उवाच' को समस्त, गीताका मूलमंत्र कहें, तो कोई बड़ी बात नहीं होगी। इसमें विचारणीय यह है, धृतराष्ट्र कौन हैं? वे क्यों बोलते हैं तथा किन परिस्थितियोंमें बोलते हैं? इस बातको समझ लेना ही समस्त गीताका ज्ञान हस्तामलक हो जाना है, जो समस्त गीता ज्ञानका निचोड़ है।

धृतराष्ट्र शब्दका अर्थ है "धृतं राष्ट्रं येन सः" अर्थात जो राष्ट्रको धारण करे, वह धृतराष्ट्र। इस शरीर रूपी राष्ट्रको धारण करनेवाला मन है; क्योंकि शरीरकी सभी क्रियाएँ मनके संकेत पर होती हैं। इसलिये यह मन समस्त शरीरको धारण करता हुआ राजा बना बैठा है। वस्तुतः शरीरका राजा मन नहीं है। शरीरका राजा है मस्तिष्क (दिमाग)। शरीरको सुचारु रूपसे नियंत्रित रखनेका कार्य मस्तिष्क का है, जो विवेकसे शासन कार्य करता है। यदि शरीर रूपी राष्ट्रका कोई भी अंग अनुचित मार्गका अनुगामी होता है, तो वह तत्काल निवारण करता है। गर्म तवेपर या कढ़ाईपर हाथ लग जाय तो मस्तिष्क विचारपूर्वक तुरन्त उसे हटा लेता है—जलने नहीं देता। साथ ही उसे भविष्यके लिये सचेष्ट भी कर देता है।

लेकिन मन जो इस शरीरका शासक बना हुआ है, वह सदा अंधा है। यह मन सदा विषयोंके सुखमें तत्पर रहता है। इसे विवेक या विचार कहाँ? इन विषय सुखोंसे शरीरको चाहे कितना ही कष्ट उठाना पड़े, परन्तु मन अपने स्वार्थकी ही बातोंमें तत्पर रहता है। अतः यह अंधा मन ही इस शरीर रूपी राष्ट्रमें अंधा धृतराष्ट्र है, जो विचार (मस्तिष्क) रूपी पांडुका का प्रतिद्वन्द्वी है। इस अंधे मनरूपी धृतराष्ट्रके विकार (मनोकामनाएं) रूपी सैकड़ों पुत्र हैं, जो इसे झूठा मनोबल प्रदानकर शक्ति-सम्पन्न बताते रहते हैं। यही मनोविकार इस अन्धे धृतराष्ट्र (मन) के और सौ पुत्र (दुर्योधनादि) हैं, जो संख्यामें सैकड़ों हैं, जो विचाररूपी पांडुके पंच ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषयोंसे जूझते रहते हैं, और जो सद्‌विचाररूपी पाण्डवोंको अपने कलुषित हृदयमें 'सूचिकाग्रे न दास्यामि' के प्रणको निभाते हुए ठहरने नहीं देते। यह महाभारतका युद्ध (विचारों और विकारोंका) इस शरीर रूपी राष्ट्रमें सदा चलता रहता है

और मन रूपी अन्धा शासक धृतराष्ट्र विचार रूपी पाण्डवोंको छलसे दबाकर राज्य करता है।

इस प्रसंगमें एक बात और आश्चर्यकी यह है, 'धृतराष्ट्र उवाच' गीतामें केवल यहीं एकबार ही है। गीताके मध्य या अन्तमें अन्यत्र कहीं भी धृतराष्ट्रके दर्शन नहीं होते।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवश्चैव किमकुर्वत संजय॥

यह श्लोक ही उनका प्रथम वाक्य है, और यही उनका अन्तिम वाक्य है। इसके अतिरिक्त न उनकी कोई शंका है और न कोई प्रश्न। यहाँ तक कि पूरी गीतामें उनका नाम तक नहीं है। ऐसा क्यों? इसका भी कारण है। इसके लिये यह देखना है, विषयानुरागी अन्धा मन किन परिस्थितियोंमें प्रबुद्ध होता है तथा साथ ही अन्धे धृतराष्ट्र महाभारतमें किन परिस्थितियोंमें संजयसे प्रश्न पूछते हैं। इसके लिये गीताकी पृष्ठ भूमिको देखना होगा।

जब समस्त सद्मानवीय प्रयास सत्य, अहिंसा, एवं विवेकके द्वारा कौरवोंकी अन्याय-मयी नीतिको बदलनेमें असमर्थ हो गए, तब देशकी समस्त शक्तियाँ महासमरमें कूद गयीं। कौरव और पांडवोंकी सेना युद्धक्षेत्र, कुरुक्षेत्रमें आमने-सामने खड़ी हैं। युद्धका बिगुल बजने वाला है। अर्जुन अपने सारथीके साथ सशस्त्र रथमें बैठ लड़नेको तैयार है। चारों ओर भयंकर युद्धका वातावरण है। वसुन्धराका भी हृदय कांप रहा है, ऐसे संकटमय, भयावह समयमें महर्षि व्यासद्वारा प्रदत्त दिव्य चक्षुवाले संजयसे धृतराष्ट्र घबराता सा उपर्युक्त प्रश्न पूछता है—यह है गीताकी पृष्ठभूमि।

इसमें एक बात और समझनेकी है, व्यासजीने दिव्यचक्षु धृतराष्ट्रको क्यों नहीं दिए। संजयको ही क्यों दिए? उत्तर है, धृतराष्ट्रने दिव्य चक्षु लेनेसे मनाकर दिया था; क्योंकि धृतराष्ट्र अपने नेत्रोंसे अपने पुत्रादिका वध नही देखना चाहते थे। अतः उसने जब मना कर दिया, तब व्यासजी ने संजयको दिव्य नेत्र दिए, जिससे वे हस्तिनापुरमें बैठे ही कुरुक्षेत्र का आँखों देखा हाल धृतराष्ट्रको बताते रहें—दूसरे रूपमें देखा जाय तो बात बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगी। विषयानुरागी अन्धा मनभी धृतराष्ट्रकी भाँति ज्योति (ज्ञान) प्राप्त करने की बातको अस्वीकार कर देता है। उसे विषयोंके सुखमें ही आनन्द आता है। प्रकाश (ज्ञान) की ओर आना ही नहीं चाहता। परन्तु जब विषयानुरागी अन्धे मनवाला व्यक्ति अनेकानेक महाभारत जैसी भयावह परिस्थितियोंसे घिर जाता है, जिसमें उसके अनेक (असंख्य) मनोरथ रूपी लड़के भी कालग्रस्त हो सकनेको हों, तब ऐसी भयंकर स्थितिमें वह बोलता ही नहीं, चीख उठता है। तब वह अन्धा मन सूझ या प्रकाश चाहता है, मैं अब क्या करूँ अथवा अब क्या होगा?

महाभारतकी ऐसी ही इस संकटग्रस्त परिस्थितिमें अंधा धृतराष्ट्र, जिसने पूर्वमें नेत्रकी ज्योति लेना स्वीकार नहीं किया था, एकदम सचेष्ट होकर प्रकाशकी ओर उन्मुख

होता हुआ ज्ञानी संजय (क्योंकि उसे दिव्य ज्योति प्राप्त है) से पूछनेमें तत्परता दिखाता है —

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।

इस प्रकार इसके बाद ज्ञानके प्रतीक संजयसे, अंधे धृतराष्ट्र (मन) को गीताका वह अमर आलोक मिलता है, जिसे प्राप्त कर न उसे कुछ कहनेकी आवश्यकता है, न सुननेकी। अतः वह अन्धकारसे प्रकाशकी ओर बढ़ गया, और आत्मज्ञानकी उस अमर ज्योतिमें वह स्वयं ही जगमगाने लगा। उसे कहने-सुननेकी आवश्यकता ही नहीं रही। इसलिए धृतराष्ट्र गीता में पुनः नहीं बोलता। यही धृतराष्ट्र उवाच का रहस्य है, जो गीताका मूल मन्त्र है। इसमें समस्त गीताका तात्पर्य बीजरूपमें अन्तर्निहित है। इसको जान लेना गीताके समस्त दार्शनिक महत्वका परिज्ञान है। यही इसके श्रीगणेशका मुख्य तात्पर्य है, जो गीताकी सबसे बड़ी विशेषता है।

●

मुरली माधुरी

सरद जुन्हाई कान बाँसुरी बजाई व्रज,
छाई धुन धरनि अकास लौं दिसान में।
मोहे जड़ जीव जु अजीब औ सजीव होय,
'सरस' समाई सुधा सार कान-कान में।
लाज तजि लिपट गई है पिय सुरतिय,
अंग अंग व्यापौ है अनंग व्योम यान में।
संत के समान सुख पाइ पाइ व्रजपति;
काम रुचि रही नाँहि व्रज बनितान में।१।

चंद की किरन बन छिटक रही हैं चारु,
सीतल समीर धीर बहत अनंद की।
नंद की अनेक गाय दूधन भरे हैं ऐनु,
तीर जमुना के तहं डोलत सुछंद की।
छंद की कन्हाई मुख मुरली बजाई धुन,
छाई भू अकास सुख राम मंद मंद की।
मंद की गवन व्रज गोपिका करि हैं आइ,
आँख मूंद लीन्ही धाइ प्यारे व्रज चंद की।२।

राजा बाबू बर्म्मन "सरस"

"जिनका साध्य निश्चित नहीं वे भी भटकते ही रहते हैं। कभी निराकार ब्रह्मका चिंतन, कभी साकार ईश्वरकी उपासना, कभी भगवान् रामको पुष्पार्चन, कभी भगवान् शिवको गंगोदर-स्नान। कभी विमल भक्तिकी प्रार्थना, कभी सकाम अनुष्ठानका आयोजन। कभी झुकाव भजनमें, कभी झुकाव जगतमें। कभी भक्तिके ग्रंथोंका स्वाध्याय, कभी सिद्धिके मंत्रोंका जाप। साध्यकी अस्थिरता शुभका चिह्न नहीं, सुख का मार्ग नहीं।"

एकहि साधै, सब सधै

श्रीराधेश्याम बंका

मेरे एक मित्र हैं। रहते तो दूसरे शहरमें हैं, पर मिलने-जुलनेके लिये सालमें दो-तीन बार उनका आना हो जाता है। उन्हें टहलनेकी आदत है, मुझे भी टहलना पसन्द है। रोज साथ-साथ टहलने जाते और हमेशा कोई-न-कोई बात किसी-न-किसी विषय पर होती ही। आज बात उनके पड़ौसी पर चल पड़ी। उनके एक पड़ौसी हैं, जिसकी योग्यताकी कई बात बताने लगे। पड़ौसीकी स्मरण-शक्ति गजबकी है। आजकल वे अनाजकी एक छोटी-सी दूकान करते हैं। उसी दूकानसे पड़ौसीके खाने-पहननेका गुजारा होता है। पड़ौसीको अपनी दूकान का पूरा-पूरा हिसाब याद रहता है। खाता बहीके अनुसार किस-किस ग्राहकसे कितना रुपया पाना है, पैसे-पैसे तक से जानकारी है। किस आढ़तियाको कितना दिया गया, कितना और देना है, कभी पूछ लीजिये। दूकानका स्टॉक याद है। याद करनेमें कोई श्रम नहीं, सब अनायास ही स्मरण है। इसी तरह हिसाब लगानेमें चतुर हैं। कितना ही लम्बा जोड़ हो, तैयार है। किसी दरसे इतने मन, इतने सेर और इतने छँटाकका क्या दाम होगा? प्रश्नके साथ-साथ उत्तर तैयार है। व्याज लगाना है, चन्द मिनटमें तैयार है। और जो कुछ तैयार है, सब बिल्कुल सही। बाजारके लोग हिसाबमें उनका लोहा मानते हैं। पड़ौसीजीको अखबारका भी शौक है। अखबार रोज देखते हैं, देशकी तथा विदेशकी सारी हलचलोंकी उनको जानकारी है। हमारे देशमें विभिन्न दल क्या कर रहे हैं, किसका क्या दृष्टिकोण है, विदेशोंकी क्या गतिविधि है, इन सबके बारेमें आप पूछ बैठेंगे तो आपको पूरा 'लेक्चर' सुननेको मिल सकता है। उनके कहनेका ढंग भी दिलचस्प है।

तब मैंने अपने मित्रसे पूछा—"बात कहनेका ढग तो एक बड़ी अच्छी कला है। इससे तो उनके ग्राहकोंकी संख्या खूब ज्यादा होगी।" मेरे मित्रने बताया कि "अखबारी दुनियासे जानकारी और दिलचस्प वर्णन-शक्ति होनेके कारण उनकी मेल-मुलाकात बहुत है। बहुत लोगोंसे उनका परिचय है।" तुरन्त मैं बोल बैठा······"तब तो उनकी खूब आय होगी। और जब अच्छी कमाई हो, फिर खाने-पीने-पहनने-ओढ़नेकी क्या कमी होगी ?" मित्रने कहा—"यही तो टोटा है। उसमें एक गुण और है। किसी भी व्यक्तिसे प्रथम भेंटमें उससे परिचय करना, मेल बढ़ाना, आत्मीयता स्थापित करना, प्रभावितकर देना आदि मेरे पड़ौसी को बहुत आता है। यह गुण व्यापारियोंके लिये बड़े ही कामका है। मेरे पड़ोसीमें इतने सारे गुण है, फिर भी उसके बाल-बच्चोंके खाने-पीनेका काम कठिनतासे निकल पाता है।" यह उत्तर मेरी आशाके ठीक विपरीत था। पड़ौसीके गुणोंको सुनते-सुनते उससे थोड़ी सहानुभूति हो गयी थी, विपरीत उत्तरसे थोड़ी ठेस लगी। मैंने कारण पूछा—"ऐसा योग्य व्यक्ति और रोटी-पानीका गुजारा कठिनाईसे हो, यह बात समझमें नहीं आयी" मेरे मित्रने कहा—"यही तो बात है, जिस पर सभी आश्चर्य करते हैं। ऐसे गुणोंके लिए सभी तरसते हैं और जिसमें यह गुण हैं, उसीके घरपर रोटीके लाले हैं। उसमें एक बड़ा भारी दोष है। वह कोई काम, कोई व्यापार जमकर नहीं करता। पड़ौसी कोई एक व्यापार जमकर करते तो अबतक मालामाल हो जाते, पर कभी कोई व्यापार, कभी कोई व्यवसाय। यह दोष केवल व्यापारके क्षेत्रमें ही नहीं है, जब विद्यार्थी थे तब भी यह हाल था। हाई स्कूल करनेके बाद इण्टरमीडियेट साइंसमें नाम लिखाया। साइंस पढ़ेंगे, एम० एस०-सी० होकर साइंसके प्रोफेसर बनेंगे। दो सालतक पढ़कर प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए। मनमें आया कि इंजीनियर बनें और इंजीनियरिंग कालेजमें नाम लिखा लिया। प्रोफेसरसे अब इंजीनियरके सपने। प्रतिभा तो थी ही। कक्षाके अच्छे छात्रोंमें गिनती होने लगी। एक साल तक इंजीनियरिंग पढ़ी कि देश-सेवाकी हिलोर आई, पढ़ाईको लात मारी और राष्ट्र व्यापी आन्दोलनमें चले गये जेल। जेलमें राजनीतिकी और अखबारी दुनियाकी हवा लगी। देशकी सच्ची सेवाके लिये समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान आदि विषयोंकी जानकारी होनी चाहिए। देशकी सेवा करनी है तो इनको जरूर पढ़ना चाहिए। जेलसे बाहर आये। अब तककी पढ़ी हुई साइंस और इंजीनियरिंगकी पढ़ाई बट्टे खातेमें गयी। बी० ए० में नाम लिखाया। यहाँ भी प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए। पर अब घर वालोंके पास पैसा नहीं कि आगे पढ़ा सकें। आगे पढ़नेकी चाह हुई तो क्या हुआ ? विवश होकर अध्यापन-कार्य आरम्भ किया। पर छोटी आयमें क्या होता ? अध्यापकसे अखबारके संवाददाता बने। वहाँसे उखड़े तो 'बिजनेस' पर अटके। व्यापार भी कई बदल चुके। जनरल मर्चेंट और कपड़ेकी दूकानके बाद अब अनाजका व्यापार कर रहे हैं। घर गृहस्थीकी गाड़ी किसी प्रकार चल रही है।"

टहलकर मैं घर लौट आया पर मन कुछ उदास-सा हो गया। मित्रके पड़ौसीका चित्र बार-बार सामने आ रहा था। एक ओर इतनी प्रतिभा जो कहीं मिलती नहीं, दूसरी ओर उनके बच्चे पहनने-पढ़ने, खाने-पीनेके लिए मुहताज हैं। क्या ही अच्छा होता यदि कोई काम, एक काम पड़ोसी चुन लेते और जमकर उसीको करते। फिर तो चमक जाते। मन बहलाने

के लिए एक मासिक पत्रिका लेकर पढ़नेके लिए बैठ गया। कुछ पन्ने उलटे। एक बहनका जीवन संस्मरण पढ़ने लगा।

सम्पन्न और एडवांस घरानेकी एक महिलाकी आप-बीती। महिला जिनका बहुतसा समय सभा-सोसायटीमें, जिनका बहुतसा धन सौन्दर्य-प्रसाधनमें अब चला जाता है। पति शहरके विख्यात डाक्टर हैं। उसके पति बड़े सुन्दर, बड़े स्वस्थ, बड़े संभ्रान्त और बड़े सुलझे विचारोंके। कमाई इतनी कि घरमें खाने-पीने-पहननेके बाद भी काफी पैसा बच जाता था। बैंक बैलेंस हर माह बढ़ता ही था। काफी माडर्न घरका सारा वातावरण था। घरकेस भी लोग काफी पढ़े-लिखे थे, अतः पर्दा तो घरमें होता ही क्यों? पतिके मित्रोंका खुला आना-जाना होता। इसी 'फ्री-मिक्सिंग' में इन महिलाका झुकाव पतिके मित्रकी तरफ हुआ। झुकाव परिणत हो गया आकर्षणके रूपमें और मित्र परिणत होगए पतिके रूपमें। पति केवल आकर्षणके नाते नहीं, कानूनी तौर पर भी। पहलेको तलाक और दूसरेको तिलक। पर दूसरा आकर्षण भी कितना निभ पाया? दूसरा भी तिल-तिल छीजने लगा और एक दिन उसके भी विच्छेदकी नौबत आ गयी। यही नौबत एक तीसरे आकर्षणको भी भोगनी पड़ी।

अब वे शरीरसे प्रौढ़ा हैं, 'एकाकी' जीवन व्यतीत करती हैं, मन-बहलावके लिये अनेक संस्थाओंकी सदस्या हैं, समय काटनेके लिये अनेक सभाओंमें भाग लेती हैं, प्रतिष्ठा पानेके लिये अनेक स्थानोंपर भाषण देती हैं, पर अन्दरसे मन खोखला है। अपनेको ठीक दिखानेके लिये, चेहरेको आकर्षक बनानेके लिये और स्वास्थ्यको सुन्दर बनानेके लिये अनेक सौन्दर्य प्रसाधनोंका प्रयोग करती हैं, पर अन्दरसे शरीर खोखला है। साड़ियाँ बढ़िया पहनती हैं, चन्दा बढ़िया देती हैं और पार्टियाँ बढ़िया करती हैं, पर अन्दरसे बैंक बैलेंस भी खोखला है। मन खोखला, शरीर खोखला और क्रमशः बैंक बैलेंस भी खोखला होता जा रहा है। अपना नाम छिपाकर मासिक पत्रमें अपना संस्मरण इसीलिये छपवा दिया कि जो बहन पढ़े, कम-से-कम इस तरह खोखली न हो।

मैं लेटे-लेटे दोनों प्रसंगोंपर—एक सुबह सुने हुए और एक अभी पढ़े हुए पर—विचार करने लगा। पहले प्रसंगको सुनकर मनमें जो हलकी-सी उदासी आयी थी, उसको दूसरे प्रसंगने और गहरी करदी। विचारोंको उत्तेजना मिली। एकनिष्ठा नहीं होनेका ही तो यह परिणाम है। आध्यात्मिक क्षेत्र और साधना-पथकी बात तो किनारे रही। इस लौकिक स्तर पर भी सफल होने तथा सुखी व सुन्दर जीवन बितानेके लिए एकनिष्ठताकी निष्तान्त आवश्यकता है। मित्रके पड़ोसीमें प्रतिभाकी कोई कमी नहीं है। हर प्रकारसे योग्य है। यदि जमकर कोई भी एक व्यापार करता, आज उसके पास खरी पूंजी इकट्ठी हो जाती। इतनी दौड़-धूप, इतनी कमाई-धमाई करनेके बाद भी उसे अपना घर खाली-खाली लगता है। और उस प्रौढ़ा महिलाको भी अपना जीवन खोखला-खोखला लगता है, इसीलिए कि वह एककी बनकर नहीं रही। आज भूखी हो तो कोई भोजन कराने वाला नहीं, और बीमार पड़ी हो तो कोई दवा पिलाने वाला नहीं। वही बात कि होटलमें खायेंगे और हौस्पिटलमें मरेंगे। अपने प्रथम पति डाक्टरके पास कितनी सुखी थी? परन्तु पतिको क्या छोड़ा, वैभव को छोड़ दिया और पर-पुरुषको वरण करके वर लिया खोखलापन।

जगतकी किसी वस्तुको या योग्यताको प्राप्त करना भी एक साधना है। और वह साधना भी उस वस्तु या योग्यताकी प्राप्तिकी इच्छा रखने वाला साधक ही करता है। विद्यार्थीके लिए विद्याका अर्जन एक साधना है। उद्योगपति (Industrialist) को अपने उद्योगमें सफल होना एक साधना है। युद्ध-भूमिमें ललकारते हुए शत्रुपर विजय पाना सेनापतिके लिए एक साधना है। समाजको समुन्नत बनाना समाज-सेवीके लिए एक साधना है। ये साधनाएं जगत्की हैं, जगत्की वस्तुओंके लिए हैं। स्वामी रामतीर्थजीके मनमें ऊंची शिक्षा पानेकी बड़ी चाह थी, पर वे अत्यधिक निर्धन थे। ऐसी भी दशा उनको भोगनी पड़ी है कि हाथमें तीन पैसे हैं (पुराने पैसे), या तो भूख मिटानेके लिए रोटी खरीद लें अथवा पढ़नेके लिए तेल खरीद लें। उन्होंने रोटीके स्थानपर पढ़नेके लिए तेल खरीदा। अपनी विद्यार्जनकी भूख को मिटानेके लिए रोटीकी भूख ली। दिनमें अट्ठारह-अट्ठारह घण्टे तक पढ़नेका रिकार्ड है। इसी साधनाका फल था कि बी० ए० कक्षामें जब कभी उनके गणितके प्रोफेसर नहीं आते तो स्वयं अपने ही बी० ए० के सहपाठियोंको पढ़ाते। दूसरे विश्व महायुद्धमें हर हिटलर का आतंक सारे विश्व पर छाया था। किंवदंती इस प्रकारकी चल निकली थी कि जिस प्रकार प्राचीन भारतमें चक्रवर्ती सम्राट् बननेके लिए यज्ञके उपरान्त राजा घोड़ा छोड़ता था, जहाँ भी घोड़ा जाता राजाकी विजय होती, उसी प्रकार हिटलरने अपना एक टैंक छोड़ रखा है, और हर रोज हिटलरकी जीत हो रही है। उस हिटलरी आतंकको समाप्त करनेका बीड़ा अमेरिकन सेनापति आइजनहावरने उठाया, और उसने कर भी दिखाया। आइजनहावरके पास सूझ-बूझ, युद्ध-योजना, सामरिक तैयारी आदि थी पर सबसे अधिक था दृढ़-निश्चय-समन्वित-तत्परता। उनकी साधनाका फल था कि योरुप क्या, विश्वके रंगमंचसे हिटलरशाही समाप्त हो गयी। उसी महायुद्धके कारण जर्मनीके कारखाने, उद्योगधन्धे बम-वर्षाके कारण समाप्त हो गये। किन्तु वहाँ उद्योगपतियोंने अपनी साधनासे जर्मनीको फिरसे विश्वका प्रधान उद्योगी देश बना दिया है। अपने देशका उदाहरण लीजिए मालवीयजीका। भारतमें अंगरेजोंने जो शिक्षा प्रणाली चलाई, जो शिक्षालय स्थापित किये, उनसे पढ़कर निकलने वाले युवक जन्मसे और शरीरसे भारतीय होते हुए भी मस्तिष्कसे और मनसे अंग्रेज होते थे। यह बात मालवीयजीजी को खलती थी। वह शिक्षा शिक्षा क्या, जो भारतीय छात्रोंको 'भारतीय' न बनाए। उन्होंने एक ऐसी शिक्षा-संस्थाकी स्थापनाका निश्चय कर लिया, जिसमें ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जा सके और जिससे पढ़कर निकलनेवाले युवक 'भारतीय' हों। पासमें पैसा नहीं था, पर निश्चय और सपना तो था ही। उनकी सफल साधना और सपनेकी साक्षी वाराणसीका हिन्दू विश्वविद्यालय कल भी दे रहा था और आज भी दे रहा है।

सफलताके लिए सचमुच साध्य भी एक हो और साधना भी एक हो। निश्चित उद्देश्य ही साध्य है और उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए किया गया प्रयत्न ही साधना है। कभी प्रोफेसर बनना चाहे, कभी इंजीनियर बनना चाहे, कभी समाज-सेवक बनना चाहे और कभी धनी बनना चाहे, इस प्रकार उद्देश्यके परिवर्तन करते रहनेसे जीवनमें कभी ठोस वस्तुकी प्राप्ति नहीं होगी। यही मेरे मित्रके पड़ौसीके जीवनमें हुआ। प्रतिभा-सम्पन्न होकर भी साध्य के बदलते रहनेसे आजभी विपन्न अवस्थामें हैं। जब अंतमें धनी बननेकी सोची, जब धनाजन

जीवनका साध्य बना, तो साधना बदलती रही। कभी कोई व्यवसाय, कभी कोई व्यवसाय। अंतमें पड़ोसीका हाथ खाली-का-खाली रहा। पति-परिवर्तन करते रहनेसे उस प्रौढ़ाका जीवन भी खोखला-का-खोखला ही रहा। कहाँ तो गीता, सावित्री और पद्मिनी जैसी सतियोंके जीवनका उज्ज्वल पक्ष और कहाँ उस प्रौढ़ाके जीवनका श्यामल पक्ष।

जो बात जागतिक स्तर पर है, वही बात आध्यात्मिक स्तर पर है। जिनका साध्य निश्चित नहीं, वे भी भटकते ही रहते हैं। कभी निराकार ब्रह्मका चिन्तन, कभी साकार ईश्वरकी उपासना। कभी भगवान् रामको पुष्पार्चन, कभी भगवान् शिवको गंगोदक-स्नान। कभी विमल भक्तिकी प्रार्थना कभी सकाम अनुष्ठानका आयोजन। कभी झुकाव भजनमें, कभी झुकाव जगतमें। कभी भक्तिके ग्रन्थोंका स्वाध्याय, कभी सिद्धिके मंत्रोंका जप। साध्यकी अस्थिरता शुभका चिह्न नहीं, सुखका मार्ग नहीं। मीराके आराध्य एक थे गिरधर गोपाल। चाहे विषका प्याला पिलाओ, चाहे साँपोंकी माला पहनाओ, चाहे कुलटा कहो या कुलीना कहो, मीरा गिरधर गोपालकी है और गिरधर गोपालके भक्तोंकी सेविका है। मीरा राणाको छोड़ सकती है, राणाके राज्यको त्याग सकती है पर जन्म-मरणके साथी गिरधर गोपालको कैसे विसारे? अन्तमें मीरा अपने गिरधर गोपालमें ही सदेह विलीन हो गयी। तुलसीके आराध्य राम थे। रामके स्वरूप-सागरमें उनके नेत्र नित्य विहार करते थे। कानोंमें रामकी कथा सुनते थे, मुखसे रामका नाम लेते थे। हृदयमें रामका निवास था। उनकी मति, उनकी गति राम ही थे। राम में ही एक मात्र उनकी रति थी। रामसे परे अन्य किसीसे उनका कोई प्रयोजन नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण सोलह कलाके अवतार हैं तो हों, बारह कलावतार भगवान् राम ही उनके सर्वस्व हैं। एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी वृन्दावन गए। जिस मन्दिरमें पहुँचे, वह वंशीधारी भगवान् श्रीकृष्णका मन्दिर था। तुलसीदास-जीने कहा—"नाथ, आप किस छविकी झाँकी आज करा रहे हैं। मेरा मस्तक आपको प्रणाम कर तो रहा है पर आप अपने हाथमें धनुप धारण कर लीजिए।" तुलसीदासजीकी एक निष्ठा का यह परिणाम था कि वंशीधारी धनुपधारी बन गए, और उन धनुर्धर भगवान् श्रीरामका श्रीविग्रह अब भी श्रीवृन्दावनधाममें विराजमान है।

मीराका साध्य भी एक था और साधना भी एक थी। साध्य गिरधर गोपाल थे और साधना कान्ता भावकी थी। तुलसी, सूरके जीवनमें भी यही बात है। तुलसीके उपास्य राम थे और उपासना दास्य भावकी थी। सूर अपने आराध्य श्यामके साथ खूब खेले हैं, सम्बन्ध सख्य भावका जो था। जिन साधकोंकी साधना बदलती रही है, कभी पिता बनते हैं कभी दास बनते हैं, कभी सखा बनते हैं, कभी सखी बनते हैं, उनको कुछ भी सिद्ध नहीं होता। साधनाका परिवर्तन मनकी चंचलताका द्योतक है। निश्चित दिशाकी ओर निश्चित पथसे न जाने वाली चंचल नौका कभी सागरके पार जा ही नहीं सकती।

रामकृष्ण परमहंसजीके जीवनकी बात छोड़ दें, जिनके जीवनमें अनेक साध्य थे और अनेक साधनाएं थीं। साध्य और साधनाकी यह अनेकता उनके जीवनमें तब आयी, जब वे एक निश्चित साधनासे अपनी निश्चित साध्या माँ कालीका साक्षात्कार कर चुके थे। माँ

कालीके साक्षात्कार करनेतक उनके जीवनमें एक ही साधना थी और एक ही साध्य था। फिर माँ कालीकी अनुकम्पा और आदेशसे ही उनके जीवनमें इस प्रकारकी अनेकताका प्रवेश हुआ।

यह भी हो सकता है कि हमारा साध्य भी एक हो और साधना भी एक हो, फिर भी सफलता नहीं मिले। कोई बात नहीं। आपकी सतत साधना सच्चे साधकोंको प्रेरणा देगी। स्वयं आपको एक आन्तरिक समाधान प्राप्त होगा। हल्दीघाटीमें राणा प्रताप हार गए पर उनकी उस हार पर सौ-सौ न्यौछावर हैं। उन्होंने अकबरकी दासता स्वीकार नहीं की। अन्ततक स्वदेशकी स्वतंत्रताके लिए संघर्ष करते रहे। अँग्रेज़ी राजमें अँग्रेज़ोंका दमन-चक्र तेज़ीसे चलता था। स्वतंत्रता-प्रेमी देशभक्तोंको फाँसीके तख्तेपर लटका दिया जाता था। फिर भी क्रान्तिकारी एक हाथमें गीता और दूसरे हाथमें बम्बका गोला लिए फाँसीका आह्वान् किया करते थे। उनकी आवाज़ थी—

"सरफरोशीकी तमन्ना अब हमारे दिलमें है।
देखना है जोर कितना बाजुए कातिलमें है॥"

वे स्वयं स्वतंत्र भारतके दर्शन नहीं कर सके किन्तु स्वतंत्रताके पथको प्रशस्त कर गए। वे स्वतंत्रताकी नींव हैं। उनका एक निश्चय, एक निष्ठा आज भी आदर्श है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी साधना करते-करते साध्यकी प्राप्तिके पूर्व ही जिन साधकोंका शरीरान्त हो जाता है, वे पुनः दूसरे जन्ममें उसी साध्यके लिए वही साधना करते हैं।

शुचीनां श्रीमता गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥
(गीता ६/४१,४२)

देहान्तरसे साध्यान्तर या साधनान्तर नहीं हो जाता। इस जन्ममें नहीं तो दूसरे में सही, किन्तु सफलता निश्चित है।

साध्य कुछ भी हो, चाहे इस लोकका हो या परलोकका हो, चाहे जगत्का हो या केवल तनसे हो, चाहे विधि-विधान-परिपूर्ण हो या विधि-विधान-शून्य हो, साध्य भी एक ही हो। एकके आश्रयसे ही सफलता है, सम्मान है और सुख है। एकके आश्रयसे ही अपने जीवनमें आनन्दकी वृष्टि होगी और दूसरोंके लिए आदर्शकी सृष्टि होगी।

●

सुख

छः सुख हैं : निरोग रहना, ऋणी न होना, देशाटन करना, स्वाधीनतापूर्वक धन कमाना, सदा निर्भय रहना और सज्जनोंका संग करना।

—महात्मा विदुर

"सचमुच गायोंका जुलुस ! आगे-आगे मृदुल ध्वन्योत्पादक वाद्य और पीछे हजार-हजार गायें । श्वेत, श्याम, चितकबरी, मटमैली, और धूसर रंगकी । सिर झुकाए, मौन, गंभीर, चली आ रही हैं—सागर-के प्रवाहकी भाँति । आकृतिपर सरलता, नयनोंमें भोलापन ! मनुष्य क्या, पत्थरोंको भी बोलनेके लिए विवश बना रही है ।"

गायोंकी शोभायात्रा

श्री व्यथित हृदय

प्रभातका समय था । नौ या दस बज चुके थे । मैं जब वृन्दावनकी एक धर्मशाला के कमरेसे निकलकर बिहारीजीकी गलीके पास सड़क पर पहुँचा, तो देखा, लोग उत्कंठित और उत्सुक खड़े हैं, और आनंदपूर्ण स्वरोंमें परस्पर एक-दूसरेसे कह रहे हैं—"गायोंका जुलूस !" गायोंका जुलूस ! मैं भी उत्सुक हो उठा । मनुष्योंके जुलूस तो मैं सैकड़ों बार देख चुका हूँ, पर "गायों का जुलूस" यह शब्दावली तो प्रथम बार ही श्रवणोंमें पड़ी थी, जब कभी गायोंके जुलूसकी बातही कानोंमें नहीं पड़ी तो यह बात ही कहाँ पैदा होती है, कि "गायोंका जुलूस' कभी इन आँखोंके सामनेसे निकला होगा ! दो-चार, दस-बीस गायोंकी बात छोड़ दीजिए, पर गायोंका जुलूस ! मुझे ही नहीं, बहुत कम लोगोंको 'गायोंका जुलूस' देखनेका अहोभाग्य प्राप्त हुआ होगा ।

मन लरज उठा । आँखोंमें भी उत्कंठा नाच उठी, 'गायोंका जुलूस !' अवश्य, गायोंका जुलूस देखना चाहिए, और फिर समुत्सुक आँखें उसी ओर दौड़ पड़ीं, जिस ओर लक्ष-लक्ष आँखें लगी हुई थीं । कुछ ही क्षण बीत पाये थे कि वाद्योंकी ध्वनि आ-आकर कानोंमें गूँजने लगी । लोग आनंदसे चिहक उठे, "आ रहा है गायोंका जुलूस, आ रहा है गायों का जुलूस !"

और फिर सचमुच गायोंका जुलूस ! आगे-आगे मृदुल ध्वन्योत्पादक वाद्य और फिर—हजार-हजार गायें ! श्वेत, श्याम, चित्तकबरी, मटमैली, और धूसर रंगकी । सिर झुकाए, मौन, गंभीर, चली आ रही हैं सागरके प्रवाह की भाँति । आकृति पर सरलता, नयनोंमें भोलापन । मनुष्य क्या, पत्थरोंको भी बोलनेके लिए विवश बना रही हैं ! देखो तो,

इन गायोंके आगे-आगे, वह कौन हैं दो बालक, जो मोर पंखोंका मुकुट धारण किए हुए, अपनी चंचलतासे लोगोंके नेत्रोंको अचंचल बनाते हुए चले आ रहे हैं। वे तो श्रीकृष्ण बलराम हैं। उनके पीछे-पीछे, गायें इस प्रकार चल रही हैं, मानो सचमुच वे श्रीकृष्ण-बलराम ही हैं, और गायें उनकी वंशीकी स्वर-माधुरीकी डोरमें बँधी-बँधी उनके पीछे-पीछे, चलती चली आ रही हैं।

मेरी आंखोंके सामने अतीतका एक पावन चित्र-सा नाच उठा—नाच उठा छः-सात हजार वर्ष पहलेका पावन-चित्र! यही दिन था, कार्तिक शुक्ल अष्टमीका दिन। बालक श्रीकृष्णने आग्रहकर—मचलकर नन्दबाबाको मना लिया, कि आजसे उन्हें गोचारणके लिऐ वनमें जाने दिया जाएगा, केवल नंदबाबाकी स्वीकृति मिलनेकी देर थी। गोपाल और उनके सखा गोप-बालकोंके मनमें आनंदका सागर उमड़ पड़ा, सबके सब गायोंके अभिसारमें जुट पड़े। गायोंके सींगोंको रँगा जाने लगा, शरीरके ऊपर रँग-रंगकी चित्रकारियाँकी जाने लगीं और बाँधी जाने लगीं ग्रीवाओंमें घंटियाँ? जब गायें सजबजकर तैयार हो गईं, तो आगे-आगे चल पड़े गोपाल, गोप बालक, वंशी बजाते हुए, और पीछे-पीछे चली गायें, गोपालके पद-चिह्नोंका अनुसरण करती हुईं, नयनोंमें उनकी साँवली-सलोनी मूर्तिका मनुहार लेती हुईं। उसी दिनसे कार्तिक शुक्लकी 'अष्टमी' धन्य हो गई, और उसका नाम पड़ गया गोपाष्टमी। गोपालके भक्त, गायोंके अनन्य प्रेमी, आज भी प्रतिवर्ष गोपाष्टमी को गायोंका जुलुस निकालते हैं। वह जुलूस, जिसे मैंने कभी वृन्दावनकी सड़कपर देखा था, गोपाष्टमीके ही उपलक्ष्यमें निकाला गया था!

गोपालकृष्णका गायोंमें इतना प्रगाढ़ प्रेम! जहाँ भी कहीं, उनका चित्र देखनेको मिलता है, वे गायकी पीठपर ही हाथ रक्खे हुए, बाँसुरी बजाते हुए दिखाई पड़ते हैं। पर श्रीकृष्ण तो ब्रह्म हैं, वह अखंड सत्ता हैं, जो विश्वके कण-कणमें व्याप्त हैं। फिर उनकी 'गाय' में इतनी ममता क्यों, इतनी आस इनमें क्यों? अवश्य कोई न कोई महान् रहस्यकी बात होगी! 'गाय' के प्रति श्रीकृष्णके निम्नांकित वचन किसी महान् रहस्यकी ही ओर इंगित कर रहे हैं:—

'तीर्थ स्थानेषु यत्पुण्यं विप्र भोजने।
सर्व व्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपः सु च॥
यत्पुण्यं च महादाने यत्पुण्ये हरि सेवने।
भुवः पर्यटने यत्तु सर्व वाक्येषु यद् भवेत्॥
यत्पुण्यं सर्व यज्ञेषु दीक्षायां च लभेन्तर।
तत्पुण्यं लभते प्राज्ञो गोभ्यो दत्वा तृणानि च॥

तीर्थ स्थानोंमें आकर स्नान-दानसे जो पुण्य-प्राप्त होता है, ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, सम्पूर्ण व्रत उपवास, सर्व तपस्या, महादान, तथा श्रीहरिकी आराधना करने पर जो पुण्य सुलभ होता है, सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा, सम्पूर्ण

वेदवाक्योंके स्वाध्याय, तथा समस्त यज्ञोंकी दीक्षा ग्रहण करनेपर मनुष्य जिस पुण्यका पाता है, वही पुण्य बुद्धिमान मानव गौग्रोंको घास देकर पा लेता है।"

अवश्य, गायमें कोई 'महान् रहस्य' ही अन्तर्निहित है। 'गाय' कहनेके लिए एक पशु है, पर उसके शरीरका निर्माण कुछ इस प्रकारका हुआ है, कि उसके भीतर संपूर्ण देव-मण्डल ही निवास करता है। 'अथर्ववेदके कई सूक्तोंमें स्पष्ट रूपमें 'गाय' के वैवश्वकी घोषणाकी गई है। एक सूक्तका अर्थ इस प्रकार है, जिससे 'गाय' का वैवश्व पूर्ण-परा काष्ठाको पहुँचा हुआ दृष्टिगोचर होता है—"गाय रुद्रकी माता, वसुओंकी पुत्री, आदित्यों-की बहन, और घृत रूप अमृतका कवि है। प्रत्येक विचारशील पुरुषसे मेरा यही कहना है कि इस अनघ्य एवं स्त्री पराध 'गो' की रक्षा करें।" एक दूसरे समयमें, अथर्ववेदकारने 'गो' के प्रति अपनी भावना इस प्रकार प्रकट की है—"गायोंने हमारे यहाँ आकर हमारा अत्यन्त कल्याण किया है। वे हमारी गोशालामें सुखसे बैठें, और उसे अपने नादसे सुशोभित करें। यह रंग-विरंगी गायें अनेक पुष्ट बच्चे पैदा करें, और ऊषाकालसे पूर्व ही, इन्द्रके भजन के लिए दूध देनेमें समर्थ हों।"

वशिष्ठ, विश्वामित्र, कण्वाय, कपिल, और गौतम आदि महर्षियों तथा ऋषियों मुनियोंने भी हाथ उठाकर 'गाय' के देवकुलकी घोषणाकी है। महाराज दिलीप जब निःसंतान की चितासे अत्यधिक दुःखी थे, तब वशिष्ठ मुनिने सन्तान प्राप्तिके लिए उन्हें 'गाय' की ही सेवाकी सलाह दी थी, और महाराज दिलीपने उनकी सलाहके अनुसार 'नन्दिनी' की सेवा करके एक ऐसा पुत्र प्राप्त किया था, जो आज भी भारतका ही नहीं, समस्त भूमंडलका सिरमौर समझा जाता है! कौन नहीं जानता महाराज रघुको उन्होंने अपने प्रताप और अपने शौर्यसे सम्पूर्ण धरा मण्डलको नाप लिया था। पर उनका जन्म 'गाय' नन्दिनीके आशीर्वादसे ही हुआ था। 'गौतम' ऋषिके प्रथम शिष्य सत्यकामने गौओंकी ही सेवा करके वह अमूल्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था, जो बड़े-बड़े योगियोंको अनेक जन्मों तक कठिन योग-साधनाके पश्चात्‌भी प्राप्त नहीं होता। स्वयं महर्षि गौतम तक सत्य कामके ब्रह्मज्ञान पर विस्मित हो उठे थे। और उन्हें उनके संबंधमें यह कहनेके लिए विवश होना पड़ा था—"वत्स, तुमने जो ज्ञान प्राप्त किया है, वही श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान है।" पर वह ब्रह्मज्ञान सत्यकामने केवल गायोंकी सेवा करके ही प्राप्त किया था।

महर्षि आप स्तम्ब तो एक गायके ऊपर सम्पूर्ण पृथ्वी मंडलकी सम्पदा भी लुटाकर संतुष्ट नहीं होते थे। एक बार महर्षि नर्मदाजीके जलमें बैठकर, तपस्या-रत थे, मछुओंने जब मछली पकड़नेके उद्देश्यसे पानीमें जाल डाला, तो मछलियोंके साथ ही साथ महर्षि भी, जालमें फँसकर बाहर आ गए। मछुए बड़े भयभीत हुए, और अपनी निरपराधताके लिए महर्षिकी अभ्यर्थना करने लगे। महर्षि द्रवितहो उठे, उन्होंने मछुओंसे कहा, कि वे जीव-हिंसा छोड़ दें। मछुओंने प्रतिज्ञाकी, पर उनका जीवन-निर्वाह! महर्षिके सम्मुख एक महान समस्या उपस्थित हुई। संयोगकी बात, नर्मदा अंचलके नृपति साभाग एक दिन महर्षिकी सेवामें उपस्थित हुए। उन्होंने, महर्षिकी सेवाके लिए अभिलाषा प्रगटकी। महर्षिने उत्तर

दिया, उसकी सबसे बड़ी सेवा यही है, कि मछुओंको जीविकासे निश्चिन्त करदें। राजाने मछुओंको, एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देनेका प्रस्ताव किया, पर महर्षिको इससे संतुष्टि न हुई। राजाने स्वर्ण मुद्राएँ बढ़ाकर एक कोटि कर दीं : महर्षिको इससे भी प्रसन्नता न हुई। राजा चिन्तामें पड़ गए। अकस्मात् लोमश ऋषि आ गए। उन्होंने सब कुछ सुनकर निर्णय कियाकि मछुओंको एक-एक गाय प्रदान कर दो। महर्षि गद्-गद् हो उठे, उन्होंने हर्षमें विभोर होकर कहा—"हाँ, बिलकुल ठीक है। गायसे बढ़कर ऐसी कोई अमूल्य वस्तु नहीं, जो मनुष्यको सर्व प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त कर सकें। गायें ही यज्ञका आदि, मध्य, और अंत हैं। गायें ही वह सोपान भी हैं, जिसके द्वारा मनुष्य गोलोकमें पहुँच सकता है।"

श्रीरामचन्द्रकी दृष्टिमें भी गायें बड़ी अमूल्य थीं। 'वन यात्रा' गायों के दानसे ही निर्विघ्न समाप्त हुई थी। रावण जैसे प्रबल शत्रुओंका विनाश उन्होंने गोदानके अमिट प्रभाव से ही किया था। वे जब वनवासके लिए जाने लगे थे, तो कल्याणके उद्देश्यसे उन्होंने ऋषियों और ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारका दान किया था। सबसे उनके पास 'त्रिजट' नामका एक ब्राह्मण पहुंचा और अपनी दीनता प्रकट करके कुछ पानेकी याचना की। श्रीरामचन्द्र-जीने उसकी दीनता पर द्रवित होकर उसे सहस्रों गायें दानमें दी थीं। गायोंको दानमें देनेके पश्चात् उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई थी, जितनी प्रसन्नता कुबेरका कोष लुटानेके पश्चात् भी न होती। श्रीरामचन्द्रजीके गुरु वशिष्ठ तो अपना सर्वस्व खोकर भी अपनी गायको अपने पास ही रखना चाहते थे। महर्षि विश्वामित्रकी वशिष्ठजीकी नन्दिनी पर जब दृष्टि पड़ी, तो वे उसे अपने साथ ले जानेके लिए मचल पड़े, पर वशिष्ठजीने देनेसे साफ अस्वीकार कर दिया। उन्होंने महर्षि विश्वामित्र द्वारा उत्पन्न विपत-बाधाओं और विपत्तियोंका हँसते हुए स्वागत किया, पर अपने आश्रमसे नन्दिनीको न जाने दिया, न जाने दिया !!

क्या ही अच्छा होता, कि हम सब भी अपने गोपाल, और ऋषियों-महर्षियोंके भावको समझते, यदि हम सब चाहते हैं, कि राष्ट्र गगनके ऊपर छाई हुई तमिस्रा मिट जाए, यदि हम सब चाहते हैं, कि हमारी धरती रस-सिक्त होकर हमें 'फल' प्रदान करे, यदि हम सब चाहते हैं कि हमारा कंकाल सरीखा वपु हृष्ट-पुष्ट हो, और यदि हम सब चाहते हैं, कि हमारी धरा शस्य श्यामला बने, तो हमें गोपालके निम्नांकित स्वरोंमें गायोंका मूल्यांकन, करना ही होगा :—

युक्त वर्न्तीं तृणं यश्च गो वारयति कामतः।
ब्रह्महत्या भवेतस्य प्रायश्चित्ता द्विशुध्यति ॥
सर्वेदेवा गवा मङ्गे तीर्थानितत्पदेषु च।
तद् गुह्येषु स्वयं लक्ष्मी तिष्ठत्येव सदा पितः ॥
गोप्य दाक्त मृदा योहि तिलकं कुरुते नरः।
तीर्थ स्नानो भवेत् सद्यो जयस्तस्य पदे पदे ॥
गावस्तिष्ठन्ति यत्रैव तत्तीर्थं परि कीर्तितम्।
प्राणांस्त्यक्तवा नरस्तत्र सद्यो मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥

ब्राह्मणानां गवामाङ्गं यो हन्ति मानवाधमः ।
ब्रह्महत्या समं पापं भवेत् तस्य न संशयः ॥
नारायणांशान् विप्रांश्च गाश्च ये घ्नन्ति मानवाः ।
कालसूत्रं च ते यान्ति यावच्चन्द्र दिवाकरौ ॥

जो घास चरती हुई गायको स्वेच्छा पूर्वक चरनेसे रोकता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है, तथा वह प्रायश्चित करने पर ही शुद्ध होता है । पिताजी, सब देवता गौओंके अंगोंमें, सम्पूर्ण तीर्थ गौओंके पैरोंमें, तथा स्वयं लक्ष्मी उनके गुप्त स्थानोंमें सदा वास करती हैं । जो मनुष्य गायके पदचिन्हसे युक्त मिट्टी द्वारा तिलक करता है उसे तत्काल तीर्थ स्थान का फल प्राप्त होता है, और पग-पग पर उसकी विजय होती है । गौएँ जहाँ भी रहती हैं उस स्थानको तीर्थ कहा गया है । वहाँ प्राणोंका त्याग करके मनुष्य तत्काल मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है । जो नराधम ब्राह्मणों तथा गौओंके शरीर पर प्रहार करता है, निःसंदेह उसे ब्रह्महत्याके समान पाप लगाता है । जो नारायणके अंशभूत ब्राह्मणों तथा गौओंका वध करते हैं, वे मनुष्य जब तक चन्द्रमा और सूर्यकी सत्ता हैं, तब तकके लिए 'कालसूत्र' नामक नरकमें जाते हैं ।"

●

गोमाताकी अवहेलनासे

है भूमि वंध्या हो रही, वृष जाति दिन-दिन घट रही;
घी दूध दुर्लभ हो रहा, बल वीर्य्य की जड़ कट रही ।
गो वंश के उपकार की सब ओर आज पुकार है;
तो भी यहाँ उसका निरंतर हो रहा संहार है ॥

× × ×

वह भी समय था एक, जो अब स्वप्न जा सकता कहा,
घी तीस सेर विशुद्ध रुपयेमें हमें मिलता रहा ।
देहातमें भी सेर भरसे अब अधिक मिलता नहीं,
दुर्बल हुए हम आज यों तनुभार भी झिलता नहीं ॥

× × ×

जारी रहा यदि क्रम यहाँ यो ही हमारे ह्रास का—
तो अस्त समझो सूर्य भारत-भाग्यके आकाशका ।
जो तनिक हरियाली रही वह भी न रहने पायेगी,
यह स्वर्ण-भारत-भूमि, बस मरघट—मही बन जायगी ।

—स्व० श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त

"हिन्दू धर्मके प्रत्येक अनुयायीको अपने श्रेष्ठतम धर्मका गौरव होना चाहिए। उसका धर्म वैज्ञानिक है, और वह आशासे परिपूर्ण है। यदि हम उस जन्ममें कोई काम न कर सकें तो हमारे लिए दूसरा जन्म खुला हुआ है। दूसरेमें उसे खत्म न कर सकें, तो तीसरा जन्म तैयार है। निराशाके लिए रत्ती भर भी गुंजायश नहीं।"

हिन्दू धर्म आशावादी है

स्वामी सत्यदेवव्राजक

मैं एक वार प्रयागसे आगरा जा रहा था। अप्रैलका महीना था। गर्मी पड़ने लगी थी। मैं सुबहकी गाड़ीमें जा बैठा। मेरे डिब्बेमें कई यात्री थे—हिन्दू-मुसलमान दोनों। सामान रखकरमें खिड़कीके पास बैठ गया और लगा इधर-उधरकी चीजोंका निरीक्षण करने। गाड़ी जा रही थी और मैं खिड़कीसे वाहरकी ओर देख रहा था। मेरे कानमें ये शब्द पड़े :

"सचमुच इस्माइल, मैं बड़ा गुनहगार हूँ। मेरे गुनाहोंका कफारा नहीं हो सकता। मरनेके वाद न जाने क्या हालत होगी? कयामतके दिन मुझे जाने कहाँ फेंक दिया जायेगा।"

मुझे कुछ अध्ययनकी सामग्री मिल गयी और मैं आहिस्तासे चौकन्ना होकर बैठ गया। बोलनेवालेकी पीठ मेरी तरफ थी और वह अपने साथी इस्माइलसे धीरे-धीरे वातें कर रहा था। दोनों ही अधेड़ उम्रके मनुष्य थे। अपने साथीकी वात सुनकर इस्माइल बोला :

"तुमने तो एक ही वेगुनाहको सताया है, इसीपर घबरा रहे हो—और मैंने तो, उफ! न जाने कितने वेगुनाहोंसे गले काटे हैं। अफसोस, मुझे नई जिन्दगी नहीं मिल सकती, नहीं तो मैं अपने गुनाहोंको धो डालता। अब रसूले-करीम रहम करें।"

ठण्डी सांस भरकर उसका साथी कहने लगा, हम लोगोंका उसीपर सहारा है। तोवा करेंगे, गिड़गिड़ाएंगे और हाथ जोड़ेंगे—देखिये कयामतके दिन क्या होता है?"

मेरे लिए काफी मसाला मिल गया। मैंने विचार किया, कितना फर्क है हिन्दू धर्म और इस्लाममें। हिन्दू धर्म आशासे भरा हुआ है और इस्लाम निराशाकी गहरी खाई है,

जहाँ गिरा हुआ मनुष्य अंधेरेमें टटोलता फिरता है । स्कूलमें जब कोई लड़का किसी परीक्षामें फेल हो जाता है, अथवा खेलमें गिर पड़ता है, तो मास्टर महोदय लड़केको उत्साह दिलाते हुए कहते हैं :

"Try again, try again
If at first you don't succeed.
Try again, Try again."

इन शब्दोंमें कैसा जादू है, क्योंकि लड़केको यह बात जानकर कि उसे फिर भी यत्न करनेका अवसर मिल सकता है, कितना हर्ष होता है, और वह बड़े जोशसे दुबारा, तिबारा उद्यम करता है । अन्तमें विजय उसे मिल ही जाती है । हिन्दू धर्मका रहस्य, फिर यत्न करो । इस मंत्रकी दीक्षा देता है । वह अपने अनुयायीको कहता है, तुझे फिर नया जन्म मिलेगा, हिम्मत मत हार ।' वह नया जन्म कितना स्पष्ट और कितना प्रत्यक्ष है, इसमें कोई संदेह हो ही नहीं सकता । आर्य लोग प्रकृतिके उपासक थे । उन्होंने निरीक्षण से सीखा कि प्रकृति माता प्रत्येक पत्ते, कलिका, लतिका, फूल और फलको नया जन्म देती है ; फिर भला मानव शरीर उस अनादि नियम से कैसे वंचित रह सकता है ? कब्रोंमें गड़ा हुआ वह क्या वहीं बैठा रहेगा, कौन कयामतका इन्तज़ार करेगा ? कैसी अज्ञानतासे भरा हुआ सिद्धान्त है यह, और इसके माननेवाले करोड़ों हैं इस भूमण्डल पर । उनमें भी बहुतसे उच्च शिक्षा पाये हुए । सचमुच हिन्दू धर्म दिव्य आशाका धर्म है । उस रोज रेलमें बैठा हुआ मैं घण्टों यही सोचता रहा कि बेचारे मुसलमान कैसी निराशाके गढ़ेसे गिर पड़े हैं, तभी तो उनमें कोई जबर्दस्त सुधारक, पवित्र जीवनका प्रचार करनेवाला पैदा नहीं होता । पैदा हो भी कैसे, जब सब गुनाहगारोंको शिकायतकी उम्मीद दिलायी जाती है । कैसा ही बदइख्लाक, कैसा ही गुनहगार स्त्री या पुरुष होगा, पैगम्बर उसे गुनाहोंसे छुड़ा देगा । एक मुसलमानकी जिन्दगी की नौका की यही पतवार है । इसीलिए वह खुदासे अधिक अपने रसूल की परवाह करता है । इस सिद्धान्तने संसारको भारी हानि पहुँचाई है । इसके विपरीत एक हिन्दू बुराईसे डरता है, और अगर बुराई हो जाती है तो वह जानता है कि उसके अपने अच्छे कर्म ही उस बुराईको धो सकते हैं । उसकी कोई शिकायत करनेवाला नहीं । उसे जन्म मिलेगा, यत्न करनेका फिर अवसर मिलेगा, इस कारण वह अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण हृदयमें उस प्रभुको धन्यवाद देता है जिसने कि उसे ऐसे सुन्दर सिद्धान्त सिखलाने वाले धर्ममें उत्पन्न किया है । यही कारण है कि हिन्दुओंमें जीवनकी पवित्रता सिखलानेवाले ऊँचे दर्जेके सुधारक पैदा हुए हैं और होते रहेंगे ।

अच्छा, तो फिर ईसाइयोंमें सच्चरित्रताकी ऐसी लहर कैसे चल निकली ? वे भी तो मुसलमानोंकी तरह एक जन्म, कयामतका दिन और गुनाह मुआफ करनेवाला मसीहा मानते हैं । बात असलमें यह है कि ईसाई धर्मको चौदहवीं शताब्दीमें यूनानी संस्कृतिका सहारा मिल गया । यूरोपके विश्वविद्यालयोंमें यूनानी संस्कृतिने बड़ा ऊँचा स्थान पाया । उसकी बदौलत यूरोपके लोगोंमें पुरुषार्थ और पवित्र जीवनको बड़ा अच्छा स्थान मिल गया ।

दूसरी बात यह हुई कि हजरत ईसामसीहने सारा जीवन ब्रह्मचर्यमें बिताया उन्होंने जिन सिद्धान्तोंका प्रचार किया, उनका हिन्दू धर्मके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। यह बात भी अभी विवादग्रस्त है कि हजरत ईसा मसीह अपने यौवनकालमें किसी बौद्ध मठमें विद्यार्थी बनकर रहे थे या नहीं। कुछ भी हो, साइन्सके प्रभावसे मजहबका रूप विकासकी ओर चल पड़ा है। इसी कारण ईसाई मजहब माननेवाले कई एक ऊंचे दर्जेके सुधारकोंने यूरोपमें जन्म लिया। ईसाके पवित्र जीवनका प्रभाव ईसाई दुनिया पर पड़ना ही था। जब उस जीवनको त्याग और बलिदानका आदर्श मिल गया, तो फिर सच्चे सेवकोंकी कमी कहाँ हो सकती थी। लेकिन यह बात ध्रुव सत्य है कि एक जन्म और कयामतके सिद्धान्तने ईसाई मजहबको घुन लगा दिया है। उच्चतम बलिदान करनेके बाद भी ईसाका मत भक्त प्रभु ईसा मसीहकी दया का भिखारी बना ही रहता है। उसे अपने भविष्यका निश्चय नहीं होता। यदि यूरोपके लोगोंको हिन्दू धर्मके ये सिद्धान्त मिल जाते तो वे निश्चय ही संसारको स्वर्ग बना देते।

इसलिये हिन्दू धर्मके प्रत्येक अनुयायीको अपने श्रेष्ठमत धर्मका गौरव होना चाहिये। उसका धर्म वैज्ञानिक है और वह आशासे परिपूर्ण है। यदि हम इस जन्ममें कोई काम न कर सकें तो हमारे लिये दूसरा जन्म खुला हुआ है। दूसरेमें उसे खत्म न कर सकें, तो तीसरा जन्म तैयार है। निराशाके लिये रत्ती भर भी गुंजायश नहीं।

निराश क्यों हैं ?

अगर है शौक मिलनेका, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाईको, भसम तन पर लगाता जा॥
पकड़कर इश्ककी झाड़ू सफ़ा कर हिज्रए दिल को।
दुई की धूलको लेकर मुसल्लेपर उड़ाता जा॥
मुसल्ला छोड़, तसबी तोड़, किताबें डाल पानीमें।
पकड़ दस्त तू फ़रिस्तोंका, गुलाम उनका कहाता जा॥
न मर भूखा, न रख रोज़ा, न जा मस्जिद, न कर सिजदा।
बजूका तोड़दे कूजा, शराबे शौक पीता जा।
हमेशा खा हमेशा पी, न गफलत से रहो इकदम॥
नशे में सैर कर अपनी, खुदीको तू जलाता जा।
न हो मुल्ला, न हो बम्मन, दुई की छोड़कर पूजा।
हुक्म है शाह कलंदर का 'अनल हक़' तू कहाता जा॥
कहे 'मंसूर'! मस्ताना, हक़ मैंने दिलमें पहचाना।
यही मस्तोंका मयखाना उसीके बीच आता जा॥

"सेवा और प्रेमकी पवित्र वेदी पर स्वार्थोंकी आहुति देनेवाला सच्चा यज्ञ करता है। निष्काम होकर। लोक-संग्रहके भावसे जनता-जनार्दनके निमित्त मनुष्य जो कुछ करता है वह सब यज्ञ है। जगतकी सेवा और सहायता करके अपने स्वार्थके लिए उससे कुछ प्रयोजन न रखना सर्वोत्तम ज्ञान है।"

विश्व शांतिमें गीताका महान योग

श्रीचन्द्रकिशोरजी सीकर

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाजमें रहकर सबके सहयोग और संगठनसे प्रगति और उन्नति करना मनुष्य जीवनका परम लक्ष्य है। यज्ञका यह साम्यभाव व्यक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं विश्वशांति और उन्नतिका मूल मंत्र है। यह भाव परस्पर सद्भाव संगठन और समताकी भूमिपर ही बनता है। यज्ञ ही समाजका बल है। सत्संगों, सभाओं, और संस्थाओंके आयोजनका लक्ष्य यज्ञसे पूर्ण होता है। यज्ञ करने वालेको जो अच्छा नहीं लगता, वैसा वह दूसरोंके लिए नहीं करता। वह सुखी रहता है और सुख देता है। उसके एक यज्ञ कर्मसे जगतके अनेक नर-नारियोंका भला होता है। संगतिकरण द्वारा अनेकतामें एकताकी प्रतिष्ठा करने वाला अपने यज्ञ कर्मोंसे विश्वको सत्य और प्रेमके सूत्रमें बांध लेता है। ज्ञान यज्ञका मूल भाव है आदान-प्रदान। इससे सद्भावनाकी वृद्धि होती है, न्यूनताकी पूर्ति होती है और वस्तुओंका अभाव नहीं रहता। दानका विशेष लक्ष्य है प्राणी मात्रकी सेवामें तन मन और धनको लगा देना। दान देनेसे धनका सदुपयोग होता है, प्रेम तथा दयाके विचारोंका प्रसार होता है, किसीको दुःखी न देखनेका महाभाव जगता है और संसारकी दरिद्रता दूर होती है। दाताका धन कभी नहीं घटता।

यज्ञ परमेश्वरका विधान है। यज्ञमय जीवन बनानेसे भगवत प्राप्ति और लोक कल्याणके साथ-साथ सुख और मुक्तिकी सम्पूर्ण उच्चकामनाएँ पूर्ण होती हैं। व्यक्तिगत कामनामें सुख नहीं है, इसीलिए अनन्त सुखके अभिलाषी विचारवान पुरुष यज्ञ द्वारा सबके मंगल-की कामना करते हैं। पवित्र और मंगलमय कामनाओंसे केवल व्यक्तिको ही नहीं, सम्पूर्ण

विश्वको शान्ति मिलती है। विश्व-शान्तिका एकमात्र उपाय यज्ञ है। उन्मत्त जीवनके अभिलाषी परस्पर सहयोगसे जीते और बढ़ते हैं। जगतमें आदान-प्रदान बिना एक क्षण भी किसीका काम नहीं चलता। सबकी सद्भावना प्राप्त कर लेना कर्मक्षेत्रमें सफल होनेका सरल उपाय है। जगतको सुखी और संतुष्ट करनेका प्रयत्न ही यज्ञ है। यज्ञका प्रधान लक्ष्य जगत में एक दूसरेके काममें आना, सबके सुख-दुखमें सम्मिलित होना, सबके साथ व्यवहार करना ऐसा यज्ञ है जिससे सबका भला होता है। अहम्भाव स्वार्थ और कामनासे किए संकुचित कर्ममें किसीको संतुष्ट करनेकी शक्ति नहीं होती। कामनाके जीवनसे सत्यकी साधना नहीं होती, जहाँ सत्य नहीं वहाँ यज्ञ नहीं होता। प्रेम, सत्य, सत्कार, सेवा, श्रद्धा और प्रसन्नता से किया हुआ पूजाका कर्म कहलाता है।

ब्रह्माण्डमें, राष्ट्रमें, देशमें, नगरमें, और परिवारमें, एक ही नियम कार्य करता है; एक-दूसरेके प्रति सद्भावना, विश्वास, प्रेम और सेवाभावसे सब सुखी रहते हैं। समाजके अभ्युदयका आधार यज्ञ है। यज्ञ कर्मोंमें निर्मलता, परामर्श, सत्य और सेवाभाव रहनेसे सबका भला होता है। यज्ञ परस्पर सद्व्यवहारके सूत्रमें बाँधकर जीवनको गति और नियम देता हैं। सांसारिक सुख और परमानन्द दोनोंका समन्वय करनेवाला यज्ञ है। जहाँ परस्पर सद्भावना और विश्वास और प्रेमभाव होता है, वहीं राष्ट्रोंका उत्थान और चरित्रका निर्माण होता है। श्रेष्ठजन उन सात्विक जनोंको कहते हैं जो सबको संतुष्ट कर पाते हैं और जिनके धन, बल, विद्या, आदि गुणोंसे परमार्थ तथा लोक-संग्रहके कर्म होते हैं। परिश्रमसे कमाया हुआ धन परोपकारमें लगाकर जो भोगता है, वह अमृत खाता है। वह दुर्भाग्य, दुर्बुद्धि, दुःख दैन्य दोषोंको अन्त करनेवाला अमृत है। अपना सुख चाहने वाला दूसरोंका सुख नहीं देख सकता। यही उसके पापका प्रत्यक्ष फल है। सेवा और प्रेमकी पवित्र वेदी पर स्वार्थोंकी आहुति देने वाला सच्चा यज्ञ करता है। निष्काम होकर लोक-संग्रहके भावसे जनता जनार्दनके निमित्त, मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब यज्ञ है। जगतकी सेवा और सहायता करके अपने स्वार्थके लिए, उससे कुछ प्रयोजन न रखना सर्वोत्तम ज्ञान है। पुरुषोंके जीवनका ध्येय होता है यज्ञके लिए कर्म करना। विश्व-शान्तिके मूलमें इस प्रकारके गीतोक्त यज्ञ रहने चाहिए।

मनुष्यमें कामना व संकल्प न हो तो वह जड़ हो जाये। कामना प्रत्येक जीवमें होती है, परन्तु एक वासनाप्रधान कामना है, जो मनुष्यकी इच्छा शक्तिको निम्नगामी संकल्पोंमें क्षीण कर देती है, और उसे किसी योग्य नहीं छोड़ती; और दूसरी श्रेयसी, उन्नतिकी अभिलाषी, जो दैवी शक्तियोंसे इच्छा-शक्तिको पवित्र संकल्पवान और बलवती बनाकर उसे दैवत्वकी ओर ले जाती है। वासना-प्रधान कामना और उसकी पूर्तिके लिए संकल्प-विकल्पसे द्वन्द्वों, रागद्वेषों और अनेक प्रकारके विकारोंका जन्म होता है। इन विकारोंसे तन-मनकी शक्ति क्षीण होती है और मनुष्यको देवी शक्तियाँ छोड़ जाती हैं। लोक संग्रहमें अभ्युदय और श्रेयके लिए जो संकल्प होते हैं, उनसे राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा विश्वशान्तिकी वृद्धि होती है, अन्तःकरणमें इस शक्तिका श्रोत उमड़ता है और अमृत बरसता है। कर्मका आरम्भ करते समय कोई कामना हो तो कर्तव्य पालन की हो। अपने

कर्मके साथ हृदयको जोड़ देना चाहिए। दोनोंके योगसे ज्ञानका प्रकाश स्वयं हो जाता है, जैसे बिजलीके दो तार जोड़नेसे प्रकाश हो जाता है। गीता ३।९ से १५ तकमें यज्ञकी महिमाका वर्णन है।

पूर्णता पा लेना ही परम गति है। ऐसी पूर्णता उसी समय मिलती है जब च·ाचर में एक ब्रह्मका दर्शन होता है। रागद्वेष, घृणा, हिंसा आदिकी वृद्धि उसी समय होती है, जब मनुष्य भेद बुद्धिसे अपने और परायेका विचार करता है। समदृष्टिसे देखने वाला किसीका बुरा नहीं चाहता, किसीसे द्वेष नहीं करता, सबको अपना आत्मा समझता हुआ सबके साथ पवित्र-प्रेमका व्यवहार करता है, सबसे आदर और मान पाता है और प्रसन्न रहता है। यही परम गति है। मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिए कि वह अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े सबके साथ समान सेवा और प्रेममय व्यवहार करे। यही मंगल मार्ग है। मिथ्याचारका प्रवाह भीषण गतिसे बढ़ता है। जो पार होनेका थोड़ा-सा भी प्रयत्न करता है, वह ईश्वरसे सहारा पाता है।

●

लक्ष्मीका निवास

एक दिन लक्ष्मीजी इन्द्रके द्वार पर पहुँची और बोली—"हे इन्द्र, मैं तुम्हारे यहाँ निवास करना चाहती हूँ।" इन्द्रने साश्चर्य कहा—"कमले! आप तो असुरोंके यहाँ बड़े आनन्दके साथ रहती हैं। वहाँ आपको कुछ भी कष्ट न था। मैंने कितनी ही बार आपको बुलानेका महान् यत्न किया, परन्तु फिर भी आप न आयीं। आज आप बिना बुलाये ही मेरे द्वार पर आई हैं! आश्चर्य है! क्या आप इसका कारण बता सकती हैं!"

लक्ष्मीजीने प्रसन्न मुख उत्तर दिया—"इन्द्र, कुछ समय पूर्व असुर बड़े धर्मात्मा थे। वे कर्त्तव्य परायण भी रहते थे। अपना सब काम नियमित रूपसे करते थे, परन्तु अब उनके ये सद्गुण नष्ट हो गए हैं।

"प्रेमके स्थान पर ईर्षा-द्वेष और क्रोध-कलहका उनके कुटुम्बोंमें प्राबल्य है। अधर्म, दुर्गुण, और भाँति-भाँति के व्यसनों (शराब, तम्बाकू, माँस भक्षण) से वे आग्रस्त हैं। अब मैं भला असुरोंके यहाँ कैसे रह सकती हूँ?"

—महाभारत

सुखकी चोटी

दुःखकी गहराइयोंमें डूबे बिना हम सुखकी चोटी पर नहीं पहुँच सकते। यदि हम सुखकी चोटी पर यों ही पहुँच जाएँ तो हम यह कैसे जान सकते हैं कि सुख क्या वस्तु है?

प्रत्येक कवि, और संगीतकारके पल्ले जीवनमें कष्ट और दुःख ही पड़ता है। परन्तु वे अपना कार्य अनवरत जारी रखते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि वे अपने सबसे मीठे और मूल्यवान गीत विश्वको दुःखके माध्यमसे ही दे सकते हैं।

—टालस्टाय

"प्रकृति और जनसमुदायका ऐसा अपूर्व तादात्म्य होलीको छोड़कर और किसी त्यौहार या पर्व पर देखने को नहीं मिलता। आकाश और धरती बीचमें बिखरती हुई पिचकारियोंकी शतरंगीधारों और अबीर गुलालके बरसते हुए फुहारकणोंको देखकर कौन नहीं कह सकता कि प्रकृति एकान्तको छोड़कर बस्तियोंमें आ गई है।"

नन्दलाल खेलें व्रजमें होरी

श्रीप्रेमनाथ शास्त्री

होली भारतका महान् सांस्कृतिक त्यौहार है। वसन्तऋतुकी उन्मादमयी श्रीके साथ ही साथ 'होली'के गीतका जन्म होता है। शीत ऋतुकी काँपती हुई निशाकी जब 'पौ' फूटती है, और वसन्त ऋतुकी सुनहली ऊषा झरोखेसे झाँक उठती है, तो उसे देखते ही खेतोंमें पीले परिधानसे लसी हुई 'सरसों' सिर हिला-हिलाकर थिरक उठती है, और आम्र-मंजरियोंकी मादक सुरभिसे मतवाली होकर कोकिला "कहू-कहूके स्वरमें, एक स्वरसे ताल देने लगती है। इधर भारतीय कृषकका मन भी आनंदसे थिरक उठता है, और उसके प्राणोंको फोड़कर बरबस संगीतकी स्वर-धारा फूट पड़ती है—

"सखि छायी वसंत बहार,
बयार मदमाती डोलै"

और फिर ज्यों-ज्यों प्रकृतिके आँगनमें वसन्तकी बहार बिखरने लगती है, ज्यों-ज्यों बयारमें आम्र-मंजरियोंका मादक गंध तीव्रताके साथ प्रवाहित होने लगता है, और ज्यों-ज्यों कोयलोंके पंचम स्वरमें उन्माद जगने लगता हैं, त्यों-त्यों उसके हृदय-विपंचीपर, होलीका राग भी, आनन्दसे बेसुध होकर लोटने लगता है। प्राकृतिके आँगनमें बिखरी हुई वसन्ती-श्रीके साथ ही साथ जब वह अपने खेतोंमें विहँसती हुई 'लक्ष्मी' को देखता है, तब उसका मन, उसका प्राण, और उसके हाथ-पैर सब कुछ थिरक उठते हैं, और वह 'होली' जलाकर होलिकोत्सवके रूपमें, चारों ओर अपने मनके आनन्दको बिखेर देता है!!

घर-घरमें, गली-गलीमें आनन्दका उन्माद बह उठता है। उधर प्रकृतिकी वीणा पर कोयल कूकती है, उधर प्राकृतिके आँगनमें हँसते-विहँसते पुष्प थिरकते हैं, और इधर फूटता है जन मानससे रागिनियोंका स्रोत, तथा उधर थिरकनेके लिए उठ पड़ते हैं स्त्री-

पुरुषोंके चरण ! प्रकृति और जन-समुदायका ऐसा अपूर्व तादात्म्य होलीको छोड़कर और किसी त्योहार या पर्व पर देखनेको नहीं मिलता ! आकाश और धरतीके बीचमें बिखरती हुई पिचकारी भी शतरंगी धारों, और अबीर-गुलालके बरसते हुए फुहार-कणोंको देखकर कौन नहीं कह सकता कि प्रकृति एकान्तको छोड़कर बस्तियोंमें आ गई है, जन-जनके मनमें अपना आनन्द और अपना प्रेम उड़ेल रही है ।

व्रज तो प्रकृतिके इस अपूर्व दानसे बेसुध हो उठता है, मूर्च्छित-सा हो जाता है, और इसका एक बड़ा कारण है । वह कारण है, प्रकृतिके प्रियतम श्रीगिरिधरका साहचर्य ! होलीके दिनोंमें जो प्रकृति उल्लासके घुंघुरू बांधकर थिरक उठती है, इसके प्राण प्रियतम तो व्रजके अपने हैं। फिर विस्मयकी बात क्या, यदि प्रकृति व्रजमें मतवाली होकर नाच उठे, और फिर विस्मयकी बात क्या ? यदि उसके भीतरका उन्माद-रस व्रजमें, जन-जनके मानससे फूट कर बह उठे । देखिए, संपूर्ण वृन्दावन ही आनन्द, उन्माद और उल्लासमें बहा-सा जा रहा है :—

> वृन्दावनके बीच आज डफ बाजन लागा रे।
> अबीर गुलालके तंबू गड़ाये, सखियाँ लाई रंग ,
> आप हरि भागन लागा रे। डफ बाजन लागा रे।

गली-गलीमें, रंग, सड़क-सड़कपर गुलालकी वर्षा ! सड़कके ऊपर गुलाल और अबीर की तह-सी बिछ जाती है । गृहस्थोंके घरोंसे रंगकी पिचकारियां छूटती हैं, और छूटती हैं मन्दिरोंमें गिरिधर-गोपालकी प्रतिमाओंकी ओरसे । मन्दिरोंमें जब प्रतिमाओंके पास खड़े होकर, पुजारी,—गोस्वामी रंगोंसे भरी बाल्टियाँ, और सूखे अबीर दर्शनार्थियोंके ऊपर फेंकने लगते हैं तो ऐसा लगता है, मानों नंदलाल ही अपने प्रेमियोंसे—सहचरोंसे होली खेल रहे हों । बरसानेकी होलीको देखकर तो श्रीकृष्ण और उनके गोप बन्धुओं तथा गोपियोंकी होलीका सजीव चित्र सामने आ जाता है। बड़ी अद्भुत होली होती है बरसानेमें ! होली क्या है, वीरत्व, और पुरुषत्वकी पूरी परीक्षा है । एक ओर स्त्रियाँ होती हैं, जिनके मुंह घूंघट से ढंके होते हैं, और दूसरी ओर पुरुष । स्त्रियोंके हाथमें लाठियाँ होती हैं, और पुरुषोंके सिर पर पाग, जिसके ऊपर लोहेका टोप भी बड़ी कुशलताके साथ बंधा रहता है ! एक नहीं, पच्चीसों पृथक-पृथक दल होते हैं, जिनमें स्त्रियोंके साथ पुरुष होते हैं ! स्त्रियाँ जब लाठी लेकर टूट पड़ती हैं, तो पुरुष बैठकर, पैतरे बदल-बदलकर उनके प्रहारोंको अपने सिर पर बंधे हुए लौहके टोप पर लेते हैं । लाठियाँ इतनी जोर-जोरसे सिर पर पड़ती हैं, कि देखने वालोंके हृदय कांप उठते हैं, दर्शकोंमें कदाचित् ही ऐसा कोई हो, जो लाठियाँ चलाने वाली स्त्रियों और उनके प्रहारोंको अपने सिर पर बंधे हुए लौह टोपों पर सहन करने वाले पुरुषोंकी कुशलता पर रीझ न उठता हो । सुनते हैं, होलीकी इस प्रतियोगिता में भाग लेनेके लिए महीनों पूर्वसे स्त्री और पुरुष अपने-अपने कौशलका अभ्यास करते हैं । देखनेमें तो नहीं आया, पर यह भी सुनते हैं, कि बरसानेमें होली खेलते हुए यदि किसी पुरुषके मस्तकमें किसी स्त्रीकी लाठीसे चोट लग जाती है, तो वह चोट केवल बरसानेकी, घटनास्थलकी रेणु लगानेसे ही शीघ्र अच्छी हो जाती है ।

वरसानेकी भाँति ही नन्दगांवमें भी होलीका उल्लास पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। ठीक वरसानेकी भाँति ही नंदगाँवमें भी, स्त्री-पुरुष लाठियोंके द्वारा होली खेलते हैं। एक दिन नंदगाँवके पुरुष वरसानेमें होली खेलने जाते हैं उस दित वरसानेकी स्त्रियाँ होती हैं, जो लाठियाँ चलाती हैं। दूसरे वरसानेकी स्त्रियाँ, नन्दगांव पहुँचती हैं, और होलीके उल्लासमें अपनी लाठियोंकी मारसे, नन्दगाँवके पुरुषोंको पराजित करनेका प्रयत्न करती है। वरसाने और नन्दगाँव— दोनों स्थानोंमें, दूर-दूरसे लोग कई सहस्रोंकी संख्यामें पहुँचते है, और स्त्री-पुरुषोंके उछलते, और थिरकते हुए मनके कृत्योंको देखकर स्वयं भी आनन्दके झूले पर झूलने लगते हैं।

नन्दगाँव और वरसानेकी होली उस समयके चित्रको सजीव रूपमें सामने प्रस्तुत कर देती है जव भगवान् श्रीकृष्ण व्रजकी घरती पर विद्यमान थे, यह तो नहीं कहा जा सकता कि आज जिस प्रकारकी होली नन्दगाँव और वरसानेमें होती है, उसी प्रकारकी होली भगवान् श्रीकृष्ण भी गोपियोंके साथ खेलते थे। पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि यही वह नन्दगांव है, जिसकी गोदमें भगवान् श्रीकृष्ण 'गोपाल' और 'गिरिधर' के रूपमें निवास कर चुके हैं, और यही वह 'वरसाना' है, जिसकी धरती 'श्रीराधा' और उनकी सहचरियोंकी नख-ज्योतिसे आलोकित हो रही है। पुराणों और धर्म-कथाओंके अनुसार, नन्दगांव और वरसानेके बीचमें कितने ही ऐसे स्थान आज भी अपने 'नाम' रूपमें प्राप्त होते हैं जहाँ नन्दगाँवके 'गिरिधर' और 'गोपाल' ने, वरसानेकी 'राधा' और उनकी सखियोंके साथ मिलकर 'पावन प्रेम' के चित्र बनाए हैं, और 'रास' लीलाएं की हैं। आश्चर्य नहीं, होलीके दिनोंमें पावन ठिठोलियाँ भी हुई हों। इसे प्रमाण कोई कहे या न कहे, पर लोकगीतोंके रचयिताओं, और कवियोंने उसकी कल्पना अवश्य की है। एक तो उल्लास भरी होली और दूसरे राधाकृष्ण तथा गोपियोंका पारस्परिक पावन प्रेम! लोकगीतकार और कवि उसे छोड़ते तो कैसे छोड़ते? उन्होंने होलीके उल्लासके सूत्रमें, राधाकृष्ण और गोपियोंके पावन प्रेम-पुष्पका विविध रूपोंमें गुम्फन किया है, और भावोंकी गहराईमें डूबकर गुम्फन किया है।

आइए देखें, राधाकृष्ण और गोपियोंकी उस उल्लास भरी होलीको! अपने लोक-गीतकारों और कवियोंके शब्दोंके झरोखोंसे। 'होली' के दिन थे, प्रकृति हँस रही थी— विहँस रही थी! प्रकृतिके आँगनमें चारो ओर हर्ष, चारों ओर उल्लासके गीत! 'होली' ने वरसानेकी गोपियों और 'राधा' के मनसे भी उन्मादका सागर उँड़ेल दिया! उनका मन भी होली खेलनेके लिए—उन्मादके ताप पर नाचनेके लिए मचल उठा! पर होली, बिना 'गोपाल' के हो तो कैसे हो? आखिर 'राधा' की एक सखी नन्दगाँव जा पहुँची, और होली खेलनेके लिए 'कान्हा' को निमंत्रण दे आई, लोक-गीतकारके निम्नांकित शब्दों में उस सखीका ही तो निमंत्रण है :—

"कान्हा वरसाने में आय जइयो, बुलाय गई राधा प्यारी।
जो कान्हा तोय गैल न पावै, पूछत - पूछत आयजइयो ॥

केवल निमंत्रण ही नहीं दे गई, वरन् राधाके समीप पहुँचनेके ढंग भी बता गई है। पर राधा और गोपियोंकी भाँति ही कान्हाके मनमें भी तो होलीका उल्लास है—उन्माद है ! गोपियोंकी भाँति ही कान्हा का भी मन तो राधाके साथ—गोपियोंके साथ ही होली खेलनेके लिए मचल रहा है। कान्हा अवसर की ताकमें रहते हैं कि कैसे उन्हें अवसर मिले और वे गोपियोंके दल में जा घुसें ! पर जब तक कान्हा युक्ति सोचनेमें ही लगे थे गोपियोंने एक युक्ति ढूँढ़कर निकाल ली । श्रीकृष्णको पकड़नेके लिए एक गोपीने बलरामका छद्म वेश बनाया । शेष गोपियाँ राधाके साथ इधर-उधर छिप गईं ! श्रीकृष्ण फन्देमें आ ही गए । छद्म वेशधारी गोपीको बलराम समझकर वे उसके साथ-साथ एकान्तमें जा पहुँचे । बस फिर क्या ? अवसर पाते ही, गोपियाँ चारों ओरसे रंग ले-लेकर निकल पड़ीं और श्रीकृष्णको पकड़कर उन्हें खूब बनाने लगीं ! किसीने उनका मयूर पंख छीन लिया, किसीने उनके भाल पर 'बिन्दा' लगा दिया, किसीनें आँखोंमें अंजन आँज दिया, किसीने साड़ी चोली पहना दी, किसीने राधाके साथ गाँठ बाँध दी, और कोई उनके हाथों को पकड़कर उन्हें नचाने लगी ! निम्नांकित पंक्तियोंमें इसी भावका चित्रण कविने बड़ी सुष्ठताके साथ किया है :—

> 'सखि इक बोलि लई अपने ढिंग, भेष जू बल को कीन्हों ।
> ताकों मिलन चले उठि मोहन, काहु सखा नहिं चीन्हों ।।
> एक सखी कहै आँखि आँजिकें, माथे बिंदा लावै ।
> एक आँखि आँजि, मुख मार्‌यो, ऊपर गुलचा दीन्यौ ।"

इसी प्रकार कितने ही लोक गीतकारों और भक्त कवियों ने होलीके उल्लासके सूत्रमें राधाकृष्ण और गोपियोंके और भक्त कवियोंका गुम्फन किया है ! आज जब हम उन लोक-गीतों और कविताओंको पढ़ते हैं, तो आँखोंके सामने उन दिनोंका चित्र चित्रित हो जाता है, जिनको आधार मानकर लोक-गीतकारों, और कवियोंने अपनी कल्पनाओंके मनोरम कुञ्जोंका निर्माण किया है । नन्दगाँव, बरसाना, वृन्दावन, मथुरा और दाऊजीके होलिकोत्सव भी हमें उन्हीं दिनोंका स्मरण दिलाते हैं—

●

भगवान्‌के पिता

हम लोग एकबार गंगा किनारे श्रीहरिबाबाके बाँध पर थे, वहाँ वेदान्त सत्संगमें यह चर्चा आयी, कि भगवान्‌की जो मूर्ति हृदयमें आती है, वह अपनी कल्पनासे आती है ।

एक भक्त इस चर्चाको सुन रहे थे । पीछेसे वे मुझसे बोले—"स्वामीजी, आज सत्संगमें बहुत आनंद आया । मैं तो यह समझता था, कि चित्तमें आना न आना भगवान्‌की इच्छा पर निर्भर है । किन्तु आज पता चला, कि इस विषयमें हम स्वतंत्र हैं ।

"मैं ध्यान करने बैठता था, तो समझता था, कि भगवान् महान् हैं । बहुत दूर हैं । मेरे चित्तमें पता नहीं, वे आयेंगे या नहीं । किन्तु अब तो अपनी स्वतन्त्रता है । हम जब चाहें, तब चित्तमें भगवान्‌को बुला सकते हैं । हम भगवान्‌के पिता बन सकते हैं ।

—स्वामी अखंडानन्द सरस्वती

●

"अपनी युवावस्थामें मुझे कुछ ऐसे अनुभव हुए हैं, जिन्हें मैं अधिक प्रेरणादायक मानता हूँ। वे किस तरह और क्यों हुए, यह मुझे नहीं मालूम, पर मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ, कि कोई छिपी हुई शक्ति है जोमुझे सहारा दे रही है, और मुझे अपनी वास्तविक राह दिखा रही है।"

जब भगवान् मेरे जीवनमें आये

एक ईश्वर प्रेमी

मैंने कभी इस बात पर संदेह नहीं किया, कि संसारमें आत्माकी शक्ति ही मुख्य है। प्रश्न हो सकता है, कि ऐसा क्यों ? इसके उत्तरमें मैं केवल इतना ही कहूँगा कि यदि मैं इस "क्यों" का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाता, तो यही समझना चाहिए कि परमात्मा यही चाहते हैं।

अपनी युवावस्थामें मुझे कुछ ऐसे अनुभव हुए हैं, जिन्हें मैं अधिक प्रेरणादायक मानता हूँ। वे किस तरह और क्यों हुए, यह मुझे नहीं मालूम, पर मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि कोई छिपी हुई शक्ति है जो मुझे सहारा दे रही है, और मुझे अपनी वास्तविक राह दिखा रही है।

अब इस बुढ़ापेमें भी, बगीचेमें टहलते समय मेरी नयी पुस्तकके अगले अध्यायकी सामग्री अपने आप मेरी चेतनामें प्रकट हो जाती है। और लेखनकी मेरी समस्याओंका समाधान हो जाता है। मुझे बस, इतना भर करना पड़ता है कि मैं उन शब्दोंको तब तक याद रखूँ, जब तक कि उन्हें लिख न लूँ। पता नहीं, यह प्रेरणा कैसे होती है ? स्वयं मेरे लिए भी यह चमत्कार-सा ही है। हाँ, इतना मैं अवश्य कह सकता हूँ, कि मेरा कार्य रचनात्मक है, और यही मेरे जीवनका लक्ष्य है।

१९६४ ई०में जब मैं एक चुनावमें खड़ा हुआ तो मेरे विरोधी मुझे 'नास्तिक' कहकर राजनीतिक लाभ उठानेका यत्न कर रहे थे। विरोधियोंके आरोपोंसे प्रभावित होकर, एक वयोवृद्ध सज्जनने मेरे पास एक प्रश्नावली भेजी, और मुझसे अपने प्रश्नोंके उत्तर माँगे।

उनका पहला प्रश्न था, "क्या तुम ईश्वरमें विश्वास करते हो ?

मेरा उत्तर था, "हाँ।"

उनका दूसरा प्रश्न था, "ईश्वरकी व्याख्या करो।"

मेरा उत्तर था, "ईश्वर अनन्त है। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।"

मैं जानता था कि मेरा यह उत्तर प्रश्नकर्त्ताको कदाचित् संतोष न दे सके। किन्तु मैं तो ईश्वरको एक अनन्त शक्तिके ही रूपमें देखता हूँ। उसकी ऐसी कोई सीमा या सीमाएँ मुझे ज्ञात नहीं हैं, जिनकी व्याख्या किसी प्रश्नके उत्तरमें दी जा सके। मैं यह मानता हूँ कि ईश्वरने मुझे जो इस धरती पर पैदा किया है, समझनेकी शक्ति दी है, और जिज्ञासु बनाया है। वह अपनी शक्तियोंका उपयोग करनेके लिए ही।

मेरा विश्वास है कि मुझे ईश्वरके दिए हुए एक ऐसे संसारका सुन्दर स्वप्न दिखाई पड़ा, जिसमें ग़रीबी और युद्धका अन्त हो गया। ये ही मानवजातिके लिए विनाशकारी तत्व हैं। उसी स्वप्नको अपने सहजीवियोंके समक्ष सिद्ध करनेका प्रयास मैं कर रहा था। कई बार मैं बुरी तरह इसमें असफल रहा। ग़रीबी, कर्ज, बीमारी, कष्ट, सभी आये। कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगता, कि मैंने स्वयंको धोखा दिया है। कई बार ईश्वरको अन्यायी मानने तकको मेरा मन करता। उस दशामें, केवल यह कहना कि यह एक आध्यात्मिक विश्व रूप है, पर्याप्त नहीं था। मुझे स्वयंको विश्वास दिलाना आवश्यक था, और अपने कष्टपूर्ण जीवनमें इस विचारसे, धैर्य प्राप्त करना था मैंने यह पुरानी प्रार्थना, कि कर्म ही प्रार्थना है, सीख रखी थी, किन्तु यह अपर्याप्त था। तब मैंने ईश्वरसे साहस, निश्चय, और आशाके लिए अनुरोध किया। और वस्तुतः मुझे मन और आत्माकी ये विस्मयजनक अनुभूतियाँ प्राप्त हुईं; जिनके अभावसे मनुष्य 'मूक' परिचालित 'पशु' है।

मेरी पत्नीका भी यही हाल था। पूरे बीस वर्ष तक उसने मेरा साथ दिया। कई लोगोंका काम वह अकेली ही करती रही। घरकी देखभाल करना, मेरी पाडुंलिपियोंका संशोधन करना, शीघ्रतामें न लिखनेके लिए मुझसे बार-बार अनुरोध करना, मुझे ऋण-मुक्त रखना, और ऐसे विश्वासघातियों, तथा पर जीवियोंको मुझसे दूर रखना, जो प्रत्येक सुधारक, और जन-सेवकके पीछे लगे रहते हैं—यह सभी कार्य उसके ऊपर थे।

कार्योंके भारसे उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। वह मुझे सबकी दृष्टियोंसे दूर, एक एकान्त स्थलमें ले गई और स्वयं भी आत्माकी खोजमें लग गई। वर्तमानकालके प्रमुख दार्शनिकों, विद्वानों, और धार्मिक व्यक्तियोंके ग्रंथोंका अनुशीलन करना उसने प्रारम्भ किया। उसने उन सभी मनीषियोंके ग्रंथ पढ़े, जो उसकी आत्मा पर कुछ प्रकाश डाल सकते थे। वह कई ऐसे व्यक्तियों और महात्माओंसे मिली और उनसे आत्मा तथा ईश्वरके संबंधमें प्रश्न किए। क्योंकि वह जानती थी कि वे सभी लोग ईश्वरमें प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हैं।

उसने प्रार्थनाका एक श्रेष्ठतर ढंग सीखा और अपने मन पर नियंत्रण रखना भी सीख लिया। यह उसके लिए अधिक उपयोगी प्रमाणित हुआ। उसका स्वास्थ्य सुधरने लगा और वह ठीक भी रहता, यदि वह इतना काम करनेका प्रयत्न न करती, जो किसी भी स्त्री के लिए असंभव है।

कुछ वर्ष पूर्व, उसे दिलका दौरा हुआ, जिससे उसे भयंकर कष्ट रहा। मैं तो समझ बैठा था, और वह स्वयं भी सोचने लगी थी, कि वह जीवित नहीं रहेगी तब इस आशंका से कि मेरे पश्चात् मेरे पतिका क्या होगा वह अधिक विपन्न रहती थी।

उस संकटावस्थामें, मैंने धार्मिक प्रश्नों पर विवाद करना छोड़ दिया। ईश्वरके सही रूप और व्याख्या पर मैंने किसीसे चर्चा नहीं ली। मैं केवल प्रार्थना करता रहा, बार-बार ईश्वरसे यही विनय करता रहा कि हे ईश्वर, तू उसे बचा, तू उसकी सहायता कर।"

उस भयंकर रात्रिमें मैं अकेला अखण्ड प्रार्थना करता रहा। हम लोग एक ऐसे दूर स्थान पर थे, जहाँ कोई डाक्टर न था, कोई हमारी सहायता करने वाला नहीं था, कोई परिचित भी नहीं था—अतिरिक्त ईश्वरके। कदाचित् आप एक व्यक्तिकी कहानीसे परिचित हों, जिसने दुःखसे पीड़ित होकर प्रार्थनाकी थी, "हे प्रभु, यदि प्रभु है तो, मेरी आत्माकी रक्षा कर, यदि मेरी कोई आत्मा है तो···।" मैंने उसकी तरह अपनी प्रार्थनामें कोई 'यदि" नहीं लगाया।

मेरी पत्नीका कथन है, कि मेरी प्रार्थनाओं ने ही उसकी प्राण रक्षाकी। संशयवादी तो यही कहेंगे कि उसने मेरी प्रार्थनाओंको शुभ, और मेरे प्यार तथा मेरी आवश्यकताओं का अनुभव कर उसमें जीनेकी इच्छा प्रवल हो उठी और वह कष्ट सहन कर सकनेमें समर्थ हुई। मैं उनसे विवाद नहीं करूँगा। मैं तो केवल इतना ही कहूँगा, कि मनोविज्ञानकी भी ईश्वर द्वारा ठीक वैसी ही रचना हुई है, जैसी कि अन्य सभी वस्तुओं की। मानव मन और शरीर—दोनोंका सर्वज्ञ नहीं है और उनके काम करनेके ढंग भी वैसे ही हैं, जैसे उसको यदि प्रार्थनासे साहस, आशा और प्रेम प्राप्त होते हैं तो मैं इसके लिए ईश्वरका कृतज्ञ होऊँगा।

आनन्दके लिए

महाराजा युधिष्ठिर ध्यानमें मग्न वनमें बैठे थे। ध्यानसे उठे, तो द्रोपदीने कहा—"धर्मराज, आप भगवान्का इतना भजन करते हैं, इतनी देर तक ध्यानमें बैठे रहते हैं, फिर उनसे क्यों नहीं कहते कि इन संकटोंको दूर करदें ?" इतने वर्षसे आप और दूसरे पाँडव वनमें भटक रहे हैं ! इतना कष्ट होता है, इतना क्लेश है। कहीं पत्थरों पर रात बितानी पड़ती है, और कहीं काँटों में। कभी प्यास बुझानेको पानी नहीं मिलता, कभी भूख मिटानेके लिए भोजन नहीं, फिर आप भगवान्से क्यों नहीं कहते कि वे इन कष्टोंको दूर करदें।"

युधिष्ठिरजी बोले—"सुनो द्रौपदी, मैं भगवान्का भजन सौदेके लिए नहीं करता। मैं भजन करता हूँ केवल इसलिए, कि भजन करनेमें आनंद मिलता है। सामने फैली हुई उस पर्वत मालाको देखो, उसे देखतेही मन प्रफुल्लित हो जाता है। हम उससे कुछ माँगते नहीं। हम देखते हैं, इसलिए कि देखनेमें प्रसन्नता होती है। इसी प्रसन्नताके लिए मैं भगवान्का भजन करता हूँ।"

सुरेशचन्द्र 'अरुण' विद्यारत्न।

"यदि परमेश्वरकी इच्छा होती तो उसने कुछ लोगोंको हाथ ही हाथ दिए होते और कुछ लोगोंके सिर ही सिर होते ; कुछ राहू और कुछ केतू निर्माण होते। किन्तु भगवान्ने प्रत्येक मनुष्यको सिर और हाथ दोनों दिए हैं। इसका अर्थ है, कि ज्ञान और कर्मका योग होना होना ही चाहिए। इस संयोगके बिना जीवन-निर्वाह नहीं होगा।"

प्राण प्रेरक बोल

—एक तत्त्व प्रेमी

खोजमें

वैराग्य लेने वालेने मध्य रात्रिमें कहा—"घर बार, छोड़ और प्रभुकी खोजमें निकल पड़नेकी घड़ी आ पहुँची है। कौन मुझे इतने इतने दिनों तक मायामें आग्रस्त किए हुए था ?"

भगवान्ने बहुत ही मन्द स्वरमें कहा—"मैं ! किन्तु मनुष्यके कान तो बंद थे' उसने नहीं सुना।

उसकी सह धर्मिणी, बिस्तर पर एक ओर सुखकी निद्रामें मग्न थी। उसका दुध मँहा शिशु उसकी छातीसे चिपटा हुआ था।

मनुष्यने कहा—"ये कौन हैं, जो इतने दिनों तक मूर्ख बनाकर छलते रहे हैं।'

भगवान्की पुनः आवाज आई—"ये भगवान् हैं।"

किन्तु मनुष्यने नहीं सुना।

उसी समय शिशु स्वप्नमें रो पड़ा, और अपनी माँ से, और अधिक जोरसे चिपट गया।

भगवान्ने आदेश दिया—"मूर्ख, रुक जा ! अपने घरका परित्याग मत कर।"

मनुष्य फिर भी अनसुना करके चल पड़ा।

भगवान्ने टेढ़ी साँस लेकर, बड़े ही दुःखके साथ कहा—"मेरा सेवक, मुझे छोड़कर मेरी खोजमें क्यों भटक रहा है ?"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जो देवता नहीं कर सकते

मैंने दिनभर बैठकर प्रार्थना-प्रसादका पूर्ण पारायण करनेका संकल्प किया था। सायंकाल पारायण पूर्ण होने ही को था कि एक शिष्यके द्वारा गुरुजीने बुलवा भेजा।

मैंने नम्रता पूर्वक कहा, 'गुरुजीसे निवेदन करदो, कि 'पारायण' अब पूर्ण होने ही वाला है। समाप्त होते ही मैं शीघ्र आ जाऊँगा।"

शिष्य चला गया। किन्तु शीघ्र ही लौटकर फिर आ गया। बोला—"शीघ्र ही, इसी समय चलना होगा।"

मैं गुरुके पास गया। उन्होंने प्रश्न किया—"पहली बार, बुलाने पर क्यों नहीं आये ?"

मैंने कारण बता दिया।

गुरु बोले—"मैंने तुम्हें एक दुःखी मनुष्यके लिए कुछ पैसोंका प्रबंध करनेके लिए बुलाया था। प्रार्थनाएँ तो देवता भी पढ़ सकते हैं, किन्तु दोनों ओर दुखियोंकी सहायता तो मनुष्य ही कर सकते हैं। पर सेवा और दीन सेवा प्रार्थनासे भी अधिक मानवी कर्त्तव्य है ; क्योंकि देवता इसे नहीं कर सकते।"

—एक हसीदी धर्म गुरु

तन्मय स्रोता

इस युगके सुप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ पाश्चात्य संगीत संचालक तोस्कानिनी एकवार प्रसिद्ध वायलिन वादक यहूदी मेनुइनके यहाँ अतिथि थे। उन्होंने मेनुइनका संगीत सुननेकी इच्छा प्रगट की।

मेनुइनि वायलिन बजाने लगे। और तोस्कानिनी तमन्य होकर सुनने लगे।

इसी समय टेलीफोनको घंटी बज उठी।

मेनुइन उठकर फोनकी ओर जानेको हुए तो तो स्कानिनीने उन्हें वायलिन-वादन जारी रखनेका संकेत किया, और स्वयं उठकर फोन की ओर गए।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपना जेबी चाकू निकालकर फोनका तार काट दिया। और चुपचाप आकर अपनी कुर्सीपर बैठ गए और संगीत सुनने में तन्मय हो गए।

—सुखवीर

संदेश

हेनरी बाइबिलका बड़ा भक्त था। वह सदैव उसके पन्ने उलटता रहता, और पंक्ति पर सर्वप्रथम उसकी दृष्टि पड़ती, वह उसीके अनुसार कार्य करता।

एकबार बाइबिल खोलने पर उसकी दृष्टि सर्वप्रथम इस पंक्ति पर पड़ी—"जडासने स्वयं अपने आपको फाँसी पर लटका लिया।"

हैनरीने इस कार्यको करनेमें अपनेको असमर्थ पाया। उसने अपने मनको विश्वास दिलाते हुए सोचा कि अच्छा फिर बाइबिल खोली जाय।

दूसरीबार बाइबिल पर उसकी दृष्टि इस पंक्ति पर पड़ी—"तुम्हें भी उसीका अनुकरण करना चाहिए।"

हेनरीने आकुल होकर तीसरी बार पुनः बाइबिल खोली। इस बार उसकी दृष्टिके सामने यह पंक्ति थी—"तुम किस सोचमें पड़े हो ? शीघ्रता पूर्वक उसी पर आचरण क्यों नहीं करते ?"

—सुशीलकुमार

"आस्थाका बल तो ऐसा है, कि उसके आगे सबको समर्पित होना पड़ता है। भौतिक परिणामोंकी तो बात ही क्या स्वयम् भगवान्‌को भी पराजित होना पड़ता है। मैंने जो कुछ आस्थाके बल पर पाया, वह तर्कके सहारे नहीं। बड़ेसे बड़े विघ्नको आस्थाके आगे दयनीय स्वरमें कराहते देखा है।"

आस्थाके झूलेमें

श्रीगोविन्द शास्त्री

तर्क कुछ भी कहे—आस्था एक ही स्वरमें बोलती है। तर्कका जन्म बाह्य वातावरणकी देन है, आस्थाका स्वयम्‌का संसार है। दोनोंकी उपलब्धियाँ भिन्न होती हैं। जब मानवके ज्ञान चक्षु खुलते हैं, तो उसे अन्तर्दृष्टि मिलती है। जो उसे आँखोंसे दिखता है, उससे पार देखनेकी शक्ति भी विकसित होती है। ऐसे ही स्थान पर आकर व्यक्ति अपने जीवनकी दिशा निश्चित करता है। देखा जाय तो यह स्थिति एक चौराहा होती है। यहींसे मानव घूमता है। कुछ आदमी तर्कके सहारे दुनियाकी चमकमें चौंधिया जाते हैं, और कुछ इस दृश्य जगत्‌से भिन्न संसारमें खो जाते हैं। दोनोंके लिये दोनों अविश्वसनीय है। भौतिकके लिये आत्मिकता एक छल है, क्योंकि उसकी दृष्टि-शक्ति चौंधिया जानेसे कुण्ठित हो गई है और आध्यात्मके लिये भौतिककी नश्वरता विश्वसनीय बन जाती है। एक यह भी सत्य है समस्त भावेन भगवान्‌का आश्रय मान लेनेकी धारणा भी एक संस्कार और पूर्वजन्मके पुण्योंसे मिलती है। होनेको सभी कुछ होता है होता रहता है। कुछ उसे समझते ही नहीं, कुछ गलत समझ लेते हैं और कुछ ही ऐसे होते हैं जो उसका तात्विक रूप समझते हैं। उदाहरणके लिये एक आदमी बोल देता है—"दही जैसा मार्ग है" वक्ता यह नहीं जानता कि उसके वाक्यमें उपमा अलंकार है, उसके वाक्यमें स्वच्छता और स्पष्टताके गुण ध्वनित करनेकी क्षमता है। इसी तरहके कुछ व्यक्ति जो जीवन जी रहे हैं, उसे एक परम्परित दृष्टिकोणसे ही जीनेका उपक्रम करते हैं। अस्तु, सौभाग्य वश जो व्यक्ति जीवनमें उस सर्वशक्ति सम्पन्नका सहारा मानकर चलता है, उसके भी जीवनमें ज्वार-भाटे आते हैं, आकर्षण-विकर्षण उसमें भी होता है। उस शुष्क और धैर्यलभ्य आस्थासे उसको भी विरक्ति होनेको होती

है—इसका उत्तर कोई यह देता है कि भगवान् हमारी आस्थाकी परीक्षा लेता है, किन्तु यह वात उचित नहीं मालूम होती। वास्तविकता यह है कि वातावरणकी अनिवार्यता हमें प्रभावित करती है, हमारे जीवनकी विवशता हमें उद्वेलित करती है और समय पर वह आस्थाका क्षीण-सा सूत्र भंग होता-होता वच जाता है। कई वार भंग भी हो जाता है। जीवन सम्पूर्ण रूपसे धन्य नहीं हो सकता। कृतार्थ जीवन तो कुछ क्षणों तक ही जीया जा सकता है। भगवान्के अर्चनमें व्यस्त जीवन भी साक्षात्कारके क्षणोंके लिये तरसता रहता है और वे क्षण यदा-कदा ही मिल पाते हैं, किन्तु जव वे मिलते हैं तो जीवनका महत्त्व समझमें आ जाता है। उस प्रतीक्षाकी विवशतिक्तता और मधुर हो जाती हैं। यह तो क्षणिक और प्रयास सौभाग्य सुलभ अवसर होता है। कभी-कभी इसके सामने जीवनकी दैनन्दिन विषमता और भौतिकताके उद्दाम आकर्षण अधिक प्रभाविष्णु रूप धारण कर लेते हैं और वास्तवमें ऐसे अवसरोंसे हमारी आस्थाका परीक्षण होता है। विपत्तियोंसे घवराकर व्यक्तिका धैर्य विचलित हो जाता है, सुखोंके आकर्षणके आगे आदमीका विश्वास हार जाता है। ऐसी परिस्थितिमें वहुतसे व्यक्ति अविश्वासी वन जाते हैं। विवशतामें अविश्वासका स्वर तो मुझे प्रायः ही सुनाई देता है। जो कार्यकी सफलता या विफलताका विचार करते हैं, उनकी आस्थामें कहीं न कहीं खोट है। जो आने वाले विघ्नोंसे घवराकर चिन्तित हो उठते हैं, उनके विश्वासमें कहीं न कहीं कृत्रिमता है।

आस्थाका वल तो ऐसा है कि उसके आगे सबको समर्पित होना पड़ता है। भौतिक परिणामोंकी तो वात ही क्या। स्वयम् भगवान्को भी पराजित होना पड़ता है। मैंने जो कुछ आस्थाके वलपर पाया, वह तर्कके सहारे नहीं। बड़ेसे वड़े विघ्नोंको आस्थाके आगे दयनीय स्वरमें कराहते देखा है लोग कहते हैं—'यह मैंने अर्जित किया' किन्तु मैं जानता हूँ कि मुझमें अर्जनकी क्षमता कितनी है। मैंने भी दोनों ही जीवन जीये हैं। विश्वासको खोकर भी मैं चला हूँ, अपने पागल अहंकारको भी मैंने पूजा है किन्तु आज समस्त भौतिक सुख और प्रत्यवाय भी आकर मुझसे कहें कि यह विश्वास, यह मेरा भगवान् झूठा है तो मैं विश्वास नहीं कर सकता। दूसरे को दिखानेके लिये यद्यपि आस्थावान् के पास कुछ भी नहीं होता और न ही मूर्त्तरूपसे उस श्रद्धाके पास कुछ होता, किन्तु जो कुछ होता है वह अवाच्य होता है, अमूल्य होता है वह सारा मूर्त्त उसमें समाहित हो जाता है। आज जव मेरे जैसी मनस्थितिमें औरोंको देखता हूँ, तो उसका कारण और परिणाम समझ लेता हूँ। एक वार यों ही महात्मा भगवानदीनका लेख पढ़ रहा था, उसमें यज्ञोपवीतको ब्राह्मणोंका एक मार्का बताया गया था और वह भी इतने सबल रूपमें कि उस तर्कने मेरे विश्वासके मूलको हिला दिया। मैंने यज्ञोपवीतका मार्का उतारकर ब्राह्मणपनेसे छुट्टी पाई। जिस नित्य नैमित्तिकके कर्तव्य वन्धनमें बँध रहा था, उससे मुक्त हो गया। कुछ दिनोंके लिये वह स्वतन्त्र जीवन बड़ा पसन्द आया। जब चाहे उठना जव चाहे, जो चाहे खा लेना। मनमें कभी-कभी अज्ञात संकोच उठ आता, किन्तु धर्मकी दासतासे मुक्त होकर मानवकी सहज स्वतन्त्रताका उपभोग करनेकी लालसामें वह संकोच अधिक नहीं टिक सका। वातचीतमें, विचारोंमें वही मानव धर्मकी व्याख्या फिर भी इस

सुखद-स्वतन्त्र जीवनमें पता नहीं कौन सी ऐसी रिक्तता थी, जो चुभती रहती थी। वर्षोंसे चलता आ रहा क्रम भी जीवनकी अनिवार्यता बन चुका था और यही अभ्यास कभी कभी उग्र हो जाता। भीतरसे कुछ कचोटता पर मैं था कि अपने आपको बदलने पर उतारू हो गया था। इसी जीवनने मुझे सिगरेट दी। सिगरेटकी पहले कशोंसे मुझे मचली आई, दिमाग घूम-सा गया पर मैं इस नवीन धर्मको सर्वांशतः ग्रहण करनेका निश्चय कर चुका था विवश होकर शरीरको उसे स्वीकार करना पड़ा। होटलकी सभ्यताके सारे रस्म मैं बखूबी निभाने लग गया और मेरे कुछ नास्तिक मित्रोंने मुझे सराहा—इसलिये सराहा कि मेरा परिवर्तन उनकी विजयका प्रतीक था।

यह परिस्थित अधिक दिनों तक नहीं चली। जीवनके बहुमूल्य चार वर्ष इसने निगल लिये और इसी अन्तरालमें मुझे अच्छे-अच्छे आस्तिकों, नास्तिकों, और भक्तोंको अपने अन्धतर्कके सहारे निष्प्रभ कर देनेका आनन्द भी मिल सका, किन्तु पता नहीं वह कौन-सा क्षण था जिस समय किसीने मुझे बलात् पूजागृहकी तरफ खींच लिया। वह प्रतिमा जिसके सामने मैंने अपना सुख-दुःख कहा था, आत्म निवेदन किया था, उस पर धूलकी पर्तें छा गई थीं। सारे कमरेको धोकर स्वच्छ किया, उस उपेक्षित प्रतीकके प्रति चार वर्षोंसे रुद्ध स्नेहका प्रवाह बाँध तोड़कर वह निकला। मेरी स्थिति जैसे "उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै" की हो रही थी। मन कह रहा था, 'प्रभु मेरे अवगुन चित न धरौ' उस दिन जो आनन्द मिला, वह अवर्ण्य था। उस सुखा-स्वादकी कल्पना करके आज भी रोमाञ्च हो उठता है। मेरे पार्थ सारथि उस दिन कह रहे थे—'मामेकं शरणं व्रजः।

कहनेको आज भी मैं उन लोगोंको सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता, जो मुझसे यह पूछते हैं कि तुम इस तरह बैठकर क्या पाते हो? क्या बताऊँ? क्या दिखाऊँ? जिस विरहमें मीरा घुलती रही, जिस पीड़ामें सारा व्रज झुलसता रहा, उसमें दिखानेको क्या है? वह तो एकान्तिक सुख है। उसे उपलब्धिसे नहीं तोला जा सकता। जिस प्रेमीको अपनी चिर प्रतीक्षित प्रेयसीके मिलनमें जो अनुभव होता है, उससे भी तीव्रतर आस्वादानुभव इस विरहमें इस दीवानगीमें होता है। किन्तु ये सारे जागतिक बन्धन उस दीवानगीको उभारने भी कहाँ देते हैं। आस्थाका प्रभाव मैंने दूसरी बार अनुभव किया, कुछ समय पहले। उसी जीवनकी स्मृति चिन्ह धूम्रपान मेरे जीवनका अभिन्न अंग बन चुका था। वर्षों तक पी जाने वाली सिगरेटोंका मूल्य हजारों रुपयोंमें चुका कर भी मैं उनका क्रीतदास बन चुका था। हजारों बार छोड़कर भी पीता रहा। कृष्णका वाक्य रह रहकर मेरे मनमें उभरता, कानोंमें गूँजता, 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतपः' किन्तु इस हृदय दौर्बल्यने मेरे संकल्पको निर्जीव बना दिया था। अन्तर्द्वन्द्वमें सदा हारने वाला व्यक्तित्व अपने आपके सामर्थ्यके प्रति भी सशंक हो उठा और इससे ऊबकर मैंने उसी आनन्दकन्दसे प्रार्थना की। प्रार्थना करता रहा और सिगरेट पीता रहा, पर एक दिन का आश्चर्य कि, मुझे अस्वस्थता हुई। ऐसी नहीं कि, मेरे नित्य कर्ममें भी अशक्तिका अनुभव हो और उसी दिनसे मुझे धूम्रपानसे ऐसी अरुचि हुई कि कोई जबर्दस्ती दे देता, तो मेरा

मुँह घन्टों खराब रहता। आज उसके स्पर्श मात्रसे घृणा होती है। परिचित वर्ग मुझे देखकर कहता है—कुछ दिनोंमें फिर पीने लग जाओगे किन्तु मैं धीमी मगर विश्वास भरी आवाजमें कहता हूँ। 'जिसने जीवनमें पराजय कभी देखी ही नहीं वह अब भी पराजित नहीं हो सकता' और यह वाक्य मुझे उसी वंशीधरने सिखाया है। जिसने उसका अवलम्बन ले लिया, उसे कोई भी दीनता नहीं व्याप सकती. वह विघ्नों और शंकाओंके व्यूहमें जाकर सिंहकी तरह गर्जता है, अनाथकी तरह पलायन नहीं करता।

वास्तवमें कामिनी और कंचन इस संसारके महत्तम आकर्षण हैं। ये वरदान भी हैं और अभिशाप भी। स्वस्थ सामाजिक जीवनके लिये नारीके महत्त्वको स्वीकारना ही पड़ता है। इस वातावरणमें दया, सहानुभूति, प्रेम आदि कोमल गुण नारीकी ही देन हैं। पुरुष अथवा स्त्रीके अंगोंके निर्माणमें कोमल अंग स्त्रीके डिम्बोंसे ही बनते हैं। दूसरे स्त्री पुरुषका पूरक बनकर आई है। समान प्राणीको जन्म देना नारीके सर्जक स्वरूपकी ही गरिमा है। इसके साथ ही यदि स्त्री नहीं होती तो पुरुष अपने आपमें पनपते रोगोंसे बुरी तरह मर जाता। आयुर्वेद शास्त्रके मतसे एवम् स्वयम्के अनुभवसे मैं यह जान पाया हूँ कि कई प्रकारकी अस्वस्थताओंकी चिकित्सा केवल नारी ही है। किन्तु आजके युगकी सबसे बड़ी विसंगति यह है कि उस नारीको पदच्युत कर दिया गया है। उसे सम्मान देने के स्थान पर उपभोगका साधन मात्र मान लिया है। राम और कृष्णके युगसे पूजी जा रही नारी आज खिलौना मात्र रह गई है। नारीका सौन्दर्य एक प्रतीक न रहकर एक साधन मात्र रह गया है और परिणाम यह सामने है कि नारी गौण हो गई है। केवल वासनाओंके वृत्तमें ही आजकी नई पीढ़ी घूम रही है। दोनोंका अवमूल्यन हो रहा है। पुरुषको पुरुषत्वका अभिमान नहीं रहा, नारी को सतीत्वका ज्ञान नहीं रहा। इस सन्दर्भमें मुझे यह कहते कोई सन्देह नहीं कि यह अस्थिरता इस विदेशी शिक्षा पद्धतिने दी है। सौन्दर्य, पूजा-प्रशंसाका पात्र न रह कर एक बाजारू चीज बन गया है। आज स्त्री प्रदर्शन कक्षमें रखा एक प्रसाधन है। मेरे स्वयम्के गर्हित जीवनके संस्मरण ने मुझे यह निष्कर्ष दिया है और उस भावनात्मक आसक्तिसे छुटकारा पानेके लिये भी मुझे उसी परमपुरुषके योगीराज स्वरूपका ध्यान करना पड़ा। वे ठहरे परम दयालु। कोई अगतिक होकर उनको निवेदन करे और वे चुपचाप रह जायँ, यह हो ही नहीं सकता और आज मैं स्वयम् यह अनुभव कर रहा हूँ कि नारीका सौन्दर्य और सामीप्य मुझे उद्वेलित नहीं कर सकता। उस प्रकृतिदत्त वरदानकी प्रेरक रूपमें प्रतिष्ठा करना ही एक सत्य है। विभ्रम विलासोंके आवर्त्तमें फँसनेवाला एक ही वृत घूमता रहता है और यह जीवनके प्रति समाजके प्रति सौदर्न्यके प्रति न्याय दृष्टिकोण नहीं है।

आजके इस दिग्भ्रान्त समाजको कृष्णका जीवनदर्शन बहुत कुछ दे सकता है। शायद आज तकके युगोंमें उनके सिद्धान्तोंकी सबसे बड़ी उपयोगिता इस युगमें है। उस युग-युगमें अवतरित होने वाले दिव्य पुरुषकी वाणी आजके पीड़ित मानवका सर्वाधिक कल्याण कर सकती है।

"आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द, रासलीला शिरोमणि, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ा स्थली व्रजकी शोभाके विषयमें जितना भी कहा जाय या लिखा जाय, वह थोड़ा ही है। व्रज ······ ? कितना मधुर, मनमोहक, और अमृत रस बरसा देने वाला है यह शब्द ! कितनी मधुरिमा, कितना उल्लास, और कितना अपरिमित स्नेह भरा हुआ है इन दो अक्षरोंमें।"

व्रजकी शोभा

श्रीअशोक एम. ए.

आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द, रासलीला शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ा-स्थली व्रजकी शोभाके विषयमें जितना भी कहा जाय या लिखा जाय, वह थोड़ा ही है ! 'व्रज'···? कितना मधुर, मनमोहक और अमृत-रस बरसा देनेवाला है यह शब्द ! कितनी मधुरिमा, कितना उल्लास और कितना अपरिमित स्नेह भरा हुआ है इन दो अक्षरों में !

कोलाहलसे दूर····बहुत दूर, भगवान् कृष्णकी पुण्य तपोभूमि व्रजकी शोभाका स्मरण करनेसे ही पाँच हजार वर्ष पूर्वकी घटनाके धुँधले चित्र आँखोंके सामने साकार हो उठते हैं।

वह वंशीवट, वह नंदगाँव और गोकुल, वे सुरम्य विपिनलता-कुंजों से ढँके हुए सुन्दर उपवन, नन्हे-नन्हे वे ग्वाल-बाल, वंशीकी वह मादक तान, ये सब बातें स्मरण हो आती हैं और तब हम अतीतके वैभवको याद कर कुछ क्षणोंके लिये उसकी यादमें बेसुध हो जाते हैं। काश ! वे दिन फिरसे आ जाते !

—ऐसी पतित पावनी, पुण्यभूमि व्रजकी शोभाका वर्णन कविकी मधुर कल्पनाओंने भी किया है और अपनेको धन्य माना है। कवि नागरीदासने व्रजके रजकी शोभा और महत्त्वका वर्णन कितना सरस एवं सुन्दर ढंगसे किया है—'व्रज रज उड़ि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय। व्रजकी तनिक सी रज पड़नेसे जन्म जन्मान्तरके पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं, परन्तु यह रज केवल इतना ही महत्त्व नहीं रखती है, बल्कि यह पवित्र रज मानों मुक्तिको भी मुक्त करने वाली है।

भक्ति-रसमें डूबे हुए कितने ही भावुक भक्त इस पवित्र रजमें लोटते रहते हैं और उनकी अन्तरात्मासे ही यही पुकार निकलती है:—

'मिलि हैं पद अंग अंग छार ह्वै, वन-वीथिन-धूरि।
परि हैं पद-पंकज विमल, मेरी जीवन मूरि॥'

'व्रज'के महत्त्वका स्तर और भी ऊँचा किया है एक और कविने अपनी वाणी द्वारा :—

'चारि पदारथ करत मजूरी, मुक्ति भरै जँह पानी।
करम, धरम दोउ बटत जेवरी, घर छावैं ब्रह्मासे ज्ञानी॥'

धर्म, अर्थ काम और मोक्षका यहाँ कोई मूल्य ही नहीं है। बने हुए ढोंगी ब्रह्म-ज्ञानियोंकी यहाँ पूरी हजामत ही समझिये। उनकी यहाँ कोई कद्र ही नहीं है, बल्कि उल्टे उन्हें दूसरोंका काम ही करना पड़ता है। उद्धवजी गोपियोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देने आये थे, परन्तु 'कमाने गई पूत खो आई खसम' वाली कहावत चरितार्थ हुई। उद्धवजीके साथ! कहाँ तो वे गोपियोंको उपदेश देने आये थे और कहाँ उन्हें उल्टे ही सिर पर पैर रखकर भागना पड़ा :—

'त्याग कों जोग जहाँन कहै,
हम तौ तब ही चुकीं त्याग जहानैं।
मौत कलेस कौ, लेस नहीं—
कवि 'बोधा' गुपाल में चित्त समानैं॥
खेंचतीं पौन कौ मौन गहैं—
अरु नींद अहार नहीं उर आनैं।
उधौ जू! जोग की रीति कहौ—
हम जोग ना दूजौ वियोग ते जानैं॥'

—कवि नागरीदास जीने व्रजकी मधुरताके विषयमें कितना सुन्दर लिखा है :—

व्रज सम ग्रौर न कोऊ धाम!
या व्रज में परमेसुर हू के, सुधरे सुन्दर नाम॥
कृष्णनाम, यह सुनों गर्व ते कान्ह कान्ह कहि बोलें।
बाल-केलि 'रस मगन भई सब, आनन्द सिन्धु कलोलें॥

व्रजकी व्रजभाषा तो देवनागरीसे भी अधिक सरल एवं मृदुल है। कटुता या क्लिष्टताका कहीं नाम भी नहीं। सरलता और मधुरताकी सजीव प्रतिमा है व्रज-भाषा!

'ब्रह्ममें ढूंढ़्यो पुरानन गायन, वेदरिचा पढ़ि चौगुने चायन!
देख्यौ सुन्यो न कहूँ कबहूँ वह कैसे सरूप ग्रौ कैसे सुभाइन।
ढूंढ़त ढूंढ़त हारि फिर्‌यो 'रसखान' बतायो न लोग लुगायन।
देख्यौ दुर्‌यो वह कुंज कुटीरमें बैठ्यो पलोटत राधिका-पायन।

जिसकी खोजमें सम्पूर्ण ब्रह्मांड पागल हो उठा है, वही नंदलाल सघन वनकी प्राकृतिक पर्णशालामें राधिकाके पैरों तले पड़ा है। 'रसखान' कविने इस व्रज-भाषामें कितनी मिठास भर दी है ? कवि विहारीलाल कहते हैं कि इस सरस रसके सम्मुख ऋषि-मुनियोंकी तपस्याका क्या मूल्य है ?

'मनु मार्यौ केते मुनिन, मनुन मनायो आय।
ता मोहन पै राधिका मान गहावति पाय ॥

और भी चमत्कार देखिये

'छीर जौ चाहत चीर गहे, अजु लेहु न केतिक छीर अँचैहो।
चाखन के हित माखन माँगत खाहुन केतिक माखन खैहो ॥
जानति हौं जिय की 'रसखानि' सुकाहे को एतिक बात बढैहो।
'गोरस' के मिस जो रस चाहत सो रसजू नेंक न लाल जू पैहो ॥

भई वाह ! यह भी खूब रही ! हम तुम्हारे हृदयकी बातको जानती हैं पर गोरसके बहाने तुम जिस रसकी आकांक्षा करते हो, वह तुम्हें जरा भी नहीं मिलेगा परन्तु रसिक प्रेमियोंको इन्कार करनेमें भी मजा मिलता है न ! भिखारीको भीख न मिलेगी तो भिखारी धरना देना भी जानता है। प्रेमके लिये हुकूमत और मीठी झिड़कियाँ भी सहता है। पैरोंमें महावर लगाता है और बालोंमें फूल भी गूँथता है। कवि विहारीलालने इसका बड़ा ही अच्छा चित्र खींचा है।

वेद भेद जानै नहीं, नेति नेति कहि बैन।
ता मोहन सों राधिका, कहै महावर दैन ॥
जान न पायौ ब्रह्म हूँ, जोग न पायो ईस।
ता मोहन सों राधिका, सुमन गुहावति सीस ॥

प्रेमकी फटकार और झिड़कियाँ कितनी मीठी होती हैं ? भला शेष, महेश, गणेश और सुरेश इस मज़ाको क्या जानें ? बन्दर भी कहीं अदरखके स्वादको पा सकता है ?

'सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावें।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड, अछेद, अभेद, सुबेद बतावें ॥
नारद से सुक व्यास रटैं, पचिहारे तऊ पुनि पार न पावें।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावें ॥

जिनके हृदयमें भी व्रजकी शोभाका मधुर चित्र अंकित है, वे ही उसकी सुदन्रता, सरसता और अनुपमताको जान सकते हैं। उनकी अन्तरात्मा पुकार उठती है।

'या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख, नन्द की गाय चराय बिसारौं।
'रसखानि' सदा इन आंखिन सौं व्रज के वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हूं कलधौत के धाम करील की कुंजनि ऊपर वारौं ॥

आकाँक्षाकी समाप्ति यहीं पर नहीं हो जाती है बल्कि आगे भी बढ़ती है।

'कदम-कुंज होइ हौं कबैं, श्री बृन्दावन मांहि।
ललित किशोरी' लाड़िले, बिहरेंगे तेहि छांहि ।।
कब कालिन्दी कूल की, होइ हौं तरुवर डार।
'ललित किशोरी' लाड़िले, झूलैं झूला पार ।।
कब हौं सेवा कुञ्जमें होइ हौं श्याम तमाल।
लतिका कर गहि विरमि हैं, ललित लड़ैती लाल ।।
कब कालीदह कूल की, होय हों त्रिविध समीर।
जुगुल अंग में लागि हैं, उड़ि है नूतन चीर ।।
कब गहवर वन गलिन में, फिरि हौं होइ चकोर।
जुगुल चन्द्रमुख निरखि हौं, नागरि नवलकिशोर ।।

वाह! क्या कहना है। कितनी पवित्र सुन्दर, और मधुर आकांक्षायें हैं? रसखानकी आकाँक्षाएें तो सजीव सी हो उठी हैं?

मानुष हौं तो वही 'रसखानि' फिरौं मिलि गोकुल गांव के ग्वारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं नित, कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर क्षत्र पुरन्दर धारन ।।

'ललितकिशोरी' जी ने इससे भी अधिक मनोवांछाकी व्यवस्था अपनी रचनामें की

जमुना पुलिन कुञ्ज गह्वर की, कोकिल होय द्रुम कूक मचाऊं।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप होइ, मधुरै मधुरैं गुञ्ज सुनाऊँ।
कूकर होइ व्रज बीथिन डोलौं, बचे सीथ सन्तन के पाऊँ ।।
'ललितकिशोरी' आस यही मम, व्रज रज तजि छिन अनतन जाऊँ।

अंतिम समयमें भी उसी मोर मुकुट वंशीवालेकी यादमें ये आंखें खुली रह जायें।

'कदम की छाँह हो, यमुना का तट हो।
अधर मुरली हो, माथे पै मुकुट हो।
खड़े हों आप इक बाँकी अदा से।
मुकुट झोंके में हो, मौजे हवा से।
गिरे गरदन ढुलक कर, पीत पट पर।
खुली रह जायें आँखें ये मुकुट पर ।।

इस महिमामयी व्रजकी शोभाकी अकथ कथा कहाँ तक कही जाय? इसकी शोभाके आगे सम्पूर्ण स्वर्गका वैभव भी तुच्छ है।

व्रज सुख छायौ, चलि नागर लुभायो मन।
हमको न भायो यहाँ बैकुण्ठ को आइबो ।।

और तो और वहाँकी शोभाके दर्शनार्थ योगेन्द्र शिवको भी गोपी बनना पड़ा था।

ब्राह्म मुहूर्त और प्रातः स्नानका महत्व

हमारे यहाँ ब्राह्म मुहूर्तमें शय्या त्यागकर शौचादिसे निवृत्त हो सूर्यको अर्घ्य देना धर्मका अङ्ग माना गया है। स्वास्थ्य और दीर्घ जीवनके लिए यह अतीव उपकारी काम है। कहा है—

यद्द्य सूर उदितोऽनागा मित्रो अर्यमा सुवाति सविता भगः ॥
सामवेद १३।५१

प्रातःकालीन प्राणदायिनी वायु सूर्योदयके पूर्वतक निर्दोष रहती है। अतः प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर प्राणप्रद वायुका सेवन करना धर्मका अङ्ग है। इससे उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होता है और आरोग्य स्थिर रहता है। धनकी प्राप्ति होती है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा स नो जीवातवे कृधि ॥
(सामवेद १८।४१)

वायु जीवन है, आरोग्यदाता है। अतः प्रातःकाल उठकर प्राणदायक वायु नियमित सेवन करें। यह पिता, भाई और मित्रके समान सुख देता है।

शरीर-शुद्धिसे मन और आत्माकी शुद्धि होती है। मन ईश्वरमें लगता है। जलके शरीरपर डालनेसे भीतर शान्ति और संतुलन उत्पन्न होता है। भीतर और बाहरके हानिकारक कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभ हीनता, दुःस्वप्ननाश, तप, मेधा—इन दस गुणोंका लाभ होता है। स्नानको हिन्दुओंने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यह बाह्य शुद्धिका साधन है। हमारे यहाँ गङ्गाजी, यमुनाजी, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा; सिन्धु, कावेरी इत्यादिमें स्नान करना धर्मका अङ्ग है। स्नान करते हुए हिन्दू भक्त इन सब नदियोंका स्मरण करता है। ये नदियाँ भारतके चारों कोनोंपर हैं। इस तरह भारतकी अखण्डता और भावात्मक एकताको भी कायम रखनेकी कोशिश की गयी है। इन नदियोंके जलमें रासायनिक गुण भरे पड़े हैं, जिससे स्वास्थ्य और दीर्घजीवन प्राप्त होता हैं, बाह्य और अन्तरकी शुद्धि होती है।

—साभार कल्याणसे
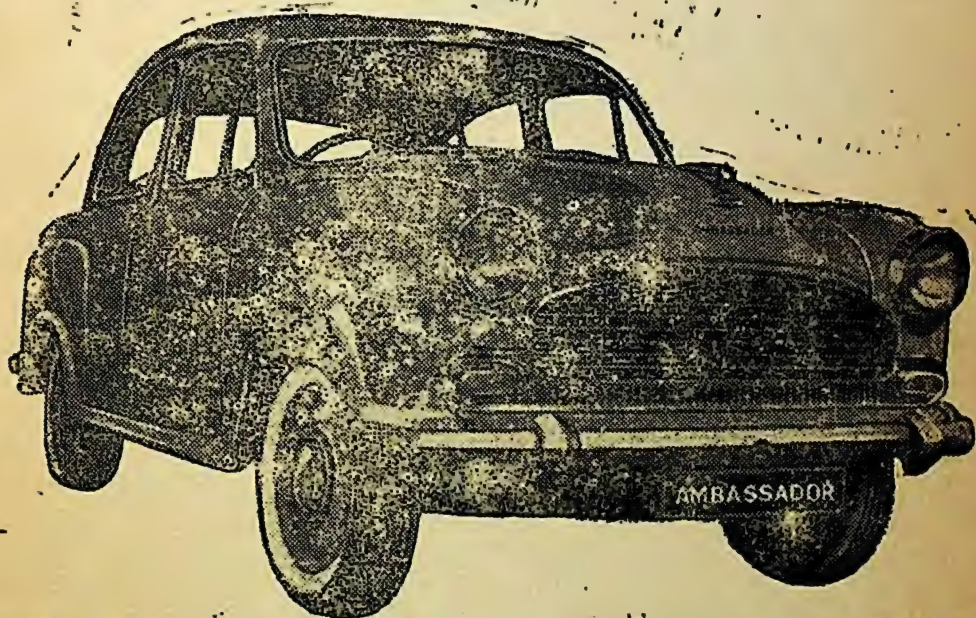
प्रपत्र : चार

(नियम ८ के अन्तर्गत)

१. प्रकाशन-स्थल	: श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ कटरा केशवदेव, मथुरा
२. प्रकाशन-आवृत्ति	: द्वैमासिक
३. मुद्रकका नाम	: हितशरण शर्मा
राष्ट्रीयता	: भारतीय
पता	: ६९३/३ मेनरोड, गांधीनगर दिल्ली-३१
४. प्रकाशकका नाम	: देवधर शर्मा
राष्ट्रीयता	: भारतीय
पता	: श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ कटरा केशवदेव मथुरा
५. सम्पादकका नाम	: हितशरण शर्मा
राष्ट्रीयता	: भारतीय
पता	: ६९३/३ मेनरोड, गांधीनगर दिल्ली-३१
६. स्वत्वाधिकारी	: श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ, कटरा केशवदेव मथुरा

मैं, देवधर शर्मा, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार सही हैं।

माघ-फाल्गुन १९६७

देवधर शर्मा

(हस्ताक्षर), प्रकाशक

श्रीभागवत-भवन शिलान्यास-समारोहकी झाँकियाँ—
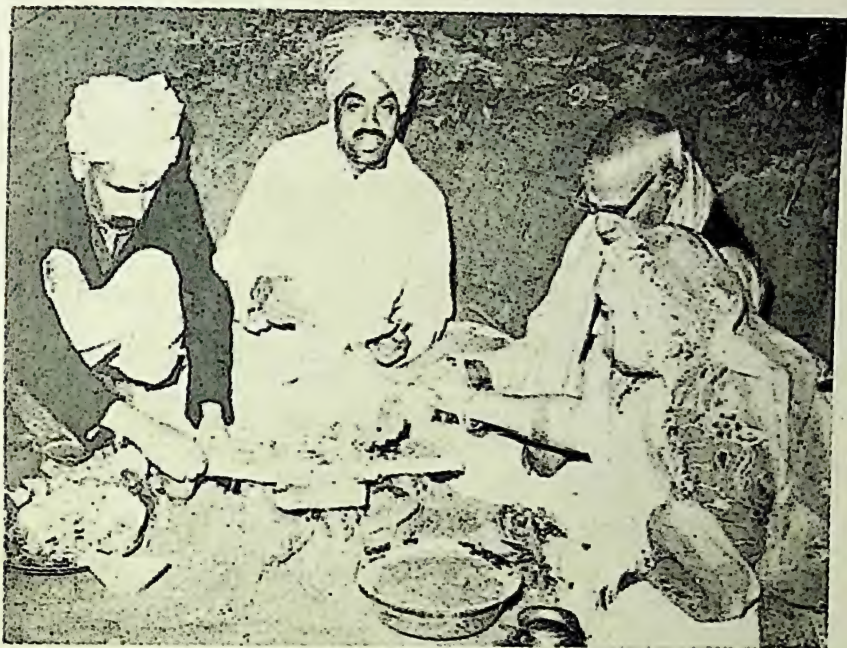
सपत्नीक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे भागवत-भवनका शिलान्यास-पूजन सम्पन्न करवाते हुए पं० श्रीरामजीलालजी शास्त्री (मध्यमें)
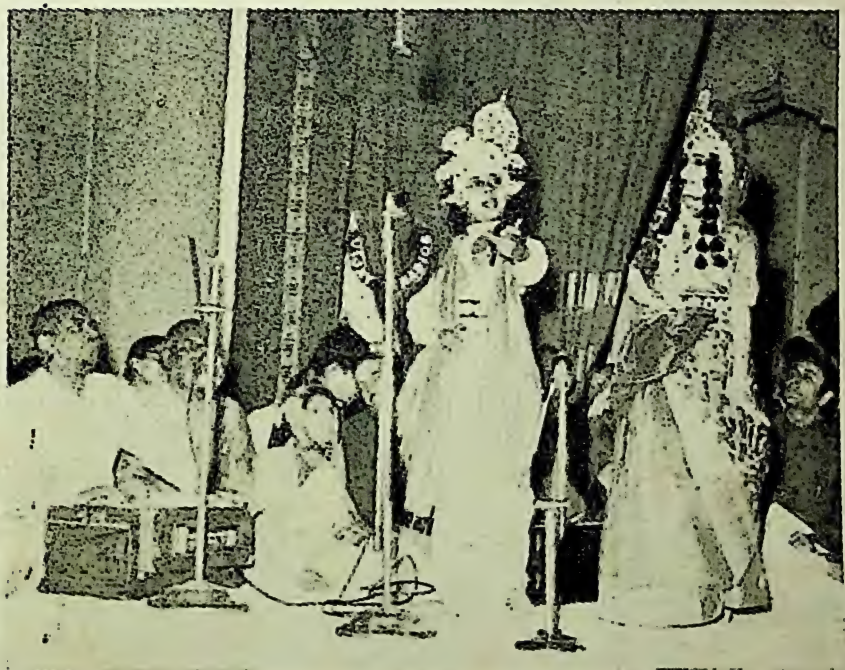
शिलान्यास-समारोहके समय श्रीराधा-माधव-रस-सुधा-अभिनयका एक दृश्य

* कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् *

'श्रीकृष्ण-सन्देश'

आगामी जन्माष्टमी (वि० सं० २०२४) से

मासिक-पत्र होने जा रहा हैं। अतएव

इसके ग्राहक बनिए और बनाइए

क्योंकि —

- ★ यह श्रीकृष्ण-प्रेमी जनताका अपना पत्र है,
- ★ श्रीकृष्णकी दिव्य लीला-गुण-कर्म एवं वाणीसे अभिप्रेरित है,
- ★ निष्पक्ष एवं प्रामाणिक पाठ्य-सामग्रीसे भरपूर है,
- ★ नैतिक बल, पवित्राचरण एवं स्वधर्म-निष्ठाको बढ़ानेवाला है।

यदि आप —

- ★ लेखक हैं तो प्रेरणादायक लेख भेजकर
- ★ कवि हैं, तो निष्ठा-वर्द्धक कविताएँ लिखकर
- ★ अधिकारी या सेवक हैं, तो अपना सहयोग देकर
- ★ उद्योगपति या व्यापारी हैं, तो अपने संस्थानोंके विज्ञापन देकर

अपना सहयोग प्रदान करें।

श्रीकृष्ण-सन्देशकी सफलता आपके सहयोगपर निर्भर है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुराके लिए श्रीदेवधर शर्मा द्वारा प्रकाशित एवं राधाप्रेस, दिल्ली-३१ में मुद्रित।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान की पत्रिका

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर नवनिर्मित मन्दिरका एक सुरम्य दृश्य

[श्रीकृष्ण-जन्मस्थानकी झाँकी]

भगवान् श्रीकृष्ण एवं देवकीजीके श्रीविग्रह →
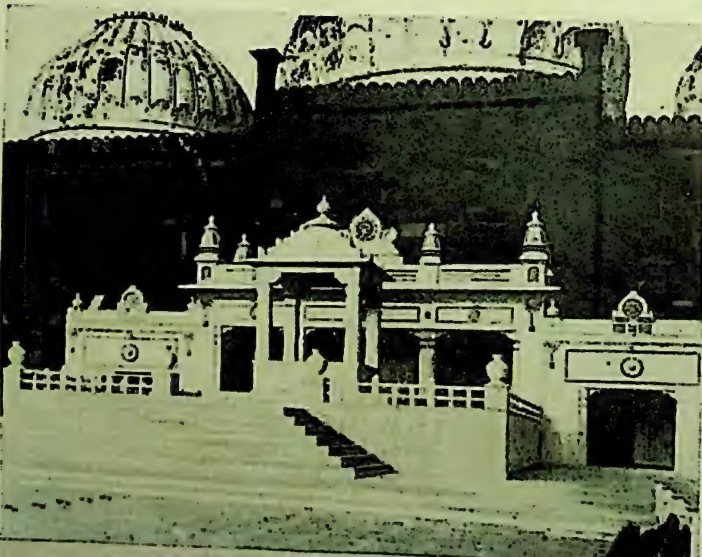
श्रीकृष्ण-चबूतरा एवं उस पर नवनिर्मित संगमरमरकी कलापूर्ण छतरी। यह वही स्थान है जहाँ पर भगवान् श्रीकृष्णने जन्म लिया था।

श्रीकृष्ण-सन्देश
(द्वैमासिक)

आत्मानं सततं विद्धि

वर्ष—१] चैत्र-वैसाख, २०२३ वि० [अङ्क—५

●

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

●

मूल्य

एक रुपया प्रति

वार्षिक

सात रुपया

आवरणचित्र

गीतोपदेश, कश्मीर कलम

अठारहवीं शती

अनुकृतिकार

के० सी० आर्यन्

मुद्रक :

राधा प्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१

विषय-संकेत

सम्मतियाँ एवं शुभकामनाएँ

श्रीद्वारका शारदा पीठाधिप जगद्गुरु स्वामी श्रीअभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ श्रीपाद :

श्रीकृष्ण जन्मस्थान संघेन प्रकाश्यमानस्य "श्रीकृष्ण-सन्देशस्य" समरांक सानन्दमवलोकि, श्रीकृष्ण जन्मभूमिर्न केवलं भारतस्य, किन्तु समस्तस्यापि विश्वस्य श्रेयःप्रेरणाम् इति ततएव सदा शुभ प्रेरणा सर्वेषां कल्याणपरम्परायै कल्पत इति निश्चप्रचम् ।

जन्मस्थानस्यास्य महिम्नो वृद्धये भगवतः श्रीकृष्णस्य सन्देश प्रसाराय भारतीयधर्म संस्कृति भाषा संरक्षणकृते कृष्णसन्देशोयं तनोति शुभां प्रवृत्तिमिति सर्वथा समभिनन्दन-मर्हति तत्संचालक संघः ।

इयं शुभा प्रवृत्तिः भगवतः परमया कृपया साफल्यमियादिति शुभा आशिषस्समुल्लसन्तुतरां श्रीद्वारकापीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशंकराचार्य-चरणीयाः ।

श्रीकाञ्ची कामकोटि पीठाधिप जगद्गुरु श्रीमच्चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती श्रीपाद :

श्रीकृष्णसन्देशनाम्नी द्वैमासिकी पत्रिकेयं श्रीमथुराक्षेत्रात् श्रीकृष्णजन्म-स्थान सेवासंघतः प्रकाश्यमाना गीताद्वारा भगवता लोकं प्रत्युपदिष्टान् कर्म-भक्ति ज्ञानमार्गान् विविच्य असंकीर्णतया बोधयन्ती, विशिष्य अद्य अन्यराष्ट्रभर्त्सन दशायां भारतीयानां अस्माकं राष्ट्रस्वातन्त्र्यपालने श्रद्धामुद्दीपयन्ती धार्मिक-माहात्म्येन उपर्युपरि वर्धतामित्याशास्महे ।

स्वामी श्रीयोगेश्वरानन्दजी सरस्वती, योगनिकेतन,

स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) :

हमने श्रीकृष्णसन्देशके दो अंकोंका अवलोकन किया है। इनमें श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके जीवनके विविध पक्षोंपर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला गया है। जनताके आध्यात्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक स्तरके उन्नायक गवेषणापूर्ण मौलिक लेखोंसे यह पत्रिका अलंकृत है। हम इसे स्तुत्य तथा समयानुकूल समझते हैं और इसका अभिनन्दन करते हैं। हमें पूर्णाशा और विश्वास है कि 'श्रीकृष्ण सन्देश' विषय-वासनाओं और भोग-विलासमें व्यस्त जनतामें भक्ति-भावना जागृत करने, निष्काम कर्ममें अभिरुचि उत्पन्न करने, योग-साधनामें प्रवृत्त करने, ज्ञान-गरिमाके महत्वको समझने, प्रेय-पथका परित्याग करके श्रेय-पथपर अग्रसर करने और उसके कर्त्तव्य-पथकी धुँधली रेखाओंको प्रकाशित करके उसे कर्त्तव्य-पथपर आरूढ़ करके भारतकी पावन-परम्पराओंका प्रतीक बनानेमें सहायक होगा। भगवत्कृपासे यह विश्वमें भव्य-भावनाओं, दिव्यदृष्टिकोण तथा पावन प्रेरणाओंको प्रसारित करे।

हम मंगलमय भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि यह बढ़े, फूले और फले।

स्वामी श्रीचिदानन्दजी, शिवानंदाश्रम (ऋषिकेष) :

This new journal SRI KRISHNA SANDESH which is being issued from the holy city of Mathura, the birth place of Lord Krishna is carrying out a most important mission in bringing to the peoples of Bharatavarsha the inspiring message of this Poornavataara who is the greatest personality our civilization has produced as YOGESHWARA KRISHNA the blessed Lord has given to the nation the Gospel of the Perfect Life. Yoga is meant to the culture of mankind tomorrow. It means Life that is lived perfectly in every field of its activity individual as well as collective. His YOGA is the science of Positivism, Dynamism and triumphant Optimism. Fearlessness and Strength are cardinal factors in it, wisdom, robust confidence and keen commonsense are essential ingredients in this Way of Life and Heroes are the products thereof. This radiant aspect of His wisdom-teachings, the SRIKRISHNA SANDESH seeks to bring to present day people of this land. This is verily a national building task and a mission of cultural revitalisation. Greatly needed indeed. I wish it fullest success in this important misssion. Jai Sri Krishna Sandesh.

श्रीगोपाललालजी गोस्वामी, श्रीमहाप्रभुजीका बड़ा मन्दिर, पाटनपोल, कोटा :

श्रीकृष्ण-सन्देशका अंक प्राप्तकर प्रसन्नता हुई। अंकके इतने सुन्दर सम्पादनके लिए आपको अनेक धन्यवाद।

श्रीअगरचन्द नाहटा, बीकानेर :

आपका पत्र और कृष्ण-संदेशका अंक मिला। पत्रिका बहुत अच्छी निकल रही है, सामग्री छपाई सभी सुन्दर है।

श्रीउदयनारायण तिवारी, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (म० प्र०) :

श्रीकृष्ण-सन्देशका अंक प्राप्त हुआ, अनेक धन्यवाद। शान्ति एवं युद्ध दोनोंमें भगवान् कृष्ण हमारे आदर्श हैं। अतएव उनके संदेशका जितना ही अधिक प्रचार होगा उतना ही अधिक हमारा देश प्रगतिके पथपर अग्रसर होगा। भगवान्के जन्म-स्थानसे प्रकाशित होने वाली इस पत्रिकाका मैं हृदयसे स्वागत करता हूँ।

श्रीमती ललिता लालबहादुर शास्त्री, मोतीलाल नेहरू प्लेस, नई दिल्ली :

'श्रीकृष्ण सन्देश' नामक द्वैमासिक पत्रिका मिली। अनेक धन्यवाद। मैंने सभी लेख पढ़े। सभी अच्छे हैं, लेकिन "अर्जुनकी शंका—युद्ध या शांति" नामक लेख बहुत ही अच्छा है। मुझे पूर्ण आशा है कि इस पत्रिकाके द्वारा सभी वर्गोंके लोगोंको लाभ होगा।

श्रीकण्ठमणिजी शास्त्री, सञ्चालक, विद्या-विभाग, कांकरोली (राजस्थान) :

आपका कार्य प्रशंसनीय एवं एक अभावकी पूर्ति करने वाला है। पत्रका संकलन-संपादन कार्य आकर्षक और उपादेय है। प्रस्तुत प्रयास स्थायित्वको प्राप्तकर साहित्यकी सेवा करता रहे—ऐसी शुभ आशा है।

आचार्य रजनीश, जबलपुर :

अंकके लिये हार्दिक शुभकामनायें। आपका पत्र जन मानसके लिये वास्तविक जीवनकी दिशाका सूत्रपात करता रहे, ऐसी कामना है।

श्रीदेवीशंकर तिवाड़ी, प्रदेशाध्यक्ष, भारत सेवक समाज, राजस्थान, जयपुर :

"श्रीकृष्ण-संदेश" का समर-अंक देखकर प्रसन्नता हुई। भगवान् श्रीकृष्ण-का दिया हुआ संदेश नवीन दृष्टिकोणसे प्रस्तुत किया गया है जो आजकलकी परिस्थितिमें प्रेरणादायक और लाभप्रद सिद्ध होगा। इस प्रकाशनके लिए सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों ही बधाईके पात्र हैं।

श्रीदुर्गादत्त मेनन, लाजपतनगर (जालंधर) :

श्रीकृष्ण सन्देशकी प्रति पढ़कर मनमयूर नाच उठा। इसका स्तर ऐसा ही बनाये रखें।

भक्त रामशरणदासजी, पिलखुवा (जि० मेरठ) :

श्रीकृष्ण-सन्देश देखा, पढ़कर हृदय गद्-गद् हो गया। बहुत ही सुन्दर है, जितनी प्रशंसाकी जाय थोड़ी है। हमने औरोंको भी दिखाया, सभी पढ़कर गद्-गद् हो गये और सभीने बहुत सुन्दर बताया।

श्रीरामआसरे समाधिया, व्याख्याता, शास्त्रीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, असहार, जि० भिण्ड (म० प्र०) :

'श्रीकृष्ण-सन्देश' प्राप्त हुआ। स्वयं पढ़ा, मित्रोंने पढ़ा। सभीने मुक्तकंठसे आपके उत्तम प्रयासकी प्रशंसा की।

कुँवर सूर्यप्रताप नारायणसिंह, २२ कैसर बाग, लखनऊ

मैं "श्रीकृष्ण-सन्देश" के अङ्कोंको नियमित रूपसे पढ़ता हूँ। उसके उद्बोधक लेखोंका इतना सुप्रभाव मेरे मानसपर पड़ता है कि मैं अपने सामनेकी समस्त कठिनाइयों एवं विघ्न-बाधाओंको भूल-सा जाता हूँ और मुझमें एक दिव्य उत्साहका सञ्चार हो जाता है। मेरा यह निश्चित मत है कि "श्रीकृष्ण-सन्देश" संसार-सागरमें डूबते हुए व्यक्तियोंके लिये जलयानके सदृश बनकर अवतरित हुआ है।

श्रीकपिलदेव त्रिपाठी, पुराणेतिहास विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीः

श्रीकृष्णजन्मस्थान मथुरायां प्रकाश्यत एव या,
श्रीकृष्ण सन्देशाभिधाना पत्रिका, वर्धेत सा।
श्रीकृष्णसन्देशानियं विस्तारयेदवनीतले,
श्रीकृष्ण सत्कृपया सदा तिष्ठेत् स्वरूपे निर्मले ॥१॥
या भारतीया संस्कृतिर्या सभ्यताऽस्ति पुरातनी,
गीता महाभारत पुराणेषु स्थिताऽधिकपावनी।
प्रसरेदमुष्याः पत्रिकाया माध्यमेन भुवस्तले,
आवर्जिनाः स्युः पण्डिता भृङ्गा इवात्र नवोत्पले ॥२॥

श्रीमन्माध्व गौड़ेश्वराचार्य श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी, वृन्दावन :

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीकृष्णके जन्म और कर्म सभी दिव्य हैं। श्रीकृष्णके दिव्य जन्म-स्थानसे श्रीकृष्णके दिव्य सन्देश 'श्रीकृष्ण सन्देश' पत्रिकामें निरन्तर प्रकाशित होकर मानव मात्रको दिव्य-पथका प्रदर्शन करते रहें।

श्रीविश्वनाथ शर्मा, जिला नियोजन अधिकारी बाराबंकी

'श्रीकृष्ण सन्देश' पत्रिकाके दोनों अङ्क देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। स्मरण नहीं कि अपने जीवनके प्रारम्भमें ही किसी मासिक अङ्ककी इतनी चित्ताकर्षक सजधज देखी हो। क्या कागज, क्या छपाई, सफाई तथा मेकअप, और क्या सामग्रीकी प्रचुरता तथा विषय वैविध्य प्रत्येक दृष्टिसे अङ्क स्तुत्य है। वर्तमान युगकी भावनात्मक विषमताओंसे विषाक्त वातावरणमें, सत्यके सच्चे तथा शाश्वत स्वरूपसे सन्त्रस्त समाजको योगिराज कृष्णका सन्देश स्फूर्तिप्रद तथा सन्मार्गदर्शक है। यदि इस पत्रिकाके द्वारा गीताकी गम्भीर गवेषणा, सरल शब्दोंमें सर्वसाधारणके लिए सुलभ हो सके तो इससे बढ़कर किसी भी पत्रिका-के लिए गौरवकी बात नहीं हो सकती है। इसकी उपादेयता और सार्थकता सदैव बनी रहे, यही कामना है।

बाबा गोविन्ददासजी, अध्यक्ष, ओरियन्टयल स्प्रिच्युअलिस्टस सोसाइटी, दिल्ली :

'श्रीकृष्ण-सन्देश' भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र अमृतका पान करवाने वाला पुनीत पात्र ही नहीं है वरन् यह श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके ऐतिह्यपर प्रकाश डालने-वाला मुख-पत्र भी है।

इस द्वैमासिक पत्रके प्रकाशनसे धार्मिक साहित्यमें कृष्ण-चरित्रकी अभि-वृद्धिके साथ दार्शनिक क्षेत्रमें नवीन अनुसन्धानको बल प्राप्त होगा जिससे धर्म और दर्शन नया जीवन तथा नया बल प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे।

इस पत्रका सम्पादन-कार्य सुयोग्य भावुक महानुभावों द्वारा सम्पन्न होनेके कारण इसके कलेवरकी सामग्रीकी गुरुता और इसके बाह्य स्वरूपको सौन्दर्य मिला है।

डा० बी. एस. शर्मा, मुख्य माध्यम, ओरियन्टल स्प्रिच्युअलिस्टस सोसाइटी दिल्ली :

श्रीकृष्ण-सन्देश' श्रीकृष्ण-चरित्रकी पुनरावृत्ति है। जन-जनके हृदयमें रमी श्रीकृष्णकी पावन अनुभूतियोंका यह पत्र उद्घाटक बना रहना चाहिये। सामग्री और स्वरूपके जिस स्तरके साथ उसका उदय हुआ है उसका निर्वाह होते रहना चाहिए।

इसके सुन्दर सम्पादन और मनोरम धार्मिक सिद्धान्तोंके प्रतिपादन द्वारा यह आदर्श जीवनकी प्रेरणा देनेमें अवश्य सफल होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

पं० रेवतीलाल उपाध्याय वृन्दावन :

'श्रीकृष्ण-सन्देश'के प्रायः सभी अङ्कोंको मैंने बड़े ध्यानसे पढ़ा है। पढ़कर चित्त आह्लादित हो गया। आजकी विषम परिस्थितिमें श्रीकृष्णकी अमर

वाणीके अनुकरणकी आवश्यकता है। श्रीकृष्ण-सन्देशमें प्रस्तुत शोधपूर्ण सामग्री अत्यन्त मार्मिक और हृदयग्राही है। जन-जीवनका वास्तविक कल्याण इस पत्रिका द्वारा हो सकेगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

श्रीश्यामसुन्दरजी शर्मा, तिलकनगर, जयपुर :

धार्मिक जगतमें कितने ही पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। लेकिन शोधपूर्ण व्यावहारिकता धार्मिकतासे परिव्याप्त पत्र उँगलियोंपर गिननेलायक हैं। उनमें श्रीकृष्ण-सन्देश भी एक अनूठा द्वैमासिक पत्र है। इसके सुन्दर सम्पादन व अच्छी साज-सज्जाके लिए सम्पादक-मंडल प्रशंसाका पात्र है। पत्रका मुखपृष्ठ तो अत्यन्ताकर्षक है। वास्तवमें आज इसी तरहके पत्रोंकी महती आवश्यकता है।

श्रीमहेशप्रसादजी पाठक, प्रिंसीपल, प्रे० म० वि० पालिटैकनिक, मथुरा

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मस्थलीसे प्रकाशित द्वैमासिक मुखपत्र 'श्रीकृष्ण सन्देश' अपने आपमें पहली ही पत्रिका है जो आजके युगमें धर्मसे विचलित जनताके सम्मुख सन्तोषजनक राह प्रदर्शित करती है। इस पत्रिकाकी सामग्री व स्वरूप इतना चित्ताकर्षक है कि हर प्रकारसे पाठकके ऊपर अपना अमिट प्रभाव डालता है। मैं इसके उत्तरोत्तर विकासके लिए अपनी शुभकामना अर्पित करता हूँ।

●

हमारा एकमात्र सम्बल

•

कौरवों और पाँण्डवोंके बीच जर-जमीन-जोरूको लेकर कलह उत्पन्न हुआ। वह घरेलू कलह वर्ग-संघर्ष बना और फिर वर्ग संघर्ष अन्तराष्ट्रीय संघर्ष बनकर महाभारतयुद्धके रूपमें परिणत हुआ। महाभारत-युद्धके परिप्रेक्ष्यमें आज हम अपने देशकी संघर्षपूर्ण स्थिति तथा अन्तरराष्ट्रीय तनातनी, संघर्ष और युद्धकी स्थिति पर जब विचार करते हैं तो यह सही साबित होता है कि 'इतिहास अपनेको दुहराता है; कालचक्र घूमता हुआ फिर उसी बिन्दुपर आ जाता है जहाँसे शताब्दियों पूर्व घूमा था'। आज भारत राष्ट्रमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी प्रकारका वर्ग-संघर्ष छिड़ा हुआ है। कांग्रेस, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट आदि जितनी भी राजनीतिक पार्टियाँ हैं—उन सबमें आपसमें कौरवों-पाँण्डवोंकी-सी फूट दृष्टिगोचर हो रही है। धर्म और संस्कृति असहायावस्थामें हैं, भाषा और साहित्यका विवाद रक्तपात, बलिदानकी सीमापर पहुँच गया है। जातिवाद, सम्प्रदायवाद अलगाव-बिलगावका पथ अपना रहा है। राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय भावनाकी शृंखलाकी कड़ियाँ टूटती जारही हैं।

अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ हमें बतला रही हैं कि जो यहाँ हो रहा है वह वहाँ भी है और सर्वत्र हैं अखिलविश्व विनाशकी ओर पैर बढ़ा रहा है। हमारे परिवारका एक अंग पाकिस्तान और कलका सुहृद् आजका शत्रु चीन परस्पर साठगाँठकर हमारी अस्मिता और सत्ताको आत्मसात् करनेका कुचक्र और षडयंत्र ठानकर हमें ललकार रहे हैं तथा हम अर्जुनकी तरह व्यामोहमें पड़े हुए हैं। ऐसे समयमें श्रीकृष्णकी वाणी, उनका सन्देश ही एकमात्र हमारा सम्बल है।

भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा था—"अर्जुन, तुम ज्ञानियों, विवेकियोंकी भाँति न्याय और पाप-पुण्यका विचार कर रहे हो। तुम जीवन-मरणका तत्त्व समझानेकी

अनधिकार चेष्टाकर रहे हो। किससे जातिका कल्याण होगा और किससे अकल्याण होगा यह बतानेकी धृष्टता कर रहे हो। अबोध अर्जुन, यह सब तुम कह रहे हो, बता रहे हो किन्तु तुम्हें प्रकृत ज्ञानका कतई परिचय नहीं है। तुम जो कुछ भी कह रहे हो—वह बालिशों-का बकवास है। हाँ, भाषा तुम्हारी ज्ञानियोंकी-सी है किन्तु तुम्हें यह नहीं मालूम है कि ज्ञानियोंकी भाषामें तुम्हारी अज्ञता और दुर्बलता तथा तुम्हारे तर्कोंका समर्थन करनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता है।

सुनो अर्जुन, यह सही है कि मरण और विच्छेद मनुष्य मात्रके लिए दुखद और भयावह होता है। जीवन और जीनेके प्रति अतिमोह होता है। जीवन बहुमूल्य होता है। कर्त्तव्य कठोर होता है, स्वार्थ प्राणोंसे अधिक प्रिय होता है और शोक असह्य होता है। मनुष्य हँसता है, रोता है, दुखी होता है, पुलकित होता है किन्तु ये सब प्रवृत्तियाँ ज्ञान जन्य नहीं अज्ञान प्रसूत हैं।

खेद है अर्जुन, जिनके लिए शोक न करना चाहिए, उनके लिए तुम शोक संमग्न हो रहे हो। यह तो अज्ञानियोंकी प्रवृत्ति है। ज्ञानी लोग न तो मरे हुए व्यक्तिके लिए शोक करते हैं और न जीवित व्यक्तिके लिए क्योंकि ? उन्हें यह बोध है कि मरण और विच्छेद भ्रममात्र है। न कोई मरता है और न कोई किसीसे बिछुड़ता है। न दुख है और न सुख है। सुख और दुख मात्र मनोविकार हैं। मनके अनुकूल कोई काम हो तो वह सुख कहा जाता है और मनके विपरीत कोई काम हुआ तो वह दुःख कहलाता है।

अर्जुन, वास्तविकता तो यह है कि हम अजर हैं, अमर हैं, चिरकालिक हैं, शाश्वत हैं, हम आनन्दमय हैं, अमृतपुत्र हैं। जीवन-मरण, संयोग-वियोग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वज भावोंको साथ लेकर हम इस धरतीपर खेल करने आए हैं। यह संसार रंगमंच है। इसपर हम हँस-कर, रोकर, गाकर, नृत्य करके, शत्रु-मित्र बनकर, युद्धऔर प्रेमकर, शान्ति और हिंसाको अपनाकर, प्रेम और कलहको अपनाकर अभिनय मात्र कर रहे हैं। विश्व रंगमंचकी यह अनन्त क्रीड़ा अनादिकालसे चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलती रहेगी। इस क्रीड़ा-के क्रीडनक बनकर हम यह न भूलें कि हम सनातन हैं, अव्यय हैं, अक्षर हैं। जीवन-मरणके कर्त्ता हैं। ईश्वरके अविनाशी अंग हैं। अर्जुन विश्वास करो हम पहले भी थे, हम अब भी हैं और भविष्यमें भी रहेंगे। इतना ही नहीं बल्कि भूत, वर्तमान और भविष्यके अधिकारी भी हम ही हैं।

मृत्यु एक प्रकारका परिवर्तन मात्र है अर्जुन, जैसे बचपन, जवानी और बुढ़ापा इस शरीरमें आते है उसी प्रकार देहान्तरकी प्राप्ति है। अर्जुन इस परिवर्तनको भली भाँति समझ लोगे तो तुम हर्ष, विवाद, शोक सबसे मुक्त हो जाओगे। अभी तो तुम भयकी कल्पना मात्रसे ही भयत्रस्त हो रहे हो। सुनकर, सोचकर ही दुखी और भयभीत बन रहे हो। किन्तु यदि तुम्हारा भ्रम दूर हो जाये तो तुम्हें न भय होगा और न दुःख होगा।

अवस्थान्तर, अवस्थाका परिवर्तन होना प्रकृतिका नियम है। इसे टाला नहीं जा सकता। बदला नहीं जा सकता है। बचपन, जवानी और बुढ़ापा हर अवस्थाकी देहमें बाह्य परिवर्तनसे अतीत होकर एक पुरुष (आत्मा) स्थिर भावसे विद्यमान रहता है। चाहे स्थूल देह हो और चाहे सूक्ष्म देह हो—एक ही पुरुष बाह्य परिवर्तनसे अतीत होकर स्थिरभावसे विद्यमान रहता है।

अर्जुन वह यह एक पुरुष अच्छेद्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है, अविकारी है, अजन्मा है, अविनाशी है और अमृत है। तुम अमृतपुत्र हो। भलीभाँति समझ लो कि न कोई किसीको मारता है और न कोई मरता ही है। मृत्यु एक परिवर्तन मात्र है। सच तो यह है कि यह भ्रम है उसका अस्तित्व ही नहीं है। यदि इतना समझकर भी अर्जुन तू कायर बनकर अपने कर्त्तव्यके प्रति विमुख होता है तो तेरा यह कार्य अकीर्तिकर, अप्रीतिकर होगा। जन्म-जन्मान्तर तक अपकीर्तिका बोझा ढोता रहेगा। एक बात और है वह यह कि कदाचित् तू इतना सुननेके बाद भी मोहग्रस्त बना रहा और कर्त्तव्यके प्रति तेरा उपेक्षा भाव रहा तो भी तुझे बाध्य होकर युद्ध करना ही पड़ेगा—प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति—इसलिए हे अर्जुन, कहना मान। अज्ञान छोड़कर मेरा स्मरण करते हुए युद्ध कर और विश्वास रख तू मुझसे अलग नहीं है। जहाँ हम तुम दोनों रहेंगे वहीं श्रीविजय-विभूति भी रहेगी—यह सत्य है, ध्रुव है। इसलिए उठ, युद्ध कर।

भोग नहीं, योग

कर्म-रसके प्रवाहके बिना जीवनकी सत्ता और सामर्थ्य अधूरे और नीरस हैं। कर्म करनेमें बाधायें हमें विचलित कर गईं तो फिर हम कैसे कर्मशील कहला सकेंगे? श्रीकृष्णकी वाणी हमारे लिये इस सम्बन्धमें सदा प्रेरणा और निष्ठा प्रदान करती रहेगी। वही हमारे जीवनकी मार्गदर्शक रहनी चाहिये। यदि हम अपना स्वरूप न भूलें तो हमारी सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह निर्बाध रूपसे प्रवाहित होता रहेगा। इसी प्रकार अनासक्तिको लेकर हम अपने व्यवहारोंका निर्वाह और सुचारु रूपसे कर सकेंगे।

आज हमारे देशमें कलह, ईर्ष्या, द्वेष और मनमुटावका वातावरण है। धन और तज्जन्य भोगोंकी प्राप्ति ही आज हमारा परम ध्येय है। परसुख कामनाका स्थान स्व-सुख-साधनने ले लिया है। सुखके एकमात्र साधन भोगपदार्थ मान लिए गए हैं। आत्मिक सुखको छोड़कर आज हम सब दैहिक सुख-साधन जुटानेमें और उनके उपभोगमें लगे हैं। जीवनकी सतहपर आई हुई बाहरी रंगीनीके बीच हम अनित्य देहको अमर और नित्य आत्माको मर्त्य-सा मान बैठे हैं। बाह्य जीवनका आकर्षण हमें नित्य सन्तोष, सद्भाव, सेवा, तप और त्यागके नैसर्गिक सुखोंसे वंचित करता जा रहा है, आत्मीयोंसे हमारे सम्बन्धोंको बिगाड़ता जा रहा है और समाजमें भी हमारे लिए कीर्तिकर नहीं है। हमारी भोगेच्छा इतनी ही हानि नहीं कर रही, वरन् वह सुहृद मित्रोंसे हमें दूर रख भोगेच्छुक चाटुकारोंके मध्य फँसा रखती है और सत्य मार्ग तक दृष्टिगोचर नहीं होने देती।

भोगासक्ति, भोग-लिप्तता और भोग-सुख-बुद्धिसे आकर्षित होकर हम पराजित और दुर्बल होते जा रहे हैं परन्तु विडंबना यह है कि हम इसे स्वीकार तक नहीं करते।

हमारी इस मिथ्या धारणाका मूल कारण यह है कि हम कर्म-फलका आसरा और आस्वाद लेकर आगे चलना चाहते हैं। श्रीकृष्णकी वाणी इस सम्बन्धमें हमारा मार्ग-निर्देश करती है। हमें उस राहकी ओर ले चलना चाहती है जहाँ शोक, मोह और निराशा हमें निगल नहीं सकती, जहाँ हम इस जगतमें रहते हुए भी प्रपंचसे विलग रहकर सुखमय जीवन बिता सकते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

जो पुरुष कर्मफलकी इच्छा न रखकर अपने कर्त्तव्य कर्मोंको करता है वही संन्यासी है और वही योगी भी है, निरग्नि (अग्निसाध्य श्रौत कर्मोंको त्यागने वाला) या अक्रिय (स्मार्त कर्मोंको त्याग देनेवाला) नहीं। ऐसा योग ही हमें आज इस संघर्षशील संसारकी विघटनकारी शक्तियोंसे बचा सकता है। आधुनिक भोग-प्रधान-युगमें भोगियोंके बीच सच्चे सुखकी प्राप्ति इसी योगके साधनसे सम्भव है। ऐसे कर्म-योगीको न तो भोगाशा ही अभिप्रेत हो सकती है और न भोग निवृत्तिका भय ही उसे सता सकता है।

हमारी वास्तविक उन्नतिमें बाधक हमारा भोगासक्त मन है। भोग-प्रलोभन इसे अपनी ओर खींचते हैं। उन्हींसे प्रेरित हो हम मानने लगते हैं कि भोगोंके बिना हमारी गति नहीं, उनकी प्राप्तिके बिना जीवनमें रस नहीं। परन्तु यह भोग-रस धीरे-धीरे हमारी जीवनी-शक्तिको चूसता चला जाता है, हमारी कर्म-शक्तिको शनैः शनैः कम करता चला जाता है और अन्ततोगत्वा हमें विवश-सा बना देता है। कैसी आत्मवंचना है कि भोगके द्वारा होने वाले इस क्षयको हम सुख मानते रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा निर्दिष्ट योगका समारम्भ मनसे ही होता है। यह निकम्मा रहा तो भोगोंकी ओर ही हमें दौड़ाता है। निकम्मेपनसे यदि हम सावधान रहें तो भोगोंकी भंयकरतासे बचे रह सकते हैं। हमें मान लेना चाहिए कि कर्मठता हमारे लिये श्रेयस्कर है परन्तु कर्म-फलासक्ति हमारी उस कर्मठताको व्यर्थ कर देती है। सांसारिक विषय-वासनाओंसे ग्रस्त होकर हम बन्धनों और दुःखोंसे छुटकारा नहीं पा सकते, छुटकारा तो श्रीकृष्ण द्वारा निर्दिष्ट कर्मयोगसे ही सम्भव है। इस कल्याणकारक कर्मयोगको अपनानेके लिये जीवनमें दृढ़ताकी आवश्यकता है और वह दृढ़ता इस मार्गके अनुसरणसे शनैः शनैः स्वयं आने लगती है।

कर्म करते-करते हमारे हृदयमें कटुता तथा हीनता नहीं आनी चाहिये। हमारे सारे कर्मोंका उदय हृदय और भावनाकी सच्चाईसे होना चाहिए, शान्तिकी अनुभूति हमें तभी होगी। अधिकतर भावनाकी ओटमें हमारेमें स्वार्थपरता घर किये रहती है, उस स्थितिमें मार्गानुसरण करते हुए भी अभीप्सित लक्ष्य हमसे दूर होता चला जाता है। विवेक ही हमारी उस स्थितिमें सुधार ला सकता है, उसीसे प्रेरित होकर हम अपने भौतिक अहंकारको

नष्ट कर सकते हैं। जैसे जैसे हमारा आध्यात्मिक पराक्रम बढ़ता जायगा वैसे ही वैसे कर्मयोग मार्गके अनुसरणमें हमारी कठिनाइयां कम होती चली जायेंगी और हम अपनेमें निश्चय ही परिवर्तन अनुभव करते चले जाएँगे।

एक बात और। वह यह कि भोगोंकी ओर हमें खिसकानेवाला हमारा यह शरीर ही है। इसको हम अपनेसे अभिन्न माने बैठे हैं। यदि हम इसे अपनेसे भिन्न मानकर चलना शुरू करदें तो भोगोंके प्रति हमारा झुकाव अपने आप कम होता चला जायगा। हम अपने व्यक्तित्वका निरन्तर अध्ययन करेंगे तो कर्म और विचारका अहंकार हमसे छूटता चला जायगा। अहंकारको कुचले विना हम कर्मयोगके पथपर आगे नहीं बढ़ सकते। अहंकारसे सावधान रहना हमारे लिए अनिवार्य और आवश्यक है। नियम-पालन द्वारा अहं-जनित पाशविक प्रवृत्ति नष्ट हो सकेगी और हम अनासक्त भावसे कर्म सम्पन्न कर सकेंगे।

•

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां
देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः
सिद्धानां कपिलो मुनिः॥

हे अर्जुन! मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष, देवर्षियोंमें नारद मुनि, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ।

योगक्षेमं वहाम्यहम्

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता अ० ९ श्लो० २२)

[अनन्यभाव (अभेद दृष्टिसे) मेरेमें स्थित हुए जो भक्तजन मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे मुझे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मेरेमें स्थिति वाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ ।]

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

वर्ष: १ चैत्र-वैसाख, वि०सं० २०२३ अङ्क : ५

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः॥
अर्हन्नित्यथ जैन शासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

शैव लोग जिसको 'शिव' मानकर, वेदान्ती 'ब्रह्म' मानकर, बौद्ध लोग 'बुद्ध' मानकर, प्रमाणपटु नैयायिक 'कर्त्ता' मानकर, जैन सम्प्रदायके लोग 'अर्हत्' मानकर तथा मीमांसक 'कर्म' मानकर उपासना करते हैं, वह तीनों लोकोंके नाथ हरि हमें मनोवाञ्छित फल प्रदान करें।

नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये, सहस्रपादाक्ष शिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटी युगधारिणे नमः॥

जो अनन्त है, जिसकी जड़-चेतन-नामरूपात्मक सहस्रों मूर्तियाँ हैं, जिसके हज़ारों पाँव, हज़ारों आँखें, हज़ारों सिर, हज़ारों हाथ और हज़ारों नाक हैं, जो कोटि-कोटि युगोंको धारण करने वाला है—उस शाश्वत पुरुषको नमस्कार है।

वसुदेवसुतं देवं, कंस चाणूर मर्दनम्।
देवकी परमानन्दं, कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

प्यारे कृष्ण !

स्वामी श्रीअखंडानंदजी सरस्वती

[हे मेरे जीवन-सर्वस्व ! मेरे प्राणोंके प्राण ! मेरे स्वामी ! मेरे हृदयमें प्रेमकी ऐसी ज्वाला जगा दो, जिसमें मेरी सारी अहंता और ममता जलकर खाक हो जाय, हृदयके मन्दिरमें तुम्हारे बैठनेकी जगह बन जाय। प्रियतम ! ऐसा विरह दो कि सारा हृदय आँसू बनकर आँखोंको धो डाले और आँखें सर्वत्र, सर्वदा तुम्हारी अनूप रूपराशिका मधु पीकर छक जायँ।]

श्रीकृष्ण ! मुझे मालूम नहीं, कुछ-कुछ मालूम होनेपर भी याद नहीं आता कि मैं तुमसे कबसे बिछुड़ा हुआ हूँ ! युगपर युग बीत गये, जन्मपर जन्म बीत गये । कभी तिनका होकर लोगोंके पैरोंके नीचे कुचला जाता रहा, कभी लकड़ी बनकर आगमें जलती रहा । कभी कीड़े-मकोड़े बनकर लोगोंको सताता रहा, कभी समुद्रकी उत्ताल तरंगोंमें बहता रहा और कभी अनेकों पशु-पक्षियोंकी योनियोंमें पैदा होकर लोगोंके द्वारा विताड़ित होता रहा, न जाने किस-किसको पुकारा, किसके-किसके चरणोंकी शरण ली, परन्तु तुम्हें नहीं पुकारा । कई बार स्त्री होकर लोगोंका भोग्य बना और न जाने कितनी बार पुरुष होकर कितनोंकी चापलूसी करता रहा । श्रीकृष्ण ! एक बार भी सच्चे हृदयसे मैंने तुम्हारे चरणोंकी शरण नहीं ली । एक बार भी आर्त्त स्वरसे तुम्हें नहीं पुकारा । पुकारनेकी इच्छा भी नहीं हुई ! मैं जलते हुए लोहेके द्रवको अमृत समझकर पीनेके लिये दौड़ा, उससे जलकर जलते हुए सोनेके द्रवकी ओर दौड़ा, उससे लौटकर खारे समुद्रमें कूद पड़ा और वहाँ भी भूखा-प्यासा रहकर अनेक जल-जन्तुओंसे विताड़ित हुआ । कहाँ नहीं गया, किसके दरवाजे पर मैंने सिर नहीं पटका ? परन्तु हायरी मेरी दुर्बुद्धि ! एक बार भी तुमने सच्चे स्वामीकी स्मृति नहीं की ।

यह सब होता रहा, इस सब दौड़-धूपके अंदर एक प्रेरणा थी श्रीकृष्णकी । हाँ ! श्रीकृष्ण !! तुम्हारी ही प्रेरणा थी । तुम हृदयमें बैठकर यही प्रेरणाकर रहे थे कि मैं सच्चा सुख पाऊँ, सच्ची शांति पाऊँ और अपने स्वामीकी सन्निधिमें जाकर अपने प्रियतमका आलिंगन पाकर सर्वदाके लिये उनके हृदयसे सट जाऊँ, एक हो जाऊँ । यह इच्छा तुम्हारी दी

हुई इच्छा थी। परन्तु मैं इतना पागल था कि यह नहीं समझ रहा था कि किसके पास जानेसे यह इच्छा पूरी होती है। मैं बिना जाने अनजान पथसे चल पड़ा और ढूंढ़ने लगा उन विषयोंमें सुख और शान्तिको, जहाँ स्वप्नमें भी उनके दर्शन नहीं हो सकते।

परन्तु अब मैं समझ गया। यह कैसे कहूँ कि मैं समझ गया? तुम्हारे प्रेमियोंसे सुनता हूँ, तुम्हारे प्रेमियोंने जो कुछ तुम्हारा संदेश सुनाया है, उससे अनुमान करता हूँ कि मेरी इच्छा, अनन्त आनन्द और सुखकी अभिलाषा सच्ची थी। फिर भी मेरा मार्ग ठीक न था, मैं मरुस्थलमें पानी ढूंढ रहा था। मैं संसारमें सुखके लिये भटक रहा था। भला संसारमें सुख कहाँ? भटक चुका, खूब भटक चुका, जान गया कि सुख तो तुम्हारे चरणोंमें ही है। अब प्रभो! तुम्हारे चरणोंमें आगया हूँ, ये तुम्हारे लाल तलुवे, ये तुम्हारे कमलसे कोमल चरण सर्वदा मेरे हृदयसे सटे रहें, इनकी शीतलतासे मेरे हृदयकी धधकती हुई आग शान्त हो जाय। प्रियतम! एकवार मेरे वक्षःस्थलपर अपने चरणोंको रखदो न! रखदो, बस मेरी एकवात मान लो!

मैं भी कैसा अज्ञानी हूँ! हृदयकी तहमें तो अब भी विषयोंकी लालसा है और वाणीसे तुम्हारी प्रार्थना कर रहा हूँ। इसीसे मालूम होता है श्रीकृष्ण! कि तुम दूरसे ही मुझे देखकर हँस रहे हो और मेरे पास नहीं आ रहे हो। मैंने तुम्हारे प्रेमियोंके द्वारा, तुम्हारे दूतोंके द्वारा सुने हुए सन्देशको सच्चे रूपमें अभी ग्रहण नहीं किया है। थोड़ी देरके लिये उन सन्देशोंको सुन लेनेपर भी मनने उन्हें ठीक रूपसे ग्रहण नहीं किया है। यदि मन तुम्हारे सन्देशको सत्य मानता, उसका विश्वास हो जाता कि सच्चा रस तो श्रीकृष्णके स्मरणमें ही है, यदि वह अनुभवकर लेता कि विषयोंमें रस नहीं है, तो फिर वह कभी स्वप्नमें भी विषयों-की ओर नहीं जाता, तुम्हारे चरणोंका रसलेनेमें ही मत्त होता! ऐसा नहीं होता, जैसाकि मनकी आज स्थिति है। श्रीकृष्ण! परन्तु मैं करूँ ही क्या? मनको मनाना मेरे हाथमें तो है नहीं, वह बड़ा बलवान है, अपने हठपर उठा हुआ है। काम, क्रोध, लोभ आदिसे उसने दोस्ती कर रखी है, वह तुम्हारा सन्देश सुनकर भी अनसुना कर देता है। सब कुछ देखते सुनते हुए भी उसी मार्गसे चलने लगता है, जिससे चलनेका उसे अभ्यास हो गया है।

इसका एक उपाय है, तुम सन्देश मत भेजो। आओ, स्वयं आओ, मेरी बात तो सुन ही रहे हो न! एक क्षणके लिये मेरी आँखोंके सामने प्रकट हो जाओ। थोड़ी देरके लिये मेरे हृदयमें आकर बैठ जाओ और सन्देशके स्थानपर अपने मुँहसे तुम मनको आदेश दे दो कि मन, तुम मेरे हो, मेरी सेवामें रहो, एक क्षण भी मुझे छोड़कर मत जाया करो। मेरे सर्वस्व! मेरे श्रीकृष्ण! वह तुम्हारी आज्ञा मानेगा। मेरा विश्वास है, तुम्हारी आज्ञा अवश्य मानेगा। करदो न ऐसा ही? मैं सर्वदाके लिये तुम्हारे चरणोंकी सन्निधि पाजाऊँ श्रीकृष्ण, क्या कहते हो? मेरा हृदय कलुषित है। वह तुम्हारे आने योग्य नहीं है। मेरी आँखें दूषित हैं। वे तुम्हारा दर्शन करने योग्य नहीं हुई हैं, परन्तु मेरा वश क्या है? मेरी आँखों और हृदयको शुद्ध करने वाला और है ही कौन? तुम स्वयं पवित्र करलो और आ जाओ। यदि उनके शुद्ध होनेपर ही तुम आओगे, तब तो मैं करोड़ों कल्पमें भी तुम्हारे दर्शनोंका अधिकारी नहीं बन सकूँगा। श्रीकृष्ण, तुम बड़े दयालु हो, बड़े भक्तवत्सल हो।

तुमने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं प्रेम-परवश हूँ। परन्तु मैं भूलकर रहा था, मैं भक्त नहीं हूँ, मैं तुमसे प्रेम भी नहीं करता। मैं सच्चे हृदयसे अपनेको दयापात्र भी नहीं मानता। कहाँ है मुझमें दीनता ? मैं तो अभिमानका पुतला हूँ। तब क्या मुझपर दया नहीं करोगे। श्रीकृष्ण इसी अवस्थामें तो मैं वास्तवमें दयाका पात्र हूँ। यदि मैं अपनेको दयापात्र समझता, तब तो दयापात्र होता ही। उसमें तुम्हारी दयालुता क्या होती ? मेरी दशा तो इतनी दयनीय होगई है कि मैं अपनेको दयापात्र भी नहीं समझता, इसलिये मैं और भी दयाका पात्र हो गया हूँ। जैसे भयंकर रोगसे ग्रस्त प्राणी उन्मादके कारण अपने रोगको नहीं समझ पाता और इसीसे लोग उसपर विशेष दया करते हैं, वैसे ही अज्ञानवश अपने रोगको न समझने वाला मैं क्या तुम्हारा विशेष दयापात्र नहीं ?

मैंने तुम्हारी लीला सुनी है, मैंने तुम्हारी कथा सुनी है। तुम पतितोंको पतित पावन बना देते हो, अधमोंको अधमोंके उद्धारका साधन बना देते हो। तुम प्रेमियोंके नचानेपर नाचते हो और वे जो-जो कहते हैं, करते हो। मैं तुम्हारे चरणोंके पास लोटकर तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ। उठालो मुझे, एक वार कहदो, तुम मेरे हो। अपना लो न प्रभु ! सब संसार तो तुम्हारा है ही। तो क्या मुझे ही बाहर रखना चाहते हो ? मैं भी तुम्हारा ही हूँ। फिर यह कहनेमें क्यों देर करते हो ? स्वामिन् ! तुम मुस्करा रहे हो ! क्यों मुस्करा रहे हो ? क्या मेरे अज्ञानपर ! हाँ, मैं हँसने ही योग्य हूँ। तुम्हीं इशाराकर रहे हो न कि तू तो मेरा है ही, सभी अवस्थाओंमें मेरा रहा, मैंने कभी तुझे छोड़ा नहीं। तुम यही कह रहे हो न नाथ! कि पाप करते समयमें भी मैं तेरे साथ रहा। तेरे पीछे खड़ा होकर तुझे देखता रहा, एक क्षणके लिये भी तुझे नहीं छोड़ा। मैं तुझे प्रेम करता हूँ और तूने ही मुझे छोड़ दिया है, मेरी ओरसे आँखें बन्द करली हैं। तू संसारकी सुन्दरतापर मुग्धहो गया है और तूने मेरी ओर देखना ही छोड़ दिया है। सत्य है प्रभो ! तुम्हारा कहना ठीक है, तुमने मुझे नहीं छोड़ा, तुमने मुझपर अमृतकी वर्षाकी। मेरे साथ तुम्हें ऐसे स्थानोंमें भी जाना पड़ा, जहाँ तुम्हें नहीं जाना चाहिये था। परन्तु हे अनन्तस्वरूप ! अब मेरी त्रुटिपर मेरे अपराधपर दृष्टि मत डालो, यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, ये प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, आत्मा जो कुछ भी मैं था, हूँ और होगा, वह सब तुम्हारा ही था, तुम्हारा ही है और तुम्हारा ही होगा। अब ऐसी कृपा करो कि मैं इस सत्यपर स्थिर हो जाऊँ और प्रतिक्षण तुम्हारे चरण-कमलोंको अपने हृदयसे सटाये रहूँ। मेरे जीवन-सर्वस्व ! मेरे प्राणोंके प्राण ! मेरे स्वामी ! मेरे हृदयमें प्रेमकी ऐसी ज्वाला जगादो, जिसमें मेरी सारी अहंता और ममता जलकर खाक हो जाय, हृदयके मन्दिरमें तुम्हें बैठनेकी जगह बन जाय। प्रियतम ! अपना ऐसा विरह दो, कि सारा हृदय आँसू बनकर आँखोंको धो डाले और आँखें सर्वत्र, सर्वदा तुम्हारी अनूप रूपराशिका मधु पीकर छक जायँ।

प्रभो ! दे दो न अपने लिये व्याकुलता ? मैं तुम्हारे लिये तड़फड़ाता हुआ घूमा करूँ—

हे नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज !
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन !
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ।।
हे देव हे दयित हे भुवनैक बन्धो !
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैक सिन्धो !
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम !
हा हा कदानु भवितासि पदं दृशोर्नः ।।
युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वम् गोविन्द विरहेण मे ।।

श्रीकृष्ण ! ये आँखें तुम्हारे अतिरिक्त और किसीको क्यों देखती हैं ? चाहे तो तुम इनके सामने आओ और चाहे इन्हें जलादो । यह वाणी दूसरेका नाम क्यों लेती है ? चाहे तो इससे तुम्हारा ही नाम निकले और चाहे यह नष्ट हो जाय । श्रीकृष्ण मेरे कान तुम्हारा ही मधुर आलाप सुनें, तुम्हारी ही बाँसुरीकी तान सुनें, या बहरे हो जायँ । मेरी चित्तवृत्ति और किसीको न देखे, न सुने, न स्पर्श करे। मेरी क्यों ! यह तुम्हारी ही चित्तवृत्ति है लगालो अपने चरणों में प्रभो ! मेरे दयालु प्रभु ! मेरे प्रेमी प्रभु ! लगा लो न, रहा नहीं जाता । विवश हो रहा है चित्त, एकबार तो कृपा करदो । कृपा तो तुम्हें करनी ही है । बिना कृपा किये तो तुम रह ही नहीं सकते, फिर देर क्यों कर रहे हो ? अभी कर दो न ? यह देखो, एकटक आँख खोले, मुँह बाये तुम्हारी ओर देख रहा हूँ। मेरे प्यारे कृष्ण ! प्यारे कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण !

भजन बिना सब रंक

करो कृष्णका भजन, सजनसे यही मिलाता ।
प्रीति-रीति, रति-अमृत, जगत्में यह छलकाता ।

उगे भावकी लता, जगें मधुकी मादकता ।
कण-कणमें रस-लास्य, फुरैं मोहन, मोदकता ।

रस राते माते रहो, हरिको गहो निशंक ।
राह एक ही है सुघर, भजन बिना सब रंक ।।

गीता ध्यान

मैं उस प्रेममयी माँ भगवद्गीताका ध्यान करता हूँ, जिसके द्वारा स्वयं नारायणने अर्जुनको ज्ञान दिया, जो महाभारतमें मुनि व्यास द्वारा रची गयी, जो दिव्य माता जन्म, जरा, मरणसे मुक्त करने वाली अठारह अध्यायों वाली और अद्वैतरूपी-अमृतकी वर्षा करने वाली है। मैं व्यासजीको नमस्कार करता हूँ जिनकी विशाल बुद्धि है, जिनके नेत्र पूर्ण विकसित कमलकी पङ्खड़ियोंके समान हैं और जिनके द्वारा ज्ञान-रूपी दीपक महाभारत-रूपी तेल द्वारा जलाया गया है। उन कृष्ण भगवान्को नमस्कार है, जो कल्पतरुके समान उन सबके मनोरथोंको पूर्ण करने वाले हैं, जो उनकी शरण लेते हैं, जिनके एक हाथमें चाबुक है, जिनकी मुद्रा ज्ञानमयी है और जो गीता रूपी अमृतका दोहन करने वाले हैं। मैं वसुदेवके पुत्र, देवदेव कंस और चाणूरका संहार करने वाले, देवकीको परम आनन्द देने वाले, जगद्गुरु श्रीकृष्णकी वन्दना करता हूँ। पाण्डवोंने रण-नदी कर्णधार भगवान् कृष्ण द्वारा पार की, जिसके किनारे भीष्म और द्रोण थे, जिसका जल जयद्रथ था, जिसका नीला कमल गान्धार देश-का राजा था, जिसका मगर शल्य था, जिसका वहाव कृप था, जिसकी तरङ्गें कर्ण थीं, जिसके भयङ्कर घड़ियाल अश्वत्थामा और विकर्ण थे और जिसकी अनन्त जलोर्मि दुर्योधन था। यह महाभारत रूपी कमल—जो पराशरपुत्र-व्यासकी वाणी-रूपी झीलमें उत्पन्न हुआ, जो गीता-अर्थसे सुगन्धित है, जिसकी वहुत सी कहानियाँ पराग हैं, जो हरि कथा द्वारा विकसित हुआ है, जो कलिके कलङ्कको दूर करने वाला है—हमें कल्याणकारी पदार्थ दे!

स्वामी श्रीशिवानन्दजी

श्रीभगवद्गीताकी उपादेयता

स्वामी श्रीचिदानन्दजी

[गीता विशालकाय महाभारत ग्रन्थका एक अंश मात्र है। इसमें कुल ७०० श्लोक हैं। इतनी छोटी पुस्तक होनेपर भी इसे हमारे प्रस्थानत्रयमें एक अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और कोई भी ऐसा उल्लेखनीय महात्मा, विद्वान् अथवा आचार्य नहीं हुआ जिसने इसपर अपना भाष्य न लिखा हो।]

यह मानव जीवन एक लंबा संग्राम है और यह संसार कुरुक्षेत्रकी रणभूमि है। इसमें प्राय: ऐसे समय आते हैं, जब परिस्थितियाँ मनुष्यको चौराहेपर लाकर खड़ाकर देती हैं। उसे एक ओर श्रेयका मार्ग दिखाई देता है तो दूसरी ओर प्रेयका। एक ओर सुखकी फूलोंसे भरी राह दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर कठोर कर्तव्यकी कण्टकाकीर्ण पगडंडी। उस समय किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा हो जाता है और सोचता है कि मैं किधर जाऊँ। आइए हम देखें कि गीता ऐसी विषम परिस्थितिमें क्या समाधान देती है?

गीता सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार कही जाती है, जिनपर हमारी संस्कृति आधारित है। आज भी ऐसी मान्यता है कि उपनिषद् ही भारतीय संस्कृतिका आधार हैं। उपनिषद्के विषयमें एक महान् जर्मन तत्त्व-वेत्ताने अपने हृदयका उद्गार व्यक्त करते हुए कहा है: "मुझे अपने इस जीवनमें उपनिषदोंसे ही सान्त्वना मिली है और मेरा यह विश्वास है कि इस जीवनके अनन्तर भी मुझे उनसे सान्त्वना मिलती रहेगी।" गीता इस औपनिषदिक ज्ञानका नवनीत, सार तत्त्व है। उसमें हमें उपनिषद्का ज्ञान संक्षेप रूपमें मिलता है। गीता द्वारा ही हम उपनिषद्रूपी खानके सर्वोत्कृष्ट एवं बहुमूल्य रत्नों तक पहुँच पाते हैं।

स्वनामधन्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी कहा करते थे कि "गीता हमारी माता है।" ऐसा कहनेका उनका भाव यह था कि उनका जीवन ही भगवद्गीतापर आश्रित था; उनके विचार, उनकी भावनायें और उनका जीवन-दर्शन श्रीभगवद्गीताके आत्मोबोधक और शक्तिशाली उपदेशोंसे ही पोषण प्राप्त करते थे। हमारे राष्ट्रके एक प्रतिनिधिके रूपमें महात्मा गांधीने अपनी इस उक्ति द्वारा बतलाया है कि प्रत्येक भारतीयके जीवनमें गीताका क्या स्थान होना चाहिए? वह चाहते थे कि प्रत्येक भारतीय सन्तान गीताको अपने जीवनमें

अपनावे, गीताके ज्ञान और जीवन-दर्शनको अपने हृदय-मन्दिरमें स्थापित करे तथा गीता-ज्ञानकी प्रोज्ज्वल ज्योतिसे अपने जीवनको प्रकाशित करे। भारतीय संस्कृतिकी गौरव, भारतीय संस्कृतिकी शिरोमणि गीता सदा ही भारतीय दर्शनकी आत्मा रही है।

गीता विशालकाय महाभारत ग्रन्थका एक अंश मात्र है। इसमें कुल ७०० श्लोक हैं। इतनी छोटी पुस्तक होनेपर भी इसे हमारे प्रस्थानत्रयमें एक अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और कोई भी ऐसा उल्लेखनीय महात्मा, विद्वान् अथवा आचार्य नहीं हुआ जिसने इसपर अपना भाष्य न लिखा हो। यह धर्मके प्रत्येक नेताकी समान रूपसे श्रद्धाभाजन रही है। उन सबोंने गीताको एक प्रमाण-ग्रन्थ माना है और इसके आधारपर ही उन्होंने अपने-अपने दार्शनिक विचारोंका प्रतिपादन किया है। यही नहीं पाश्चात्य जगत्‌में तो कई महान् एवं गम्भीर चिन्तकोंने इन शास्त्रोंकी शास्त्र गीताके प्रति उन्मुक्त हृदयसे अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त की है। इमर्सनको ही लीजिए, उसने यह स्वीकार किया है कि उसके विचार और जीवनके प्रति उसके दृष्टिकोणके गठनमें गीताका बहुत ही महत्वपूर्ण हाथ रहा है। हमारे भारतीय शास्त्रोंके क्षितिजमें इस गीतारूपी महान् नक्षत्रकी ऐसी ही महिमा है।

किसी भी ग्रन्थके परिशीलनमें कई दृष्टिकोण अपनाये जा सकते हैं, फिर गीता जैसा वैश्व ग्रन्थ तो अनेकों पहलुओंसे देखा जा सकता है और देखा गया भी है। प्रत्येक व्यक्तिने जीवनके प्रति अपने दृष्टिकोण अथवा अपने जीवन-दर्शनके लिए गीतासे प्रकाश पानेका प्रयास किया है। परस्पर सर्वथा विरोधी प्रकृतिवाले व्यक्तियोंने, एक ही विषय पर नितान्त पृथक् विचार और निष्कर्ष रखने वाले लोगोंने अपने-अपने विशेष दृष्टिकोणके लिए गीतामें ही प्रमाणकी खोज की है। कर्मयोगी गीताका आश्रय लेता है और उसे उसमें कर्मयोगके लिए अनुमोदन मिलता है। एक भक्त गीताकी शरणमें जाता है और वहाँ गीताको अपनी साधनाका अपूर्व समर्थन करते देखकर उसे असीम हर्ष प्राप्त होता है। ज्ञानी गीतामें अपने दृष्टिकोणका पूर्ण समर्थन पाकर आह्लादित हो उठता है। ध्यान योगीको भी गीता पर्याप्त समर्थन और प्रमाण देती है। व्यक्ति चाहे रजोगुणी स्वभाव वाला हो, अथवा राजनीतिक विचारधाराका हो या व्यावहारिक जगत्‌में क्रियात्मक और प्रभावशाली जीवन-यापन करनेका आकांक्षी हो, सबको गीतासे पर्याप्त प्रोत्साहन, प्रकाश और मार्गदर्शन प्राप्त होता है। समाजशास्त्रके विद्यार्थीको भी, जो जनताके सम्मुख एक आदर्श समाजकी नयी रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहता है, गीतासे बहुमूल्य सहायता और पथप्रदर्शन मिलता है। इस भाँति अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

विभिन्न विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ही हम प्रायः शास्त्रोंका परिशीलन करते हैं, किन्तु इन शास्त्रोंसे मार्गदर्शन प्राप्त करनेके लिए भी, व्यक्तिके जीवनमें उनकी व्यावहारिक उपयोगिताके लिए भी तथा उनसे ठोस लाभ प्राप्त करनेके लिए भी उनका परिशीलन किया जा सकता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपनी तात्कालिक समस्याओंके समाधान ढूँढनेके लिए भी, जीवनमें आसन्न विपत्तियोंसे परित्राण पानेके उद्देश्य से भी शास्त्रोंका परिशीलन कर सकता है। गीता इन दोनों उद्देश्योंकी पूर्ति करती है। गीता हमें औपनिषदिक दर्शनकी संक्षेपमें एक उत्कृष्ट टीका ही नहीं प्रस्तुत करती, वरन्

वह सच्ची साधनाके सम्बन्धमें हमें बहुत ही व्यावहारिक, अतीव लाभप्रद तथा सुनिश्चित रूपसे बहुमूल्य संकेत देती है जिससे कि हम उन औपनिषदिक सत्योंको अपने जीवनका जीवन्त अनुभव बना सकें।

वे प्राणी जो शोकसे, चिन्ताजनक समस्याओंसे, इस भवबन्धनसे ग्रसित जीवनकी सीमाओं और कष्टोंसे ऊब चुके हैं, जो इन सांसारिक यातनाओंसे मुक्त होनेके लिए लालायित हैं, जो सदा-सर्वदाके लिए उच्चतर जीवनकी चेतनामें उन्नत बनना चाहते हैं और जो आत्मिक अनुभवके प्राचुर्य, शक्ति और मोक्षका आनन्द उठाना चाहते हैं, जो पूर्णताका, स्वतन्त्रताका और अमरताका जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे अपने इस लक्ष्यकी प्राप्ति-में सहायता प्राप्त करनेके लिए गीतामें व्यावहारिक मार्गदर्शनकी खोज करते रहते हैं। वे अपनी सम्पूर्ण सीमाओंकी दुर्बलताओंको और बन्धनोंको पूर्णतः नष्ट करनेके लिए, सभी प्रकारके कष्ट और पीड़ाओंके उन्मूलनके लिए और साधनाकी सर्वोच्च अनुभूतिकी ज्योति, शक्ति और ज्ञानकी स्थायी प्राप्तिके लिए निरन्तर आतुर रहते हैं। किसी भी शास्त्रकी उपयोगिताका यही तो मापदण्ड है। जो प्रयत्नशील साधक, जो प्रबुद्ध प्राणी इस सांसारिक जीवनका अतिक्रमण कर आनन्दमय और सौख्यमय आत्मानुभूतिके साम्राज्यमें विचरण करना चाहते हैं, गीता उनकी इस माँगकी बड़े ही सहज रूपसे पूर्ति करती है। प्रत्येक भारतीयके जीवनका यही लक्ष्य है।

एक सच्चे हिन्दूके पास भले ही कितनी सम्पत्ति क्यों न हो, परिवर्तनशील सुख-सुविधाका साधन क्यों न हो, फिर भी उसको यह मालूम है कि इस विनाशशील जगत्में सच्चा और स्थायी सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। **'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'** गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान है। यही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। भौतिक पदार्थ स्थायी नहीं हैं। अपने चिरंतन आनन्द अथवा तुष्टिके लिए यहाँके किसी भी पदार्थ पर निर्भर नहीं रहा जा सकता है। यहाँके पदार्थ अनित्य तो हैं ही, इसके साथ असुखरूप भी हैं। बाह्य जगतके पदार्थोंमें सच्चा सुख नहीं है। ऐन्द्रिय विषयोंमें भी कोई सच्चा आनन्द नहीं है। विद्वान् हो अथवा निरक्षर, प्रत्येक भारतीयके जीवनमें यह ज्ञान परिव्याप्त है। उसे यह भली-भाँति मालूम है कि इस पार्थिव जगत्के ये क्षणभंगुर पदार्थ हमें स्थायी शान्ति नहीं दे सकते हैं। प्रत्येक सच्चा हिन्दू इस शान्तिके लिए सदा लालायित रहता है। उसकी इस कामनाकी पूर्ति गीतामें ही सम्यक् रूपसे पायी जाती है। जो संघर्परत साधक परमानन्द, नित्य सुख और परम शान्ति चाहता है उसके लिए गीता एक अनुपम शास्त्र है।

गीताके पृष्ठोंको पलटनेसे हमें उसके पृष्ठके पृष्ठ साधनाके विविध पहलुओंके सम्बन्धमें व्यावहारिक संकेत, पथप्रदर्शन, परामर्श तथा चेतावनीसे ओतप्रोत मिलते हैं। इसमें सभी साधनाओंका अभूतपूर्व समन्वय है जो कि सभी प्रकारकी मनोवृत्ति वाले व्यक्तिके लिए अनुकूल है। इस अद्भुत ग्रन्थमें आध्यात्मिक जीवनका स र ग म पाया जाता है। जो साधक सच्ची शान्ति और आनन्द चाहते हैं, उनके लिए गीता एक अपूर्व साधना, एक अपूर्व निधि, एक दृष्टिकोण और जीवनके प्रति अपूर्व भाव प्रदान करती है।

मोहना हमसे बनजा तू कठोर

[श्रीमती ललिता लालबहादुर 'शास्त्री']

जितना बनते बन मोहना हमसे बनजा तू कठोर
नैनन के जलसे हम मोहन चरण तोहार पखारब हो
ओहका चाहे ठुकराय के मोहन बनजा तू कठोर
जितना बनते बन मोहना हमसे बनजा तू कठोर

प्रेमधागका हार बनाकर हम तोहका पहनैबे हो
ओहका चाहे ठोकराय के मोहन बनजा तू कठोर
जितना बनते बन मोहना हमसे बनजा तू कठोर

आस क जोत जलाकर मोहन, आरती तोहार उतरबै हो
ओहका चाहे ठोकरायके मोहन बनजा तू कठोर
जितना बनते बन मोहना हमसे बनजा तू कठोर

भावके भूखे तुम हो मोहन, भावके भोग लगैबे हो
ओहिका तू ठोकराय न सकब अइब हमारी ओर
जितना बनते बन मोहना हमसे बनजा तू कठोर

ललिताके जब पकड़ में आइब, चरण बांध बइठैब हो
फिर तू भाग न सकब मोहन देखब चारो ओर
जितना बनते बन मोहना हमसे बनजा तू कठोर

न्यायप्रिय सञ्जय

श्रीदेवदत्त शास्त्री

[सञ्जय सूत (दास) जातिमें उत्पन्न हुए थे। वे शीलसम्पन्न, सत्यवादी, ज्ञानी, विवेकके धनी, न्यायपरायण और धर्मात्मा थे। कौरवोंके भृत्य होते हुए भी वे उनके अन्यायमें कभी साझी नहीं हुए वरन् उनके छल-प्रपंचकी सदैव आलोचना करते रहे। समय पर वे उन्हें चेतावनी देनेसे भी नहीं चूके।]

सञ्जय धृतराष्ट्रका मन्त्री था। वह सूत जातिमें उत्पन्न हुआ था। प्रतिभा, पुरुषार्थ, ज्ञान और विवेक, धर्म और जातिकी संकीर्ण सीमाओंसे परे सत्यका आश्रय ग्रहण किया करते हैं। सञ्जय शीलसम्पन्न सत्यवादी था। इसलिए वह ज्ञान और विवेकका धनी था। वह धर्मात्मा था। उसकी दृष्टिमें धर्म वही है जो सत्यकी पहचान करा सके। सत्यको पहचानने और पानेके लिए मनुष्यको आत्मजयी, आत्मान्वेषी और आत्मविश्वासी होना चाहिए। अपने आपको वही पहचान पाता है जो सत्यको पहचान लेता है। जिसने आत्म-ज्ञान और सत्यका ज्ञान प्राप्त कर लिया, उसके लिए ब्रह्म या ईश्वरका ज्ञान सहज सुलभ हो जाता है।

सञ्जयने अपने उन आचरणों और साधनोंसे वृष्णिवंशमें उत्पन्न श्रीकृष्णके रूपमें अवतरित भगवान्‌को पहचान लिया था। वह कृष्णके मानवी रूपमें ही ब्रह्मका साक्षात्कार करता था। जब कभी राजा धृतराष्ट्र या उसके पुत्र दुर्योधन, दुःशासन आदि श्रीकृष्णकी निन्दा किया करते थे तो कौरवोंके अधीन होते हुए भी सत्यनिष्ठ सञ्जय उनका खुलकर प्रतिवाद किया करता था। पाण्डवोंका सर्वस्व हरण करनेके लिए जब दुर्योधनने द्यूत क्रीड़ाका कुचक्र रचा और युधिष्ठिर द्यूत क्रीड़ामें हारकर वनवासी हो गये तो दुर्योधनके इस छल-प्रपंचकी तीव्र आलोचना करते हुए सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—

"राजन् ! अब यह निश्चित है कि आपके कुलका नाश होगा। कुलक्षय होनेसे सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था बिगड़ जाएगी। आपके पुत्रोंके पापका परिणाम कुरु राज्यकी निरीह प्रजाको भी भोगना पड़ेगा। सुनो राजन् ! पितामह भीष्म, महात्मा विदुर जैसे ज्ञानी तपोधन व्यक्तियों द्वारा बरजनेपर भी आपके पुत्रोंने साध्वी द्रौपदीको भरी सभामें नंगी करने और अपमानित करनेका प्रयत्न किया। विनाशकालमें बुद्धि विपरीत हो जाती है, इसलिए आपको भी अपने पुत्रों द्वारा किया जानेवाला अन्याय न्याय समझ पड़ा। निश्चय ही निकट भविष्यमें कौरवों और पाण्डवोंके बीच भयंकर युद्ध होगा और आप अपने पुत्रोंका वध सुनेंगे, पुत्र-शोकसे आपका हृदय शतशत खण्ड होगा।"

सञ्जयकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। समझौता भंग होनेपर पाण्डवोंके समक्ष केवल युद्धका मार्ग शेष रह गया। कौरव यह चाहते ही थे, क्योंकि दुर्योधनने समझौता वार्ताके अवसरपर पाण्डवोंके शान्ति-दूत श्रीकृष्णसे स्पष्ट कह दिया था कि 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।' कृष्ण ! युद्धके बिना मैं सुईकी नोकके बराबर भी पृथ्वी पाण्डवोंको न दूंगा।

युद्ध निश्चित हो गया। युद्धकी तैयारियाँ जब दोनों पक्षोंमें सरगर्मीसे होने लगीं, तब धृतराष्ट्रको सञ्जयकी भविष्यवाणी याद आई। वह घबड़ाकर सञ्जयसे बोला, "मन्त्रिवर ! किसी प्रकार इस विनाशकारी युद्धको टाल दो। मैं अपने पुत्रोंको समझा लूंगा। तुम पाण्डवोंको समझाने बुझानेका प्रयत्न करो।"

"महाराज !" सञ्जय बोला—"आग लगनेपर कुंआ खोदनेसे क्या लाभ ? फिर भी पाण्डव शीलवान हैं, शान्तिप्रिय और न्यायपरायण हैं। मुझे विश्वास है कि वह समझाने पर युद्धसे विरत हो जायेंगे किन्तु आपके पुत्र शील, सत्य और न्यायकी दिन दहाड़े हत्या किया करते हैं। मुझे कतई विश्वास नहीं है कि वह आपकी बात मान लेंगे। खैर, आपकी आज्ञा है। मैं पाण्डवोंको समझाऊँगा, उन्हें युद्धसे विरत करूँगा।"

सञ्जय युधिष्ठिरके पास गए और बोले —"धर्मराज ! तुम्हारा जैसा नाम है तदनुकूल तुम्हारे आचरण भी हैं। मैं जानता हूँ कि तुम विवश होकर युद्धोद्यत हुए हो, किन्तु समराङ्गणमें जानेसे पूर्व इतना और सोच लो कि युद्धसे न अर्थ-सिद्धि होती है और न धर्म-सिद्धि होती है। युद्धका अर्थ विनाश, विघटन ही होता है, सन्धि ही शान्तिका सर्वोत्तम उपाय है।"

"मंत्रिवर !" युधिष्ठिर बोले—"आपकी सामनीति श्लाघ्य है। सुख-शान्तिके लिए, 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्तकी रक्षाके लिए सामनीति ही प्रमुख है। हमें आपका सुझाव सर्वथा मान्य है, किन्तु हमें भी स्वाभिमान और शान्तिपूर्वक जीनेके लिए कुछ तो मिलना ही चाहिए। हम अधिक नहीं केवल इन्द्रप्रस्थका राज्य चाहते हैं। हमें युद्धसे घृणा हैं। हमें बन्धु-विद्वेषसे नफरत है। हम आपसमें लड़कर प्रजाको पीड़ित रखना पाप समझते हैं। यदि आप हमें इन्द्रप्रस्थका राज्य दिला दें तो हम युद्धसे हमेशाके लिए दूर हो जाएंगे।"

सञ्जय हस्तिनापुर लौट आए। उन्होंने पाण्डवोंके शील, सदाचार और उनकी न्याय-परायणताका वर्णन करते हुए धृतराष्ट्रसे कहा—"राजन् पाण्डव कोई बेगाने नहीं हैं। भाईके पुत्र हैं। कौरवोंके साथ पाण्डव भी खेलकर, खाकर, शिक्षा ग्रहणकर बड़े हुए हैं। उन्हें यदि आप खाने कमानेके लिए इन्द्रप्रस्थका राज्य दे दें तो आप अपने वंश-नाशको बचा सकते हैं। प्रजाको उत्पीड़नसे बचा सकते हैं। राष्ट्रको दुर्बल होनेसे बचा सकते हैं।"

"किन्तु सञ्जय" ! धृतराष्ट्र बोले—"दुर्योधन, एक अंगुल भूमि भी देनेके पक्षमें नहीं हैं। तुम जानते हो कि वह कितना दृढ़ निश्चयी है। मुझे तो ऐसा लगता है कि पाण्डवोंमें युद्ध करनेकी क्षमता नहीं है, किन्तु श्रीकृष्ण उन्हें उभार रहे हैं। कृष्ण बहुत ही कूटनीतिज्ञ हैं। उनके रहते हुए समझौता नहीं हो सकता।"

"शान्तं पापं शान्तं पापं" कहते हुए सञ्जय ने कहा—"महाराज, विवेकसे बात करें। हतज्ञान, हतप्रतिभ मत बनें। कुरुराजके मुखसे ऐसे शब्द शोभा नहीं देते हैं। श्रीकृष्ण मनुष्य-रूपमें अवतरित साक्षात् ब्रह्म हैं। उनके भृकुटि-विलास मात्रसे सृष्टिका लय होता है। श्रीकृष्णका वास्तविक रूप समझते हैं महर्षि व्यास, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर। आप उन्हें नहीं पहचान पारहे हैं और न पहचान सकेंगे।"

"श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं—यह तुमने कैसे जाना सञ्जय !" धृतराष्ट्र ने पूछा।

"महाराज !" सञ्जयने कहा—"श्रीकृष्णके ईश्वर रूपको समझनेके लिए सत्य और विवेककी अपेक्षा होती है। क्षमा करें महाराज ! आप मोहान्धकार-ग्रस्त हैं। सत्य और विवेकसे कोसों दूर हैं। अपने बेटोंके छल-कपटको ही आप न्याय समझते हैं। धर्मका मिथ्या आचरण ही आपका कर्त्तव्य बन गया है।"

"शान्त सञ्जय ! सीमाका उल्लंघन न करो सूतपुत्र ! सिंहासनकी मर्यादाका ध्यान रखकर बातें करो ?"

"क्षमा ! कुरुराज !" ······सञ्जयको रोकते हुए महर्षि व्यास बोले—

"महाराज ! सञ्जयकी अवहेलना न करें। इसे पुराण-पुरुष श्रीकृष्णके स्वरूपका पूरा ज्ञान है। यदि तुम ध्यानपूर्वक इसकी बातें सुनोगे तो जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्त हो जाओगे। सञ्जय ज्ञानी है और तुम इसलिए भाग्यवान हो कि भीष्म, विदुर, सञ्जय जैसे ज्ञानी तुम्हारी सेवामें निरत हैं। तुम हाथमें आये हुए रत्नको ठुकराकर काँचके टुकड़ोंको बीन रहे हो, यह तुम्हारा अज्ञान है।"

भय-कम्पित धृतराष्ट्र काँपती हुई आवाजसे बोला, "भैया सञ्जय ! मुझे कोई मार्ग बताओ, जिससे मैं भी श्रीकृष्णके भगवररूपको पहचान सकूँ।"

सञ्जय बोले—"राजन्, इन्द्रियोंको जीते बिना कोई श्रीकृष्णके वास्तविक रूपको नहीं पहचान सकता और इन्द्रियाँ भोगोंके त्यागसे ही जीती जा सकती हैं। बिना ज्ञानके भगवद्भक्ति नहीं मिलती और भक्तिके बिना भगवान् द्रवित नहीं होते। प्रमाद, हिंसा और भोग—इन तीनोंका त्याग ही ज्ञानका साधन है। इनका त्याग होने पर ही भगवान्‌का बोध होता है और परम पदकी प्राप्ति होती है।"

"मैं विवश हूँ सञ्जय ! मेरे धृष्ट पुत्र मेरी बात नहीं मान रहे। युद्धोन्मादसे उन्मत्त हो कुरुक्षेत्र पहुँच गए हैं। क्या पाण्डव भी ससैन्य युद्धक्षेत्रमें पहुँच गये हैं ?"

"हाँ महाराज !" सञ्जयने कहा—"दोनों ओरकी सेनाएँ धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र पहुँच चुकी हैं।"

इतनेमें महर्षि व्यास उपस्थित हुए। कातर हृदयसे शोकार्त धृतराष्ट्रने महर्षिसे निवेदन किया कि देव अब भी कोई उपाय है क्या ? जिससे कौरवों और पाण्डवोंमें सुलह हो जाए।

"होनहार वलवान् होती है राजन् ! अब तो युद्ध होकर ही रहेगा।" महर्षि व्यासने कहा। "महर्षे, ! मैं आँखोंसे अन्धा हूँ, फिर भी इस युद्धको अपनी आँखोंसे देखनेकी लालसा मुझमें उत्पन्न हुई है।"

महर्षि व्यासने सञ्जयको दिव्य दृष्टिका वरदान देते हुये कहा—"राजन् ! सञ्जय तुम्हें युद्धका आँखों देखा विवरण वतायेगा। समस्त युद्धक्षेत्रकी समस्त हलचलें यहीं बैठे २ इसे दिखाई पड़ेंगी। इतना ही नहीं वल्कि प्रत्यक्ष और परोक्षमें घटनेवाली घटनाएँ तथा मनमें सोची हुई बातें भी इसे मालूम होती रहेंगी। इसे न तो शस्त्र काट सकेंगे और न यह थकेगा।

वस, महाभारतका युद्ध शुरू हो गया और सञ्जय अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर धृतराष्ट्रके समक्ष सारी घटनाएँ प्रस्तुत करने लगा। युद्ध-भूमि, युद्ध-कौशल तथा मोहग्रस्त अर्जुनको श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया गीताका उपदेश सव कुछ सञ्जयने धृतराष्ट्रको सुनाया और अन्तमें निष्कर्ष बतलाते हुए कहा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो
यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूति-
र्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

सत्यका विवेक रखने वाले ही स्पष्टवक्ता हो सकते हैं। परहित-साधनमें,उनकी संलग्नता अद्वितीय होती है। सत्यान्वेषीके लिये कुछ दुर्लभ नहीं है। चापलूसी और ऊपरी मिठास सत्य-प्रेमियोंको कभी पसन्द नहीं आती।

—अज्ञात

भाव-भक्तिकी भूमिकाएँ

स्वामी श्रीसनातनदेवजी

[भक्तिका बीज भगवत्संबंध है। जब तक संबंध या अपनत्व नहीं होता, तब तक किसीसे भी अनुराग नहीं हो सकता। पुत्र कलत्र, गृह और संपत्तिमें भी अपनत्वके कारण ही आसक्ति होती है।

जब लौकिक तुच्छ व्यक्तियोंके प्रति अपनत्व होनेपर भी जीव प्रीतिके पाशमें बँध जाता है, तब अनन्त अचिन्त्य-गुण गण निलय, सकल-सौन्दर्य-सार परमानन्द-चिन्मूर्ति श्रीहरिसे अपनत्व होनेपर उनमें प्रीतिका प्रादुर्भाव क्यों न होगा।]

'भगवानसे कुछ चाहना कर्म है और स्वयं भगवान्को चाहना उपासना है'—ये शब्द हैं एक वन्दनीय महापुरुषके। परन्तु थोड़ा विचार करें तो स्वयं उन्हें न चाहकर यदि हम उनसे किसी वस्तु या अवस्था-विशेषकी कामना करते हैं तो उनके प्रति हमारा सच्चा भगवद्भाव भी कैसे कहा जा सकता है ? क्या भगवान्से बढ़कर भी कोई वस्तु या अवस्था हो सकती है, जिसकी हम उनसे कामना करें ? अतः सच पूछा जाय तो जब तक हमें किसी भी प्रकारकी कामना है तब तक हमने प्रभुको पहचाना ही नहीं। इसीसे सकाम कर्मका प्रतिपादन करने वाला मीमांसा-दर्शन निरीश्वरवादी है। उसकी दृष्टिमें स्वर्ग ही सबसे बड़ा सुख है और इन्द्र ही सबसे बड़ा प्रभु। सकाम कर्मी या सकाम-उपासकका उपास्य कोई भी हो वह देवता कोटिमें ही आ सकता है, उसे भगवान् नहीं कह सकते। एक वेतनभोगी भृत्यका अपने स्वामीसे जैसे वेतनके लिये ही संबंध होता है, वेतन न मिलनेपर उस संबंधके टूटनेमें देरी नहीं लगती, उसी प्रकार सकाम-पुरुषका अपने उपास्यसे मुख्य संबंध नहीं होता। अतः उसके लिये तो उपास्य केवल कामप्रद देवमात्र है, वह उसका परमाराध्य प्रियतम नहीं हो सकता।

इनसे भी निम्नकोटिके वे लोग हैं, जो कुछ पानेके लिये नहीं प्रत्युत केवल अनिष्टकी आशंकाके भयसे प्रेरित होकर ही देवोपासना करते हैं। सकाम-पुरुषोंकी उपासना लोभप्रयुक्त होती है तो इनकी भय प्रयुक्त। इनकी तो अपने उपास्यमें देवबुद्धि भी नहीं कही जा सकती। इनका उपास्य कोई भी हो, इनके भावानुसार तो वह भूत-प्रेतादिकी कोटिमें ही गिना जा सकला है। इनकी उपासनामें प्रीतिकी तो गंध भी नहीं होती। कारागारमें बंद हुआ एक

बन्दी जिस प्रकार केवल बन्दीगृहके अधिकारियोंके भयसे ही अपना काम-काज करता है उसकी न तो अपने काममें ही रुचि होती है और न अपने प्रभुओंमें प्रीति ही, उसी प्रकार ये लोग भी अपने उपास्यकी प्रसन्नताके लिये अथवा किसी कामना-पूर्तिके उद्देश्यसे उपासनामें प्रवृत्त नहीं होते, प्रत्युत उपास्यके कोपसे बचनेके लिये तथा अनिष्ट-निवृत्तिके उद्देश्यसे ही उपास्यकी प्रकृतिके अनुरूप कर्म-कलाप किया करते हैं। देवोपासकोंकी उपासनामें शास्त्र-विधिकी प्रधानता होती है और प्रेतोपासकोंकी पूजामें उनके उपास्यकी अभिरुचि की।

भगवान्के भक्त इन दोनों प्रकारके उपासकोंसे भिन्न होते हैं। उन्हें न तो अपने उपास्यसे किसी प्रकारका भय होता है और न किसी वस्तु या अवस्थाका लोभ। वे तो प्रभुको अपना परम आत्मीय और सर्वस्व समझते हैं। फिर वे उनसे क्यों डरें और क्या चाहें? सिंहके बच्चेको क्या अपने पितासे कभी भय होता है? तथा चक्रवर्ती सम्राट्का युवराज क्या कभी किसी तुच्छ वस्तुकी कामना कर सकता है? भगवान् उसके अपने हैं और सब कुछ उन्हींका है; अतः उनका होकर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे वह पाना चाहेगा। उसका प्रभुसे केवल प्रीतिका संबंध होता है। ऐसा संबंध किसीका किसीके भी साथ हो, वह भगवत्संबंधके सदृश ही है। इसीसे सतीका पतिके प्रति, शिष्यका गुरुके प्रति, और पुत्रका पिताके प्रति यदि विशुद्ध निष्काम प्रेम हो तो वह भगवत्प्रेमके समान ही प्रभुकी प्राप्ति-का साधन हो जाता है। शास्त्रोंमें ऐसे अनेकों प्रमाण पाये जाते हैं। ऐसा प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी प्रीतिके सिवा और कुछ नहीं चाहता।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें तो भगवान्ने आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्त बताये हैं और उन चारोंको ही उदार कहा है—'उदाराः सर्व सवैते (७।१८)।' फिर आप सकाम और अर्थार्थी व्यक्तियोंको इतने निम्नकोटिके कैसे बतलाते हैं?

इसका उत्तर यह है कि भगवान्ने जिन चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है, उनमें जिज्ञासु और ज्ञानी तो वे ही लोग हैं, जो केवल भगवत्तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले अथवा भगवत्तत्त्वमें परिनिष्ठित हैं; तथा आर्त्त और अर्थार्थी भी वे ही महाभाग हैं, जो स्वभावतः प्रभुके प्रेमी ही हैं, केवल परिस्थिति-विशेषके कारण ही उन्हें आर्त्ति निवारण अथवा अर्थ-प्राप्तिके लिये उनसे प्रार्थना करनी पड़ी है। आर्त्ति-निवारण अथवा अर्थप्राप्ति उनकी भक्तिके प्रयोजक नहीं हैं। अबोध बालकका अपनी माँसे स्वाभाविक ही अपनत्व होता है, उसका कारण किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं होता; तथापि यदि उसे किसी प्रकारके भयकी आशंका होती है तो वह माँकी गोदमें ही शरण लेता है और किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है तो माँसे ही उसकी याचना करता है। इसी प्रकार जिन भक्तोंका प्रभुसे सहज संबंध हो जाता है, वे आपत्ति पड़नेपर उन्हींको पुकारते हैं और किसी वस्तुकी आवश्यकता पड़नेपर उसे उन्हींसे माँगते हैं। यही उनका आर्त्तत्व और अर्थार्थित्व है। इनके सिवा वे लोग भी इन्हीं कोटियोंमें गिने जा सकते हैं, जिनकी उपासनाका आरंभ तो आर्त्तित्राण अथवा अर्थ-प्राप्तिकी कामनासे हुआ था, परन्तु पीछे ये निमित्त तो गौण हो गये और भगवत्प्रेम प्रधान हो गया। उन्हें भी भूतपूर्व गतिसे आर्त्त और अर्थार्थी भक्त कह सकते हैं। परन्तु किसी भी

प्रकार वे लोग भक्त-कोटिमें नहीं गिने जा सकते, जिनका श्रीभगवान्के साथ केवल स्वार्थ-साधनके लिये ही सम्बन्ध है।

अतः यह निश्चय हुआ कि भक्तिका बीज भगवत्संबंध है। जबतक संबंध या अपनत्व नहीं होता, तब तक किसीसे भी अनुराग नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र, गृह और संपत्तिमें भी अपनत्वके कारण ही आसक्ति होती है। इसीसे दूसरेके सुन्दर और सद्गुण-संपन्न बालककी अपेक्षा भी अपना कुरूप और गुणहीन बालक अधिक प्रिय जान पड़ता है। इस प्रकार जब लौकिक तुच्छ व्यक्तियोंके प्रति अपनत्व होनेपर भी जीव प्रीतिके पाशमें बंध जाता है, तव अनन्त-अचिन्त्य-गुण-गण-निलय, सकल-सौंदर्य-सार परमानन्द-चिन्मूर्ति श्रीहरिसे अपनत्व होनेपर उनमें प्रीतिका प्रादुर्भाव क्यों न होगा? अतः भक्तिकी उपलब्धिके लिये सबसे पहली शर्त यह है कि सभी वस्तु और व्यक्तियोंसे सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र प्रभुसे ही नाता जोड़ा जाय। प्रभु तो 'एकमेवा द्वितीयम्' हैं। उनके राज्यमें उनके सिवा और कोई नहीं है। अतः वे अनन्यताके द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। जब तक जीवका पुत्र, मित्र, कलत्र आदिसे संबंध रहता है, तब तक वह प्रभुसे नाता नहीं जोड़ सकता। तनिक सोचिये तो सही—क्या ऐसा भी कोई व्यक्ति या पदार्थ हो सकता है, जो प्रभुका न हो। यदि सब कुछ उन जगदीश्वरका ही है तो आप अपना किसे कह सकते हैं? सब उन्हींके हैं, इसलिये आप भी उन्हींके हैं; और वे सबके हैं, इसलिये वे ही आपके भी हैं। इस प्रकार आपके साथ सीधा संबंध तो केवल उन्हींका है। अतः आपका अपनत्व केवल उन्हींमें होना चाहिये। और सबकी तो आप उन्हींके नाते सेवा कर सकते हैं—जिस प्रकार एक पति परायण नारीका अपनत्व तो केवल पतिमें ही होता है, हाँ! पतिदेवके संबंधी होनेके कारण वह सास-ससुर आदिकी सेवा भी करती है। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भक्त केवल संबंधको ही छोड़ता है, संबंधियोंको नहीं। यदि संबंधियोंको छोड़ देगा तो सेवा किसकी करेगा? संबंधियोंका त्याग तो तभी होता है, जब वे भगवत्संबंध या भगवत्सेवामें बाधक होते हैं।

इस प्रकार सब संबंधोंको छोड़कर जब भक्त केवल भगवान्में ही अपनत्व करता है, तब स्वभावसे ही उनमें उसका अनुराग बढ़ने लगता है। अनुरागकी वृद्धिके साथ चिन्तनका बढ़ना भी स्वाभाविक है। जब तक भगवान्से सम्बन्ध नहीं होता, तब तक तो मनन-चिन्तन करना पड़ता है, परन्तु सम्बन्ध हो जाने पर प्रीतिके उन्मेषके साथ उनका चिन्तन भी स्वाभाविक हो जाता है तथा भगवदनुराग बढ़नेसे अन्य वस्तु और व्यक्तियोंके प्रति उसके मनमें वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। भक्तिशास्त्रोंमें भगवत्प्रेमकी इस प्रारम्भिक अवस्थाका नाम ही शान्त भाव है। इस अवस्थामें सम्बन्धका कोई प्रकार विशेष नहीं होता, प्रसंगानुसार सभी प्रकारके महानुभावोंका उन्मेष होता रहता है। इसीसे इसे प्रेमकी प्रारम्भिक अवस्था कहा गया है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिये कि शान्त-भावमें प्रतिष्ठित भक्त, अन्य भक्तोंकी अपेक्षा निम्नकोटिका होता है। भावकी गम्भीरता होनेपर इस भावमें भी भक्तको प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची भूमिका प्राप्त हो सकती है। भगवान् शुक और अवधूत शिरोमणि सनकादि इसी कोटिके भक्त हैं।

जहाँ सम्बन्ध होता है, वहाँ उसके अनुरूप परस्पर प्रेमका आदान-प्रदान होने लगता है। इसीसे प्रेमियोंकी रुचि और योग्यताके अनुसार उस सम्बन्धके अनेक भेद हो जाते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो एक ही प्रेमास्पदमें दो प्रेमियोंका भी सर्वांशमें समानभाव नहीं होता। तो भी व्यवहार और विवेचनके सौकर्यकी दृष्टिसे उन संपूर्ण भेदोंको कुछ नियत संख्यामें विभक्त कर दिया गया है। भक्ति-शास्त्रोंमें ऐसे चार भेद बताये गये हैं। उनके नाम हैं—सेव्य-सेवकभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव और मधुरभाव। इनके साथ उपर्युक्त शान्त-भावको भी सम्मिलित करके कुल पाँच भावोंकी गणना की जाती है।

सेव्य-सेवकभावमें भगवान्‌के ऐश्वर्य और माहात्म्यपर भक्तकी पूर्ण दृष्टि रहती है। परन्तु ममता-जनित सम्बन्ध हो जानेके कारण उसमें माधुर्यका पुट भी अवश्य रहता है। अतः हृदयमें पूर्ण अनुराग रहनेपर भी उसके शील-संकोचमें किसी प्रधान प्रकारकी शिथिलता नहीं आती। इस भूमिकामें प्रभुकी आज्ञाका अनुवर्तन उसका कर्तव्य रहता है। उसमें औचित्य-अनौचित्य देखनेका वह अपना अधिकार नहीं मानता। इसलिये कई वार अपने प्रभुकी आज्ञासे उसे वह काम भी करना पड़ता है, जिसे वह स्वयं नहीं करना चाहता। श्रीभरतलालजी, लक्ष्मणजी और हनुमानजी इसी कोटिके भक्त हैं। जो अपनी बुद्धि और रुचिको एक ओर रखकर प्रतिक्षण अपने प्रभुकी ही भावभंगीका अनुसरण करनेके लिये तत्पर रह सकते हैं, वे ही इस भावके अधिकारी हैं।

किन्तु जिनकी दृष्टि ऐश्वर्य और माहात्म्यसे विशेष आकर्षित न होकर प्यारेकी सुख-सुविधापर ही अधिक रहती है, वे सख्यभावके अधिकारी होते हैं। इनमें शील-संकोचकी शिथिलता रहती है; क्योंकि बराबरीका नाता ठहरा। इसलिये अपने नित्य-सखाकी आज्ञा या भावभंगीके अनुसरणकी ओर इनका विशेष ध्यान नहीं होता। इन्हें यदि ऐ । जान पड़े कि आज्ञा न माननेसे उसे अधिक सुख मिलेगा तो ये उसका उल्लंघन करनेपर भी ऐसा काम करनेका साहस नहीं कर सकते, जो उस प्रिय सखाके मनके विरुद्ध हो। व्रजके ग्वाल-बाल, अर्जुन और सुग्रीवादि इसी कोटिके भक्त हैं।

वात्सल्य भावमें ममता और स्नेहकी अत्यन्त प्रगाढ़ता रहती है। यहाँ ऐश्वर्य और भी लुप्त हो जाता है। प्यारा अपना लाड़ला जान पड़ता है। ललनका लाड़ लड़ाना—यही भक्तका मुख्य कर्त्तव्य रह जाता है। यहाँ बराबरीका नाता नहीं प्रत्युत अपनेमें गुरुत्वका भान होता है। सखा तो प्यारेके मनके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता, परन्तु माता-पिताको यदि आवश्यक जान पड़े तो पुत्रके मनकी उपेक्षा करनेमें भी संकोच नहीं होता। अपने ललनके हितके लिये वे उसे झिड़क भी सकते हैं और कभी-कभी ताड़ना भी कर बैठते हैं और लालजी झिड़क एवं ताड़ना सहकर भी अपने उस बड़भागी भक्तके संरक्षण-सुखको त्याग नहीं सकते। ऐसी यह प्रीतिकी अटपटी रीति है। यहाँ शासक शास्य हो जाता है। श्रीनन्द-यशोदा और दशरथ-कौसल्या आदिका यही भाव हैं।

अब कुछ मधुर भावके विषयमें भी विचार करें। यहाँ जैसी प्रीतिकी प्रगाढ़ता और पारस्परिक अभिन्नता होती है, वैसी पूर्वोक्त किसी भावमें नहीं होती। अन्य भावोंमें संकोच-

का यत्किंचित् आवरण रहता ही है, किन्तु यहाँ संकोचके लिये कोई स्थान नहीं है। माँ अपने शिशुके सुखके लिये स्वयं तो उसके मनके विरुद्ध आचरण कर सकती है, परन्तु उससे वैसा करा नहीं सकती—तथापि प्रियतमा तो प्यारेसे वह भी करा लेती हैं, जो वे करना न चाहें और इस विवशतामें भी प्रियतमको एक अद्भुत रसकी अनुभूति होगी। अतः मधुरभाव सभी भावोंमें सिरमौर है। यहाँ भक्त भगवान्‌का भोग्य हो जाता है। यही आत्म-समर्पणकी पूर्णता है। श्रीगोपीजन इसी भावसे भगवान्‌को भजती हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें भक्तिके पाँचों भावोंका विवेचन हुआ। भावदृष्टिसे इनमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है तथा प्रत्येक भावमें अपनेसे पूर्ववर्त्ती भावोंका समावेश भी हो जाता है। शान्तभावमें विनभक्ति, सेव्य-सेवकभावमें अनुवृत्ति, सख्यभावमें प्रीति और वात्सल्यमें स्नेहकी प्रधानता होती है। मधुरभावमें इन सभी रसोंका समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त प्रियतमको सुमधुर रति प्रदान करनेकी विशेषता रहती है। इसी प्रकार अन्य भावोंमें भी उनसे पूर्ववर्ती भाव अन्तर्भुक्त रहते हैं। इस प्रकार भावोंमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष होनेपर भी भक्तोंमें वैसा तारतम्य नहीं समझना चाहिये। भक्त तो अपनी-अपनी प्रकृति और रुचिके अनुसार ही किसी भावको स्वीकार करते हैं और उसीमें परिनिष्ठित होकर भगवत्प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची भूमिका प्राप्त कर लेते हैं। ऊपर विभिन्न भावोंके जिन भक्तोंका उल्लेख किया है, उनमें किसे छोटा या बड़ा कहा जाय? भक्तिका उत्कर्ष भावके प्रकारकी दृष्टिसे नहीं, प्रत्युत भावकी परिणतिकी दृष्टिसे होता है। जिस जीवमें उसके स्वीकृत भावकी जितनी उत्कृष्ट परिणति हुई है, वह उतना ही उच्च-कोटिका भक्त है—लोकमें जैसे कोयलेकी अपेक्षा सुवर्ण अधिक मूल्यवान् है; परन्तु ऐसा नियम नहीं है कि कोई भी कोयलेका व्यापारी किसी भी सुवर्णके व्यापारीसे अधिक धनाढ्य नहीं हो सकता। अतः भगवद्रसिकोंको किसी विशेष भावका आग्रह न रखकर अपनी प्रकृतिके अनुरूप भावमें दीक्षित हो, उसीमें तद्रूप होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ऊपर हमने कहा है कि सतीका पतिके प्रति, शिष्यका गुरुके प्रति और पुत्रका पिताके प्रति यदि विशुद्ध निष्काम प्रेम हो तो वह भगवत्प्रेमके समान ही प्रभु प्राप्तिका साधन हो जाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वहाँ पति आदिमें भगवद् बुद्धि करनेकी बात कही गयी है और यहाँ भगवान्‌में स्वामि-सखा आदि बुद्धि करनेकी बात है। वह प्रतीको-पासना है और यह भगवत्सम्बन्ध है। अतः वह भगवत्प्राप्तिका परम्परा-साधन है और यह साक्षात् साधन। इसीसे उसे साक्षात् भगवत्प्रेम न कहकर भगवत्प्रेमके समान कहा गया है।

यह भाव-भक्ति पहले तो की जाती है और पीछे स्वाभाविक हो जाती है। जब तक की जाती है, तबतक कृतिकी प्रधानता होती है, प्रीतिकी नहीं। ऊपर जिन नित्यसिद्ध भगवत्पार्षदोंका उदाहरण रूपसे उल्लेख किया गया है, उनमें यह भाव-भक्ति स्वतः सिद्ध है। भक्ति-शास्त्रोंमें उनकी भक्तिको रागात्मिका कहा गया है। दूसरे लोग अपने-अपने भावानुसार उन्हींका अनुसरण करके अपने भावमें परिनिष्ठित होते हैं। अतः उनकी भक्ति रागानुगा कहलाती है। रागानुगा भक्ति भगवत्प्राप्तिका साधन है और रागात्मिका प्राप्ति-

रूपा है। प्रभु कृपासे रागानुगाही रागात्मिका हो जाती है। अतः प्रीति ही साधन है, और प्रीति ही साध्य हैं—

साधन सिद्धि राम पद नेहू।

यहाँ तक हमने जीवलोकके भावभेदोंका वर्णन किया; किंतु प्रीति तो प्रभुका स्वभाव है—स्वभाव ही नहीं, साक्षात् स्वरूप है। उनका दिव्य चिन्मय मंगलविग्रह प्रीतिके तत्त्वोंसे ही गठित है। उस प्रीतिकी मधुरिमाका आस्वादन किये बिना उनसे भी नहीं रहा जाता। अतः उसका आस्वादन करनेके लिये वे अपने ही स्वरूपभूत चिन्मय धाममें स्वयं ही प्रिया और प्रियतमके रूपमें विराजमान हैं। प्रिया और प्रियतममें उपास्य-उपासकका भेद नहीं है। वे दोनों ही दोनोंके आराध्य हैं :—**'एक स्वरूप सदा द्वै नाम। आनँदकी अह्लादिनि स्यामा अह्लादिनिके आनँद स्याम'**। प्रियाजूका प्रियतमके प्रति और प्रियतमका प्रियाजूके प्रति जो अद्भुत अलौकिक भाव है, उसका इस लोकमें कहीं आभास भी मिलना कठिन है। वह तो उनकी अपनी ही सम्पत्ति है। वहाँ क्षण-क्षणमें दोनोंके हृदयमें जो अद्भुत भाव वैचित्त्य होते हैं, वे तत्काल ही मूर्त्तिमान हो जाते हैं। प्रिया-प्रियतम नित्य संयुक्त रहते हुए भी प्रीति-रसकी अचिन्त्य महिमासे परस्पर विरहका अनुभव करते हैं—**'मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिले ना।'**

उस विरह-व्यथामें प्रियाजी प्रियतमका चिन्तन करते-करते तद्रूप हो जाती हैं और अपनेको प्रियतम समझकर अपनेही लिये व्याकुल होने लगती हैं। इसी प्रकार प्रियतम प्रियाजीके वियोगमें अपनेको प्रियारूपमें देखकर अपनाही चिन्तन करने लगते हैं। ऐसी परिणति क्षण-क्षणमें होती रहती है। इसी प्रकारके अनन्त अलौकिक भावानुभाव प्रिया प्रियतमके अन्तस्तलमें स्थित रसार्पवको आन्दोलित करते रहते हैं। भक्ति-शास्त्रोंमें श्रीराधाके भावको महाभाव या राधाभाव कहा गया है। इसके मोदक एवं मादन—ये दो मुख्य भेद हैं। युगल सरकारका यह अनादि अनन्त रास-विलास निरन्तर चल रहा है। इस लोकमें किन्हीं बिरले महानुभावोंमें ही किसी क्षणके लिये इस अलौकिक भावकी स्फूर्ति होती है।

ये तो हुईं भावराज्यकी बातें। तथापि भावोंका विवेचन करते हुए किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने ज्ञानी भक्तोंको शान्तभावके अन्तर्गत माना है। इससे अनेकों साधकोंको यह भ्रम हो सकता है कि तत्वनिष्ठ महानुभाव शान्तभावके उपासक हैं। परन्तु स्मरण रहे, भाव और विचार ये दो अलग-अलग मार्ग हैं। विचारक किसी भी भाव, विश्वास या स्वीकृतिका आश्रय नहीं लेता। वह तो अपनी जानकारीके आधारपर असत्का त्याग करके सत्यकी खोज करता है—अनात्माका बाध करके आत्मानुसंधान करता है। इस प्रकार विवेचन करते हुए असन्निषेधावधिरुपसे जिस सत्यकी उसे उपलब्धि होती है। जिसका किसी प्रकार निषेध नहीं किया जा सकता, उसीको वह अपने आत्मरूपसे अनुभव करता है। यह सत्य ही उसका विश्राम स्थान है। उसका इससे नित्य अभेद है। इस दृष्टिमें परिनिष्ठित रहना ही उसका आत्मप्रेम है। इसे आत्मरति, आत्ममिथुन और आत्मक्रीड़ा आदि नामोंसे भी कहा जाता है। यद्यपि तत्वनिष्ठोंके ज्ञानमें किसी प्रकारका भेद या तारतम्य नहीं होता—सभीकी तत्त्वदृष्टि एक ही होती है, तथापि निष्ठामें अवश्य तारतम्य रहता है। इसीसे योग-

वासिष्ठादिमें ज्ञानकी सात भूमिकाएं बतायी गयी हैं। उनके नाम हैं—शुभेच्छा, विचारणा तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा। इनमें पहली तीन जिज्ञासुकी साधनावस्थाएँ हैं। ये क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूपा है। सत्त्वापत्ति साक्षात्कार रूपा है और अन्तिम तीन जीवन्मुक्तिरूपा हैं। उनमें तत्व-निष्ठाका उत्तरोत्तर परिपाक होता है। चतुर्थ भूमिकामें स्थित ज्ञानीको ब्रह्मवित् कहते हैं और आगेकी भूमिकाओंमें आरूढ़ होने पर वह क्रमशः ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् एवं ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है। अतः ज्ञानीको उपर्युक्त किसी भावके अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। ऊपर श्रीशुक और सनकादिको जो शान्तभावके भक्तरूपसे कहा है, उसका कारण यह है कि वे नित्यसिद्ध महापुरुष तो ज्ञानी भी हैं और भक्त भी। अतः भक्तदृष्टिसे इन्हें शान्तभावके अन्तर्गत गिना जा सकता है।

इस प्रकार भक्तोंके भावभेदके समान यद्यपि ज्ञानियोंमें भी भूमिका-भेद माना गया है, तथापि इन दोनोंमें किसी प्रकारका साम्य नहीं है। ज्ञान प्रशान्त महोदधि (Pacific Ocean) के समान है जिसमें किसी प्रकारकी हलचल नहीं है; और प्रेम अतलान्तक महासागर (Atlantic Ocean) की तरह है, जो निरन्तर भाँति-भाँतिकी भावानुभावरूप ऊर्मिमालाओंसे उद्वेलित रहता है। ज्ञानकी भूमिकाओंमें उत्तोरत्तर प्रपंचकी प्रतीति गलती जाती है। वे निवृत्तिरूपा हैं। निस्सन्देह उनमें स्वरूप-भूत विलक्षण आनन्दका भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है, परन्तु उससे प्रधानतः चित्तकी प्रशान्तवाहिता और गम्भीरता ही बढ़ती है। उपरतिका उत्तोत्तर उत्कर्ष ही उसका स्वरूप है। अत: उसका मुख्य उद्देश्य है—शरीरके रहते व्यावहारिक बन्धनोंसे मुक्ति प्रदान कर देना। इस प्रकार व्यवहारसे मुक्त करके भी वह उस तत्त्वनिष्ठको किसीके साथ बाँधता नहीं। यहाँ तक कि उस स्वरूपभूत आनन्दका भी विद्वान्को बन्धन नहीं होता। परन्तु भाव तो भक्तोंको प्रेमपाशमें बाँधने वाले हैं। वे उसे भगवान्के प्रेममें बाँधकर ही भव-बंधनसे मुक्त करते हैं। भावोंमें जो पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका उत्कर्ष माना गया है, उसका कारण भी उत्तरोत्तरका पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा अधिक बन्धनकारक होना ही है। परन्तु यह बन्धन है निखिलरसा मृतमूर्ति, सौन्दर्यसार श्रीहरिके साथ। इसमें जो अद्भुत मधुरिमा है, विलक्षण मादकता है, उससे मुग्ध हुए भक्त-भ्रमर मुक्तिकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। प्रभु उन्हें मुक्ति देना चाहते हैं, तो भी वे उसका तिरस्कार कर देते हैं—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भा० ३।२९।१३)

इस तरह यद्यपि भक्त और ज्ञानीके साधन सर्वथा भिन्न हैं, तथापि दोनोंको जिसकी प्राप्ति होती है, वह साध्य एक ही है। उस साध्यके आस्वादनमें भी भेद हैं, परन्तु वस्तुमें भेद नहीं है। भक्तकी दृष्टिमें वह तत्त्व चिन्मय है; क्योंकि प्रभुके नाम, धाम, लीला और रूप तत्त्वतः उनसे अभिन्न हैं तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें वह चिन्मात्र है; क्योंकि वह उसे सकल संनिवेशसे शून्य देखता है। भक्तके लिए सृष्टि प्रभुका लीला-विलास है और ज्ञानी इसे मायामात्र देखता है। भक्त प्रभुको ही अपने सत्य संकल्पसे प्रपंच रूपमें भासमान देखता है और ज्ञानी इसका निरास करके केवल तत्त्वपर ही दृष्टि रखता है। तथापि सृष्टिका भास हो

अथवा निरास, मूलभूत तत्त्व तो एक ही है। वह एक ही तत्त्व भक्तकी दृष्टिमें सगुण है और ज्ञानीकी दृष्टिमें निर्गुण। इसका भी एक विशेष कारण है। भक्तका आरम्भसे ही भगवान्से सीधा संबंध होता है और गुणमय प्रपंच उन्हींका लीला-विलास होनेके कारण तत्त्वतः उनसे अभिन्न है। अतः भक्तके लिए भगवान् सगुण हैं और ज्ञानी गुणमय प्रपंचका बाध करके उनमें प्रतिष्ठित होता है, इसलिए उसके लिए वे निर्गुण हैं। परन्तु वे स्वतः न सगुण हैं न निर्गुण। सगुणता-निर्गुणता तो उनमें इन्हींके द्वारा आरोपित हैं। वे स्वतः क्या हैं? यह तो वे ही जानें।

●

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।।
यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन ।।

—गीता ४।६-९

यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, आत्मस्वरूपमें अव्यय (अविनश्वर) हूँ, सभी भूतोंका ईश्वर (स्वामी) हूँ, फिर भी निजी प्रकृति पर अधिष्ठित होकर अपनी आत्म-मायाके द्वारा जन्मग्रहण करता हूँ।

जब जब धर्ममें ग्लानि आ जाती है और अधर्मका उत्थान हो जाता है, तब तब मैं जन्म लेता हूँ।

सज्जनोंका उद्धार करनेके लिए और दुर्जनोंका नाश करने तथा धर्म स्थापन करने लिए मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

इस तरह जो मनुष्य मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको तत्त्वतः (यथार्थ रहस्यके साथ) जानता है, वह शरीर छोड़ देनेपर फिरसे जन्म नहीं लेता, वह मेरे पास आता है।

गीताके विषाद योगका मनोवैज्ञानिक अध्ययन

डा० कन्हैयालाल सहल

[कुरुक्षेत्रके युद्ध-स्थलमें मिथ्या मोह एवं आत्म-दयाके साथ अर्जुन विषादके वशीभूत हो गया जो एक अप्रिय संवेग है। आशा, हर्ष, प्रेम, साहस, हास आदि प्रिय संवेग हैं तथा क्रोध, भय, घृणा, चिन्ता, निराशा, विषाद आदि अप्रिय संवेगोंके अन्तर्गत आते हैं। इन अप्रिय संवेगोंका हमारे शरीर और मनपर क्या हानिकारक प्रभाव पड़ता है—यह आप नीचे पढ़िए।]

अपने ही बन्धु-बान्धवोंको युद्धमें समुपस्थित देखकर अर्जुन जैसे प्रसिद्ध योद्धाके हाथसे गांडीव धनुष छूट गया और उसका मस्तिष्क चक्कर खाने लगा। प्रश्न यह है कि क्या अर्जुन कौरवोंकी विशाल वाहिनीको देखकर भयभीत हो गया था? अर्जुन जैसे धनुर्धर-के सम्बन्धमें यह शंका नहीं की जा सकती। वस्तुस्थिति यह है कि अर्जुन अपने सम्बन्धियों-को मारना नहीं चाहता। अपने ही चचा, भाई-भतीजों आदिकी हत्या वह कैसे कर डाले? उसने इस बातको स्वीकार किया भी है—'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ?" यदि अर्जुनको किसी अन्य शत्रुसे मुकाबला करनेके लिए भेजा जाता तो वह अवश्य बड़े हर्ष-पूर्वक युद्ध करनेके लिए चला जाता, उसपर रणोन्माद छा जाता, हर्षसे उसकी छाती फूल जाती। तब वह युद्धकी बुराइयोंका उपदेश भी किसीको नहीं देता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गीताके प्रथम अध्यायमें जितने थोड़े शब्दोंमें युद्धकी अधिक-से-अधिक हानियाँ दिखलाई गई हैं, वे शायद ही इस रूपमें अन्यत्र वर्णित हुई हों। वस्तुतः हमारा हृदय जो चाहता है, उसीका समर्थन मोहवश हम करने लगते हैं। हृदयकी अदम्य इच्छाके सामने बुद्धिका कुछ वश नहीं चलता, वह भी हाँ में हाँ मिलाने लगती है। मनोविज्ञानकी भाषामें 'युक्तीकरण' (Rationalisation) के नामसे प्रसिद्ध है। कामायनीके यशस्वी कवि श्रीजयशंकरप्रसाद-ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको निम्नलिखित रूपमें प्रकट किया है—

"बन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर,
पुष्टि हुआ करती है

बुद्धि उसी ऋणको सबसे ले
सदा भरा करती है।
मन जब निश्चित-सा कर लेता,
कोई मत है अपना
बुद्धि दैव बलसे प्रमाणका
सतत निरखता सपना।"

ऊपरके उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि 'स्व'की भावनासे अभिभूत होनेके कारण हम उचित निर्णय नहीं कर पाते। अर्जुनके तर्कोंका भी मूल स्वर यही है 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ?' अपने ही लोगोंको मौतके घाट उतारकर हम कैसे सुखी होंगे ?

अर्जुनके मनमें विषादने कैसे घर किया, यह विचारणीय है। जब कौरवोंकी ओरसे शंख बजाये गये और युद्धारम्भकी सूचना दी गई, तब श्वेत घोड़ोंवाले बड़े रथमें विराजमान कृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शंख बजाये। अर्जुनने अपना देवदत्त शंख बजाया जो उसे पाण्डव-दाहके समय अग्निसे प्राप्त हुआ था। कपिध्वज अर्जुनने शस्त्र-प्रहार प्रारम्भ होनेके समय अपना धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे कहा कि हे अच्युत ! इन दोनों सेनाओंके बीच मेरा रथ खड़ाकर दीजिये जिससे युद्धार्थ मैं खड़े हुए लोगोंको देख लूं। दुष्ट बुद्धि दुर्योधनका हित चाहने वाले जो इस युद्धमें आये हैं, मैं देख रहा हूँ, उन सबसे युद्ध होगा ही।

जब भगवान्ने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ाकर दिया तो अर्जुनको वहाँ सब अपने ही बान्धव दिखलाई पड़े। उसका युद्धोत्साह जाता रहा, वह कृपासे आविष्ट हो गया और विषादयुक्त होकर भगवान्से कहने लगा—"अपने स्वजनोंको युद्धमें खड़ा देखकर मेरे शरीरके अवयव टूटसे रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, शरीर काँपने लगा है, सब रोम खड़े हो गये हैं, गाण्डीव हाथसे छूटा पड़ता है, सब शरीरकी त्वचा मानो जला रही है। मैं तो खड़ा भी नहीं रह सकता। मेरा मन चक्कर-सा खा रहा है। मुझे चारों ओर बुरे-बुरे शकुन दिखलाई पड़ रहे हैं। युद्धमें अपने लोगोंको मारकर मैं कोई कल्याण नहीं देखता। बड़े खेदकी बात है कि केवल राज्य-सुखके लोभसे हम इतना बड़ा पाप करनेको उद्यत हो गये, केवल राज्यसे थोड़ा सुख प्राप्त करनेके लोभसे हम अपने बान्धवोंको मारनेके लिए तैयार हो गए।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयं।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

अर्जुन जिस कृपाके वशीभूत होकर युद्धसे पराङ्मुख हो रहा है, वह कृपा वस्तुतः सच्ची कृपा नहीं है। इसके मूलमें स्वार्थवृत्ति है, जिसके कारण वह ऐसा कार्य करनेसे हिचकता है, जिसमें उसे अपने ही लोगोंको चोट पहुँचानी होगी। वह एक आत्मकृपाकी भावुकतापूर्ण मनोवृत्तिके कारण पीछे हटना चाहता है। यह कृपा उसके आध्यात्मिक विकास या सत्वगुणकी प्रधानताका परिणाम नहीं है, अपितु अज्ञान और वासना अथवा तमोगुणकी उपज है। जिस कृपाके वशीभूत होकर वह अपने नियत कर्त्तव्यका त्याग करना चाहता है, वह त्याग तामसिक ढंगका त्याग है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।
(१८।७)

अर्थात् नियत कर्मका त्याग उचित नहीं है । मोहसे यदि उसका परित्याग कर दिया जाय तो यह त्याग तामस कहा जायगा । अर्जुनके हृदयमें जो दया और अहिंसाकी भावना जगी है, उसका कारण यह नहीं है कि वह आध्यात्मिक विकासकी उस स्थिति तक पहुँच गया है जहाँ करुणा और मानवीय प्रेम व्यक्तित्वका सहज अंग बन जाता है । यह वस्तुतः मोहका परिणाम है जिसके कारण राजस प्रवृत्ति वाला अर्जुन 'तामस त्याग और वैराग्य'की ओर उन्मुख हो रहा है ।

उक्त मिथ्या आत्म-दयाके साथ-साथ अर्जुन विषादके वशीभूत हो रहा है जो एक अप्रिय 'संवेग' है । आशा, हर्ष, प्रेम, साहस, हास आदि प्रिय संवेग हैं तथा क्रोध, भय, घृणा, चिन्ता, निराशा, विषाद आदि अप्रिय संवेगोंके अंतर्गत आते हैं । अप्रिय संवेगोंका हमारे शरीर और मनपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है । उदाहरणके लिए एक अप्रिय संवेग क्रोधको लीजिये । डा० एल. पी. वर्माके मतानुसार क्रोधका निम्नलिखित प्रभाव पड़ता है—

१. पाचन-क्रिया रुक जाती है ।

२. अन्तड़ियाँ सिकुड़ जाती हैं ।

३. हृदयकी गति तीव्र होकर ८०° से १८०° तक हो जाती है ।

४. रक्तचाप जो साधारणतः १२०° रहता है, १३०° हो जाता है ।

५. कभी-कभी अत्यधिक क्रोधसे मस्तिष्ककी रक्त-कोशिकाएँ फट जाती हैं । हृदयकी छोटी-सी रक्त-कोशिका जिसे 'कोरोनरी आर्टरी' कहते हैं और भी छोटी हो जाती है जिसके परिणाम-स्वरूप क्रोधी व्यक्ति कभी-कभी अपनी जानसे भी हाथ धो बैठता है । जान हंटर नामक एक चिकित्सकके लिए कहा जाता है कि उसे खराब कोरोनरी आर्टरीके साथ-साथ क्रोधी स्वभाव भी मिला था । एक दिन एक विद्यार्थीने कुछ बेतुके सवाल उससे पूछे जिससे वह क्रोधसे अभिभूत हो गया और उसकी इहलीला समाप्त हो गई ।

जब हनुमानने लंका जला दी तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई कि क्रोधके कारण मुझसे बड़ा अनर्थ हो गया । लङ्का जब भस्मीभूत हो गई तो जानकी भी अवश्य जल गई होंगी । मैं स्वामिघातक हूँ, अब मेरे जीवित रहनेसे भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? वे पुरुषश्रेष्ठ धन्य हैं जो उठे हुए क्रोधको बुद्धिबलसे रोक लेते हैं । जो ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिए क्रोध बड़ा घातक है ।

क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ।।
(५।५५।४)

वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् ।।
(५।५५।५)

क्रुद्ध मनुष्य कौनसा पाप नहीं कर डालता ? हो सकता है कि क्रुद्ध व्यक्ति गुरुओंकी भी हत्या करदे ! क्रुद्ध पुरुष अपनी कठोर वाणीसे साधुओंकी भी निन्दा करने लगता है। कुपित होनेपर उसके लिए वाच्यावाच्यका विचार नहीं रह जाता ; क्रुद्धके लिए न कहीं कुछ अकार्य है और न कहीं कुछ अवाच्य।

क्रोधकी ही भाँति एक दूसरा अप्रिय संवेग है विषाद, जिसका गीताके प्रथम अध्यायमें चित्रण हुआ है। विषादके शारीरिक प्रभावोंकी दृष्टिसे अर्जुनकी निम्नलिखित उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं:—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ (२९)

गाण्डीवं संस्रते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ (३०)

पारिभाषिक शब्दावलिका आश्रय लेकर कहें तो कह सकते हैं कि अंगोंका ढीला पड़ना, मुँहका सूखना, शरीरका काँपना, रोंगटोंका खड़ा होना, हाथसे गांडीव धनुषका फिसलना और खड़ा न रह सकना—ये सब 'विषाद' नामक संवेगके 'अनुभाव' हैं।

अर्जुनका यह कथन भी मुझे बुरे-बुरे शकुन दिखलाई पड़ रहे हैं, उसके हृदय दौर्बल्यका द्योतक है:—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ (३१)

यद्यपि पुष्पिकामें गीताके प्रथम अध्यायको 'विषाद योग' का नाम दिया गया है तथापि इस विषादके साथ-साथ वह भय भी मिला हुआ है जो स्वजन-वध-जन्य विचार मात्रसे उद्भूत हुआ है। अर्जुनका यह भय कौरवोंकी विशाल सेनाको देखकर उत्पन्न नहीं हुआ है। आयुर्वेदके विद्वानोंका कहना है कि भय और शोकके लक्षणोंका पूर्ण चित्रण ऊपरके श्लोकोंमें हुआ है।

राजस्थानके प्रसिद्ध कवि बाँकीदासने कहा है कि शूरवीर न तो जन्मपत्र देखता है और न शकुन-अपशकुनका ही विचार करता है।† निश्चय ही अर्जुन भी यदि स्वजनों-को छोड़कर अन्य शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिए जाता तो अपशकुनोंकी बात नहीं करता किन्तु आज तो वह यह समझता है कि इससे बड़ा अपशकुन और क्या होगा कि स्वजन ही उससे लड़नेके लिए रणभूमिमें एकत्र हुए हैं। और तो और, भीष्म और द्रोणाचार्यसे वह कैसे युद्ध करे ? वे तो पूजाके योग्य हैं, युद्धमें लड़नेके योग्य नहीं। गुरुओंकी हत्याकी अपेक्षा तो भीख माँगना अच्छा ! गीताकारने अर्जुनकी आत्म-कृपा, उसके भय, उसके विषाद और उसकी दुविधाका मार्मिक चित्रण किया है।

---

† सूर न पूछै टीपणी, सकुन न देखै सूर।
मरणा नूँ मंगल गिणै, समर चढ़ै जद नूर ॥

अर्जुनके मुखसे 'भ्रमतीव च मे मनः' कहलवाकर गीताकारने उक्त विषादके मानसिक प्रभावका सूत्र रूपमें पूर्ण चित्रणकर दिया है। अर्जुनका मन क्यों चक्कर खा रहा है, इसका प्रमुख कारण यह है कि ऐसे तनावकी स्थितिमेंसे गुजर रहा है कि अपना कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर पाता, वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। उसकी दृष्टिमें इस किंकर्तव्यविमूढ़ताका कारण है उसके स्वभावका कार्पण्य अथवा दीनताके दोषसे उपहत होना। डा० राधाकृष्णन्के शब्दोंमें "अर्जुन केवल निराशा, चिन्ता या संशयसे प्रेरित नहीं है, अपितु वह निश्चयके लिए तीव्र इच्छासे भी प्रेरित है। अपनी अविवेकशीलताको अनुभव करना व्यक्तिका विकासकी ओर आगे बढ़ना है। अपूर्णताकी सजग अनुभूति इस बातकी द्योतक है कि आत्मा सचेत है और जब तक वह सचेत है, वह सुधर सकती है, जैसे कि जीवित शरीर किसी जगह चोट खा जाने या कट जानेपर फिर स्वस्थ हो सकता है। मानव-प्राणी पश्चात्तापके संकटकालमें से गुजरकर उच्चतर दशाकी ओर बढ़ता है।

जिज्ञासुओंका यह सामान्य अनुभव है कि वे जब प्रकाशकी देहलीपर खड़े होते हैं, तब भी वे संशयों और कठिनाइयोंसे ग्रस्त रहते हैं। जब प्रकाश किसी आत्मामें चमकना शुरू होता है, तो वह उसके प्रतिरोधके लिए अन्धकारको भी बढ़ावा देता है। अर्जुनके सामने वाह्य और आन्तरिक कठिनाइयाँ, उदाहरणके लिए संबन्धियों और मित्रोंका प्रतिरोध, संशय और भय, वासनाएं और इच्छाएँ विद्यमान हैं। इन सबको वेदीपर बलि कर देना होगा और ज्ञानकी आगमें भस्म कर देना होगा। अन्धकारके साथ संघर्ष तब तक चलता रहेगा, जब तक व्यक्तिका सम्पूर्ण अपनापन प्रकाशसे न भर उठे। दीनताके बोझसे दबा हुआ, क्या सही है और क्या गलत, इस विषयमें दुविधामें पड़ा हुआ अर्जुन अपने गुरुसे, अपने अन्दर विद्यमान भगवान्से प्रकाश और पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना चाहता है। जब किसीका संसार नष्ट हो रहा हो, तब वह केवल अन्तर्मुख होकर भगवान्की असीम दयाके रूपमें ज्ञानकी खोज कर सकता है।

अर्जुन किसी अर्थविद्याकी माँग नहीं करता, क्योंकि वह ज्ञानका अन्वेषक नहीं है। वह तो एक कर्मशील मनुष्य है; इसलिए वह कर्मका विधान जानना चाहता है। वह अपना कर्तव्य जानना चाहता है। वह जानना चाहता है कि उसे इस कठिनाईके अवसरपर क्या करना है। "स्वामी, तुम मुझसे क्या करनेकी अपेक्षा रखते हो ?"

अर्जुनकी भाँति साधकको अपनी दुर्बलता और अज्ञानको अनुभव करना होगा और फिर भी उसे परमात्माकी इच्छाके अनुसार कार्य करने, और वह इच्छा क्या है, इसे खोज निकालने के लिए कटिबद्ध होना होगा।"[१]

---

१. श्री विराज एम० ए० द्वारा अनूदित।

एक शौर्यप्रद बोधकथा

शत्रु-मित्र

श्रीनरेशचन्द्र मिश्र

चीनका शासक गंधर्वराज चित्रसेनको अपने कूट कौशलसे जितना प्रेम था उतनी ही आर्य संस्कृतिसे घृणा भी थी। कौरव-पाण्डवोंके बढ़ते वैमनस्यसे लाभ उठाकर वह दल बल सहित हिमालयकी सीमान्त उपत्यकाओंमें उपद्रव मचा रहा था। उसके सैनिक छल कपटसे आर्योंको बन्दी बना लेते और उन्हें शरीरपर चित्र अंकित कराने तथा अश्लील नृत्य करनेको विवश किया जाता। चित्रसेन आर्योंकी इस विडम्बनामें अपनी विजय मानता था।

इन्हीं दिनों अज्ञातवास व्यतीत करनेके लिए पाण्डव हिमालय गए। दुर्योधन और धूर्त शकुनि भी पाण्डवोंको ढूंढते हुए वहाँ पहुँचे। एक दिन उनकी दृष्टि भीमसेनपर पड़ी। वृकोदर भीम अपना विशाल शरीर सम्हालते गिरि कन्दराओं और उपत्यकाओंमें छिपते भागे। किन्तु दुर्योधन और शकुनिने उनका पीछा न छोड़ा। भागते हुए भीम एक सरोवरके निकट कन्दरामें जा छिपे। दुर्योधन और शकुनि वहाँ पहुँचे ही थे कि गन्धर्व चित्रसेन भी सैनिकों सहित सरोवर-तटपर आया। दुर्योधनको देखते ही वह उसपर टूट पड़ा और शकुनि समेत उसे बाँधकर अपने शिविरमें ले गया।

सरोवर-तट सूना हो गया तो भीमसेन कन्दरासे निकले और तीव्रगतिसे गुप्तवासकी ओर भागे। युधिष्ठिरने उन्हें देखकर दूरसे ही पूछा। "तुम कहाँ चले गये थे भीमसेन, हम तुम्हारे लिए चिन्तित थे।"

भीमसेनने अट्टहास किया, "आज तो मैं अतीव प्रसन्न हूँ आर्य ! अनायासही शत्रुकी विडम्बना हो इससे शुभ समाचार और क्या हो सकता है ?"

उन्होंने युधिष्ठिरसे दुर्योधनके बन्दीहो जानेका समाचार सुनाया। धर्मराजके मुखमण्डल पर चिन्ताकी घटाएँ घिर आयीं, "शोक है भीमसेन, तुम्हारे मनमें ऐसी अधर्म भावना क्यों भर गयी। तुम भूल गये कि कौरवोंके विरुद्ध हम केवल पाँच हैं, किन्तु विदेशी, विधर्मी चित्रसेनके विरुद्ध हम एकसौ पाँच हैं। दुर्योधन हमारा भाई है। वह आर्य संस्कृतिका प्राण, भरतखण्डका छत्रधारी सम्राट है। शत्रु शासक उसके शरीरपर दासताके चिह्न अंकित करेगा तो यह हम सबका पराभव होगा।"

धर्मराजका अनुपात देखकर भीमकी सारी प्रसन्नता लुप्त हो गयी। पाण्डवोंने शस्त्र उठाये और उसी क्षण जाकर चित्रसेनसे दुर्योधनकी मुक्ति करायी।

गीताका सामाजिक विश्लेषण

डा० दुर्गादत्त मेनन

[पूर्णपुरुष श्रीकृष्णकी गीता, मानव-मात्रको जीवनी शक्ति और एक सबल जीवन-प्रणाली देने वाली है। उसके एक-एक शब्दमें समता और कर्मठता का संगीत परिव्याप्त है। प्रस्तुत निबंधमें गीताकी एक सुन्दरतम समीक्षा का आनन्द लीजिये।]

विश्वके क्रान्तिकारी अग्रणी नेता भगवान् श्रीकृष्णके परम पावन जीवनका एक क्षण भी ऐसा नहीं जब आपने कोई न कोई विशिष्ट कार्य न किया हो। शैशवसे लेकर अन्तिम लीला-संवरण तक उन्होंने अपने जीवनको प्रत्येक पल विश्व-जनीन कल्याणके लिये सतत व्यस्त रखा। भगवान्का संदेश किसी विशेष समाज, किसी नियमित क्षेत्र, किसी सीमित राष्ट्रके लिये न होकर मानव मात्रके लिये था। उनका यह सार्वभौम सन्देश प्रेरणा और प्रोत्साहनका मधुर आवाहन होकर मानव-मात्रकी अक्षुण्ण प्रगतिका चिरन्तन अग्रदूत बना रहेगा।

श्रीकृष्णके जीवनका छोटासा प्रतिबिम्ब हमें आपके अमर सन्देश भगवत्-गीतामें स्पष्ट दिखाई देता है। गीताकी अमृत वाणी जीवनकी अमूल्य उपलब्धियों, मान्यताओं एवं संभूतियोंका निचोड़ है।

मानवका जीवन संघर्ष प्रतिद्वन्द्विता अदम्य महत्त्वाकांक्षा, दंभपूर्ण विडंबना निराशा, विभीषिका, अनेक प्रकारकी कुण्ठायें, वितृष्णा एवं पङ्किल अनुभूतियोंकी विषम क्रीड़ा स्थली है। मानव अपने बनाये हुए ताने-बानेमें आप ही उलझता रहता है। उसकी अनेक-मुखी समस्यायें उसके जीवनको अत्यन्त कटु एवं विषादमय बनाती जाती हैं। पर वह मरु मरीचिकाको ही मन्दाकिनीकी पीयूषधारा समझकर अपने जीवनको नष्ट करनेपर तुला रहता है। वह अपनी अशोभन धारणाके कारण जीवनके शुक्लपक्षको कृष्णपक्षमें परिवर्तित करता जा रहा है। वह जीवनके ऐसे चौराहेपर खड़ा है, जहां उसे अपना मार्ग

भूल गया है। वह विष-वल्लरीको देवताओंका निर्माल्य समझकर अपने गलेका हार बना रहा है। वह जीवनके उस उत्तुंग शिखरपर आँखें बन्द करके खड़ा है, जहाँ उसका सर्वनाश निश्चित है।

संसारके आरंभसे लेकर जब मानवने विश्वके धरातलपर अपनी माताकी क्रोड़में आँखें खोलीं तभीसे उसकी बहुमुखी समस्याओंका सूत्र-पात हुआ। जीवनकी प्रगतिके साथ ही साथ वे समस्यायें और भी जटिल होती गईं। उनके समाधानोंके लिए शास्त्र और दर्शनोंका आविर्भाव हुआ, पर वे एक दूसरेके विचारोंका खण्डन-मण्डन करते हुए किसी भी एक निश्चित तथ्यपर न पहुँच सके।

विश्वके प्रत्येक देशमें कोई न कोई युग-मानव अवतरित हुए उन्होंने अपने-अपने सन्देशोंसे विश्वकी कलुषताका विनाश करना चाहा। अनेकोंने कई प्रकारके दावे किये। जन साधारणको अपने पीछे भेड़-बकरियोंके समान चलनेका उपदेश दिया। इस धरातल पर स्वर्गका राज्य स्थापित करनेका प्रलोभन दिया। परन्तु वह मानवसे दानव ही बनता चला गया। उसने प्राकृतिक शक्तियोंपर विजय पाकर कई प्रकारके चमत्कारिक वैज्ञानिक अनुसंधान किये, परन्तु वह अपने आपको न जीत सका। वह अपने प्रच्छन्न रूपमें चाहे कितना भी शिष्ट और सौम्य प्रतीत होता हो, परन्तु दम्भपूर्ण नीहारिकाके हट जानेपर वह वन्य पशुओंसे भी अधिक क्रूर एवं हिंस्र दिखाई देता है। मानव अब पतनकी पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है। वह समय दूर नहीं जब उसकी अपनी उपलब्धियाँ ही उसके विनाशका कारण होंगी।

मानवके पतन और उत्थानकी पुनरावृत्ति ही विश्वका सार्वजनीन एवं सर्वकालीन इतिहास है।

भगवान् श्रीकृष्णने जब अवतार लिया, उस समय भी जो समस्यायें मानवको दानव बनानेपर तुली हुई थीं, वही अब भी हमारे समक्ष विद्यमान हैं। क्या अन्यायको न्यायकी तुलापर तोलने वाले दुर्योधन आजकल हममें नहीं हैं? क्या नारीको वासनाका उपकरण मात्र समझकर भरे समाजमें उसका अनावरण करने वाले व्यक्ति हममें नहीं पाये जाते?

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने गीताके अठारह अध्यायोंमें मानवकी इन अठारह प्रकारकी समस्याओंका बड़ा ही सुन्दर समाधान उपस्थित किया। मानवकी समस्याओंकी संख्या अठारहसे अधिक भी हो सकती हैं, परन्तु इन १८ में ही इन सबका अन्तर्भाव हो सकता है।

प्रथम अध्यायका नाम 'अर्जुन विषाद योग' है। यह मानवकी उस समस्याका उल्लेख करता है जो कर्त्तव्य पालनके समयमें प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें सहसा अंकुरित हो जाती है। मानव किसी बातको ठीक जानकर भी उसकी पुष्टि या समर्थन नहीं करता। मिथ्या विडंबनाके वशीभूत होकर वह अपने कर्तव्य पथसे फिसल जाता है। उसका मन उसे आगे धकेलता है, पर शरीर निरस्त होकर पीछेकी ओर भागता है। इस मन बुद्धि और शरीरके द्वन्द्वमें वह अपना मार्ग भूलकर राज मार्गको छोड़कर तमिस्त्राच्छन्न गलियोंमें विषाद और कृपणताके आँसू बहाता हुआ, प्रज्ञावादके नामसे अपनी कायरताको उज्ज्वल रूप देने

का प्रयास करता है। इस समयका मानव अर्जुनके समान थोथे दार्शनिक चिन्तनोंकी परिधि-के पीछे मोर्चा बनाकर उसमें बैठकर आरामकी साँस लेता है। वह कभी धर्म, कभी समाज कभी मानवता, कभी वर्णसंकरता, कभी नारी कल्याणकी दुहाइयाँ देता है और अपने पापको पुण्यका रूप देनेका प्रयत्न करता है।

द्वितीय अध्यायमें इस समस्याका समाधान भगवान् प्रतारणाके कठोर स्वरोंमें करते हैं। पहले आप मानवकी इस विषादमयी किंकर्तव्यविमूढ़ताको मानसिक नपुंसकता कहकर उसे लज्जित करते हैं और फिर उसे अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सर्वस्व बलिदानकी शिक्षा देते हैं।

शारीरिक युद्ध अपने शत्रुओंके साथ होता है। मानसिक युद्ध अपने हृदयमें पनपने वाली आसुरी वृत्तियोंसे होता है। दोनों अवस्थाओंमें ही युद्धसे घबरानेवाला अपमानित होता है।

यदि अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये युद्ध करना पाप है तो धर्म और न्यायके लिये कट मरनेसे बढ़कर कोई पावनतम कर्म नहीं।

इसी अध्यायमें धर्मयुद्धकी अनिवार्यताका उल्लेखकर भगवान् मानवकी दूसरी समस्या ज्ञान और कर्मकी समन्वयता का उल्लेख करते हैं।

सांख्य अर्थात् बुद्धिके द्वारा कर्त्तव्यका विवेचन और कर्म अर्थात् उस विवेचन को क्रियात्मक रूपमें परिवर्तित करना ये दो पृथक् मार्ग नहीं, वास्तवमें एक ही हैं। सांख्य की परिनिष्ठा, बुद्धि की व्यावसायात्मिकता (एक निष्ठा) में है और कर्मकी परिणति अनासक्ति में है।

ज्ञान और कर्मकी समस्या मानवके आगे सीधी दीवार बनकर खड़ी रही है। भगवान्ने इस समस्याका कितना सुन्दर एवं पूर्ण समाधान यहाँ किया है।

तृतीय अध्यायका नाम कर्मयोग है। कर्म करना अच्छा है, वह भी यदि अनासक्तिकी भावनासे किया जाये तो उसमें सफलताके लिए पूरी गुंजायश रहती है। परन्तु प्रश्न अब यह उत्पन्न होता है कि कौन-सा कर्म अच्छा है? कौन-सा बुरा है? कौन-सा अनावश्यक है? इन सभी समस्याओंका समाधान भगवान् केवल एक ही शब्दमें दे देते हैं। यज्ञके लिये ही कर्म करो। यज्ञ क्या है? इसका स्पष्ट उत्तर है—लोकसंग्रह, लोकमंगल, जनता-जनार्दन, अर्थात् दरिद्रनारायणकी सेवा।

चतुर्थ अध्याय—ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग विषयकहै। कर्मकाण्डके जटिल क्रिया कलापमें फँसा हुआ मानव कभी ऊब उठता है। उसके अन्तरात्मासे आवाज उठती है, हे भोले अर्जुन! तुम जिसे कर्मकाण्ड कहते हो; तुम जिसे यज्ञ कहते हो, उन्हें लकीरके फकीर बनकर ही करते जाओगे या उनकी आन्तरिक भावनाको भी समझोगे। क्या तुम बिना लालटेनके अंधकारमें लाठीके सहारे ही अपना मार्ग ढूंढते रहोगे? क्या तुम्हें प्रकाशकी आवश्यकता होगी? भगवान्ने स्मेरमुखसे मानवके इस भ्रमको ज्ञानका सूर्य जलाकर नष्टकर दिया। बिना ज्ञानके कोरा कर्म बिना सारथीके रथके समान है। ज्ञानके समान कोई पवित्र वस्तु नहीं। यह

प्रबोध गुरुओंकी सेवा और परिप्रश्नोंसे प्राप्त होता है। श्रद्धा और विश्वासकी वैसाखीके सहारे ज्ञानका संबल पनपता है।

पंचम अध्याय—कर्म-संन्यास योग विषयक है। भारतमें ही नहीं अपितु पश्चिमीय जगत्में एक ऐसी समस्या उठ खड़ी हुई, जिसका समाधान ज्ञान और कर्मके सन्दर्भमें आवश्यक प्रतीत होता है। गृहस्थ, परिवार, समाज और राष्ट्रकी सीमाओं एवं मर्यादाओंकी रक्षा करनेवाला व्यक्ति श्रेष्ठ है अथवा कर्मोंका त्यागकर जंगलमें परिव्राजक बनकर धूनी रमानेवाला संन्यासी श्रेष्ठ है? क्या आजन्म अविवाहित रहनेवाला रोमन कैथोलिक पादरी श्रेष्ठ है अथवा ईसाई मतके लिये धर्मयुद्ध करनेवाला सैनिक श्रेष्ठ है? लीलावतार भगवान्ने इसका क्या ही सुन्दर समाधान दिया। आपने कहा निष्कर्मण्यता सब अनर्थोंकी जड़ है। शरीर यात्राके निर्वाहके लिये कुछ-न-कुछ तो अवश्य ही करना पड़ता है। वाह्यरूपसे कर्मोंका परित्याग करनेवाले परन्तु आभ्यन्तरसे कर्मोंमें लीन होनेवाले व्यक्ति समाजके लिए विषैले कीटाणु होते हैं। इन्हें शास्त्रीय भाषामें मिथ्याचारी कहा जाता है। अपने भाग्यकी डोर भगवान्के हाथमें देकर अपने कर्त्तव्यका पालन करता हुआ एक सैनिक, एक धर्मध्वजी, पाखण्डी से हजारगुना अच्छा है।

छटा अध्याय—आत्म संयम विषयक है। योग क्या है? उसके कितने रूप हैं? योग-की प्रतिष्ठा मानवके हृदय-मन्दिरमें कैसे की जा सकती है? इन सारे प्रश्नोंका समाधान भी विश्वमें शान्तिकी स्थापनाके लिए आवश्यक है। इस अध्यायमें भगवान्ने भारतीय योग पद्धतिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आपने पूर्ण योगीको सबसे श्रेष्ठ कहा है। योगकी सिद्धावस्थाकी प्राप्तिके लिए प्राणायामसे लेकर समाधि-अवस्था तक, जो-जो साधन प्रयुक्त किये जाने चाहिये, उनका यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

योगके दो विभिन्न रूप हैं। एक व्यावहारिक—जिसके द्वारा 'समत्वं योग उच्यते' एवं 'योगः कर्मसु कौशलम्' इन दो भावोंकी अभिव्यक्ति होती है। दूसरा उसका आध्यात्मिक रूप है, जिसका परीक्षण पाण्डीचेरीके आश्रममें श्रीअरविन्द घोष द्वारा किया गया। पहले रूपमें पूर्णता पाकर ही दूसरे रूपको जाना जाता है।

पश्चिमीय जगतमें भी आजकल भारतीय योग पद्धतिका अध्ययन और परीक्षण किया जा रहा है। इसे सभी प्रकारके शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक अक्षमताओंके निवारण-का एकमात्र साधन माना जाता है। श्रीकृष्ण भगवान्का यह योगका सन्देश सारे विश्वकी समस्याओंको सुलझानेका एक अत्यन्त सफल भेषज मन्त्र है।

पहले छः अध्यायोंमें शारीरिक मानसिक एवं बौद्धिक समस्याओंके समाधान प्रस्तुत कर अब भगवान् आगे छः प्रकारकी आध्यात्मिक समस्याओंके समाधान बताकर साधकका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

सातवाँ अध्याय—ज्ञान-विज्ञान योग विषयक है। मानव रात-दिन समस्याओंसे संघर्ष करता रहता है पर उसे सफलता फिर भी नहीं प्राप्त होती। वह भगवान्की भक्तिमें सतत नतमस्तक होता है परन्तु उससे भगवान् दूर ही होते जाते हैं। वह शुभ कर्म करता है परन्तु

उनके परिणाम अशुभ होते हैं। अन्तमें मानव इस रात-दिनकी विफलताओंसे पराभूत होकर भगवान्में अपना विश्वास खोकर नास्तिक हो जाता है। वह भगवान्की प्रत्येक वस्तुमें विषमता और अनियमितता पाता है। इस प्रकार अनेकों समस्यायें विकराल होकर उसके समक्ष आ जाती हैं।

इनका समाधान केवल भगवदर्पण ही है। भगवान् कहते हैं कि तुम मेरे ऊपर भरोसा करके जो कुछभी करो उसे मेरे समर्पण करो। तुम्हारा दायित्व यहीं समाप्त हो जाता है। अब मेरा काम है कि मैं तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम्हें लक्ष्य-विन्दु पर पहुँचाऊँ। न जाने विश्व-के लोग इस रामअमोघ औषधका क्यों सहारा नहीं लेते? सच्चे मनसे भगवान्का नाम स्मरण करो। सब बाधायें, अपने आप ही दूर हो जायेंगी।

आठवाँ अध्याय—अक्षर-ब्रह्म योग विषयक है। इस अध्यायमें भगवान्के वास्तविक स्वरूपको लेकर अर्जुनने प्रश्नरूपी बाणोंकी बौछार करदी है। भगवान् क्या हैं? उनका स्वरूप कैसा है? यह मुख्य प्रश्न है और उसीको जाननेके लिए छह प्रश्न किये गये हैं।

अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत क्या है? अधिदैव किसे कहते हैं? इस देहमें अधियज्ञका कौनसा प्रतिष्ठान है? और अन्तमें योगी उसे कैसे जान जाते हैं? भगवान्के समक्ष अब अर्जुनका वास्तविक जिज्ञासु रूप आ गया। वह प्रश्न करता नहीं थकता और भगवान् उत्तर देते नहीं थकते। वे कहते हैं साधकके मनमें जिज्ञासाको मैंने जगा दिया है। अब वह मेरे इङ्गितको पहचानता है। पर अभी वह अंगुली पकड़कर ही चलना चाहता है। अपने पैरोंके बलपर आगे बढ़ने में हिचकिचाता है। उसका समस्त जीवन शैशवसे अन्तकालतक उसके समक्ष मूल्यांकनके लिये खुला है। यदि उसने भगवान्को अपनेमें लीनकर लिया या वह स्वयं भगवान्में समा गया तो उसकी समस्यायें अपने आप नष्ट हो जाती हैं। इस अवस्थामें इन सात प्रश्नोंका समाधान केवल एक ही है। मुझे पहिचानो, मुझे स्मरण करो, मेरा नाम लो, बस भव सागारसे पार जानेका एक मात्र सेतु मेरा नाम है। 'नमो भगवते वासुदेवाय' यह पवित्र मन्त्र जपो। सब सिद्धियां स्वयं तुम्हारे चरण चूमेंगी?

नवम् अध्याय—राज विद्या, राजगुह्य योग विषयक है। श्रीविनोवाजीके कथना-नुसार गीता-रूपी शरीरका यह अध्याय मेरुदण्ड है। इसके सहारे गीताका सारा कलेवर खड़ा है। इसे राजविद्या, परम रहस्यमयी ब्रह्मविद्या एवं गुप्त ज्ञानकी अजस्र वाहिनी मन्दाकिनी कह सकते हैं।

इसमें मानवकी सभी समस्याओंका समाधान पाया जाता है। इसमें भगवान् साधकके हाथमें ऐसी मास्टर की पकड़ा देते हैं जिससे सारे अज्ञान दूर हो जाते हैं। उसे सब वस्तुयें प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है। सब कुछ उसके लिए हस्तामलक-सा हो जाता है।

यह राजविद्या क्या है? भगवान् बताते हैं पहले सारे विश्वकी विभूतियोंको जानो और फिर उनकी नियामक शक्तिको पहचानो। मैं ही इस विश्वकी गति, भर्त्ता, प्रभु-साक्षी निवास, शरण, प्रभव, प्रलय, आधार अव्यय बीज हूँ। मैं ही इस विश्वका पिता, पितामह

माता, मातामही हूँ। मैं पुकार-पुकार कर तुम्हें अपनी गोदमें बुलाता हूँ। तुम्हें अपना प्यार देना चाहता हूँ। पर तुम न जाने मेरे पास क्यों नहीं आते? यही है विश्वका और भगवान्की भक्तिका रहस्य। जो इसे जान जाता है वह भवसागरसे पार हो जाता है।

दशम अध्याय—विभूति योग विषयक हैं। आध्यात्मिक जिज्ञासा जब जाग्रत होती है वह तब तक शान्त नहीं होती जब तक कि वह अपने प्रियतमकी सभी प्रकारकी शक्तियों क्षमताओं और विभूतियोंको आत्मसात् नहीं कर लेती। इस अध्यायको विभूति योग कहा जाता है। इसमें भगवान् अपने श्रीमुखसे यह स्पष्ट कर देते हैं कि मुझे पानेकी इच्छा करने वालो, तुम मुझे तब तक नहीं पा सकोगे जब तक तुम मुझे विश्वके प्रत्येक पदार्थमें नहीं देखते। विश्वकी सभी सुन्दर वस्तुओंमें मैं विद्यमान हूँ, परन्तु असुन्दर वस्तुएँ भी मेरा ही रूप हैं। वास्तवमें सूक्ष्म दृष्टिसे यदि देखा जाय तो इस विश्वमें सभी कुछ सुन्दर है। इसी भावनासे कवि कालिदासने पार्वतीके मुखसे यह कहलाया 'न विश्व मूर्ते इव धार्यते वपुः।'

बस सब दर्शनोंका निचोड़ ये है कि भगवान्को सब वस्तुओं में देखो, उनका यथोचित उपयोग करो। सबमें समताकी भावना रखो और असुन्दरको सुन्दर जानकर उसे भगवान् का प्रतिविम्ब समझो।

ग्यारहवाँ अध्याय—विश्वरूप दर्शनयोग विषयक है—

नास्तिक कहते हैं कि यदि भगवान् हैं तो वे दिखाई क्यों नहीं देते? इसी प्रश्नका समाधान इस अध्यायमें किया गया है। गीताके उपदेशकी यह विशेषता है कि इसमें प्रत्येक अध्याय एक दूसरेका पूरक है। पहले अध्यायमें बीज रूपसे प्रश्न उठाकर दूसरे में उसका समाधान प्रस्तुत किया जाता है।

भगवान् ने कहा कि विश्वकी जो भी वस्तु विभूतिवाली है, जो श्री है, जो ऊर्जस्विनी है, वह मेरा ही रूप है। पर मानव इतना कहने से कब मानता है, वह तो जब तक किसी वस्तु को प्रत्यक्ष नहीं देख लेता, उसे विश्वास नहीं होता। भगवान् ने मानव की इस भावना को समझकर उसे अपने दोनों प्रकारके रूप दिखाये। एक भयंकर और दूसरा सौम्य। एक संहारक, विध्वंसक एवं हिंस्र, दूसरा विश्व सृष्टा, निर्माता एवं अत्यन्त कोमल रूप है।

वास्तवमें सारा विश्व ही भगवान्का रूप है। विश्व के विविध रूपों में उसीकी ज्योति भासमान है। यही विश्व रूप ही भगवान् का विराट रूप है। साधक इसे देखता-देखता अघाता नहीं।

बारहवां अध्याय—भक्तियोग विषयक है—

आध्यात्मिक राजमार्गपर जो मीलोंके पत्थर लगे हैं, उनमें बारहवाँ अध्याय लक्ष्य प्राप्तिका अन्तिम पाषाण चिह्न है। भक्ति क्या है? वह कैसे प्राप्त की जाती है? उसकी परिणति किसमें होती है, ये समस्यायें अब साधकके समक्ष नहीं आती। भक्त होनेपर वह भगवान्को अपने वशमें कर लेता है। उसका श्वास प्रश्वास, उसका प्रत्येक क्षण

अब भगवान्के धर्म्यामृतका पान करता है। यह अध्याय गीताका हृदय कहलाता है। भगवान्, भक्तके हृदयमें रहते हैं और भक्त भगवान्के हृदयमें। यह दो हृदयोंका मिलाप है, जो सभी प्रश्नोंका समाधान करनेमें समर्थ है।

तेरहवां अध्याय—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग विषयक —

इस तेरहवें अध्यायसे साधक फिर इस विश्वकी अन्य समस्याओंके समाधानकी ओर मुड़ता है। भगवान् इस अध्यायमें खेत और खेतके स्वामी वाला साधारण किसानों-का दृष्टान्त देकर एक गूढ़ पहेलीकी गुत्थी खोलते हैं। यह संपूर्ण विश्व ही क्षेत्र हैं और केवल भगवान् ही क्षेत्रज्ञ हैं; यह शरीर जो एक व्यक्तिके जीवन-यापनका साधन है वह भी क्षेत्र ही कहलाता है। परन्तु इन दोनोंके मध्यमें जो आत्मा है उसको भी तो जानना आवश्यक है। वह आत्मा कैसा है ? कैसे विकारों वाले क्षेत्रपर आधिपत्य करता है ? ज्ञान क्या है ? ज्ञाता कौन है ? ज्ञेय क्या है ? इत्यादि अनेकों प्रश्नोंका उत्तर इस अध्यायमें दिया गया है। इसमें सांख्यके २४ तत्त्वोंके साथ सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि ७ तत्त्वोंका समावेश कर विकारी क्षेत्रका चित्र चित्रित किया गया है एवं इस क्षेत्रसे ऊपर उठकर अमानित्वसे आरम्भ कर, तत्त्व ज्ञानार्थ दर्शन तक लगभग २० अन्य गुणोंका उल्लेख कर उन्हें ज्ञानकी कोटिमें बताया गया है। विषयकी गूढ़ताके कारण यह अध्याय अत्यन्त दुरूह है। अन्तमें ज्ञेयके रूपमें भगवान्का वर्णन किया गया है। इस अध्यायकी विशेषता विश्वकी परिक्रमा है। १३वें अध्यायसे आदर्श मानवकी जो रूपरेखा बताई गई है, उसकी उत्तरोत्तर परिणति १८वें अध्यायमें होती है।

चौदहवां अध्याय—गुण-त्रय-विभाग-योग विषयक है—

आदर्श मानव कौन है ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति गुणातीत है, वही वास्तवमें आदर्श पुरुष है। मानव-समाजका यहाँ विभाजन, जाति, वर्ण वंशके अनुसार नहीं अपितु उसके नैसर्गिक गुणोंके आधारपर किया गया है। सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंके मूर्तस्वरूप ही मानव-जगतमें पाये जाते हैं। इनमें सत्त्व प्रकाश, निर्मलता और निवृत्तिका द्योतक है। रज लोभ, प्रवृत्ति एवं तृष्णा, लालसा आदिका परि-चायक है। तम आलस्य, मोह, निद्रा आदिका प्रवर्तक होता है। मानव इन तीनों गुणोंके बीचमें डूबता और तैरता रहता है। इन तीनों गुणोंका पार पानेसे ही अर्थात् त्रिगुणा-तीत होनेपर ही मानवको लक्ष्य प्राप्त होता है।

पन्द्रहवां अध्याय—पुरुषोत्तम योग विषयक है—

आदर्श मानवकी परिनिष्ठिति पुरुषोत्तमके रूपमें होती है। भगवान् पारस पत्थर हैं। उनसे जो स्पर्श करेगा वह भी स्वर्ण नहीं, पारस ही बन जायगा। भगवान् पुरुषोत्तम हैं तो मानव उनके संपर्कमें आकर क्यों न पुरुषोत्तम बनेगा ? इसी कारण ही तो भगवान् राम-को मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है।

सोलहवां अध्याय—दैवासुर संपद विभाग योग विषयक है—

पुरुषोत्तम होनेपर भी कभी मानव दुर्बल प्रवृत्तियोंका शिकार न बने, इस कारणोंसे इस अध्यायमें एक नवीन प्रकारके भव्य राजप्रासादकी कल्पनाकी गई है, जिसके सोपानकी

संख्या २६ है। ये सोपान स्फटिकके नहीं, अभयसे लेकर नातिमानता तकके २६ हीरों, रत्नोंके बने हुए हैं। इसके दूसरी ओर एक काल कोठरी भी है, जिसमें छः प्रकारकी अन्धतामिस्र गुफायें हैं। पहला प्रासाद दैवी संपतिका है, तो दूसरा आसुरी विपदाओंका है। एक मानवके विमोक्षका कारण है तो दूसरी उसके बन्धनका कारण है।

आजकल पश्चिमीय जगतमें पूंजी, साम्यता, जनतंत्र, आदिके नामसे जो पाशवीय स्वार्थपरता और विलासिताका नग्न नृत्य हो रहा है, उसकी छोटीसी झाँकी यहाँ दी गई है।

मानवकी समस्याका समाधान संपत्तिके सम विभाजन, या साम्यवाद आदि विषैले कीटाणुओंसे भरे हुए अनेक प्रकारके वादोंसे नहीं हो सकता, उसका तो एक मात्र साधन मानवकी पाशवीय भावनाओंका नियमन है। भगवान्का यह सन्देश विश्वकी सभी समस्याओंका सभी अवस्थाओंमें समाधान प्रस्तुत करता है।

सत्रहवाँ अध्याय—श्रद्धा त्रय-विभाग-योग विषयक है।

मानवका मन श्रद्धासे बनता है, वह निष्ठा और विश्वासका स्तन्य पानकर पनपता है, परन्तु उसका शरीर अच्छे आहार और व्यवहारसे बनता है। इस अध्यायमें मानवके मन और शरीरके उपयोगी सभी साधनोंको तीन गुणोंके आधारपर तीन भाग में बाँटा गया है।

श्रीविनोबाके विचारमें यह अध्याय हमारी खाद्य समस्याका सर्वोत्तम समाधान प्रस्तुत करता है।

अठारवाँ अध्याय—मोक्ष-संन्यास-योग विषयक है।

इस अध्यायमें प्रतिपादित सभी समस्याओंके समाधानको उपसंहारके रूपमें फिरसे दोहराया गया है और कुछ नई समस्याओंका भी उल्लेख किया गया है। तीनों गुणोंके आधारपर सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, कर्म-अकर्म, धृति-अधृति, बुद्धि-बुद्धिहीनता आदि सभी मानवीय उपादानोंका विभाजन किया है। संन्यास और कर्म योगका पेचीदा मसला भी उठाकर उन दोनोंमें कैसे समन्वय हो सकता है, यह भी बताया गया है।

यह अध्याय वास्तव में ७८ मनकोंकी माला है जिसका जाप प्रत्येक साधक मुमुक्षुको करना अनिवार्य है।

अन्तमें इन १८ प्रकारकी तथा उनके भेद प्रभेद रूपी बहुमुखी समस्याका समाधान अन्तिम श्लोकमें दे दिया गया है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

संजयके द्वारा कहे गये भगवान्के ये वचन बार-बार पुकार-पुकार कर कहते हैं, हे मानव तू व्यर्थकी चिन्तामें लीन न हो।

अर्जुनके समान साधक बन और भगवान् कृष्णके समान गुरुके चरणोंमें नत मस्तक हो। उनके पावन चरणोंकी धूलिको मस्तकका तिलक बना, तेरी सब बाधायें अपने आप दूर हो जायेंगी।

●

द्रौपदीका अदम्य व्यक्तित्व

श्रीद्वारकाप्रसाद शास्त्री

[अविवेकी पुरुष इस संसारमें सदा ही पराजित होते रहते हैं। उपयुक्त अवसरपर अविवेकके कारण क्रोधको दबा देना बुद्धिमत्ता नहीं है। पौरुष, क्षमाशील रहे तो रहे किन्तु उसकी क्षमताको सदैव सजग ही रहना चाहिए।]

जब कौरवोंने शकुनिके परामर्शसे धर्मराज युधिष्ठिरको जुआ खेलनेके लिए आमंत्रित किया तो उनके सभी शुभचिन्तकोंने असहमति प्रकटकी। उन्होंने महाराज युधिष्ठिरको समझाया कि जुआ एक गर्हित कर्म है। कौरवोंने आपको इसके महाजालमें फँसानेका कुचक्र रचा है। इस षड्यंत्रसे आप सावधान रहें और इसमें भाग न लें किन्तु उन्होंने कहा—

आहूतोऽहं न निवर्त्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे॥

अर्थात् यह मेरा शाश्वत व्रत रहा है कि मैं बुलाने या ललकारनेपर मुँह नहीं मोड़ता। लोग चुप रह गये।

महाराज युधिष्ठिरने कौरवों द्वारा आयोजित सभामें प्रवेश किया। उस सभामें देशके सभी भागोंके राजा और महाराजा विराजमान थे। जुआ खेलनेका साज-सामान रखा गया। स्वयं महाराज धृतराष्ट्र भी असाधारण अभिरुचि ले रहे थे। उनके सामने ही पाशा फेंकनेमें दक्ष शकुनि बैठ गया। पाशा फेंका जाने लगा और धीरे-धीरे महाराज युधिष्ठिर अपना समस्त धन, राज्य यहाँ तक कि भाइयों तथा द्रौपदीको भी जुएमें हार गए।

द्रौपदी अंतःपुरमें थी। उनको सभामें बुलानेके लिए दुर्योधनने विदुरसे कहा किन्तु उन्होंने वैसा करनेसे साफ इन्कार कर दिया और दुर्योधनकी भर्त्सना की। फिर दुर्योधनने प्रातिकामीसे कहा—

प्रातिकामिन ! द्रौपदीमानयस्व
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः ।

अर्थात् हे प्रातिकामी ! तुम जाकर अंतःपुरसे द्रौपदीको इस सभामें ले आओ । पाण्डवोंसे डरनेकी कोई बात नहीं हैं । वे तो अब दास हो चुके हैं । प्रातिकामी अन्तःपुरमें द्रौपदीके पास गया और विनीत वाणीमें संक्षेपमें सब समाचार सुनाकर अन्तमें प्रस्ताव किया कि आप राजसभामें चली चलें । द्रौपदीने प्रातिकामीसे कहा—

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किन्नुपूर्वं पराजै षीरात्मानमथवा नु माम् ।।

अर्थात् तुम पहले उस राजसभामें जाकर उस जुआरी महाराज युधिष्ठिरसे पूछो कि वह पहले अपनेको दाँवपर हारे थे अथवा मुझे । प्रातिकामी लौट गया । उसके लौट आनेपर राजसभामें कानाफूसी होने लगी । द्रौपदीकी जिज्ञासामें एक महत्वपूर्ण प्रश्न निहित था । इधर मदोन्मत्त दुर्योधनने दुःशासनको आदेश दिया कि द्रौपदीको लानेके लिए जानेवाले ये सब भीमसे डर रहे हैं । तुम स्वयं जाकर उसको यहाँ ले आओ । ये पाण्डव तुम्हारा क्या कर लेंगे ?

दुःशासन मदोन्मत्त होकर अन्तःपुर जा पहुँचा । द्रौपदीने राजसभामें आनेमें असमर्थता प्रकटकी । उसने कहा कि मैं रजस्वला हूँ । एक वस्त्र धारण किये हुए हूँ । मैं बाहर जानेके योग्य नहीं हूँ । स्वयंवरके बाद मैं कभी भी राजसभामें नहीं गई हूँ ? क्या इस महत्कुलकी वधूके लिए ऐसा करना कदापि उचित है । किन्तु दुःशासन कब मानने वाला था । उसने द्रौपदीके कोमल लम्बे बालोंको पकड़ लिया और बिलखती हुई अबलाको घसीट कर राजसभामें ले आया ।

द्रौपदीने राजसभामें आनेपर अपने आपको काबूमें रखकर प्रश्न किया ।

इमं प्रश्नमिमे ब्रूत सर्वं एव सभासदः ।
जितां वाप्यजितां वा मां मन्यध्वं सर्वभूमिपाः ।।

उसने आगे कहा कि इस राजसभामें ये कुरु लोग बैठे हैं । इनके भी बहुएँ और कन्याएँ हैं । मेरे साथ जो कुछ हुआ है ये लोग उसपर विचार करें और मेरे प्रश्नका उत्तर दें । मैं अपने आपको अजित मानती हूँ । मेरे स्वामी अपने आपको पहले दाँवपर हार चुके तो फिर उन्हें यह अधिकार ही नहीं था कि वे मुझे दाँवपर लगाते । द्रौपदीके इस महत्वपूर्ण प्रश्नने सारी सभामें खलबली मचादी । भीष्मने इसका उत्तर देनेमें लीपापोती की । विदुरने कुछ दबी वाणीमें द्रौपदीको अजित बताया । फिर धृतराष्ट्रका पुत्र विकर्ण उठा । उसने सारी राज सभापर करारा व्यंग्य किया और अनेक तर्कोंसे द्रौपदीको दाँवपर रखे जाने पर भी बिना जीती हुई (अजिता) बताया । सारी राजसभा मौन हो गयी । महाराज धृतराष्ट्रका विवेक जागा । उन्होंने द्रौपदीकी प्रशंसा की तथा उसे सम्मान देते हुए पाण्डवोंको दासभावसे मुक्त कर दिया और जुएमें हारे हुए समस्त धनधान्य और राजपाटको महाराज युधिष्ठिरको वापसकर दिया । पाण्डव लोग द्रौपदी सहित अपनी राजधानीको वापस चले गए ।

द्वितीय बार द्यूत क्रीड़ाका पुनः आयोजन किया गया। महाराज युधिष्ठिरका तो व्रतही था आमंत्रणको स्वीकार कर लेना। फलतः वे जुएमें अपना सर्वस्व हार गए। उन्हें निर्वासित कर दिया गया। जब वे द्वैतवनमें रह रहे थे तो उनके द्वारा नियुक्त वनचर वेशधारी दूतने आकर दुर्योधनकी सारी गतिविधि बताई। उसके चले जानेके बाद महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीकी कुटीमें गए और उससे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। द्रौपदीके भीतर धधकती हुई प्रतिशोधकी आग भड़क उठी। उसने महाराज युधिष्ठिरको सम्बोधित करके कहा—

"महाराज मैं स्त्री हूँ। यह उचित नहीं लगता कि आपको कुछ कहूँ। लेकिन मैं इस विषम परिस्थितिमें बिना कुछ कहे रह भी नहीं सकती हूँ। आप इसके लिए क्षमा करेंगे। अविवेकी पुरुष इस संसारमें सदा ही पराजित होते रहते हैं। मायावीके साथ मायावी न बनना अनुचित है। कुलवधूके समान पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीका अपहरण आपकी सचाई और सरलताके कारण हुआ। आप जिस विधिसे कार्य कर रहे हैं वह मनस्वियोंसे गर्हित हैं। मनुष्यको अपनी आपदाएँ दूर करनेका स्वयं यत्न करना चाहिए। क्रोधको दबा देना कोई बुद्धिमता नहीं है। क्रोधरहित व्यक्तिका न तो मित्र आदर करते हैं और न शत्रु ही डरते हैं। ये लालचंदन लगाने वाले तथा रथमें घूमने वाले भीम आज पैदल चल रहे हैं। इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुन वल्कल पहने हुए हैं। बेचारे नकुल और सहदेवके शरीरपर भूमिपर सोनेके कारण छाले पड़ गए हैं। फिर भी आप हैं कि इन्हें देखकर भी न आपका धैर्य डिगता है, न क्रोध जगता है। जो लोग हमें देखते हैं वे हमारी दशा देखकर विचलित हो जाते हैं परन्तु आपपर इन सबका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। जरा सोचिए तो सही। पहले आप कीमती पलंगपर सोते थे। वैतालिक लोग स्तुति करके आपको जगाते थे और अब आप कुश वाली भूमिपर सोते हैं और सियार 'हुआ-हुआ' करके सवेरे आपको जगाते हैं। पवित्र भोजनसे आपका जो शरीर चमक रहा था वह अब जंगली फलोंके खानेसे निस्तेज हो गया है। आपके चरण रत्नजटित सिंहासनपर शोभित होते थे। राजा-महाराजा उसपर अपना मस्तक टेकते थे किन्तु आज वे चरण कुशोंपर विश्राम पा रहे हैं। आपकी यह दशा शत्रुके कारण हुई है। अतः मेरे मनमें बड़ा उखाड़-पछाड़ हो रहा है। इसलिए हे महाराज! आप शान्तिको छोड़ दीजिए। शत्रुओंके नाशके लिए पुनः प्रचंड पराक्रम धारण कीजिए। काम क्रोधादिको जीतना ऋषि महर्षियोंका काम है आपका नहीं। और यदि आप यह चाहते हैं कि क्षमा ही धारण करना ठीक है तो यह धनुष अब आप फेंक दीजिए तथा जटा बढ़ाकर इसी द्वैतवनमें यज्ञ-हवन कीजिए। मैं जानती हूँ कि आपमें असीम पराक्रम है। आप अपनेको पहचानिए। सन्धि-नियमोंकी परवाह न कीजिए। समयकी प्रतीक्षा न कीजिए। किसी न किसी बहाने तुरन्त युद्ध करके शत्रुओंको हराकर अपना पूर्वपद प्राप्त कीजिए। मुझे विश्वास है कि जब आपका पौरुष जग जाएगा तो राज्यलक्ष्मी पुनः आपका वरण करेगी।"

●

अद्भुत त्याग

श्रीचैतन्य महाप्रभुका गृहस्थाश्रमका नाम था निमाई पण्डित। एक दिन वे नौकासे कहीं जा रहे थे। उनके हाथमें उनके द्वारा लिखित न्यायका हस्तलिखित ग्रन्थ था। उसी नावपर उनके सहपाठी तथा सुहृद् श्रीरघुनाथ पण्डित भी थे। बातों-ही-बातोंमें ग्रन्थकी बात चली। रघुनाथके कहनेपर निमाई उन्हें अपना ग्रन्थ सुनाने लगे। रघुनाथ ज्यों-ज्यों सुनते थे, त्यों-ही-त्यों उनका विषाद बढ़ता जाता था। अन्तमें वे विवश होकर फूट-फूटकर रोने लगे। निमाईने आश्चर्य प्रकट करते हुए इसका कारण पूछा। रघुनाथने रुँधे कण्ठसे कहा— 'भाई! मैंने बड़े परिश्रमसे 'दीधीति' नामक ग्रन्थ लिखा है। मैं समझता था, मेरा यह ग्रन्थ अर्वाचीन न्यायके ग्रन्थोंमें सर्वप्रधान होगा। पर तुम्हारे इस ग्रन्थको देखकर तो मेरी सारी आशा मिट्टीमें मिल गयी। तुम्हारे इस ग्रन्थके सामने मेरी पोथी को कौन पूछेगा? इसी मनोव्यथाके कारण मुझे रुलाई आ रही है।'

निमाई पण्डितने बड़े जोरसे हँसकर कहा--'इस साधारण-सी पोथीको देखकर तुम्हें इतना क्लेश हो गया। तुम्हारे सुखके लिये मेरे प्राण प्रस्तुत हैं, इस पोथीकी तो बात क्या है! लो, अभी इसे नष्ट किये देता हूँ।' इतना कहकर जगप्रसिद्ध 'दीधीति' को भी लजा देनेवाले अपने बड़े परिश्रमसे लिखे हुए उस ग्रन्थका एक-एक पन्ना उन्होंने गङ्गाजीकी धारामें बहा दिया। पुस्तकके पन्ने लहरोंके साथ नाच-नाचकर निमाईके त्यागका गीत गा रहे थे।

रघुनाथ पण्डित निमाईके त्यागको देखकर दंग रह गये!

शंखनाद

श्रीजयशंकर त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्याचार्य

[सेनापति (अर्जुन)! युद्धका शंखनाद करो, यह जानकर कि समस्त पाण्डव सेनाका संहार हो जायगा और कौरव विजयी होंगे लेकिन हमने न्याय और धर्मकी रक्षाका जो व्रत लिया है, मृत्युसे डरकर, पराजयसे आतंकित होकर हम अपने संकल्पसे नहीं डिगेंगे। —श्रीकृष्ण]

(कुरुक्षेत्रकी समर-भूमिका मध्यवर्ती स्थान। एक वृक्ष। वृक्षके तनेसे टेक लिए एक वृद्ध पुरुष ऊंघ रहा है। पासमें बीचसे टूटा धनुष पड़ा है। दूरपर रथ, हाथी और घोड़ोंके चलनेकी ध्वनि और दुन्दुभी बजनेका शब्द। एक युवकका प्रवेश, कन्धेपर धनुष है।)

युवक—(वृद्धके मस्तकपर हाथ रखकर) महात्मन्! आप सो रहे हैं, अपने जीवनके इस अन्तिम महासमरका ज्वलन्त दर्शन कीजिए। (बगलमें देखकर) अरे, हाँ उठिए तो···सुनिए, समर-भूमिकी दुन्दुभी बज रही है, रथ घरघरा रहे हैं। (बगलमें देख कर) अरे यह आपका धनुष टूट गया, कब कैसे ?

वृद्ध—हाँ, धनुष टूट गया, पर धनुष टूटनेसे क्या होता, जब मन न टूटा होता, दूसरा धनुष फिर हाथमें आ सकता था। पर अब मेरे लिए समर-भूमिकी दुन्दुभी व्यर्थ है।

युवक—(धनुषको हाथमें उठाकर) अरे! इस धनुष के तो कई टुकड़े हो गए हैं।

वृद्ध—हाँ, उतने टुकड़े हुए हैं···

युवक—कितने ?

वृद्ध—उस दिन कौरवी राजसभामें वासुदेव श्रीकृष्णने कूट-भरा अपना सन्धि प्रस्ताव उपस्थितकर अपनी मनोमोहिनी बातों और आकर्षक व्यक्तित्वसे जितने कौरव महारथियोंको तनसे विवश रहनेपर भी मनसे अपने पक्ष में तोड़ लिया।

युवक—हाँ, टुकड़ोंको गिनता हूँ, (गिनते हुए) एक, दो, तीन, चार···(धनुषको नीचे गिरा देता है)

वृद्ध—ठीक गिन रहे हो, उस कूटात्मा कृष्ण यादवने, भीष्म, द्रोणको तो राजसभामें ही अपनी ओर खींच लिया। शेष बचे थे कर्ण और शल्य, पर इनको भी इनका हितचिन्तक बन कर···

युवक—शल्य तो पाडंवोंके मामा ही हैं।

वृद्ध—पर वे सिन्धु, त्रिगर्त तथा गान्धार राज्योंके बीच मद्रराज्यके रहने वाले हैं, वे तीनों राज्य सुयोधनकी ओर हैं, इसलिए विवश होकर वे भी सुयोधनके पक्षसे युद्ध करनेको तैयार थे, सही बात है कि वे हृदय से सुयोधनके पक्ष में युद्ध करते परन्तु···(आँखें मूंदकर तनेसे टेक लेता है।)

युवक—हाँ, परन्तु···

वृद्ध—(धीरे-धीरे आँखें खोलकर) शल्यको कृष्णने न्याय और धर्मकी नयी परिभाषा बताई। कहा मुझे प्रसन्नता है, आप कौरवोंके पक्षमें आये, इससे पांडवोंका हित ही होगा, इस पक्षमें रहकर आप भीतरसे पांडवोंका बहुत बड़ा हित कर सकते हैं।

युवक—समझ गया, सुयोधनके साथ छल करके पाँडवोंका हित करनेके लिए शल्यका राजी कर लिया।

वृद्ध—विशेषकर कर्णका सारथी बननेपर कर्णका मनोबल तोड़नेके लिए। बचा कर्ण। कृष्णने उसके आगे अपना सहानुभूतिभरा हृदय ही उँडेलकर रख दिया।

युवक—कैसी सहानुभूति ?

वृद्ध—इस कूट पुरुष ने कहा—"मैं चाहता हूँ, महापुरुष रुक जायँ, अङ्गराज ! पर उसकी कुंजी तुम्हारे हाथमें है, यदि तुम स्वीकार करो।"

युवक—तब कर्णने क्या कहा ?

वृद्ध—उसने उत्सुकतासे पूछा 'कैसे ?' कृष्णने उत्तर दिया–'तुम कुन्तीके कानीन पुत्र हो, युधिष्ठिरसे भी बड़े। तुम पांडवोंके पक्षमें आओ, कुरु-राज्य सिंहासनपर युधिष्ठिर तुम्हारा राज्याभिषेक करें, यह धर्म-सम्मत बात होगी, फिर सुयोधन किसका विरोध करेगा ?

युवक—कर्णने इसे स्वीकार किया ?

वृद्ध—कदापि नहीं। किन्तु कृष्णने अपनी इस गहरी सहानुभूतिसे कर्णको अनुगृहीत कर लिया, इतना ही क्या कम था ? कर्णने उत्तर दिया—'मेरे लिए सुयोधनका पक्ष छोड़ना मेरे जीवनका, मानव-धर्मका सबसे बड़ा अनर्थ होगा।'

युवक—कृष्णने फिर कुछ कहा ?

वृद्ध—कृष्णने तत्काल उत्तर दिया—मैं जीवनका स्वरूप और धर्मका मापदंड बदल दूंगा, अंगराज !. मेरी बात मान लो, तब तुम्हारा यह कार्य अनर्थ नहीं कहा जायगा ?

युवक—तब कृष्ण चुप हो गए होंगे ?

वृद्ध—आह ! वह अलौकिक पुरुष चुप होना जानता है, उसने फिर कहा, जाओ अवसर खो रहे हो और जान लो इस युद्धमें वीरोंकी विजय नहीं होगी।

युवक—ठीक। तब आप अब कौरवी सेनामें किसे ऐसा समझते हैं जो कृष्णके दृष्टि-दोषसे मुक्त होकर पांडवोंको विजय करनेमें समर्थ है। है ऐसा कोई ?

वृद्ध—है, द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा। परन्तु जानते हो, उसे सेनापति-पदपर अभिषिक्त होनेका अवसर ही न मिलेगा और कौरव सेनाका संहार हो जायगा।

युवक—हाँ, अब मेरी भी बात सुनेंगे।

वृद्ध—कहो ?

युवक—(सहज भावसे अपने कन्धेसे टूटा धनुष निकालकर दिखाता है)। देख रहे हो, मेरा धनुष भी टूटा जब आपका टूटा होगा। अब हम दोनों समान हैं (हँसता है)।

वृद्ध—नहीं, समान नहीं हैं, अपना मस्तक इधर करो, रेखाएँ गिनूं (युवक झुकता है, वृद्ध रेखाएँ गिनता है।) कर्म-भूमिके युगान्तर ! तुम अमर हो, तुम्हारी रेखाएँ तुम्हारा धनुष टूटनेपर भी अटल हैं, मेरी तो मस्तककी रेखाएँ भी गिर गयीं, सिकुड़ गयीं (अपने मस्तकपर अँगुलियाँ फेरता है।)

युवक—अद्भुत बात है, आप एक हजार वर्षतक धनुर्धारी रहे—सम्राट ययाति और उनके वंशकी अस्सी पीढ़ियों तक। और मैं एक शताब्दी तक भी धनुष रखनेका अधिकारी नहीं हूँ।

वृद्ध—हाँ, यही बात है। तुम्हारा धनुष टूट गया अवश्य, पर अब भी तुम युगान्तर हो, धनुष टूटनेका अर्थ है—युद्धमें पौरुष, वीरता और शस्त्रविद्याकी विजय नहीं होगी, निःशस्त्र कूटनीतिकी विजय होगी।

(नेपथ्यमें इसी समय 'भगवान् कृष्णकी जय' बोली जाती है, और जोरोंसे रथकी घरघराहट होती है।)

युवक—यहाँसे अब दूर चलिए, कृष्ण-अर्जुनका रथ आ रहा है।

वृद्ध—मुझे हटना नहीं है, यह कुरुकुलका वृक्ष है, (वृक्षकी ओर संकेत करता है) समर भूमिके मध्यमें इसे रहना या अस्त होना है, यही मेरा घर है, मैं इसी में समाऊँगा, यह प्रलयोन्मुख घर है, तुम सृष्टिकी धरतीमें जाओ।

(रथकी ध्वनि निकट आती है, वृद्ध वृक्षकी आड़ लेता है, युवक निकल जाता है। नेपथ्यमें दुन्दुभी बजती है। रथ, हाथी तथा घोड़ोंके चलने और बोलनेका शब्द। दूसरी ओरसे वृक्षके पास अर्जुनके रथका प्रवेश, कृष्ण घोड़ोंकी रास पकड़े हुए अर्जुनकी ओर तीव्र दृष्टिसे देखते हैं। अर्जुनका धनुष रथपर और तरकस कन्धेपर है।)

अर्जुन—(हाथ जोड़कर कृष्णसे) भगवान् ! आप मेरे रथकी रास संभालें, इससे अच्छा होगा, उस काल-रथकी रास अपने हाथोंमें लें, जो रथ हिमालयसे ऊँचे इस कुरुक्षेत्रके अस्तगिरिपर अपने आप चढ़ा जा रहा है और जिसके आश्रित कुरुकुलका सूर्य असावधान होकर तप रहा है, अभी रथ उस पार गया नहीं कि यह सूर्य अस्त हो जायगा।

कृष्ण—(सहज भावसे) होने दो इस सूर्यको अस्त। वह काल-रथ, यही तुम्हारा रथ है, उस रथकी रास मैं ही संचालित कर रहा हूँ, मैं ही उसे अस्ताचलपर चढ़ाये जा रहा हूँ।

अर्जुन— (विषादके साथ) तो भगवान् ! उस कुरुकुलके सूर्यके साथ मैं भी अस्त हो जाऊँगा ? फिर क्या होगा ?

कृष्ण—तुम नहीं अस्त होगे अर्जुन ! जिस अस्ताचलपर एक सूर्यका अस्त होगा वहीं दूसरे सूर्यका उदय होगा। तुम कुरु-वंशके दूसरे सूर्य हो।

अर्जुन—भगवान् ! आप मुझे भावनाका बल दे रहे हैं। पर मैं अपने कुलका सर्वनाश देखकर विचलित हो रहा हूँ। मेरा विश्वास है, पितामह भीष्मसे अधिक प्रतापी सूर्य इस कुरुकुलमें दूसरा नहीं हो सकता, किन्तु कुरुक्षेत्रके इस युद्धमें या वे रहेंगे या हम पाण्डव रहेंगे।

कृष्ण—तुम पाण्डवोंको रहना है अर्जुन ! विश्वास करो।

अर्जुन—पर कहाँ रहना है भगवान् ! कुरुकुल-रूपी सूर्यसे तिरोहित अन्धकारपूर्ण धरतीपर ? मुझे इस भविष्यकी कल्पना ही कँपा देती है। मुझसे धनुष छूट गया है, हाथसे पसीना चू रहा है।

कृष्ण—तुम्हें अपने दीप्त तेजका, प्रतापका बोध नहीं है। जो तेज और प्रताप इस महासमरके बाद कुरु-भूमिको प्रकाशमान करेंगे।

अर्जुन—कुरु-भूमि को नहीं भगवन् ! श्मशान भूमिको। यदि भाग्यने विजय दी तो। और पाण्डवी सेनाके बाणोंसे पितामह भीष्म, शस्त्र-गुरु आचार्य द्रोण, आचार्य कृप, मामा शल्य और अन्य भी कितने पूज्य-चरण हत होकर धरती पर लोटेंगे, उनकी चिताएँ इस भूमि पर धू-धू करके जलेंगी, हमारे सगे भाई और परिवारके जन हमारे बाणोंसे हत होकर अपनी कुरु-वधुओंको अनाथ करेंगे, उनके रुदनसे धरती और आकाशका अन्तराल भरेगा, मैं नहीं समझता हूँ, मेरा कौन-सा प्रताप उनके उस रुदनको हासमें बदल देगा।

कृष्ण—अर्जुन ! तुम तो बड़े प्रज्ञावान् बन गये, कितना उदार तर्क प्रस्तुतकर रहे हो !

अर्जुन—भगवान् ! यह तर्क नहीं है, मेरा मन इस समय व्यथाके समुद्रमें डूब गया है, मैं भविष्यकी उस स्थितिसे निश्चेष्ट हो रहा हूँ जब युद्धके फलस्वरूप विधवा-ललनाओंका विलाप समाजको ढहा देगा और कालान्तरमें अनाचारसे समाजकी संकरता उसके इतिहासमें एकता समाप्तकर अनस्थिरता ला देगी। कामकी विकृतिसे ऋषियोंका यह देश भयानक पापके पंकमें धँस जायगा। समाज और उसके मनुष्य सभी शरीर और मनसे विकृत हो जायेंगे।

कृष्ण—अर्जुन ! तुम्हारे प्रज्ञापूर्ण तर्क सुनकर मुझे हँसी आ रही है। कामकी विकृतिसे ऋषियोंका धर्म पापके कीचड़में धँस जायगा, इसे तुम मानते हो ?

अर्जुन—मैं यही समझता हूँ भगवान् !

कृष्ण—कामकी विकृति आनेके पहले ऋषियोंका धर्म अस्त हो जाता है, तब यह भी समझ लो।

अर्जुन—वही मैं नहीं चाहता हूँ।

कृष्ण—तो जो यह महासमर तुम्हारे सामने प्रस्तुत है, कामकी विकृतिका परिणाम है, क्या तुम जानते नहीं ? कुमार देवव्रतने बूढ़े पिताकी काम-तृप्तिके लिए लोककी उपेक्षाकर अविवाहित रहनेका व्रत लिया, हरणकी हुई अम्बाको अपमानित कर पाणिग्रहण नहीं किया। यदि देवव्रत पितामह भीष्मका कोई पुत्र होता तो आज राज्यके उत्तराधिकारके लिए युद्धकी यह समस्या कभी आ सकती थी ?

अर्जुन—तो इस समस्या का समाधान क्या केवल युद्ध ही है।

कृष्ण—जब काम-समस्या उग्र रूपसे अवतरित होती है गृह-युद्ध होकर ही रहता है।

अर्जुन—नहीं भगवान् ! यदि आज मैं राज्यका-लोभ छोड़कर विना किसी पणके सन्धि स्वीकार कर लेता हूँ तो युद्ध कैसे होगा ?

कृष्ण—ठीक कह रहे हो ? तव युद्ध रुक जायगा ।

अर्जुन—तव आप युद्धकी आग बुझा दें । मैं विना किसी पणके सन्धि-प्रस्ताव स्वीकार करता हूँ । उस दिन कौरवी राजसभामें, जिसमें सुयोधनके पाप-पंकिल पैर पड़े थे, आपका सन्धि-प्रस्ताव भले ठुकरा दिया गया हो, पर आज इस कुरुभूमिमें, जिसमें हमारे पूर्वज सम्राट् कुरुके पवित्र चरणोंकी धूलि मिली है, भगवान् कृष्णका कोई प्रस्ताव अमान्य नहीं होगा ।

कृष्ण—वात ठीक कहते हो अर्जुन ! पर तुम सन्धि स्वीकारकर लोगे तब भी युद्ध होगा, सुयोधनके सन्धि स्वीकारकर लेने पर युद्ध रुक जाता । अकेला सुयोधन इस महासमरके मूलमें है, तुम नहीं हो । तुम विजयके मूलमें हो, तुम्हारे हट जानेसे पाण्डवोंकी विजय रुक जायगी, युद्ध तव भी होगा ।

अर्जुन—आप एक वार मेरा सन्धिका प्रस्ताव उभय पक्षके वीच उपस्थित करें तो ।

कृष्ण—पर आज इस समर-भूमिमें वासुदेव कृष्ण सन्धिका प्रस्ताव नहीं, युद्धका प्रस्ताव ही रखेगा, विजयका प्रस्ताव रखेगा, अभिमानमें चूर क्षत्रियोंकी कालरात्रिका प्रस्ताव रखेगा, और जैसा कि तुमने कहा वे सभी स्वीकार होंगे ।

अर्जुन—नहीं, भगवान् ! क्षमा करें । मैं शान्ति चाहता हूँ, युद्धकी आगसे नहीं, हृदयके अनुराग-मेघसे आनन्दकी वर्षाकर कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे क्षत्रिय वीरोंको आप्यायित कर देना चाहता हूँ ।

कृष्ण—तव तुम क्षत्रियोंका आनन्द नहीं जानते हो, क्षत्रिय युद्धका अवसर पाकर ही आह्लादित होता है । पुण्यशाली क्षत्रियको ही इस प्रकारके युद्धकी सुख-पूर्ण भूमिका मिलती है ।

अर्जुन—भगवान् ! मैं भिक्षासे जीवन चलाऊँगा, वनमें निवास करूँगा, पर युद्ध नहीं, शान्ति चाहता हूँ । मुझे क्षत्रियधर्मकी दिशा बदल देनी है ।

कृष्ण—सखा अर्जुन ! क्षत्रिय मूल नदीका प्रवाह नहीं है, यह एक संशोधित धर्म है, इसे तुम मिटा दो, चाहे संशोधित कर दो पर इससे लोकका कोई कल्याण न होगा । क्योंकि क्षत्रिय-नदीका मूल प्रवाह तब और उग्र हो उठेगा ।

अर्जुन—क्षत्रिय धर्म एक मूल धर्मका संशोधित संस्करण है भगवान् ! यह स्वतः मूल धर्म नहीं है ? (आश्चर्यसे देखता है)

कृष्ण—क्षत्रियका अर्थ है आपत्तिसे रक्षा करना, अर्थात् शक्ति-प्रयोग । शक्ति-प्रयोग दानवों और असुरोंका मूल धर्म है ; ऋषियोंने दानवों तथा असुरोंके उसी धर्मको सुधारकर क्षत्रिय धर्मकी प्रतिष्ठाकी और मूल धर्मकी तीव्रताको समाप्तकर दिया । अब जब तुम क्षत्रिय धर्मकी दिशा बदल दोगे, ऐसा करनेपर वह स्वतः समाप्त हो जायगा । फिर दानवों तथा असुरोंके धर्म प्रबल होकर लोगोंको लूटकर विनाश करेंगे, समझ रहे हो ?

अर्जुन—भगवान् ! यदि क्षत्रिय धर्मकी दिशा बदलना अनर्थ है तो इस कुरुक्षेत्रमें

क्षत्रिय बनकर स्वार्थके लिए पूज्य पुरुष भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य, कृतवर्मा अश्वत्थामा तथा अपने ही कुटुम्बी जन सुयोधन आदिपर बाण चलाना भी क्षत्रिय धर्मको अर्थ-हीन करना होगा, इनका बधकर इनके रक्तसे सनें राज-भोगका उठाना ही जीवनकी सबसे बड़ी हीनता होगी।

कृष्ण—युद्धमें किसीका वध न तुम करोगे, और न कोई तुम्हारा वध करेगा, युद्ध और मृत्यु प्रकृति, धर्मका व्यापार है, आत्माका अस्तित्त्व उससे अलग है।

अर्जुन—(आश्चर्यसे) आत्माका अस्तित्व हमारे शरीरसे अलग है ?

कृष्ण—न वह मरता है, न जन्म लेता है, न शस्त्र उसे काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी भिगो सकता है, न वायु सुखा सकती है, वह इस शरीरमें आनेके पहले भी विद्यमान था, इस शरीर के नष्ट होनेके बाद भी उसका अस्तित्व रहेगा। भीष्म, द्रोण कृप, मैं या तुम सबकी आत्माका अस्तित्व इस शरीरके बाद भी है, इसलिए इस शरीरका मोह अज्ञान है।

अर्जुन—(जिज्ञासासें) जगत्के समस्त व्यापार तो हमारे इस शरीरसे ही हो रहे हैं ?

कृष्ण—लेकिन शरीरका नाश एक दिन निश्चित है, इसलिए युद्धमें उसके नाशसे व्यामोहमें पड़ना कोरा अज्ञान है, और क्षत्रिय-धर्मके विपरीत, कर्त्तव्यकी उपेक्षा करना है जिसके कारण भावी जन्ममें अधोगति प्राप्त होगी।

अर्जुन—भगवन् ! मैंने आपका यह ज्ञान कहीं वेदोंमें नहीं देखा, और न ऋषियोंसे ही सुना था ?

कृष्ण—(सहज भावसे) निष्काम कर्म-योगका यह तत्त्व-दर्शन अर्जुन ! राजर्षियोंके चिन्तनका निचोड़ है, जो कालान्तरमें यज्ञ और कर्मकाण्डके विपुल विधानसे लुप्त हो चला था।

अर्जुन—पहली बार इसका साक्षात्कार किसने किया था ?

कृष्ण—विवस्वानने।

अर्जुन—उसके बाद।

कृष्ण—उन्होंने मनुको इस कर्मयोगकी शिक्षा दी, मनुने इक्ष्वाकुको इसे सिखाया। उसके बाद इसकी परम्परा ही टूट गयी।

अर्जुन—तब आपने कैसे जाना ?

कृष्ण—यत्र-तत्र लुप्त कर्मयोगके इस शास्त्रकी खोजमें अनेक योगियों और राजर्षियों का साक्षात्कार करके, कहींसे कुछ प्राप्त किया, कहींसे कुछ प्राप्त किया।

अर्जुन—(आश्चर्यसे) और अब पहली बार मुझे इसकी शिक्षा दे रहे हैं।

कृष्ण—अवश्य। और तुमसे साधिकार यह बात कह देना चाहता हूँ कि जय और पराजय, लाभ और हानिको एक समान समझकर केवल कर्म करनेमें अपना अधिकार मान कर, फलकी इच्छासे रहित होकर अपने स्वधर्ममें, अपने कर्त्तव्य कर्ममें अपनी शक्ति निछावर कर दो। यही वह निष्काम कर्म-योग है जो हमारी आत्माको संसारके बन्धनसे मुक्तकर देता है।

अर्जुन—भगवन् ! हम कर्म न करके भी तो निष्काम हो सकते हैं ।

कृष्ण—फलका त्याग करना निष्काम कर्मयोग है और जहाँ कर्म नहीं है वहाँ फल नहीं है, फिर वहाँ निष्काम कर्मयोगकी साधना का कोई प्रसंग ही नहीं उठता ।

अर्जुन—यदि निष्काम भावनासे ही क्षत्रिय धर्मका पालन करना है तो वह क्षत्रिय धर्म मुझे स्वीकार है । अहा हा ! (आनंदमें आँखें मूँदकर) मैं अमृत-सा पी रहा हूँ, मैं आप्यायित हो उठा आपकी शिक्षासे भगवान् वासुदेव ! आप मेरे गुरु हैं (कृष्णके चरण छूता है) किन्तु यह अमर आत्मा लेकर अब कुरुक्षेत्रके समरमें जूझना कर्मयोगी अर्जुनके लिए शोभा नहीं है । (आँखें मूँद लेता है ।)

कृष्ण—तो फिर अर्जुन ! तुम्हारे धनुषकी टंकार कहाँ शोभा देगी ?

अर्जुन—(उसी प्रकार आँखें मूँदे रहता है)

कृष्ण—बोलो, भारतश्रेष्ठ अर्जुन ! तुम्हारे रथके घोड़ोंकी रास किधरको घुमाऊँ ?

अर्जुन— (आँखें खोलकर) भगवान् ! सोचता हूँ, क्षत्रिय-धर्मकी कसौटी, बन्धुओं के बीच न देखकर, उधर धनुषकी टंकार करूँ, जहाँ क्षत्रिय-धर्मका दूषित स्रोत है, जो आपने अभी कहा है, कुरुक्षेत्रके विजय करने के पहले दानव लोक, असुर राज्य और देव-नगरोंको विजय करूँ, यह मेरा सबसे बड़ा कर्मयोग होगा । भगवान् ! आप रथके घोड़ों-को अभी मोड़ दें, और एकबार कुरुक्षेत्रमें शान्तिका शंख बजाकर दानवलोकपर चढ़ाई करने चल दें ।

कृष्ण—पागल अर्जुन ! इतिहासको न जानने वाले अर्जुन ! तुम्हें फिर मुझे नयी कथा सुनानी पड़ी ।

अर्जुन— (रथके नीचे कूद पड़ता है और घोड़ोंकी रास पकड़कर घुमाना चाहता है) अब नयी कथा दानवोंकी समर भूमिमें पहुँचकर ही मुझे सुनाइये भगवन् ! क्षत्रियकी बाहुकी खुजलाहट दूर करनेके लिए दूसरी युद्ध-भूमिके रहते बन्धुके साथ समर करना ठीक नहीं है ।

कृष्ण (अर्जुनके हाथसे छीनकर) यह तुम जानते हो कि इस रथका सारथीमें हूँ, तुम केवल कुरुवंशके सूर्य बनकर इसपर बैठ सकते हो । तुम्हें बन्धुके प्रेममें प्रमाद न हो । यह कालका रथ है, यह जिधर चल पड़ा है उधर ही चलेगा, उधर चाहे पितामह हों, चाहे गुरु हों, चाहे भाई हों, चाहे दानव और देव हों । रथपर चढ़ो अर्जुन ! नहीं शत्रु यह दृश्य देखकर उपहास करेंगे (कृष्ण रथसे नीचे कूदकर अर्जुनको रथपर चढ़नेके लिए प्रेरित करते हैं ।) हाय ! रथपर चढ़ते पैर लड़खड़ा रहे हैं भगवान् !

अर्जुन— (रथपर चढ़कर) निष्काम-कर्मयोग तो मुझे समझमें आ रहा है, पर गुरुजनों तथा बन्धुओंके साथ समर-क्रीड़ाकी संगति मनमें नहीं बैठ रही है ।

कृष्ण—तब तुम मिथ्याचारी हो अर्जुन ! भीतरसे बन्धु तथा गुरु-जनोंके अनुरागमें रंजित हो, व्यामोहमें बँधे हो और ऊपरसे क्षत्रिय धर्मके निष्काम कर्मयोगीका ढोंग भी रच रहे हो । बन्धुओंके लिए सकाम भावनासे क्षत्रिय-धर्मका पालन करना कर्मयोगीके विपरीत है ।

अर्जुन—भगवान् वासुदेव ! अब इस कुरुक्षेत्रमें शान्तिका नाम लेना, सन्धिका प्रस्ताव रखना क्या सर्वथा अनुचित है, और मानव-हितमें नहीं है ?

कृष्ण—सर्वथा अनुचित है अर्जुन ! वर्षोंसे निश्चित इस युद्धकर्मका आज त्याग करना प्रकृति धर्मकी उपेक्षा और दुराग्रह है। क्या आजसे पहले तेरह वर्षोंतक तुम कुरुक्षेत्र-की भूमिमें उपस्थित इस महासमरकी संभावना नहीं करते रहे, क्या तुमने इसी भारत-युद्धके लिए शंकरकी आराधना कर उनसे पाशुपत अस्त्रोंकी याचना नहीं की ?

अर्जुन—वीरधर्मकी उस साधनासे आज पहले मैं असुर-राज्य और दानव-लोकको विजय करूँ तो कौन-सा अनुचित होगा ?

कृष्ण—इतिहासको न जानने वाले अर्जुन ! आज दानव, असुर और देव-राज्योंकी धरती उजाड़ खंड होकर पड़ी है, वहाँ किसे अपना पराक्रम दिखाओगे।

अर्जुन—भगवान् ! क्या वहाँ भी ऐसा ही महायुद्ध उपस्थित हुआ था ?

कृष्ण—इससे भी भयानक। जिसके परिणाम-स्वरूप उन जातियोंका अस्तित्व ही छिन्न-भिन्न हो गया। नगर खँडहर हो गये।

अर्जुन—क्या वही कथा आप मुझे सुनाने जा रहे थे ?

कृष्ण—हाँ अर्जुन ! देवोंके छलसे दानवों तथा असुरोंका अस्तित्व संशयमें पड़ गया, यह बहुत पुराना इतिहास है। दानवोंके गुरु कवि उशनाने देवोंके छलका बदला प्रत्यक्ष युद्धसे चुकानेका आदेश दानवोंको दिया।

अर्जुन—और दानवोंने देवलोकको ध्वस्त कर दिया।

कृष्ण—यह तो इन्द्रके छोटेसे देवलोककी कहानी है। मैं वृहत्तर देव लोककी बात कर रहा हूँ अर्जुन ! जैसे आज तुम व्यामोहमें पड़ गए हो। दानवोंको भी यही व्यामोह हुआ। क्योंकि दानवों और देवोंमें भी भ्रातृ-सम्बन्ध था।

अर्जुन—तब क्या हुआ वासुदेव ?

कृष्ण—आचार्य उशनाने कहा-दानवो ! तुम्हें व्यामोह न हो। यदि तुम अन्यायके विरुद्ध लड़कर कीर्ति नहीं अर्जित करते हो तो भी अब पृथ्वीको नया होना है। देव और दानव दोनों जातियोंका अन्त होकर नयी मानव जातिका अभ्युदय होगा क्योंकि कवि उशना आज स्वयं कालरूप होकर इन मदान्ध लोकोंको विनाशके स्वरमें बाँधकर प्रलयकी ज्वालामें ठेल देगा।

अर्जुन—फिर दानवोंने युद्ध किया।

कृष्ण—नहीं। ऐसा होनेपर दानवोंका अस्तित्व तब शेष रहता। युद्ध तो अनिवार्य था, कवि उशनाका भविष्य दर्शन झूठा नहीं था, वह युद्ध कर्म-योगके रूपमें न होकर विनाशके योगके रूपमें हुआ, और सभी भस्मसात् हो गये। फिर मानव जातिका नूतन अस्तित्व सामने आया।

अर्जुन—अद्भुत पुरुष था वह कवि उशना।

कृष्ण—सही है अर्जुन ! वह अद्भुत पुरुष था। नर-नारायण ऋषियोंकी लोकोत्तर विद्याका पारखी था वह उशना। उसकी वह विद्या तो कालके गर्भमें है पर वह आज भी है अर्जुन !

अर्जुन—किस भूमिमें ?

कृष्ण—मैंने अभी तुमसे कहा है, आत्मा अमर है, भूतकालमें वह रहा है, भविष्यमें भी रहेगा। आज भी उशना कविकी आत्मा धरती पर विद्यमान है, पर वह विराट होनेके

कारण एक शरीरमें न आकर तीन शरीरोंमें बँट गया है।

अर्जुन—कहाँ-कहाँ भगवान् ? अद्भुत बात आप बता रहे हैं।

कृष्ण—अद्भुत बात है पर सत्य है कुन्ती-पुत्र ! यादवोंमें कृष्ण, पाण्डवोंमें तुम अर्जुन और मुनियोंमें द्वैपायन व्यास-तीनों ही उस उशना कविके आत्माके ही तीन रूप हैं।

अर्जुन—(विस्मयमें, धनुषकी प्रत्यंचा खींचकर) वासुदेव ! अब बस करें, मुझे अपने कर्मका जैसे बोध हो गया,मैं युद्धके लिये धनुषकी टंकार करता हूँ।

कृष्ण— ठीक है पार्थ ! मैं प्रसन्न हूँ तुम्हें अपने रूपका बोध हो गया। यदि तुम्हें रूपका बोध न होता, तुम युद्ध-भूमिमें धनुषकी टंकार न करते तो भी मैं अकेले आज उशना कविके रूपमें कवियोंका काल रूप होकर प्रवृत्त हो उठा था और इस कुरुक्षेत्रकी समर भूमिमें जितने योद्धा उपस्थित हैं, तुम्हारे युद्ध न चाहनेपर भी विनाशकी आगमें मेरी प्रेरणासे आत्मसात् होकर ही रहेंगे। (अत्यन्त तेजस्वी मुद्रा) इसलिए धनुष सँभालो,... रथका चक्र अपने आप युद्ध-भूमिपर गतिमान हो रहा है। (दूरपर शंखध्वनि सुनायी पड़ती है)

अर्जुन—(उठकर कृष्णके चरणोंपर गिर पड़ता है, फिर दोनों हाथ ऊपर उठाकर) भगवान् वासुदेवकी जय।

धृष्टद्युम्न—(सहसा प्रविष्ट होकर अर्जुनके स्वरमें स्वर मिलाकर) जय, भगवान् वासुदेवकी जय ! (कृष्ण-अर्जुनको विस्मयसे देखता है)

अर्जुन—प्रभो ! आपने मुझे आत्म-बोध दिया, मैं अब आपका शिष्य हूँ, जो आज्ञा दें, वही करूँगा।

कृष्ण—अर्जुन ! रथ चल रहा है, धनुष सँभालो, शत्रुओंको कंपितकर देने वाला शंखनाद करो। (अर्जुन धनुष सँभालकर रथमें बैठता है।)

धृष्टद्युम्न—भगवान् वासुदेव !

(दूरपर क्रमशः दो तीन शंख ध्वनि होती है) शत्रुपक्षमें महारथी अपने-अपने शंख बजा रहे हैं। शत्रु अपने विख्यात सेनापति भीष्मकी संरक्षकतामें उल्लाससे युद्धके अभियानमें प्रस्तुत है और मैं हूँ पांडवोंका अकिंचन सेनापति। आप लोगोंको यहाँ विचार और चिन्तन-में पड़ा देखकर मुझे शंख बजानेका भी साहस नहीं हो रहा है।

कृष्ण— द्रुपद-पुत्र ! कैसी बातकर रहे हो ? तुम पाण्डवोंके सेनापति हो, युद्धका शंख बजाओ, धर्मराज युधिष्ठिरके लिए विजयकी माला लेकर यह कुरुभूमि खड़ी है।

धृष्टद्युम्न—मैं नामका सेनापति हूँ वासुदेव ! पाण्डवोंकी सेनाके सेनापति तो आप और अर्जुन ही हैं, विख्यात महारथियोंसे सम्पन्न कौरव-सेनाके सम्मुख मैं ही शंखनाद कैसे करूँ ?

कृष्ण—हमारे सेनापति ! साहस न खो दो। कौरवोंके सभी प्रमुख महारथी जिन्हें सेनापतिका पद मिलेगा, तुम्हारा शंखनाद सुनेंगे और एक एक करके धराशायी हो जायेंगे किन्तु तब तक युद्ध-भूमिमें पाण्डवोंका एक ही सेनापति विजयका शंख बजायेगा।

धृष्टद्युम्न—भगवान् ! आप मुझे यह केवल साहस दे रहे हैं। कर्णके लिए तो यह कहा जा सकता है लेकिन पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणको पराजित करनेकी क्षमता किस पाण्डव-वीरमें है ?

कृष्ण—(अर्जुनसे) भारत ! अपने सेनापतिको उसकी शक्तिका बोध कराओ। (गम्भीर होकर धृष्टद्युम्नसे) कौरव-सेनाका कौन सेनापति ऐसा होगा जो तुम्हें विजय करेगा ?

धृष्टद्युम्न—क्या पितामह भीष्मको हम पराजित कर देंगे ?

कृष्ण—और क्या ?

धृष्टद्युम्न—आचार्य द्रोणको ?

कृष्ण—उन्हें मारनेके लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है।

धृष्टद्युम्न—तब तो कर्णको लेकर हमें चिन्तित नहीं होना चाहिए ?

कृष्ण—हमारे सेनापति ! तुम्हें बिलकुल निश्चिन्त होना चाहिए, तुम पाण्डवोंके सेनापति नहीं हो, समझ रहे हो, उस नवयुगके सेनापति हो जो आलोककी किरण छिटकाता पुरानी मान्यताओंके अन्धकारको ढहाता कुरुक्षेत्रमें उतर रहा है।

धृष्टद्युम्न—(प्रसन्नतासे उत्फुल्ल आश्चर्यके साथ प्रत्यंचाको खींचकर धनुषकी टंकार करता है) तो भगवान् सत्य है यह, कौरव महारथियोंमें पाण्डवोंको पराजित करनेकी क्षमता कोई भी नहीं रखता ?

कृष्ण—नहीं, सर्वथा ऐसा नहीं है।

धृष्टद्युम्न—कौन है, वह जिसे हम पराजित नहीं कर सकेंगे ?

कृष्ण—आचार्यपुत्र अश्वत्थामाको रोक सकनेकी क्षमता किसी पाण्डव महारथीमें नहीं है।

धृष्टद्युम्न—क्या अर्जुनमें भी नहीं ?

कृष्ण—अर्जुनमें भी नहीं है, वह अश्वत्थामा समूची पाण्डव सेनाका अकेले संहार कर सकता है।

(अर्जुन आश्चर्यमें कृष्णको देखते हैं)

धृष्टद्युम्न—(हतप्रभ होकर) तब भगवान् ! आप यह कैसे कहते हैं कि पाण्डव पराजित नहीं होंगे ?

कृष्ण—(हँसकर) मेरे सेनापति ! हतप्रभ न हो, कौरव इस समय हतबुद्धि हैं, वे उस आचार्य पुत्रको अपना सेनापति नहीं बनायेंगे और समस्त कौरव सेनाका संहार हो जायगा। लेकिन तुम आगे बढ़ो, जय-पराजयका लेखा करके युद्ध नहीं किया जाता।

धृष्टद्युम्न—जिसको देखकर युद्ध किया जाता है, वह आप तो सामने खड़े हैं।

कृष्ण—सेनापति ! युद्धका शंखनाद करो, यह जानकर कि समस्त पाण्डव सेनाका संहार हो जायगा और कौरव विजयी होंगे लेकिन हमने न्याय और धर्मकी रक्षाका जो व्रत लिया है, मृत्युसे डरकर, पराजयसे अतंकित होकर हम अपने संकल्पसे नहीं डिगेंगे।

धृष्टद्युम्न—जैसी भगवान्‌की आज्ञा ! (तनकर अपना शंख बजाता है, उसके साथ ही नेपथ्यमें अनेक शंख बजने लगते हैं और वह चल देता है।)

(कृष्ण अर्जुनको देखकर रथ संचालित करते हैं, रथ चलता है और अर्जुन वेगसे शंखनाद करते हैं, परदा गिरता है।)

●

अवतार

ब्रह्मलीन योगी अरविन्द

[मनुष्य शरीरमें जो श्रीकृष्ण हैं वे और परमेश्वर तथा सर्व भूतोंके सुहृत् जो श्रीकृष्ण हैं वे, ये दोनों उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमके ही प्रकाश हैं। वहाँ वे अपनी ही सत्तामें प्रकट हैं, यहाँ मानव आकारमें प्रकट हैं।]

अवतारकी मान्यता

भारतवर्ष प्राचीन कालसे ही बड़े प्रवल रूपमें यह विश्वास करता आ रहा है कि भगवान् वास्तवमें अवतार लिया करते हैं, अरूपसे रूपमें अवतरित हुआ करते हैं, मनुष्य-रूपमें मनुष्य जातिके बीच प्रकट हुआ करते हैं। पश्चिमी देशोंमें यह विश्वास लोगोंके मनमें कभी यथार्थ रूपमें नहीं जमा, क्योंकि साधारण ईसाई-धर्मने इस विश्वासको एक ऐसी धार्मिक परंपराके रूपमें लोगोंके सामने रखा है, जिसका युक्ति-बुद्धि,सामान्य चेतना तथा जीवन-संबंधी मनोभावके साथ बिलकुल ही कोई सरोकार नहीं है। परंतु भारतमें जीवन-संबंधी वैदांतिक दृष्टिकोणके युक्तिसंगत परिणामके रूपमें ही यह विश्वास पनपा और स्थायी होता गया है तथा इसने जातिकी चेतना तकमें स्थायी रूपसे अपनी जड़ जमा ली है। इस मतानुसार यह सारा चराचर जगत् भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है, कारण भगवान् ही एकमात्र हैं जो हैं, और बाकी सब कुछ उन्हीं एकमात्र सत्‌का या तो सत् या असत् रूप है। इसलिए प्रत्येक जीव किसी-न-किसी अंशमें या किसी-न-किसी रूपमें उन्हीं एक अनंतका नाम रूपात्मक बाह्य सांतमें अवतरण मात्र है। परंतु यह योगमायासमावृत प्राकट्य है, और भगवान्‌का जो परभाव है तथा सांत रूपमें जीवकी जो यह पूर्णतः या अंशतः अविद्याच्छन्न चेतना है, इन दोनोंके बीच एक क्रम परंपरा है। देहमें रहनेवाला चिन्मय आत्मा जिसे देही कहते हैं, भगवदग्निका एक स्फुलिंग है और मनुष्यके अन्दर रहनेवाला यह आत्मा जैसे-जैसे आत्म-विषयक अपने अज्ञानसे बाहर निकलकर अपनी आत्म-सत्तामें विकसित होता है, वैसे-वैसे वह स्वात्म ज्ञानमें बढ़ता जाता है। भगवान् भी इस विश्वजीवनके नानाविध रूपोंमें अपने-

आपको ढालते हुए, सामान्यतः, इसकी शक्तियोंके उत्कर्षमें, इसके ज्ञान, प्रेम, आनंद और विभूतिकी तेजस्विता और विपुलतामें, अपनी दिव्यताकी कलाओं और रूपोंमें आविर्भूत हुआ करते हैं। परन्तु जब भागवत-चेतना और शक्ति मनुष्यके रूपको तथा कर्मकी मानव-प्रणालीको अपने ऊपर ले लेती है और इसपर वह अपना स्वत्व केवल शक्तिमत्ता और विपुलताके द्वारा अथवा अपनी कलाओं और वाह्य रूपोंके द्वारा नहीं रखती, बल्कि अपने शाश्वत ज्ञानके साथ रखती है, जब वे अजन्मा अपने-आपको जानते हुए मानव-मन-प्राण-शरीरको धारण कर मानव-जन्मका जामा पहनकर कर्म करते हैं तब वह देश-कालके अन्दर भगवान्‌के प्रकट होनेकी पराकाष्ठा है, यही भगवान्‌का पूर्ण और चिन्मय अवतरण है, इसीको अवतार कहते हैं।

वेदांतके वैष्णव संप्रदायमें इस सिद्धांतकी बड़ी मान्यता है और वहाँ मनुष्यमें रहनेवाले भगवान् और भगवान्‌में रहनेवाले मनुष्यका जो परस्पर-संबंध है वह नर-नारायणके द्विविध रूपमें परिदर्शित किया गया है। इतिहासकी दृष्टिसे नर-नारायण एक ऐसे धर्म-संप्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं जिसके सिद्धांत और उपदेश गीताके सिद्धांतों और उपदेशोंसे बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। नर मानव-आत्मा है, भगवान्‌का निरंतन सखा है जो अपने स्वरूपको तभी प्राप्त होता है जब वह इस सखा-भावमें जागृत होता है, और तब वह जैसा कि गीतामें कहा गया है, उन भगवान्‌में निवास करने लगता है। नारायण मानव-जातिमें सदा वर्तमान भागवत आत्मा है, वे सर्वान्तर्यामी हैं, मानव-जीवके सखा और सहायक हैं। ये वे हैं, जिन्हें गीताने कहा है, ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति। हृद्देशके इस गूढ़ाशयके ऊपरसे जब आवरण हटा लिया जाता है और मनुष्य ईश्वरका साक्षात् दर्शन कर उनसे प्रत्यक्ष संभाषण करता है, उनके दिव्य शब्द सुनता है, उनकी दिव्य ज्योति ग्रहण करता और उनकी दिव्य शक्तिसे युक्त होकर कर्म करता है तब इस देहेन्द्रिय संयुक्त सचेतन मानव-जीवका परमोद्धार होकर उस अज अविनाशी शाश्वत स्वरूपको प्राप्त होना संभव होता है। तब वह भगवान्‌में निवास और सर्वभावसे भगवान्‌में अपनी समस्त चेतनाको समर्पितकर देनेमें समर्थ होता है, जिसे गीतामें 'उत्तम रहस्यम्' माना है। जब यह शाश्वत दिव्य-चेतना, जो मानव-प्राणिमात्रमें सदा विद्यमान है अर्थात नरमें विराजमान ये नारायण भगवान् इस मानव-चैतन्यको अंशतः या पूर्णतः अधिकृत कर लेते और दृश्यमान मानव-शरीरमें जगद्गुरु, आचार्य या जगन्नेता होकर प्रकट होते हैं तब यह उनका प्रत्यक्ष अवतार कहा जाता है यह उन आचार्यों या नेताओं की बात नहीं है, जो सब प्रकारसे हैं तो मनुष्य ही पर ऐसा भी अनुभव करते हैं कि दिव्य प्रज्ञाकी ही शक्ति, ज्योति या प्रेम उनका पोषण कर रहा है और उनके द्वारा सब कार्य करा रहा है, बल्कि यह उन मानव-तनुधारीकी बात है जो साक्षात् उस दिव्य प्रज्ञा से, सीधे उस केंद्रीभूत शक्ति और परिपूर्णतासे पोषित और परिचालित होते हैं। मनुष्यके अन्दर जो भगवान् हैं वह नरमें नारायणके सनातन अवतार हैं, और नरमें जो उनकी अभिव्यक्ति है वही है वहिर्जगत्‌में उनका स्नेह और विकास।

अवतारका स्वरूप और हेतु

अब हम लोग इस तत्त्वको जरा और अन्दर पैठकर देखें और उस दिव्य जीवनके वास्तविक अभिप्रायको समझें जिसके वाह्य-स्वरूपको ही अवतार कहते हैं। सबसे पहले हम

(गीतामें कहे गये) श्रीभगवान्के उन शब्दोंका अनुवाद करके सामने रख दें ज़िसमें अवतार-के स्वरूप और हेतुका संक्षेपमें वर्णन किया गया है तथा उन श्लोकों या बचनोंको भी ध्यानमें ले आवें जो उससे सम्बन्ध रखते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "बहुतसे जन्म, हे अर्जुन, मेरे और तेरे भी बीत चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ, पर तू नहीं जानता। हे परंतप, मैं अपनी सत्तासे यद्यपि अज और अविनाशी हूँ, सब भूतोंका स्वामी हूँ, तो भी मैं अपनी प्रकृतिको अपने अधीन रखकर आत्म मायासे जन्म लिया करता हूँ। जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका उत्थान होता है, तब-तब मैं अपना सृजन करता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार और पापात्माओंका संहार करने तथा धर्मकी संस्थापना करनेके लिए मैं युग-युगमें जन्म लिया करता हूँ। मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो कोई तत्त्वतः जानता है वह इस शरीरको छोड़नेपर पुनर्जन्मको नहीं बल्कि, हे अर्जुन, मुझको प्राप्त होता है। राग, भय और क्रोधसे मुक्त, मेरे ही भावमें लीन, मेरा ही आश्रय करनेवाले, ज्ञानतपसे पुनीत अनेकों पुरुष मेरे भावको (पुरुषोत्तमके भावको) प्राप्त हुए हैं। जो जिस प्रकार मेरी ओर आते हैं उन्हें मैं उसी प्रकारसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूँ (भजामि) हे पार्थ, सब मनुष्य सब तरहसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।"

परन्तु बहुतसे मनुष्य अपने कथनको गीतासे अपने कर्मोंकी सिद्धि चाहते हुए, देव-ताओंके अर्थात् एक परमेश्वरके विविध रूपों और व्यक्तित्वोंके प्रीत्यर्थ यज्ञ करते हैं, क्योंकि कर्मोंसे—ज्ञानरहित कर्मोंसे होनेवाली सिद्धि मानव जगतमें सुगमतासे प्राप्त होती है, पर वह केवल उसी जगत्की होती है। परन्तु दूसरी सिद्धि, अर्थात् पुरुषोत्तमके प्रीत्यर्थ किए जानेवाले ज्ञान-युक्त यज्ञके द्वारा मनुष्यकी दिव्य आत्मपरिपूर्णता उसकी अपेक्षा अधिक कठिनतासे प्राप्त होती है; इस यज्ञके जो फल होते हैं वे सत्ताकी उच्चतर भूमिकाके होते हैं और जल्दी पकड़में नहीं आते। इसलिए मनुष्योंको अपने गुण-कर्मके अनुसार चतुर्विध धर्म-का पालन करना पड़ता है और सांसारिक कर्मके इस क्षेत्रमें वे भगवान्को उनके विविध गुणोंमें ही ढूढ़ते हैं। परन्तु भगवान् कहते हैं कि यद्यपि मैं चतुर्विध कर्मोंका कर्त्ता और चातुर्वर्ण्यका स्रष्टा हूँ तो भी मुझे अकर्त्ता, अव्यय, अक्षर आत्मा ही जानना चाहिए। "कर्म मुझे लिप्त नहीं करते, न कर्मफलकी मुझे कोई स्पृहा है।" कारण भगवान् नैर्व्यक्तिक हैं और इस अहंभावापन्न व्यक्तित्वके तथा प्रकृतिके गुणोंके इस द्वंद्वके परे हैं, और अपने पुरुषोत्तम स्वरूपमें भी, जो उनका नैर्व्यक्तिक पुरुषभाव है, वे कर्मके अन्दर रहते हुए भी अपनी इस परम स्वतन्त्रतापर अधिकार रखते हैं। इसलिए दिव्य कर्मोंके कर्त्ताको चातुर्वर्ण्य-का पालन करते हुए भी उसीको जानना और उसीमें रहना चाहिए जो परे है, जो नैर्व्य-क्तिक है और फलतः जो परमेश्वर है। "इस तरह जो मुझे जानता है" भगवान् कहते हैं कि "वह अपने कर्मोंसे नहीं बंधता। यह जानकर मुमुक्ष लोगोंने पुराकालमें कर्म किया; इसलिए तू भी उसी पूर्वतर प्रकारके कर्मका आचरण कर जो पूर्व पुरुषों द्वारा आचरित हुआ है।"

गीताके जिन श्लोकोंका अनुवाद ऊपर दिया गया है उनमेंसे पिछले श्लोक···दिव्य कर्मका स्वरूप बतलाते हैं और पहलेके श्लोक···दिव्य जन्म अर्थात् अवतार-तत्त्वका प्रति-

पादन करते हैं। पर यहाँ हमें एक बात बड़ी सावधानीसे कह देनी है कि अवतारका आना मानव-जातिके अन्दर भगवान्‌का व्यक्त परम रहस्य है— केवल धर्मकी संस्थापनाके लिए ही नहीं होता; क्योंकि धर्म संस्थापना स्वयं कोई इतना बड़ा और पर्याप्त हेतु नहीं है; कोई ऐसा महान् लक्ष्य नहीं हैं जिसके लिए ईसा या कृष्ण या बुद्धको उतर आना पड़े, धर्मसंस्थापना तो किसी और भी महान् परतर और भागवत संकल्पसिद्धिकी एक सहचरी अवस्थामात्र है। कारण, दिव्य जन्मके दो पहलू हैं, एक है अवतरण, मानवजातिमें भगवान्‌का जन्मग्रहण, मानव आकृति और प्रकृतिमें भगवान्‌का प्राकट्य, यही सनातन अवतार है; दूसरा है आरोहण, भगवानके भावमें मनुष्यका जन्मग्रहण, भागवत प्रकृति और भागवत चैतन्यमें उसका उत्थान (मद्‌भावमागताः), यह जीवका नवजन्म, द्वितीय जन्म है। भगवान्‌का अवतार लेना और धर्मकी स्थापना करना इसी नवजन्मके लिए होता है।

यदि परमेश्वरके सत्ताके अन्दर आरोहण करनेमें मनुष्यकी सहायता करना मानव-रूपमें परमेश्वरके अवतरणका हेतु न हो तो धर्मके लिए भगवानका अवतार लेना एक निरर्थक-सा व्यापार प्रतीत होगा कारण, धर्म, न्याय और सदाचारकी रक्षाका कार्य तो भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता अपने सामान्य साधनोंके द्वारा, अर्थात् महापुरुषों और महान् आन्दोलनोंके द्वारा तथा ऋषियों, राजाओं और धर्माचार्योंके द्वारा सदा कर ही सकती है, उसके लिए अवतारकी कोई यथार्थ आवश्यकता नहीं है। अवतारका आना होता है मानव-प्रकृतिमें भागवत प्रकृतिको प्रकट करनेके लिए, ईसा, कृष्ण और बुद्धकी भगवत्ताको अभि-व्यक्त करनेके लिए, जिससे कि मानव प्रकृति अपने सिद्धान्त, विचार, अनुभव, कर्म और सत्ताको ईसा, कृष्ण और बुद्धके साँचेमें ढालकर स्वयं भागवत् प्रकृतिमें रूपांतरित हो जाय। अवतार जो धर्म स्थापित करते हैं उसका मुख्य हेतु भी यही होता है। ईसा, बुद्ध, कृष्ण इस धर्मके तोरणद्वार बनकर स्थित होते हैं और अपने अन्दरसे ही वह मार्ग निर्माण करते हैं जिसका अनुवर्तन करना मनुष्योंका धर्म होता है। यही कारण है कि प्रत्येक अवतार मनुष्योंके सामने अपना ही दृष्टांत रखते हैं। अपने आपको एकमात्र मार्ग और तोरण-द्वार घोषित करते हैं, अपनी मानवताको ईश्वरकी सत्ताके साथ एक बतलाते हैं और यह भी प्रकट करते हैं कि मैं जो मानव पुत्र हूँ वह और जिस ऊर्ध्वस्थित पितासे मैं अवतरित हुआ हूँ वह, दोनों एक ही हैं,—मनुष्य शरीरमें जो श्रीकृष्ण हैं वे और परमेश्वर तथा सर्वभूतोंके सुहृद् जो श्रीकृष्ण हैं वे, ये दोनों उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमके ही प्रकाश हैं। वहाँ वे अपनी ही सत्तामें प्रकट हैं, यहाँ मानव आकारमें प्रकट हैं।

गीताकी भाषासे यह स्पष्ट होता है कि दिव्य जन्ममें भगवान् अपनी अनन्त चेतनाके साथ मानवताके अन्दर जन्म लेते हैं और यह मूलतः सामान्य जन्मका उल्टा प्रकार है— यद्यपि जन्मके साधन वे ही हैं जो सामान्य जन्मके होते हैं—क्योंकि यह अज्ञानमें जन्म लेना ही है, बल्कि यह ज्ञानका जन्म है, कोई भौतिक घटना नहीं बल्कि आत्माका जन्म है। यह आत्माका स्वतः स्थित पुरुष रूपसे जन्मके अन्दर आना है, अपने भूतभावको सचेतन रूपसे नियंत्रित करना है, अज्ञानके बादलमें अपने आपको खो देना नहीं है। यह पुरुषका प्रकृतिके प्रभुके रूपमें शरीरमें जन्म लेना है। यहाँ प्रभु अपनी प्रकृतिके ऊपर खड़े होकर

स्वेच्छासे, स्वच्छन्दतापूर्वक उसके अन्दर कार्य करते हैं, उसके अधीन बेबस होकर, भवचक्र-रूपी यंत्रमें फंसे भटकते नहीं रहते, क्योंकि उनका कर्म ज्ञान-कृत होता है। सामान्य प्राणियोंका-सा अज्ञानकृत नहीं होता। यह सब प्राणियोंके अन्दर छिपे हुए अन्तर्यामी अन्तरात्माका ही परदेकी आड़से बाहर निकल आना और मानवरूपमें पर भगवानकी भाँति उस जन्मको अधिकृत करना है जिसे वह सामान्यतः परदेकी आड़में ईश्वररूपसे अधिकृत किये रहता है। जब कि परदेकी बाहरकी जो वहिर्गत चेतना है वह अधिकारी होनेकी अपेक्षा स्वयं ही अधिकृत रहती है, क्योंकि वहाँ वह आंशिक सचेतन सत्ता-रूपसे आत्मविस्मृत जीव है और प्रकृतिके अधीन जो यह जगत् व्यापार है उसके द्वारा अपने कर्ममें बँधा है। इसलिये अवतारका अर्थ है भागवत पुरुष श्रीकृष्णका सत्ताके दिव्य भावको मानवताके अन्दर प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट करना। भगवान् गुरु अर्जुनको, जो मानव आत्मा है, मानवप्राणिका श्रेष्ठतम नमूना है, उसी दिव्य भावमें ऊपर उठनेके लिये नियन्त्रित करते हैं और उस भावमें वह तभी पहुँच सकता है जब वह अपनी सामान्य मानवताके अज्ञान और सीमाको पार कर चुकेगा। यह ऊपरसे उसी तत्वका नीचे आकर आविर्भूत होना है जिसे हमें नीचेसे ऊपर चढ़ा ले जाना है, यह मानव सत्ताके उस दिव्य जन्ममें भगवान्का अवतरण है जिसमें हम मर्त्य प्राणियोंको आरोहण करना है, यह मानव-प्राणिके सम्मुख, मनुष्यके ही आकार और प्रकारके अन्दर तथा मानव जीवनके पूर्णता प्राप्त आदर्श नमूनेके अन्दर, भगवान्का एक आकर्षक दिव्य उदाहरण है।

भगवान्के अवतरणकी प्रणाली

गीता साफ-साफ शब्दोंमें कहती है कि भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे बहुतसे जन्म बीत चुके और अपने शब्दोंसे यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे ग्रहणशील मानव-प्राणीमें उतर आनेकी बात नहीं कह रहे हैं, बल्कि भगवान्के ही बहुतसे जन्म ग्रहण करने की बात कह रहे हैं, क्योंकि यहाँ वह ठीक सृष्टिकर्त्ताकी भाषामें बोल रहे हैं''' । वह कहते हैं "यद्यपि मैं प्राणियोंका अज अविनाशी ईश्वर हूँ, तो भी मैं अपनी मायासे अपने आपको सृष्ट करता हूँ" अपनी प्रकृतिके कार्योंका अधिष्ठाता होकर। यहाँ ईश्वर और मानवजीव या पिता और पुत्रकी, दिव्य मनुष्यकी कोई बात नहीं है, बल्कि केवल भगवान् और उनकी प्रकृतिकी बात है। भगवान् अपनी ही प्रकृतिके द्वारा मानव-आकार और प्रकारमें उतरकर जन्म लेते हैं। यद्यपि वे मनुष्यके आकार, प्रकार और साँचेके ऊपर रहकर कर्म करना स्वेच्छासे स्वीकार करते हैं, तो भी वे उसके अन्दर भागवत चेतना और भागवत शक्तिको ले आते हैं और शरीरके अन्दर प्रकृतिके जो कर्म होते हैं उनका नियमन वे उसके अन्तःस्थित और ऊर्ध्वस्थित आत्मामें रहकर करते हैं, "प्रकृतिं स्वां अधिष्ठाय।" ऊपरसे वे सदा ही शासन करते हैं, क्योंकि इसी तरहसे वे समस्त प्रकृतिका शासन करते हैं, और मनुष्य प्रकृति भी उसके अन्तर्गत है; अन्दरसे भी वे सारी प्रकृतिका सदा ही शासन करते हैं, पर स्वयं छिपे हुए रहकर, यहाँ जो कुछ अन्तर है वह यह है कि अवतारमें वे अभिव्यक्ति रहते हैं, प्रकृतिको ईश्वर रूपमें भगवान्की सत्ताका, अन्तर्यामी अचेतन ज्ञान रहता है, यहाँ प्रकृतिका संचालन ऊपरसे उनकी गुप्त इच्छाके द्वारा 'स्वर्गस्थ पिताकी

प्रेरणाके द्वारा' नहीं होता, बल्कि भगवान् अपने प्रत्यक्ष प्रकट संकल्पसे ही प्रकृतिका संचालन करते हैं। यहाँ किसी मनुष्यको मध्यस्थ बनानेके लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि यहाँ 'भूतानां' ईश्वर अपनी प्रकृतिका आश्रय करके, किसी जीवकी विशिष्ट प्रकृतिको नहीं, मानव जन्मके जामेको ओढ़ लेते हैं।

बात बड़ी विलक्षण है, जल्दी समझमें आने लायक नहीं है। मनुष्यकी बुद्धिके लिए इसे ग्रहण करना आसान नहीं है, और इसका कारण भी स्पष्ट है—अवतार आखिर होते हैं तो स्पष्ट रूपसे मनुष्यके ही जैसे। पर अवतारके सदा दो रूप होते हैं—भागवतरूप और मानवरूप, भगवान् ओढ़ लेते हैं मानव-प्रकृतिको, उसकी सारी बाह्य सीमाओंको और उसीको बना लेते हैं भागवत चैतन्य और भागवत शक्तिको परिस्थित, साधन और करण, दिव्य जन्म और दिव्य कर्मका एक पात्र। ...क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अवतारके अवतरणका उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सकता। अवतरणका उद्देश्य तो यही दिखलाता है कि मानव-जन्म मनुष्यकी सारी सीमाओंके रहते हुए भी दिव्य जन्म और दिव्य कर्मका साधन और करण बनाया जा सकता है, अभिव्यक्ति दिव्य चैतन्यके साथ मानवचैतन्यका मेल बैठाया जा सकता है, मानव-चैतन्यका धर्मांतर करके उसे दिव्य चैतन्यका एक पात्र बनाया जा सकता है, और उसके सांचेका रूपांतर करके तथा उसके प्रकाश, प्रेम, सामर्थ्य और पवित्रताकी शक्तियोंको ऊपर उठा करके उसे दिव्य चैतन्यके अधिक समीप लाया जा सकता है। यह सब कैसे किया जा सकता है यह दिखलाना भी अवतारके उद्देश्यमें शामिल है। यदि अवतारके द्वारा अद्भुत चमत्कार ही हुआ करें, जो मनुष्यके सामान्य जीवनमें संभव नहीं, तो इससे अवतरणका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता असाधारण अथवा अद्भुत चमत्कार रूप अवतारके होनेका कुछ मतलब ही नहीं होता। तब यह भी जरूरी नहीं कि अवतार असाधारण शक्तियोंका प्रयोग—जैसे ईसाके रोगियोंको आराम कर देनेवाले तथा कथित चमत्कार करे ही नहीं, क्योंकि असाधारण शक्तियोंका प्रयोग मानव-प्रकृतिकी सम्भावनाके बाहरकी बात नहीं है। परन्तु इस प्रकारकी कोई शक्ति न भी हो तो उससे अवतारमें कोई कमी नहीं आती, न यह कोई मूल बात है, और यदि अवतारका जीवन केवल एक असाधारण आतिशबाजीका खेल हो तो इससे भी काम न चलेगा। अवतार कोई ऐंद्रजालिक जादूगर बनकर नहीं आते, प्रत्युत मनुष्यजाति के भागवत नेता और भागवत मनुष्यके एक दृष्टान्त होकर आते हैं। मनुष्योचित शोक और भौतिक दुःख भी उन्हें झेलने पड़ते हैं और उनसे काम लेना पड़ता है जिससे कि वह यह दिखला सकें कि किस प्रकार इस शोक और दुःखको आत्मोद्धारका साधन बनाया जा सकता है। ईसाने दुःखोंको उठाकर यही दिखाया। फिर दूसरी बात उन्हें यह दिखलानी होती है कि मानव-प्रकृतिमें अवतरित भागवत आत्मा इस शोक और दुखको अपने ऊपर ओढ़ लेनेके बाद उसी प्रकृतिमें उसे किस प्रकार जीत सकता है। बुद्धने यही करके दिखाया था। ...भागवत आनन्दके अवतारके आनेसे पहले शोक और दुखको झेलनेवाले अवतारकी भी आवश्यकता होती है, मनुष्यकी सीमाको ओढ़ लेनेकी आवश्यकता होती है ताकि यह दिखाया जा सके कि इसे किस प्रकार पार किया जा सकता है और यह सीमा किस प्रकार या कितनी दूर तक पारकी जाएगी, केवल आंतरिक

रूपसे पारकी जायगी या बाह्य रूपसे भी। यह बात मानवजातिके उत्कर्ष अवस्थापर निर्भर करेगी, यह सीमा किसी अमानव चमत्कारके द्वारा नहीं लाँघी जायगी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवतारके द्वारा मन, बुद्धि और शरीरका ग्रहण कैसे होता है? कारण इनकी सृष्टि अकस्मात् एक साथ इसी रूपमें नहीं हुई होगी, बल्कि भौतिक या आध्यात्मिक या दोनों ही प्रकार के किसी विकास क्रमसे ही हुई होगी। इसमें सन्देह नहीं कि अवतारका अवतरण दिव्य जन्मकी ओर मनुष्यके आरोहणके समान ही तत्त्वत: एक आध्यात्मिक व्यापार है जैसा कि गीताके 'आत्मानं सृजामि' वाक्यसे जान पड़ता है, यह आत्माका जन्म होता है। परन्तु फिर भी उसके साथ एक भौतिक जन्म तो लगा ही रहता है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवतारके मानवी मन और शरीरका कैसे निर्माण होता है। ··· गीताके इसी अवतार वाले श्लोकमें ही पुनर्जन्मका सिद्धांत स्वयं अवतारके लिए भी हिम्मतके घटाया गया है और पुनर्जन्मके सम्बन्धमें जो सामान्य मान्यता है वह यही है कि पुनर्जन्मग्रहण करनेवाला जीव स्वयं ही अपने पिछले आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक विकासके अनुसार अपने मनोमय और भौतिक शरीरको निर्धारित करता या यों कहें कि तैयार करता है। जीव स्वयं ही अपना शरीर निर्माण करता है, उसका शरीर उससे पूछे बिना यों ही तैयार नहीं कर दिया जाता। तो क्या इससे हम समझ लें कि सनातन या सतत अवतार अपने अनुकूल अपना मनोमय और अन्नमय शरीर मानव-विकासकी आवश्यकता और गतिके अनुसार आप ही निर्माण करते और इस तरह युग-युगमें प्रकट करते हैं? इसी तरहके किसी एक भावसे कुछ लोग विष्णुके दश अवतारोंकी व्याख्या करते हैं। ···हमारी आधुनिक मनोवृत्तिके लिए इस व्याख्याको स्वीकार करना बहुत ही कठिन है, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि गीताकी भाषाका रुख इस ओर ही है। अथवा जबकि गीता इस समस्याका साफ तौरपर समाधान नहीं देती तब हम लोग अपने ही किसी दूसरे तरीकेसे इस प्रश्नको हलकर सकते हैं और यह कह सकते हैं कि अवतारका शरीर तो जीवके द्वारा निर्माण होता है पर जन्मसे उसे धारण करते हैं भगवान् अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस शरीरको गीतोक्त 'चत्वारो मनव:' अर्थात् प्रत्येक मानव मन और शरीरके आध्यात्मिक पितर प्रस्तुत करते हैं। अवश्य ही इस तरह करना गूढ़ रहस्यमें क्षेत्रकी गहराईमें प्रवेश करना है ···परन्तु जब हमने अवतारका होना मान लिया तब रहस्यमय क्षेत्रमें हमारा प्रवेश तो हो गया और जब प्रवेश हो गया तब एक-एक कदम मजबूतीसे रखते हुए आगे बढ़ते चलना ही उत्तम है।

[प्रेषक : श्रीरविशंकर मिश्र]

●

अगर किसीको यह विश्वास हो जाय कि ईश्वर ही यह सब कुछ कर रहा है, तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

—रामकृष्ण परमहंस

भक्तका स्वभाव

प्रह्लादने गुरुओंकी बात मानकर हरिनामको न छोड़ा, तब उन्होंने गुस्सेमें भरकर अग्निशिखाके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया। उस अत्यन्त भयंकर राक्षसीने अपने पैरोंकी चोटसे पृथ्वीको कँपाते हुए वहाँ प्रकट होकर बड़े क्रोधसे प्रह्लादजीकी छातीमें त्रिशूलसे प्रहार किया; किंतु उस बालकके हृदयमें लगते ही वह झलझलाता हुआ त्रिशूल टुकड़े-टुकड़े होकर जमीनपर गिर पड़ा। जिस हृदयमें भगवान् श्रीहरि निरन्तर प्रकटरूपसे विराजते हैं, उसमें लगनेसे वज्रके भी टूक-टूक हो जाते हैं, फिर त्रिशूलकी तो बात ही क्या है ?

पापी पुरोहितोंने निष्पाप भक्तपर कृत्याका प्रयोग किया था; बुरा करनेवालोंका ही बुरा होता है, इसलिये कृत्याने उन पुरोहितोंको मार डाला। उन्हें मारकर वह स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने गुरुओंको कृत्याके द्वारा जलाये जाते देखकर महामति प्रह्लाद 'हे कृष्ण! रक्षा करो! हे अनन्त! इन्हें बचाओ' ऐसा कहते हुए उनकी ओर दौड़े।

प्रह्लादजीने कहा—'हे सर्वव्यापी, विश्वरूप विश्व-स्रष्टा जनार्दन! इन ब्राह्मणोंकी इस मन्त्राग्निरूप भयानक विपत्तिसे रक्षा करो। यदि मैं इस सत्यको मानता हूँ कि सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् सभी प्राणियोंमें व्याप्त हैं तो इसके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ। यदि मैं सर्वव्यापी और अक्षय भगवान्‌को अपनेसे वैर रखनेवालोंमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायँ। जो लोग मुझे मारनेके लिये आये, जिन्होंने मुझे जहर दिया, आगमें जलाया, बड़े-बड़े हाथियोंसे कुचलवाया और साँपोंसे डँसवाया, उन सबके प्रति यदि मेरे मनमें एक-सा मित्रभाव सदा रहा है और मेरी कभी पापबुद्धि नहीं हुई है तो इस सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ।'

ऐसा कहकर प्रह्लादने उनका स्पर्श किया और स्पर्श होते ही वे मरे हुए पुरोहित जीवित होकर उठ बैठे और प्रह्लादका मुक्तकण्ठसे गुणगान करने लगे।

कूटनीतिज्ञ-शेखर भगवान् श्रीकृष्ण

श्रीजानकीनाथ शर्मा

[वे मूढ़-बुद्धि जो मायावियोंसे माया पूर्वक ही छल छद्म कूट-युद्ध आदिका आश्रय लिये बिना ही युद्ध करते हैं; वे निश्चयही पराभूत हो जाते हैं; हार जाते हैं।]

आजकल कूटनीतिज्ञोंमें इटलीके 'मेकेयाविलि'का नाम बड़े आदरसे लिया जाता है। उसकी 'प्रिन्स' पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है। किन्तु 'कौटल्य'[1] के सामने वह निरा छोकरा जँचता है। इनके अर्थशास्त्रका लोहा आधुनिक बुद्धिमानोंको भी पग-पगपर मानना पड़ता हैं, किन्तु इन कौटल्यने भी असुरगुरु शुक्रको अपने अर्थशास्त्रमें बार-बार आदरसे स्मरण किया है। इस तरह शुक्रकी कूटनीतिकी उड़ान बड़ी ही ऊँची दीखती है। पर वे ही शुक्र अपने नीतिसारमें उपसंहारके श्रीकृष्णके सम्बन्धमें जब लिखते हैं—

'न कूटनीतिरभवत् श्रीकृष्णसदृशो नृपः। (नीतिसार ४।६।१२ १३)अर्थात् आजतक पृथ्वीमें श्रीकृष्णके समान कोई भी कूटनीतिका प्रयोक्ता राजा न हुआ, तो चकित रह जाना पड़ता है। वस्तुतः श्रीकृष्णके मानो नस-नसमें कूटनीतिका तत्त्व भरा था। दूसरे शब्दोंमें उन्होंने भगवान्के साथ कूटनीतिका भी मूर्त्तिमान अवतार कहा जा सकता है। छल-छद्म

१—इनके इस नामके अनेक हेतु हैं, उनमें कूटनीति तथा कुटिल नीतिके व्यवहारके कारण भी इनके इस नामकी सार्थकता है। इसलिए यह 'कौटिल्य' नामसे भी अभिहित होते रहे हैं। 'मुद्रा राक्षस'के प्रथम अङ्कमें कविवर विशाखदत्त लिखते हैं—

कौटिल्यः कुटिलमतिः स एव एष,
क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नंदवंशम्। (मुद्राराक्षस १।७)

पुनः इनके 'कौटल्यो भुजगइव' (मु० रा० ३।११) आदि प्रयोग भी ऐसे हैं। बाणभट्ट भी कादम्बरीमें लिखते हैं—

'अति नृशंस प्रायोपदेश निर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्।'
इसके अतिरिक्त इनका गोत्र भी 'कुटल' नामका ही था।

और धोखा-धड़ीका प्रभाव उनके जन्मसे ही आरम्भ हो जाता है। उनके जन्म लेते ही पहरे वाले सो जाते हैं। बाहर-भीतरके सभी दरवाजे खुल जाते हैं। परम पवित्र वसुदेवजीके हृदयमें भी वंचनाका बीज अंकुरित होता है और वे अपनी जानको खतरेमें डालकर उस आधी रातमें कंस आदिकी कुछ भी परवाह न कर यमुना पार होते हैं। नंदके घरमें प्रवेश कर यशोदाके पीछे श्रीकृष्णको सुलाकर उनकी बालिका भी उठा ले जाते हैं। सर्वत्र उन्हें अद्‌भुत सफलता मिलती है, इन सब क्रियाओं एवं परिणामोंमें श्रीकृष्णका चिन्मय प्रभाव ही कारण है।

जब श्रीकृष्ण बढ़ते हैं—थोड़े ही बड़े होते हैं तो उनकी माखन-चोरी आदिकी लीला आरम्भ हो जाती है। इसमें उनकी बुद्धिका विकास देखते ही बनता है। पकड़े जाने पर भी धोखा देकर भाग निकलते हैं। एक दिन एक ग्वालिनने बड़े प्रयत्नसे उन्हें पकड़ लिया और बड़े प्रसन्न मनसे उलाहना देती हुई उन्हें नन्दरानीके पास ले चली। जब श्रीकृष्णने देखा कि अब काम सर्वथा बिगड़ना चाहता है तो उन्होंने झट उसके छोटे देवरको इशारेसे बुलाया और अपने हाथ बदलनेकी बात कहकर उसका हाथ गोपीके हाथमें रख कर आप चम्पत हो गये। ग्वालिन तो पूरी मग्न थी अपनी सफलतापर। यशोदाके दरवाजे पहुँचकर लगी वह गालियाँ बकने। इस बेहोशीमें उसे श्रीकृष्णके निकल भागनेका पता न रहा। यशोदा निकलीं तो उनसे कहने लगी कि देखो! तुम हमें झूठी बनाती थीं आज तो पकड़ ही लायी तुम्हारे लालको, अब कहो, कब तक तुम लोगोंका यह प्रजापर स्वेच्छाचार चलता रहेगा। यशोदाने कहा—कहाँ है हमारा लाला जरा ध्यानसे देखो तो, यह तो तुम्हारा देवर ही है, इस तरह गालियाँ देते समय जरा विचार भी तो कर लो। इतने भले लोगोंके बीच हल्ला करते हुए कुछ भी तो स्त्री-सुलभ शील और लज्जाका व्यवहार करो—

देखो ब्रजरानी! निज कर गहि लाई चोर, भोर ही ते आज बड़ो उधम मचावै है।
लैके ग्वाल-बाल संग आइ घुस जाइ घर माखन लुटाइ दधि-माठ हरकावै है।
कहैं कवि 'नाथ' झुंझलाई उठि माइ, बोली, छलमें छकी है तोय सरम न आवै है।
जोबनके जोर में न सूझत है तोय एरी, देवरको हाथ गहि कान्हर बतावै है।

विचारी गोपी मानो पृथ्वीमें समा गयी। लज्जित होकर वापस लौटी। बीच रास्तेमें श्रीकृष्ण मिले। पूछने लगे, कहो! कैसा रहा। अब पुनः पकड़कर ले चलोगी। इस बार तो इतनी ही दुर्दशा हुई। यदि आगे पुनः पकड़कर ले चलोगी तो और कोई उपाय सोचूँगा।

एक अन्य गोपीका श्रीकृष्णके साथ वार्त्तालाप सुनिये। एक सूने घरमें घुसकर वे माखन चुरा रहे थे कि उसने देख लिया। गोपी बोली 'अरे! तुम कौन हो?' कृष्ण बोले—'लोग मेरा नाम तो कृष्ण कहते हैं?' 'पर आपका इस स्थानसे क्या मतलब?' गोपीने पूछा। 'देवि! मैं भ्रममें पड़ गया। क्या बतलाऊँ, भूलकर इसे अपना ही मकान समझकर आ गया।' श्रीकृष्णने बड़ी शान्त मुद्रासे मुँह बनाकर उत्तर दिया। गोपी बोली 'खैर,

इसमें खास बात नहीं, किन्तु यह तो बतलायें कि माखनके घड़ेमें आपने हाथ क्यों डाल रखा है ?' अरे श्रीकृष्णने कहा, 'अजी कुछ न हो कहो, इसमें चींटियाँ बहुत-सी पड़ गई थीं। उन्हें निकाल रहा था।' 'यह भी ठीक, किन्तु आपने सोये हुए बच्चोंको क्यों जगाया ?' गोपीने पूछा।' देवि ! इन्हें बछड़ोंका पता लगाना चाहिये, पता नहीं कि वे कहाँ भाग गये हैं', (तात्पर्य यह कि जनाबने बछड़ोंको इससे भी पहले खोल भगाया। इन्हें व्यर्थ नहीं जगाया।')

कस्त्वं कृष्णभवेहि मां विमिह ते मन्मन्दिराशंकया,
युक्तं तन्नवनीतभाजनपुटे न्यस्तं किमर्थं करः।
कर्तुं तत्र पिपीलिकापनयनं सुप्ताः किमुद्बोधिताः ?
बाला वत्सगतिं विवेक्तुमिति संजल्पन् हरिःपातु वः ॥ (कृष्णकर्णामृतम् १।६७)

तत्पश्चात् तो ये 'चोर-जार-शिखामणिः' नामसे ही प्रसिद्ध हो गये। वकासुर वृत्तासुर, अरिष्टासुरके वधमें कूट-युद्धका ही आश्रय लिया। जरासंध वधके अवसरपर ये अर्जुन, भीमको साथ ले अपना और इन सबोंका ब्राह्मण वेष बनाकर उसके पास पहुँचे और उससे मल्ल युद्धकी भिक्षा माँगी। क्योंकि अन्य सभी युद्धोंमें उसने बीसों बार इन्हें परास्त किया था। बादमें २७ दिनोंके मल्ल युद्धमें वह भीमसेन जैसे योद्धासे भी न पराजित हुआ। बादमें घास चीरनेका संकेत कर कूट-युद्ध द्वारा भीमसेनसे उन्होंने उसका अन्त कराया। क्या यह कार्य किसी दूसरेसे सम्भव था ? इसी प्रकार रुक्मिणी-विवाहमें सबोंको धता बतलायी।

अब कूट-युद्धका एक विचित्र उदाहरण देखिये। कालयवनके युद्धमें परास्त होकर वह भागे। उसने इनका पीछा किया। गुफामें घुसकर इन्होंने अपना पीताम्बर मुचुकुन्द पर डाल दिया। इन्हें भलीभाँति ज्ञात था कि इसको जगानेवाला भस्म हो जायेगा। कालयवनने भी जल्दीमें यही समझा कि बस गुफामें वही घुसा है और भयसे सोनेका नाटक कर रहा है। उसके अतिरिक्त यहाँ आया ही कौन ? अन्तमें उसने उन्हें जगानेके लिये लात मारी। मुचुकुन्दने ज्योंहीं जगकर उसपर दृष्टि डाली कि वह जलकर भस्म हो गया। चलिये ! बिना किसी कर्मके उसका अन्त हुआ। यह कूट-युद्ध नहीं तो और क्या था ?

महाभारतके युद्धमें हजरतने शस्त्र तो न लिया, पर कूटनीतिके सामने शस्त्रकी आवश्यकता भी क्या थी ? नीतिकारोंने लिखा है—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्ता धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमता सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सनायकम् ॥

(पंचतंत्र १।२१५, शुक. ३१।१७९,
महा. १२।१२८,१।१२०)

अर्थात् धनुषधारीके वाण, शस्त्रीके अस्त्र-शस्त्र किसी एकका ही प्राण लेते हैं, और कभी-कभी वह भी नहीं लेते। किन्तु बुद्धिमानकी बुद्धि तो समूचे राष्ट्रको तहस नहस कर देती है। कूटनीतिके आचार्यने यहाँ इसको खूब सिद्ध कर दिखाया।

भीष्म पितामह युद्धमें हार नहीं रहे थे। कठिन समस्या थी। रातमें द्रौपदीको लिये, उसके पैरकी जूतियाँ हाथमें दबाये भीष्मके शिविरमें पहुँचे। आप एक ओर छिप

गये। भीष्मने द्रौपदीसे कहा 'बेटी क्या चाहती हो ?', 'दादाजी अपनी मृत्युका रहस्य बतायें' द्रौपदीने पूछा। भीष्म सब समझ गये। कहा— 'श्रीकृष्ण अवश्य तुम्हारे साथ आये हैं और उनकी ही यह युक्ति है।' किन्तु विवश थे। वचन दे दिया था। शिखण्डिकी कथा उन्हें बतलानी पड़ी और अर्जुनने इसीका सहारा लेकर उन्हें मार गिराया।

कर्णकी समस्या बड़ी कठिन थी। उसे आपने साम, दाम, भय सब दिखलाया। अन्तमें यह भी कह दिया कि द्रौपदी मानुषी नहीं देवी है। वह यज्ञकुण्डसे युवा हो पैदा हुई है। तुम पाण्डवोंके ज्येष्ठ भाई हो। यदि तुम हमारे पक्षमें आ जाओ तो यह साक्षात् लक्ष्मी स्वरूप दिव्य द्रौपदी छठे अवसर पर तुम्हारे पास भी आयेगी 'षष्ठे त्वं च तथा काले द्रौपदी ह्युपगमिष्यति (महा० उद्योग० ६८)। पर यदि यह सब भी न मानोगे तो निश्चय जानलो, हमारे निर्देशनमें अर्जुन तुम्हारा वध कर डालेगा। क्या जादू था कूटनीति का। अन्तमें कर्ण नहीं माना और अर्जुनको ललकारकर अधर्मयुद्ध द्वारा उसका उस समय वध करा डाला, जब विचारेके रथके चक्के पृथ्वीमें धस गये थे, उसने शस्त्रका परित्याग कर दिया था और वह चुपचाप खड़ा था। पता नहीं ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन उनके जीवनमें कितनी आती थीं, जिन्हें सुनकर महान् आश्चर्य होता है।

बड़ौदा ओरियेण्टल इंस्टीट्यूटके संग्रहालयमें अभिमन्यु 'उपाख्यानम्' नामक संस्कृत-काव्यकी एक हस्तलिखित प्रति है। इसमें श्रीकृष्ण कूटनीतिकी एक अद्भुत कथा है। इसमें बतलाया गया है कि एकवार अपलोचन नामक एक दैत्यने कृष्णसे अपने पितृवधका बदला चुकानेके लिये भगवान् शंकरकी आराधना की। एकांत स्थानमें उसने घोर तपस्या की। भगवान भोलेनाथ भी वर देनेको पहुँच गये। वास्तवमें एक ओर तो वह अपना अमरत्व चाहता था और दूसरी ओर कृष्णका वध। पर पार्वतीको इसका रहस्य ज्ञात था और उन्होंने शंकरको सावधान कर दिया। इसलिये शंकरजीने अपलोचनसे कहा, "मैं समझ गया तुम कृष्ण अर्थात् भगवान विष्णुसे लड़ना चाहते हो, जाओ किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे तुम्हारी मृत्यु न होगी"

अपलोचन निहाल हो गया और उसने समझ लिया कि मैं अमर हो गया। वह मय दानवके पास गया और उससे एक वज्रपिंजर (लोहेका एक पिंजड़ा) बनानेको कहा। मय ने उसे छः महीनेमें बनाकर तैयार कर दिया और अपलोचन उसे लेकर द्वारकामें श्रीकृष्ण को फंसाने पहुँचा। उसने सोचा था कि इसीमें बन्द कर दम घुटाकर श्रीकृष्णका सारा झगड़ा समाप्त कर दूंगा। पर श्रीकृष्णको इन सब बातोंका पता पहले ही चल गया। वे एक वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारणकर रास्तेमें ही अपलोचनसे जा मिले और कहने लगे कि आपके पिता मेरे यजमान थे। उनसे मेरी जीवन-यात्रा चलती थी। जबसे श्रीकृष्णने उनका वध किया है, मेरी बड़ी दुर्दशा है। आपने बड़ा भला किया जो श्रीकृष्णसे बदला लेनेका सोचा। अब क्या था अपलोचन उनकी बातोंमें आ गया और पिंजड़ेका रहस्य उसने बतला दिया। इस पर वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी श्रीकृष्णने कहा कि आपको यह पिंजड़ा श्रीकृष्णके शरीरका नाप लेकर बनाना चाहिये था। पता नहीं वे इसमें आ भी पायें या नहीं, क्योंकि उनका शरीर तो पर्याप्त पुष्ट है। तब वह घबड़ाया और श्रीकृष्णके शरीरके बारेमें पूछताछ करने

लगा। वृद्ध-ब्राह्मणने कहा —'वे प्रायः तुम्हारे ही जैसे हैं। यदि तुम इसमें आजाओगे तो वे भी निश्चय ही इसमें आ सकेंगे।' इसपर अपलोचन किसी प्रकार पिंजड़ेमें घुसनेका प्रयत्न करने लगा और अन्तमें घुस भी गया। उसके घुसते ही श्रीकृष्णने झट पिंजड़ेका दरवाजा बंद कर दिया और अन्तमें वह दम घुटकर मर ही गया।

यह जो कुछ भी हुआ वह तो साधारण बात ही थी। आगेकी कथा और आश्चर्यंकर है। 'अभिमन्यु आख्यान' में आता है कि इसके बाद कृष्णने उस वज्र-पिंजरको उसी प्रकार उठाकर अपने महलमें रख दिया रुक्मिणी सत्यभामा आदि रानियोंको उसे देखनेका कुतूहल हुआ। उन्होंने सुभद्रासे उसे खुलवाया। उनदिनों वह गर्भिणी थी। वह अपलोचनका भयानक शव देखते ही डर गयी और उसका प्रेतवायु जो पिंजरमें सर्वथा अवरूद्ध था उसके मुँहमें घुस गया। उसी समयसे सुभद्राके पेटमें पीड़ा होने लगी और वह बढ़ती गयी। जब श्रीकृष्णको इन सब बातोंका पता लगा तो वे चक्रव्यूह कथा कहने लगे। इधर सुभद्राकी आँखें लग गयी। श्रीकृष्णने देखा कि उसके गर्भसे शब्द आ रहा है। उसी समय उन्होंने कथा बन्द कर दी और व्यूहसे बाहर निकलनेकी विधि नहीं बतलाई। यह अपलोचन ही अभिमन्युके रूपमें उत्पन्न हुआ और अन्तमें चक्र व्यूहमें फँसकर मारा गया। यदि वह जीवित रहता तो कृष्णसे अवश्य बदला लेता, इसलिए जानकर आपने व्यूहसे बाहर आनेकी कथा नहीं बतलायी। यद्यपि उन्होंने अभिमन्यु बधपर बड़ा खेद प्रकट किया था, किन्तु उनके अन्तः करणमें यह सब बातें घूम रही थीं।

अभिमन्यु उपाख्यानकी यह कथा गुजराती राजस्थानी लोक-साहित्यमें भी प्रचलित है। श्रीकृष्णके लिए यह सब कुछ भी आश्चर्य कर न था। शुक्रने लिखा है कि सुभद्राको छलपूर्वक अर्जुनसे ब्याह करानेमें तो श्रीकृष्णने अपने घरके सभी लोग, माता-पिता तथा अपनी बहनसे भी कूटनीतिका आचरण कर दिया था। पर उनकी धर्मनीति भी प्रबल थी। वे गीताके वक्ता तथा आदर्श योगी भी थे। कूटनीतिका प्रयोग प्रायः असुरों तथा दुष्ट राजाओंसे ही करते थे। शास्त्रोंने ऐसा करना बुरा भी नहीं माना है। बल्कि 'महाभारत' में मायाचारियोंको तो माया पूर्वक ही परास्त करनेकी बात आयी है; मायाचारों मायया वाधितष्य: साहवाचारो साधुना प्रत्युयेमः।' कौटल्यने भी अर्थशास्त्रके अन्तमें कूटयुद्धकी बातें लिखी हैं। भारवीने तो और ठिकानेसे कहा है :—

'व्रजन्ति ने मूढ़धियः पराभवं भवन्तिमायाविषु येन मायिनः।'

(किरातार्जुनीयं. १।३०)

अर्थात वे मूढ़ बुद्धि जो मायावियोंसे मायापूर्वक ही छलछद्म कूटयुद्ध आदिका आश्रय लिये विना ही युद्ध करते हैं, वे निश्चय ही पराभूत हो जाते हैं, हार जाते हैं। श्रीकृष्ण इसीसे शकुनि कर्णिक जैसे कूटनीतिज्ञोंको भी परास्तकर सके थे। किन्तु साधु, सन्तों एवं सज्जनोंके प्रति तो उनका व्यवहार-साधु ही रहा। इसलिए व्यास, विदुर, उद्धभ, युधिष्ठिर आदि उनके सदाभक्त बने रहे। इन्हीं सर्व-समान्यपूर्ण गुणोंके कारण वे साक्षात् भगवान्के रूपमें स्वीकृत हुए। वस्तुतः जैसे वे कूटनीतिके प्रयोक्ता थे, वैसे ही प्रेम, औदार्य, मृदुभाषण, विद्या एवं अन्यान्य गुणोंके भी केन्द्र थे।

●

गये । भीष्मने द्रौपदीसे कहा 'बेटी क्या चाहती हो ?', 'दादाजी अपनी मृत्युका रहस्य बतायें' द्रौपदीने पूछा । भीष्म सब समझ गये । कहा— 'श्रीकृष्ण अवश्य तुम्हारे साथ आये हैं और उनकी ही यह युक्ति है ।' किन्तु विवश थे । वचन दे दिया था । शिखण्डिकी कथा उन्हें बतलानी पड़ी और अर्जुनने इसीका सहारा लेकर उन्हें मार गिराया ।

कर्णकी समस्या बड़ी कठिन थी । उसे आपने साम, दाम, भय सब दिखलाया । अन्तमें यह भी कह दिया कि द्रौपदी मानुषी नहीं देवी है । वह यज्ञकुण्डसे युवा हो पैदा हुई है । तुम पाण्डवोंके ज्येष्ठ भाई हो । यदि तुम हमारे पक्षमें आ जाओ तो यह साक्षात् लक्ष्मी स्वरूप दिव्य द्रौपदी छठे अवसर पर तुम्हारे पास भी आयेगी 'षष्ठे त्वं च तथा काले द्रौपदी ह्युपगमिष्यति (महा० उद्योग० ६८) । पर यदि यह सब भी न मानोगे तो निश्चय जानलो, हमारे निर्देशनमें अर्जुन तुम्हारा वध कर डालेगा । क्या जादू था कूटनीति का । अन्तमें कर्ण नहीं माना और अर्जुनको ललकारकर अधर्मयुद्ध द्वारा उसका उस समय वध करा डाला, जब विचारेके रथके चक्के पृथ्वीमें धस गये थे, उसने शस्त्रका परित्याग कर दिया था और वह चुपचाप खड़ा था । पता नहीं ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन उनके जीवनमें कितनी आती थीं, जिन्हें सुनकर महान् आश्चर्य होता है ।

बड़ौदा ओरियेण्टल इंस्टीट्यूटके संग्रहालयमें अभिमन्यु 'उपाख्यानम्' नामक संस्कृत-काव्यकी एक हस्तलिखित प्रति है । इसमें श्रीकृष्ण कूटनीतिकी एक अद्भुत कथा है । इसमें बतलाया गया है कि एकबार अपलोचन नामक एक दैत्यने कृष्णसे अपने पितृबधका बदला चुकानेके लिये भगवान् शंकरकी आराधना की । एकांत स्थानमें उसने घोर तपस्या की । भगवान भोलेनाथ भी वर देनेको पहुँच गये । वास्तवमें एक ओर तो वह अपना अमरत्व चाहता था और दूसरी ओर कृष्णका वध । पर पार्वतीको इसका रहस्य ज्ञात था और उन्होंने शंकरको सावधान कर दिया । इसलिये शंकरजीने अपलोचनसे कहा, "मैं समझ गया तुम कृष्ण अर्थात् भगवान विष्णुसे लड़ना चाहते हो, जाओ किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे तुम्हारी मृत्यु न होगी"

अपलोचन निहाल हो गया और उसने समझ लिया कि मैं अमर हो गया । वह मय दानवके पास गया और उससे एक वज्रपिंजर (लोहेका एक पिंजड़ा) बनानेको कहा । मय ने उसे छः महीनेमें बनाकर तैयार कर दिया और अपलोचन उसे लेकर द्वारकामें श्रीकृष्ण को फंसाने पहुँचा । उसने सोचा था कि इसीमें बन्द कर दम घुटाकर श्रीकृष्णका सारा झगड़ा समाप्त कर दूंगा । पर श्रीकृष्णको इन सब बातोंका पता पहले ही चल गया । वे एक वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारणकर रास्तेमें ही अपलोचनसे जा मिले और कहने लगे कि आपके पिता मेरे यजमान थे । उनसे मेरी जीवन-यात्रा चलती थी । जबसे श्रीकृष्णने उनका बध किया है, मेरी बड़ी दुर्दशा है । आपने बड़ा भला किया जो श्रीकृष्णसे बदला लेनेका सोचा । अब क्या था अपलोचन उनकी बातोंमें आ गया और पिंजड़ेका रहस्य उसने बतला दिया । इस पर वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी श्रीकृष्णने कहा कि आपको यह पिंजड़ा श्रीकृष्णके शरीरका नाप लेकर बनाना चाहिये था । पता नहीं वे इसमें आ भी पायें या नहीं, क्योंकि उनका शरीर तो पर्याप्त पुष्ट है । तब वह घबड़ाया और श्रीकृष्णके शरीरके बारेमें पूछताछ करने

लगा। वृद्ध-ब्राह्मणने कहा—'वे प्रायः तुम्हारे ही जैसे हैं। यदि तुम इसमें आजाओगे तो वे भी निश्चय ही इसमें आ सकेंगे।' इसपर अपलोचन किसी प्रकार पिंजड़ेमें घुसनेका प्रयत्न करने लगा और अन्तमें घुस भी गया। उसके घुसते ही श्रीकृष्णने झट पिंजड़ेका दरवाजा बंद कर दिया और अन्तमें वह दम घुटकर मर ही गया।

यह जो कुछ भी हुआ वह तो साधारण बात ही थी। आगेकी कथा और आश्चर्यंकर है। 'अभिमन्यु आख्यान' में आता है कि इसके बाद कृष्णने उस वज्र-पिंजरको उसी प्रकार उठाकर अपने महलमें रख दिया रुक्मिणी सत्यभामा आदि रानियोंको उसे देखनेका कुतूहल हुआ। उन्होंने सुभद्रासे उसे खुलवाया। उनदिनों वह गर्भिणी थी। वह अपलोचनका भयानक शव देखते ही डर गयी और उसका प्रेतवायु जो पिंजरमें सर्वथा अवरुद्ध था उसके मुँहमें घुस गया। उसी समयसे सुभद्राके पेटमें पीड़ा होने लगी और वह बढ़ती गयी। जब श्रीकृष्णको इन सब बातोंका पता लगा तो वे चक्रव्यूह कथा कहने लगे। इधर सुभद्राकी आँखें लग गयी। श्रीकृष्णने देखा कि उसके गर्भसे शब्द आ रहा है। उसी समय उन्होंने कथा बन्द कर दी और व्यूहसे बाहर निकलनेकी विधि नहीं बतलाई। यह अपलोचन ही अभिमन्युके रूपमें उत्पन्न हुआ और अन्तमें चक्र व्यूहमें फँसकर मारा गया। यदि वह जीवित रहता तो कृष्णसे अवश्य बदला लेता, इसलिए जानकर आपने व्यूहसे बाहर आनेकी कथा नहीं बतलायी। यद्यपि उन्होंने अभिमन्यु बधपर बड़ा खेद प्रकट किया था, किन्तु उनके अन्तः करणमें यह सब बातें घूम रही थीं।

अभिमन्यु उपाख्यानकी यह कथा गुजराती राजस्थानी लोक-साहित्यमें भी प्रचलित है। श्रीकृष्णके लिए यह सब कुछ भी आश्चर्य कर न था। शुक्रने लिखा है कि सुभद्राको छलपूर्वक अर्जुनसे ब्याह करानेमें तो श्रीकृष्णने अपने घरके सभी लोग, माता-पिता तथा अपनी बहनसे भी कूटनीतिका आचरण कर दिया था। पर उनकी धर्मनीति भी प्रबल थी। वे गीताके वक्ता तथा आदर्श योगी भी थे। कूटनीतिका प्रयोग प्रायः असुरों तथा दुष्ट राजाओंसे ही करते थे। शास्त्रोंने ऐसा करना बुरा भी नहीं माना है। बल्कि 'महाभारत' में मायाचारियोंको तो माया पूर्वक ही परास्त करनेकी बात आयी है; मायाचारों मायया वाधितव्यः साहवाचारो साधुना प्रत्युयेमः।' कौटल्यने भी अर्थशास्त्रके अन्तमें कूटयुद्धकी बातें लिखी हैं। भारवीने तो और ठिकानेसे कहा है:—

'व्रजन्ति ने मूढ़धियः पराभवं भवन्तिमायाविषु येन मायिनः।'

(किरातार्जुनीयं. १।३०)

अर्थात वे मूढ़ बुद्धि जो मायावियोंसे मायापूर्वक ही छलछद्म कूटयुद्ध आदिका आश्रय लिये बिना ही युद्ध करते हैं, वे निश्चय ही पराभूत हो जाते हैं, हार जाते हैं। श्रीकृष्ण इसीसे शकुनि कर्णिक जैसे कूटनीतिज्ञोंको भी परास्तकर सके थे। किन्तु साधु, सन्तों एवं सज्जनोंके प्रति तो उनका व्यवहार-साधु ही रहा। इसलिए व्यास, विदुर, उद्धभ, युधिष्ठिर आदि उनके सदाभक्त बने रहे। इन्हीं सर्व-समान्यपूर्ण गुणोंके कारण वे साक्षात् भगवान्के रूपमें स्वीकृत हुए। वस्तुतः जैसे वे कूटनीतिके प्रयोक्ता थे, वैसे ही प्रेम, औदार्य, मृदुभाषण, विद्या एवं अन्यान्य गुणोंके भी केन्द्र थे।

●

मनन करो ?

मन एक मंदिर है, उसमें प्रतिष्ठापित देवप्रतिमा संकल्प है। संकल्प आदि शक्ति है, आदि सृष्टिका बीज है। अपने अन्दरकी संकल्प शक्तिका न्यायपूर्वक उपयोग करो। सावधान! कामनाओंके मोहजालमें फँसकर अपने संकल्पको बाहर फेंकनेका प्रयास न करो। अपने संकल्प-- अपने विचारको मन-मन्दिरमें ही रखो। जीवनकी सारी सफलताएँ संकल्प-शक्तिमें ही निहित हैं। संकल्प एक शक्ति है, महती शक्ति है, अमोघ शक्ति है। अपनी इस सहज प्राप्त शक्तिका उपयोग करना सीखो। समुचित विचार और समुचित क्रिया करनेमें ही संकल्पशक्तिका उपयोग है। जो आपको अभीष्ट हो, जो आपका लक्ष्य हो, उसे प्राप्त करनेमें संकल्पशक्तिका उपयोग करो। गलत रास्तेमें जानेसे बचनेके लिए और सही रास्तेमें अपने आपको दृढ़ रखनेमें अपनी संकल्पशक्तिका उपयोग अवश्य करो।

संकल्पका मूल उत्स श्रद्धा है। संकल्प शिशु है, श्रद्धा उसका पालना है। पालना हिलाना-सीखो, डोरी टूट न जाए, पालना बहक न जाए, कहीं टकरा न जाए; इसलिए श्रद्धा-पालनाको अखण्ड, सुदृढ़ बनाने का निरन्तर ध्यान रखो। विश्वास रखो यदि तुममें अखण्डित श्रद्धाकी सत्ताका उदय हुआ तो तुम अपने अयोग्य विचारोंके संस्कारोंका कुहासा पारकर मूलतत्त्वपर सबल संस्कार अंकित करनेमें पूर्ण सफल होंगे। श्रद्धा और संकल्पपर आरूढ़ तुम्हारी मनोकामनाओंके चित्र अनायास ही मूलतत्त्व द्वारा ग्रहणकर लिए जाएँगे। इतना ही नहीं वल्कि वे चित्र अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो जाते हैं। इसलिए शिवसंकल्पमय बनो। श्रद्धामय बनो ?

—अच्युत

वल्लभ सम्प्रदायके अज्ञात कवियोंके काव्यमें सख्य

डा० करुणा शर्मा एम०, ए०, डी० फिल०

[कृष्णका दही माँगकर सखाओंको खिला देना निश्चित रूपसे 'सख्य' भाव प्रस्तुत करता है, परन्तु गोपियोंके चीर खींच लेना, अटपटे ढंगसे व्यवहार करना तथा प्रेमपूर्ण चितवनसे व्यामोहित कर लेना उनकी सख्य लीलाको माधुर्य सम्पृक्त कर देता है ।]

वल्लभ सम्प्रदायके अज्ञात कवियोंकी एक बृहत् नामावली स्व० श्रीद्वारकाप्रसाद परीखने प्रस्तुतकी है[1], पर इन सभी पुष्टि मार्गीय कवियोंमें सख्य रस समान रूपसे नहीं मिलता । इन सभी अज्ञात कवियोंके काव्य जब हमारे सामने सुसम्पादित रूपमें आ जायेंगे तब इनके मूल्यांकनमें विशेष सुविधा होगी । जिस प्रकार वल्लभसम्प्रदायके अज्ञात कवियोंके काव्यमें उपलब्ध वात्सल्यका मूल्यांकन किया गया ठीक वैसी ही स्थिति सख्यकी उपलब्ध होती है । सख्य रसके आलंबन कृष्ण और आश्रय गोप-सखा हैं । अतः अधिकतर सख्य भावसे लिखे गये इन सभी पदोंका संबंध कृष्णकी पौगण्डलीला, गोचारणलीला, उराहनो, दानलीला आदिसे है । वल्लभसम्प्रदायके अज्ञातकवियोंके कुछ ही प्रकाशित सख्य रसके पदोंका एक मूल्यांकन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है:—

(१) रसखान (१७ वीं शताब्दी)

(अ) इहाँ नहीं है नंद को राज

मथुरा नगर सूधि चलूंगी, अरज करूंगी कंस महाराज

गाय चरैया गोरस माँगत, कहिसत फेरि तहूं नाँहि लाज

कहि रसखान तुम घरके ठाकुर, नाँहि सरे इत तेरो काज[2]

---

१. वल्लभीय सुधा वर्ष ११ अंक ४ ; सम्पादक श्रीद्वारका प्रसाद पारीख पृ० १५-२२

२. वही पृ० ८

(ब) गारी खावेगो मेरी गँवार

ऐसी कौन सिखाई तोहि पकरत आइ पराई नारि
जा जा रे गोरस के पिवैया तू कौन है रोकन हारि
ऐसी बरजोरी ना कीजै, मोहन सिख दई तोहे सतवार
खीझ मटुकिया झटकि पटकि बह्यो दह्यौ चली पनारि
कहि 'रसखानि' आजु मोहि जानि दे कल आऊँगी हों मुकरार[1]

उक्त दोनों पदोंमें 'रसखान' ने कृष्णके सख्य को मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। उसका सम्बन्ध दानलीलासे है। श्रीकृष्ण गोपियोंसे दान माँग रहे हैं।

इसमें कृष्णका दही माँगकर सखाओंको खिला देना निश्चितरूपसे 'सख्य' भाव प्रस्तुत करता है परन्तु गोपियोंके चीर खींच लेना, अटपटे ढंगसे व्यवहार करना तथा प्रेमपूर्ण चितवन से व्यामोहित करलेना उनकी सख्य लीलाको माधुर्य सम्पृक्त कर देता है। यों सामान्यतः दानलीलाके सभी पद माधुर्य-मिश्रित सख्यके अनुपम उदाहरण हैं।

१. राघौदास (सत्रहवीं शताब्दी)

(अ) दान गुमान सौं माँगत रावरे
नेकु न कान करो तुम मेरी
रहो जु रहो अपने पति सो ढोटा
किती सही लँगरायो मैं तेरो
'राघौदास' विचित्र विचारि कहे पिय
और कों छाँड़ि मोहि कों घेरी
मारोंगी ऐंच तमाचे की गाल में
तेरी किधौं तेरे बाप की चेरी[2]

गोपीका तमाचा मारनेको उद्यत होना, कृष्णका गर्वसे दान माँगना दूसरे सबको छोड़कर उसे ही घेर लेना और तेरी किधौं तेरे बापकी चेरी" आदि सभी सख्यके उद्दीपन हैं। यहाँ केवल 'विभाव' से ही सख्यरसकी कोटिपर पहुँचा है।

३. केसो (१७ वीं शताब्दी)

लंगर ढीठ यह नंद नगर को
जान्यौरी यह जसोदा को ढोटा है ठाकुर याके घरको
मथुरा बेचन जात दही लै मुख उघारि क्यो गुजरी को
सिरतें ले गागरि कौं पटकि झगरो स्याम सुन्दर को
नन्द को कछु देनो आवत है तुम अब यहाँ सो टरको
'केसो' प्रभु को दान देहों मोपें माँगत कछु कर को[3]

---

१. वही पृ० ८
२. वल्लभीय सुधा वर्ष ११ अंक ४ पृ० ८-९।
३. वही पृ० ९

४. चतुरबिहारी (१७वीं शताब्दी)

हम दधि बेचन जात याही मारग भये हो इजारदार तुम राह बाटके
हम सौं क्यों करत फैल भये हो अनोखे छैल हुकम करो तो जाय ग्वाल गोप ठाटके
भये यदुवंश कुल फल, फल गावत ही भयो, तुम्हें शाप नहीं रहे राजपाटके
'चतुरविहारी' गिरधारी छलछिद्र भरे, गोकुलकी गलीमें दलाल बड़े हाटके[1]

५. घोंघी (१७वीं)

उन्हें कान्ह घीरो घीरो
हों दधि बेचन जाऊँ मधुपुरी निपट निकट आवे नियरो
का पर कर एती ठकुराई का पर होत हैं रातो पियरो
'घोंघी'के प्रभु हों नीके जानति आखर जाति अहीरो[2]

उक्त तीनों कवियोंके पदोंकी वर्ण्य-वस्तु एक ही है जिसमें गोपी और कृष्णका परस्पर सख्य भावसे किया गया वाणी वैदग्ध है। वाणीके तीखे और चुभने वाले ये व्यंग सख्यको उद्दीप्त करनेमें पूरा योग देते हैं। श्रीचतुरविहारीके काव्यमें तो विदेशी शब्दोंके भी सहज प्रयोग उपलब्ध होते हैं। इजारदार, हुकम, दलाल, आदि शब्द इस वाणी विच्छित्तिको और अधिक सरस बनाते हैं। सख्यकी पृष्ठभूमिमें माधुर्यकी हल्की सी रुझान स्पष्ट होती है। वस्तुतः ये सब पद कृष्णकी कैशोर लीलाओंसे ही सम्बद्ध हैं।

६. जगजीवन (१७वीं)

छाक खाय खाय धाय धाय द्रुम चढ़ि
फैंता मुख पोंछत अंगोछत है कर सों कर
अवनि दंडान डार रुवावत जाकी हार,
रोवनी रुवाय छांडि हँसे सब हर हर
सखा सब देत कुक एक तो बिरामें वुक
खिजोरा खिजगारी देत कांपत हैं थर थर
'जगजीवन' गिरधारी तुमपर वारी लाल
याही पर राखो दाव कूदे सब घर घर[3]

उक्त पदमें सखाओंकी क्रीड़ाएँ छाक खाना, तथा वृक्षोंपर चढ़कर किलकारी करना, आलंबन कृष्णकी शैतानीका परिणाम है। सखाओंके इस 'छाक दही और दाव'के खेलमें सख्य सौंदर्य स्पष्ट है।

इसी प्रकार और भी कवि हैं जिनके पद उद्धृत किए जा सकते हैं। वस्तुतः वल्लभ-सम्प्रदायके इन अज्ञात कवियोंमें 'सख्य' जिस रूपमें भी आया है उसके प्रतिनिधि उदाहरण हमने ऊपर प्रस्तुत किये हैं।

---

१. वल्लभीयसुधा वर्ष ११ अंक ४ पृ० ८-९
२. वही।
३. वही।

प्रणयिनी

डा० हरीश एम० ए०, डी० फिल०

[यह अप्रकाशित खण्ड काव्य राजस्थानकी उस महिमामयी साधिका मीराँके जीवनको प्रस्तुत करता है—प्रणयकी दीपशिखा मीराँ—जन-जनके हृदयकी श्रद्धाकी पुष्प-कलिका मीराँ—जिसकी साधना और गीतोंकी स्वर-लहरीसे समस्त भारत दीपायित है।

कवि हरीशने उसके संघर्ष-प्रधान ज्योतिर्मय जीवनको प्रणयिनी खण्डकाव्यमें राशि-राशि अनुभूतियोंसे सँवारा है, बड़ी ईमानदारीसे मीराँकी भक्ति-साधनाको वाणी दी है। प्रणयिनी मीराँने रसेश्वर श्रीकृष्णका वरणकर अपने अन्तर्भेदी मर्मभरे उद्गारोंसे, प्रेमके उज्ज्वल रससे विश्व-मानवको अभिषिक्त किया है। गिरधर गोपालकी उस प्रणयिनीके जीवनका दिव्य सन्देश हरीश-स्वरमें श्रीकृष्ण-सन्देश प्रसारित करता है—सं०]

(मंगलसूत्र)

प्रीतिके अवतार ! मनके मीत ! जयके प्राण
हे मुरारी यह तुम्हारी बाँसुरीका दान
गति प्रगतिके रूप मोहन माधवी अनुराग
विश्वको दो कर्मका अच्युत ! अनंत सुहाग ॥१॥

× × ×

काम-क्रोध-विदग्ध पीड़ासे भरे संगीत
मार्ग हैं अवरुद्ध माधव ! मोहसे अभिनीत
भक्तवत्सल विभ्रमी जगके सभी अभियान
कहाँ मधुसूदन ! तुम्हारी मधुरिमा मुस्कान ॥२॥

× × ×

विष बुझे हैं पात्र सारे अहंसे आक्रान्त
फूंक दो वह शंख भटका विश्व फिर हो शान्त
ज्यों दिया आलोक विष अमृत बना उद्गीथ
त्यों हटादो मोह तामस जागरण हो गीत ॥३॥

× × ×

काव्यके प्रणयी ! तुम्हारे प्यारकी अशीष
सत्य शिव सुन्दर बने ये प्राणके स्वर ईश !
हे मुकुन्द ! उदार ! वाणी प्रणय काव्य विशेष
सृजन पाये, कर्मका दे विश्वको सन्देश ॥४॥

× × ×

प्रणयनी

प्रथम रश्मि

अग्नि पथ पर खेलते युग बीतते अज्ञात
द्वन्द या संघर्षसे ये चल रहे दिन रात
यामिनीका मोह तम बढ़ता गया भय भीत
मिलन पाती शांति मनको, है गिरा गोतीत ॥१॥

दिवस बीते पर न मिल पायी हृदयको प्रीत
कौन बोला मन अजिरसे बन मधुर संगीत
क्यों विषम हैं विश्वके पथ प्राणके आधार
बढ़ रही है प्यास प्रतिपल हो रहा मन मार ॥२॥

शून्यमें मुस्कान भरता कौन यों अनजान
स्वांस हर आभासमें है मोहका अनुदान
ज्यों सँजोता प्यासका रूपक मधुर विश्वास
त्यों विगत यह स्नेह होता रुग्ण होती आश ॥३॥

वेदनाकी एक रेखा चंचला सी क्रूर
खींचती जाती उदासीके क्षितिज भरपूर
ठोकरें समवेदनाका घनीभूत अशांत
मेघ संकुल, घिर गया नभ, हो गया उद्भ्रांत ॥४॥

ईश ! कैसे मिल सकेगा प्राणको पाथेय
भटकता जाता हृदय जीवन बना क्यों हेय
क्या तुम्हारे प्रणयमें है सौरभी विश्वास
क्या तुम्हारे नाममें है दिव्य तीव्र विलास ॥५॥

रिक्त मन भयभीत दिग्व्यापी भरे भव जाल
काटते हैं विषम विषयी कालके विष व्याल
आत्म बोध पुकार मधुमय कब मिलेगी प्राण !
अन्धकार उदास जीवन हो रहा है म्लान ॥६॥

चल चुका हूँ दूर इतना, छोड़ जगकी राह
ढल चुका हूँ चाँद जितना अब न कोई चाह
एक राही बढ़ रहा था कंटकोंमें शांत
कल्पनाका भार पथमें भर रहा था श्रान्त ॥७॥

शैल शैवालिनी सलिल-सी स्नेहकी पा धार
रश्मियाँ मरती शलभमें चंचला सा प्यार
उलझनोंमें डोलता था पथिकका विश्वास
पर न जाने हो रहा क्यों गति मधुर आभास ॥८॥

आत्म-बोध अशांत मनका है बड़ा उद्वेग
चुभ रहा था व्यंग-सा, मनमें अपार प्रवेग
प्रणयका लोभी हृदय अब हो गया था क्लांत
नयन थे आकुल जिया व्याकुल अनंत अशांत ॥९॥

बुझ न पायेगी कभी क्या वेदनाकी ज्वाल
खुल न पायेगा कभी क्या ग्रंथियोंका जाल
रोग शोक विषण्ण मनको घेरते चुपचाप
बढ़ रहे हैं पल रहे हैं पाप या सन्ताप ॥१०॥

क्या कभी संभव मिलेगा मधुर रस साकार
क्या कभी भी भूल पाऊंगा हृदयका भार
एक पूजा गीत रोया शलभ-सा ले प्यार
एक पूजा दीप खोया मुक्तिका उपहार ॥११॥

मृत्यु और विनाश भटके थे जहाँ अज्ञात
प्रेम प्रणयनकी विजय थी शांत था मन शांत
क्या उठेगा नाद ब्रह्मानंद सा यों प्रात
क्या बजेगी वेणु मन मोहन पुलक है गात ॥१२॥

मुस्कराता जा रहा है चांद मनका मीत
छिप रहा क्या बादलोंमें प्रीतका संगीत
एक दिन तो बज रहा था साधनाका तार
आज सोया, शांत गुंजन, है यही संसार ॥१३॥

दहकता शोला बनी थी साधनाकी आग
जागता हो भक्तिका जैसे उमड़ता राग
यों निरंतर गति प्रगतिमें आ गया था पास
उस पथिकके सामने वह भक्तिका मधुमास ॥१४॥

हर्षसे उन्मत्त नयनोंसे चली जलधार
भक्ति रसमें मुक्ति है या मंत्र-मोहन-प्यार
कष्टकी गहराइयोंसे उठा यह प्रतिमान
कौन स्रष्टा था बनाया दुर्ग या अभिमान ॥१५॥

सामने देखी पथिकने दुर्गकी मुस्कान
फर रही थी प्रीतके प्रणका मधुर अनुदान
आनका गौरव उठाये गर्वसे था सीस
विश्वका सम्राट ज्यों होता सभीका ईश ॥१६॥

चंद्रिकासे हीन तमसाछन्न था परिवेश
सो रहा था शिल्प उसका जागता सन्देश
वीरताका प्राण दृढ़ताका हृदय साकार
शौर्यका सागर उठा उत्साहका अम्बार ॥१७॥

वज्र सा भूपर खड़ा है दुर्ग यह चित्तौड़
भक्ति आकर पली, जिसके वीरताकी क्रोड़
दूरसे राही लगाये था नयनकी कोर
एक दीपक टिमटिमाता था वहीं उस ओर ॥१८॥

यही वह चित्तौड़ जिसमें तेज निष्ठा कर्म
यही वह चित्तौड़ वीरोंका रहा जो वर्म
यही वह चित्तौड़ शोणितका रहा जो गर्म
यही वह चित्तौड़ वीरोंका रहा जो धर्म ॥१९॥

क्या इसीमें क्रूरताका हो चुका है नृत्य
क्या इसीमें भृत्य भी सब सिंह थे यह सत्य
क्या इसीमें छद्म धोखा कूटनैतिक ह्रास
क्या इसीमें हो चुके साके अनेकों रास ॥२०॥

क्या यही वह दुर्ग जिसमें आग ही थी साज
क्या यही वह दुर्ग जौहरका पहनता ताज
क्या यही वह दुर्ग जिसमें प्रणयका मधुमास
क्या यही वह दुर्ग जिसके वीर रसके सांस ॥२१॥

याद है चित्तौड़ ! तुमको वेदनाके गीत
याद है चित्तौड़ ! तुम हो वीरताके मीत
याद है चित्तौड़ ! तुम सिंगारके शृंगार
याद है चित्तौड़ ! तुम हो प्यारके अभिसार ॥२२॥

कहाँ है चित्तौड़ ! तेरी पद्मिनीका द्वार
कहाँ है चित्तौड़ ! जौहरका ज्वलित अंगार
कहाँ है चित्तौड़ ! कुंभाका विजय अभिमान
कहाँ है चित्तौड़ ! गोरा और बादल-गान ॥२३॥

कहाँ है वह शौर्यका अवतार वीर प्रताप
कहाँ है चेतक, कहाँ है, 'शक्ति'का अभिशाप
कहाँ है वह स्वाभिमानी रंगका परिवेश
कहाँ है जीवन्त वह क्या हो गया सब शेष ॥२४॥

खड़ी वह देखो विजयकी माल पन्ना धाय
विवश है वनवीर अत्याचार कौन उपाय
कहाँ वह ताण्डव नटेश्वरका निरखता रूप
कहाँ वह छाया अमरताकी कहाँ है धूप ॥२५॥

कहाँ वह वैभव कहाँ है ध्वंसका अध्याय
कहाँ वह भैरव कहाँ वह चंडिकाका दाय
बंद क्यों हैं आज वे पन्ने कहाँ इतिहास
सिहरनें होतीं जिन्हें कर स्मरण मृत्यु विलास ॥२६॥

कौन कहता मर चुका तेरा विराट सुहाग
कौन कहता अमिट हैं तेरी विथाके दाग
कौन कहता सो गये तेरे गरभसे साँस
कौन कहता मिट चुकी तेरी विजयकी प्यास ॥२७॥

तू खड़ा तो आज जीवित है हमारा मान
तू खड़ा तो खड़ा है यह वीर राजस्थान
तू खड़ा तो वीर भोग्या तीर्थका सम्मान
तू खड़ा तो खड़ी तेरी वीरताकी शान ॥२८॥

दिव्य है चित्तौड़ ! तेरी है अनूपम धूल
दिव्य है चित्तौड़ ! तेरा ताज सुखका शूल
दिव्य है चित्तौड़ ! तेरा नाम सिरका मौर
दिव्य है चित्तौड़ ! तेरा जन्म जीवन-भोर ॥२९॥

धार हो अजस्त्र नाविकका शिथिल संसार
या कि मिल जाये उसे विश्वासका आधार
यों मिले हो तुम मुझे ज्यों नावको पतवार
हे अमर चित्तौड़ ! सम्बल प्रणयके साकार ॥३०॥

थी तृतीय मुहूर्त वेला रातकी सुनसान
गुनगुनाता पथिक सुनता दुर्ग भी अनजान
लगा कहने हे पथिक ! कर्मठ बनो प्रणवीर
ज्यों खड़ा हूँ मैं तुम्हें लो बाँटता हूँ धीर ॥३१॥

ब्राह्म काल प्रविष्ट होकर प्राप्त करलो प्रीत
मैं सुनाऊँगा तुम्हें वह प्रणयका उद्गीत
मोहका उत्सर्ग करना साधनाका सार
आन प्रणका मान रखना अमरता है प्यार ॥३२॥

यह वही धरती यहाँ पर मिटे अनगिन प्राण
यह वही धरती जहाँ स्फुलिंग उड़े गतिमान
वीरताके साथ ही श्रृंगारका सहवास
विरोधी है, पर पली है तृप्तिके संग प्यास ॥३३॥

अन्तराल विस्तृण कैसा सुन पड़ा ध्वनि गीत
हो गया आश्वस्त पाकर देवतासे प्रीत
रात्रिके निःशेष क्षण वह हो रही थी म्लान
झड़ रहे नक्षत्र झड़ते पात ज्यों पवमान ॥३४॥

भीम चक्राकार थे वे दुर्गके प्राचीर
भारतीय विभूति जिसका शिल्प प्राण अधीर
लगा उठने गगन चुंबी मन्दिरोंसे गीत
भर रहा प्राणमें सिहरन विमुक्त अतीत ॥३५॥

टिमटिमाता था शिखर पर दीप एक ज्वलंत
जल रहा ज्यों प्राणमें अन्तस् प्रकाश अनंत
रात्रिभर क्यों रही जलती ज्योति यह निस्पंद
पथिकके पीड़ित हृदयमें उठ रहा था द्वन्द ॥३६॥

[अपूर्ण]

ध्यान-विधि

ध्यानके समय नेत्रोंकी स्थिति

१. पुतली स्थिर हों, अपने स्थानपर जोर नहीं लगाना चाहिये। जैसे दो गुलाबके फूल रखे हों।

२. नींद आती हो तो नेत्र खुले रहने चाहिये। इसे उपनिषद्में पूर्णा दृष्टि कहते हैं।

३. मन चंचल होता है तो नेत्र बन्द कर लेने चाहिये। इसका नाम है अमादृष्टि।

४. निद्रा आलस्य और चंचलतासे रहित मन होनेपर, अर्धोन्मीलित नेत्रोंसे ध्यान करना चाहिये। नींद और चंचलता दोनोंका प्रकोप हो, तब भी यही दृष्टि उपयोगी है। यह प्रतिपद दृष्टि है।

५. नेत्र खुले हों बन्द हों या अधखुले, लक्ष्य अन्तर्देशमें ही होना चाहिये। पुतली और पलकें दोनों ही स्थिर होनी चाहिए।

शास्त्रमें कहा है कि जिसकी दृष्टि लक्ष्यके बिना, प्राण निरोधके बिना और वृति आलम्बनके बिना स्थिर है, वह योगी, पूज्य एवं गुरु है।

ध्यानके पाँच विघ्न

१. लय—मनका सो जाना।

२. विक्षेप—मनका चंचल होना।

३. रसास्वाद—मजा लेना, भोक्ता होना।

४. कषाय—रागास्पद या द्वेषास्पदका स्मरण।

५. अप्रतिपत्ति—ध्येयके स्वरूपको ठीक-ठीक ग्रहण न कर सकना।

लीलाधारी भगवान् श्रीकृष्ण

ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी आयुर्वेदाचार्य

[उस लीलाधारी महापुरुषकी जो दिव्य अलौकिक लीलायें होती हैं वह स्वार्थ पूर्ण नहीं होती हैं परन्तु परार्थ हुआ करती हैं जो शुभचिन्तक भावनाओंसे ओत-प्रोत होती हैं। उस महापुरुषसे सम्बन्ध स्थापित करनेपर उसकी इच्छासे कृपा कटाक्षके द्वारा ही उसके रहस्यको जाना जा सकता है।]

श्रीकृष्ण भगवान् साक्षात् निराकार परब्रह्मके अवतार थे इसमें तिलमात्र भी संदेह नहीं करना चाहिये। उस अव्यक्तने इस महान् संसारका निर्माण किया है जिसका पार पाना कठिन है, इसमें सभी गोते लगा रहे हैं। उसको जब इस संसारमें खेल करना होता है तो इस मानवदेहमें उसकी अलौकिक दिव्य लीलायें स्फुटित होती हैं। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है जब संसारमें उथल-पुथल एवं माया मोहमें पड़कर नितांत घोर असत्य मार्गका अवलंबन बढ़ जाता है उस परात्पर ब्रह्म परमात्माको भूल जाते हैं इस शरीरको ही परमात्माका निरूपणकर इस शरीरको भगवान सिद्ध करते हैं तथा अहंकारिक वृत्ति पैदा होती है तब उस समय वह परमात्मा सत्य, त्याग, तपस्या प्रेम आदि गुणोंसे समयानुसार ऋषि-मुनियोंके आदेशानुसार स्वयंको स्फुटितकर एवं प्रत्यक्षीकरण द्वारा संसारके लिए जागृति पैदा करता है।

समय देश कालानुसार उसकी अनंत-लीलायें हुई हैं होती रहती हैं एवं होती रहेंगी जिनको उच्चकोटिके संत महापुरुष ही समझ सकते हैं क्योंकि इनका जीवन इस अध्यात्मके अनुसंधानकी कसौटीपर कसकर प्रत्यक्षीकरण किया हुआ होता है। इसलिये यही उस परमात्माके रहस्यको भली-भाँति समझ सकते हैं। उनके संपर्कसे ही उस परमात्माके रहस्यको जाना जा सकता है तथा समझा जा सकता है। उन संत महात्माओंको सेवा सुश्रूषासे संतुष्ट करनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

उस लीलाधारी महापुरुष की जो दिव्य अलौकिक लीलायें होती हैं वह स्वार्थ पूर्ण नहीं होती हैं परन्तु परार्थ हुआ करती हैं जो शुभचिन्तक भावनाओंसे ओत-प्रोत होती हैं।

उसे महापुरुषसे सम्बन्ध स्थापित करनेपर उसकी इच्छासे कृपा कटाक्षके द्वारा ही उसके रहस्यको जाना जा सकता है।

व्रजमें सदैव उसकी लीलायें हुआ करती हैं। अन्तस्तलकी गहराईमें डूबकर उसे प्राप्त किया जा सकता है। वह शुद्ध प्रेम माधुर्यके द्वारा शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है लेकिन सारा खेल भावके ऊपर निर्भर करता है। जैसा भाव बनायेंगे तद्रूप प्राप्त हो सकता है।

उस निराकार परब्रह्मके अन्दर संसार रूपी अनेकों ब्रह्मांड सत्य, असत्यके रूपमें समाये हुये हैं। उसी प्रकार इस लीलाधारी महापुरुषमें गुणावगुण सभी समावेष हैं। उस महापुरुषकी लीला यह देहाभिमानी जीव कैसे समझ सकता है ? जब इसके समझमें नहीं आता तो सिवाय हीनताकी उपादेयता के अलावा इसके सामने और मार्ग ही क्या रह जाता है ? सारा खेल दृष्टि विभेदपर चलता है।

अनुकूल भावमें साधक सेवक, सुहृदकी जो भी इच्छायें होती हैं उन सभी पदार्थों-की पूर्तिकर देते हैं। वह अपनेको परम सौभाग्यशाली मानकर उस प्रभुका वरद् हस्त प्रसाद समझकर उपभोग करते हुए उसका निरन्तर गुणगान किया करता है या कदाचित ऐसा भी देखा जाता है कि इस अहैतुकी कृपाको प्राप्तकर विचार करता है इन तुच्छ भोगोंमें क्या रखा है अपने प्रभुको क्यों कष्ट दें इस प्रकार अपने हृदयमें सर्वदाके लिए प्रभुको बसा लेता है।

प्रतिकूल भावमें इनकी इच्छाओंके प्रतिकूल फल देता है। अर्थात् कोई भी कामना सिद्ध नहीं होने देता तब दुःख सहते-सहते एक सहनशीलताकी क्षमता पैदा होकर एक स्थिरता-सी पैदा हो जाती है। संसारके मायामोहसे दूर हटकर उस भगवानूको हमेशा रटता रहता है। उनकी लीलाओंका चिन्तन करते हुए दुःखको ही सुख मानकर अपने जीवनको आनन्दमय बना देता हैं।

दुःख पड़नेपर विचार उदय होता है कि ऐसा क्यों हो रहा है। तब सुलभ और सुन्दर मार्ग ढूढ़ने लगता है और धीरे-धीरे बुद्धिगम्य ज्ञानको संचितकर परम सुयोग ज्ञानी बनकर सुखमय एवं आनन्दमय जीवन बन जाता है।

●

भजन

साधु-सन्तोंकी भाषाके पीछे जो कल्पना होती है, वह देखनी चाहिये। वे साकार ईश्वरका चित्र खींचते हैं किन्तु भजन निराकारका करते हैं।

—मो० क० गान्धी

गोस्वामी हितहरिवंशजी

श्रीकृष्णगोपाल शर्मा

[व्रजकी विभूतियोंमें गोस्वामी हितहरिवंशजीका नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके भक्ति-मार्गमें प्रेम-भावकी प्रबल साधना है। इन्होंने प्रेमको रस स्वीकारकर अपने भक्ति मार्गको रस-मार्ग बनाया। —सं०]

हिन्दू साम्राज्यका पतन हो चुका था। मुस्लिम आक्रान्ताओंका भारतमें शासन जम चुका था। हिन्दूसमाज और हिन्दूधर्म विशृंखल और विद्रूप बनता जा रहा था। ऐसे दुर्द्धर्ष कालमें सोलहवीं शतीके प्रारम्भमें श्रीहितहरिवंशजीका प्रादुर्भाव हुआ था। उस समय दिल्लीके राजसिंहासनपर सिकन्दरलोदी आसीन था। सिकन्दर लोदीका शासन हिन्दू जनताके लिए घातक और बाधक था। यातनाओं और अत्याचारोंसे हिन्दू जनता त्राहि त्राहि पुकार रही थी। शासन और राजनीतिके इस विषाक्त वातावरणसे घबड़ाकर उस समयके अनेक महापुरुषोंने लोक कल्याण और वाह्य संघर्षसे विमुख होकर एकान्त साधना-का व्रत ले लिया था।

सोलहवीं शतीके पूर्वार्द्धकालमें जब राजनीतिक संघर्ष सामाजिक अपकर्ष अपनी सीमापर पहुँच चुका था तभी व्रजके 'बाद' गाँवमें श्रीहितहरिवंशजीका आविर्भाव हुआ। इनके वंशज देववन जिला सहारनपुरके निवासी थे और वंश गौड़ ब्राह्मण था। इस वंशके श्रीव्यासमिश्र वैभवमें राजाओंके समान ब्राह्मणोचित आचारमें ऋषियोंके तुल्य उस समय समाजमें विख्यात थे किन्तु अभाव था तो केवल एक पुत्र का, जिससे व्यास दम्पतिका सदा मन खिन्न रहता था। व्यासमिश्र तथा उनकी पत्नी श्रीमती तारारानीके बढ़ते हुए मन-स्तापको देखकर एक दिन उनके बड़े भाई श्रीनृसिंह आश्रम (पूर्व गृहस्थ नाम केशव मिश्र)ने भविष्यवाणीकी कि इसी वर्ष उनके घर वंशका उद्धारक पुत्र उत्पन्न होगा। संन्यासी भाई-

की यह भविष्यवाणी सुनकर व्यासमिश्रके हर्षका ठिकाना न रहा और वह पत्नी सहित व्रजयात्राका निश्चय अचानक कर बैठे। बसन्तपञ्चमीके दिन बन्धु-बान्धवों, सेवकों, परिकरों सहित व्यासजीने व्रजयात्राके लिए घरसे प्रस्थान किया। व्रजयात्रा करते हुए जब वे मथुराके निकट 'बाद' ग्राम पहुँचे तो उनकी गर्भवती पत्नी ताराराानीके पैर भारी पड़ गए। उनमें आसन्न प्रसवाके लक्षण देखकर व्यासजीने व्रज परिक्रमा स्थगितकर वहींपर अपना शिविर स्थापितकर दिया कुछ ही दिनों बाद सौभाग्यवती तारारानीने एक अलौकिक तेजः पुञ्ज पुत्रको जन्म दिया जिसका नाम 'हरिवंश' रखा गया। हरिवंशजीकी जन्मस्थली आज भी उस गांवमें स्थित है। यहीं पर राधावल्लभ सम्प्रदायके अनुयायियोंने एक मन्दिर बनवा दिया। इस स्थलका मनोहारी वर्णन करते हुए उत्तमदासजीने लिखा है—

पृथिवीपतिके संग मुनि रहत व्यासजी नित्य।
कुटुम सहित ब्रजभूमि को, देखत हरषत चित्त ॥५३॥
श्री जमुना तट गोकुल सोहै, इत रावल सबको मन मोहै ॥५४॥
उत 'श्रीबाद' अवनि पर राजै, सरवर प्रेम सरूप विराजै।
वट प्रकाशकी सुन्दरताई, इक रसना करि बरन न जाई ॥५५॥

श्रीहरिवंशजीका प्राकट्य विक्रमी संवत् १५५९ में वैसाख शुक्ल एकादशी सोमवारको प्रातःकाल सूर्योदयमें हुआ था। प्रादुर्भावके बाद छह मासतक व्यासमिश्र सपत्नीक 'बाद' ग्राममें ही ठहरे रहे। इसके बाद देववन (सहारनपुर) वापस चले गये। शिशु हरिवंशमें शैशव कालसे ही अलौकिक चमत्कार निहित थे। कहा जाता है कि अल्पायुमें ही जब वह अबोध बालक थे उनके मुखारविन्दसे अचानक एक दिन संस्कृत भाषाका 'राधासुधानिधि' स्तवन प्रादुर्भूत हुआ। संयोगसे श्रीनृसिंहाश्रम उस समय वहाँ मौजूद थे, बालकके श्रीमुखसे निःसृत स्तवन सुनकर वह उसे लिखने लग गये थे। बालकका अलौकिक रूप गुण देखकर पिता व्यासमिश्रकी चेतना जागृत हुई। शिशु हरिवंशकी बालक्रीड़ाओंमें बालसुलभ चपलतामें उन्हें भगवदीय साक्षात्कार होने लगा। बालक हरिवंशकी क्रीड़ाओंमें राधा-माधवकी लीलाओंका ही प्राधान्य रहा करता था। कहा जाता है कि छबीलदास और ज्ञानू नामके दो बालक हरिवंशजीके अनन्य सखा थे। हरिवंशजीने अपने इन दोनों सखाओंको खेल-खेलमें 'वृन्दाविपिन विहार'का व्यक्त दर्शन कराया था। 'श्रीहितहरिवंश सहस्त्रनाम'में शिशु हरिवंशजीकी शिशु-क्रीड़ाओंका अद्भुत और मोहक वर्णन मिलता है—

राधा रस सुधानिधि षण्मासमें बसान्यो।
बीठल सुजान्यो, सान्यो हियो सुखसार है।
ज्ञानू और छबीलदास आस कर आये पास,
दियो दरसाय वृन्दाविपिन बिहार है।
व्यास महल आँगन में अलबेलि भाँति डोलैं,
डोलैं संग माधुरी की, उझल अपार है।

अंघ्रि कंज मंजु पुंज रसन अमन्द सार,
हित मकरन्द मिष्ट दृष्टिको आधार है।

(अष्टकके बधाई छन्द)

पाँच वर्ष के भये जबहिं श्री व्यास दुलारे।
तब उपवन चलि जाए, खेल नाना बिस्तारे।
पिता बाग मधि कूप, तहाँ श्रीविग्रह जान्यौ।
धाइ परे जल कूद आपुसों भुज भरि आन्यौ
प्रभु श्रीरंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी।
रीझि लड़ैती कुंवरि आपनी पद्धति ओपी॥

(हितहरिवंश सहस्त्रनाम)

बालक हरिवंशको पाँच वर्षकी अल्पायुमें ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई थी। दिव्य दृष्टिसे ही देखकर कुँएके अन्दरसे उन्होंने श्रीरंगीलालजीको प्रकट किया था। ज्ञान चक्षुओंके उन्मीलित हो जानेपर शिशु हरिवंशको विश्वके अन्तर्वाह्यका रहस्य अपने आप उद्घाटित होने लग गया था। एक दिन इनके मनमें यह अन्तर्प्रेरणा हुई कि भगवती राधारानी कह रही हैं कि व्यास महलके बाहर पीपलके कोमल पत्तेपर एक मन्त्र लिखा हुआ है वही तुम्हारा गुरुमन्त्र या दीक्षा मन्त्र है। पीपलपर चढ़कर उस दीक्षामन्त्रको ग्रहण करो। इस अन्तः प्रेरणासे प्रेरित होकर वे पीपलके वृक्षपर चढ़ गये और अरुण पत्रपर लिखित उस द्वादशाक्षरमंत्रको दीक्षामंत्रके रूपमें स्वीकार किया। कहा जाता है कि हरिवंशजीके गुरुके रूपमें श्रीराधाजीका ही स्थान है। उन्हें द्वादशाक्षर दीक्षामन्त्र राधा रानीसे ही प्राप्त हुआ था। संभवतः यही कारण है कि हितहरिवंशजीके ग्रन्थोंमें गुरुके स्थानमें श्रीराधाका ही स्तवन है।

इस बातकी प्रामाणिकता श्रीहरिवंशजीके उन दो निजी पत्रोंसे भी सिद्ध हो जाती है जो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य वीठलदासको लिखे थे।

'जो शास्त्र मर्यादा सत्य है और गुरु महिमा ऐसी ही सत्य है तो व्रज नव तरुणि-कदम्बचूड़ामणि श्रीराधे तिहारे स्थापे गुरु मार्ग विषै अविश्वास अज्ञानीको होत है। तातें यह मर्यादा रखनी।'

बालक हरिवंश जब आठ वर्षके हुए तो उनका उपनयन संस्कार किया गया। उप-नयनके अनन्तर भगवद्भक्ति सम्बन्धी इनकी भावनाएँ और अलौकिक घटनाएं अत्यधिक विकसित हुईं। सोलह वर्षकी आयुमें विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ। सौ० रुक्मिणी देवीको पत्नीके रूपमें स्वीकारकर लेनेपर गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी इनकी अध्यात्मिक निष्ठाको आँच नहीं लगी। सौ० रुक्मिणी देवीसे तीन पुत्र और एक पुत्रीका अवतरण हुआ। इसके तुरन्त बाद संवत् १५८९ में हरिवंशजीकी माता तारारानीका तथा संवत् १५९० में पिता व्यासमिश्रका निकुञ्ज गमन हुआ। माता-पिताके निकुञ्ज गमनके बाद हरिवंशजीने भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-स्थली वृन्दावनमें रसभक्ति लीन होकर रहनेका निश्चय किया। अक-स्मात् वृन्दावनके तत्कालीन शासकका सादर आमन्त्रण भी प्राप्त हो गया किन्तु हरिवंशजीने

अपनी आराध्या राधारानीका निमन्त्रण स्वीकारकर लिया था इसलिये उन्होंने शासकका निमन्त्रण अस्वीकार करते हुए संस्कृतका एक यह श्लोक लिखकर भेज दिया—'सृष्टिके आदिसे नरेन्द्र, सुरेन्द्र, ब्रह्मा आदि, काल कवलित होते आये हैं अतः हरिचरणमें लीन होकर उनका ही ध्यान करना चाहिये।'

सन्तान पालनका भार पत्नीपर छोड़कर हरिवंशजी जब वृन्दावनके लिए चल पड़े तो रास्तेमें उन्हें भगवती राधाजीने स्वप्नमें दर्शन देकर आदेश दिया कि 'आगे एक गांव चिरथावल मिलेगा। उस गांवका एक ब्राह्मण अपनी दो कन्याओंसे विवाहका प्रस्ताव तुम्हारे सामने जब रखेगा तब तुम उसे स्वीकार कर लेना। यह विवाह तुम्हारे भक्ति-पथका पाथेय बनेगा। और मेरा एक विग्रह भी तुम्हें मिलेगा। उसे ले जाकर वृन्दावनमें स्थापित कर देना।'

इस स्वप्नको अंगीकारकर जब हरिवंशजी चिरथावल गांव पहुँचे तो वहाँ आत्मदेव नामके ब्राह्मणने आकर प्रार्थना की कि 'मुझे स्वप्नमें आदेश हुआ है कि मैं अपनी दो कन्याओं कृष्णदासी और मनोहरदासीका विवाह आपके साथ करदूं, अतएव मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करें।'

हरिवंशजीने उन दोनों कन्याओंका पाणिग्रहण कर लिया और कुछ दिन वहाँ ठहर कर वह संवत् १५९० फागुन वदी एकादशीको वृन्दावन पहुँचे। वहाँ मदनटेर नामके स्थान-पर ठहर गये। वहाँ पहुँचते ही उनके आलौकिक तेज और आलौकिक चमत्कारकी चर्चा दूर-दूर तक फैल गई। जनसमवाय उनके दर्शनोंके लिए जुटने लगा। कहा जाता है कि वृन्दावनके एक डाकू सरदार नरवाहनने हरिवंशजीके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया और बोला कि आप धनुष लेकर वाण चलाइए। आपका चलाया हुआ वाण जहाँ गिरेगा वहाँ तककी भूमि आपको भेंट करदी जायगी। भक्तों द्वारा बहुत अनुनय विनय करने पर हरिवंशजीने वाण चलाया तो वह चीरघाटपर गिरा। नरवाहनने मदनटेरसे लेकर चीर घांट तककी भूमि हरिवंशजीको भेंट करदी।

वृन्दावनमें निवास करते हुए हरिवंशजीने तत्कालीन प्रचलित वैष्णवधर्मकी साधना-पद्धतियोंसे भिन्न अपना नवीन भक्ति मार्ग प्रचलित किया। इनके भक्ति मार्गमें प्रेमभावकी प्रबल साधना है। इन्होंने प्रेमको रस स्वीकार कर अपने भक्ति मार्गको रसमार्ग बताया है। आपके रसमार्गका प्रभाव और प्रकाश चारों ओर फैल गया था। अनेक श्रद्धालु गृहस्थ और विरक्त गोस्वामी हितहरिवंशजीसे दीक्षा ग्रहण कर कृतकृत्य हुए। गोस्वामी हितहरिवंश जी द्वारा प्रचलित भक्ति मार्ग एक सम्प्रदायके रूपके प्रवर्तित हुआ जिसे राधावल्लभ सम्प्रदाय कहा जाता है। इस सम्प्रदायके भक्तोंकी मान्यता है कि गोस्वामी हितजी भगवान् श्रीकृष्णकी वंशीके अवतार हैं।

वृन्दावनमें साधना-रत रहते हुए गोस्वामी हितहरिवंशजीने मानसरोवर, सेवाकुंज, रासमंडल और वंशीवट—इन चार सिद्ध केलि स्थलोंका प्राकट्य किया। इन सिद्ध केलि-स्थलोंमें सेवाकुंजका सर्वाधिक महत्त्व इसलिए है कि गोस्वामी हितहरिवंशजीने यहीं पर सर्वप्रथम श्रीराधावल्लभजीका विग्रह स्थापित किया था और संवत् १५९१ में प्रथम पाटोत्सव इसी सेवाकुंजमें हुआ था।

सेवाकुंजमें श्रीराधावल्लभ जीके विग्रहकी प्रतिष्ठा हो जानेके बाद गोस्वामी हित-हरिवंश जीने भगवान्‌की सेवा-अर्चाकी एक नवीन प्रथा 'अष्टयाम'का प्रचलन किया। इस नवीन सेवापद्धतिको प्रायः सभी सम्प्रदायोंके भक्तोंने स्वीकार किया। इसी समय इन्होंने भगवान्‌की पाँच आरतीका विधान भी प्रचलित किया।

गोस्वामी हितहरिवंशजीके वृन्दावनमें आने और निवास करनेसे समूचा वृन्दावन राधाकृष्णकी भाव-रस धारामें डूब गया। स्वामी प्रबोधानन्द, स्वामी हरिदास, श्रीहरिराम व्यास जैसे अनिंद्य भक्त और सन्त वृन्दावनमें आकर रहने लगे। इन भक्तोंने मिलकर वृन्दा-वन और व्रजभूमिको उज्ज्वल रससे सींच-सींचकर जनमानसको वृन्दावन बना दिया। इसी समय गोस्वामी हितहरिवंशजीने सर्वप्रथम रासमंडलकी स्थापना की। वृन्दावनमें गोविन्द घाटके समीप ही श्रीराधाकृष्णकी रासलीलाको पुनरुजीवित किया। भगवान् राधावल्लभ जीकी सेवा अर्चाविधिमें एक और नया प्रयोग 'खिचड़ी' का किया गया। राधावल्लभ सम्प्रदायअनुयायियोंमें खिचड़ी महोत्सव अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

गोस्वामी हितहरिवंशजीके लिखे हुये चार ग्रन्थ—(१) राधासुधानिधि (२) हित-चौरासी (३) तेईस रागोंके २७ गेयपद और (४) यमुनाष्टक अधिक ख्यात एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इनका रचनाकाल सं० १५९१ और सं० १६०९ के मध्य माना जाता है। श्रीहितहरिवंश जी द्वारा स्थापित रसिकसमाज वृन्दावनमें राधाकृष्णकी भक्ति-रसकी यमुना गली-गली, कुंज-कुंज और घर-घर प्रवाहित की थी।

सं० १६०९ आश्विन शरद् पूर्णिमाको जब गोस्वामीजीने निकुञ्ज गमन किया था तो उनके रसिक समाजके अनन्य रसिक श्रीहरिराम व्यासने विह्वल होकर कहा था—

हुतौ रस रसिकनि को आधार।
बिनु हरिबंसहि सरस रीति को कापै चलिहै भार।
कोराधा बुलरावै गावै बचन सुनावै चार।
वृन्दावनकी सहज माधुरी कहिहै कौन उदार।
पदरचना अब कापै ह्वै है, निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग्य अनन्य सभा को, उठिगो ठाठ सिंगार।
जिम बिनु दिन-छिन सतयुग बीतत सहजरूप आगार।
'व्यास' एक कुल कुमुद बंधु बिन उड़गन जूंठो थार।

गोस्वामी हितहरिवंश द्वारा प्रवर्तित राधावल्लभ सम्प्रदाय 'प्रेम तत्त्व'पर आधारित है। इस सम्प्रदायके सभी आचार्योंने प्रेमलक्षणा भक्तिकी व्याख्या कर उसे विकसित और पुष्ट बनाया है। इस सम्प्रदायके भक्ति सिद्धान्त और रससिद्धान्त दो दार्शनिक पक्ष हैं। भक्ति-सिद्धान्तमें प्रेम, हित, प्रेम-नेम, विधि-निषेध, मान, विरह, मिलन और अर्चा-उपासनाकी साङ्ग, सविधि व्याख्या है और रससिद्धान्तके अन्तर्गत श्रीराधा और कृष्णका स्वरूप, सहचरीकी स्थिति, वृन्दावनका नित्य नैमित्तिक रूप और महत्त्वकी विस्तृत व्याख्या है। तात्पर्य यह कि हृदयकी भक्तिरस सिक्त भावनाओंकी सहज स्वीकृति और सरस अभिव्यक्ति ही गोस्वामी हितहरिवंशजीकी रसोपासना एवं भक्तिकी बुनियाद है।

●

world-wide
acceptance
Orient
FANS
ORIENT GENERAL INDUSTRIES LTD.
CALCUTTA-11
ASP/OGI—4/65

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर निर्मित हो रहे
श्रीमद्भागवत-भवनके पार्श्व भागका एक दृश्य
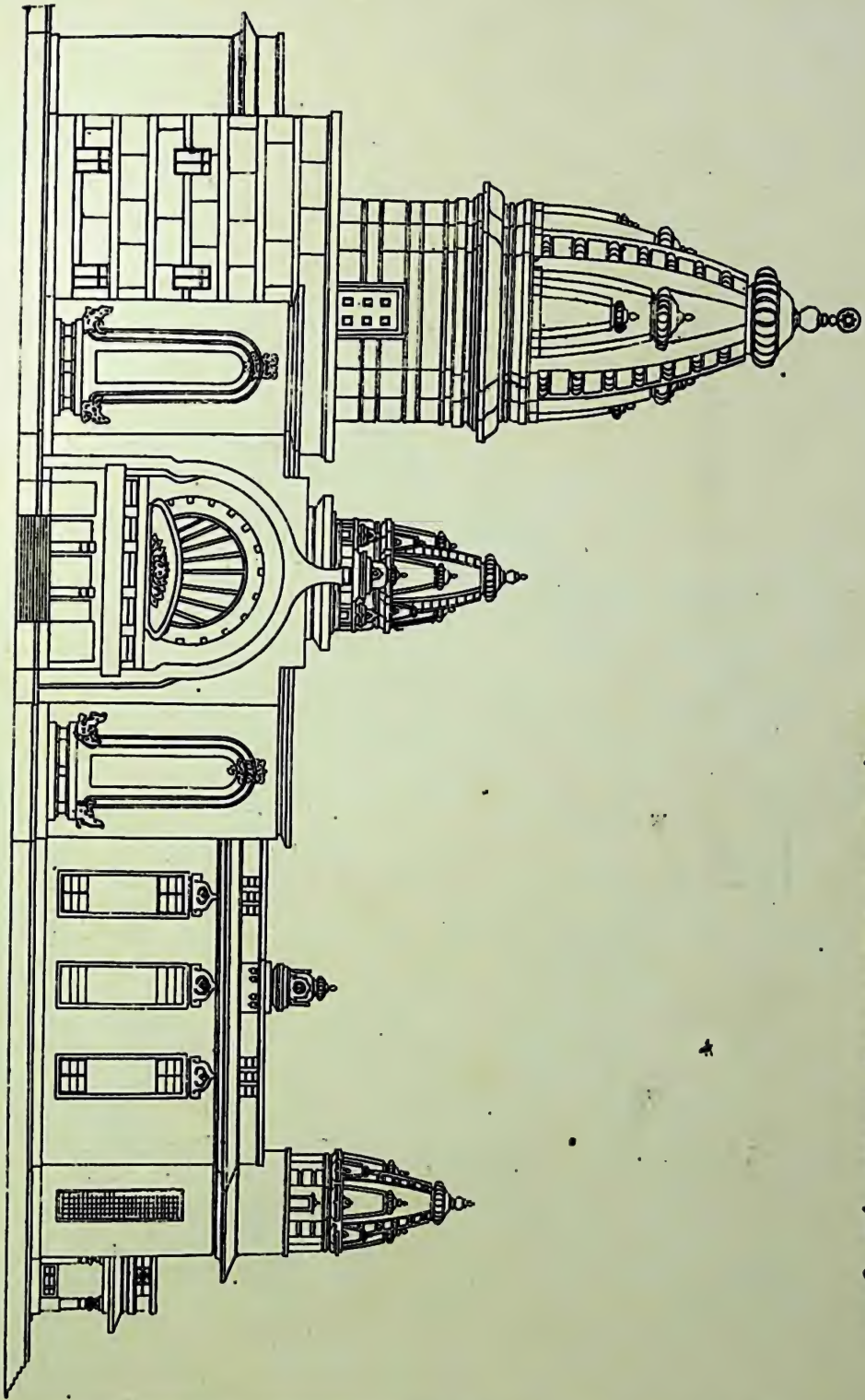
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुराके लिए श्रीदेवधर शर्मा द्वारा प्रकाशित एवं
राधाप्रेस, दिल्ली-३१ में मुद्रित।

॥ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

'श्रीकृष्ण-सन्देश'

के

ग्राहक

बनिए और बनाइए;

क्योंकि —

★ यह श्रीकृष्ण-प्रेमी जनताका अपना पत्र है,
★ श्रीकृष्णकी दिव्य लीला-गुण-कर्म एवं वाणीसे अभिप्रेरित है,
★ निष्पक्ष एवं प्रामाणिक पाठ्य-सामग्रीसे भरपूर है,
★ नैतिक बल, पवित्राचरण एवं स्वधर्म-निष्ठाको बढ़ानेवाला है ।

यदि आप —

★ लेखक हैं तो प्रेरणादायक लेख भेजकर
★ कवि हैं, तो निष्ठा-वर्द्धक कविताएँ लिखकर
★ अधिकारी या सेवक हैं, तो अपना सहयोग देकर
★ उद्योगपति या व्यापारी हैं, तो अपने संस्थानोंके विज्ञापन देकर

श्रीकृष्ण-सन्देशकी सफलता आपके सहयोगपर निर्भर है ।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान की पत्रिका

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

ग्राहकोंसे निवेदन

प्रिय महोदय,

'श्रीकृष्ण-सन्देश' आपका अपना पत्र है। आपकी कृपासे इसके ग्राहकों-अनुग्राहकोंकी संख्या तो बराबर बढ़ ही रही है, यह बड़े-बड़े सन्त-महात्माओं, विद्वानों और कला-मर्मज्ञोंका सद्भाव-सहयोग भी प्राप्त करता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं, जब आपका 'श्रीकृष्ण-सन्देश' देश-विदेशके समस्त श्रीकृष्ण-प्रेमियोंका प्रेरणादायक प्रिय पत्र बनकर अपना नाम सार्थक करेगा।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'श्रीकृष्ण-सन्देश' आगामी जन्माष्टमीसे अपने तृतीय वर्षमें प्रविष्ट होकर मासिक रूप ग्रहण करने जा रहा है। मासिक 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का पहला अंक 'आराधना-अंक' होगा, जो प्रेसमें है और आगामी जन्माष्टमीसे पहले प्रकाशित हो जायेगा। मासिक होने पर भी 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का वार्षिक मूल्य ७) सात रुपये मात्र ही रहेगा।

अतः आपसे सादर-सप्रीति निवेदन है कि आप अपना अगले वर्षका चंदा, चालू वर्षका यह अन्तिम अंक प्राप्त करते ही, मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेज देनेकी कृपा करें।

आपकी ओरसे आगामी वर्षका चंदा मनीआर्डरसे न आने पर 'आराधना-अंक' वी० पी० द्वारा आपकी सेवामें भेजा जायेगा, जिसे आप अवश्य छुड़ा लेनेकी कृपा करें। अन्यथा वी० पी० लौटनेपर व्यर्थमें हमारी संस्थाको पोस्टेजकी हानि उठानी पड़ेगी।

हमें आशा ही नहीं, विश्वास है कि आप कृपया 'श्रीकृष्ण-सन्देश' पर स्वयं तो अपना अनुराग बनाये रहेंगे ही, अपने इष्ट-मित्रोंको भी इसके ग्राहक बननेके लिये प्रेरणा प्रदान करेंगे। यह निवेदन करनेकी आवश्यकता नहीं कि आप 'श्रीकृष्ण-सन्देश' के निमित्तसे श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके पावन पुनरुद्धार-यज्ञमें सम्मिलित होकर महान् पुण्यके भागी हो रहे हैं।

व्यवस्थापक
'श्रीकृष्ण-सन्देश'

श्रीकृष्ण-सन्देश
(द्वैमासिक)

आत्मानं सततं विद्धि

वर्ष—२] ज्येष्ठ-आषाढ़ २०२४ वि० [अङ्क—६

श्रद्धाञ्जलि अङ्क

परामर्श-मण्डल

अनन्त श्रीस्वामी अखण्डानन्द सरस्वती
श्रीवियोगी हरि
श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार
डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

●

सम्पादक
हितशरण शर्मा, एम० ए०, साहित्यरत्न

●

प्रबन्ध-सम्पादक
देवधर शर्मा

●

प्रकाशक
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
दूरभाष : ३३८

●

मूल्य
एक रुपया
वार्षिक
सात रुपया

आवरण-चित्र
गीतोपदेश : काश्मीर कलम

अनुकृतिकार
के० सी० आर्यन्

के०सी० आर्यन

मुद्रक :
राधा प्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१

विषय-सूची

स म र्प ण—

अनन्त प्रणाम

जब-जब वह दिन आँखोंमें मूर्तिमान होता है, तब-तब लगता है—धरतीसे एक और विदेह चला गया।

उस दिन बिरला हाउस उन्हें खोकर अनाथ हो उठा था; और सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत स्तम्भित-सा नियतिके उस आलेखनको देख रहा था, जहाँ देवोपम प्रातःस्मरणीय श्रीजुगलकिशोर बिरलाको मरणके छन्दने पुराण-पुरुषकी ऐतिहासिकता दी थी।

दिनका सूरज हतप्रभ हो उठा था, पवन स्तब्ध था और गन्ध उस अर्थीको कन्धा देनेको उच्छ्वसित हो रहा था जिसने धरतीका ऋण चुकानेके लिए युग-बोधको स्वर्ण-कीर्तिमान सौंपकर पंचतत्वोंसे समझौता किया था।

उस दिन हिमालयके साथ रत्नाकर भी उदास हो उठा था और दिशायें उद्विग्न हो चली थीं। लग रहा था कि सम्राट अशोककी भाँति देश-विदेशके व्यापक अंचलोंमें बोधिसत्व-के धर्म-चक्रका फिरसे प्रवर्तन कर एक भिक्षुकर्मी संसारको निर्वाणका पथ दिखला गया है।

और अब सामने है—अनगिनत संस्मरणोंका इतिहास, जिसके संक्रमणको झेलकर उनके नीलकण्ठने देवताओंको पीयूष दिया, अपनी पीढ़ीके कुछ बड़े चेहरोंको इतिहास दिया और अन्तिम सांस तक अध्यात्मके मन्दिरको मुमुक्षके ज्योति-दर्शनका छन्द दिया।

उन्हें खोकर समकालीन पीढ़ीने क्या नहीं खो दिया; लेकिन जब-जब भावी पीढ़ी अपने अध्ययन-कक्षमें उनके ज्योति-पुरुषके रेखा-बोधका आकलन करेगी, तब-तब आश्चर्य विमुग्ध हो नतमस्तक होती रहेगी।

वह वेदकी ऋचाओंसे तपोनिष्ठ, उपमाओंसे मुक्त स्थितिप्रज्ञ, और समर्पण-गीतसे संयोजित विराट्के महाकाव्य थे।

वह यज्ञकी आहुति श्लोक-से सन्त पराम्परामें जिए और ऋद्धि-सिद्धिने जब उनके द्वारपर दस्तक दी तो भगवती भागीरथीके समान लोक-कल्याण हेतु अपने रजत शीकरोंको मुक्तहस्त बिखेरते बहे, बिहरे और झरे।

'श्रीकृष्ण-सन्देश' के जन्मदाता ऐसे इतिहास-पुरुषकी दिवंगत पुण्यात्माको हमारे विनम्र अनन्त प्रणाम और भावभीनी सुमनांजलिके रूपमें समर्पित है उनके अपने श्रीकृष्ण-सन्देशका यह **श्रद्धाञ्जलि अङ्क**।

—सम्पादक

हे भारतके देवदूत !

भारतके भव्य भाग्यशाली पूत देवदूत,
ज्ञानमें अकूत थे प्रभूत धनवान थे।
भक्त "भगवान्" के विरक्त अभिमानसे थे,
परम उदार उपकार मूर्तिमान थे॥
हिंदू-हित-हामी नामी-ग्रामी व्यवसाइयोंमें,
सत-पथ-गामी धर्म-रक्षक महान् थे।
युगल किशोर थे विभोर शक्ति-साधनामें,
शान देशकी थे दानवीर कुल-कान थे॥

—*श्रीभगवानदत्त चतुर्वेदी*

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।

वर्ष २ ज्येष्ठ-आषाढ़ २०२४ अङ्क ६

"वन्दे महापुरुष ते चरणारबिन्दम्"

अहो किमपि चित्राणि चरित्राणि महात्मनाम् ।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भरेण नमन्त्यपि ।।

महापुरुषोंका कैसा विचित्र लोकोत्तर चरित्र है कि वे लक्ष्मीको तो तृणके समान समझते हैं, किन्तु उसके भारसे झुककर नम्र हो जाते हैं। लक्ष्मीवान प्रायः नम्र और विनीत नहीं होते, किन्तु महापुरुष लक्ष्मी होनेसे और भी नम्र और विनयशील हो जाते हैं। यही उनका लोकोत्तर स्वभाव है।

यथा चित्तं तथा वाचो यथा वाचस्तथा क्रियाः ।
चितेवाचि क्रियायां च साधूनामेकरूपता ।।

महापुरुषोंके जो चित्तमें होता है वही उनकी वाणीमें होता है और जैसा वे कहते हैं, उसी अनुसार आचरण भी करते हैं। साधु महापुरुषोंका चित्त, वाणी और आचरण एक समान होता है।

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः ।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः ।।

ऐसे महापुरुषोंकी स्तुति कौन न करेगा जिनका मुख प्रसन्नताका घर है (अर्थात् जिसकी ओर वे अपना मुख कर देते हैं वह प्रसन्न हो जाता है)। जिनका हृदय दयाका भण्डार है, जिनकी वाणी मधुर और अमृतसे सनी हुई है और जिनका कार्य केवल परोपकार करना ही है।

भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥

महापुरुषोंके बारेमें प्रायः देखा जाता है कि उनकी भक्ति भव (भगवान्)में होती है । न कि विभव (धन)में, उनका व्यसन शास्त्रके सुननेमें होता है न कि युवतियोंके हाव-भाव आदि कामदेवके अस्त्रमें । और चिन्ता होती है उनको अपने यशकी न कि अपने शरीर की ।

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा नाशाभिभंगाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥

संसारमें केवल वही मनुष्योंके बीच प्रशंसाके योग्य है, वही उत्तम है, वही सत्पुरुष है और वही धन्य है, जिसके द्वारसे याचक या शरणागत निराश होकर विमुख नहीं लौटते ।

दानाय लक्ष्मीः सुकृताय विद्या चिन्ता परब्रह्मविनिश्चयाय ।
परोपकाराय वचांसि यस्य वन्द्यस्त्रिलोकीतिलकः स एकः ॥

जिसकी लक्ष्मी दानके लिए, जिसका ज्ञान सुकृतके लिए जिसका चिन्तन केवल परब्रह्मके लिए, जिसका वचन केवल परोपकारके लिए ही होता है, वही मनुष्य तीनों लोकोंके माथेका तिलक है और वही पूजनीय है ।

चलं वित्तं चलं चित्तं चले जीवितयौवने ।
चलाचलमिदं सर्वं कीर्तिर्यस्य स जीवति ॥

धन चलायमान है, चित्त चंचल है, जीवन और यौवन भी चंचल और अस्थिर है. सारांश यह है कि यह सब संसार चलायमान और नश्वर है । इस अस्थिर जगत्में जिसकी कीर्ति स्थिर है, वही जीता है ।

यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवति ।
कुरुते किं न काकोऽपि चंच्वा सोदरपूरणम् ॥

जिसके जीनेपर अनेक मनुष्योंका जीवन निर्भर हो, वास्तवमें वही मनुष्य जीता है । नहीं तो कौएके समान कौन अपना पेट नहीं भर लेता ।

स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥

वास्तवमें उसी मनुष्यका जन्म सार्थक है, जिसके जन्म लेनेसे देश, जाति और वंश हर प्रकारसे उन्नतिको प्राप्त हो । नहीं तो इस परिवर्तनशील संसारमें कौन नहीं मरता और कौन नहीं जीता ।

विरला जानन्ति गुणान विरला कुर्वन्ति निर्धने स्नेहम् ।
विरलाः परकार्यरताः परदुःखेनापि दुःखिता विरलाः ॥

स्वर्गीय सेठ जुगल किशोरजी विरलाके समान विरले लोग हैं जो गुणियोंका सम्मान करते हैं, विरले लोग हैं जो धनहीन दीनोंपर दया करते हैं, विरले लोग हैं जो दूसरोंके उपकारमें रत रहते हैं और विरले लोग हैं जो दूसरोंके दुःखसे कातर और दुःखित होते हैं ।

हिन्दू धर्म, आर्य संस्कृतिके जो थे मूर्तिमान अवतार

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

हिन्दू धर्म, आर्य संस्कृतिके जो थे मूर्तिमान अवतार।
जो तन-मनसे करते थे नित आर्य धर्म सम्मत आचार॥

संयम, सेवा, स्मितमुख, शील, सरलता, दृढ़ता, सद्व्यवहार।
दया, विनय, औदार्य आदि सद्गुण समूहके उदधि अपार॥

खान-पान शुचि शयन-जागरण, अर्जन-व्यय सब भोग त्याग।
करते थे जो केवल धर्म सुरक्षा-हेतु सहित अनुराग॥

दुखी अभाव ग्रसित अगणितने जिनसे पाया धन-सम्मान।
किये अमित उपकार न उपजा जिनके हृदय तनिक अभिमान॥

किया निन्दकोंका, अपमानित करने वालोंका सत्कार।
किया किसीका कभी न कुछ भी मनसे भूल अल्प अपकार॥

सफल हो गया भगवत्स्मृतिसे जिनके जीवनका हर श्वास।
जिनका बढ़ता रहा निरन्तर प्रभु-चरणोंमें दृढ़ विश्वास॥

उन महान् भागवत संतने दिव्य धाममें किया प्रवेश।
शत-शत श्रद्धाञ्जलि-प्रणाम कर रहा समर्पित सारा देश॥

आर्य संस्कारिताका एक आधार-स्तम्भ गया

श्रीवियोगी हरि

पुण्यशील जुगल किशोरजी बिरला का
स्वर्गारोहण क्या हुआ
भूतदया और करुणाका एक स्रोत सूख गया,
संयम और सुकृतका एक अनुकरणीय जीवन
स्मृति शेष रह गया,
धर्मपरायणताकी शृंखलासे एक कड़ी अलग
हो गयी,
अथवा आर्यसंस्कारिताका आधार-स्तम्भ
ढह गया।

"श्रीविरलाजीने उदारता, उदात्तता, और विशालहृदयताको सृजनात्मक जीवनमें एक ठोस और भावनात्मक अर्थ प्रदान किया। उन्होंने जीवनमें धर्मको जिस व्यवस्थित ढंगसे अर्जित और आत्मसात किया था, वैसा बहुत कम देखनेमें आता है।"

स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरला— जीवन परिचय :

कहा जाता है कि ईश्वरने अपनी प्रतिकृतिके रूपमें ही मानवका सृजन किया है। यदि यह सच है तो यह बात और भी अधिक सच है, कि मनुष्य वही है, जो वह अपनेको बनाता है, और यदि आज भी पृथ्वी तल पर ऐसे मानव हैं, जिन्हें प्रकृति ऊपर उठाकर संसारको दिखाना चाहेगी तो श्रीजुगलकिशोर विरला ऐसे ही मानव थे।

बिरला परिवारके यह वृद्ध कुलपिता उच्च आदर्शोंका सादगीसे पालन करने वाले, बिना आडम्बरके धर्मपालक, निरभिमान दाता, गंभीर संकल्प वाले और विनम्र आस्थावान व्यक्ति थे। ऐसे उच्च चारित्र्यके व्यक्ति बहुत कम ही देखनेमें आते हैं।

सफलता उनकी चेरी बनी, परन्तु वह फिर भी अपनी महिमामें शान्त और निरहंकार बने रहे। उनका समूचा दीर्घ और महान जीवन लगनके साथ किए हुए गंभीर कर्मसे ओतप्रोत था। उसमें कहीं भी आत्म-विज्ञापन और प्रदर्शनका कोलाहल नहीं था। वह खामोशीसे अपने जीवनको पूर्णताकी ओर ले जाते रहे। हर कदम पर वह अपनी पूर्णताके फल अपने साथी लोगोंके लाभके लिए वितरित करते रहे।

श्रीजुगलकिशोर बिरलाका जन्म १८८१ में हुआ था। परिवारके अनुशासन और उनकी अपनी उद्यमीवृत्तिने उन्हें किशोर आयुमें ही व्यापार-व्यवसायमें डाल दिया। अपने पिता राजा बलदेवदासके साथ वह बंबई गए किन्तु अधिक समय तक वहाँ नहीं रहे।

१८ वर्षकी आयुमें वह कलकत्ता चले गए, और वहीं उन्होंने अपना व्यापार जमाया। बीस वर्षकी आयुमें उन्होंने फर्मका कलकत्ता कार्यालय स्थापित किया।

इस युवा और उद्यमी व्यवसायीमें पैनी बुद्धि और शान्ति भरी साहसिकता थी। किसी भी महान् सफलता या उपलब्धिके लिए मुख्यतः इन दो गुणोंकी जरूरत होती है। उन दिनों तो इन गुणोंकी और भी अधिक आवश्यकता थी, क्योंकि उस समय भारतीय उद्योगोंमें ब्रिटिश हितोंके मुकाबिलेमें खड़ा हो सकना बहुत ही कठिन था। चरित्रके इन दो महत्वपूर्ण गुणोंसे सन्नद्ध होकर जुगलकिशोरजीने अपने व्यवसायको एक सुनिश्चित और सुस्थिर मार्ग पर आगे बढ़ाया और उसके गहरे भविष्यकी नींव रखी।

उस समय अधिकतर कपड़ा भारत मानचैस्टरसे आयात करता था। वास्तवमें ब्रिटेन का वस्त्र उद्योग भारतको किए जाने वाले निर्यात पर ही पनप रहा था। श्रीबिरलाको यह बात नितान्त अन्यायपूर्ण लगी कि एक देशके साथमें भारतके कपड़ा बाजारका एकाधिकार रहे। उन्होंने लीकसे हट कर जापानसे कपड़ा आयात करनेका साहस किया। इससे न केवल भारतके औद्योगिक संबंधोंके क्षेत्रका विस्तार हुआ, बल्कि श्रीबिरलाको इससे स्वतंत्रताके रसास्वादनका अवसर भी मिला, जो उनके लिए सदा एक नैतिक पूंजीका काम करता रहा। जापानी व्यवसायी वर्गके साथ उनके सम्बन्ध व्यापक हुए और उन्होंने उनसे और भी बहुतसी चीजें आयातकीं, जिनकी उस समय भारतमें माँग थी। इस प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि आज हम एशियाके भीतर जिन घनिष्टतर पारस्परिक आर्थिक संबंधोंका अधिक बड़े पैमाने पर विस्तार करना आरम्भ कर रहे हैं, उनके अग्रणी प्रवर्तक जुगल किशोर जी ही थे।

चीन उस समय रहस्यके आवरणमें लिपटा हुआ था। भारतमें तब शायद ही कोई उस देशके बारेमें अधिक जानता हो। भारतमें जो चीनी रहते थे, वे बहुत पिछड़े हुए थे। वे स्त्रियोंकी तरह अपने लम्बे बालोंको जूड़ेकी शक्लमें बाँधे रहते थे। किन्तु चीनकी एक बड़ी जनसंख्या बौद्ध थी। इसलिए श्रीजुगलकिशोर बिरलाने दो व्यापारिक दूतोंको वहाँ भेजनेका निश्चय किया। यद्यपि बाहरसे यह व्यापारिक मिशन था, परन्तु भीतरसे उसका उद्देश्य चीनके साथ हार्दिकतापूर्ण संबंध स्थापित करना था।

श्रीजुगलकिशोर बिरलाने जब तिलहन और अलसीका निर्यात प्रारम्भ किया तब एक बार फिर उनके अन्तरका सुदृढ़ व्यापारी प्रखर होकर सामने आया। यह निर्यात एक बहुत बड़ा काम था ? क्योंकि अर्जिनटायाना विश्वके अलसी बाजारमें एक जबर्दस्त प्रतिद्वंद्वी था।

उनके उस जमानेके उन प्रारम्भिक व्यापार-कौशलोंकी ही परिणति आज बिरला बंधुओंके विशाल व्यापार-व्यवसाय और उद्योगोंके रूपमें दीख पड़ती है।

व्यापार-व्यवसायके नजरियेमें वे जिस तरह विद्रोही थे, उसी तरह समस्त सामाजिक अन्याय और पाखण्डके विरुद्ध भी उनमें गहरा विद्रोह था। श्रीबिरला मानवीय सौहार्दके एक बड़े समर्थक थे। यह वह जमाना था, जबकि हरिजन, यानी हिन्दू समाजके अस्पृश्य लोग सामाजिक दान-दक्षिणा और लाभोंसे बिलकुल ही वंचित रखे जाते थे। इसके खिलाफ विरोधकी आवाज उठाई जाती थी, परन्तु समस्याका कोई समाधान नहीं था। हरिजनोंको

सामान्य स्कूलोंमें पढ़नेकी अनुमति नहीं मिलती थी और न वे सामान्य कुओं या तालाबोंसे पानी ही भर सकते थे। यह निष्ठुरतम किस्मका जातिभेद था। अन्य लोगोंकी भाँति श्रीबिरलाने भी इसके विरुद्ध आवाज उठाई। परन्तु दूसरोंसे उनमें एक फर्क था कि, उन्होंने अपने ढंगसे इस समस्याका एक समाधान खोज लिया था। उन्होंने अछूतोंके लिए स्कूल खोले और जहाँ पानीकी कमी थी, उनके लिए कुए खुदवाए। जब कभी किसी हरिजन छात्रको उच्च शिक्षाके लिए धनकी आवश्यकता होती, श्रीबिरला उसे छात्रवृत्ति देते। पुराण-पंथी हिन्दू हरिजनोंको अपने मंदिरोंमें नहीं आने देते थे, इसलिए श्रीबिरलाने उनके लिए मंदिर बनवाए। वास्तवमें हरिजनोंके लिए वह इतना अधिक कार्य कर रहे थे कि १९२७ में स्व० लाला लाजपतरायने तत्कालीन धारासभामें सार्वजनिक रूपसे अपने भाषण में कहा था कि मेरे मित्र श्रीबिरला जो सेवा कर रहे हैं, वह सरकार भी नहीं कर रही।

जो गहरी धार्मिक और परोपकारकी भावना उन्हें सतत रूपसे हरिजनोंके उद्धारके लिए कार्य करनेको प्रेरित कर रही थी, उसने उन्हें बहुतसे अन्य परोपकारके उज्वल कार्योंके लिए भी प्रेरित किया। उन्होंने सभी महत्वपूर्ण धार्मिक स्थानों पर मंदिर और धर्मशालाएँ बनवायीं। उनकी उदार दानशीलताने देश भरमें बहुतसे अन्य मंदिरोंको भी लाभ पहुँचाया है। उनके द्वारा संस्थापित बिरला जनकल्याण ट्रस्टने देश भरमें पुराने जीर्णशीर्ण मंदिरोंका उद्धार और पुनर्निर्माण किया है। उनके द्वारा बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालयके कैम्पस्में बनवाया गया मंदिर और दिल्लीका लक्ष्मीनारायण मंदिर अपने आपमें उत्कृष्ट और भव्य कलाकृतियाँ हैं। कहीं भी कोई अच्छा कार्य या ध्येय हो, वह उसकी मुक्तहस्त होकर सहायता करते थे।

उनकी धर्मपत्नीका जल्दी ही देहान्त हो गया था। अत. अपने जीवनकी ढलती संध्या में उन्होंने अपना सारा प्रेम और स्नेह परिवारके, जिसके यह अब मुखिया थे, विभिन्न क्रिया-कलापों पर अविचल निष्ठाके साथ उँड़ेल दिया था, और इससे उन्हें असीम तृप्ति और संतोष मिलता था।

सन् १९२९ में अपनी धर्मनिष्ठ और सेवापरायणा पत्नीके देहान्तके बाद उन्होंने अनेक परोपकारी ट्रस्ट स्थापित किये और उनमें और अन्य सार्वजनिक परोपकारी कार्योंमें उन्होंने अपनी समस्त संपत्ति और आयको लगा दिया। उनकी पत्नीकी स्मृतिमें स्थापित गृहविज्ञान कालेज आज कलकत्तामें अपने ढंगकी सबसे अग्रगण्य संस्था है। उनके भाइयों और भतीजोंने परोपकारके कार्योंके लिए उनसे प्रेरणा ग्रहण की।

संभवतः मानवी दया भावनाकी उनकी कल्पनाका सबसे महत्त्वपूर्ण अकेला स्मारक मारवाड़ी रिलीफ़ सोसाइटी है, जिसके महत्त्वपूर्ण समाज-सेवा और जन-कल्याणके कार्योंकी जितनी प्रशंसाकी जाए थोड़ी है।

श्रीबिरला महामना पं० मदमोहन मालवीयके मित्र थे और हिन्दू महासभा आन्दो-लनके बड़े समर्थक थे। उन्होंने मालवीयजीको खूब उदारतासे धन दिया। किन्तु उनका

धार्मिक आन्दोलन पुराणपंथी और संकीर्ण किस्मका नहीं था। वे सभी लोग जिनके धर्मका मूल उद्गम स्थान भारत था, मैत्री और सौहार्दके सामान्य बंधनमें बंध जाएंगे, इस स्वप्नके कारण ही उन्होंने जापानके बौद्ध नेताओंसे सम्बन्ध स्थापित किए और बौद्ध और हिन्दू धर्मके दर्शन-ग्रंथोंका जापानी भाषामें अनुवाद कराया। इसी तरह उन्होंने जापानके बौद्ध लामाओंके भारतके बौद्ध भिक्षुओंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेकी व्यवस्था की। वास्तवमें उन्होंने जापान और भारतके बीच धार्मिक सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये इतना बड़ा काम किया कि आज भी जापानी बौद्ध क्षेत्रोंमें उन्हें सन्त, कहा जाता है। उन्होंने हिन्दू द्वीप वालीको धर्म-प्रचारक भेजे। बैंकाक के स्वामी सत्यानन्दकी मार्फत उन्होंने थाईलेंडमें सम्बन्ध स्थापित किए, और हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थोंका थाई भाषामें एवं थाई दार्शनिक ग्रन्थोंका भारतीयोंके लिए अंग्रेजीमें अनुवाद कराया। उन्होंने भारत आनेके लिए थाई छात्रोंको छात्रवृत्तियां भी दीं। यहाँ यह उल्लेख करना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्रीजुगलकिशोर बिरलाने ही विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके प्रति अपने आदर भाव और प्रेमके कारण उनकी जापान यात्राके लिए धनकी व्यवस्था की थी।

जापान हो या चीन, थाईलेंड हो या कम्बोडिया, उनका आन्तरिक विश्वास हमेशा उनके विचारोंमें समाया रहा। जुगलकिशोरजीका विश्वास था कि हिन्दू जीवन-दर्शन बौद्ध धर्ममें समाविष्ट है और यदि हिन्दू और बौद्ध ढाँचेको आधार बनाकर कार्य किया जाए तो भारत, जापान, चीन, कम्बोडिया आदि राष्ट्रोंकी विशाल एकता स्थापित हो सकती है।

इसलिए भगवान् बुद्धसे सम्बद्ध सभी स्थानों, जैसे बौद्धगया, सारनाथ और लुम्बिनीमें उन्होंने धर्मशालाएं बनवाईं। और यह सब काम एक ऐसे व्यक्तिने किया, जिसने दिल्लीमें हिन्दू महासभा भवनके निर्माणका भार अपने ऊपर लिया था। यह उस महान् व्यक्तिके धार्मिक चरित्रका ही नहीं, बल्कि उसकी दृष्टिकी असाधारण उदारता और विशालताका भी द्योतक है। इतना उन्मुक्त और उदार मन कितने लोगोंका हो सकता है ?

यह स्वाभाविक है कि ऐसा व्यक्ति साहसी होनेके साथ-साथ अत्यन्त विनम्र हो। श्रीबिरलाने उदात्तता, उदारता, और विशाल हृदयताको सृजनात्मक जीवनमें एक ठोस और भावात्मक अर्थ प्रदान किया। उन्होंने जीवनमें धर्मको जिस व्यवस्थित ढंगसे अर्जित और आत्मसात् किया था, वैसा बहुत कम देखनेमें आता है। सच्ची गीतोक्त भावनासे उन्होंने अपने समस्त कार्य अनासक्त होकर किये और सदा आत्मगोपन ही किया। उन्होंने जीवन में कभी बड़ी-बड़ी घोषणाएँ नहीं कीं, हमेशा मृदुतासे कर्तव्यकी भावनाको ही अपनाए रखा, और उसे भी हमारे ध्यानमें लानेकी चेष्टा नहीं की, फिर भी हम उसे निरन्तर अनुभव करते रहे। सन् १९६५ में जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने, जिसके लाभके लिए उन्होंने इतना कुछ किया था, उनका ऋण चुकानेके लिए उन्हें डाक्टरेटकी उपाधिसे सम्मानित करनेका निर्णय किया, तब उन्होंने उसे अत्यन्त नम्रतासे अस्वीकार कर दिया। प्रशंसाके प्रति इतना निर्लोभी और निर्मोही वही हो सकते थे।

वह मानसिक विकासकी भाँति शारीरिक विकासके लिए भी बहुत चिंतित थे। उनका विचार था कि यदि युवकोंके शारीरिक विकासको सामाजिक एकता और संगठनका अंग नहीं बनाया गया तो राष्ट्रका सर्वतोमुखी सुधार और उन्नति संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने देशमें खास कर, कलकत्तामें प्रमुख शरीर साधना विशेषज्ञोंको प्रोत्साहन दिया और व्यायाम प्रशिक्षकोंका एक दल तैयार किया। उन्होंने देश भरमें छोटी-बड़ी कितनी ही व्यायामशालाओंकी एक शृंखला स्थापित की।

किन्तु इस विनम्र मानवसेवीकी सबसे मधुर छाप एक प्रत्यक्षदर्शीके मन पर पड़ी, जिसने उसे एक धार्मिक पर्वके दिन नई दिल्लीके बिरला मंदिरमें भक्तोंकी भीड़में एक सामान्य व्यक्तिकी तरह खड़े हुए देखा। न कोई अंगरक्षक और न कोई विशेष व्यवस्था? वह भीड़में घुल मिल गये थे और जन-साधारणके भीतर उन्हींमें से एक होकर प्रफुल्लता और आनन्द अनुभव कर रहे थे।

एक उच्च सम्पन्न घरानेमें जन्म लेने पर भी वह जन-साधारणके साथ एकाकार हो गये। वह दरसल जनसाधारणके ही थे। सम्भवतः इस विलक्षण, और कई प्रकारसे असाधारण मानवके जीवनके बारेमें विचार करते हुए उसके प्रति यही सबसे उत्तम श्रद्धांजलि हो सकती है।

श्रद्धाञ्जलिका प्रणाम

सिसके सिन्दूर सभी सूरजके गाँवके
और सभी छन्द लुटे मलयानिल-छाँवके
बिरला जुगलकिशोर रेखा से बिन्दु बने—
हारे युग-बोध सभी सागरके दाँवके

—धर्मेन्द्र मुन्धा

'सादा जीवन उच्च विचार' उनके जीवनका मूलमंत्र था। स्वयं अमानी, किंतु दूसरोंको मान देने वाले थे। उन्हें कई बार अपमान-कर्त्ताओंको पुरुष्कार और झूठी प्रशंसा करने वालोंको फटकार देते देखा गया। वे एक साथ ज्ञानी, भक्त, कर्मयोगी सब कुछ थे। आर्य धर्म उनका धर्म और समस्त आर्य धर्मावलम्बी उनके भाई-बन्धु थे। वे व्यक्ति नहीं, संस्था थे।

श्रद्धा और प्रेरणाके केन्द्र बाबूजी

श्री देवधर शर्मा

सिर पर गुलाबी रंगकी राजस्थानी पगड़ी, बन्द गलेका लम्बा कोट, नीचे तक लटकती हुई दुहरे लाँगकी धोती, पैरोंमें काले रंगके जूते, ऊँचा एकहरा शरीर, दमकता हुआ गौरवर्ण, विहंसता मुखमण्डल, अन्तरको स्पर्श करने वाली आभामयी आँखें—यह है देव-दुर्लभ व्यक्तित्व स्वनामधन्य सेठ श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाका, जो गत २३ जूनको मध्य रात्रीके समय ८५ वर्षकी आयुमें अपने पंचभौतिक शरीरका परित्याग करके ब्रह्मलीन हो गये।

इस महामानवका प्रथम साक्षात्कार आजसे लगभग २५-२६ वर्ष पूर्व मथुरामें हुआ था, जब मैं उनके द्वारा निर्मित हो रहे गीतामन्दिरमें गीता लिखवानेके लिए गीताप्रेस, गोरखपुरसे आया था। मुझे मालूम था कि उनके परिजन-प्रियजन उन्हें सम्मानके साथ 'बड़े बाबू' कहते हैं, किन्तु प्रथम दर्शनमें ही मेरा हृदय इतना श्रद्धाभिभूत हो गया कि मैं उन्हें केवल 'बाबूजी' नाम से सम्बोधित कर बैठा। आगे चलकर तो वे वास्तवमें मेरे 'बाबूजी' हो गये, जो अन्त तक एक पिताकी तरह मुझ पर अपना वात्सल्य बरसाते रहे।

बाबूजीका जीवन गीतोक्त धर्मका मूर्तिमान् स्वरूप था। वे 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' के प्रत्यक्ष उदाहरण थे। उनमें समस्त मानवीय सद्‌गुणोंका सन्निवेश था। उन्होंने सन्त कबीरदासकी तरह दावा तो नहीं किया, किन्तु उन्हींकी भाँति अपने शरीर रूपी 'चादर' को ज्यों-का-त्यों बेदाग छोड़ गये। इस युगमें उन जैसा विशुद्ध जीवन दुर्लभ है। वे अजातशत्रु थे। महर्षि वेदव्यासके अनुसार परोपकारको पुण्य और परपीड़न को पाप समझते थे। उन्होंने अपने जीवनमें बहुत सारी सम्पत्ति अर्जितकी, किन्तु सबको जनता-जनार्दनके लिए विसर्जित कर दिया। 'स्व' नामकी कोई वस्तु उनके पास नहीं रह

गई थी। कर्णके समान उनके लिए अपना कुछ भी अदेय नहीं था। कोई भी उनके द्वारसे खाली हाथ नहीं लौटा। बिरला-भवनमें, वैभवके मध्य, वे विदेहकी भाँति निवास करते थे। किसीमें भी उनको आसक्ति नहीं थी। असंग्रह उनको अच्छा लगता था। करोड़ोंका दान करने पर भी अपने लिये अत्यन्त मितव्ययी थे। 'सादा जीवन उच्च विचार' उनके जीवनका मूल मन्त्र था। स्वयं अमानी, किन्तु दूसरोंको मान देने वाले थे। उन्हें कई बार अपमान-कर्त्ताओंको पुरष्कार और झूठी प्रशंसा करने वालोंको फटकार देते देखा गया। वे एक साथ ज्ञानी, भक्त, कर्मयोगी सब कुछ थे। आर्य धर्म उनका धर्म और समस्त आर्यधर्मावलम्वी उनके भाई-बन्धु थे। वे व्यक्ति नहीं, संस्था थे। सैकड़ों संस्थाएं, सहस्त्रों व्यक्ति मात्र उन्हींकी सहायतासे पोषित हुए। उन्होंने जीवनभर आर्य-धर्मके प्रचार-प्रसार एवं संरक्षणके लिये काम किया और उसीके अभ्युत्थानकी चिन्ता करते-करते दिवंगत हो गये। उनके आर्य-धर्ममें हिन्दू, सिक्ख, बौद्ध, जैन, सनातनी, आर्यसमाजी आदि सभी समाविष्ट थे। उन्होंने इन सभी सम्प्रदायोंके उपासकोंके लिये विभिन्न स्थानोंपर मन्दिर बनवाये और उन सबको सहायता दी। उनके बनवाये मन्दिर आर्य-धर्मकी महानताके प्रतीक और धार्मिक एकता तथा सहिष्णुताके सन्देश-वाहक हैं। उनकी मान्यता थी कि आर्य-धर्म राष्ट्रीय धम है और उसके माध्यमसे चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बाली, वर्मा आदि बौद्ध मतानुयायी देशोंसे भारतकी एकता स्थापितकी जा सकती है और तब विश्वकी कोई विरोधी शक्ति भारतकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती।

यहाँ बाबूजीके जीवनके कुछ पावन प्रसंगोंका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। लगभग २५-२६ वर्षों तक उनके निकट सम्पर्कमें रहकर मैंने जो कुछ देखा-समझा, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि बाबूजी जीवनमुक्त थे। इधर लगभग सालभरसे उनके शरीरमें भयंकर रोग था, जो क्रमशः असाध्य होता गया। उससे उन्हें कष्टका अनुभव हुआ करता था। किन्तु उस अवस्थामें भी उनका अन्तःकरण सतत् श्रीकृष्ण-परायण था। उनके सामने जब जब भगवद्चर्चा होती थी, और उनको गीता-पाठ सुनाया जाता था, वे अपना सारा कष्ट भूलकर भगवान्‌के स्मरण, चिन्तन एवं गुणगानमें खो जाते थे। कभी-कभी यह उद्गार प्रकट करते थे कि "मैंने जीवनमें सदा-सर्वदा भगवान्‌को ही अपना सब-कुछ समझने की चेष्टाकी। माता-पिता, स्वामी-सखा, कर्त्ता-धर्त्ता आदि सब कुछ वही तो हैं। मैं जो कुछ भी और जैसा भी हूँ, उन्हींका हूँ। वे जिस प्रकार चाहें, रक्खें। एक दिन इस शरीर का साथ तो छूटना ही है। किन्तु भगवान्‌का स्मरण और साथ कभी नहीं छूटना चाहिए। मुझे कभी-कभी विचार यह होता है कि इस शरीरका कष्ट देखकर मेरे परिवारके लोग, जो सबके सब बहुत अच्छे हैं, कहीं भगवान्‌की कृपालुता पर अविश्वास न कर बैठें। वास्तवमें बड़े-से-बड़े कष्टके पीछे भी भगवान्‌की कृपा तो काम करती ही है। अतः हमें कभी भी किसी अवस्थामें भी भगवान्‌की कृपा पर अविश्वास नहीं करना चाहिये।"

बाबूजीकी इस अडिग आस्थाका ही यह परिणाम था कि देहावसानके दो-तीन घण्टे पहलेसे उनका सारा ध्यान, उनकी सारी वृत्तियाँ योगेश्वर श्रीकृष्णके चित्रपटकी ओर केन्द्रित हो गयीं और उन्होंने अपने उन इष्टदेवके चरणोंमें करबद्ध प्रणाम एवं प्रार्थना करते हुए शरीर छोड़ा। महा प्रयाणके समय उनके चेहरे पर जो शान्ति आई, वह दर्शनीय थी।

और वह तभी ओझल हुई, जब चिताकी लपटोंने उनके निष्प्राण पार्थिव शरीरको आत्मं-सात् कर लिया।

कुछ वर्ष पहलेकी बात है। काशी विश्वविद्यालयने बाबूजीको डी० लिट्० की उपाधि प्रदान करनेका निश्चय किया था। उसके तत्कालीन उपकुलपति श्रीभगवतीजीने बाबूजीको लिखा कि वे वह सम्माननीय उपाधि स्वीकार कर लेनेकी कृपा करें। इस पर बाबूजी बहुत संकुचित हुए और उन्होंने आभार प्रकट करते हुए श्री भगवतीजीको उत्तर दिया कि "मैं इस उपाधिके योग्य नही हूँ।" श्री भगवतीजीका यह प्रत्युत्तर आया कि "भले ही आप किसी स्कूल-कालेजके स्नातक न हों, किन्तु आपने इस संसारके महाविद्यालयमें जीवन-शास्त्रकी जो महान् शिक्षा पायी है, वह अनुकरणीय है। इसके अतिरिक्त आपके द्वारा इस विश्वविद्यालयकी सेवा भी बहुत हुई है, अतः आप इस उपाधिको अवश्य स्वीकार करें।" किन्तु बाबूजी पर उसका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने विनम्र किन्तु दृढ़ शब्दोंमें यह उत्तर दिया कि "विश्वविद्यालयके लिये जो कुछ भी किया गया, कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे ही किया गया और उसका सारा श्रेय भगवान्‌को है कि उन्होंने कर्तव्य-पालन करनेकी शक्ति एवं सद्‌बुद्धि प्रदानकी। अतः अपने ऊपर व्यर्थका कर्तृत्वाभिमान ओढ़कर उसका पुरस्कार प्राप्त करना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं होगा। आप लोग इसके लिए मुझे अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करें।" इस पर श्रीभगवतीजी निरुत्तर हो गये।

बाबूजीसे मैंने, परमादरणीय श्रीजनार्दनजी भट्टने तथा भाई मदनलालजी आनन्दने कई बार अनुरोध किया कि वे अपने जीवनके कुछ प्रेरक प्रसंग लिखवा दें। किन्तु बाबूजी पहले तो हमारे अनुरोधको हँसकर टालते रहे, अन्तमें यह उत्तर देने लगे कि मनुष्यकी आत्मकथामें क्या धरा है? भगवान्‌के सामने उसकी बिसात ही क्या है? वह तो अपने श्वास-प्रश्वास भी भगवत्कृपा होने पर ही ले पाता है। अतः यदि आप लोग मुझमें कोई अच्छाई देखते हैं जो मेरी दृष्टिमें आप लोगोंका भ्रम मात्र है, तो उसके लिए भगवान्‌को धन्यवाद दीजिये और उन्हींका गुणगान कीजिये।

कई बार बाबूजीके पास कुछ ऐसे याचक आते थे, जिनको हम लोग अच्छा नहीं समझते थे और उनके सम्बन्धमें अपने विचार बाबूजीके समक्ष प्रकट भी कर देते थे। किन्तु बाबूजी हँसकर उत्तर देते थे कि "मुझे कोई भी याचक बुरा नहीं लगता। अनिवार्य आवश्य-कताके बिना कोई किसीसे कुछ माँग नहीं सकता।"

एक बार बाबूजीने राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डनके अनुरोध पर हिन्दी साहित्य-सम्मेलनको एक विशेष धनराशि देनेका आश्वासन दिया और अपने विभागाध्यक्षको कहा कि वे वह धनराशि श्रीटण्डनजीके पास पहुँचा दें। किन्तु उस दिन शनिवार था। विभागा-ध्यक्षके हाथमें उतनी धनराशि थी नहीं। बैंकसे भी चैक द्वारा रुपये नहीं मंगाये जा सके। दूसरे दिन जब बाबूजीको पता लगा कि रुपये नहीं दिये जा सके हैं तब वे बड़े व्यथित हुए और उन्होंने विभागाध्यक्षको कहा कि "भाई, रुपये हाथमें भी रक्खा करो और मैं किसीको कुछ देनेका वायदा करूं तो तुम उसे तुरन्त पूरा कर दिया करो। इस जीवनका कुछ ठिकाना नहीं है।"

'कल्याण'के यशस्वी सम्पादक पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अपने अनुभव एवं ज्ञानके आधार पर यह कहा करते हैं कि "बाबूजीने ही महामना मालवीयजीमें हिन्दुत्वकी भावना जगायी और उनको हिन्दू धर्मकी सेवामें लगाया।" इसके समर्थनमें एक उदाहरण मैं भी दे सकता हूँ। बहुत वर्षों पहले बाबूजी वाराणसी गये हुए थे। मैं भी उनके साथ था। एक दिन सन्ध्या-समय बाबूजीने मालवीयजीसे कहा कि "महाराज, मथुरामें श्रीकृष्ण-जन्म स्थान सैकड़ों वर्षोंसे उपेक्षित खण्डहरोंके रूपमें पड़ा हुआ है। आप भी उससे परिचित होंगे। यदि वह सचमुच श्रीकृष्ण-जन्मस्थान है तो उसके पुनरुद्धारके लिए क्यों कुछ नहीं किया जाता?" श्रीमालवीयजी महाराज यह सुनकर क्षणभर तो चुप रहे, फिर भाव-विभोर होकर बोले कि 'जुगलकिशोरजी, में आपको इसके लिए धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे एक महान् पुण्यकार्यका स्मरण दिलाया। अब मैं अवश्य उसके लिए कुछ करूंगा और वह मेरे जीवनका अन्तिम सत्कार्य होगा।" तदनन्तर महामनाने बाबूजीके धनसे श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान वाला भूमिखण्ड उसके तत्कालीन स्वामी राय कृष्णदासजीसे खरीद लिया और उसके पुनरुद्धारकी एक विस्तृत योजना बना डाली। किन्तु जब वे अपने जीवन-कालमें उसे पूरा नहीं कर सके तब बाबूजीने उसी योजनाके अनुसार श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघकी स्थापना की और वही संघ आजकल श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके पुनरुद्धार-कार्यमें लगा हुआ है।

इस प्रसंगके कुछ समय पश्चात् जब बाबूजी पुनः वाराणसी गये तब महामना मालवीयजी अशक्त हो गये थे और उनको अपने विश्वविद्यालयमें एक करोड़की लागत से विश्वनाथ-मन्दिरके निर्माणकी बड़ी चिन्ता थी। वे कहते थे कि "विश्वविद्यालयके शरीर का निर्माण तो प्रायः पूरा हो चुका है, किन्तु उसमें प्राण-प्रतिष्ठा तभी होगी, जब विश्व-नाथ-मन्दिर बन जायेगा।" बाबूजी मालवीयजी महाराजकी इस चिन्तासे अवगत थे। उन्होंने मेरे सामने ही मालवीयजीसे कहा कि 'पंडितजी, आप चिन्ता छोड़िये। एक करोड़ की योजनाको पचास लाखकी बना दीजिये। यह पचास लाख भी आपको भ्रमणके बिना नहीं मिलेगा। आपने विश्वविद्यालयके लिए देशवासियोंसे करोड़ों रुपये प्राप्त किये हैं। अब इस वृद्धावस्थामें पचास लाख रुपयोंकी याचना करना अच्छा नहीं लगता। यदि आपको इतने रुपये मिल भी गये तो कोई गौरवकी बात नहीं होगी, किन्तु यदि नहीं मिले तो आपकी अन्तिम मांग पूरी न करनेका अमिट कलंक देशवासियोंको लग जायेगा। अतः आप आशीर्वाद दीजिये कि पचास लाख रुपयोंकी व्यवस्था हो जाय और मन्दिर बनवा दिया जाय।" यहाँ यह स्मरण रखनेकी बात है कि बाबूजी ऐसे अवसरों पर कभी कर्त्ताके रूपमें नहीं बोलते थे। यथासम्भव बातचीतमें मैं, मैंने, मेरा इत्यादि आत्मवाची शब्दोंका प्रयोग करनेसे बचते थे। अस्तु मालवीयजी महाराजने जब बाबूजीकी बात सुनी तब वे गद्गद होकर रो पड़े और यह उद्गार प्रकट किया कि—"जुगलकिशोरजी, मुझे आपसे ऐसे ही आश्वासनकी आवश्य-कता थी। अब मैं शान्तिपूर्वक शरीर छोड़ सकूंगा। आप मेरे आढ़तिया रहे हो, अब भी हो, आगे भी रहोगे। मुझे आपका सुझाव मंजूर है। अब मेरा अनुरोध केवल इतना ही है कि पचास लाख रुपयोंको तीन भागोंमें विभक्त करके एक भाग व्यापारी-वर्गसे दूसरा भाग राजा वर्गसे और तीसरा भाग कृषक-वर्गसे लेनेका प्रयत्न करना चाहिये। राजाओं वाला भाग तो मैं इस अशक्त अवस्थामें भी बैठे-बैठे पत्र-व्यवहार द्वारा प्राप्त कर लूंगा। शेष दोनों भागोंको

एकत्र करनेका उत्तरदायित्व आप सम्हाल लीजिये । किन्तु मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि मेरे जीवन-काल तक किसीसे एक लाखसे अधिक न लिया जाय और अधिकसे अधिक दाताओंका धन इस मन्दिरमें लगानेकी चेष्टाकी जाय ।"

इस दिव्य वार्तालापके कुछ ही दिनों पश्चात् मालवीयजी महाराजका देहान्त हो गया और यह सभी जानते हैं कि राजाओं वाला भाग भी नहींके बराबर प्राप्त हो सका । प्राय: समस्त धनकी व्यवस्थाके लिए बाबूजीको ही प्रयत्न करना पड़ा। आज वह विश्वनाथ-मन्दिर अपने कुतुवमीनारसे भी ऊंचे शिखरके साथ न केवल काशी विश्वविद्यालयकी शोभा बढ़ा रहा है, अपितु देश-विदेशके पर्यटकोंके लिए पूजनीय स्थल बन चुका है ।

इस प्रकार बाबूजीके और भी बहुतसे उद्बोधक एवं प्रेरणाप्रद प्रसंग हैं, जो फिर कभी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

इस समय तो मेरे सिरसे बाबूजीकी छत्रछाया उठ जानेके कारण मुझे न केवल अपने जीवनमें, बल्कि चारों ओर रिक्तता और सूनेपनका अनुभव हो रहा है । लगता है कि वह सूर्य अस्त हो गया है, जिसके प्रकाशमें मुझको सब कुछ दिखायी देता था । वह धरती खिसक गयी है, जिसपर मेरे पैर टिके हुए थे । वह आकाश घनीभूत होकर वातावरण विहीन हो गया है, जिसमें मैं निश्चिन्त होकर विचरण किया करता था ।

किन्तु इस विपन्न अवस्थामें भी बाबूजीके अमोघ आशीर्वादका संबल तो मेरे साथ है ही । उन्होंने मुझसे वचन लिया था कि मैं श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, स्वर्गाश्रम तथा अन्य अनेक सम्बन्धित संस्थाओंके काम-काज नहीं छोडूंगा । अतः मुझे यथासम्भव उनके आदेशका पालन करना है-करते रहना है । आगे श्रीहरिकी जैसी इच्छा !

❁

तुम्हारा वास्तविक धन सिर्फ उतना है, जिसे तुम सत्पात्रको देते हो, और जिसका कि दिन ब दिन उपभोग करते हो । शेष भाग दूसरोंका है, तुम तो मात्र उस धनके रक्षक हो ।

—अज्ञात

जो ईश्वरको अपना सर्वस्व मानता है वही असली धनवान है और दुनियाँ की चीजोंमें अपनी सम्पत्ति मानने वाला तो सदा गरीब ही रहेगा ।

—हयहया

मनुष्य धनवान होनेसे धनी नहीं कहा जा सकता बल्कि उदार चित्त होनेसे ।

—सादी

"भारतीय धर्मके लिए उन्होंने जितना बीसवीं शताब्दी में किया है, उसे अब तक कोई नहीं कर पाया है। कोई कर सकेगा या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। उन्होंने एक विशाल साम्राज्यकी स्थापना की है। वह साम्राज्य शक्ति पर नहीं, मानवकी धार्मिक सहानुभूति और सहिष्णुता पर आधारित है।"

स्वर्गीय जुगलकिशोर बिरला
एक योद्धा—एक संत—एक नेता

श्रीरघुनाथ सिंह

राजा बलदेवदास जी बिरला काशीमें रहते थे। अपने मामूरगंज वाले बागमें वे ठीक समयसे जाया करते थे। उनका नित्य वहाँ जानेका समय इतना निश्चित था कि रास्ते में पड़ने वाले लोग उनकी गाड़ी देखकर यह समझ जाया करते थे कि अब तीन बज रहे हैं। एक बार मेरे घर वालों ने राजा साहब के साथ बैठे एक युवक को दिखाकर कहा था—'राजा साहब के बड़े बेटे हैं।' वे जुगल किशोर जी थे। उनके दान की ख्याति सुनता था। बड़ी प्रसन्नता होती थी। ये सारी बातें ५० वर्ष पुरानी हैं।

उन दिनों संस्कृत का प्रचलन बहुत कम था। गीता का प्रचार नहीं था। संस्कृत पढ़ना और श्लोक याद करना ब्राह्मणों का काम समझा जाता था।

महात्मा गांधी के कारण गीता का नाम व्याप्त होने लगा था। लोगों के मन में गीता के प्रति रुचि हुई। जो लोग ब्राह्मण नहीं थे, उनके घर तुलसीकृत रामायण पढ़ी जाती थी।

मणिकर्णिका घाट का श्मशान वास्तव में महा श्मशान का रूप था। वहाँ ठहरने का स्थान नहीं था। बिरला जी ने वहाँ श्मशान बनवाया। गीता के अनेक श्लोक अनुवाद सहित संगमरमर पर खोदे गए। मृतक के साथ वहाँ जाने वालों को छाया मिलती थी तथा उन श्लोकों को पढ़कर जीवन की क्षणभंगुरता का दुःख कम हो जाया करता था।

उसके पश्चात् नई दिल्ली, हरिद्वार, मथुरा, कुरुक्षेत्र में उनकी कीर्ति के दर्शन हुए। भारतीय धर्म का मूर्त्त रूप उपस्थित हो जाता था।

जुगलकिशोर जी के जीवन पर महामना मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपत राय तथा स्वामी श्रद्धानन्द का विशेष प्रभाव पड़ा था। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति थी, किन्तु थी विकासोन्मुखी। जड़ नहीं थी। उन्होंने धर्म का सच्चा अर्थ समझा था। वे स्वयं में भारतीय धर्म के एक विराट समन्वय थे। अपने मन्दिरों में उन्होंने सभी भारतीय सम्प्रदायों और मतों को मान्यता दी। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि नाना मत-मतान्तरों में उन्होंने एक अविच्छिन्न सूत्र देखा। वह भावनात्मक सूत्र भारतीय एकता का था।

उनके मन्दिरों में बौद्ध, जैन, सिख आदि सभी मतों और मूर्तियों को मान्यता मिली है। उनका क्षेत्र धर्म तक ही सीमित नहीं रह गया था। उनमें उन सब महापुरुषों के लिए अनुराग था, जिन्होंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा तथा प्रचार के लिए कुछ किया था। सम्राट अशोक, चन्द्रगुप्त, राणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह आदि की जीवन-सम्बन्धी विशेष घटनाओं को पत्थरों पर उन्होंने खुदवाया था। मूर्तियों के नीचे उनकी जीवन तथा धर्म-सम्बन्धी विशेष घटनाओं का उल्लेख है। एक साधारण व्यक्ति भी उन्हें पढ़ कर समझ सकता है। पराधीनता के काल में देश के प्रति भक्ति उत्पन्न करने में इन मन्दिरों तथा भवनों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वे चुपचाप दर्शक के मन पर एक गहरी छाप छोड़ते हैं।

उन दिनों मन्दिरों में हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध था। काशी में तो सन् १९५८ तक हरिजनादि मन्दिरों में प्रवेश नहीं पा सकते थे। भयंकर आन्दोलन मन्दिर प्रवेश को लेकर होता था। ईसाई और मुसलमान धर्म-प्रचारकों के उत्साह तथा हरिजनों और हिन्दुओंके धर्म-परिवर्तनके कारण हिन्दुओंके मन में क्षोभ रहता था।

उन्होंने अपने मंदिर सबके लिए खोल दिए। मंदिरोंमें संत रैदास की भी मूर्ति लगवा दी। हरिजनों में भावना जगी कि वे भी हिन्दू हैं, और महान हिन्दू जाति के अंग हैं। भगवान के वे दर्शन उसी प्रकार कर सकते हैं, जिस प्रकार कोई ब्राह्मण कर सकता है। नई दिल्ली का बिरला मंदिर इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

मंदिर धार्मिक संस्कारों का केन्द्र हो गया। वहाँ विवाह, उपनयन आदि भी बिना स्वाँग के होने लगे। यज्ञ भी होने लगे। बिरलाजी की दूरदर्शिता का मुझे तब ज्ञान हुआ, जब मैं दार्जिलिंग गया। एक पहाड़ी रिक्शा-वाहक था। बात की बात में उससे मालूम हुआ कि वहाँ चर्च बहुत हैं, साथ ही उससे यह भी ज्ञात हुआ कि वह शीघ्र ही ईसाई बनना चाहता है। जब मैंने उसके धर्म-परिवर्तन करने की प्रवृत्ति पर आश्चर्य प्रकट किया, तब उसने बड़ी सरलता से कहा—'मेरे पास पाँच सौ रुपए कहाँ हैं, जो विवाह करूं! चर्च में सस्ते में शादी हो जाएगी।' बिरला जी ने देश में मंदिरों की शृंखला स्थापित करके कितने ही हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन की विभीषिका से बचा लिया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रांगण में विश्वनाथ मन्दिर बनाने की एक योजना मालवीय जी के समय बिरला जी ने बनाई थी। उसका शिलान्यास हिमालय के एक सिद्ध तपोनिधि जी ने किया था। उनके दर्शन मैंने किए थे। बिना किसी भेद-भाव के काशी विश्वनाथ का दर्शन लोगों को हो सके, यह विराट भावना इसके पीछे थी। संयोग कुछ ऐसा बैठा कि मालवीय जी के जीवन में उसका निर्माण आगे नहीं बढ़ सका। उनकी मृत्यु के पश्चात् ही उसका निर्माण-कार्य आगे बढ़ा। आज वह उत्तर भारत का सबसे ऊंचा मन्दिर है, कुतुब मीनार से भी ऊंचा।

बिरला जी हिन्दू विश्वविद्यालय वाले मन्दिर के निर्माण में विशेष रुचि लिया करते थे। काशी में रहने पर वे प्रति सायंकाल वहाँ जाया करते थे। एक-एक पत्थर को देखते। कौन सी चीज कहां लगेगी, इसका वे स्वयं निश्चय करते थे। उनका वास्तु-कला का ज्ञान अद्भुत था। उनके अदम्य उत्साह और लगन को देख कर विस्मय होता था। मुझे स्मरण है कि उन दिनों डा० भीखनलाल आत्रेय प्राय: उनके साथ मन्दिर आया करते थे। आत्रेय जी ने मेरा परिचय उनसे कराया था।

वह मन्दिर जैसे उनके जीवन का अन्तिम स्मारक था। उस मन्दिर में ईसाई और मुसलमान का प्रवेश वर्जित नहीं है। भित्ति पर लगी मूर्तियों के नीचे अंग्रेजी भाषा में लेख खुदे हैं, जिससे विदेशी समझ सकें कि हिन्दू-धर्म के भौतिक सिद्धान्त क्या हैं। आज काशी आने वाला प्रत्येक विदेशी पर्यटक वहाँ जाता है, और भारतीय धर्मके प्रतीक उस मन्दिर की भव्यता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

बिरला जी ने मन्दिरों तथा भवनों को एक सर्वथा नूतन वास्तु-शैली प्रदान की है। वह शैली नवीन होते हुए भी पूर्ण भारतीय है। वास्तु-कला के विशेषज्ञ इस शैली को भविष्य में बिरला-वास्तुके नामसे सदा स्मरण करेंगे। बिरला जी द्वारा निर्मित भवनों और मन्दिरों की शैली, बनावट, और रंगों को देख कर दर्शक के मन पर बिरला जी की कांति की छाप उभर आती है। यह शैली-विशेष केवल मंदिरों और भवनों तक ही सीमित नहीं है। बल्कि वहाँ स्थापित मूर्तियों में भी बिरला-शैली अपनी अलग छाप छोड़ती है।

'स्वस्तिक', श्री, तथा 'कमल' का चिह्न भारतीय भवन-निर्माण तथा रचना में विशेष महत्व रखता है। स्वस्तिक आर्य जाति का प्राचीनतम चिह्न है, जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है। बिरला जी द्वारा निर्मित सभी भवनों और मंदिरों में स्वस्तिक की प्रधानता मिलती है। सारनाथ में बौद्ध भिक्षुओं के लिए निर्मित धर्मशाला पर भी स्वस्तिक का चिन्ह अंकित है।

पहले श्वेत चूने के रंग से दीवारों की छुआई होती थी। लाल रंग मठों की छुआई में प्रयुक्त होता था। यूरोपियन प्रभाव के कारण क्रीम तथा कुछ पीला रंग भी काम में लाया जाने लगा। बिरला जी ने एक नवीन रंग की कल्पना की। इसका पहला प्रयोग काशी विश्वविद्यालय के भवनों पर किया गया। कालान्तर में बिरला जी द्वारा निर्मित जितने मंदिर तथा भवन बने, उनमें उनका प्रयोग होने लगा। वह रंग उषाकालीन अरुणिमा से मिलता है। अनन्तर उसे 'बिरला-मंदिर रंग' ही कहा जाने लगा।

एक घटना घटी। उसके कारण बिरला जी से मेरा नैकट्य बढ़ा। बुद्ध पूर्णिमा का उत्सव बिरला बुद्ध मंदिर, नई दिल्ली में आयोजित किया गया था। उत्सव के बिरला जी अध्यक्ष थे। श्री मोरार जी देसाई ने उत्सव का उद्घाटन किया। मैं भी बोलने वालों में से था। मैंने कहा—'भगवान् बुद्ध अनीश्वरवादी थे। उनका दर्शन नास्तिक दर्शन है।' उस समय जुगलकिशोर जी कुछ नहीं बोले। सभा समाप्त होने पर वे बाहर निकले और मुझसे कहा—'बात ऐसी नहीं है।' मैंने उस समय विवाद करना उचित नहीं समझा, लेकिन आज भी देसाई जी से ईश्वर है या नहीं, इस पर हमारा विवाद चलता है। जुगलकिशोर जी के साथ कुछ और ही बात हुई।

दैनिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री रतनलाल जोशी के साथ मैं बिरला जी के घर गया। वे मेरे धर्म सम्बन्धी लेख पढ़ा करते थे। उन पर चर्चा भी होती थी। एक दिन मैंने अपनी नव-प्रकाशित पुस्तक 'योगवासिष्ठ' उनके पास भेजी। हम जब भी मिलते धर्म चर्चा होती, लेकिन पता नहीं क्यों, मैं उनके पास जाकर मूक हो जाता। मन करता कि वे कहते रहें और मैं सुनता रहूँ। इसमें मुझे विशेष रस मिलता। मैंने उनसे कभी ईश्वर-अनीश्वर पर चर्चा नहीं की।

उनका स्वास्थ्य गिरता गया। वे हमें स्मरण करते रहे। उनमें एक बहुत बड़ी विशेषता थी कि वे परिचय और सम्बन्ध बनाए रखना जानते थे। मत-भेद या गरीबी-अमीरी के भेद के कारण कभी परस्पर के व्यवहार में भेद नहीं आने दिया।

अन्तिम दिनों में वेद पर प्रायः चर्चा होती। मेरी भी वेद के प्रति रुचि बढ़ी। मैंने वेद का अध्ययन आरम्भ किया। ऋग्वेद सम्बन्धी उपाख्यान पर किसी विश्व की भाषामें पुस्तक नहीं है। मैंने यह निश्चय किया कि इस महान् आत्मा को मैं यह पुस्तक भेंट करूँगा।

'वेद-कथा' दैनिक हिन्दुस्तान में छपने लगी। वे उसे पढ़ते रहे। उन्हें संकलित कर पुस्तकाकार रूप में वह प्रकाशित हुई। दिल्ली उन्हें भेंट करने आया, परन्तु उनकी बीमारी बढ़ती गई। डाक्टरों ने अनुमति नहीं दी। २४ जून को उनकी मृत्यु का समाचार मिला। मेरे दुःख की सीमा नहीं रही। मैं जोशी जी के साथ जाकर अपनी श्रद्धांजलि के रूप में 'वेद-कथा' उनके चरणों पर रख आया। मैं उनके जीते-जी पुस्तक अर्पित नहीं कर सका, यह बात मुझे सदा सालती रहेगी। वे राजर्षि थे। लोभ से वे सर्वथा मुक्त थे। उनकी तृष्णा तिरोहित हो चुकी थी। महा धनी होने पर भी धन के आकर्षण से वे मुक्त थे। प्रसाद में रहकर साधारण आदमी की तरह अनिकेत थे।

भारतीय धर्म के लिए उन्होंने जितना बीसवीं शताब्दी में किया है, उसे कोई अब तक नहीं कर पाया है। कोई कर सकेगा या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। उन्होंने एक विशाल साम्राज्य की रचना की है। वह साम्राज्य शक्ति पर नहीं, मानव की धार्मिक सहानुभूति और सहिष्णुता पर आधारित है।

बीसवीं शताब्दी के 'धर्मनायक' को मेरा कोटिशः प्रणाम !

"जब वे किसीको कुछ देते थे, उस समय उनकी प्रसन्न-मुद्रा देखते ही बनती थी। उस समय ऐसा लगता था, कि जिसको उन्होंने दिया है उसीसे कृतज्ञ हो रहे हैं। कौन होगा ऐसा दान वीर।"

आधुनिक भारतके धर्म-प्राण नर-रत्न, बिरला परिवारके बाबूजी

श्री कन्हैयालाल मिश्र

२४ जून १९६७ को ८५ वर्ष तक इस भारतीय भूमिका भोग करनेके पश्चात् मानव-रत्न श्रीजुगलकिशोर बिरलाने यशः शरीरका त्याग कर दिया।

श्रीबिरलाजीका जन्म राजस्थानके पिलानी नामक गाँवमें सन् १८८१ में हुआ था। उन क्षणोंसे लेकर जीवन पर्यन्त उनका जीवन वर्षाके धुले हुए आकाशमें उदयोन्मुख सूर्यकी किरणोंकी मनोहर तरलता लिए हुए प्रवहमान रहा।

वे सही मानीमें दानवीर थे। उनके जीवनका वही खाता तो मिलना मुश्किल है, जिसमें उनके दानोंकी सूची हो। पर देशका ऐसा कोई क्षेत्र या स्थान नहीं, जो उनके दानसे अछूता बचा हो। कहा जाता है कि १९०१ में कलकत्ता जाने पर सर्वप्रथम एक लाख रुपएका अर्जन किया तो उन्होंने वह समस्त राशि वहाँकी पिंजरापोल (गऊशाला) को दे दिया। उसी साल कलकत्तेमें विशुद्धानन्द विद्यालयकी स्थापनामें चन्दा देकर सार्वजनिक जीवनमें योगदानका भी श्रीगणेश किया।

वे एक प्रख्यात समाज सुधारक थे। उन्होंने देखा कि समाजके जन-जीवनमें एक चिन्तनीय विषमता है। उन्होंने समाजमें व्याप्त कुरीतियों को दूर करनेके लिए उनके विरुद्ध आवाज उठाई, जनमत तैयार किया, कुरीतियोंसे संभावित हानि पर भाषण दिए।

सन् १९१३ में उन्होंने नवयुवकोंकी समिति गठित की जो अनाथों और पीड़ितों के सहायतार्थ स्थायी रूपसे प्रबन्ध करे। इसका नाम मारवाड़ी सहायक समिति रखा गया और वे उसके सर्वप्रथम सभापति हुए। और उसी वर्ष दरभंगाकी बाढ़में इस संस्थाने

बहुत काम किया जिसके माध्यमसे मानवको बिरलाजीकी सेवा परायणताका परिचय मिला।

वे दान देकर स्वयं सम्मानित नहीं होते थे, वरन् दूसरोंको ही सम्मानित करते थे। पण्डित वर्गको यथाविधि, यथामान सम्मानित करनेकी उनमें भूख थी, जब वे किसीको कुछ देते थे उस समय उनकी प्रसन्न मुद्रा देखते ही बनती थी। उस समय ऐसा लगता था, कि जिसको उन्होंने दिया है, उसीसे कृतज्ञ हो रहे हैं, कौन होगा ऐसा दानवीर। यह उनके दानकी विशेषता थी।

सही मायनेमें वे मानव नहीं, देवता थे। पूर्व जन्मके सुकर्मोंके फल स्वरूप मुझे भी उस देवात्माके सम्पर्कमें आनेका सुअवसर मिला। उनके वाराणसी प्रवास कालमें मुझे उनके सचिवके रूपमें कार्य करनेका अवसर मिला, जिससे मैं उस महापुरुषको समीप से देख—सुन सका।

वे महान् थे, माननीय गुण उनमें कूट-कूट कर भरे थे। प्रथम बार जब मैंने उन्हें देखा, उसी क्षण उस राजर्षिके प्रति हृदय श्रद्धासे भर उठा था। बड़ा ही आकर्षक व्यक्तित्व था उनका। गौर वर्ण, एकहरा स्वास्थ्य बदन सौम्य तेज युक्त मुखाकृति, लम्बा कोट, एड़ी तक लटकती हुई धोती और सिर पर राजस्थानी गुलाबी पगड़ी।

आज उनके निधनके बाद उनके गुणोंके बारेमें सोचता हूँ तो हृदय भर आता है। वास्तवमें वे ऐसे थे ही। उनकी देश व समाज-सेवाके विषयमें लिखा जाय तो कई ग्रन्थ तैयार हो जायेंगे। यहाँ मैं श्रद्धेय बिरलाजीके सम्बन्धमें अपने कुछ संस्मरणोंका उल्लेख कर देना प्रासंगिक समझता हूँ, जिनमें उनके सरल त्यागमय जीवन सद्व्यवहार ज्ञान एवं जीवमात्रके प्रति दयाका भाव प्रकट होता है। वास्तवमें उन्होंने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि विकारोंको जीत लिया था।

उनकी क्रियाशीलता चकित कर देने वाली थी। वे प्रत्येक आए हुए पत्रको स्वतः पढ़ते तथा प्रत्येकका यथोचित उत्तर देते।

यद्यपि उन्होंने किसी विद्यालयसे कोई उपाधि नहीं प्राप्त की थी किन्तु स्वाध्याय के कारण उनका ज्ञान अपरिमित था। संस्कृत, हिन्दी और आयुर्वेदके प्रबल, समर्थक थे। वे बड़े अच्छे वक्ता थे। एक बारकी बात है कि बड़े बाबू (श्री जुगलकिशोरजी बिरलाको परिवार तथा परिचित इसी नामसे सम्बोधित करते थे, जब वाराणसी आए तो उन्हें स्थानीय अर्जुन आयुर्वेद विद्यालयमें वार्षिक समारोहका सभापतित्व करने के लिए आमंत्रित किया गया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया और मुझे बुलाकर कहा कि कल समारोहमें चलना है, सो याद दिला देना और साथ चलना। मैं उस समय उनके अपरिमित ज्ञानसे अपरिचित था। सोचा बड़े बाबूमें सब गुण हैं, बाकी अधिक पढ़े-लिखे नहीं हैं, सो भाषण देना सम्भव नहीं होगा। शायद मुझे पढ़ा लिखा समझ कर इसीलिए साथ ले चल रहे हैं कि मैं भाषण देनेमें उनका प्रतिनिधित्व करूं। मैं आयुर्वेद

में स्वतः अल्पज्ञानी और कभी बड़े समारोहमें भाषण देनेका अवसर भी नहीं मिला था। खैर, किसी तरह पुस्तक, पत्रिकाओंसे एक भाषण रटकर तैयार किया और दूसरे दिन बड़े वाबूजीके साथमें हो लिया। मुझे विश्वास न था कि बाबूजी अच्छा भाषण दे सकेंगे, जब वे समारोहमें भषण देनेके लिए खड़े हुए तो उनका धाराप्रवाह भाषण सुन आश्चर्य चकित रह गया। बड़ा ही ओजस्वी एवं प्रभावशाली भाषण था। उस भाषणका सार यह था कि आयुर्वेदकी चिकित्सा उच्चकोटि की धर्मयुक्त और महत्त्वपूर्ण अनुभवोंसे युक्त है, किन्तु दुःखकी बात है ऋषियों द्वारा रचित आयुर्वेदकी अवहेलनाकी जा रही है। वह देशके लिए घातक है। डाक्टरोंकी संख्या जैसे-जैसे वढ़ रही है, वैसे-वैसे बीमारियाँ भी बढ़ रही हैं। खेदका विषय है कि वैद्य लोग भी अपने लड़कोंको डाक्टरी पढ़ा रहे हैं। डाक्टरी चिकित्सा सर्वसाधारणके लिए मंहगी पड़ती है। गरीव जनता उसे वहन नहीं कर सकती। विदेशी दवायें अनुकूल भी नहीं पड़तीं। वहुतसे लोग समुचित इलाज न करा सकनेके कारण असमयमें ही मृत्युके मुखमें चले जाते हैं। इस बातकी नितान्त आवश्यकता है कि अधिकसे अधिक आयुर्वेदिक चिकित्सालय खोले जायँ और अनुसंधान किए जायें जिससे सस्ती और शुद्ध चिकित्सा हो। आयुर्वेदिक विद्यालय भी खोले जायें, आयुर्वेदकी रक्षा और वृद्धि करना सवका कर्तव्य है, अन्यथा देशके एक वड़े विज्ञानकी हानि हो सकती है। जिसकी पूर्ति पुनः असंभव है। वे करीव डेढ़ घण्टे तक बोलते रहे। बड़ा ही सारगर्भित भाषण था और श्रोता उसमें तन्मय हो चुके थे। वस्तुतः उनकी वाणीके पीछे उनका हृदय बोल रहा था।

संस्कृतके वारेमें वे प्रायः पंडित वर्गसे कहा करते थे कि हमारी संस्कृतिका स्रोत संस्कृतमें है, हमारे धार्मिक ग्रन्थ संस्कृतमें हैं और संस्कृत ही हमारी आदि भाषा है। इसमें थोड़ेसे शब्दोंमें ही वहुत अर्थ और भाव भरे रहते हैं।

वे वड़े ही सरल हृदय व्यक्ति थे। वे सभी लोगोंको समान दृष्टिसे देखते और प्यार करते थे। हरिजनोंके उत्थानके लिए भी उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया। हरिजनों के प्रति उनके हृदयमें बड़ा प्रेम था, उनकी कथनी करनीमें अन्तर नहीं था। एक बारकी बात है बड़े बाबू होलीके अवसर पर काशीमें थे धुरड्डी वाले दिन सायंकाल हम बिरला भवनके कर्मचारी हाथोंमें अबीर लेकर उनसे मिलने गए। उन्होंने हम सबका स्वागत किया और हम लोगोंको देखकर बोले, झमकुआ नहीं आया क्या? उसे बुलाओ। झमकुआ कोठीका मेहतर था। उसे खोज कर लाया गया। वाबूजीने उसके माथे पर टीका लगाया, उससे लगवाया और प्रेम पूर्वक गले मिले। यह मिलन दृश्य बड़ा ही हृदयस्पर्शी था। एक हरिजनने तो बाबूजी को ७००) में बेच ही दिया था। बात पिलानीकी है, वहाँ कोठी पर एक वृद्ध मेहतर आया करता था। उसके स्थान पर एक युवक मेहतरको देखकर बाबूजीने पूछा, भाई वह मेहतर कहाँ गया, तो वह बोला वह तो आपको सातसौ में बेचकर चला गया। बाबूजीकी समझमें बात आई नहीं, सो पूछा वह कैसे भाई, तो उसने बताया कि मैंने आपकी बड़ी प्रशंसा सुनी और मैं आपकी सेवा करना चाहता था, सो मैंने उस मेहतरसे कहा कि भाई मुझे भी अवसर दो तो उसने उत्तर दिया बड़े देवता आदमी हैं, बहुत दयालु हैं, कमसे कम सात सौ रुपया दो तो मैं अपनी जगह तुम्हें दे

सकता हूँ और मैंने सात सौ दे दिए। बड़े बाबू यह सुनकर बहुत देर तक हँसते रहे, फिर उन्होंने उस पुराने मेहतरको बुलाकर पूछा, भाई तुम्हें मुझसे क्या कष्ट है कि तुमने मुझे बेच दिया। वह बोला बाबूजी मुझे रुपयोंकी जरूरत थी, और इस तरह मुझे रुपया मिला गया। बड़े बाबूने कहा, भाई मुझे तो तुम्हें रखना है। रुपएकी जरूरत थी तो मुझसे क्यों नहीं कहा और तत्काल उसे एक हजार रुपए दिलवा दिए।

'विना माँगे मोती मिले' वाली कहावतको वे चरितार्थ करते थे। गरीबोंका उन्हें बड़ा ध्यान था। रास्तेमें मोटरसे यात्रा करते समय भी उनकी दृष्टि पात्रोंको ढूंढा करती एक बार मोटरसे विश्वविद्यालय—विश्वनाथ मन्दिरका निर्माण कार्य देखकर लौट रहे थे। उन्होंने दुर्गाकुण्डके पास धर्मसंघके सामने पार्कसे लौटी वृद्ध बंगाली महिलाओं को, उनके निवासस्थानके बाहर मैदानमें बैठे देखकर पूछा, ये कौन हैं सहायताकी पात्र दिखती हैं। कल पूछ कर बताना उन्हें किस चीजकी आवश्यकता हैं। पता लगाया तो पता लगा, वे पूर्व बंगालसे आई शरणार्थी २२ महिलायें थीं और वस्त्रकी अत्याधिक आवश्यकता थी सो मैं वस्त्र लेकर वितरित करने गया, वहाँ जाने पर पता लगा कि रामापुरामें इसी तरहकी दो सौ के करीव महिलायें हैं, सो बाबूजीने कहा कि उन्हें भी बाँट आओ और मैं वितरित कर आया। एक दिन ऐसे ही मच्छोदरीकी एक पटरी पर एक वृद्धको सर्दीसे ठिठुरते देखा। बोले इसको एक कम्बल दिलवा देना। मैंने आकर मुनीमको बाबूजीका आदेश बता दिया और कम्बल दे दी गई। रात्रीमें एक बजे उनके नौकरने मुझे आकर जगाया, और पूछा, बाबूजी पूछ रहे हैं कि जिस वृद्धको कम्बल देनी थी, दे दी गई या नहीं। कहनेका तात्पर्य गरीबों-दुखियोंका कितना ख्याल था उन्हें ! सोते-जागते भी, सदा दीन दुखियोंका चिन्तन। कहाँ मिलेगा ऐसा व्यक्ति।

अपनी सुख सुविधाके लिये वे दूसरोंको कभी कष्ट नहीं देते थे। बल्कि वे दूसरोंके ही कष्टका ख्याल रखते। एकबार अकस्मात बाबूजीके आनेका समाचार मिला उस समय उनके पिता स्व० राजा साहब जीवित थे, अतः उनका आदेश पाकरमें उन्हें लेने हवाई-अड्डा बाबतपुर पहुँच गया। बाबूजीके साथ एक वैद्य एक रसोइया और एक बेयरा दिल्लीसे आया था। इन लोगोंके कारमें बैठ जाने तथा उनके सामान रख लेनेके बाद लेशमात्र स्थान नहीं था कि मैं बैठ सकता। मैंने बाबूजीसे कहा आप चलें मैं आ जाऊंगा। गर्मीके दिन थे। आसपास सवारीका साधन न देखकर वे बोले। कैसे आयेगा। तो मैंने कहा थोड़ी दूर चौमुतानीसे रिक्शा पकड़कर आजाऊंगा आप चिन्ता न करें। बाकी वे कब सुनने वाले थे अपने पैरोंको सिकोड़ और कष्ट पाकर भी मुझे बैठने पर विवश किया। अपनेको कष्ट पा लिया, मगर दूसरोंको कष्ट न होने दिया।

इसी तरह मैं एक बार उनसे मिलने दिल्ली पहुँचा, तो पता चला वे आज ही हरद्वार गए हैं। कार्य आवश्यक था, सो मैं भी हरद्वार जा पहुँचा और एक धर्मशालामें सामान रख स्नान आदिसे निवृत हो बाबूजीसे मिलने बिरला भवन गया। मिलनेके साथ ही पूछा कहाँ ठहरे हो तो मैंने बताया कि धर्मशालामें ठहरा हूँ। कुछ अप्रसन्नसे होते

हुए बोले वहाँ क्यों ठहरे, जाओ सामान ले आओ। लाचार मैं सामान ले आया और उन्होंने ऊपर अपने पासके एक कमरेमें सामान रखवा दिया। हरद्वारमें रात्रिको कुछ ठंड पड़ती है लेकिन मैं अपने साथ कुछ ओढ़नेको नहीं ले गया था और संकोचवश किसीसे माँगा भी नहीं। खैर सो गया और निद्रादेवी भी यथा समय आ गई। प्रातः उठा तो अपने शरीर पर एक हल्की ऊनी शाल पायी। मैंने सोचा कि बाबूजीका नौकर ओढ़ा गया होगा, सो मैंने उठते ही उसे धन्यवाद दिया, तो वह बोला मुझे नहीं, बाबूजीको धन्यवाद दीजिए। वे रातको लघुशंका हेतु उठे थे, सो आपके कमरेमें दृष्टि गई तो मुझे जगाकर आपको यह शाल ओढ़ा देनेको कहा। बाबूजी को मैं क्या धन्यवाद देता, हृदय उस देव पुरुषके प्रति कृतज्ञतासे भर उठा।

एकबार की बात है संकट मोचन की तरफसे गुजर रहे थे। उन्होंने एक अति वृद्ध व्यक्तिको पैदल जाते हुए देखा। बोले, इसको पैदल चलनेमें कष्ट होता होगा, सो कार रोक दी और उससे पूछा, कहाँ जाना है, वह बोला गुदौलिया। बाबूजीने उसे कारमें बैठा लिया। वह ब्राह्मण था। गुदौलिया पर उसे उतारा और दस रुपया भी दिया। वह चकित सा देखता रहा, कि वह कैसा व्यक्ति है, जिसने यहाँ तक पहुँचा भी दिया, और रुपये भी दे रहा है। उसे क्या पता था कि वह दानवीर बिरलाजी थे। कुछ आगे बढ़े थे, मुझसे पूछा बाजरा मक्का का क्या भाव है। मैंने कहा बाबूजी मुझे तो पता नहीं। बोले घर का राशन लेने कभी जाते हो या नहीं, मैंने उत्तर दिया जरूर जाता हूँ। तो बोले उस दुकान पर ज्वार बाजरा भी रहता होगा। मैंने हाँ में उत्तर दिया, तो बोले भाई कम से कम भाव तो पूछ लिया करो कि गरीबों पर क्या बीत रही है पता चलता रहे। एक दिन सोनारपुरा ललिता टाकीज के पास कार बिगड़ गई, तुरन्त दूसरी कारके लिए टेलीफोन कर दिया गया। पास कई रिक्शे खड़े थे। बोले इससे ही चला जाय। और एक रिक्शा कर लिया गया कुछ दूर गए होंगे कि कार आ गई। रिक्शा वाले को दस रुपया और साथ ही धन्यवाद देकर कृतज्ञता व्यक्त की। रिक्शा वाला आश्चर्य-चकित हो उनका मुंह देखने लगा। वह बेचारा क्या जाने कि उसने किस महान विभूतिके दर्शन किए हैं। यह दुनिया भी विचित्र है, उन जैसे देवपुरुषको भी ठगनेका प्रयास लोगोंने किया एक बार एक युवक जिसका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक था बिरला भवनमें उनसे मिलने आया। मैंने उसके नामकी स्लिप बाबूजीके समक्ष रख दी। उन्होंने तत्काल उसे ऊपर बुलवाया। उसने आकर उन्हें प्रणाम किया और बैठ गया। उससे अपने आपको बाबूजीके घनिष्ट मित्र का, जो बम्बईके बड़े सेठ थे, का लड़का बताया। बाबूजीने उससे कुशल-क्षेम ठहरने व भोजन आदिके बारेमें पूछा। वे हर मिलने वालेसे जो बाहरसे आता, इतना अवश्य पूछते और सन्तोष न होने पर तत्काल व्यवस्था कराते। उस युवकने बताया मैं यहाँ क्लार्क होटलमें ठहरा हूँ। ७० रुपये रोजका कमरा लिया है, सब बातका आराम है। मेरे साथ मेरा नौकर भी था। कल यहाँ बनारसी साड़ी आदिकी खरीद की, आज बम्बई जाना था। मेरा तीस वर्षका पुराना नौकर दस हजार रुपये मेरे सूटकेससे लेकर भाग गया। मैं बड़ी परेशानी में हूँ, कारण बाजारके रुपये चुकाने हैं और कल ही हवाई जहाजसे बम्बई जाना है। बाबूजीने कहा, कोई बात नहीं और मेरेसे कहा अपने ही

आदमी हैं, जितने रुपये चाहिये दे देना। फिर वे पत्र पढ़नेके काममें व्यस्त हो गये। पत्र पढ़नेके साथ-साथ उसके परिवारका हाल पूछने लग गये। माँ की तबियत अब कैसी है, भाई लोगोंका क्या हाल है, आजकल वे कहाँ हैं उसने बताया कि सब लोग बम्बई ही हैं तथा अच्छी तरह हैं। यकायक बाबूजीने पूछा बड़े भाईकी ससुराल कहाँ है, तो उसका उत्तर था बम्बईमें ही है। बाबूजीने कहा, नहीं भाई उसकी ससुराल तो कलकत्ता है, तो उसने स्वीकार नहीं किया एवं कहा आपको स्मरण नहीं है, उनकी ससुराल बम्बई ही है। बाबूजी हँसकर बोले, भाई मैं तुम्हारी बात मान लेता, अब जिस व्यक्तिके भाई अपने को बता रहे हो मैं उसकी बारातमें गया था। वहाँ ऐसी घटना हो गयी, कि मुझे आज भी याद है। इस पर उस युवकने कहा हो सकता है 'कारण मैं' तो बचपनसे मंसूरी देहरादूनमें रहता हूँ, वहीं पढ़ता रहा, इधर बहन की शादी थी सो घर आया था। बाबूजी ने पूछा किसके यहाँ विवाह किया। तो उसने एक सेठका नाम बता कर कहा कि उनके बड़े लड़केसे बाबूजीने कहा, भाई उनके तो एक ही लड़का है क्या बड़ा क्या छोटा ? अब उसकी बातसे मेरी समझमें आ गया था कि वह ठग है मैंने क्लार्क होटल टेलीफोन कर पूछा, आपके यहाँ इस नामका कोई व्यक्ति ठहरा है और क्या उसके यहाँ चोरी हुई है, तो उत्तर मिला कि न तो कोई सज्जन इस नामके ठहरे हैं, न चोरी ही हुई है। मैंने बाबूजी को स्लिप पर लिखकर दिया कि वह चारसौ बीस है, आप कहें तो पुलिस बुलाऊँ। बाबू जीने कहा इसकी आवश्यकता नहीं। मैंने उस युवकसे कहा, भाई साहब आप क्लार्क होटलमें तो नहीं ठहरे हैं, मैंने पता कर लिया है तो वह बोला नहीं मैं तो सेण्ट्रल होटलमें ठहरा हूँ, वहाँ से भी यही उत्तर मिला तो बोला नहीं नहीं मैं तो बनारस लाजमें ठहरा हूँ। बाबूजी ने कुछ गम्भीर होकर कहा देखो—तुम युवक हो, देश और समाजके प्रति तुम्हारा कुछ कर्तव्य है। तुम्हें विवेकसे काम लेकर अपनी बुद्धिका उपयोग अच्छे कामोंमें करना चाहिए। और मुझसे कहा इसके साथ चले जाओ, जहाँ ठहरा हो, जाकर जो रुपया इसके नाम पड़ता हो, चुका दो। मैं उसके साथ गया, वह सेण्ट्रल होटलमें टिका था। वहाँ उसके नामके बिलको चुकाकर मैं लौट आया।

बड़े बाबू कारसे जा रहे थे। एकबार मार्गमें उन्होंने देखा कि एक बैलगाड़ी जा रही है, जिसमें जुते दो बैलोंमें से एक कमजोर था तथा दूसरा तगड़ा। गाड़ीवान कमजोर बैलको मार रहा था। बाबूजीसे न देखा गया। कार रोक दी और उतर कर कहा भाई इसे क्यों मार रहे हो, यह तो पहलेसे ही कमजोर है। इसकी सेवा कर ताकतवर बनाओ। वह बोला बाबूजी यह मार खाने लायक ही है मारसे ठीक रहता है। इसपर बाबूजीने पूछा, इसे कितनेमें खरीदा था। उत्तर मिला, एक हजारमें दोनों। बाबूजीने तत्काल ५०० रुपये देकर उस कमजोर बैलको सदाके लिए उस किसानके चंगुलसे छुड़ा दिया।

बौद्ध सिख जैन आदि समेत हिन्दू धर्मके लिए इस युगमें जितना उन्होंने किया, उतना शायद किसीने नहीं किया। उनके स्वास्थ्यके लिए की गयी सारनाथकी भिक्षुओं की सभामें अ० भा० महाबोधि सभाके उपाध्यक्षने कहा था कि धर्मपालके बाद बिरला जीने ही बौद्ध धर्मके लिए सर्वाधिक कार्य किया।

उन्हें साधु- सन्तों का सत्संग बड़ा प्रिय था, प्रायः उनके साथ धर्मचर्चा करते। मुमुक्ष भवनके संचालनमें जो भारतमें अपने ढंगकी एक संस्था है, जिसमें साधु सन्त और मुमुक्ष लोग रहते हैं, उनका बड़ा योगदान था।

एक बार भारी वर्षा हो चुकी थी उनके बाद सायं बाबूजी स्वामी सुखानन्दजी के पास जो नगवा पर गंगा तट पर रहते हैं, धर्मचर्चा करने पहुंचे। मैं भी साथ था। कच्ची गीली जमीन पर बिछे एक टाट पर बैठ गये, बड़ी ठंडी जमीन थी। भगवत् चर्चामें ऐसे लीन हुये कि डेढ़-दो घण्टे बैठे रहे। वार्त्ता के बाद पूछा। स्वामीजी मैं कितने वर्ष और जीऊंगा।

स्वामीजी बोले, आप तो अमर हैं, इस पर वे हंसकर बोले, ऐसी बात नहीं है, जो आया है उसे जाना फिर भी पड़ेगा। बाकी अभी पाँच वर्ष तक मन्दिर-निर्माण कार्यमें लगेगा और मैंने मालवीयजीको वचन दिया है, सो उसे पूरा करना है, सो मेरी आत्मा कहती है, एक-पाँच वर्ष तक कुछ होने को नहीं बादकी कह नहीं सकता। यह बात छः वर्ष पूर्व की है। कितना आत्म विश्वास था उनको। यहाँ तक, कि मृत्युके बारेमें भी उन्हें आभास मिल गया था।

वे स्वयंके निर्माता थे। वे बड़े गंभीर, संयमी, और धार्मिक प्रवृतिके थे।

बच्चोंसे भी उन्हें बड़ा प्रेम था। जब वे काशीमें होते तो नित्य सायंकाल हिन्दू विश्व-विद्यालय जाया करते। उस समय बिरला भवनमें गायघाट, जहाँ उनकी कार खड़ी रहती, मार्गमें बच्चे उनकी प्रतीक्षा करते रहते। आने पर बड़े बाबू राम-राम कहते। बाबू उत्तर देते, थपथपाते प्यार करते, और चले जाते। कभी मिठाई, कभी फल, और कभी वस्तु वितरित करते।

आज भी वे बच्चे उन्हें याद करते हैं तथा पूछते हैं कि बड़े बाबू कब आयेंगे। वे क्यों नहीं आते ? अब उन अबोध बालकोंको कौन बतावे कि बाबूजी अब नहीं आयेंगे। अब वे वहाँ चले गये, जहाँ जाकर कोई नहीं आता।

इस संसारमें जुगलकिशोरजी बिरला जैसे व्यक्ति भाग्यवान हैं, उन्हींका जीवन सार्थक है जिनको मृत्युके बाद भी लोग भूल नहीं पाते। और नित्य सभीके मन मन्दिरमें ज़िनकी पूजा होती है।

●

महापुरुष

विपत्ति कालमें धैर्य, ऐश्वर्यमें क्षमा, सभामें वचन चातुरी, संग्राममें पराक्रम, सुयशमें अभिरुचि और शास्त्रोंमें व्यसन—ये गुण महापुरुषोंमें स्वभावसे ही होते हैं।

—भर्तृहरि

"कालिदास ने कहा है, कि जन्म हो या मृत्यु पराक्रम सर्वत्र अमर होता है। जुगल किशोरजीका पराक्रम उनका दान था। और दानसे बड़ा अमरत्व शायद ही किसीके हिस्सेमें आया होगा। ऋग्वेदमें दशम् मंडलका ११७-वां सूक्त 'दान सूक्त' है, जिसमें दाताको ही राजाओंका राजा कहा है।"

मूर्तिमान धर्म

श्रीरतनलाल जोशी

वेदोंमें कई जगह 'हिरण्यस्तूप' का उल्लेख मिलता है। तपोज्ज्वल ऋषियोंके महिमा गान के लिए इस प्रतीकका प्रयोग हुआ है। प्रार्थनाएँ हैं कि हमारी जीवन-यात्राके चौराहों पर ऋषिरूपी 'हिरण्य-स्तूप' सदैव प्रकाशित रहें—हमारी भ्रांतियाँ भागें, हमारे अंधेरे आलोकित हों।

हर युगमें, हर देशमें ऐसे 'हिरण्य-स्तूप'—चौराहेके दीप स्तम्भ—होते हैं। लोक जीवन उनसे प्रकाश प्राप्त करता है। भयभीतियाँ मिटती हैं और जीवनके मूल्य नई आभामें निखरते हैं। स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरला आधुनिक युगके ऐसे ही एक हिरण्य-स्तूप थे। पिछले साठ बरस से वे इस देशके लोकजीवनमें चौराहे के दीपस्तम्भकी भाँति प्रकाश बाँटते रहे हैं। लाखों जन-मानसोंने उनके आलोकमें अपने ध्येयको परखा है, करोड़ोंकी श्रद्धाबुद्धिको उनकी जीवन स्फूर्तिसे संजीवन मिला है। इतने उज्ज्वल थे। जो भी उनके निकट आया, वह उज्ज्वल ही होकर लौटा।

श्रद्धा और स्नेहसे लोग उन्हें 'बाबूजी' कहते थे। आज बाबूजी का यशस्वी शरीर अग्निका हविष्य बनकर अपनी सार्थकतामें अमर हो गया है। जीवन यज्ञ ही तो है जिसकी पूर्णाहुति देहके हविष्यसे होती है। हविष्यसे पवित्र वस्तु भारतीय कल्पनामें और कुछ नहीं होती। अतः सारा जीवन एक प्रकारसे देहको हविष्य बनानेकी साधना है। किन्तु यह साधना आसान नहीं। विषोंको तपस्याकी भट्टीमें फूंककर रसायन बनानेका क्रम है। कठिन मार्ग है, छुरेकी तेज धार पर चलना है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

बाबूजी इसी मार्ग पर चले और उन्होंने अपनी देहको यज्ञकी पूर्णाहुतिके योग्य हविष्य बनाया। उनकी साधना सिद्धोंकी नहीं थी, भक्तोंकी थी। 'योगवासिष्ठ' के बजाय वे 'भागवत' के ही मार्ग पर चले—

तत्तेनुकम्पां सुसीक्षमाणो भुंजान एवात्मकृतं विपाकम्
हृद्वाक्वपुर्भिर्विद्धन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक ।

—प्रभो, जो व्यक्ति क्षण-प्रति-क्षण केवल आपकी कृपाका ही अनुभव करता है, प्रारब्धके अनुसार जो सुख या दुःख उसे मिलता है, उन्हें निर्विकार मनसे भोगता है और प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद् वाणी और पुलकित शरीरसे आपके चरणोंमें अपने आपको अर्पित करता रहता है, वह व्यक्ति परमपद पानेका वैसा ही अधिकारी है, जैसे कि एक पुत्र पिता की सम्पत्ति पानेका अधिकारी होता है ।

कर्मफलमें अनासक्ति, भगवान्की कृपाका आश्रय और अपना सर्वस्व भगवान्के अर्पण—इन्हीं तीन सोपानोंके अभ्याससे बाबूजी मुक्तिके द्वार पर पहुँचे और भागवतके अनुसार इन सोपानों पर मुक्तिकी प्राप्ति सुनिश्चित है ।

भक्ति आह्लादसे जीतती है, माधुर्यसे प्राप्त करती है । रसकी यह फसल कभी विफल नहीं होती, कभी कुफल नहीं देती, श्रीफल ही देती है । अथर्वमें कहा है, कि रसके माध्यमसे ही श्री और श्रेयस्के दो ध्रुव मिलते हैं, प्रवृत्ति और निवृत्ति एकरूप होती है । और अहंकारके नुकीले कोण भी रसके इसप्रवाहसे ही कट-कटकर अपनी चिकनाईमें संवरते हैं । परमहंस कहते हैं—

अहंकार भक्तिसे ही जाता है—विभीषण, प्रह्लाद, नारद और अर्जुन इसके सबूत हैं । भक्त और जगत्के संबंध घरकी बहूकी भाँति होने चाहिए ।

बाबूजीने अहंकारको भक्तिके तरंगाघातसे ही संवारकर शालग्राम बनाया । जो भी उनके संपर्कमें आया, उसने बड़े आश्चर्यके साथ यह अनुभव किया कि श्री, सम्पत्ति, और कीर्तिका त्रिशूलात्मक अहंकार उनकी तपस्याके फलस्वरूप सत्यं, शिवं और सुन्दरम्की प्रतीक त्रिधारा गंगा बन गया है । और इस गंगाने अपने स्वभावको सुरसरि गंगाकी भाँति ही चरितार्थ किया है—

सुरसरि सम सब कर हित होई ।

तुलसीदासजीने श्री, कीर्ति और सम्पत्तिकी सार्थकताके बारेमें जो फैसला दिया है, भारतीय जीवन-परम्पराका मूल साँचा वही है । तुलसीदास कहते हैं कि जो श्रीसम्पदा और कीर्ति गंगाके समान सबके हितका पोषण करे, वही श्रीसम्पदा, और कीर्ति शोभास्पद है—

कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।

स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरलाका समग्र जीवन तुलसीकी इस पवित्र सीखका प्रेरक उदाहरण है । उनकी महत्तासे, उनके कर्तत्त्वसे, उनके उत्कर्षसे सबका हित-सम्बर्धन ही हुआ, क्षति हुई तो केवल अधर्मकी ही हुई ।

अधर्मकी क्षति और धर्मकी शक्ति—यही तो क्रम है नरसे नारायणकी गति का । धर्म क्या है ? सक्रिय श्रद्धाकी फसल ही तो है । किन्तु यही फसल जीवन की दारोमदार

है। बौद्ध कहते हैं कि धर्म ही सर्वस्व है, धर्म ही संस्कार है, धर्म ही साक्षात् बुद्ध है। बाबूजी भी धर्मको ही संस्कृति कहते थे। इसी धर्मके साँचेमें उन्होंने अपनेको ढाला और ऐसी एकाग्रताके साथ ढाला कि वे स्वयं धर्मकी परिभाषा बन गये। हिन्दू धर्मके इतिहासका जब यह अध्याय लिखा जाएगा तो जैसा कि वाल्मीकिने रामके लिए लिखा है वैसे बाबूजीके लिए भी लिखा जायेगा कि वे मूर्तिमान धर्म थे। वाल्मीकने रामके लिए लिखा है—

रामो विग्रहवान् धर्मः।

—रामचन्द्र साधारण व्यक्ति नहीं, धर्मके मूर्तिमान् रूप थे।

बाबूजीका शरीर अब नहीं है, बाबूजी मृत्युको प्राप्त हो गये। किन्तु जीवन और मृत्यु क्या है, सूक्ष्म-स्थूलकी ही तो आँख-मिचौनी है! कभी इसका उस कायामें प्रवेश, तो कभी उसका इस कायामें। नाश कहीं कुछ होता नहीं है। रूप और स्वरूपके लेखकके अनुसार मरे मनुष्यका पानी बनकर न मालूम किस आमके फलका रस बनता होगा। उसका पृथ्वीतत्व न मालूम किस कटहलके फलमें समाविष्ट होता होगा। इस तरह न मालूम उसके शरीरके कितने विभाग बनकर कितनी जगह पुनः उद्भव होते हैं। या पुनर्जन्म लेते हैं। एक बात जंचती है। ज्ञानीके जन्म-मृत्यु छूट जाते हैं। वह मुक्त हो जाता है, यह सही है। जिसने जान लिया, उसने शायद यह भी जान लिया कि इस ईश्वरीय साम्यवादमें जन्म-मृत्यु है ही नहीं।

कालिदासने कहा है कि जन्म हो या मृत्यु पराक्रम सर्वत्र अमर होता है। जुगलकिशोरजीका पराक्रम उनका दान था, और दानसे बड़ा अमरत्व शायद ही किसीके हिस्सेमें आया होगा। ऋग्वेदमें दशम मंडल का ११७वां सूक्त 'दान सूक्त' है जिसमें दाताको ही 'राजाओंका राजा' कहा है। सूक्तकार दाताको अमर मानता है—

न भोजा ममुर्न न्यर्थमीयुर्न, रिष्यन्ति न व्यथंते ह भोजाः।

दाताओंकी कभी मृत्यु नहीं होती। वे अमर हैं, देवताओंकी तरह उन्हें न क्लेश व्यापता है और न दारिद्रय सताता है।

किन्तु इस दानमें भी धर्मका दान सबसे महिमावान है। अशोकके एक शिलालेखमें खुदा है—

नहीं है कोई ऐसा दान अथवा अनुग्रह जैसा धर्मका दान या धर्मका अनुग्रह है।

जुगलकिशोरजी बिरलाके दानकी परिधिमें धर्म केन्द्र विंदु था और इसीके फल-स्वरूप उनकी कीर्ति देशसे बाहर भी काफी विस्तृत थी। इन पंक्तियोंका लेखक गत वर्ष जब बैंकाकमें राजकुमार धानीसे मिला था तो उन्होंने बड़े श्रद्धाभावके साथ पूछा था—'वे महाराज बिरला कैसे हैं, जो देवताओंकी प्रतिष्ठाके लिए मन्दिर बनवाते हैं।

मन्दिरोंका निर्माता, धर्मसंदेशका उद्गाता और दान-दाक्षिण्यका पराक्रमी वीर अब अपनी कायामें निःशेष है। किन्तु अपने पीछे वे एक परम्परा छोड़ गये हैं—प्रेरित एवं स्फूर्त परम्परा जो भगीरथकी परम्पराकी भाँति गंगाको गंगोत्रीसे आगे बढ़ाकर तीर्थोंकी पयस्विनी बनाये।

●

स्वर्गीय जुगलकिशोरजी सनातन भारतीय आत्माके युगावतार महापुरुष थे। उनके जीवन दर्शनमें भारतकी अंतरात्माका प्रकाश व्यक्त हुआ था। वे दिव्य और पार्थिकको मिलनंद्वामाके रचियता थे। उनके जीवनकी सबसे बड़ीविशेषता यही रही है कि अपने आन्तरिक सुख और मौलिकताके साथ उन्होंने समूचे वैष्णव धर्मके अंतरचेतनाको अपने भीतर आत्मसात करके एक ऐसे रूपमें परिणत कर दिया जो वस्तुतः वैष्णव होते हुए नवीन और आधुनिक प्रतीत होता है। उन्होंने भावाकुल और उन्मेष प्रधान हिंदू-धर्मको पुरानी मधुर चेतनाके कलात्मक सुरुचि और संकुल सम्पन्नताके साथ व्यक्त किया है।

सनातन भारतीय आत्माके युगावतार—

सेठ जुगुल किशोरजी बिरला

श्रीदेवदत्त शास्त्री

बिरलाजी दिवंगत हो गए किन्तु आर्य-हिन्दू प्रज्ञाकी अनन्त वाहिनी चूड़ा, परहंसयान आरोही युगावतार महामानव बिरलाजी हिन्दू जातिके भाल पर जयलेखा अंकित कर गए। उस महापुरुषने आर्य-हिन्दू जातिको नया सोहाग दिया और आर्य हिन्दू धर्म क्षेत्रके कण-कणमें ऋताश्रीभूमाका ममतामय ऐश्वर्य-आलोक प्रकाशित किया। धर्म, जाति, समाज और राष्ट्रके चरणोंमें उस विदेहका आत्मार्पण उसकी जीवन कथाका महाकाव्य बन गया। वे चले गए मर्त्यलोकके अन्तिम प्रीति-रसके रूपमें जीवनका चरण प्रसाद साथ लेकर भारतीप्रजाके कोटि-कोटि आशीर्वाद लेकर। बिरलाजीके समस्त कृतित्वमें उनकी आस्पृहा, अभीप्सा, उनके अन्तःपुरुषका एक निभृत ऊर्ध्वमुखी आवेग और आकांक्षा रूपायित है। समान्यजनकी भाषायें इसे भगवान्‌के प्रति आकर्षण और दार्शनिक भाषामें इसका नाम आध्यात्मिक स्पन्दन है।

'आध्यात्मिक आनंद ही उनके जीवनका मिशन रहा है। उनका आनन्द विश्वात्म रहा है। इसलिए लक्ष्मीनारायण मंदिर (नई दिल्ली), गीता मंदिर (मथुरा) श्रीकृष्णजन्मस्थान (मथुरा) आदि स्थानोंकी कृतियाँ विश्व चेतनाका मूर्त्तरूप बन गई हैं। 'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्'—यह वैदिक ऋचा उनकी रचनाओंका आदंश वाक्य है। विश्व बन्धुत्व

अथवा विश्व प्रेम ही युगावतार बिरलाजीका युग प्रयास था। वे राजनीतिज्ञ नहीं थे, राजनीतिक दाँव-पेचोंको देखकर उन्हें हार्दिक दुःख होता था। वह लोक सेवाकी भावनासे भावित आध्यात्मिक पुरुष थे।

उनकी धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय रचनाएँ चाहे वाङ्मयी (नाम रहित) हों या प्रस्तरमयी, अथवा संस्थामयी तथा उनकी प्रवृत्तियाँ, उनकी मान्यताएँ वही थीं जो महामना मालवीयजी महाराजकी रहीं। ऐसा जान पड़ता है कि मालवीयजी और बिरलाजी एक दूसरेके पूरक थे। दोनों ही प्राचीन भारतके अर्वाचीन अधिष्ठाता थे। दोनोंकी ज्योतिर्मयी आत्माकी किरणें दो भिन्न माध्यमोंसे अग्रसर हुईं। दोनोंकी मूल अन्तश्चेतना आरण्यक संस्कृतिसे प्रभावित थी। दोनों विश्वकल्याणका शुभ मार्ग देखते थे। दोनों देशमें एक पावन वातावरण पैदा करना चाहते थे और उस वातावरणमें नव भारतको जीवित, उज्जीवित-संजीवित करना चाहते थे।

स्वर्गीय जुगलकिशोर जी सनातन भारतीय आत्माके युगावतार महापुरुष थे। उनके जीवन दर्शनमें भारतकी अंतर आत्माका प्रकाश व्यक्त हुआ था। वे दिव्य और पार्थिक की मिलनन्द्वाभाके रचयिता थे। उनके जीवनकी सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि अपने आन्तरिक सुख और मौलिकताके साथ उन्होंने समूचे वैष्णवधर्मकी अन्तरचेतनाको अपने भीतर आत्मसात् करके एक ऐसे रूपमें परिणत कर दिया जो वस्तुतः वैष्णव होते हुए नवीन और आधुनिक प्रतीत होता है। उन्होंने भावाकुल और उन्मेष प्रधान हिन्दू-धर्म को पुरानी मधुर चेतनाके कलात्मक सुरुचि और संकुल सम्पन्नताके साथ व्यक्त किया है।

वह आत्मविश्वासी व्यक्ति थे। अपने उसी विश्वासके पात्रमें विश्वकी अमर सुधा भर-भर कर वह सुबह-शाम नित्य पान किया करते थे। उनका अन्तरतम मानव-जातिके क्षण-क्षणके प्रेमसे भरा हुआ था। इस संसारको उन्होंने सर्वात्मना प्यार किया था। वह प्यार ही उनका सत्य था, उनके जीवनका सर्वोत्तम दान था।

व्यक्ति और विश्वके हृदयमें विद्यमान विराट् सम्पूर्णताका दर्शन वह अपनी सर्जन शक्ति द्वारा और अपने अहंको अपनी कृतिमें खोजा करते थे। कहना न होगा कि अहंकार आवरणमें छिपी विराट् विभूतिके दर्शन करनेका सौभाग्य उन्हें अपने जीवन कालमें प्राप्त हो गया था—वह जीवन मुक्त थे। भौतिक शरीर छोड़कर वह विराट् विश्वात्मामें मिल गए। फिर भी उनका वियोग, निधन भारतराष्ट्र, भारतीय प्रजा, भारतधर्म और समाज के लिए एक अपूरणीय क्षति है। इस अवसर पर एक उर्दू शायरकी निम्नांकित पंक्तियाँ याद आ रही हैं।

जनाजा कौम का, दरसे तेरे निकलता है।
सोहाग कौम का, तेरी चिता पै जलता है।।

"गीताके अनुसार सच्चे अर्थोंमें वह पुण्य-पुरुष थे, योगी थे। वे सचमुच देव लोकसे ही आये थे और अपने अतुल पुण्य कार्योंको छोड़कर पुनः देवलोकमें ही चले गए। धरती पर उनकी पुण्यकथायें युगों तक चलती ही रहेंगी।"

पुण्यपुरुषकी स्मृतिमें

श्रीव्यथित हृदय

संसारमें वह मनुष्य अति महान् और पूज्यनीय है, जो अपनी अस्थियोंको गलाकर, अर्थोंपार्जन करता है, और फिर उसे बिना किसी आसक्तिके—बिना किसी लिप्साके सत्कार्यों में व्यय कर डालता है। ऐसे ही मनुष्य सच्चे अर्थोंमें महान् पुरुष-पुण्यपुरुष कहलानेके योग्य होते हैं। क्योंकि वे मनके विजेता होते हैं। जिस 'धन' और यशके मोहमें संसारके बड़े-बड़े मनीषी तक नाचते फिरते हैं, उसे वे अपने प्रत्येक चरणमें बिखेरते हुए चलते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें ऐसे ही 'मनुष्य' को योगीकी संज्ञा दी है, और ऐसे ही मनुष्यके लिए, उन्होंने कहा है, कि वह अमर पदका अधिकारी होता है। दानवीर सेठ जुगलकिशोर बिरला विश्वके एक ऐसे ही मनुष्य-रत्न थे। 'गीता' के अनुसार वे सच्चे अर्थोंमें पुण्य पुरुष थे—योगी थे। वे सचमुच 'देवलोक' से ही आये थे, और अपने अतुल पुण्य-कार्योंको छोड़कर पुनः 'देव लोक' में ही चले गए। 'धरती' पर उनकी पुण्य-कथाएँ युगों तक चलती ही रहेंगी। उसके द्वारा निर्मित मंदिरों, और धर्मशालाओंके कलशों और छतरियोंमें, उनकी पुण्य गाथाओंके अमर गीत गूंजते ही रहेंगे। इतना ही नहीं, वे जो अपने पीछे सैकड़ों संस्थाएँ, सहस्त्रों विद्यार्थियोंका वर्ग, और प्राणियोंका समूह छोड़ गए हैं, वे अपने कृतज्ञ प्राणोंके संपुटमें उन्हें अंजलिकी भेट करते ही रहेंगे—करते ही रहेंगे!!

सेठ जुगलकिशोर बिरला इसलिए पूजनीय नहीं हैं, कि वे महान् उद्योगपति थे—विशाल संपत्तिके स्वामी थे, वे पूजनीय तो इसलिए हैं, कि वे पवित्राचरण, एक सर्वश्रेष्ठ मानवथे—हिन्दू संस्कृतिके अनन्य साँचेमें ढले हुए महान् तपी थे—हिन्दू धर्म पंथानुयायियों के थे। पंकमें फसे हुए हिन्दू और धर्मके रथके पहिएको बाहर निकालनेमें आधुनिक भारत के जिन महापुरुषोंने स्तुत्य प्रयत्न किए हैं, उनमें एक स्वर्गीय बिरलाजी भी थे। मुझे वे दिन स्मरण हैं, जब देशमें चारों ओर मुसलिम और ईसाई आन्दोलनोंकी तीव्र हवा अबाधगतिसे

चल रही थी, और हजारोंकी संख्यामें हिन्दू मुसलमान और ईसाई हो रहे थे। यद्यपि सेठ जुगलकिशोर बिरला स्वयं सक्रिय रूपसे कभी किसी हिन्दू आन्दोलनमें संम्मिलित नहीं हुए, पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने अर्थकी सहायता देकर उनके भीतर नए प्राणका सृजन किया, जो हिन्दू जाति और धर्मके रथके पहिएको, पंकसे बाहर निकालने के लिए अपना कंधा लगाए हुए थे। जब भी किसीकी साँस टूटती हुई जान पड़ती थी, या जहाँसे भी, जिस ओर-छोरसे भी, सहायताके लिए पुकार उठती थी, लोगोंके ओठों पर शीघ्र ही सेठ जुगलकिशोर बिरलाका नाम आ जाता था। कदाचित् ही ऐसा कोई बड़ा नेता हो—कदाचित् हीऐसा कोई हिन्दू आन्दोलन हो, जिसे सेठ जुगलकिशोर बिरलासे गति प्राप्त न हुई हो। इसी सिलसिलेमें यह कहना भी अत्युक्ति न होगा, कि कदाचित् ही ऐसा कोई राष्ट्रीय नेता हो, कदाचित् ही ऐसा कोई राष्ट्रीय आंदोलन हो, जिसे श्रीघनश्यामदास बिरलासे 'अवलंब' न प्राप्त हुआ हो। एक समय था, जब देशके नेताओं और कार्यकर्मियोंके बीचमें बिरला बंधुओंका नाम बड़ी आशा और आकांक्षाके साथ लिया जाता रहा है। सेठ घनश्याम दास बिरलाका नाम स्वाधीनता-आंदोलन कारियोंके बीचमें लिया जाता था, तो स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरलाका नाम उनके बीचमें लिया जाता था, जो भारतको हिन्दू देश समझते थे, अथवा जो हिन्दू-धर्मकी सुरक्षाके लिए उद्योगशील थे। स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरलाने हिन्दू-जाति, संस्कृति, और धर्मके प्रचार-प्रसारके लिए मुक्त-हस्त होकर इतना दान दिया है, कि अपने दानके ही कारण वे हिन्दू-जगत्में 'दानवीर' के नामसे संबोधित किये जाते थे। वर्तमान भारतमें, कदाचित् वे ही ऐसे महान् पुरुष थे, जो समग्र हिन्दू-जातिमें 'दानवीर' के विशेषणसे गौरवान्वित किये गए थे।

स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरलाकी 'हिन्दू' शब्दकी व्याख्या बड़ी महान् थी। वे 'हिन्दू' शब्दके भीतर उन सभी लोगोंकी गणना करते थे, जो हिन्दुस्तानमें जन्म धारण करते हैं। इतना ही नहीं, वे हिन्दू शब्दके भीतर उन लोगोंकी भी गणना करते थे, जो पूजा पाठ, उपासना पद्धतियों, और ईश्वरीय-आस्थाओंके आधार पर विभिन्न धर्मों और संप्रदायोंमें विभक्त हैं। जैसे:—बौद्ध, जैन, और सिक्ख आदि। उन्होंने 'हिन्दुत्व' की सीमाको विस्तृत करनेके उद्देश्यसे ही, बौद्ध-धर्मके प्रति अपनी आस्थाको समर्पित किया था। उन्होंने अपने उद्देश्यकी पूर्णताके लिये ही जापान और चीन ऐसे बौद्ध मतावलंबी देशोंसे अपना व्यापारिक और धार्मिक संबंध स्थापित किया था। उन्होंने बौद्धों, और हिन्दुओंको एक सूत्रमें पिरोनेके लिए ही, भारतके कई बौद्ध-तीर्थोंमें सुरम्य धर्मशालाएँ बनवाईं, और मंदिरोंके निर्माणमें भी योग प्रदान किया। मुझे वे दिन भूलते नहीं, जब भारतके बड़े-बड़े हिन्दू नेता, और हिन्दुओं और बौद्धोंको एक ही विशाल कुटुम्बके सदस्य प्रमाणित करनेमें संलग्न थे। स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर उन हिन्दू नेताओंकी स्फूर्तिके एक मात्र आधार थे। यही कारण है, कि किसी बड़े-से-बड़े नेताके समान ही, सेठ जुगलकिशोर बिरलाके नामकी भी, जापानियोंमें गूँज थी। इस सम्बंधमें एक घटनाका उल्लेख कर देना उपयुक्त ही होगा, जो मुझे एक मित्रके द्वारा सुननेको मिली है। एक बार बिरला परिवार का कोई सदस्य अपने व्यापारके उद्देश्यसे जापान गया। एक दिन 'बिरला' शब्दसे आकर्षित

होकर एक संभ्रांत जापानी नागरिकने उनके पास. जाकर उनसे पूछा, कि क्या आप उन 'बिरला' को जानते हैं, जो हिन्दूओं और बोद्धोंको एक सूत्रमें पिरोनेका विचार रखते हैं ? उन्होंने जब उत्तरमें यह कहा, कि वे 'बिरला' तो उन्हींके अग्रज हैं, तब उस जापानी नागरिकका अपने आप ही उनके सामने मस्तक नत हो उठा। उसने उन्हें अभिवादन करते हुए कहा, कि तव तो आप धन्य हैं। क्योंकि वे बिरला तो मनुष्य रूपमें देवता हैं।

वस्तुतः स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरला मनुष्य रूपमें देवता ही थे। उनके दैवत्व की छाप उन मन्दिरों और धर्मशालाओंके कलशों, गोपुरों, और छतरियों पर युगों तक अंकित रहेगी। जो उनके द्वारा निर्मित किए गए हैं। उन्होंने एक-एक भव्य, और मनोहारी मन्दिरका निर्माण कराया है। उनके द्वारा निर्मित कराये गये मन्दिरोंके एक-एक कलश अपूर्व हैं—हिन्दू-संस्कृति, धर्म और कलाके बोलतेसे रूप हैं। मथुराका गीता मन्दिर, काशी विश्वविद्यालयका विश्वनाथ मन्दिर और नई दिल्लीका लक्ष्मी नारायण मन्दिर विश्वके मन्दिरों और पूजा-गृहोंमें अपना अप्रतिम स्थान रखते हैं। नई दिल्लीके लक्ष्मी नारायण मन्दिरकी धार्मिक रचनाओंको देखकर, देशके ही नहीं, विदेशोंके नर-नारी भी विमुग्ध हो उठते हैं। मन्दिरोंकी भाँति ही, धर्मशालाओंके निर्माणमें भी उन्होंने अपनी धर्म-निष्ठता, और कला प्रियताका परिचय दिया है। मन्दिरोंकी भाँति ही उनके द्वारा विनिर्मित धर्मशालाएँ भी अपने ढंगकी अनूठी और भव्य हैं। मन्दिरों और धर्मशालाओंकी व्यवस्थामें भी उनके व्यक्तित्वकी छाप रही है। अपरिचित यात्री भी उनके मन्दिरों, और धर्मशालाओं की सुव्यवस्थाको देखकर यह कहे बिना नहीं रह सकता, कि इन मन्दिरों और धर्मशालाओं का निर्माण जिस महान् पुरुषके द्वारा हुआ है. अवश्य उसके प्राणोंके भीतर साक्षात् धर्म ही बोलता होगा।

स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरलाने केवल नए मन्दिरोंका ही निर्माण नहीं कराया उन्होंने कई प्राचीन मन्दिरोंके पुनरुद्धार, और स्थानोंके नव निर्माणमें भी स्तुत्य रूपसे योग प्रदान किया। वे जहाँ भी कहीं प्राचीन मन्दिरों और स्थानोंको क्षत-विक्षत रूपमें देखते थे, उनकी आत्मा तड़प उठती थी, और वे उसके नव निर्माणमें संलग्न हो जाते थे। मथुरामें श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके नव निर्माणमें उन्होंने जो महान् योग-दान दिया है, वह स्तुत्य ही नहीं, युगों तक स्मरणीय रहेगा। 'श्रीकृष्ण जन्म-स्थान सेवासंघ' की स्थापना उन्हींकी प्रेरणा और उन्हींकी सहायताका परिणाम है। श्रीकृष्ण जन्म-स्थान मथुरामें, आज जिस विशाल श्रीमद्भागवत-भवनका निर्माण हो रहा है। उसमें भी उन्हींकी सदिच्छायें, उन्हींकी सत्प्रेरणाएँ हैं। वर्षों पूर्वकी बात है, जब यह स्थान क्षत-विक्षत, उजाड़, खंडहरके रूपमें उपेक्षित पड़ा था। स्वनामधन्य, धर्म-पुरुष महामना मालवीयजी जब भी इस पुनीत स्थानको विकृत रूपमें देखते थे, उनकी आत्मा तड़प उठती थी और वे श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके पुनरुद्धारकी समस्याको लेकर विकल हो उठते थे। आखिर उन्होंने अपने मनकी वेदना स्वर्गीय बिरलाजी पर प्रगट की। स्वर्गीय बिरलाजीके मनके भीतर, मानों पहलेसे ही यह बात गूँज रही हो। उन्होंने मालवीयजीकी प्रेरणासे प्रचुर धन दानके रूपमें देकर, उस भूमिका स्वामित्व प्राप्त किया, और 'श्रीकृष्ण जन्म-स्थान सेवासंघ' के नामसे नव निर्माण के लिए ट्रस्टकी स्थापना की। फिर तो कई नर-रत्नोंने उसमें योग प्रदान किया, जिसमें

धर्म प्राण सेठ जयदयाल डालमिया और श्रीरामनाथ गोयनका आदिका महत्वपूर्ण स्थान है।

श्रीकृष्ण जन्म-स्थान, मथुराके नव निर्माणमें स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरलाने जो चिरस्मरणीय योग प्रदान किया है, उसका एक चित्र स्वर्गीय महामना मदन मोहन मालवीयजीकी निम्नांकित पंक्तियोंसे स्पष्ट रूपमें सामने आता है—मुझे अपने सहयोगी सेठ जुगलकिशोर बिरला पर पूरा भरोसा है। जिस प्रकार उन्होंने हमारे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय विश्वनाथ-मन्दिरका निर्माण-कार्य प्रारंभ कर दिया है, उसी प्रकार श्रीकृष्णजन्म-स्थान पुनरुद्धार-कार्यको भी आगे बढ़ायेंगे और उसको देशके समस्त श्रीकृष्ण प्रेमियोंका सहयोग प्राप्त होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है, कि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण अपने पावन जन्म-स्थान को अब अधिक दिनों तक दुर्दशाग्रस्त नहीं रहने देंगे और उसका पुनरुद्धार होकर रहेगा।

स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर बिरलाने केवल हिन्दू धर्म और संस्कृतिके प्रचार और प्रसारमें ही योग नहीं दिया, वरन् उन्होंने शिक्षा, और शारीरिक शक्तिके विकासके क्षेत्रमें भी स्तुत्य सेवाएँ कीं। उन्होंने कई शिक्षा संस्थाएं संस्थापित कीं, और सहस्त्रों युवकोंको, सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिए आर्थिक सहायताएँ प्रदान कीं। वे एक व्यक्ति होकर भी एक ऐसे विशाल शिक्षण-संस्थानके समान थे, जिसकी गोद या छत्रछायामें सैकड़ों-सहस्त्रों विद्यार्थी नियमित रूपसे शिक्षा प्राप्त किया करते थे। देशके युवकोंको सबल, और शारीरिक रूपमें प्राणवान बनानेके लिए उन्होंने व्यायामशालाएँ भी स्थापित कराईं, और उन्हें अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया, जो शारीरिक शक्तिके विकासमें अधिक रुचि प्रगट करते थे। उन्होंने कलकत्ताके व्यायामके प्रशिक्षकोंका एक ऐसा दल भी तैयार किया, जिसने देशके कोने-कोनेमें जाकर युवकोंको व्यायामकी शिक्षा दी।

स्वर्गीय श्रीबिरलाजी का जन्म १८८१ ई० में हुआ था। अट्ठारह वर्षकी अल्पावस्थामें ही उन्होंने व्यापारके क्षेत्रमें प्रवेश किया। उन्होंने अपनी सुबुद्धि, अपने अध्यवसाय, और अपने पुण्यसे व्यापारके क्षेत्रमें दिन दूनी-रात चौगुनी, उन्नति की। उन्होंने जिस किसी भी कार्यको अपने हाथमें लिया, उसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। लक्ष्मी प्राण प्रणसे उन पर निछावर थी। उन्होंने अतुल संपत्ति प्राप्त की। पर उन्होंने कभी संपत्तिके प्रति आसक्ति प्रगट न की। उन्होंने प्रचुर रूपमें धन प्राप्त किया, और बिना किसी मोहके, उसे दोनों हाथोंसे सत्कार्योंमें व्यय किया। वे बड़े निराभिमानी, और सादगी प्रिय महामानव थे। प्रचुर धनके स्वामी होने पर भी, वे दीन-दुखियोंसे भी बड़े प्रेमसे बातचीत करते थे साधुओं और ब्रह्मणोंके प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी। साधुओं ब्राह्मणों और दीन-दुखियोंको देखते ही, उनके प्राणोंके भीतर छिपा हुआ स्नेह छलक पड़ता था। उनके जीवनकी बहुत-सी ऐसी कहानियाँ हैं, जो उनके साकार और सजीव स्नेह तथा उदारताको चित्रित करती हैं। वे अपनी मृत्युके क्षण तक उदार और दानी बने रहे। अपने अंतिम क्षणों तक वे उस 'शिवोऽहम्' की रट लगाते रहे, जो उनके प्राणोंमें भक्ति, ज्ञान, त्याग और उदारताके रूपमें सदा रक्षित रहा! उनकी महाप्रयाण यात्रा अलभ्य थी। वे दान देते हुए, शिवोऽहम्की रट लगाते हुए, दोनों हाथ जोड़कर, महाज्योतिमें समाविष्ट हो गए! उन्हें प्रणाम है—कोटि कोटि बार प्रणाम है।

उनके दानकी कहानी तो इतिहासकी अमूल्य निधि है। वे सच्चे मानोंमें दानवीर थे। उनके द्वारसे कभी कोई निराश और खाली हाथ नहीं गया। न जाने कितनी संस्थाएँ और न जाने कितने व्यक्ति उनके दानपर जीवित थे। कितनी विधवाएँ, कितने अनाथ, कितने असहाय, निराधार, निराश्रित व्यक्ति उनके दानसे पलते थे। अपने जीवनमें उन्होंने कितना दान दिया उसकी गिनती लाखोंमें नहीं करोड़ोंमें है।

स्वर्गीय श्रीबाबूजी

श्रीजनार्दन भट्ट एम.ए.

भारतमाता अनादि कालसे समय-समय पर महापुरुषोंको जन्म देती रही है। यहाँ एकसे एक दानी, एकसे एक सन्त, एकसे एक महात्मा, एकसे एक धर्म-संस्थापक और प्रचारक तथा एकसे एक सुधारक नेता हो गये हैं, जिनका वर्णन पुराणों और इतिहासोंमें अमिट रूपसे पाया जाता है। किन्तु उनके सम्बन्धकी घटनाएँ पुराने कालकी बातें हैं। भूतकालकी सुनी सुनाई बातोंमें कितनी अत्युक्ति है और कितनी सच्चाई है यह खोज निकालना कठिन है, किन्तु इस वर्तमान भौतिकवाद और पश्चिमी सभ्यताके युगमें, जबकि आस्तिकता, आध्यात्म, धर्म, त्याग और बलिदानकी खिल्ली उड़ाई जाती है और स्वार्थ तथा भौतिक सुख मनुष्य जीवनका प्रधान लक्ष्य हो रहा है, कोई व्यक्ति इससे ऊपर उठकर सन्त, वीतराग और जीवन्मुक्त व्यक्ति हो गया है, जिसकी याद संसारमें सदियों तक बनी रहेगी। हमारा अभिप्राय स्वर्गीय बाबू जुगलकिशोरजी बिरलासे है, जिनका परलोकवास अभी हाल ही में हुआ है।

स्वर्गीय बाबूजी वैश्य व्यापारीके वेशमें एक सन्त थे। यद्यपि वर्तमान शिक्षा प्रणालीके अनुसार पढ़े-लिखे नहीं थे और न कोई डिग्री उनके पास थी, किन्तु उनका मस्तिष्क हर प्रकारके ज्ञान और अनुभवका भण्डार था। आध्यात्मिक ज्ञानके तो वे अक्षय भण्डार थे और उस ज्ञानको उन्होंने अपने जीवनमें, अपने दैनिक व्यवहार और आचरणमें पूरी तरहसे उतार लिया था। कितनी कथाएँ, कितनी ज्ञानकी बातें और कितने हास्यरसके चुटकले वे अपने अवकाशके समय सुनाते थे कि सुनने वाले आनन्दमें मग्न हो जाते थे। सेठजीकी स्मृति इतनी तेज थी कि बीसियों वर्षोंकी बातें उन्हें कलकी घटनाकी तरह याद रहती थीं। जो ग्रन्थ, जो श्लोक, जो पद्य, जो भजन वे एक बार सुन लेते थे, वे उनकी स्मृतिमें चिपक जाते थे और कभी नहीं भूलते थे। योगवाशिष्ठकी कथाएँ और गीताके प्रायः समस्त श्लोक उन्हें यथावत् कण्ठाग्र थे। अन्तिम श्वांस तक उनकी स्मरणशक्ति वैसी ही ठीक बनी रही।

उनके दानकी कहानी तो इतिहासकी अमूल्य निधि है। वे सच्चे मानोंमें दानवीर थे। उनके द्वारसे कभी कोई निराश और खाली हाथ नहीं गया। न जाने कितनी संस्थाएँ और न जाने कितने व्यक्ति उनके दान पर जीवित थे। कितनी विधवाएँ कितने अनाथ, कितने असहाय, निराधार, निराश्रित व्यक्ति उनके दानसे पलते थे। अपने जीवनमें उन्होंने कितना दान दिया उसकी गिनती लाखोंमें नहीं करोड़ोंमें है। उनका न जाने कितना दान गुप्त होता था, जिसकी कोई चर्चा भी नहीं होती थी। यदि यह कहा जाए कि उनका दाहिना हाथ जो देता था उसे बायाँ हाथ नहीं जानता था, तो अत्युक्ति नहीं। कई ऐसे व्यक्तियोंके बारेमें मुझे ज्ञान है जो प्रायः हर दूसरे तीसरे महीने सहायताके लिए एक पोस्ट कार्ड डाल दिया करते थे और कहना नहीं होगा कि उनको कुछ न कुछ बाबूजी भिजवा देते थे। यदि ऐसे लोगोंमेंसे किसीका पत्र कई दिनों तक नहीं आता था तो बाबूजी स्वयं पूछते थे "अमुकका पत्र बहुत दिनोंसे नहीं आया, क्या कारण है, अच्छा इसको अमुक धनराशि भेज दो।" ऐसे ही लोगोंमें एक गरीब गृहस्थ बंगाली परिवार भी था जो केवल एक पोस्टकार्ड लिख देने पर कुछ न कुछ पा जाता था। एक बार उसने बाबूजी को लिखा कि बाबूजी आप जरूर सहायता भेजेगा। नहीं भेजेगा तो हम अलबत्ता मर जाएगा। और हम मर जाएगा तो आपको क्या लाभ होगा। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस पत्र पर तुरन्त उचित सहायता भेज दी गई थी। एक व्यक्ति आवश्यकतासे अधिक सहायताके लिए पत्र लिख कर बाबूजी को तंग किया करता था। एक बार बाबूजीने आदेश दिया कि उसको समझाया जाए कि रोज-रोजका पत्र लिखना ठीक नहीं है। जब मैंने बाबूजीका सन्देश उसे सुनाया तो उसने कहा कि मैं आपकी बात मानूं या बाबूजीकी? मैं एक पोस्टकार्ड डाल देता हूँ तो मुझे कुछ न कुछ प्राप्ति हो जाता है, तब आपकी बात कैसे मानूँ? इस तरहकी अनेक स्मृतियाँ उनके दानके सम्बन्धकी हैं जो कभी विस्मृत होने वाली नहीं हैं। इतना दानशील होने पर भी उस महात्माको नाम या कीर्तिकी लालसा कभी नहीं हुई। आजकल जरा सा भी सार्वजनिक हित या उपकारका कार्य करने पर लोग यश या नाम पानेके लिए कितने लालायित रहते हैं, किन्तु बाबूजी इससे कोसों दूर थे। यही नहीं, यदि कोई उनकी स्तुति या प्रशंसा सामने या परोक्षमें भी करता था, तो उसे वे अच्छा नहीं समझते थे और उसे सुननेके लिए तैयार न होते थे। 'यस्मिन् जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवति' जिसके जीने पर अनेक लोग जीते हों वही वास्तवमें जीता है। यह सिद्धान्त बाबूजी के सम्बन्धमें पूरी तरह से चरितार्थ होता था।

हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू जातिके तो वे एकमात्र महान् स्तम्भ और रक्षक थे। उनके चले जानेसे ऐसा लगता है, मानो हिन्दू जाति वास्तवमें अनाथ हो गयी है। बंगालमें हो या पंजाबमें, केरलमें हो या काश्मीरमें, बिहारमें हो या मध्यप्रदेशमें, उड़ीसामें हो या गुजरातमें, जहाँ कहीं हिन्दुओं पर अत्याचार हुआ, बाबूजीका रक्षाका हाथ सदा आगे रहता था। यदि उड़ीसामें उपद्रव हुआ और उसमें निरापराध हिन्दू फंस गये और उन पर मुकद्दमा चला, तो उनकी पैरवीके लिए श्रीमान् सेठजीकी सहायता सबके आगे रहती थी। यदि छोटा नागपुरमें, मध्यप्रदेशमें, कच्छमें या जहाँ कहीं शुद्धि आन्दोलन चला, बाबूजी तन, मन, धनसे उस आन्दोलनको बढ़ानेके लिए अग्रसर रहते थे। ऐन्डमनमें,

केरलमें, मध्यप्रदेश तथा छोटानागपुरमें, आसाम तथा उड़ीसा आदिमें जहाँ कहीं ईसाई मिशनरियोंके द्वारा हिन्दुओंको ईसाई बनानेका समाचार मिलता था तो उनको हार्दिक दुःख होता था और उसको रोकनेके लिए वे भरसक चेष्टा करते थे। पिछले समयमें स्वामी श्रद्धानन्दके द्वारा जो मुसलमानोंकी शुद्धि हुई थी, वह स्वर्गीय बाबूजीकी सहायतासे सम्भव हुई थी। इस शुद्धि आन्दोलनमें बाबूजीने स्वामी श्रद्धानन्दजीके द्वारा कितनी धनकी सहायता दी यह केवल बाबूजी और स्वामीजी ही जानते थे। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि बाबूजी की सहायताके बिना यह शुद्धि आन्दोलन चल नहीं सकता था।

हिन्दू धर्मके वे एक महान् स्तम्भ और संरक्षक थे। केवल स्तम्भ ही नहीं हिन्दू धर्मकी साक्षात् मूर्ति थे। उनके प्राणका प्रत्येक श्वास धर्मके लिए था। उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य धर्मका प्रचार, धर्मका प्रसार और धर्मका विस्तार था। वे जो धन अर्जित करते थे केवल हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृतिकी रक्षा और प्रचारके लिए ही करते थे। उठते-बैठते, सोते-जागते उनको केवल एक ही धुन थी, एक ही लगन थी, कि हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति का उद्धार कैसे हो, उसकी उन्नति कैसे हो और उसकी रक्षा कैसे हो। इसके लिए उन्होंने कितना धन दोनों हाथोंसे खर्च किया, उसकी कोई गिनती नहीं है। इसके लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर कितने मंदिर बनवाए और उनके साथ-साथ कितनी धर्मशालाएँ बनवाईं, इसकी भी कोई गणना नहीं है। दिल्ली, मथुरा, पटना, वाराणसी, भोपाल, कुशीनगर आदिके मंदिर तो प्रसिद्ध हैं ही, इनके सिवा हरिजनोंके लिए, शुद्ध हुए मुसलमानोंके लिए, आदवासियोंके लिए, छोटे-छोटे अनेक ग्रामोंमें कितने मंदिर बनवाए उनकी सूची भी काफी लम्बी है। स्वर्गीय बाबूजीका हिन्दू धर्म कोई संकुचित धर्म नहीं था। उसमें सनातन धर्म, आर्य समाज, सिख, जैन, बौद्ध आदि सभी आर्य धर्मकीशाखाएँ सम्मिलित थीं। सिखोंके लिए कई गुरुद्वारे, आर्यसमाजके लिए कई मंदिर और बौद्धों के लिए सारनाथ, कुशीनगर, बौधगया, राजगृह कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि स्थानोंमें बौद्ध बिहार, बुद्ध मंदिर, स्तूप और धर्मशालाएँ बनवाईं, जहाँ विदेशोंसे आने वाले बौद्ध यात्रियोंके ठहरनेकी समुचित व्यवस्था रहती है।

स्वर्गीय बाबूजीके बनवाए हुए मंदिर केवल कोरे मंदिर ही नहीं हैं। वे एक विश्व-विद्यालयका भी काम देते हैं। आजकलके साधारण विश्वविद्यालयोंमें तो केवल सीमित संख्यामें ही छात्रोंको शिक्षा दी जाती है। बाबूजीके इन मंदिरोंमें पत्थरों पर खुदे हुए लेखों, चित्रों और मूर्तियोंके द्वारा देशकी जनताको हिन्दूधर्म, हिन्दूदर्शन हिन्दू संस्कृति, हिन्दू सभ्यता और हिन्दू इतिहासके तत्वों, सिद्धांतों और वृत्तान्तोंकी अनोखे ढंग पर शिक्षा दी जाती है। आप बाबूजीके द्वारा निर्मित किसी मंदिरमें चले जाइये, वहाँ अद्भुत शांति तो मिलती ही है, ज्ञानकी भी वृद्धि होती है।

बाबूजीके धर्म-प्रचारका क्षेत्र केवल भारत ही नहीं था। भारतके बाहर अमरीका, इंग्लैंड, मोरिसश, ब्रिटिश गियाना, दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका, बर्मा, थाइलैण्ड, इण्डोनेशिया आदि देशों और द्वीपोंमें भी वे धर्म-प्रचारके लिए समय-समय पर विद्वान् और प्रचारक भेजा करते थे। ऐसे विद्वान् और प्रचारकोंमें आर्यसमाजके पंडित अयोध्याप्रसाद

पं० ऋषिराम और डा० रघुवीर आदि मुख्य थे। इन्डोनेशियाके बाली द्वीपमें जहाँ अभी भी तीस लाख हिन्दू निवास करते हैं, हिन्दू धर्मके प्रचारक श्रीनरेन्द्रदेव पंडितको वर्षों तक धर्म-प्रचारके लिए सहायता भेजी गई। इस धर्म-प्रचारका ही परिणाम है कि इधर हालमें, इन्डोनेशियाके जावा द्वीपमें, पचास लाख जावा-निवासी हिन्दू-धर्ममें आ गये हैं। इसी प्रकार मारीशस, फीजी, ट्रिनिडाड, ब्रिटिश गियाना, इंग्लेंड आदि देशोंसे, जहाँ हिन्दू प्रवासी अधिक संख्यामें रहते हैं, हिंदू देवी देवताओंकी मूर्तियोंकी माँग आती रहती थी और बाबूजी बहुत अधिक व्ययसे मूर्तियाँ बनवाकर वहाँ भेजा करते थे। इसी प्रकार कितनी मूर्तियाँ बाहर भेजी गईं हैं, इसकी भी कोई गिनती नहीं है।

स्वर्गीय बाबूजीका जीवन गीताके अनेक सिद्धान्तोंकी कसौटी था। जिस प्रकार रसायनशालामें विज्ञानके सिद्धान्तोंकी परख और जाँच होती है, उसी प्रकार श्रीमान् बाबूजी का जीवन गीताके सिद्धान्तोंकी जाँच और परखके लिए एक रसायनशाला थी। गीताके निष्काम कर्मयोगका तत्व श्रीमान् बाबूजीको जीवनका एक जीता जागता उदाहरण था। इसी प्रकार गीतामें जो स्थिप्रज्ञका वर्णन आता है, वह भी श्रीमान् बाबूजीके जीवनमें पूर्ण रूपसे चरितार्थ होता था। गीताके अनुसार बाबूजी सचमुच,

"आत्मन्येवात्मता तुष्टः"
"दुःखेष्वनु द्विग्नमनाः सुखेषु
"विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः"
"निर्भयो निरहंकारः"
"निराशीर्यतचित्तात्मा"
"विगतेच्छाभयः क्रोधः"

वे स्थितप्रज्ञ थे। गीताके 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' के अनुसार बाबूजी अवश्य योग-भ्रष्ट थे। अन्यथा पूर्व जन्मके संस्कारके बिना ऐसा महापुरुष इस भ्रष्टकालमें उत्पन्न नहीं हो सकता।

बाबूजी अपनी अमर कीर्ति छोड़कर इस लोकसे चले गये हैं और निश्चय है कि अपने पुण्य, अपने सत्कर्म और अपने पवित्र आचरणसे उनकी आत्मा ब्रह्ममें लीन होकर मुक्त हो गयी होगी। यदि नहीं, तो जिस हिन्दू धर्म और हिन्दू जातिके लिए वे जिये और जिसका चिंतन वे अन्तिम श्वास तक करते रहे उसके उद्धारके लिए वे अवश्य यहाँ आयेंगे और हिन्दू धर्मका पुनरुत्थान फिर उनके हाथोंसे होगा।

●

दान

मृत्युसे बढ़कर कड़वी वस्तु और कोई नहीं है। लेकिन मृत्यु भी उस समय मीठी लगती है, जब किसी में दान करनेकी सामर्थ्य बनी रहती है

—तिरुवल्लुवर

"बाबूजी महान् आत्मा थे—महान् योगी थे। वे धर्मके प्रसारके लिए पैदा हुए थे, और धर्मका प्रसार करते ही करते संसारसे चले गए। उनके द्वारा बनाये गए उपासनागृह और देव-मन्दिर युगों तक उनकी कीर्तिका गान करते रहेंगे।

बाबूजीकी स्मृतिमें

श्रीमदन मोहन शर्मा

विगत २४ जूनके प्रातःकालकी अशुभ वेला थी। मैं उसे अशुभ ही कहूँगा; क्योंकि उसी समय मुझे दुःसंवाद प्राप्त हुआ था, बाबूजी अब नहीं रहे। सहसा विश्वास नहीं हुआ इस दुःख संवादपर! यद्यपि सुना करता था, कि बाबूजीकी जीवन-तरी मँझधारमें है, पर फिर भी मन नहीं जमता था उस संवाद पर। फिर श्रीकृष्ण जन्मस्थानसे फोन किया—"वही उत्तर, बाबूजी अब नहीं रहे। मन काँप उठा, प्राण काँप उठे। ऐसा लगा मानों धरती काँप रही हो' दौड़कर मंदिर पहुँचा प्रभुके चरणों पर लोटकर कह उठा—'प्रभु झूठ बनाओ दुःसंवादको। "क्योंकि तीन-चार दिनों पूर्व, पिलानीमें इसी प्रकारका दुःसंवाद फैल चुका था, और मैं उसे सुनकर, दिल्ली विरला हाऊस जा पहुँचा था। बाबूजी प्रसन्न मुखमुद्रामें लेटे हुए थे, मुझे देखते ही पूछ बैठे-"मदनजी, बहुत शीघ्र लौट आए।" मैंने उत्तर दिया—"हाँ बाबूजी, मन कुछ व्याकुल हो रहा था। बाबूजी मौन हो गए। मैं उस दिन रट-रटकर यही सोच रहा था, कि हो सकता है, कि आजका यह दुःसंवाद भी असत्य हो। पर जब ज्ञात हुआ कि रेडियोसे भी इस प्रकारका समाचार प्रसारित हो चुका है, तो साश्रुनेत्र, अटैची लेकर दिल्लीके लिए चल पड़ा। बिरला हाउसमें पहुँच कर सुना,—"बाबूजीका पंच भौतिक शरीर पंच तत्त्वोंमें मिल गया।' मुखसे निकल पड़ा—"कितना अभागा हूँ मैं! उनका अंतिम दर्शन....उनका पुण्य दर्शन...।' अब भी मैं जब इस बातको सोचता हूँ, तो अपने लिए यही विशेषण ढूंढ़ पाता हूँ—"अभागा, दुर्भाग्यशील।"

बाबूजी एक महान् कर्मयोगी, और तपोनिष्ठ महान् पुरुष थे। दया और धर्मकी तो वे प्रतिमूर्ति ही थे। हिन्दू जाति धर्म, और संस्कृति पर युगों तक उनका उपकार लदा रहेगा। वे महान् थे अति महान् थे। पहले वे वर्षमें दो बार मथुरा आया करते थे। और थोड़ी देर रुककर चले जाते थे। इधर दो-तीन वर्षोंसे, जब वे आते थे, तो तीन-तीन दिन तक रुककर जाते थे। इसका कारण उनके शरीरकी दुर्बलता थी। यद्यपि इस जरा अवस्थामें भी उनके प्राणोंमें विचित्र स्फूर्ति देखनेको मिलती थी, पर यह तो सत्य ही है, कि अब उनका

शरीर अस्सी मीलके यात्रा कष्टको सहन करके थक जाता था। यही कारण है, कि वे रुक जाते थे। और जब रुक जाते थे, तो धर्मशालाके यात्रियों, और मंदिरके कर्मचारियोंसे मिलने-जुलने और उनका दुःख-सुख पूछनेमें बड़ा रस लेते थे।

बाबूजीकी दया और उदारताकी सैकड़ों कहानियाँ हैं, जो सदा मेरे हृदय-पट पर अंकित रहेंगी। मथुराकी धर्मशालामें, कई वर्षोंसे प्रतिदिन सायंकालमें, साधुओंको भोजन दिया जाता है। संयोगकी बात, एक दिन बाबूजी स्वयं मौजूद थे। साधुओंके लिये भोजन तैयार किया जा रहा था। बाबूजीने प्रश्न करने आरम्भ कर दिए—"रसोइया भोजन ठीक ढंगसे तो बनाता है! गेहूँ साफ कर लिया जाता है या नहीं? गेहूँमें मिट्टी और कंकड़ तो नहीं रहते?"

मैंने बाबूजीके प्रश्नोंका उत्तर देकर उन्हें संतुष्ट करनेका प्रयत्न किया, पर बाबूजी को संतोष न हुआ। उन्होंने एक रोटी ली, और एक टुकड़ा तोड़कर, मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—"खाकर देखो, कैसी है?"

मैं रोटीका टुकड़ा हाथमें लेकर बाबूजीकी ओर देख ही रहा था, कि बाबूजीने दूसरा टुकड़ा, रोटीमेंसे तोड़ा, और उसे मुँहमें डालते हुए कहा—"रोटी तो ठीक मालूम होती है।" फिर उन्होंने दालकी पतीलीमें झाँककर, देखते हुए कहा—"दाल कम घुटी लगती है।" फिर उन्होंने मेरी ओर देखकर आदेशित करते हुए कहा—"देखो भोजन ऐसा बनना चाहिए, जिससे खाने वालेका चित्त प्रसन्न हो सके।" बाबूजीकी इस महानताको देखकर तो मैं स्तब्ध रह गया। सोचने लगा, 'यह मनुष्य नहीं, देवता हैं देवता।"

बाबूजीको स्वच्छता बड़ी प्रिय थी। वे जहाँ भी रहते थे, स्वच्छता पर बहुत ध्यान रखते थे। एक बार वे मथुराके गीता मन्दिरका निरीक्षण कर रहे थे। मन्दिरमें, एक स्थान पर वे रुक गए, और एक दिवालकी ओर संकेत करते हुए बोले—"देखो, दीवालपर गन्दगी है, साफ कर दो।" दिवालपर झाड़ूके कुछ छींटेसे पड़े थे। नौकरने निवेदन किया—"श्रीमान्, धुलाई करते समय झाड़ूके कुछ छींटे पड़ गए हैं।" बाबूजी उसकी ओर देखकर बोल उठे—"हाँ, मैं भी समझ रहा हूँ। पर यदि तुम्हारा सारा शरीर साफ हो, कपड़े भी साफ हों, और तुम्हारे मुखपर कालिखके कुछ दाग हों तो कैसा लगेगा?"

नौकर लज्जित हो गया, और उसने दोनों हाथ जोड़कर, अपनी भूलके लिए बाबूजीसे क्षमा-याचना की।

इधर जब बाबूजीका स्वास्थ्य अधिक गिर गया था, तो मैं प्रायः वृन्दावनके साधुओं और महात्माओंका प्रसाद लेकर उनके पास जाया करता था। एक दिन बाबूजीने मुझसे कहा—"देखो, मेरे स्वास्थ्यके लिए साधुओं और महात्माओंको अधिक कष्ट मत दिया करो। वे जब स्वयं आशीर्वाद दें तो दें पर उनसे आशीर्वादके लिए कहा मत करो। यदि उन-से कुछ पूछना हो तो यह पूछा करो—'देशमें धर्मका प्रचार कब होगा? हिन्दुओंमें धर्म बुद्धि कब जाग्रत होगी, और देशके नेताओंके मनमें धर्मके प्रति रुचि कब पैदा होगी'! यही प्रश्न थे बाबूजीकी अन्तिम अवस्थाके! उन्हें यही प्रश्न विकल किया करते थे, उन्हें अपनी नहीं,

समस्त हिन्दू जाति, और हिन्दू धर्मकी चिन्ता पीड़ित किया करती थी। उनसे जब भी कोई उनका मित्र, या हितैषी मिलता, वे उससे हिन्दू जाति, धर्म, और संस्कृतिकी ही चर्चा किया करते थे। कौन है अब, जो हिन्दू जाति, धर्म, और संस्कृतिके लिए अपनी विह्वलता प्रगट करेगा। इसीलिए तो कहा जाता है, कि बाबूजी क्या गए, हिन्दू जाति और धर्मका एक बार फिर सूर्य अस्त हो गया।

बाबूजीकी बीमारीके दिनोंमें, उनके स्वास्थ्य-लाभके लिए बड़े-बड़े अनुष्ठान किए गए, प्रार्थनाएँ भी खूब हुईं। पर बाबूजीका स्वास्थ्य उत्थान, पतनकी तरंगों पर सदा झूलता ही रहा। एक दिन मैंने दुःखी होकर बाबूजीसे निवेदन किया—"बाबूजी, सुनते हैं भगवान् शरणागत हैं, अपने प्यारोंकी अधिक सुनते हैं। फिर वे हम सबकी क्यों नहीं सुनते हैं? वे क्यों आपको इतना अधिक कष्ट दे रहे हैं?" बाबूजीने उत्तर दिया—"यह उनकी इच्छा है। उनकी प्रत्येक इच्छा सत् और कल्याणमय होती है। वे जो कुछ करें, हमें प्रत्येक अवस्थामें प्रसन्न ही रहना चाहिए।" उनकी इस आस्तिकताने मेरे प्राणोंको विभोर कर दिया। क्या ऐसा महान् आस्तिक अब और कहीं देखनेको मिल सकेगा।

बाबूजी महान् आत्मा थे-महान् योगी थे। वे धर्मके प्रसारके लिए पैदा हुए थे, और धर्मका प्रसार करते ही करते संसारसे चले गए। उनके हाथ बनाए गए-गृह, और देव मंदिर युगोंतक उनकी कीर्तिका गान करते रहेंगे। उनकी यश-पताका सदा उड़ती रहेगी, उड़ती रहेगी।

बाबूजी अदृश्य-दृष्टा भी थे। उन्हें अपनी मृत्युका आभास बहुत पहले मिल गया था। एक दिन जब मैं उनके दर्शनोंके लिए उनके सामने उपस्थित हुआ, तो उन्होंने मुझे संबोधित करते हुए कहा—"मदनजी, मैं अब अधिक दिनों तक न रह सकूँगा। मैं जिस कार्यके लिए आया था, वह अब कार्य हो चुका है। अब शीघ्र ही अन्तिम अवधि भी पूर्ण होने वाली है। तुम सबसे यही कहना है, कि अपने कर्तव्यका पालन करते रहो।" वे मौन हो गए-अधिक गंभीर! ऐसा लगा, मानो वे सोच रहे हों, उन लोगोंके कर्तव्यपर, जिन्हें वे छोड़कर जाने वाले थे।

मेरी आँखोंसे अश्रु-बूंदें गिरने लगीं। मैंने विजड़ित कंठ से निवेदन किया—"ऐसा न कहिए बाबूजी! आपके मुखसे यह शब्द, कैसे सुनें हमारी शेष आयु आपके लिए समर्पित है बाबूजी! भगवान्से प्रार्थना है, कि वे हमारी शेष आयुको आपकी आयुमें जोड़कर उसे और भी लम्बी बनादें।"

बाबूजीकी आंखोंमें भी अश्रु भर आये। वे मौन हो गए, और अधिक गंभीर। उनके उस मौनका चित्र अब भी मेरी आँखोंके सामने नाचा करता है। कितने ही ऐसे कारण हैं, जो मेरे लिए अमर चिह्न बन गये हैं। मैं जबतक जीवित रहूँगा, वे मुझे कभी न भूल सकेंगे, कभी न भूल सकेंगे।

●

आर्य धर्मकी महती पताका तले एक अरबसे अधिक आर्य धर्मावलंबियोंको उन्होंने एकत्र किया। उक्त देशोंमें कितने ही शिष्ट मंडल, विद्वान् प्रचारक, विशालग्रंथराशि और भाँति-भाँतिके उपहार भेजकर सहस्रों वर्षों पूर्व प्रतिष्ठित धार्मिक व सांस्कृतिक सम्बन्धको पुनः जोड़ा और दृढ़ बनाया। ऐसे विशिष्ट, असाधारण प्रतिभा संपन्न, कृती और कर्म-शील महापुरुषोंको पाकर भारतदेश धन्य हुआ—हिन्दू जाति निहाल हो गयी।

उपार्जितानाम् वित्तानाम् त्याग एवहि रक्षणम्

(पण्डित रामशङ्कर त्रिपाठी)

हिन्दूगौरवकी रक्षा और वृद्धिके लिए सतत चिन्तित और सचेष्ट रहनेवाले और अपना तन मन-धन सब कुछ तदर्थ समर्पित करनेवाले आदरणीय दानवीर श्रीजुगलकिशोर जी बिरलाको खोकर लक्ष-लक्ष हिन्दू जनता गंभीर शोकसे विकल होकर तड़प रही है। विगत ६० वर्षोंसे भी अधिक समयसे श्रीबिरलाजी विविध प्रकारसे हिन्दू जातिके संगठन, संरक्षण, समुत्थान और समुत्कर्षके लिये विपुल प्रयत्न करते रहे हैं। उनका समग्र जीवन हिन्दू जाति व धर्मकी सेवाके लिये था और विसर्जनके लिये ही अर्जन करते थे। इस शुभ कार्यमें निरत पं० मालवीयजी, ला० लाजपतरायजी और स्वा० श्रद्धानंदजी आदि नेताओं, एवं हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दू महासभा, गुरुकुल, ऋषिकुल, भारतीय हिन्दू शुद्धि आदि सभी संगठनोंको पुष्कल सहायता देनेके साथ ही वे स्वयं भी विविध संस्थाओंका संगठनकर अनेकानेक मंदिर, बुद्ध विहार, गुरुद्वारा, धर्मशाला, व्यायामशाला, शिल्प-विद्यालय, औषधालय, विद्यालय व घंटाघर आदिका निर्माण करते रहे।

भारतके हिंदुओंका संगठन करनेके अतिरिक्त आपने जापान, थाइलेंड, इंदुचीन, बाली, बर्मा व अन्यान्य स्थानोंके कोटि-कोटि बुद्धधर्मावलंबियोंके साथ शताब्दियोंसे छिन्न-भिन्न हिन्दुओंका धर्म बन्धन सुदृढ़ किया और आर्य धर्मकी महती पताका तले एक अरबसे अधिक आर्य धर्मावलंबियोंको एकत्र किया। उक्त देशोंमें कितने ही शिष्ट मंडल, विद्वान्

प्रचारक, विशालग्रंथराशि और भांति-भांतिके उपहार भेजकर सहस्रों वर्षों पूर्व प्रतिष्ठित धार्मिक व सांस्कृतिक संबंधको पुनः जोड़ा और दृढ़ बनाया। ऐसे विशिष्ट, असाधारण प्रतिभासंपन्न, कृती और कर्मशील महापुरुषको पाकर भारतदेश धन्य हुआ—हिन्दू जाति निहाल हो गयी। लगभग ३५ वर्षों तक ऐसे महान् व्यक्तिके घनिष्ठ संपर्कमें रहनेका सुअवसर पाकर मैं अपनेको परम भाग्यवान् मानता हूं। श्रीबिरलाजीसे—जिनको मैं बराबर बाबूजी कहता रहा हूं, दैनिक लोकमान्यके संचालकके रूपमें सन् १९३२ में एकदिन सायंकाल मिलने गया था। न कोई मुझे वहां ले गया था और न किसीने मेरी सिफारिश ही की थी, फिर भी बाबूजीने बड़े प्रेम और आदरसे बातें कीं। मुझे यह जान कर बड़ा हर्ष हुआ कि बाबूजी लोकमान्य बराबर देखते थे और पसंद करते थे। परिणाम यह हुआ कि उस पहली ही भेंटमें आपने मुझे सदाके लिये अपना बना लिया। तबसे लगातार सुदीर्घ ३५ वर्षों तक मैं बाबूजीका प्रेमपात्र और कृपापात्र बना रहा। दैनिक लोकमान्य उनका अपना पत्र माना जाता था और मैं हिन्दू आंदोलन सम्बंधी उनका अंतरंग कार्यकर्त्ता।

बाबूजी स्वयं भी समय-समयपर लोकमान्यमें लिखा करते थे। आपके भाषण, वक्तव्य और संवाद लोकमान्यमें प्रकाशित होते रहते थे। आपकी प्रेरणासे मैंने दक्षिण भारतकी लंबी यात्राकी और महाराजा मैसूर व ट्रावनकोर नरेशसे मिला। ट्रावनकोरमें ईसाई बड़े प्रबल हो रहे थे—इस यात्राके फलस्वरूप उनकी गति-विधि नियंत्रितकी गयी। १९५२ में राजस्थानमें मुख्यमंत्री व ठिकानादारों को मिलाने-जुलानेका बाबूजीकी प्रेरणासे अच्छा कार्य हुआ। अखिल भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा-संघका वर्षों तक प्रधानमंत्री रहा। श्रीलक्ष्मीनारायण मंदिर बिरला मंदिरके निर्माणकालमें (१९३६ से ४३ तक) मैं बाबूजीके साथ रहा और मथुरामें श्रीगीता मंदिरके निमित्त भूमिचयन व निर्माणके समय भी। साधु-संतोंकी सेवा बाबूजीका बड़ा प्रिय कार्य था। उनकी उदारता, दयाशीलता, दूरदर्शिता व गुणग्राहकताके विविध उदाहरण मुझे याद हैं। उनके विचारोंका संग्रह "विशाल हिन्दुत्वके नामसे बहुत वर्षों पूर्व मैं प्रकाशित कर चुका हूं। पृथ्वीराजरासोके आधार पर लिखित मेरा 'सम्राट् पृथ्वीराज' नामक ग्रंथ एकमात्र आपकी प्रेरणाका परिणाम है।"

ऐसे स्नेही, सहायक पथ-प्रदर्शक और शुभचिन्तककी पावन स्मृतिमें मैं अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

●

धनकी तीन गति हैं—दान, भोग और नाश। जो न देता है, न भोगता है; उसकी तीसरी गति होती है।

—भर्तृहरि

"हिन्दू-जातिका—भारतवर्षका—एक अत्यन्त प्रकाशमान सूर्य अस्त हो गया। उनके शरीर-त्यागसे विश्वकी, भारतकी, धर्मकी, हिन्दूजातिकी जो महान् क्षति हुई है, उसकी पूर्ति असंभव है।"

सुप्रसिद्ध नेताओं और विद्वानोंकी श्रद्धांजलियाँ

हिन्दूजातिका—भारतवर्षका—एक अत्यन्त प्रकाशमान सूर्य अस्त हो गया। उनके शरीर त्यागसे विश्वकी, भारतकी, धर्मकी, हिन्दूजातिकी जो महान् क्षति हुई है। उसकी पूर्ति असंभव है। वे एक कट्टर हिन्दू थे और उनका संपूर्ण जीवन हिन्दू-जाति एवं हिन्दू धर्मकी सेवामें ही बीता। उन्होंने विपुल धन कमाया, पर केवल हिन्दू-धर्मकी सेवाके लिए। उन्होंने अपने सत्-प्रयत्नोंसे हिन्दू-धर्म एवं जातिके अनेकों सच्चे सेवकोंको तैयार किया। महामना मालवीयजीको उन्होंने ही हिन्दूजाति एवं धर्मकी सेवामें प्रेरित किया।

वह हिन्दू नाम पर मर मिटने वाले व्यक्ति थे। हिन्दू-धर्म एवं जातिके लिए उन्होंने जो कुछ किया है, वह एक महान् ऐतिहासिक प्रयास है।

उस महापुरुषका जीवन एक आदर्श जीवन है। बहुत अल्प अवस्थामें अपनी पत्नीके परलोक गमन पर भी उन्होंने पुनः विवाह नहीं किया और वह आजीवन संयम एवं तपस्याका जीवन व्यतीत करते रहे।

उस महापुरुषने देशके एक दूसरे कौने तक तथा विदेशोंमें भी मंदिरों, धर्मशालाओं, पाठशालाओं, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओंका एक ऐसा जाल बिछा दिया जो शताब्दियों तक हिन्दू-जातिको प्रेरणा देता रहेगा।

यद्यपि वह पिछले कई माससे अस्वस्थ्य थे, पर इस लाचारी अवस्थामें भी वह सदा हिन्दू-धर्म एवं जातिकी रक्षा एवं उन्नतिके लिए चिन्तित थे और अन्तमें भगवान्के श्रीविग्रहके दर्शन करते हुए तथा श्रीभगवन्नाम लेते हुए बड़े ही शांत

भावसे उस महापुरुषने इस नश्वर कलेवरको त्याग दिया। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन महान् आत्माके आदर्शको स्मरण रखें और उनका पदानुसरण करें।

कल्याणके संपादक—श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार

सेठ जी अब नहीं रहे किन्तु उनके द्वारा निर्मित मंदिरोंके कलश उनकी गाथा कहते रहेंगे।

राजनीतिक उतार-चढ़ावसे कोसों दूर रह कर सांस्कृतिक भावनाओंको प्रोत्साहन देनेमें श्रीजुगलकिशोर बिरलाका अपना प्रमुख स्थान था। वह एक व्यक्ति न होकर सजीव संगठन थे। उनके निधनसे हिन्दू संस्कृतिका एक प्रबल पोषक उठ गया। बरसोंसे वह सब ही हिन्दू सम्प्रदायोंको एक झण्डेके नीचे लाकर खड़ा करनेका प्रयास कर रहे थे। नई दिल्ली स्थित लक्ष्मीनारायण मंदिर उसीका एक प्रतीक है। भारत के पड़ौसी देशोंमें भी समय-समय पर वैदिक संस्कृतिके प्रसारके लिए उन्होंने कई अच्छे विद्वानोंको और महात्माओंको अपनी ओरसे भेजा। महामना मालवीय जी ने हिन्दूओंके धार्मिक सुधारका जो कार्यक्रम प्रारम्भ किया था, सेठ जुगलकिशोर बिरला ने भी उसमें पूरा साथ दिया। भारतके कोने-कोनेमें ही नहीं अपितु दूसरे देशोंमें भी उनके बनवाए धर्म मंदिर उनकी कीर्ति गाथा कह रहे हैं। उनके निधनसे जो स्थान रिक्त हुआ है वह आसानीसे नहीं भरा जा सकेगा।

बिरलाजीने मालवीयजी को सहयोग देकर हिन्दुत्वकी ज्योतिको जलाया। वह ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दुओंका धर्म परिवर्तन किए जानेसे दुखी थे। उन्होंने ईसाई मिशनरियोंका मुकाबला करनेके लिए हिन्दू प्रचारको सब तरहका सहयोग दिया।

बिरलाजीने मृत्युसे कुछ दिन पहले मुझसे कहा था कि 'मेरे जीवनकी एक साध थी जो पूरी नहीं हो सकी वह यह कि मैं भारतमें 'हिन्दू राज्य' की स्थापना नहीं देख पाया।'

जुगलकिशोरजी बिरला परिवारमें सबसे ज्यादा याद किए जाएंगे। उनका निधन हिन्दुत्वके प्रेमियोंके लिए बहुत बड़ा आघात है।

संसद सदस्य श्रीप्रकाशवीर शास्त्री

सेठ जुगलकिशोर बिरलाके निधनसे देश और समाजकी गहरी क्षति हुई है। उनका जीवन एक समर्पित जीवन था। हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृतिके लिए उनके हृदयमें एक अग्नि थी, जो हर दुर्बलता, अन्याय और अपमानको जलाकर हिन्दुत्वको तेजस्वी और यशस्वी देखना चाहती थी।

हिन्दुत्वकी उनकी कल्पना अत्यंत विराट् तथा व्यापक थी। भारतमें जन्मे सभी पंथों, उपासना पद्धतियोंके प्रति उनके हृदयमें समान ग्रादरका भाव था ग्रौर वे सबके उत्कर्षके लिए आजीवन प्रयत्न करते रहे।

सेठजी पर लक्ष्मीकी ग्रसीम ग्रनुकम्पा थी, किन्तु अभिमान उन्हें छू भी नहीं पाया था। उनकी सरलता तथा सादगी सतयुगको स्मरण दिलाती थी। धनका सदुपयोग दानमें है इस तथ्यको हृयंगम कर उन्होंने धार्मिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षाके क्षेत्रमें जो योगदान दिया वह चिर-स्मरणीय रहेगा ग्रौर भविष्यके लिए पथ-प्रदर्शन का काम करेगा।

संसद सदस्य श्रीअटलबिहारी बाजपेयी

श्रीजुगलकिशोर बिरला सनातन धर्मके समर्थक व हिंदुत्व निष्ठ व्यक्ति थे। उन्होंने देव मंदिरोंकी स्थापना व जीर्णोद्धारमें बहुत धन व्यय किया। ईसाइयोंकी ग्रराष्ट्रीय गतिविधियोंके उन्मूलनमें भी उन्होंने भारी सहयोग दिया। उनके निधनसे हिन्दू जातिकी भारी क्षति हुई है।

जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी निरंजनदेव तीर्थ

स्व० बिरलाजीके हृदयमें हिन्दुत्वकी रक्षाकी तड़फ थी तथा वह दृढ़ हिन्दु-वादी व्यक्ति थे। उनके निधनसे भारी क्षति हुई है।

संसद सदस्य महन्त दिग्विजयनाथ

सेठ जुगलकिशोर बिरलाके निधनसे एक दानवीर धर्म प्रेरक महापुरुषके युगकी समाप्ति हो गई।

सेठजीकी नम्रतामें विशेष गुण था। ऊँचनीचका कोई भी विचार नहीं था। हमेशा अपनी धुनमें लगे रहते थे।

वाराणसीमें विश्वनाथ मंदिरके महामना मालवीयजीके स्वप्नको साकार बनाने वाले ग्राप प्रथम पुरुष थे। ग्रंत समय तक वहाँ अपना समय देकर उसके सौन्दर्यपूर्ण निर्माणमें ग्रपना सहयोग देते थे। वे पूर्ण ब्राह्मण भक्त थे। ग्राज इस महापुरुषके महाप्रयाणसे धर्म प्रेरक व एक शान्त कर्मयोगी इस संसारसे चला गया।

श्रीराधेश्याम मालवीय
मंत्री
श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु उत्सव समिति, काशी

हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति एवं हिन्दू सभ्यताके लिए अकेले जितना काम सेठ जुगलकिशोर बिरलाने किया उतना दर्जनों सुसंगठित संस्थाएं भी नहीं कर सकीं।

नई पीढ़ीमें हिन्दूधर्मके प्रति आस्था और श्रद्धाकी कमीको देखकर बिरलाजी इस बातके लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे कि स्कूलोंमें धार्मिक एवं संस्कृतिकी शिक्षा दी जाय। सेठजीमें धन और दान, ख्याति और नम्रता, तथा महानता और उदारताका अद्भुत सामंजस्य था।

संसद सदस्य श्रीवेणीशंकर शर्मा

बिरलाजीके हृदयमें हिन्दूधर्मकी रक्षाके लिए जबर्दस्त तड़प थी। उन्होंने विदेशोंमें हिन्दुधर्मके प्रचारके लिए सब तरहका सहयोग दिया।

संसद सदस्य श्रीरामगोपाल शालवाले

स्वर्गीय श्रीजुगलकिशोर बिरला न केवल दानवीर थे, प्रत्युत हिन्दूधर्मके दीवाने थे। देश-विदेशमें हिन्दू धर्मके प्रचारके लिए जितना काम उन्होंने किया, उतना और किसीने नहीं किया।

श्री एन० सी० चटर्जी

सेठ जुगल किशोर उन खामोश लोगोंमें से थे, जिनका दिल धर्मके लिए तड़पता था। वे रुपया कमानेमें कोई दोष न समझते थे, परन्तु उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि वे देते भी थे, न केवल सार्वजनिक कामोंके लिए ही बल्कि निजी जरूरत मंदोंको भी। सत्य तो यह है कि उनके दरसे कोई खाली न लौटा। मुझ पर उनकी विशेष कृपा थी। कभी-कभी अपने दिलका बुखार निकालनेके लिए मुझे बुला लिया करते थे। वे यह समझते थे कि मेरे और उनके विचारोंमें समानता है। आज वे इस संसारमें नहीं रहे, परन्तु मैं इतना दावेसे कहता हूं कि इस दानवीर धर्मात्मा की याद वर्षों तक हजारों लाखों भारतीयोंके दिलोंमें बनी रहेगी। परमात्मा उनकी आत्माको शान्ति प्रदान करे और उनके सम्बन्धियोंको इतनी शक्ति दे कि उनकी जुदाईके शोकको सहन कर सकें।

उर्दू प्रतापके सम्पादक श्रीनरेन्द्र

दानवीर श्रीमंत सेठ जुगलकिशोरजी बिरलाके निधनसे लगता है, हिन्दू जातिका सूर्य अस्त हो गया। वे जब तक जिये हिन्दू जातिकी विराट् भावनासे प्रेरित अभिभूत महान् संकल्पोंकी संसिद्धिके लिए ही जिए जिनका श्वास-श्वास हिन्दू जातिकी सेवाके लिए ही अर्पित था। हिन्दुत्वकी जो कल्पना उनकी थी उसमें बौद्ध,

जैन, सिख आदि सभी आते थे और इसीलिए उनके द्वारा स्थापित मंदिरोंमें इन सबका समान आदर है जो उनके सार्वभौम विश्वासका शाश्वत प्रतीक है।

डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

धर्मवीर सेठ जुगलकिशोरजीको हम जितनी भी श्रद्धांजलि अर्पित करें, वह पर्याप्त न होगी। १८ वर्षकी आयुसे मरण पर्यंत अर्थात् ८५ वर्षकी आयु तक धर्म, जाति और राष्ट्रकी उन्होंने जो निस्वार्थ सेवा की, उसीका उपदेश भगवान् कृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनको दिया था। जुगलकिशोरजीने गीताके उस उपदेशको अपने जीवनमें चरितार्थ कर दिखाया। वे सच्चे कर्मयोगी थे। देशके अन्य धनी-मानी सज्जनोंको स्वर्गीय बिरलाजीकी जीविनीसे शिक्षा ग्रहण कर अपनी पूँजीका उसी प्रकार सदुपयोग देश, धर्म और समाजके लिए करना चाहिए। बिरलाजीके पुण्य कार्योंकी यदि एक सूची तैयारकी जाए तो हमारा विश्वास है कि वह एक ग्रन्थ बन जायेगा जिसका प्रकाशन कई खण्डोंमें करना पड़ेगा।

गांडीव सम्पादक श्रीभगवान दास अरोड़ा

स्वर्गीय श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाका प्रथम साक्षात्कार मुझे सन् १९५१ में लोक-सभाके तत्कालीन अध्यक्ष स्वर्गीय श्रीगणेशवासुदेव मावलंकरकी नयी दिल्ली स्थित कोठीपर हुआ था। प्रथम परिचयमें श्रीबिरलाजीके उच्च विचारोंकी छाप मुझ पर पड़ी और यह अनुभव हुआ कि वे कट्टर हिन्दुत्वाभिमानी हैं। आगे चलकर ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता गया, उनके सद्गुण सामने आने लगे और मेरे हृदयमें उनके प्रति अगाध श्रद्धा हो गयी।

दानवीर बिरलाजीने यों तो भारतवर्षके विभिन्न तीर्थस्थानों पर अनेकों देवालयोंके निर्माण करवाये हैं, जो उनकी महान् धार्मिकताके प्रतीक हैं। किंतु उनका सबसे बड़ा धर्म-कार्य वह है, जो उन्होंने मथुरा स्थित श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके पुनरुद्धारके लिये किया है। दूसरे शब्दोंमें यह उनकी अमर-कीर्ति कही जा सकती है। उन्हींके प्रयासका यह परिणाम है कि भगवान् श्रीकृष्णका जन्मस्थान, जो सैकड़ों वर्षोंसे विस्मृत एवं उपेक्षित खण्डहरोंके रूपमें पड़ा हुआ था, आज अपने गौरवके अनुकूल पुनरुद्धारके पथ पर है और देश-विदेशके श्रद्धालु जनोंके लिये प्रेरणाका केन्द्र बनता जा रहा है।

स्वर्गीय बिरलाजी अतुल वैभवके स्वामी थे। किन्तु उनको अभिमान ने स्पर्श तक नहीं किया था। वे जीवन्मुक्त थे। देशकी सर्वश्रेष्ठ विभूतियोंमें से एक थे। अब उनके स्थूल शरीरके दर्शन तो नहीं हो सकेंगे, किन्तु उनकी महान् आत्मा हमें सदैव प्रेरणा प्रदान करती रहेगी। भगवान् उनके शोक-संतप्त स्वजनोंको इस कष्टको सहनेकी सामर्थ्य दे।

भगवानदास भार्गव
संयुक्त मंत्री श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

"यदि हिन्दुत्व हमारी रक्षाके लिए न होता तो आत्मघातके अतिरिक्त मेरे लिए कोई दूसरा मार्ग न था। मैं हिन्दू इसीलिए हूँ; क्योंकि हिन्दुत्व एक ऐसा स्वर्ग है, जो संसारको रहने योग्य बनाए हुए है।"

हिन्दुत्व

महात्मा गांधी

हिन्दुत्वने भयसे हमारी रक्षाकी है, हमें नष्ट होनेसे बचाया है। यदि हिन्दुत्व हमारी रक्षाके लिए न होता तो आत्मघातके अतिरिक्त मेरे लिए कोई दूसरा मार्ग न था। मैं हिन्दू इसीलिए हूँ, क्योंकि हिन्दुत्व एक ऐसा स्वर्ग है, जो संसार को रहने योग्य बनाये हुए है। हिन्दुत्वसे ही बौद्ध धर्मकी उत्पत्ति हुई है। वर्तमान समयमें हिन्दू धर्मका जो स्वरूप हम देखते हैं, वह हिन्दुत्व नहीं है। अधिकांशतः उसका उपहास है, अन्यथा हिन्दुत्वकी प्रशंसामें किसी को कुछ कहनेकी आवश्यकता न होती। वह स्वयं बोलता। हिन्दुत्व मुझे यह शिक्षा देता है, कि मेरा शरीर, मेरी अन्तरात्माको सीमित करने वाला एक बंधन है।

जिस प्रकार पाश्चात्य देशोंने भौतिक पदार्थोंके आश्चर्यजनक आविष्कार किये हैं, उसी प्रकार हिन्दुत्वने उनसे भी अधिक विलक्षण आविष्कार धर्म, जीव तथा आत्माके संबंधमें किए हैं। किन्तु ऐसे महान् एवं सुन्दर आविष्कारों को देखनेके लिए हमारे पास यंत्र नहीं है। पाश्चात्य विज्ञान द्वाराकी हुई भौतिक उन्नतिसे हमारी आँखें चौंधिया गई हैं। मैं उस उन्नतिसे प्रभावित नहीं हूँ। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है, कि ईश्वरने अपनी बुद्धिमानीसे उस दिशामें उन्नति करनेके लिए भारत को रोक दिया है, जिससे बढ़ते हुए भौतिकवाद को रोकनेके लिए अपने विशेष उद्देश्यमें वह सफल हो सके। हिन्दुत्वमें ऐसी कोई बात अवश्य है, जो अब तक उसे जीवित रखे हुए है। इसने बेबीलोन, सीरिया, फारस और मिस्र देशकी सभ्यताओंका पतन देखा है।

अपने चारों ओर दृष्टि डालिए। रोम कहाँ है? और कहाँ है ग्रीस? क्या गिबनकी इटली या प्राचीन रोमका—क्योंकि रोम भी इटलीमें ही था—आप आज कोई चिह्न पा सकते हैं? यूनानको लीजिए। वह संसार—प्रसिद्ध, सर्वोच्च सभ्यता कहाँ गई? अब भारत आइए। यहाँका अति प्राचीन कोई ग्रंथ या वर्णन पढ़िए और फिर चारों ओर दृष्टि डालिये, तो आपको विवश होकर कहना पड़ेगा, कि हाँ, प्राचीन सभ्यता यहाँ अब भी जीवित है। यह सत्य है, कि यत्र-तत्र कूड़ा-कर्कटके ढेर भी हैं, किन्तु उसके नीचे अतुल भण्डार दबा पड़ा है। भारतीय सभ्यताके जीवित रहनेका एक मात्र कारण यही है, कि भारतका लक्ष्य भौतिक उन्नति नहीं, वरन् आध्यात्मिक उन्नति था।

●

"मैं सरलता, शुद्धता, तथा सात्त्विकताकी मूर्ति हूँ। उस भारतीय संस्कृति की क्या कभी कल्पना की जा सकती है, जिसमें मेरा प्राधान्य नहीं, मेरा सत्कार नहीं, मेरा आदर नहीं। याद रखो, मेरी रक्षा करना एक अनबोलने पशुकी रक्षा करना नहीं है, प्रत्युत वह नाना दिशाओंमें मुखरित होने वाली प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा है। भारतवर्षकी पावन संस्कृतिका मेरुदण्ड मैं ही हूँ।"

गायकी राम कहानी

डा० श्रीबल्देव उपाध्याय एम. ए, साहित्याचार्य

मैं आज अपनी रामकहानी सुनानेके लिये उद्यत हूँ। मेरे विषयमें लोगोंमें अनेक भ्रान्तियाँ, अन्धतामिस्रसे भी अधिक कालुष्यमयी भ्रांतियाँ, फैली हुई हैं। उन्हींके निराकरणके लिये मेरा यह लघु प्रयास है। मुझे पूरा विश्वास है, कि मेरी इस आत्मकथासे प्रत्येक पाठक मेरे सच्चे स्वरूपसे परिचित हो जायेगा, मानव-मात्रके ऊपर मेरी उपकृतिकी दीर्घ परंपराके ज्ञानसे वह चमत्कृत हो उठेगा, मेरी पवित्रताके रहस्यकी जानकारी उसे अभिभूत करा देगी, और मेरे साथ सम्प्रति हो रहे नृशंस बर्तावसे उसे घृणा अवश्य हो जायेगी।

इस सृष्टिके साथ मेरा अटूट सम्बन्ध है। जब कभी इस भूमण्डलमें धार्मिक सन्तुलन बिगड़ जाता है, धर्मके स्थान पर अधर्मका, पुण्यके स्थान पर पापका और सदाचारके स्थान पर कदाचारका पक्ष प्रबल हो जाता है, सर्वत्र त्राहि-त्राहिका आर्त्तनाद नभोमण्डलको चीरता हुआ संसारभरमें गूँजने लगता है, तब पापके विकट बोझसे दलित होनेवाली पृथ्वी मेरा ही रूप धारणकर जगन्नियन्ता सर्वशक्तिशाली भगवान्के पास पहुँचकर इस बोझको हटानेके लिये प्रार्थना करती है। मेरी ही प्रार्थनापर भगवान्का प्राकट्य होता है, अधर्मका नाश होता है, और धर्मकी ध्वजा विश्वमें फहराने लगती है। समस्त विश्वमें मेरी व्याप्ति उस विश्वम्भरकी व्यापकताके समान ही माननीय है, और संसारकी समस्त भाषाओंमें मेरा नाम विख्यात है। भाषाओंकी जननी देववाणीने मेरा जो सबसे सुन्दर तथा मधुर अभिधान प्रस्तुत किया है वह है "गौः"। गम् धातुसे डोस् प्रत्ययसे निष्पन्न यह नाम (गमेडोस्) मुझे सब नामोंसे इसलिये अधिक प्यारा है, कि वह मेरे गतिशील स्वरूप का परिचायक है। मानव-कल्याणके लिये सतत जागरुक रहनेकी कथाको अपनी

छातीपर रखकर चलनेवाला यह नाम विश्वकी समस्त भाषाओंमें आज भी वर्तमान है। संस्कृतका "गो" शब्द पाश्चात्य भाषाओंमें पहुँचकर कहीं 'ग' के स्थानपर ओष्ठ्य 'वकार' बन गया है, तो कहीं वह कंठ्य 'ककारके' रूपमें ही वर्तमान है। इस परिवर्तनके भीतर विद्यमान भाषाशास्त्रीय नियमके उद्‌घाटनका यह अवसर नहीं है, परन्तु उस नियमके दृष्टांतरूप शब्दोंकी ओर, अपनी विश्वव्याप्तिके द्योतनार्थ,संकेत करना मैं आवश्यक समझती हूँ।

प्राचीन यूनानी तथा लातीनी भाषाओंका आपसी साम्य दोनोंके एकजातीय होनेके कारण आश्चर्यजनक नहीं है। यूनानी भाषामें मेरी संज्ञा है—बो तथा बोउस (bous), जो लातीनीमें ठीक इसी प्रकार है—बोस् (bos), बोव् (bov), जिससे अंग्रेजीमें 'बोवाइन' विशेषण बनता है, तथा बो (bo`। आइरिशमें मेरा नाम इसीके अनुरूप 'बो' ही है। लैतिनका 'बोवी' संस्कृतके 'गावी' तथा ग्रीकका बोउबेलस् (boubalous) संस्कृतके 'गवलस्' (गवल:) का प्रतिरूप है। इंडोजर्मनिक भाषाओंके भीतर ट्यूटानिक उपशाखामें मेरे नाममें 'ग' के स्थानपर 'क' की विकृति जागरूक है। जर्मन भाषाका 'कूह' (kuh), आर्मिनियन का कोव (kou) तथा अंग्रेजीका 'काउ' (cow) इसी परिवर्तनके द्योतक हैं। इस प्रकार यूरोपकी भाषाओंमें कहीं मेरा नाम गकारादि है, तो कहीं ककारादि। लेटिश भाषाका गुओस (guovs) स्पष्टत: गौ: (गओस्) का विकृत रूप है, तो प्राचीन चर्चस्लाव भाषाके 'गोवेन्दो' (govendo) शब्दमें तो संस्कृतके 'गोविन्द' ही विराजते हैं। भारतीय भाषाओंमें तो सर्वत्र मेरे गकारादि नाम ही मिलते हैं, देव-वाणीके गो, शब्दसे साक्षात्‌रूपसे निष्पन्न। मेरे कहनेका तात्पर्य इतना ही है, कि जिसप्रकार मैं जगतके कल्याणके लिये भोजन तथा कृषिके साधनके रूपमें विद्यमान हूँ, उसी प्रकार मेरा नाम सर्वत्र ही 'गौ:' का अपभ्रंश होनेसे मेरे गतिशील रूपका ही पूर्णत: परिचायक है।

मेरा विश्व संस्कृति, विशेषत: भारतीय संस्कृतिके अभ्युदय तथा प्रसारपर इतना व्यापक प्रभाव है, कि उसे ठीक-ठीक बतलानेके लिये मुझे बड़ा पोथा संग्रह करना पड़ेगा। मेरे उपासक, उस व्रजनंदन 'गोपाल' की स्तुतिमें कृष्णभक्तोंने 'गोपालसहस्त्रनाम' की रचना कर डाली है, विष्णुभक्तोंने 'विष्णुसहस्त्रनाम' का, शिवभक्तोंने 'शिवसहस्त्रनाम' का तथा कालीके भक्तोंने कादिमत तथा हादिमतकी पुष्टिमें ककारादि 'कालीसहस्त्रनाम' का तथा हकारादि 'कालीसहस्त्रनाम' का निर्माण कर रखा है, परन्तु मेरे किसी भक्तने भी गोसहस्त्रनामका प्रणयन आजतक नहीं किया, इस बातसे मुझे मार्मिक वेदना होती है। तो क्या मेरे नामोंकी माला नहीं गूँथी जा सकती ? क्या मेरे अभिधानोंका इतना टोटा है, कि अष्टोत्तरशतक भी नहीं बन सकता ? सहस्त्रनामकी तो बात ही दूर ठहरी।

इन प्रश्नोंके उत्तरमें मेरा एक जवाब है—नहीं, कभी नहीं। मेरे नामोंका न तो टोटा है, और न मेरे नामोंमें सार्थकताकी ही कमी है। कमी तो उन संस्कृतज्ञोंकी श्रद्धामें है, जो वेदसे लेकर पुराणों तक, इतिहाससे लेकर तन्त्रोंतक मेरे विश्रुत कार्यकलापको पढ़नेपर भी अभी तक 'गोसहस्त्रनाम' के गुम्फनमें कृतकार्य नहीं हो सके हैं। तो आइये, मैं स्वयम्

उन कतिपय नामोंका संकेत तथा तात्पर्य अभिव्यक्त कर रही हूँ, जिससे मेरे सहस्त्रनामकी रचनामें सामान्य भी संस्कृतज्ञको किसी प्रकारका क्लेश न उठाना पड़े। मेरा सर्व प्राचीन तथा सर्वसुलभ नाम है—'गो', जिसकी व्यापकता का रहस्य मैं अभी समझा चुकी हूँ। जब मुझमें बच्चा जननेकी शक्ति नहीं रहती, तब मेरी संज्ञा 'वशा' होती है। जब मुझमें गर्भ धारण करनेकी शक्ति आ जाती है, तब मेरा नाम होता है—उपसर्या और वृषस्यंती होकर मैथुनकार्यसे सम्पन्न होनेपर मेरा यथार्थ अभिधान होता है—संधिनी। गर्भ धारण करनेकी स्थितिमें मेरे अनेक अत्यन्त रोचक नाम होते हैं। यदि मेरा गर्भ मेरे शरीरसे बहकर निकल जाता है, तो मैं 'अवतोका' कहलाती हूँ और यदि मैं अपने गर्भका उपघात कर देती हूं, तो मेरा नाम होता है वेहद्। प्रथम गर्भको जब मैं धारण करती हूँ, तो पृष्ठौही मेरा ही नाम होता है।

जब मेरी प्रसूति प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है, तब मेरा एक विचित्र नाम होता है—समांसमीना, जो पाणिनि व्याकरणके एक विशिष्ट नियमसे सिद्ध होता है। बहुत बार प्रसव होनेपर मेरा अभिधान है परेष्टुका। धेनु शब्द मेरे नव प्रसूतिरूपका द्योतक है, तो 'वष्कयिणीका' शब्द मेरे चिर प्रसूता होनेका संकेतक है। आप लोग जानते ही होंगे, कि वष्कयिणीका दूध बड़ा ही गाढ़ा, मीठा, तथा पौष्टिक होता है, और 'बकेना' के नामसे काशी-मंडलकी भोजपुरीमें सर्वत्र प्रख्यात है। (खिलल वा बकेनवा का दूध भोजपुरी गीतका एक पद)। मुखसे दूहे जाने पर सुव्रता, मोटा थन होनेपर पीनांघ्नी, और द्रोण भर दूध देनेपर द्रोणक्षीरा मेरे ही सार्थक नाम हैं। यह तो लौकिक संस्कृतमें मेरे नाम हैं। वैदिक संस्कृतमें इससे भिन्न तथा इतर भावोंके प्रदर्शक नामोंकी सत्ता मेरी प्राचीनता तथा दिव्यताकी स्पष्ट द्योतिका है।

वैदिक साहित्य मेरे नाम तथा कामसे भरा पड़ा है। उस युगमें मेरे थनोंमें इतना प्रचुर दूध होता था, कि मुझे तीन बार दुहनेकी आवश्यकता होती थी, और इन तीनों दोहनोंके विभिन्न नाम थे। प्रातःकालका दोहन प्रातदोह नामसे, दोपहरसे कुछ पहलेका दोहन संगव नामसे, तथा सायंकालीन दोहन सायंदोहके नामसे प्रख्यात था। मेरी भिन्न दशाओंके द्योतक अनेक शब्द वैदिक ग्रन्थोंके भीतर उपलब्ध होते हैं, जिनमेंसे कुछका ही संकेत कर रही हूँ। सफेद गायको कर्की, बच्चा देने वाली जवान गायको अथवा एक ही बच्चा जननेवाली गायको (सकृत-प्रसूता) गृष्टि, दुधारीको धेना अथवा धेनु, बाँझ गायको स्तरी, धैनुष्टरी (या वशा), बच्चा देकर बाँझ होनेवाली गायको सुतावसा कहते थे। जब अपना बछड़ा मर जानेपर दूध देनेके समय नये बछड़ेके लिये मुझे मनानेकी आवश्यकता पड़ती, तब वैदिक लोग मुझे निवान्यवत्सा अथवा निवान्या (शतपथ, २।६।१।६।), अभिमान्यवत्सा, अभिमान्या अथवा केवल वान्या (ऐतरेय ब्रा०, ७।२) नामसे पुकारते थे। सायंप्रातः अपने प्यारे बछड़ेके लिये मेरा रंभाना वैदिक ऋषियोंको इतना कर्णसुखद प्रतीत होता था, कि वे देवताओंके लिये प्रत्युत अपने स्वरमधुर गायोंकी तुलना इससे करनेमें तनिक भी सकुचाते नहीं थे—

अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न मातर। इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥

(ऋग्वेद—९।१२।२)

वैदिक युगकी एक मर्मभरी बात आप लोगों से कहना चाहती हूँ। उस युगमें मेरी इतनी अधिकता तथा प्रचुरता होती थी, कि मेरी पहिचानके लिए मेरे कानोंके ऊपर नाना प्रकारके चिह्न बनाये जाते थे तथा उन चिह्नों से लांछित होने पर मेरे लिये विभिन्न नामकरणकी भी उस युगमें व्यवस्था थी। ऐसे विशिष्ट चिह्न थे—आठका अंक, बंशी, हंसुआ, तथा खम्भा और उस समय मेरे नाम क्रमशः होते थे—अष्टकर्णी (ऋग्वेद, १०।६२।७), कर्करिकर्णी, दात्रकर्णी तथा स्थूणाकर्णी (मैत्रायणी संहिता, ४।२।६)। कभी-कभी मेरे कान छेदे भी जाते थे (छिद्रकर्णी) तथा अथर्वके अनुसार मेरे कानोंपर मिथुनका चिह्न भी निर्दिष्ट किया जाता था, जो प्रजनन शक्तिका प्रतीक जान पड़ता है। वैदिक युगकी यह विशेषता पाणिनि युग तक खूब प्रचलित रही, क्योंकि पाणिनिने भी अपने सूत्र ६।३।११५ में ऐसे चिह्नोंका उल्लेख किया है।

(२)

मानवोंकी पुष्टि तथा देवताओंकी पूजाके निमित्त ही तो मेरा पुण्यमय जन्म हुआ है। जब सोमरसके साथ मिलाया गया मेरा रस देवोंको अर्पित होकर उनके आनन्दोल्लासका कारण बनता है, तब मैं अपने जीवनको धन्य मानती हूँ। देवोंके काममें आना ही तो भौतिक जीवनकी धन्यताकी पराकाष्ठा है। मेरे जीवनके प्रत्येक कार्यपर यह बात घटित होती है। इसीलिये तो वैदिक ऋषियोंने मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भारद्वाज ऋषिके ये पावन शब्द सर्वदा स्मरणीय रहेंगे, जिनमें उन्होंने मुझे देवाधिदेव इन्द्रका साक्षात् प्रतिनिधि बताया है—

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः सजनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसाचिदिन्द्रम ॥

(ऋग्वेद—६। २८-५)

होमधेनु होनेके कारण मैं प्रत्येक ऋषिकी कुटियामें विराजती थी। वशिष्ठके अश्रममें 'नन्दिनी' मेरी ही वत्सतरी थी, जिसकी सेवा करनेसे राजा दिलीपके वंशको चलानेवाला पुत्र रघुके रूपमें प्राप्त हुआ था। जमदग्निके आश्रममें सहसा आनेवाले हैहय नरेश कार्तवीर्यकी विशाल सेनाकी अभ्यर्थनाका पवित्र तथा अद्भुत कार्य मेरी पुत्री ही ने तो निभाया था, जो जमदग्निकी होमधेनु थी। मेरी रक्षा करनेमें राजाओं तथा ब्राह्मणोंने अपना सर्वस्व लुटा दिया, परन्तु मेरा बाल भी बाँका न होने दिया। धन्य है ऐसे महा-पुरुषोंकी गोभक्ति !! परन्तु आजके संसारमें पुराणोंकी ये ऐतिहासिक कहानियाँ—राजा दिलीपका नंदिनीकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंके न्योछावरका प्रसंग तथा परशुरामके द्वारा अपने पूज्य पितृदेवकी होमधेनुके रक्षणके निमित्त मदान्ध शासकोंका इक्कीस बार पराजय-सामान्य रोचक गल्पसे अधिक महत्वशाली नहीं मानी जाती। इसे तो मैं भारतवर्षका दुर्भाग्य ही मानती हूं, जो अपने प्रमाणिक इतिहासको भी कल्पनिक मानता है। पौराणिक लोग देवलोक की सर्वस्वभूता अखिल कामनाओंकी पूर्ति-विधायिका 'कामधेनु' को मेरे वर्गमें मूर्धन्य मानते हैं, परन्तु मेरी तो मान्यता है कि मैं और मेरी समग्र बच्चियाँ प्रत्येक 'कामधेनु' हैं। 'लक्ष्मीर्वसति गोमये' वचनके अनुसार जिसकी निकृष्ट विष्ठामें भी पूजनीया लक्ष्मीका निवास हो, उसकी धन्यता क्या कही जाय ? मैं त्रैलोक्यके साम्राज्यसे भी कहीं

अधिक बढ़कर हूँ। तभी तो मछुओंके द्वारा जालबद्ध च्यवन ऋषि ने त्रैलोक्यके साम्राज्य को ठुकराकर गायको ही अपनी निष्क्रय वस्तु माना था। क्या इस महाभारतीय कथाको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता है ? आजके वैज्ञानिक युगमें भी मेरा गोबर समस्त नवीन उर्वरकोंसे पृथ्वीकी उर्वराशक्तिके संरक्षणमें अधिक कृतकार्य हुआ है। इस तथ्यका संकेत मात्र ही गोमयमें लक्ष्मीके निवासका पोषक प्रमाण है।

प्राचीनकालमें विनिमयका माध्यम मैं ही थी। किसी भी देशकी उन्नति व्यापारके ऊपर आश्रित रहती है, और यह व्यापार, विनिमयके माध्यमकी अपेक्षा रखता है। सभ्यताके इतिहासमें धातुज मुद्राका ही बोलबाला है, परन्तु सुदूर प्राचीनकालमें, मैं ही इन समस्त व्यावसायिक प्रक्रियाओंकी साधन थी। मेरे अभावमें एक देशकी वस्तु अपने ही देशमें पड़ी रहकर सड़-गल जाती, दूसरे देशके प्राणियोंके उपभोगमें वह तनिक भी नहीं आ सकती थी। मैंने ही व्यापारको दिशा प्रदान की, विनिमयका साधन निकाला, लेन-देनके माध्यमका रूप स्वयं स्वीकार किया। तब कहीं जाकर सभ्यताका प्रसार हुआ। इस प्रकार आजकलके व्यापारकी जननी होनेका गौरव तो मुझे प्रदान किया जाना चाहिये। प्रसन्नता मुझे इसी बातकी है, कि अनेक भाषाएं मेरे इस स्वरूपसे परिचित हैं और अपनी कृतज्ञताका प्रकाशन अपने विशिष्ट शब्दों तथा प्रयोगोंके द्वारा आज भी कर रही हैं। चाहे पूरब हो या पश्चिम, मेरे इस उपकारकी स्मृति आज भी अनेक देशोंमें भुलायी नहीं गयी है। लातीनी भाषाका पेकुस (pecus) शब्द मेरे ही पशुरूपके वाचक होनेके साथ ही साथ 'अर्थ' का भी द्योतक है, और अंग्रेजीका उसी शब्दसे निष्पन्न पिक्युनिअरी (pecuniary) शब्द आज भी धनसे सम्बद्ध अर्थका स्पष्टतः वाचक है।

(३)

इस विशाल विश्वमें आदिम तथा सर्वश्रेष्ठ संस्कृति होनेका श्रेय धारण करनेवाली भारतीय संस्कृतिका मैं ही प्रतीक हूँ। मैं सरलता, शुद्धता तथा सात्विकताकी मूर्ति हूँ। उस भारतीय संस्कृतिकी क्या कभी कल्पना की जा सकती है, जिसमें मेरा प्राधान्य नहीं, मेरा सत्कार नहीं, मेरा आदर नहीं। याद रखो, मेरी रक्षा करना एक अनबोलते पशुकी रक्षा करना नहीं है, प्रत्युत वह नाना दिशाओंमें मुखरित होनेवाली प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा है। भारतवर्षकी पावन संस्कृतिका मेरुदण्ड मैं ही हूँ। मेरे ही गौरवकी गाथा अनेक शब्दोंके द्वारा आज भी प्रकट करने वाली देववाणी अपनी कृतज्ञताको अभिव्यक्त करनेमें तनिक भी नहीं सकुचाती—यह मेरे परम हर्षका विषय है।

भारतकी अनेक भव्य भावनाओंका सम्बन्ध मेरे साथ निबद्ध है। वह सुन्दर बेला जिसमें शुभकार्योंका सम्पादन विहित है, मेरे ही नाम पर 'गोधूलि' कहलाती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानसमें 'गोधूलि' वेलाको 'धेनुधूरि' वेलाकी संज्ञा दी है। (धेनुधूरि बेला विमल सकल सुमंगल मूल। विप्रन्ह कहेउ विदेहसन जानि सगुन अनुकूल ॥ १।३१२।०।) भगवान् रामचन्द्रके विवाहकी शोभायात्रा इसी मुहूर्तमें आरम्भ हुई थी। इसी समय मैं अपनी सन्तानोंके साथ चारागाहसे लौटती हूँ और हमारे खुरोंसे उड़ी हुई धूल पूरे वायु-मण्डलको धूल धूसरित बना देती है और इसी पवित्र दृश्यके आधारपर यह संध्या-बेला 'गोधूलि' के नामसे निर्दिष्ट की जाती है। मेरी धाक सहित्यमें भी है। जिस समाजमें

संहृदयजन बैठकर सरस-चर्चा किया करते हैं, तथा आनन्द उठाते हैं. वह मेरे ही नामपर गोष्ठी कहलाता है। किसी विशिष्टके शोधके निमित्त प्रयुक्त गवेषणा शब्द मेरे उस रूपकी सुध दिला रहा है, जब मैं परम अभिलाषाओंमें मूर्धन्य मानी जाती थी। शिल्पशास्त्र भी मेरा ऋणी है। प्राचीनकालमें महलोंके झरोखे मेरी ही सुभग, सुडौल आँखोंके समान गोल-गोल होते थे, और इसीलिये झरोखोंका सामान्य अभिधान ही बन गया गवाक्ष, जिसका विकृत रूप हिन्दीमें 'गोखा' या मोखा और भोजीपुरीमें 'मूका' आज भी व्यवहृत होता है। मेरे स्तन उन लम्बे-लम्बे लच्छेदार अंगूरोंके लिये उपमानका काम करते हैं, जो इसी कारण गोस्तनीद्राक्षाके नामसे पुकारी जाती हैं। मेरे नामधारी इन द्राक्षाओंके सामने वह छोटे-छोटे गोल दाना वाले अंगूरकी कोई पूछ नहीं। वह तो बाजारमें यों ही पड़ा रह जाता है, जब मेरे नामधारीके ऊपर माधुर्यके भक्त टूट पड़ते हैं। दूध तो मेरा ही विकार है, मानव-मात्रको शक्ति प्रदान करनेकी शक्ति रखनेवाला दूध सामान्य रूपसे मेरे ही नामसे गोरस कहलाता है, तब उसे औटानेवाली अंगीठीको भी गुरसी (गोरसी या भोजपुरीमें बोरसी) कहलानेमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होना चाहिये। नाट्यशाला मेरी उपेक्षा नहीं कर सकती। मेरी पूंछको ध्यानसे देखो। वह आरम्भमें फैलकर बड़ी होती है, परन्तु धीरे-धीरे परिमाणमें कम होती जाती है। इस सादृश्यको लक्ष्यकर नाट्यशाला अपने एक विशिष्ट संगठनको गोपुच्छके नामसे पुकारती है।

पूजा तथा उपासनाके साथ मेरा अटूट सम्बन्ध है। बाबा विश्वनाथको जिस जलपात्र से जल चढ़ाया जाता है, तथा भगवान्के नामजप करनेके लिये जिसके भीतर माला फेरी जाती है—ये दोनों ही पदार्थ मेरी लम्बायमान मुखाकृतिके कारण गोमुखी कहलाते हैं। भगवान्का वह नित्य लीलाधाम, जहाँ वे गोपियोंके साथ नित्य आनन्दसे विहार किया करते हैं, मेरे ही कारण गोलोक कहलाता है। मेरे इन रूपोंके विषयमें वैदिक विद्वानोंमें मतभेद बना हुआ है। किन्हींकी मान्यता है कि ये गायें वस्तुतः पशुजातियाँ हैं और किन्हींका आग्रह है कि वे सूर्यकी रश्मिरूप हैं। मेरा कहना है कि ये दोनों मत यथार्थ हैं—इन दोनोंमें दैविध्यका अवकाश नहीं है। गोलोक तो वैष्णवजनोंका सर्वस्व ही ठहरा, भगवान् विष्णुका नित्यवृन्दावनलोक, परन्तु यह पुराणकी कल्पना नहीं है, ऋग्वेद भी इस गोलोकसे अपरिचित नहीं है। तभी तो एक वैदिक ऋषि बहुत सींगवाली शीघ्रगामिनी गायोंके निवासभूत लोककी प्राप्तिको अपने जीवनकी चिर अभिलाषाका पर्यवसान मानता है—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।

(ऋग्वेद १।१५४।३)

नाना दिशाओंसे छिटकनेवाली रंगबिरंगी रविरश्मियोंके विचरण-क्षेत्र होनेसे उस विष्णुके तृतीय क्रमको 'गोलोक' माननेका कारण विद्वान् लोग भले ही माने, परन्तु यह यह मैं बताना चाहती हूँ कि उस उर्ध्वतम लोकमें मेरा भी निवास है। यह क्यों न हो ? वह परात्पर ब्रह्म ही जब मेरे पालक होनेके कारण गोपाः नामसे पुकारा जाता है (विष्णुर्गोपाः अदाभ्यः—ऋग्वेद), तब उसके लोकसे मेरा बहिष्कार कर देना कितना अन्याय है। मेरेही रस (गोरस) के पानका परिणत फल हुआ, गीताके ज्ञानका उपदेश। मेरे ही

रक्षा करनेके कारण वह नंदनंदन गोपाल तथा गोविन्द नाम धारण करता है। गोपोंमें सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण वह गोपेन्द्रके नामसे पुकारा जाता है, जो संस्कृतमें प्राकृत नियमानुसार विकृत होकर 'गोविन्द' बन गया है।

इस प्रकार मैं भारतकी आध्यात्मिक संस्कृतिकी प्राण हूँ—उसमें जीवन फूंकनेवाली हूँ। मेरा उपकार क्या कभी भुलाया जा सकता है ?

(४)

मुझे नितान्त आश्चर्य होता है, कि साधारण जनकी तो बात ही न्यारी है, तथाकथित पण्डितजन भी हमारे स्वरूपसे अपरिचित हैं और मेरे विषयमें नाना प्रकारकी धारणाएं रखते हैं, जो शब्दके अज्ञानसे तथा वैयक्तिक स्वार्थके कारण आज भी प्रचलित हैं। इन्हीमें से एक भ्रान्त धारणा है, कि वैदिककालमें मेरा वध किया जाता था और वह भी पूजनीय अतिथियोंके सम्बन्धमें। इस धारणाके पोषक कतिपय शब्द माने जाते हैं, जिनके अर्थकी नासमझीने अनर्थ कर डाला है। ऐसा ही एक बहुचर्चित शब्द 'अतिथि'के प्रसंगमें प्रयुक्त 'गोघ्नः' है। व्याकरणकी पद्धतिसे इस शब्दका अर्थ होता है—'गावो हन्यन्ते यस्मै स गोघ्नः अतिथिः।' बस इस व्युत्पत्तिपर मनचले लोगोंने कल्पनाका किला ही खड़ा कर दिया है, कि प्राचीन भारतमें अतिथिके लिये गायें मारी जाती थीं। शिव ! शिव !! कितनी अनर्थजननी है यह कल्पना !!! मेरे साथ तो इस अर्थमें घोर कृतघ्नता है ही, साथ ही साथ संस्कृत भाषाके ज्ञानका तीव्र अपमान है !!! यह सत्य है, कि अतिथियोंके सत्कारका साधन मैं तथा मेरी पुत्रियां ही हुआ करती थीं, जिनका ताजा दूध अतिथिजनोंकी पूर्ण तृप्तिका उपकरण होता था। प्राचीनकालमें अतिथियोंके सत्कारार्थ गायोंका संग्रह करनेवाला एक विशिष्ट महिपाल अतिथिग्व नामसे इसलिये अभिहित किया जाता था (अतिथ्यर्थं गावो यस्य असौ अतिथिग्वः) अतिथिके संगमें गायोंका संपर्क इससे सिद्ध होता है। बड़ी विलक्षण बात तो यह है कि वैदिक निघंटु (२।१४) में गत्यर्थक धातुओंके बीच 'हन्' धातु आता है, परन्तु वध अर्थ वाले धातुओंमें इसका उल्लेख सर्वथा नहीं है। 'हन्' धातुका अर्थ केवल हिंसा ही नहीं है, प्रत्युत गति भी तो है (हन् हिंसागत्योः)। हिंसा सर्वत्र प्राणत्याग रूप भी नहीं होती, प्रत्युत 'ताड़न' या 'आहनन' अर्थ भी वह प्रकट करती है। अतिथिके उपस्थित होनेपर उसे दूध पिलानेके लिये हम लोग लायी जाती थीं (गति) तथा आनेमें आनाकानी करनेपर हमारा ताड़न भी किया जाता था (आहनन)। यह ताड़न दूधके ही निमित्त नहीं होता था, प्रत्युत दानके लिये भी होता था। उस युगमें अतिथिका सत्कार तथा सम्मान दोनों प्रकारसे किया जाता था—दूधके द्वारा तथा दानके द्वारा। दोनों दशाओंमें आनाकानी करने पर हमारा ताड़न सम्भवतः किया जाता था। 'गोधन' शब्दके व्युत्पत्तिलभ्य इस अर्थपर ध्यान देनेपर भ्रांति कभी हो ही नहीं सकती (गां हन्ति ताड़यति अतिथ्ये दानार्थं ताड़नद्वारा गमयति इति गोघ्नः अतिथिः)।

महाभारतमें रंतिदेवकी कथाको ठीक-ठीक न जाननेके कारण भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। जिस श्लोकने बड़ी गड़बड़ी मचा रक्खी है, वह यों है—

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज। द्वे सहस्त्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं सदा।

(वन पर्व २०८।८)

विना समझे ही लोगोंने हमारी हत्याका दोष रन्तिदेवके माथे मढ़ दिया। यहाँ पशुओंका निर्देश श्लोकके अन्तिम चरणमें है, गायोंका तो नहीं। पशु-सामान्यसे गो-विशेषका ही अर्थ निकाला जाय, तो भी मेरा वध सिद्ध नहीं होता। 'वध्येते' का अर्थ है बाँधी जाती थीं, 'मारी जाती थीं' यह अर्थ नहीं, अनर्थ है। रंतिदेव महाभारतके साक्ष्यपर ही पक्का अहिंसाव्रती राजा था। महाभारतने (अनुशासन, ११५ । ७२-७७) ऐसे अहिंसाव्रती राजाओंकी जो सूची दी है, उसमें रंतिदेवका नाम सादर उल्लिखित है। 'रैवते रन्तिदेवेन——एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम।' (अनुशासन पर्व ११५ ।७७) फलतः जो स्वयं ही अहिंसाका इतना बड़ापुजारी था, वह अपने दरवाजेपर आनेवाले पूजनीय अतिथियोंके लिये मेरी हत्या करेगा ? रन्तिदेव गौओं और वृषभोंका बड़ा भारी दाता था। द्रोणपर्वमें महाभारतका यह कथन क्या विश्वासयोग्य नहीं है—

सहस्रशश्च सौवर्णान् वृषभान् गोशतानुगान्। अध्यर्धमासमददत् ब्राह्मणेभ्यः सतं समाः॥

(द्रोणपर्व ६७ । १०-११)

एक क्षणके लिये 'वध्येते' का अर्थ हिंसक ही मान लिया जाय, तो यह भी 'हिंसन' प्राणत्यागरूप न होकर ताड़नरूप ही मानना चाहिये। 'आलभ्यन्त शत गावः' वाक्यमें 'आलभ्यन्त' का अर्थ 'मारा जाना' जो किया जाता है, वह भी सुसंगत नहीं है। 'आ' पूर्वक लभ् धातुका अर्थ सैकड़ों स्थानों पर स्पर्श करना मात्र है, 'मारना' अर्थ निकलना सरासर अन्याय है। एक दो दृष्टान्त यहाँ उपस्थित करती हूँ—

(क) **ऋषभं पृष्ट आलभ्य ब्राह्मणान अभिवाद्य च।** (उद्योग पर्व ८३ । १०)
यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा बैलकी पीठका आलम्भन अर्थात् स्पर्शन अभीष्ट है।

(ख) **गामालभ्य विशुध्यति।** (मनु—५ । ८७)

नरकंकालके स्पर्शसे उत्पन्न अशुद्धिका परिहार गायको 'आलभ्य' होता है। यहाँ मनुका आशय गायके स्पर्शसे है। हिंसनसे नहीं।

(ग) विवाह संस्कार तथा उपनयनमें बधूके हृदयका तथा माणवकके हृदयका क्रमशः आलम्भन निर्दिष्ट है। जो हिंसन न होकर स्पर्श अर्थका ही बोधक है—

अथास्मे हृदयमालभते। (पारस्करगृहसू० १ । ८ । ५ तथा २ । २ । १६)

(घ) मीमांसादर्शनके भाष्य (१ । २ । १०) में शबरस्वामीने आलंभनका अर्थ 'उपयोग' किया है, 'मारण' नहीं—

अज इति अन्नं बीजं वीरुद् वा। तम् आलभ्य उपयुज्य प्रजाः। पशुन् प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः। (शावर भाष्य—१ । २ । १०)

(ङ) 'अक्षान् यद् बभ्रून आलभे (७ । ११४ । ७) में सायणने 'आलभ' का अर्थ स्पर्श करना ही लिखा है।

कहाँतक मैं गिनाऊं ? इस शब्दके एतदर्थक प्रयोगके सैकड़ों दृष्टान्त साहित्यमें भरे पड़े हैं। रंतिदेवके द्वारा मेरा आलंभन इस दृष्टिसे दानार्थ या सत्कारार्थ स्पर्शरूप ही है।

एक बात मैं और कहना चाहती हूँ। वेदने मेरे लिये अघ्न्या शब्दका प्रयोग किया है, जो मेरे 'अहन्तव्य' रूपको ही प्रकट करता है। इसी कारण मैं अही नामसे भी पुकारी जाती हूँ (न हन्यते या सा अही)। समस्त देवता रूप होनेसे पूजनीय होनेके कारण 'मही' मेरा ही अन्यतम अभिधान है ('मह्यते पूज्यते सर्वदेवतात्मकत्वात् उपभोग-साधनत्वाद् वा इति मही'—कृत निघंटु-व्याख्या, पृ० २४५)। वैदिक आर्योंने, मुझे अभ्यर्थनाका भाजन माना है; हिंसनका नहीं। उत्तररामचरितके 'वत्सतरी मडमडायिता' वाक्यने भी लोगोंके हृदयमें संदेहका झमेला खड़ा कर दिया है। 'वत्सतरी' का वहाँ हनन नहीं हुआ था। गायका दूध प्रायः अतिथिके कार्यमें लग जानेके कारण वह वत्सतरी (बछिया) के लिए बचा नहीं होगा—इसलिए वह भूखसे बिलबिलाती रही होगी। भवभूतिके इस सारगर्भित वाक्यका यही अर्थ है। इसे अन्यथा मानना उचित नहीं है।

मेरा विश्वास है, कि मेरी यह रामकहानी मेरी ही जबानी सुनकर आप लोगोंको विश्वास हो गया होगा, कि मेरी व्यापकता विश्वके कोने-कोनेमें अत्यंत प्राचीनकालसे है तथा भारतकी इस पवित्रभूमिमें वेदानुयायियोंके द्वारा मेरा सम्मान, सत्कार सदासे होता रहा है। प्राचीन भारतमें कभी भी मेरा वध नहीं होता था। आजकल जैसी मेरी दुरवस्था है, वैसी प्राचीन युगमें कभी नहीं थी। आप लोगोंको चाहिए, कि मेरी वह वैदिक पूज्य भावना पुनः जाग्रत करें। तथास्तु। अपनी कथाकी इतिश्री करनेके पूर्व मैं इतना और कह देना चाहती हूँ, कि मुझे उन अलंकारिकोंकी बुद्धिपर तरस आती है, जिन्होंने खट्वारूढ़ पंचनदीय जन (पंजावी) के लिये मुझे ही उपमान खोज निकला है तथा 'गौर्वाहीक' उदाहरणमें जाड्य, मान्द्य आदि दुर्बुद्धि-सूचक दोषोंको मुझे आकर मान रखा है। तथ्य इससे कोसों दूर है। मेरे नामका एक अर्थ 'वाग्देवी सरस्वती' भी तो है, जिसके स्वामी होनेके कारण महात्मा तुलसीदासजी 'गोस्वामी' की प्रौढ़ पदवीसे मंडित किये गये थे। फलतः बुद्धिकी अधिष्ठात्री होनेसे मेरी यह शोधपूर्ण ज्ञानवर्धनी रामकहानी किसी भी विद्वान् आलोचकके लिये आश्चर्यका विषय न होना चाहिये।

हे माँ !

हे मां, मैं नहीं जानता, कि तुम जगतके संपूर्ण
प्राणियोंकी मां हो।
पर मैं यह अवश्य जानता हूँ मां, कि तुम
मेरी मां हो।
यह ज्ञान-यह चेतना तुम्हींसे मुझे
प्राप्त हुई है मां !
क्योंकि मैं जो एक सजीव और चेतनामय पिण्ड हूँ,
वह तुम्हारे ही स्नेह और दयासे प्रथित हुआ हूँ। मुझ पिण्ड
को सजीव और सचेतन रखने वाली सांसोंमें
तुम्हारी शक्ति संचारित होती रहती है माँ !
अतः यदि मैं यह कह दूँ तो क्या आश्चर्य है मां,
कि मैं तुम हूँ तुम !!

"नन्दगाँवमें जाते ही श्रीमद्भागवत, और पुराणोंकी वे कथायें साकार हो उठती हैं जो पाँच सहस्र वर्ष पूर्व, नन्दगाँवमें घटित, श्रीकृष्ण भगवान्की लीलाओंके आधार पर रची गयी हैं। जब वे कथाएँ साकार हो उठती हैं. तो कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि मनमें रस'का सागर सा उमड़ पड़ता है।"

गोपालकी लीलास्थली-नन्दगाँव

श्रीव्यथितहृदय

नन्दगाँव ! 'नन्दगाँव' के नामसे ही ध्वनित होता है, कि इस गाँवका निर्माण किसी 'नन्द' के द्वारा हुआ है। या तो किसी 'नन्द'के नामपर यह गाँव बसा है, या वे स्वयं इस गाँवमें निवास करते रहे हों, जिसके कारण लोग इस गाँवको 'नन्दगाँव'के नामसे पुकारने लगे हैं। अवश्य, वे कोई प्रतापी पुरुष रहे होंगे, अवश्य वे कोई ऐसे तेजस्वी पुरुष रहे होंगे, जिनमें कोटि-कोटि प्राणियोंके प्राणोंको, अपने सत्कर्मोंकी डोरमें बाँध रखनेकी क्षमता रही होगी ! यह 'नन्दगाँव' उनके प्रताप, तेज, और सत्कर्मोंकी आज भी उद्घोषणा कर रहा है। तो फिर आइए, पता लगाएँ, वे 'नन्द' कौन थे ? कौन थे, वे महिमावान पुरुष, जिनके यश और पुण्योंकी डोरमें बँधा हुआ 'नन्दगाँव' आज भी उनके पवित्र नामका स्तवन कर रहा है ? वे महिमावान् पुरुष श्रीकृष्ण भगवान्के पालक—पिता नन्द बाबा थे। वही नन्द बाबा, जो गोकुलमें रहते थे, जिनकी पवित्र गोदको, श्रीकृष्ण भगवान्ने मथुरामें जन्म लेनेके पश्चात् ही अपने मधुर, बालरुदन-स्वरोंसे ध्वनित किया था। वही नन्दबाबा, गोकुलसे नन्दगाँव चले गए थे। चले गये थे यशोदा, श्रीकृष्ण, बल्देवऔर अपने समस्त गोप बंधुओंके साथ। 'नन्दगाँव' उन्हींके नामकी आज भी घोषणा कर रहा है। आज भी उसके नामके मूलमें 'नन्दबाबा'के 'तेज' और 'प्रताप'के साथ ही साथ श्रीकृष्ण भगवान्के किशोर जीवनकी अगणित लीलाएँ स्थान-स्थान पर, बिखरी हुई पड़ी हैं। 'नन्दगाँव'में जाते ही श्रीमद्भागवत और पुराणोंकी वे कथाएँ 'साकार' हो उठती हैं, जो पाँच सहस्र वर्ष पूर्व 'नन्दगाँव'में घटित श्रीकृष्ण भगवान्की लीलाओंके आधारपर रची गयी हैं। जब वे कथाएँ 'साकार' हो उठती हैं, तो कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि मनमें 'रस'का सागर सा उमड़ पड़ता है। क्योंकि उन समस्त कथाओंमें भगवान् श्रीकृष्णकी उन प्रेममूलक लीलाओंका चित्रण है, जो स्वयं 'रस' हैं— स्वयं 'रस'का पवित्र उद्गम हैं।

'नन्दगाँव' नन्दबाबाके 'प्रताप' और 'तेज'के पवित्र स्मृति-चित्रको तो प्रस्तुत करता ही है, श्रीकृष्ण भगवान्के पावन और दिव्य स्वरूपको भी हमारी आँखोंके सामने उपस्थित कर देता है। यही वह नन्दगाँव है, जिसकी गोदमें रहकर श्रीकृष्ण भगवान्ने अपनी प्रेम-मूलक पवित्र लीलाएँ की थीं। 'नन्दगाँव'के पास ही 'बरसाना' है, जो श्रीराधिकाजीकी पवित्र जन्म-स्थली है। 'नन्दगाँव'के पास ही विशाखा, ललिता, और रत्नावली आदि गोपियोंके गाँव भी हैं, जिन्होंने श्रीराधा कृष्णकी पवित्र प्रेम मूलक लीलाओंमें प्रमुख रूपसे भाग लिया था। 'नन्दगाँव'के पास ही कितने ही वे पवित्र स्थान भी हैं, जहाँ श्रीराधा और श्रीकृष्ण भगवान्ने अपनी पावन प्रेम लीलाएँ की थीं। इन लीलाओंके अतिरिक्त 'नन्दगाँव' और उसके आस-पास की संपूर्ण धरती ही श्रीकृष्ण उनके गोप सखाओं, और उनकी गउओंके पद-चिह्नोंसे भरी हुई पड़ी है। यही कारण है, कि 'नन्दगाँव' और उसके आस-पासकी धरती आज भी पग-पग पर तीर्थोंकी रचना करती है। ऐसे तीर्थोंकी रचना करती है, जिनके स्तवन-गीत भक्तों और प्रेमियोंके कंठोंसे नहीं, उनके प्राणोंके भीतरसे निकलते हैं।

'नन्दगाँव' एक छोटासा गाँव है—कुछ ही मनुष्योंकी एक प्राचीत बस्ती है। कच्चे रास्ते, गलियाँ, और अधिकांश गृह मिट्टीके ही बने हैं। कुछ ईंटों, और पत्थरोंके मकान भी हैं, जो बिना पलस्तरके अपने प्राचीनता-प्रेमको प्रगट करते हुए जान पड़ते हैं। बस्तीमें सबसे ऊपर सुन्दर, पत्थरोंका बना हुआ मन्दिर है, जिसमें श्रीकृष्ण और बल्देवजीकी सुन्दर प्रतिमा है। प्रतिमा भव्य और आकर्षक है। प्रतिमाके संमुख जाते ही मन आनंद और हर्षसे भर जाता है। मन्दिर और प्रतिमाके इतिहासके संबंधमें निश्चित रूपसे कुछ प्रगट करना कठिन है, केवल इतनेसे ही संतोषकर लेना चाहिए, कि दोनों ही प्राचीन हैं—अति प्राचीन हैं। पर 'प्राचीन'से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए, कि वह कई सहस्त्रों वर्ष पूर्वका है। हो सकता है, मथुराके 'केशव देव' मन्दिरकी भाँति ही नन्दगाँवके इस मन्दिरको भी उत्थान-पतनके कई झँकोरे सहने पड़े हों। फिर भी इस समय जो मन्दिर है, उसे हम कई सौ वर्षोंका बना हुआ मन्दिर कह सकते हैं।

'नन्दगाँव'का नाम ही केवल प्राचीन है—अति प्राचीन है। श्रीकृष्ण भगवान्के विशाल चरित्रमें, 'नन्दगाँव'का नाम बड़े गौरवके साथ लिया जाता है। श्रीमद्भागवतमें भी नन्दगाँवका उल्लेख है। दूसरे उन सभी पुराणोंमें भी, जिनकी रचना श्रीकृष्ण भगवान्के चरित्रके आधार परकी गई है, 'नन्दगाँव'की चर्चा मिलती है। इससे यह ज्ञात होता है, कि 'नन्दगाँव' अति प्राचीन है। यदि हम उसके नामकी प्राचीनताके सम्बन्धमें पाँच सहस्त्र वर्षों के समयका अनुमान लगायें, तो अत्युक्तिकी बात न होगी। क्योंकि 'नन्दगाँव'का नाम श्रीकृष्ण भगवान्के जीवनके साथ ही जुड़ा हुआ है। पर बस्तीको देखनेसे ऐसा ज्ञात नहीं होता, कि वह पाँच सहस्त्र वर्ष पुरानी होगी। बस्तीके भीतर ऐसे पुराने 'कोट' या ध्वंसावशेष भी प्राप्त नहीं होते, जिन्हें देखकर 'बस्ती'के प्राचीन रूपका कुछ अनुमान लगाया जा सके। खोज और अनुसंधानसे केवल इतना ही ज्ञात होता है, कि नन्दगाँवकी बस्ती जिस पर्वत-खंड पर स्थित है, उसे छोड़कर और कुछ प्राचीन नहीं है। पर यह क्या कम संतोषकी बात है कि 'नन्दगाँव'का नाम अब भी अपनी प्राचीनताका उद्घोष कर रहा है। हो सकता है, पाँच सहस्त्र

वर्षकी लंबी अवधिमें 'नन्दगाँव'के मकान बार-बार बने और बनकर नष्ट हो गए हों। 'नन्दबाबा' जब 'नन्दगाँव'में गये थे, यह ये कहना चाहिए, कि उन्होंने जब इस गाँवको बसाया था, तब वे गोकुलमें ही अपना सर्वस्व छोड़कर आए थे। 'गोकुल'में जब कंसके अत्याचारोंसे उत्पीड़न अधिक बढ़ गया था, और नन्द-यशोदाकी दृष्टिमें बालक श्रीकृष्णके जीवनके लिए अधिक 'भय' उत्पन्न होगया था, तो वे अपने गोप बंधुओं और गउओंको लेकर 'नन्दगाँव' चले गए थे। निश्चय है, कि यहाँ भी उनका जीवन अधिक 'आतंकित' और 'आशंकित' ही रहा होगा। ऐसी अवस्थामें 'कोट' और बड़े-बड़े भवनोंके निर्माणका प्रश्न हीं कहाँ उठता है? फिर तो यही कहना पड़ता है, कि उस समय भी नन्दगाँवमें छोटे-छोटे, कच्चे-पक्के मकान ही रहे होंगे।

'नन्दगाँव' देखनेमें आकर्षक अवश्य नहीं है, पर धार्मिक रूपमें उसका अत्यधिक आकर्षण है। श्रीकृष्ण भगवान्की लीला-स्थली होनेके कारण देशके कोने-कोनेके धर्म-प्राण हिन्दू, प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें 'नन्दगाँव' पहुँचते हैं, और श्रीकृष्ण-बल्देवका दर्शन करके अपने को कृतकृत्य मानते हैं। बाहरके जो भी यात्री मथुरा या ब्रजकी यात्राके लिए निकलते हैं, वे 'नन्दगाँव' अवश्य जाते हैं। 'जन्म अष्टमी' और 'होली' पर 'नन्दगाँव'में विशेष भीड़ एकत्र होती है। बरसानेकी भाँति ही 'नन्दगाँव'की भी होली विशेष प्रसिद्ध है। 'नन्दगाँव'में भी बरसानेकी भाँति लट्ठमार होली होती है, जिसे देखनेके लिए देशके लोग ही नहीं, विदेशी पहुँचते हैं।

'नन्दगाँव'में जो कुछ है, केवल 'लाला' ही 'लाला' है। 'लाला'का अर्थ 'गोपाल' है। नन्दगाँव और आस पासके निवासियोंके जीवनमें 'लाला' अर्थात् 'गोपाल कृष्ण' इतने घुल-मिल गए हैं, कि लोग अपने छोटे-छोटे बालकों को 'लाला', और बालिकाओं को 'लाली' अर्थात् श्री राधिकाके नाम तकसे पुकारते हैं। 'नन्दगाँव'में लालाका 'चमत्कार' भी सुनने को मिलता है। कहा जाता है, कि एक बार नन्दगाँवके एक तीर्थ-पुरोहितने सिंधिया-नरेशसे जब 'लाला'के चमत्कारकी प्रशंसा की, तो सिंधिया-नरेशने 'लाला'की परीक्षा लेनेका निश्चय किया। उन्होंने कई मटकियोंमें मक्खन भर कर, उन्हें तीर्थ-पुरोहितके घरमें रखवा दिया, और घरके चारों ओर सशस्त्र पहरा बिठाकर तीर्थ-पुरोहितसे कहा, "यदि तुम्हारा लाला मटकियोंमें रखे हुए 'मक्खन'को आकर खा जाए, तो मैं समझूँ, कि वह 'सत्य' है।" बेचारा तीर्थ-पुरोहित सशंकित हो उठा। उसने सिंधिया-नरेशसे 'लाला'के संबंधमें बड़ी बड़ी चमत्कारिक बातें कहीं थीं, पर अब तो उसे लेनेके देने पड़ गए। यदि कहीं मटकियोंमें रखे हुए 'मक्खन' को 'लाला'ने न खाया, तो सिंधिया-नरेश न जाने उसे कैसा दण्ड दें। तीर्थ-पुरोहित मन ही मन 'लाला'की प्रार्थना करने लगा। रात भर घरके चारों ओर कड़ा पहरा पड़ता रहा। प्रभात होने पर सिन्धिया-नरेशके सामने मटकियाँ खोली गईं। आश्चर्य, सभी मटकियोंसे मक्खन निकले हुए थे। सिन्धिया-नरेश आश्चर्य-चकित हो गए। सुनते हैं, वे उसी दिनसे 'नन्दगाँव'के 'लाला'के अनन्य भक्त बन गए, और उन्होंने प्रसन्न होकर, मन्दिरकी व्यवस्थाके लिए कई ग्राम दानमें दे दिए।

इसी प्रकारकी और भी कई घटनाओंका, 'लाला'के चमत्कारोंके संबंधमें, वर्णन किया जाता है। जो हो, 'नन्दगाँव' श्रीकृष्ण भगवान्‌की लीला-स्थली होनेके कारण एक सुप्रसिद्ध और पावन-तीर्थके सदृश है। कितना अच्छा होता, कि धर्म प्राण हिन्दू, श्रीकृष्ण भगवान्‌की इस लीला-स्थली को उजड़ने न देते ! इस समय 'नन्दगाँव', उसकी गलियाँ, और उसके आस-पासकी धरती जिस रूप में है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है, कि हम केवल 'अतीत' के वैभवोंकी कथाएँ ही कहना जानते हैं, उनकी रक्षा करना-उनकी रक्षाके लिए अपने आपको मिटाना हमने अभी तक सीखा ही नहीं ! हमारी दृष्टिमें, जब तक हम इसे न सीखेंगे, तब तक हम विश्वके राष्ट्रोंमें उपहासके पात्र बने ही रहेंगे ! तो फिर आइए, अपने तीर्थोंको बनाने-सँवारनेका संकल्प करें। सर्व प्रथम 'नन्दगाँव' को ही अपना 'लक्ष्य' बनाएँ। क्योंकि इसे उन श्रीकृष्ण भगवान्‌की 'लीलास्थली' होनेका महान् सौभाग्य प्राप्त है, जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके नियामक, स्वयं परम पिता परमेश्वर हैं।

●

दो अमर अक्षर 'हरि'

हरेः संकीर्तनं पुण्यं सर्वं पातक नाशनम्।
सर्वं कामप्रदं लोके अपवर्ग फल प्रदम्॥

हरिका पवित्र संकीर्त्तन सब पापोंका नाशक, सब कामनाओंको पूर्ण करने वाला, तथा मुक्तिका दाता है।

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥

जिसने 'हरि', यह दो अक्षर वाला नाम उच्चारण कर लिया उसने मोक्षके लिये कमर कस ली।

यदीच्छसि परं ज्ञानं ज्ञानाच्च परमं पदम्।
तदा यत्नेन महता कुरु गोविन्द कीर्त्तनम्॥

यदि आत्म ज्ञानकी इच्छा है, और आत्म ज्ञानसे परम पद पानेकी इच्छा है, तो यत्न पूर्वक गोविन्दका कीर्त्तन करो।

हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति मंगलम्।
एवं बदन्ति ये नित्यं नहि तान बाधते—कलिः॥

हरे राम, हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण"—ऐसा जो सदा कहते हैं, उन्हें कलियुग हानि नहीं पहुँचा सकता।

[पुराणोंके पृष्ठोंसे]

"श्रद्धा रूपी चक्षु ही प्रभु-दर्शन करते हैं, श्रौर श्रद्धा रूपी भुजा ही उसका स्पर्श करती हैं। श्रद्धा आध्यात्मिक पथको प्रकाशित करती है और आकांक्षीको जन्म-मृत्यु-रूप भवसागरके उस पार पहुँचाती है। यदि प्रभुका साक्षात्कार हो गया तो समझिये कि प्रत्येक वस्तुकी प्राप्ति हो गई।"

राहें परमात्मासे मिलनेकी

संकलित

जीवके संबंधमें यह प्रसिद्ध है, कि वह परमात्माका अंश है। परमात्माका अंश होनेके कारण स्वभावत: 'जीव' के भीतर 'परमात्मा' को पानेकी इच्छा भी प्रगट होती ही रहती है। संसारमें अगणित जीव हैं। यदि इन समस्त जीवोंके कार्योंका मंथन किया जाय तो पता चलेगा, कि मोहान्धकारसे प्रच्छन्न 'जीव' या 'जीवों' के भीतर भी 'सत्कार्य' की प्रवृति प्रसुप्त रहती है, जो कभी-कभी, भूले-भटके, उनके किसी 'सत्कार्य'के द्वारा प्रगट होती है। उन 'जीवोंके संबन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं है, जो अपनी स्वभाभिक अवस्थामें होते हैं, या यों कहिए, कि अपने 'स्वरूप' की भाँति ही 'ज्ञानमय होते हैं। इस कोटिके जीव तो निरन्तर 'सत्कार्यों' में संलग्न ही रहते हैं। इस प्रकार जीवोंके द्वारा सत्कार्योंकी रचना ही उनकी वह उत्कंठा है, जो उनके भीतर परमात्मासे मिलनेके लिए होती है। क्योंकि 'परमात्मा' सत्कार्यों, सद् विचारों, और सद् प्रवृतियोंका ही एक महातेज पुंज-समष्टि है।

संसारके जीवोंके भीतर, सहज आकर्षण देखकर, निर्विवाद रूपमें यह बात कही जा सकती है, कि 'जीव' परमात्माका अंश है, और उसके भीतर परमात्मासे मिलने की उत्कंठायें निरन्तर आन्दोलन उठाया करती हैं। जीव जबसे जगतमें आता है, तबसे लेकर उस समय तक, जब तक वह जगतसे चला नहीं जाता, जानमें-अनजानमें परमात्मासे मिलनेकी राहें खोजनेमें अत्यधिक विकल रहता है। उसके जन्मसे लेकर, मृत्यु तकके कार्योंकी यदि समीक्षाकी जाए, तो उसके समस्त कार्यों पर उसकी विकलताकी छाप दिखाई पड़ेगी। पर थोड़े ही सौभाग्यशाली जीव होते हैं, जिन्हें वे 'राहें' मिल जाती हैं, जिनकी खोजकी उत्कण्ठा उन्हें अत्यधिक विकल बनाये रहती है। अधिकांश जीव उन'राहों'

की खोजमें ही बड़ी विकलताके साथ अपनी 'यात्रा' अधूरी छोड़कर चल देते हैं। पूज्य स्वामी रामकृष्ण परमहंस, और स्वामी शिवानंद सरस्वतीजीने इस प्रकारके जीवोंके लिए 'राहें' खोजनेमें उनकी बड़ी सहायताकी है। यहाँ हम उन्हींके शब्दोंमें उन 'राहों' का चित्र खींच कर रहे हैं, जिन्हें खोजनेमें उन्होंने महान् पुरुषार्थका परिचय दिया है।

पूज्य स्वामी श्रीरामकृष्ण-परमहंसजीने अपने 'लीलामृत' में परमात्माको पानेकी, अपनी स्वानुभूत, वातोंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

'लज्जा, घृणा, भय—इन तीनोंके रहते हुए ईश्वर-लाभ नहीं होता। अत्यंत व्याकुल होकर ईश्वरकी पुकार करो, तव देखो, भला ईश्वर कैसे दर्शन नहीं देता ? पानीमें डुवो दिये जाने पर ऊपर आनेके लिए प्राण जैसे व्याकुल हो उठते हैं, उसी प्रकार ईश्वर दर्शनके लिये हो जायें, तभी उसका दर्शन होता है। सतीका पतिप्रेम, माताका वालकके प्रति प्रेम, और विषयी मनुष्यका विषयके प्रति प्रेम—इन तीनों प्रेमोंको एकत्रित करके ईश्वरकी ओर लगानेसे ईश्वरका दर्शन पा सकते हैं। अरे भाई, ईश्वरको साक्षात् देख सकते हैं। अभी तुम और हम जैसे गप्पें लगा रहे हैं, इससे भी अधिक स्पष्ट रूपसे ईश्वरसे वातचीत कर सकते हैं। मैं सत्य कहता हूँ—शपथ पूर्वक कहता हूँ, ईश्वर-दर्शनके लिए व्याकुलता-अधिक नहीं, तीन ही दिन—नहीं, केवल चौवीस-घंटे—मनमें टिकाओ, कि उसका दर्शन होना ही चाहिए।'

स्वामी शिवानंद सरस्वती द्वारा खोजी हुई 'राह' का चित्र भी उन्हींके शब्दोंमें देखिए :—

"भगवान्की सहायता—जो शक्तिमती और परोक्ष है— आपके लिये प्रस्तुत है। आप केवल 'जप' और 'ध्यान' में नियमित रूपसे लगे रहिये।

दिव्य जीवन रूपी धूपका सेवन कीजिये। निस्वार्थ सेवाका तेल शरीरमें लगाइये। पवित्रताका वस्त्र धारण कीजिये। प्रभु नाम रूपी भोजन कीजिये। ध्यान रूपी अमृतका पान कीजिए, और दिव्यस्रोतमें डुवकी लगाइए।

प्रार्थनासे प्रभु-मिलन की आधी यात्रा पार हो जाती है। व्रतसे आप प्रभुके द्वार तक पहुँच जाते हैं, और दान आपको प्रवेश करनेका अधिकारी वना देता है।

अमरत्वकी सुधा वही पीता है, जिसे आध्यात्मिक पिपासा होती है। शान्ति, संतोष, सत्संग और सत् विचार मोक्ष-दुर्गके चार प्रहरी हैं।

संतोष ही सर्वोत्तम धन-भंडार है। मनकी शान्ति अमूल्य रत्न है और सत्य आपका सर्वश्रेष्ठ मित्र है।

जिससे आत्मोत्थान हो, उसीको 'धर्म' कहते हैं। और यही 'धर्म' आपको परमात्मा का साक्षात्कार कराता है।

श्रद्धारूपी चक्षु ही प्रभु-दर्शन करते हैं और श्रद्धा रूपी भुजा ही उसका स्पर्श करती हैं। श्रद्धा आध्यात्मिक पथको प्रकाशित करती है, और आकांक्षीको जन्म-मृत्यु-रूप भव सागरके उस पार पहुँचाती है। यदि प्रभुका साक्षात्कार हो गया तो समझिए, कि प्रत्येक वस्तुकी प्राप्ति हो गई।

हृदय भगवान्‌का स्वर्णिम-मन्दिर है। मनको सदा व्यस्त रखिए। संतोंका स्मरण करके उनसे प्रेरणा प्राप्त कीजिये। लोभ, स्वार्थ, और कामको त्याग देनेसे शान्तिका मार्ग मिलता है। मनसे निरंतर भगवान्‌का स्मरण कीजिये, हाथोंसे निःस्वार्थ कर्म कीजिए, और ओठोंसे प्रभुका नाम तथा सत्यका उच्चारण कीजिए। जीवनमें प्राप्त करने योग्य एक मात्र प्रभु ही हैं। निद्रा और अधिक भाषणको कम कर दीजिए, तो आपको जपके लिए पर्याप्त समय मिल जायगा।"

श्रीस्वामी रामकृष्ण परमहंस, और पूज्य स्वामी शिवानन्द सरस्वती-आधुनिक जगतके आत्म-द्रष्टा संत थे। उनके संबंधमें यह कहा जाता है, कि उन्हें परमेश्वरका सान्निध्य प्राप्त था। अतः यह कथन भी सत्य ही होगा, कि उनकी स्वानुभूत 'राहें' जगतके सभी जीवोंके लिए हितकर और लक्ष्य प्राप्तिमें सहायक सिद्ध होंगी। आइए, उन 'राहों' पर चलें, और यह देखें, कि उन पर चलकर, हम परमात्माकी ओर कहां तक चल सकते हैं।

❁

विश्रामका महत्व

शक्ति संचयका केन्द्र एक मात्र विश्राम है। गहरी नींदके द्वारा विश्राम पाकर शरीरिक श्रम दूर हो जाता है और कार्य करने की क्षमता आ जाती है। शारीरिक विश्राम आवश्यक श्रमसे, मानसिक विश्राम अनावश्यक संकल्पोंके त्यागसे और बौद्धिक विश्राम संकल्प पूर्तिके सुखका त्याग करनेसे प्राप्त होता है। प्राकृतिक नियमानुसार भौतिक विकास भी विश्राममें ही निहित है। प्रत्येक बीज पृथ्वीमें विश्राम पाकर ही विकसित होता है। मृत्यु ही, जो प्राकृतिकविश्राम है, नवीन जीवन देती है। जीवनका सदुपयोग जीवन कालमें ही विश्राम प्रदान करता है, जो नित्य नवीन जीवन का हेतु है।

विश्राम साधन भी है, और साध्य भी, कारण, कि विश्रामसे ही समस्त शक्तियोंका विकास होता है, और उनके सदुपयोगसे अन्तमें मिलता है विश्राम ही; क्योंकि विश्राममें ही जीवन है, चिन्मयता है, नित्य नवरस है।

श्रीमाधव

"राम साहित्यका अनेक मुखी रूप देखनेको मिलता है। नूतन चिंतन तथा धरातलको लेकर कविगण, इसके विकासमें योग-दान देते रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

कल्प भेद हरि चरित सुहाये।
भाँति अनेक मुनीसन गाये॥"

राम-काव्यके प्रगतिशील चरण

डा० श्रीलक्ष्मीनारायण दुबे, एम. ए, पी०. एच-डी, साहित्य रत्न

भारतीय वाङ्मयमें राम-कथाको सर्वाधिक महत्व तथा प्रसार प्राप्त हुआ। देव-वाणी एवं राष्ट्र-वाणीमें तो इस विषयपर विपुल साहित्यका सृजन हुआ, परन्तु प्राकृत, अपभ्रंश, और हमारी प्रादेशिक भाषाओंमें भी इस आख्यानने पर्याप्त महत्ता प्राप्त की। राम-कथाने अन्य देशोंके साहित्यको भी प्रभावित किया, और विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायोंने भी इसे अपने प्रचार और सिद्धान्त निरूपणार्थ प्रयोग किया। 'राम-लीला' जैसी वस्तु विश्वमें दुर्लभ है, जो लोकप्रियताका चरमोत्कर्ष है।

आदि-काव्य "वाल्मीकि रामायण" ही इस संदर्भका मूल स्रोत है। संस्कृतमें इस कथाको लेकर महाकाव्य, नाटक, श्लेषकाव्य, विलोमकाव्य, चित्रकाव्य, खण्डकाव्य, सन्देशकाव्य, ऐतिहासिककाव्य, व्याकरणकाव्य, चम्पूकाव्य, धार्मिककाव्य और गद्य साहित्य लिखा गया। इसके पुष्कल प्रसारको एक ओर महाकवि जयदेव स्वीकार करते हैं, और दूसरी ओर मैथिलीशरण गुप्त। जयदेव ठीक कहते हैं, केवल रामको ही अपनी सूक्तियोंका पात्र बनानेमें कवियोंका कोई दोष नहीं है, वह तो उनके (रामके) गुणगणोंका ही अवगुण है—

"स्वसुकृतमां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः।"

गुप्त जी भी कहते हैं—

"राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।"

राम-काव्यकी समृद्ध परम्परामें अनेक मौलिक तत्त्व उभरकर आये हैं । ये हमारी उर्वरा उपलब्धियाँ हैं ।

प्रायः सभी राम-काव्यकार रामको अवतार रूपमें ग्रहण करते हैं । पुष्प वाटिका प्रसंग तुलसीकी मौलिक उद्भावना है । 'मानस'में 'राम' जितने उतावले दिखाई पड़ते हैं, उतने 'साकेत'में नहीं । परवर्ती काव्यमें सीताके साथ उर्मिला भी है । 'मानस'में राम-विवाहका विस्तृत वर्णन है । वाल्मीकि संक्षिप्त वृत्तान्त देते हैं । गुप्तजी और नवीन जी संकेत-मात्र करते हैं ।

अवधपुरीका विस्तृत वर्णन वाल्मीकि और गुप्त जी करते हैं । मानसकार उल्लेख मात्र करते हैं । किसीका ध्यान जनकपुरीकी ओर नहीं जाता । 'नवीन' और 'अरुण'की यह उपलब्धि है कि वे जनकपुरीका पर्याप्त वर्णन करते हैं ।

मानसकार राम-अभिषेकमें देवगणोंको विघ्न डालते बताते हैं । 'रामायण मंजरी'में मंथराके कुटिल प्रयत्नोंका सविस्तार वर्णन है । 'उदार राघव'की भी यही स्थिति है । साकेतकार कैकयी-मंथरा-संवादको मनोवैज्ञानिक भूमिका प्रदान करते हैं । उर्मिलाकार तो मंथराका नाम भी नहीं लेते, और वरदान-अभिशापको औपचारिकता मात्र मानते हैं ।

आधुनिक काव्यकार घटनाओंको स्वाभाविक और तर्क-संगत बनाता है । इसीलिए चित्रकूट-सभामें साकेतकार कैकयीका व्यक्तित्व उभारते हैं, और बादमें हनुमानके आकाश-मार्गमें उड़नेको योग-सिद्धि सम्बन्धी विश्वासको व्यक्त करते हैं ।

वाल्मीकि राम-रावण युद्धको नर और राक्षसका युद्ध मानते हैं । 'मानस'में उसे देव-दानव संघर्षके रूपमें प्रतिपादित करते हैं । साकेतकार उसे नरसे नरका द्वन्द्व मानते हैं । 'नवीन' उसे आर्य और अनार्य जातिके युद्धके रूपमें ग्रहण करते हैं ।

रामकाव्यके प्राचीन और मध्यकालीन वातावरणमें बहुत अन्तर आ गया है । रावण-वधके पश्चात्, सीता-शुद्धिको लेकर, अनेक बातें उठाई गई हैं । 'रामायण मंजरी'में राम सीताको किसीके पास भी रहनेकी स्वतंत्रता दे देते हैं । 'महिकाव्य'में विवाह करनेकी भी अनुमति दे देते हैं । 'अभिषेक' में तो राम सीताको लंकामें छोड़ देना चाहते हैं । 'आश्चर्य चूणामणि'में राम, सीताको चरित्रहीन मान बैठते हैं और सुग्रीव, लक्ष्मण तथा हनुमान दण्डका परामर्श देते हैं । मानसकार इन लज्जायुक्त प्रसंगोंमें नहीं पड़े हैं और आधुनिक राम-गायकोंने सीताको अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया । तुलसीकी पतिपरायणा सीताकी मान्यता है—

'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी ।
तैसइ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥'

गुप्तजीकी सीता स्वावलम्बिनी है । वह गांधीवादी तत्त्वोंसे भी सम्मिश्रित है—

'सब ओर लाभ ही लाभ बोध-विनिमय में,
उत्साह मुझे है विविध वृत्त संचय में,
तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम करते—बने गान की लय में ॥'

'हरिऔध'ने 'वैदेही वनवास', निरालाने 'पंचवटी प्रसंग', और चन्द्रप्रकाश वर्माने 'सीता'में इस महान नारीके त्याग और करुणाको प्रस्फुटित किया है। वाल्मीकिने तो सीता 'सीता'में इस महान नारीके त्याग और करुणाको प्रस्फुटित किया है। वाल्मीकिने सीताको नायकत्व ही प्रदान किया है।

कैकयीके साथ मानसकार न्याय नहीं करते। संस्कृत-काव्योंमें उसके प्रति कहीं-कहीं सहानुभूति मिलती है। उसकी कोमलता तथा वात्सल्यको स्पष्ट किया गया है। 'बाल रामायण', 'महावीर चरित', 'अनर्घ राघव', 'प्रतिमा' आदि नाटकोंमें उसकी निर्दोषिता भास्वर बनायी गई है। 'रामायण मंजरी' उसकी बुद्धिके फेरका कारण ब्राह्मण शापनिसपति करती हैं। आधुनिक काव्योंने कैकयीको विशेष आलोक दिया। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने 'कैकयी' महाकाव्यकी रचना की। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र भी 'साकेत सन्त' में उसकी महिमा स्वीकार करते हैं। गुप्तजीने उसकी व्यथाको इन शब्दोंमें प्रकट किया है—

"युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुलमें भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्ममें सुने जीव यह मेरा,
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थने घेरा।'

सद्‌गुरुशरण अवस्थीने 'मंझली महारानी' नामक कृतिकी रचना की।

प्रत्येक कविने अपने काव्य कौशलसे मौलिकता तथा नूतन प्रसंगोदभावनाओंको स्थान दिया है। युगके साथ कृति भी बदली हैं। राम-साहित्यका अनेक मुखी रूप देखनेको मिलता है। नूतन चिन्तन तथा धरातलको लेकर कवि-गण, इसके विकासमें योग-दान देते रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदासके शब्दोंमें—

"कल्पभेद हरि चरित सुहाये,
भाँति अनेक मुनीसन गाये।'

भक्तिकी महिमा

भक्तिकी महिमा अतुल अपार।
वारांगना-प्रीति तें रीझे, हरि साँचे रिझवार॥
अबलौं अबुध रिझावन भोगी स्नोगलि रही गँवार।
सपनें निरखि स्याम-सुन्दरता बिसरी सब संसार॥
प्रेम-मगन सो भई बावरी, सज सोरह सिंगार।
कर इकतार झांझ लै निकसी उमग्यौ रस-भंडार॥
नाचि नाचि गावत जमुना तट प्रिय-गुन-नाम उदार।
अपलक नैन, भूलि अग-जग, मन मोहन रही निहार॥
प्रगटे स्याम मुदित मन निरखन प्रीति-रीति सुख-सार।
लगे बहावन भरि मुरली मग मधुर अमिय-रस-धार॥

—कल्याणसे

"दुःखोंके बीच जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखोंके बीच जो कामनासे मुक्त है, राग, भय, और क्रोध जिससे बाहर निकल गये हैं, वही स्थित-धी मुनि है। जो, चाहे उसे शुभ प्राप्त हो, या अशुभ, सभी अवस्थाओंमें उनसे अलिप्त रहता है— न तो उनसे घृणा करता है, और न उनमें रस लेता है—उसकी बुद्धि ज्ञानके भीतर दृढ़ रूपसे स्थित हो गई है।"

गीताकी समता

श्रीअरविंद

ज्ञान, निष्कामता, निर्वैयक्तिकता, समता, स्वतःस्थित अंतर शान्ति और आनंद, प्रकृतिके त्रिगुणके मायाजालसे छुटकारा या कम-से-कम उससे ऊपर उठे रहनेकी स्थिति-यह सब कुछ मुक्त पुरुषके लक्षण हैं, और इसलिये यह सब लक्षण उसके समस्त कर्मोंमें विद्यमान रहेंगे। यह आत्माकी अविचल शान्तिके आधार हैं। वह शांति, जिसे आत्मा संसारकी समस्त क्रियाओं, आघातों, और शक्ति-संघर्षोंसे घिरा हुआ होने पर भी अपने भीतर बचाये रहता है। समस्त क्षरभावोंके भीतर ब्रह्मका जो सम अक्षरभाव विद्यमान है, उसको यह शांति प्रतिभासित करती है, और यह शांति उस अविभाज्य और सम एकताकी है, जो विश्वके समस्त बहुत्वोंके भीतर सर्वथा निहित है। कारण, जगत्के करोड़ों भेदों और वैषम्योंके बीच सम रहनेवाला और सब कुछको सम बनानेवाला आत्मा ही वह एकता है, और आत्माकी यह समता ही एकमात्र वास्तविक समता है।

इसीलिये गीतामें कर्मयोगके तत्वोंमें समत्वका अत्यधिक महत्व दिया गया है। समता ही लक्षण, और मुमुक्षुकी कसौटी भी है। जहाँ कहीं भी आत्मिक विषमता है, वहाँ दिखलाई पड़ती है। प्रकृतिके गुणोंकी किंचित विषम क्रीड़ा, कामनाका वेग, वैयक्तिक इच्छा, भावना तथा कर्मका खेल, सुख-दुःखका चक्र अथवा वह उद्विग्न या उद्वेगकर हर्ष, जो सच्चा आध्यात्मिक आनंद नहीं, वरन् एक मानसिक तृप्ति है, और जो अनिवार्यतः अपने पीछे-पीछे अपना प्रतिपक्षी या प्रतिक्रिया स्वरूप अतृप्ति लाता है। जहाँ कहीं भी आत्मिक विषमता है, वहाँ ज्ञानसे स्खलन है, सर्वसमाहारक और सर्वसमन्वयकारक ब्रह्मके एकत्व और वस्तुओंकी एकमयतामें सुप्रतिष्ठित रहनेका अभाव है।

गीता जिस समताका निर्देश करती है, वह अपनी प्रकृतिमें आध्यात्मिक है, अपने आचरण और ग्राह्यतामें उच्च और सार्वभौम है, और यही इस विषयमें गीताके उपदेशको विशेष स्वर प्रदान करती है।......दिव्य शान्तिके तीन पद और साधन हैं:—तितिक्षा,

उदासीनता और नति। गीता अपने समन्वयके उदार ढंगमें इन सबका समावेश कर लेती है, और अपनी आत्मिक गतिके आरोहणके क्रममें इन्हें संग्रथित कर देती है। ऐसा करते समय वह प्रत्येककी जड़ अधिक गहराईमें जमाती, उनका दृष्टिकोण अधिक विशाल बनाती तथा उन्हें अधिक सार्वभौम और परात्पर अर्थवत्ता प्रदान करती है।

सामान्य मानव आत्माको प्राकृत जीवनके चिर- अभ्यस्त विक्षोभोंसे एक तरहका सुख मिलता है, और क्योंकि उसे उसमें सुख मिलता है और इस सुखसे सुखी होकर वह निम्न प्रकृतिकी अशांत क्रीड़ाको अपनी अनुमति देता है, इसलिये त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी यह क्रीड़ा सदा होती रहती है। कारण, प्रकृति जो कुछ करती है, वह केवल अपने प्रेमी और भोक्ता पुरुषके सुखके लिये ही करती है और उसीकी अनुमतिसे करती है। किन्तु इस सत्यको हम पहचान नहीं पाते, क्योंकि जब प्रतिकूल विक्षोभका सचमुचमें आघात होता है, शोक, क्लेश, असुविधा, दुर्भाग्य, विफलता, पराजय, निंदा, अपमानकी वेदनाएँ होती हैं, तब मन आघात खाकर पीछे हटता है, और जब सुखद संक्षोभ पैदा होते हैं, जैसे हर्ष, सुख, हर प्रकारकी तुष्टि, समृद्धि, सफलता, जय, गौरव, प्रशंसा आदि, तब मन उन्हें गले लगानेके लिये उछल पड़ता है; पर इससे इस सत्यमें कोई अंतर नहीं पड़ता कि अंतरात्मा जीवनमें सुख लेता है और यह सुख मनके द्वंद्वोंके पीछे सदा विद्यमान रहता है।...हमारे मनको जीवनके भीतर जो सुख मिलता है, उसका रहस्य यही है कि हमारा अंतरात्मा द्वंद्वोंमें आनंद लेता है।

इस मनसे यदि कहा जाय, कि इन सब विक्षोभोंसे ऊपर उठो और विशुद्ध आनंदमय आत्माके सुखको प्राप्त करो, जो सदा ही गुप्त रूपसे इस द्वंद्वमय जीवनमें तुम्हें बल देता और तुम्हारा स्थायित्व बनाये रखता है, तो वह तत्काल इस आवाहनसे पीछे सरक आयेगा। उसे यह विश्वास नहीं होता, कि ऐसी द्वंद्वरहित स्थिति हो सकती है, अथवा वह समझता है कि, तब जीवन 'जीवन' नहीं होगा, जगत्‌में अपने चारों ओर उसे जो बहुरंगी जीवन दिखलायी पड़ता है, और जिसमें रस लेनेका उसे अभ्यास है, वह तो बिलकुल ही नहीं होगा, अपितु वह कोई ऐसी वस्तु होगी, जिसमें कोई स्वाद न हो, कोई लज्जत न हो। अथवा वह समझता है कि, वह प्रयास उसके लिये बड़ा कठिन होगा। ऊपर उठनेके लिये जो संघर्ष करना पड़ेगा, उसके भयसे वह सहम जाता है। यहाँ तक, कि उसे सच माननेमें भी उसे कठिनाई पड़ती है।

जिस क्रियाके द्वारा हम निम्न प्रकृतिके विक्षोभोंसे बाहर निकल सकते हैं, वह अवश्य ही एक ऐसी क्रिया होगी, जो हमारे मनमें, हमारी भाविक प्रकृतिमें हमारे अंतरात्मामें समत्वकी प्रतिष्ठा करेगी। परंतु यह बात ध्यानमें रखनेकी है, कि यद्यपि अंतमें हमें निम्न प्रकृतिके गुणोंके ऊपर उठ जाना है, फिर भी प्रारंभिक अवस्थामें हमें इन तीनों गुणोंमेंसे किसी एकको अपना साधन बनाकर सूत्रपात करना है। समताका आरंभ सात्विक हो सकता है अथवा राजसिक या तामसिक। क्योंकि मानव प्रकृतिमें तामसिक समताका होना भी संभव है।......

अकेले तामसिक समताके भीतर वास्तविक मुक्ति नहीं है, किन्तु इसे यदि प्रकृतिके परे स्थित अक्षर ब्रह्मकी महत्तर स्थिति, सत्यतर शक्ति और उच्चतर आनंदके बोध द्वारा सात्विक बनाया जा सके तो, आरम्भ करनेके लिये तामसिक समता भी एक शक्तिशाली साधन होगी । पर इस प्रकारकी चेष्टाकी स्वाभाविक गति संन्यासकी ओर होती है, जीवन और कर्मोंके त्यागकी ओर, न कि प्रकृतिके जगत्में कामनाके आंतर त्यागके साथ सतत कर्मण्यताकी एकताकी ओर, जिसे गीता प्रतिपादित करती है । फिर भी गीता इस प्रकारके संन्यास और त्यागको स्वीकार करती, और उसे भी एक स्थान देती है । जरा-मरणके अभिशापसे मुक्त होनेके लिये तामसिक वैराग्य-भावसे भी जो तपस्या करते हैं— "जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य पतन्ति ये"—उनकी साधनाको भी गीता स्वीकृति देती है । किंतु यह लाभप्रद तभी हो सकता है, जब साथ ही साथ एक उच्चतर अवस्थाकी सात्विक अनुभूति हो, और भगवान्‌के अस्तित्वमें ही आनंद और आश्रय लिया जाय— "मामाश्रित्य ।" तब जीव अपनी इस जुगुप्सा द्वारा एक उच्चतर स्थितिको प्राप्त होता है, त्रिगुणसे ऊपर उठकर और जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त होकर अपनी आत्मसत्ताका अमृतत्व भोगता है—"जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।" पर सब किसीको समान भावसे वैराग्य लेने, और संसारसे घृणा करनेके उपदेशके प्रचारका एक संकट भी है, जिससे अनधिकारी जीवोंमें तामसिक दुर्बलता और पलायन वृत्ति पैदा होती है, उनकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न होता है, जीवनमें आस्था और पुरुषार्थ करनेकी उनकी शक्ति क्षीण होती है, जिसकी मानव आत्माको आवश्यकता है । किंतु जो आत्मा अधिकारी हैं, उनकी राजसिक आसक्तिकी तीव्र लगनका हनन कर यह तामसिक वैराग्य एक उपयोगी आध्यात्मिक उद्देश्य सिद्ध कर सकता है । तब उनके द्वारा सृष्टि शून्यमें आश्रय ढूँढ़ते हुए वे भगवान्‌की पुकार सुन सकते हैं:—"इस अनित्य और असुख लोकको प्राप्त हुए जीव ! तू मेरी ओर मुड़, और मुझमें अपना आनंद प्राप्त कर—"अनित्यंसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।"

फिर भी इस क्रियामें समता केवल इसी बातमें है, कि यह जगत् जिन-जिन पदार्थोंसे बना है, उन सबसे समान भावसे विमुख हुआ जाय । इसमें उस शक्तिका समावेश नहीं होता, जिससे हम जगत्‌के सुखद या दुःखद सब स्पर्शोंको समभावसे, बिना किसी आसक्ति या उद्विग्नताके ग्रहण कर सकें, जो गीताकी साधनाका एक आवश्यक तत्व है । इसलिये यदि हम तामसिक विरतिसे ही आरंभ करें—जिसकी कोई भी आवश्यकता नहीं—तो भी इसका उपयोग किसी महान् प्रयासमें प्रवृत्त होनेके लिये एक आरंभिक प्रेरणाके ही रूपमें किया जा सकता है, किसी स्थायी निराशावादी भावसे नहीं । वास्तविक साधना तब आरम्भ होती है, जब हम जिन वस्तुओंसे पहले भागना चाहते थे, उन्हें अपने अधिकारमें करनेका प्रयत्न करते हैं । इसी विंदुपर एक प्रकारकी राजसिक समताकी संभावना उत्पन्न होती है, जो अपने निकृष्टतम रूपमें, आत्म-प्रभुत्व एवं आत्म-संयम प्राप्त करनेवाले, ऐन्द्रिय विषयों और दुर्बलतासे ऊपर उठने वाले वीर-स्वभावका गर्व है । किन्तु वीराचारी आदर्श इसी आरम्भ-विंदुको पकड़ता है, और इसीको, वह निम्न प्रकृतिकी समस्त दुर्बलताओंकी आधीनतासे, जीवको सर्वथा मुक्त करनेका प्रधान साधन बनाता है । तामसिक निवृत्ति जगत्‌के सुख और दुःख दोनोंसे किनारा कसती तथा उनसे भागना चाहती है, राजसिक वृत्ति उन्हें

सहने, उन्हें काबूमें ले आने और उनके ऊपर उठनेके लिये उनका सामना करती है। वीराचारी साधना कामनाओं, और विषयोंको मल्लकी तरह अपने आलिंगनके लिये ललकारती है और उन्हें अपनी भुजाओंमें दबाकर चकनाचूर कर देती है।

गीता अर्जुनके क्षात्र स्वभावको चुनौती देती है। इसी वीरोचित क्रियासे अपना प्रारंभ करती है। गीता उसे कामना रूपी महाशत्रुका समना करने और उसका वध कर देनेके लिये ललकारती है। समताका उसका पहला वर्णन वीराचारी दार्शनिकके तुल्य वर्णन है-"दुःखोंके बीच जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखोंके बीच जो कामनासे मुक्त है, राग, भय, और क्रोध जिससे बाहर निकल गये हैं, वही स्थितधी (स्थिर-बुद्धि) मुनि है। जो, चाहे उसे शुभ प्राप्त हो या अशुभ, सभी अवस्थाओंमें उनसे अलिप्त रहता है, न तो उनसे घृणा करता और न उनमें रस लेता है, उसकी बुद्धि ज्ञानके भीतर दृढ़ रूपसे स्थित हो गयी है।" गीता एक स्थूल दृष्टांत देते हुए कहती है...यदि कोई निराहार रहे तो इंद्रियोंका विषय उस पर प्रभाव नहीं डालेगा, पर इन्द्रियोंका जो अनुराग है, रस है, वह तो तब भी रहता है। आत्माकी परम स्थिति तभी प्राप्त होती है, इजब न्द्रियों द्वारा आचरण करते हुए भी वह उनके भोग्य विषयसे—"अर्थ" से अपनेको अलग रख सके, और मोहका, आस्वादनके सुखकी कामनाका परित्याग.कर सके। विषयों पर ज्ञानेन्द्रियोंका प्रयोग करने, आत्माके वशमें हुई तथा राग-द्वेषसे मुक्त इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें रमण करनेसे व्यक्ति आत्मा और स्वभावकी वह मधुर निर्मलता प्राप्त कर सकता है, जिसमें राग और दुःखका कोई स्थान नहीं होता। सब कामनाएँ आत्मामें वैसे ही प्रवेश करेंगी, जैसे नदी-नद समुद्रमें प्रवेश करते हैं, और तब भी आत्माको रहना होगा अचल-प्रतिष्ठ, परिपूरित पर अक्षुब्ध, इस प्रकार अंतमें सब कामनाओंका त्याग किया जा सकता है।

इस बात पर बार-बार बल दिया गया है कि काम, क्रोध, भय, मोहसे छुटकारा पाना मुक्त-पद लाभ करनेके लिये अत्यंत आवश्यक है, और इसलिये हमें इनके आघातोंको सहना सीखना होगा और यह कार्य बिना इन आघातोंके कारणोंका सामना किये नहीं हो सकता—"जो कोई यहाँ इस शरीरमें ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होने वाले वेगको सह सकता है, वही योगी है, वही सुखी है।" इसका है तितिक्षा, अर्थात् सहनेका संकल्प और शक्ति। "शीत और उष्ण, सुख और दुःख उत्पन्न करने वाले जो भौतिक स्पर्श हैं, वे अनित्य हैं, आते और जाते रहते हैं, इन्हें सहना सीखो। जिस पुरुषको ये व्यथित या दुखी नहीं करते, सुख-दुःखमें जो सम और धीर रहता है, वही अमृतत्वको पानेके योग्य होता है।" समत्वको प्राप्त हुआ जीव दुःख आने पर उससे बिना घृणा किये उसे सहन करता है, तथा सुख आने पर विना हर्षसे फूले हुए उसे ग्रहण करता है। भौतिक विकारोंको भी सहिष्णुता द्वारा वह वशमें लाता है। यह भी वीराचारी साधनाका एक अंग है। जरा, मरण, शोक, दुःख, इनसे वह भागता नहीं, वरन स्वीकार करता है और प्रवल उदासीनता द्वारा उन्हें जीतता है। जीतका कथन है, "धीर सूत्र न मुह्यति" बुद्धिमान उससे घवड़ाता नहीं। वह उनपर विजय प्राप्त करनेके लिये ही उन्हें स्वीकार करता है—"जरामरणमोक्षाय पतन्ति।"

गीता इस वीराचारी साधनाको, इस वीराचारी दर्शनको भी उसी शर्त पर स्वीकार करती है, जिस शर्तपर वह तामसिक वैराग्यको स्वीकारती है। वह यह कि, इसे अपने ऊपर ज्ञानकी सात्विक दृष्टि रखनी होगी। मूलमें आत्म-साक्षात्कारका लक्ष्य होगा, और उसके चरण ऊपर भागवत प्रकृतिकी ओर बढ़ेंगे। वीराचारी साधना, जो हमारी मानव प्रकृति के सहज स्नेह भावको कुचल डालती है, तामसिक ऊब, अफलप्रद निराशावाद, और शुष्क जड़ताकी अपेक्षा कम खतरनाक है, क्योंकि यह कम-से-कम जीवकी शक्ति और आत्म-प्रभुत्व बढ़ानेवाली है। गीताकी साधनामें वीराचारी साधना भी एक तत्वके रूपमें अपना औचित्य प्राप्त करती है, क्योंकि क्षर मानवप्राणीके भीतर अक्षर ब्रह्मका साक्षात्कार कराने (परं दृष्ट्वा) नवीन आत्म-चेतनामें उसे स्थित करनेमें (एषाब्रह्मीस्थितिः) उसे सहयोगी बनाया जा सकता है। "बुद्धिके भी परे जो परम् सत्ता है, उसको बुद्धिके द्वारा जानकर आत्मा पर आत्मा द्वारा शक्ति डालकर उसे स्थिर और निश्चल करो और इस दुर्द्धर्ष शत्रु कामका वध करो।" तामसिक विरति, और युद्ध करने एवं विजय लाभ करने वाली राजसिक प्रवृत्ति, दोनों ही तभी अपना औचित्य प्राप्त करते हैं, जब वे सतोगुणके भीतरसे अपने परे उस आत्म-ज्ञानकी ओर देखते हैं, जो वैराग्य और संघर्ष दोनोंको सार्थकता प्रदान करता हैं।

विशुद्ध दार्शनिक, मनीषी, जन्मजात ज्ञानी अपने अन्तःस्थ सतोगुणको अपना अंतिम औचित्य ही नहीं मानता, वरन् वह आत्म-प्रभुत्वके साधन स्वरूप आरंभसे ही उसका उपयोग भी करता है। वह सात्विक समतासे अपना प्रारंभ करता है। वह भी जड़-भौतिक एवं वाह्य जगत्की क्षणभंगुरता तथा कामनाओंको संतुष्ट करने और सच्चा आनंद प्रदान करनेमें उसकी असमर्थताको भली भाँति देखता है, पर इससे उसके भीतर कोई दुःख, भय, या निराशा नहीं आती। वह स्थिर शांत विवेक द्वारा सब कुछ देख लेता, और बिना किसी घृणा या घबराहटके अपना मार्ग निश्चित कर लेता है। "विषयेन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भोग दुःखके कारण होते हैं; न इनका आदि है और न अंत है; इसलिये ज्ञानी, जाग्रत बुद्धिवाला मनुष्य (बुध) इनमें आनंद नहीं लेता।" गीता अपनी शैलीमें हमें बताती है, "वह देखता है कि वह स्वयं ही अपना शत्रु और स्वयं ही अपना मित्र है। इसलिये वह अपनेको काम-क्रोधके हाथोंमें सौंपकर सिंहासनाच्युत न हो जानेमें सावधानी बरतता है... "नात्मानमवसादयेत्" वह अपनी ही अंतः शक्ति द्वारा अपना उद्धार करता है..."उद्धरेदात्मनात्मानम्"; जिस किसीने अपनी निम्न प्रकृतिको जीत लिया है, वह अपने उच्चतर स्वभावको अपने सर्वोतम सखा और साथीके रूपमें पाता है। वह ज्ञान द्वारा तृप्त हो जाता है, अपनी इन्द्रियोंका स्वामी हो जाता है, सात्विक समता द्वारा योगी हो जाता है, क्योंकि समत्व ही योग है—समत्वं योगं उच्यते। उसकी दृष्टिमें मिट्टी, पत्थर और सोना सब बराबर हो जाते हैं, सर्दी और गर्मीमें, सुख और दुःखमें, मान तथा अपमानमें वह एकसा ही शांत और संतुलित रहता हैं। शत्रु, मित्र, तटस्थ और उदासीन सभीके प्रति वह आत्मभावमें सम होता है; क्योंकि वह देखता है कि ये संबंध अनित्य हैं जो जीवनकी परिवर्तनशील परिस्थितयों द्वारा उत्पन्न होते हैं। विद्या, शुचिता और सदाचारका दंभ और इनके बलपर श्रेष्ठताका दावा, जो मनुष्यको चक्करमें डालते रहते हैं, उसे नहीं

भरमाते। वह सभी मनुष्योंके प्रति समजात्मभाव रखता है, वह चाहे पापी हो या साधु, सदाचारी, विद्वान् और सुसंस्कृत ब्राह्मण हो या पतित चांडाल।" सात्विक समताके विषयमें गीता द्वारा दिये गये यही वर्णन हैं, जो पर्याप्त रूपसे ज्ञानीकी उस शांत दार्शनिक एकताका सार तत्व बतलाते हैं, जिससे जगत् परिचित है।

तब फिर इस समतामें और गीता द्वारा उपदिष्ट वृहत्तर समतामें भेद कहाँ है? वह भेद है बौद्धिक और दार्शनिक विवेक तथा आध्यात्मिक, वैदांतिक, अद्वैत ज्ञान, जिस पर गीताका उपदेश आधारित है। दार्शनिक अपनी बुद्धिके बलसे, विवेकशील मनद्वारा अपना समत्व बनाये रखता है, पर यह भी स्वयं अपनेमें एक संशयशील आधार है। यद्यपि वह सतत सावधान रहकर अथवा मनको अभ्यस्त कर अपने आप पर एक तरहका काबू रखता है, पर वास्तवमें वह अपनी निम्न प्रकृतिसे मुक्त नहीं होता। वह निम्न प्रकृति अनेक रूपोंसे अपनी सत्ता जताती रहती है तथा अपने त्यागे जाने और दबाये जानेका भयंकर प्रतिशोध, जब चाहे, ले सकती है। क्योंकि निम्न प्रकृतिका खेल सदा ही त्रिगुणात्मक है। रजोगुण तथा तमोगुण सात्विक मनुष्य पर आक्रमण करनेके लिये सदा घात लगाये बैठे रहते हैं। "सिद्धिके लिये प्रयत्नशील बुद्धिमान् मनुष्यके मनको हठी इन्द्रियाँ बलात् खींच ले जाती हैं।" पूर्ण संरक्षण तभी प्राप्त हो सकता है, जब सत्वगुणसे किसी उच्चतर वस्तुका, विवेकशील मनसे किसी उच्चतर वस्तुका, आत्माका दार्शनिकके बौद्धिक आत्माका नहीं, वरन् दिव्य ज्ञानीके आध्यात्मिक आत्माका, जो त्रिगुणातीत है...शरण लिया जाय। सबकी समाप्ति आध्यात्मिक परा प्रकृतिमें दिव्य जन्म लेकर करनी होगी।

दार्शनिककी समता वीराचारीकी समता जैसी ही है। जगत्से भागनेवाले उस संन्यासी जैसी नहीं, जो मनुष्यके संपर्कसे बहुत दूर अपनी ही मुक्तिका कामी है। जो मनुष्य दिव्य जन्ममें जनम चुका, उसने भगवान्को केवल अपने भीतर ही नहीं वरन् सभी सत्ताओंके भीतर पा लिया है। उसने सबोंके साथ अपनी एकता अनुभूत करली है, और इसलिये उसकी समता सहानुभूति और एकत्वसे परिपूर्ण होती है। वह सबोंको आत्मवत् देखता है और अपनी अकेली मुक्तिके लिये उत्सुक नहीं रहता; यहाँ तक कि वह उनके सुख एवं दुःख का बोझ भी अपने ऊपर ले लेता है, जिससे वह स्वयं प्रभावित नहीं होता और न उसके वशमें ही आता है। गीताने एकसे अधिक बार इसकी पुनरावृत्तिकी है कि पूर्ण ज्ञानी विशाल समतामें स्थित सदा सर्वभूतोंके कल्याणमें लगा रहता है—"सर्वभूतहितेरतः" सिद्ध योगी वह एकांत जीव नहीं, जो आध्यात्मिक ऐकांतिकताको उत्तुंग अट्टालिकापर आत्मस्थ होकर बैठा हो, वरन् "युक्तः कृत्स्नकर्मकृत," वह जगत्के कल्याणके लिये, जगत्में भगवान्के लिये बहुविध सार्वभौम कर्मोंका कर्त्ता होता है।

गीताकी समता एक विशाल समन्वयात्मक समता है, जिसमें सब कुछ भागवत सत्ता और भागवत प्रकृतिकी समग्रतामें ऊपर उठ जाता है।

●

"मैं पृथ्वी नहीं, मैं जल भी नहीं, वायु भी नहीं, अनिल नहीं, और गगन भी नहीं हूँ। इन पंच भूतोंसे निर्मित शरीरमें ही दुख-सुख आते हैं। किन्तु मैं तो शरीर नहीं। इन सुखों और दुखोंसे मन विचलित होता है। पर मैं मन भी तो नहीं हूँ। और बुद्धि भी तो नहीं हूँ। मैं तो इन सबसे श्रेष्ठ-सर्वोच्च सत्ता आत्मा हूँ, जिसे पीड़ित करना तो दूर रहा, कोई स्पर्श तक नहीं कर सकता।"

आइए, आत्म-बोधमें डूबें

श्रीदेवप्रिय

दुःख, चारों ओर दुःख ही दुःख है, जिस ओर दृष्टि डालिए, जिसके भी हृदयके भीतर झांककर देखिये, दुःखकी ही अग्नि जलती दिखाई पड़ती है। किसीको दुःख है शरीरका, तो किसीको दुःख है मनका। कोई धनके लिए तड़प रहा है, और कोई अधिक धन प्राप्तिके लिए विकल है, कोई आवासके लिएसमाकुल है, तो कोई और अधिक आवासके लिए खिन्न है। कोई संतानके लिए पीड़ित है तो कोई अधिक संतान होने तथा उसके दुराचरणके कारण शोकित है; तात्पर्य यह कि श्रमिक, गरीब, राजा, रंक—जिसपर भी दृष्टि डालिए, जिसके भी अंतरमें प्रविष्ट होकर देखिए, किसी न किसी दुःखकी काली छाया अवश्य नाचती हुई दिखाई पड़ेगी, किसी न किसी असंतोषका स्वर अवश्य निकलता हुआ सुनाई पड़ेगा। दुःखकी ऐसी भयानक प्रतिच्छाओंसे, असंतोषके ऐसे भयद स्वरोंसे जगतका कोना-कोना भरा हुआ दिखाई पड़ता है। एक विचारक—एक तत्वदर्शी जब दुःखकी इन भयानक प्रतिच्छाओंको देखता है, और सुनता है असंतोषके इन भयद स्वरोंको तो, वह स्वयं भी चिंतित होकर सोचने लगता है, कि यह सब क्यों है, क्यों ?

मार्कण्डेय पुराणकी एक कथा में इस "क्यों" का बड़ी ही प्रभावमयताके साथ उत्तर दिया गया है। देखिए, और प्रश्न तथा उत्तर पर विचार कीजिए :—

मदालसाके वीर और यशस्वी पुत्र अलर्क बड़े धर्मनिष्ठ थे, बड़े प्रजा वत्सल थे। उन्होंने दुष्टोंका दमन करके, प्रजाका संरक्षण करके, शत्रुओंको पराजित करके, देशकी सीमा को सुरक्षित करके अक्षय कीर्ति अर्जित की थी। उनके राज्यकी हवामें संतोष, सुख, और

आनंदकी निश्वासें तथा यज्ञोंके सुवासित धूम्रोंकी लहरियाँ चला करती थीं। किन्तु अधिक वर्षों तक सुख और राजकीय वैभवोंका उपभोग करनेके पश्चात् भी अलर्कके मनमें वाण-प्रस्थोपम विरक्तिका संचार नहीं हुआ। इसके विपरीत वे राजकीय सुखों, और वैभवोंके पंकमें और भी अधिक फँसते गए- फँसते गए।

अलर्कके ज्येष्ठ बंधु, पुण्यतपी, और एकांतवासी सुबाहुका मन दुःख और चिंतासे भर गया। अलर्ककी तीव्र भोग-लिप्साको देखकर वे मन ही मन सोच उठे, 'अलर्क! भोगोंके पंकमें फँसा हुआ अलर्क! उसके मनमें किस प्रकार तत्वज्ञानका प्रकाश जागे, किस प्रकार वह भोगोंसे विरक्त हो।" सुबाहु प्रयत्न पर प्रयत्न सोचने लगे, पर जब उन्हें कोई उचित प्रयत्न न सूझा, तब उन्होंने अलर्क को कर्त्तव्यका पाठ पढ़ानेके लिये शत्रुताका आश्रय ग्रहण किया।

सुबाहुने काशीराजके पास जाकर, उनपर अपनी मनोव्यथा प्रगटकी। काशीराजने अपने सैन्यबलको व्यवस्थित और संगठित करके अलर्कके पास दूत द्वारा संदेश भेजा— "सुबाहु ज्येष्ठ भ्राता है। राजसिंहासन पर अधिकार उसका है। अतः उसे राज्य प्रदान करो।"

किन्तु अलर्कने काशी-राजके संदेशकी उपेक्षा की। उन्होंने दूतके द्वारा ही उत्तर दिया—"यदि सुबाहु मेरे पास आकर, विनय पूर्वक याञ्चा करें, तो मैं उन्हें राज्य दे सकता हूँ। पर भय तथा आक्रमणसे तो राज्यको कौन कहे, मैं राज्यकी रजका एक कण भी नहीं दे सकता।"

काशी राज कुपित हो उठे। उन्होंने अलर्क पर आक्रमण करके उन्हें पराजित कर दिया। अलर्क शक्ति, श्री, और धनसे विहीन होकर घाट-घाटके याचक बन गये। दिन-रात चिंता, दिन रात दुःख और दिन-रात मनके ऊपर एक गहरा विषाद। आखिर अलर्कको अपनी माता मदालसाकी दी हुई अँगूठीका स्मरण हो आया। मदालसाने कभी उस अँगूठीको प्रदान करते हुये अलर्कसे कहा था—"प्रिय अलर्क, मैं तुम्हें यह अलभ्य अँगूठी प्रदान कर रही हूँ। यह अँगूठी 'अंगूठी' नहीं, विपत्तिके लिये मंगलका महा कवच है—निराशाकी घड़ियोंके लिए जीवनका सिद्ध यंत्र है। जब चारों ओरसे विपत्तियोंके बादल टूट पड़ें, जब चारों ओरसे निराशाके कर्कश झँकोरे चल पड़ें, तब तू इस अँगूठीके नगको निकालना। नगके भीतर तुम्हें वह यंत्र प्राप्त होगा, जो तुम्हारे निराशा और दुःख-पूर्ण जीवनमें आलोक उत्पन्न करेगा, उसे प्रकाशसे भर देगा।'

अलर्क आशा और नये जीवनकी ज्योतिसे उद्दीप्त हो उठे। उन्होंने स्नान किया, इष्टदेवकी प्रार्थना की, फिर अँगूठीमें जड़े हुए नगको खोलकर उस यंत्रको पढ़ा, जो बड़े कौशलसे किसी वस्तु पर अंकित करके उसके भीतर छिपा कर रखा हुआ था। यंत्रका आशय था—"सर्वांतःकरणसे कामका परित्याग करो। यदि संग-त्यागमें समर्थ न हो तो साधु-संतोंका ही संग करो। सर्वांतःकरणसे कामका परित्याग करो। यदि काम-परित्याग

शक्य न हो तो मुक्ति कामी बनो।" अलर्कको लगा, जैसे वस्तुतः अँगूठीके यंत्रने उनके समक्ष नए पथका उद्घाटन किया हो। अलर्क अपनी माता मदालसाकी आज्ञानुसार संतोंके संग-समागमके लिये निकल पड़े।

अलर्क संत-समागममें डूबे हुये, पुण्य कर्मोंके प्रभाव-वश महातयी, महा पुण्यव्रत-धारी दत्तात्रेयके निकट जा पहुंचे। दत्तात्रेयके चरणोंमें श्रद्धाके पुष्प अर्पित करते हुए उन्होंने निवेदन किया—'प्रभो, मैं आपकी शरणमें हूँ। भोगोंकी तीव्र ज्वालासे मेरे प्राण जल रहे हैं, मुझ पर कृपा करके, मेरा उद्धार कीजिये।"

दत्तात्रेय अलर्ककी प्रार्थना सुनकर मौन रह गये। अलर्क उनके पुनीत चरणोंमें बस गए। दत्तात्रेय प्रतिदिन उपदेश करते, और अलर्क बड़ी तन्मयतासे उनके अमृतोपम उपदेश सुना करते। अंतमें एकदिन सर्वान्तर्यामी दत्तात्रेयने अलर्कको संबोधित करके कहा—'राजन्, अपने भीतर डूबकर देखो, जिस दुःखकी आगसे तुम जल रहे हो, वह क्यों पैदा हुई ? पृथ्वीपते, तुम विचार करो, तुम कौन हो, और तुम्हारे हृदयका यह दुःख क्या है ?"

दत्तात्रेयने अपने ज्ञानपूर्ण शब्दोंसे अलर्ककी आत्माको विलोड़ितसा कर दिया। अलर्क अपनी आत्मामें डूब गये, बाह्यलोकसे अन्तर्जगतमें चले गये। उन्होंने देखा, एक अलौकिक प्रकाश, और उसमें देखा, अपनी सत्ताका वास्तविक रूप। अलर्कका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठा। उन्होंने नेत्रोंको खोलकर मुसकराते हुए निवेदन किया—"पुण्य भाग ! आज मैं धन्य हुआ। आज मेरे नेत्र खुल गए। मैं पृथ्वी नहीं, मैं जल भी नहीं, वायु भी नहीं, अनिल नहीं, और गगन भी नहीं हूँ। इन पंचभूतोंसे निर्मित शरीरमें ही सुख-दुख आते जाते हैं। किन्तु मैं तो शरीर नहीं। इन सुखों और दुःखोंसे मन विचलित होता है। पर मैं मन भी तो नहीं हूँ। और बुद्धि भी तो मैं नहीं हूँ मैं तो इन सबसे श्रेष्ठ-सर्वोच्चसत्ता आत्मा हूँ, जिसे पाड़ित करना तो दूर रहा, कोई स्पर्श तक नहीं कर सकता। अपने ही आनन्दमें निमग्न उस आत्माके लिये तो भोग-स्वाद मिट्टीके सदृश हैं। सर्वशक्तिधर, मैं अपने चारों ओर, इसी सत्यको कोटि-कोटि सूर्योंके समान प्रज्वलित देख रहा हूँ।"

दत्तात्रेय गद्‌गद् हो उठे। उनके रोम-रोममें आनन्द-पुलक उत्पन्न हो गया। उन्होंने अलर्कके मस्तक पर अपना अशीर्पाणि रखते हुये कहा—"अलर्क, अब तुम सुबाहु, साम्राज्य, और पराज्यके संबंधमें भी विचार करो।"

अलर्कने विनयावनत होकर, निवेदन किया—"घट-घट द्रष्टा प्रभो, क्या मेरे अग्रज और क्या मैं ? हम दोनों ही शरीरसे पृथक, निर्लिप्त, आत्मतत्व हैं। अतः यह संपूर्ण दुख, सुख, राज्य, कोष, हाथी, अश्व और सैन्य आदि न मेरे हैं, न मेरे ज्येष्ठ बंधुके और न मेरे शत्रुके। यह सब तो मोहके हैं, अज्ञानताकी निद्राके स्वप्न हैं। एक मात्र आकाश ही जिस प्रकार घट, कुंभ, और कमंडलुके भेदसे अनेक दिखाई देता है, इसी प्रकार यह अद्वैत आत्मा भी सुबाहु, काशीराज, और मेरे शरीरके भेदसे नानारूपोंमें भासमान होता है। यह सब एकके ही अनंत रूप हैं।"

यह है उस 'क्यों'का उत्तर। मार्कण्डेय पुराणकी इस कथाका मंथन करके या एक जाय, तो यही निष्कर्ष निकलता है, कि दुःख चाहे जिस प्रकारका क्यों न हो, उसका का केवल मोह है, आसक्ति है, अज्ञानता है। मनुष्यके मनमें जितना ही अधिक 'मोह' क विस्तार होगा, जितनी ही अधिक गहराईके साथ आसक्ति उसके हृदयके भीतर प्रविष्ट होगी, दुःख भी उसी परिमाणसे उसके पल्ले पड़ेगा। आज मानव-जगतमें जो हा-हाकार है, जो चीत्कार है, उसका एक मात्र कारण है मोह—आसक्ति!! यदि मनुष्य दुःखसे छूटना चाहता है, यदि वह जीवनके दैन्यसे त्राण पाना चाहता है, तो उसे अलर्ककी भाँति 'आत्म-बोध' प्राप्त करना ही होगा! बिना आत्म-बोध किए हुये दुःखोंमे त्राण पाना दुराशा मात्र है। आइये, आत्मबोधके लिये, अपने अंतःकरणमें डूबें। यह कुछ अधिक कठिन नहीं। यदि हम प्रतिदिन, अपनेको चारों ओरसे पृथक कर, अपने हृदयमें ही डूबा करें, तो निश्चय एक न एक दिन, वही प्रकाश हमें भी दिखाई पड़ जाएगा, जिसे किसी दिन अलर्कने देखा था।

●

पंछी

पंछी, तू पिंजड़ेसे बोल,
मुक्ति कामनासे उत्पीड़ित, मन पिंजड़े को खोल!
मत समझो पिंजरे की कड़ियाँ,
हैं पंछी तेरी हथ कड़ियाँ,
मत समझो वंदी-कारामें,
बीत रही हैं जीवन घड़ियाँ।
जरा समझनेकी कोशिश कर, तू पिंजरेका मोल।
पिंजरेकी ही इन कड़ियोंमें,
सार हीन, नश्वर नलियोंमें,
छिपा 'सार' सा तू रहता है,
है राग जैसे कलियोंमें।
खोल, निकल बाहर रे पगले, कहाँ रहेगा बोल।
स्वर गुंजन, मोहक मृदु निःस्वन,
प्यार भरे अधरोंका कंपन,
पिंजरेमें ही सब कुछ होता,
होता है अधिकार-समर्थन,
बोल रहा तेरे स्वरवोंका, स्वर इसमें अनमोल।
प्यार-प्रीतिका यह सिंहासन,
मान भरे हाथोंका आसन,
पिंजरेसे ही है रे पंछी,
तेरा जन-जन पर अनुशासन;
पिंजरेसे अस्तित्व तुहाम्रा, तू पिंजरेका मोल।

"अपने समीप जो साधन, जो शक्ति, जो क्षमता है, उसके सदु-पयोगका ही नाम धर्म है। धर्मके लिए दूसरों पर निर्भर करके, दूसरों से परिग्रह करके जो प्रयत्न चलता है, वह विश्व नियन्ताकी प्रेरणा नहीं है।"

अर्थका प्रयोजन

श्रीचक्र

नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।

(भागवत १। २। ९)

'मुझे परम धर्मात्मा सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ झगड़ू साहके दर्शन करने हैं।' गौरवर्ण आतपमें तपकर ताम्र बन चुका था और क्षीण काया तथा मलिन वस्त्र बतला रहे थे कि उसपर यदि किसीने कृपा की है तो वे ज्येष्ठा देवी (दरिद्रता) ही हैं।

'आप दूरसे आये जान पड़ते हैं और ब्राह्मण लगते हैं। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ।' हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर उस काठियावाड़ी पुरुषने बड़ी श्रद्धासे मस्तक झुकाया। 'झगड़ू साहको आपके दर्शन करने चाहिये। वह कब ऐसा धर्मात्मा और दानी हुआ कि उसके दर्शन करने आप-जैसे ब्राह्मण पधारें। आप इस घरको पवित्र करें। कोई सेवा मैं कर सकूँ तो मेरे अहोभाग्य!'

'उन लोकविख्यात उदारचेतासे आपकी ईर्ष्या उचित नहीं है।' आगन्तुक कैसे जानता कि उसके सामने जो घुटनोंसे ऊपर धोती बाँधे बिना उत्तरीयके किंचित् स्थूलकाय अधेड़ उम्रका बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला व्यक्ति हैं, उसीसे मिलने वह आया है और यदि वह व्यक्ति है, जिसके समुद्री व्यापारकी धाक सुदूर पश्चिमके गौराङ्ग देशोंतक मानी जाती है। आगन्तुकने तो उसे सामान्य व्यक्ति ही समझा था। 'मैं सेठ झगड़ू साहसे मिलकर ही विश्राम करूँगा। आप उनका गृह बतला देनेकी कृपा करेंगे!'

'आपके इस सेवकका ही नाम झगड़ू साह है।' आगन्तुक दूरसे आया है, उसके चरणोंपर धूलिकी परत जम रही है। वह बहुत थका लगता है। उसे अधिक उलझनमें डालना अनुचित मानकर प्रार्थना की गई—'आप भीतर पधारनेकी कृपा करें!'

'आप ?' आगन्तुक दो क्षण तो स्तब्ध देखता ही रह गया सामने खड़े व्यक्तिको। उसने झगड़ूसाहके सम्बन्धमें क्या-क्या सोचा था—कितनी भव्य, कितनी तड़क-भड़क, कितने सेवक-सैनिकों से घिरे व्यक्तित्वकी उसने कल्पना की थी और यह उसके सन्मुख खड़ा ग्रामीण जैसा दीखता व्यक्ति……।

'आप पधारें !' झगड़ूसाहने फिर आग्रह किया। उसे भवनके भीतर जाकर अपनी कल्पनाकी सार्थकता जान पड़ी। राजसदन भी कदाचित् ही उतना सुसज्ज और कलापूर्ण होगा। सेवकोंकी तत्परता—उसने सुना था कि उत्तम सेवक स्वामीके हृदयके भाव समझते हैं और यहाँ वह देख रहा था कि उसके स्वागत-सत्कारमें आतिथेयको कहीं एक शब्द बोलने की अपेक्षा नहीं हो रही थी।

'यह सेठजीका निजी सदन है ?' तनिक अवकाश मिलनेपर एक सेवकसे आगन्तुकने पूछ लिया।

'यह उनका अतिथि-गृह है।' सेवकने बड़े सम्मानसे सूचित किया।

'सेठजी ! आप यदि अन्यथा अर्थ न लें, मुझे एक बात पूछनी थी !' आगन्तुक अपने को रोक नहीं सका था।

'आप आज्ञा करें !' सेठने सरल भावसे कहा।

'आप देशके श्रेष्ठतम श्रीमंतोंमें हैं। स्वदेश एवं विदेशके भी श्रीमंत आपके अतिथि होते होंगे। अनेक नरपतियोंका भी आपने आतिथ्य किया होगा। आपकी अतिथिशाला आपके गौरवके सर्वथा अनुरूप है; किंतु—' दो क्षण आगन्तुक रुका। 'आप जानते हैं कि मैं ब्राह्मण हूँ और धर्मनिष्ठ आर्य गृहस्थ ब्राह्मण अतिथिका सत्कार प्रायः निज सदनमें ही करते हैं। आपने इस परम्परासे पृथक् जो व्यवहार किया है, उसका कुछ कारण तो होगा ? मुझमें कोई त्रुटि—कोई प्रमाद आपने……।'

'नहीं देव !' सेठने आतुरतापूर्वक ब्राह्मणके चरण पकड़ लिये। 'आप दूरसे पधारे हैं और थके हुए हैं। आपकी समुचित सेवा मेरा कर्तव्य है। आप विश्राम कर लें, तब यह जन आपके श्रीचरणोंसे अपने आवासको भी पवित्र करेगा और तब आप स्वयं समझ लेंगे कि देवका सत्कार वहाँ करनेका आग्रह मैंने क्यों नहीं किया।'

× × ×

'देशके अनेक नरेश कठिन स्थितिमें जिनसे ऋण लेते हैं, जिनकी सम्पत्तिका कहा जाता है कि कोई अनुमान नहीं है, उनका यह आवास और जीवन !' आगन्तुकको अपने पूरे जीवनमें ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था।

उसे जहाँ ले जाया गया था—कठिनाईसे ही कह सकते हैं कि वह झोंपड़ी नहीं थी। क्योंकि वह पक्की दीवारोंसे बना घर था, किंतु कुल तीन कक्ष उसमें भोजनशालाके अतिरिक्त और उसमें भी एक पूजन-कक्ष था। उसी कक्षमें कुछ वैभवके दर्शन उसे हो सके थे।

प्रायः आभूषणरहित एक सामान्य नारीने उसके सत्कारमें भाग लिया था। झगड़-साह उन्हें बार-बार 'सती' न कहते तो वह जान भी नहीं पाता कि वही सेठानी हैं। कोई सेवक-सेविका नहीं। कोई विलास-सामग्री नहीं। गुजरात-काठियावाड़में ग्रामीण कृषकके घरमें भी इससे अधिक साज-सज्जा एवं सामग्री मिलती है।

'स्वच्छता, सुव्यवस्था, सौम्यता—अतिथि ब्राह्मण है, अतः उसने केवल एक अनुभव किया कि वह किसी गृहस्थके गृहमें न पहुँचकर देवालयमें पहुँच गया है। देवालयमें वह उपासन कर सकता है, दस-पाँच घंटे ध्यानस्थ रह सकता है; किंतु उसे आवास बनाकर तो रहने योग्य वह अपनेको सचमुच नहीं पाता।

'आप इतने अल्पमें कैसे निर्वाह कर लेते हैं?' युवक अतिथि एक शब्द नहीं बोल सका था उस समय, जब वह सेठके साथ उनके निज-सदनमें गया था। उसने तो रात्रिके प्रथम प्रहरमें अतिथिशालामें अपने पदोंके पास बैठे सेठसे पूछा था।

'इतना वैभव—इतना विस्तार और यह जीवन!' अतिथि सायं-संध्यासे पूर्व सेठके व्यवसायिक कार्यालयमें भी हो आया था। उस गद्दीमें उसने पंक्तियाँ देखी थीं बहीखाता सँभालनेवाले मुनीमोंकी और वहाँ देखा था कि एक व्यावसायिकके प्रबन्ध, प्रशासन, और नरेशके प्रशासनमें क्या अन्तर होता है। सेठका आत्मीय-जैसा सबके साथ व्यवहार उसने देखा तो यह भी देखा कि उनका कितना सम्मान करते हैं उनके सेवक एवं सहचर। उनके प्रत्येक शब्द एवं संकेतको कितनी गम्भीरतासे ग्रहण किया जाता है। वही व्यक्ति यह उसके पैरोंके समीप आ बैठा है और उसका निजी जीवन—निजी जीवनकी सादगी समझनेका प्रयत्न कर रहा था वह।

'अल्प—अल्पमें कहाँ निर्वाह कर पाता हूँ, प्रभु?'—सेठके व्यवहारमें और वाणीमें आडम्बर उसे सर्वथा नहीं दीखा। वे कह रहे थे—'भगवान्‌ने एक सेवा दे दी है। उसका परिश्रम जितना लेना चाहिये, उससे यदि अधिक न लेता होऊँ तो उनकी कृपा है। शरीरकी सुख-सुविधाके लिये कितना अल्प प्राप्त है इस देशके अनेक अभावग्रस्त लोगों को। झोंपड़ियों के निवासी क्या इतनी भी सुविधा पाते हैं? झगड़ूसाह तो अपनी देहके लिये बहुत व्यय करनेवाला बन गया है।'

'किंतु सेठजी! व्यक्तिको पूर्वकृत शुभ कर्मोंसे सम्पत्ति प्राप्त होती है।' अतिथिने अपनी बात कही। 'जिनके भाग्य में धन नहीं है, जिनके पूर्वकृत शुभकर्म नहीं हैं, वे कंगाली भोगते हैं। यह उनका कर्मफल—उनका प्रायश्चित्त, किंतु जिसे पूर्वपुण्यके फलरूपमें अपार सम्पत्ति मिली है, वह उसका उपभोग न करके अभावकी पीड़ा क्यों उठाये?'

'देव, मैंने तो दूसरी ही बात सत्पुरुषोंके मुखसे सुनी है।' सेठने सुनाया।

पानी बाढ़ै नावमें, घरमें बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये; यहीं सयानो काम॥

'श्रीपति तो श्रीनारायण हैं। समस्त सम्पत्ति उन्हींकी है। उनकी कृपा होती है तो वे किसी को अपना मुनीम बना लेते हैं। उन दीनबन्धुके बन्धुओंकी जो सेवा कर सके तो वह मुनीम सच्चा।' सेठने अपने ढंगसे उत्तर दिया। मैं वैश्य हूँ, मैंनें तो यही समझा है।'

'आप कहते ठीक हैं।' आगन्तुक ब्राह्मण था और ब्राह्मण उस समयतक शास्त्रसे विमुख एवं बहिर्मुख नहीं हुए थे। युवक आसनसे उठकर नीचे बैठ गया। 'धनका एकमात्र उपयोग है—यज्ञ और दान। अर्थकी परानिष्ठा धर्म है। धन किसी भी पुण्यसे आया हो—पुरस्कार है और प्राप्त पुरस्कारको वितरित कर देनेमें ही मनुष्य की उदारता, महानता है। उसका उपभोग करने जो बैठा, वह तो कृपण है। आपने आज एक ब्राह्मणको बचा लिया लोभके पाशसे!'

'देव!' सेठ दो क्षण मौन रहे। 'आपने अपने आगमनसे मुझे धन्य किया; किंतु इस जनको सेवाका सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ। परिचय पाना भी चाहता था।'

'तक्षशिलाका स्नातक बनकर तीर्थयात्राको निकल पड़ा था।' युवकने बिना किसी भूमिकाके परिचय दिया। 'पिता-माता बाल्यकालमें परलोकवासी हो गये, किंतु देशमें ब्राह्मण-पुत्रके पालन-शिक्षणकी व्यवस्था करनेवाले उदारचेता कम नहीं हैं। श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करनेके बहुत पूर्वसे—कहना तो यह चाहिये कि तीर्थयात्राके प्रारम्भसे ही आपकी कीर्ति कर्णकुहरोंको पवित्र कर रही थी। इधर आया तो आपके दर्शनकी उत्कण्ठा हुई। मेरा अध्ययन आज पूर्ण हुआ, ऐसा अनुभव करता हूँ।'

'आप प्रमुख पथ त्यागकर केवल एक व्यापारीसे मिलनेमात्रके लिये तो यहाँ नहीं आये होंगे।' सेठने इस बार आग्रह किया कि युवक संकोच त्यागकर उद्देश्य सूचित करे।

'आपका अनुमान अयथार्थ नहीं है।' युवक किंचित् हँसकर बोला। 'तीर्थयात्रा पूर्ण करके गृहस्थ-जीवन स्वीकार करनेकी बात मनमें थी। यह कल्पना ही नहीं थी कि बिना अर्थके भी गार्हस्थ्य चला करता है; किंतु अब आपका गृह देखकर मुझे अपनी अल्पज्ञतापर लज्जा आती है। आप मेरे गुरु इस विषयके।'

'आप मुझे सेवासे वञ्चित करना चाहते हैं!' सेठने भी हँसकर कहा।

'आप धर्मात्मा हैं।' युवक गम्भीर बना रहा। 'एक ब्राह्मणकुमारको आप परिग्रह-के कुपथपर जानेकी प्रेरणा नहीं देंगे। ब्राह्मणके गार्हस्थ्यमें अर्थकी आवश्यकता नहीं है, यह आप अनुभवी होनेके कारण मुझसे अधिक जानते हैं।'

'पञ्चाल धन्य है ऐसे विद्वानोंसे।' सेठने सिर झुकाया। 'किंतु आप मुझ-जैसे एक व्यापारीको यह कैसे समझा देना चाहते हैं कि घर आये अतिथिको रिक्तहस्त चले जाने देनेका अपकर्म मैं स्वीकार कर लूं?'

'आप ज्ञान-दानको दान ही नहीं मानते ?' युवकने पूछा ।

'सर्वश्रेष्ठ दान है वह; जब वह अपनी प्रज्ञासे स्वतः प्राप्त कर लिया जाता है; दान नहीं होता । उसका नाम उपार्जन होता है और वह अपना स्वत्व है ।' सेठने कहा । 'मैंने तो अपने सम्पूर्ण व्यापारमें यही सीखा है । व्यापारी होनेके कारण मेरी दृष्टि अर्थपर ही अधिक रहे तो आपको इसे मेरा स्वधर्म समझकर सत्कृत करना चाहिये ।'

रात्रि-विश्रामका समय देखकर सेठने स्वयं चर्चा समाप्त कर दी । अतिथिका अभिवादन करके उस समय विदा होना ठीक लगा उन्हें ।

× × ×

'मैंने जब तक्षशिलामें आयुर्वेदकी शिक्षा प्रारम्भकी—एक बाल्यचापल्य चित्तमें था ।' दूसरे दिन युवकने विदा होनेसे पूर्व सेठको सुनाया । 'एक समृद्ध चिकित्सालयका स्वप्न था वह । यात्रामें आपकी कीर्ति सुनकर सोचा था कि प्रचुर धन आपसे सहज ही इसके लिये प्राप्त हो सकता है ।'

'बड़ा शुभ संकल्प है । आप यहाँ निवास करें तो इस प्रान्तका सौभाग्य ।' सेठने अवसर खो देना सीखा होता तो इतने समृद्ध वे होते ही नहीं । वे बोलते गये—'मेरा कोई आग्रह नहीं है । आप जहाँ उपयुक्त समझें—जैसी व्यवस्था की आज्ञा करें ।'

'तीर्थाटनका कार्यक्रम मैंने अपने चिकित्सागुरुकी सम्मतिसे बनाया । युवकने सेठकी बात जैसे सुनी ही न हो । 'देशके विभिन्न भागोंमें होनेवाली वनस्पतियों तथा अन्य औषधियोंसे परिचयके साथ लोगोंकी प्रवृत्ति एवं प्रकृतिका अनुभव भी हो गया । मेरे दो सहयात्री संगृहीत ओषधियाँ लेकर पञ्चाल चले गये हैं ।'

'पञ्चाल में ही आप अपना चिकित्सालय स्थापित करें ।' सेठने बिना संकोच स्वीकार किया । उन्होंने दावात खींच ली अपने पास, अपने पञ्चालस्थित प्रतिनिधिको आदेश-पत्र लिखनेके लिये ।

'कलतक जो बात समझमें नहीं आयी थी, अकस्मात् कल रात्रिमें ध्यानमें आ गयी । वैसे मैं अनेक बार श्रीमद्भागवतके पारायणमें उसे पढ़ चुका हूँ—

यात्रार्थमपि नेहेत धर्मार्थं बाधनो धनम् ।

'ब्राह्मणके लिये गृह-निर्वाहकी चिन्ता व्यर्थ है । जीवन-निर्वाह तो उसे करना है, जिसने जीवनका निर्माण किया है और सेठजी ! सृष्टिकर्ताने स्वयं जिसे मुनीम नहीं बनाया है, वह बलात् यह परतन्त्रता अपने सिर ले, अज्ञता ही तो है ?'

झगड़ूसाहने दोनों हाथ जोड़ लिये । उनके-जैसा संयमी, दानी, धर्मात्मा तथ्यको ग्रहण करनेमें न असमर्थ रह सकता था और न उससे संकोच कर सकता था ।

'धर्मका एक तथ्य मैं विस्मृत हो गया था ।' युवक कहता गया । 'अपने समीप जो शक्ति, जो साधन, जो क्षमता है, उसके सदुपयोगका ही नाम धर्म है । धर्मके लिये दूसरोंपर

निर्भर करके, दूसरोंसे परिग्रह करके जो प्रयत्न चलता है—वह विश्वनियन्ताकी प्रेरणा नहीं है। उसकी प्रेरणा होती, उसको वह सेवा लेनी होती तो उसका साधन वह सहज दे सकता था। यह धर्मके नामपर होनेवाला प्रयत्न तो आत्मप्रचारकी प्रेरणा— अहंकी पूजा है।'

'आपकी योग्यताका लाभ तो प्राप्त होना चाहिये रोगार्त जनोंको।' सेठने सविनय कहा।

'मैं उसे अस्वीकार कहाँ करता हूँ।' युवक बोला। 'मेरा शरीर सशक्त है और वनौषधियोंके द्वारा भी रोगनिवारण सम्भव है। जितनी शक्ति मुझे प्राप्त है, उसका उपयोग करनेका कर्तव्य तो मुझे स्रष्टाने सौंप ही दिया है।'

'मुझ-जैसोंको उन्होंने यह व्यवस्था करनेके लिये नियुक्त किया है कि आप-जैसे महा-प्राणोंकी शक्तिका समुचित उपयोग हो जाय।' अब सेठने स्थिर स्वरमें कहा—'आप कहाँ अपना निवास बनायेंगे, केवल इतना सूचित कर दें। आपकी लोकसेवाको जो सहयोग समाजकी ओरसे अनायास प्राप्त होगा, उसे अस्वीकार करना आपके लिये भी उचित नहीं है।'

युवक इस आग्रहको अस्वीकार नहीं कर सकता था। पञ्चाल दुर्भाग्यसे आक्रान्ताओं का बार-बार आखेट हुआ। तक्षशिला भी अब पाकिस्तानमें है। अतः शताब्दियों पूर्वकी इस घटनाका कोई चिह्न—किसी प्राचीन चिकित्सालयका कोई खँडहर पञ्चालमें भूमिके नीचे कहीं दबा पड़ा भी हो तो उसका पता लगा लेना आज सरल नहीं है।

●

गुरु का लोप नहीं होता

सनातन कालसे हमें यह समझाया गया है, कि यह दुनियाँ एक रैन बसेरा है, एक क्षेत्र है, जहाँ अपनी मंजिल की ओर जाते-जाते थोड़ी देरके लिए विश्राम करना है। यह कभी नहीं समझना है कि यह हमारी मंजिल है। इस सीखके बावजूद अनादि अविद्याके कारण हमारी आँखोंके सामनेसे यह महान ध्येय ओझल हो जाता है और इस दो घड़ीके रेन बसेरे को ही हम अपना शाश्वत स्थान मान बैठते हैं। किंतु जब अगली पौ फटती है, तब हम देखते हैं, कि अभी लम्बा रास्ता तय करनेके लिए बचा पड़ा हैं, सराय हमारा घर नहीं है, हमें तो अभी और आगे बढ़ना है।

यह जो आगे बढ़ने की, एक स्थानसे दूसरे स्थान की प्रक्रिया है, यह इस जीवका 'पुनरावर्त्तन' है। जन्म-मरणका चक्र यही है। हमारा आत्मा एक पड़ावसे दूसरे पड़ाव की ओर निरन्तर सतत, अखण्ड चलता रहता है और पूर्णता की खोजमें बढ़ता रहता है।

प्रत्येक अवस्थामें हमें गुरु दर्शन देते हैं। गुरु परमेश्वरके समान ही एक शाश्वत तत्व हैं। ईश्वर ही गुरु हैं, और गुरु ही ईश्वर हैं; इसलिए गुरुका लोप कभी नहीं होता।

—स्वामी श्रीकृष्णानंदजी

"प्रेमके ढाई अक्षरोंमें परमात्माका सब रहस्य छिपा है। प्रेमसे जो भर जाता है, वह परमात्मासे ही भर जाता है । प्रेमके दियेको जलाओ और उसके प्रकाशको फैलने दो। प्रेमसे बड़ा और कुछ भी नहीं है। प्रेमसे पावन और पवित्र और कुछ भी नहीं है। प्रेम परमात्मा है।"

अमृत-मंथन

आचार्य श्रीरजनीश

अमृत मंथन
5. 3011 3.

प्रेमकी परिपूर्णता ही ब्रह्मचर्य है, लेकिन ऐसे पागल लोग हैं जो समझते हैं कि प्रेमको हटा लो तो कामसे मुक्त हो जाओगे, जो लोग प्रेमको हटा लेते हैं वे कामसे ही भर जाते हैं, उनके पास वही रह जाता है, उनका चिन्तन सिवाय उसके और कहीं नहीं जाता, और उनकी काम-शक्तिके सभी सृजनात्मक द्वार बन्द हो जाते हैं, ऐसे जो कुंठा और दमन पैदा होता है, वह जीवनको नर्क ही बना देता है, काम-शक्ति प्रेमके अतिरिक्त और किसी आयाममें रूपांतरित नहीं होती है, और जो प्रेमके द्वार बन्द कर देते हैं, वे अपने ही हाथों उस दिव्य रूपांतरणको अवरुद्ध कर देते हैं। फिर उनका चित्त अत्यंत रुग्ण कामुकतामें ग्रसित हो जाता है। उनके जीवनमें काम एक घाव बन जाता है और उसका घातक विष चित्तकी अचेतन पर्तों तक फैल जाता है। उनके स्वप्न कामुक हो उठते हैं और ऐसे व्यक्ति दिनमें जिस दिशासे स्वयंको बचाते हैं, रात्रिमें उसी दिशामें स्वयंको गतिमान पाते हैं। ब्रह्मचर्य तो दूर, उनका चित्त अत्यंत रुग्ण कामुकताका आवास बन जाता है, और स्मरण रहे कि काम तो एक स्वस्थ जैविक तथ्य है, लेकिन कामुकता एक महारोग है, तथाकथित प्रेम विरोधी ब्रह्मचर्य इसी महारोगमें ले जाता है।

प्रेमके अतिरिक्त कामकी ऊर्जाकी यदि उसके जैविक रूपसे स्थानांतरित किया जाय तो वह विध्वंसात्मक हो उठती है और दमनकी भी विधियाँ यही करती हैं। काम शक्तिका दमन नहीं, वरन् प्रेमकी ओर उर्ध्वगमन ही उसे केवल आत्म सृजनकी शक्ति बनानेमें समर्थ है। दमनसे कोई कामसे नहीं बचता है, क्योंकि जिसे दबाया है, उसे रोज ही सतत दबाये रखना होता है और इस अन्तर्द्वन्द्वमें ही जीवन व्यर्थ व्यय हो जाता है। ऐसे अन्तर्द्वन्द्वको पाल लेनेसे बड़ी और कोई मूढ़ता नहीं है। क्योंकि तब वे ही शक्तियाँ, जो परमात्माके लिए सीढ़ियाँ बन सकती थीं, पशुसे भी नीचे ले जाने वाली हो जाती हैं। मैं आपको कहता हूँ कि

प्रेम जितना प्रगाढ़ होगा, काम उतना ही रूपांतरित हो जाता है और प्रेम जितना प्रगाढ़ होता है, राग उतना ही विलीन हो जाता है। फिर प्रेम कुछ भी नहीं माँगता है। फिर तो वह देता है। फिर तो वह बशर्त दान बन जाता है, और यह देना भी अस्मिताके केन्द्रसे नहीं होता है; क्योंकि अस्मिता कभी भी बेशर्त नहीं दे सकती है। अहंकार जब भी देता है; पानेके लिए ही देता है। वह त्याग भी करता है, तो पानेके लिए करता है। इसलिए अहंकारका दान न दान है, न उसका त्याग, त्याग है। अहंकारसे मुक्त होकर ही जो दान है, वह दान है। जो त्याग है, वह त्याग है। अहंकार—शून्य, इस आत्मस्थितिको ही मैं प्रेम कहता हूँ।

मैंने सुना है कि एक फकीर एक बादशाहसे मिलने गया। उसके गाँवके लोगोंने उस फकीरसे कहा, कि बादशाह तुमको प्रेम करता है और तुम उससे कहना कि हमारे गाँवमें एक स्कूल खोल दे। जब वह गया तो बादशाह नमाज पढ़ रहा था। वह पीछे खड़ा हो गया कि वह नमाज पढ़ ले तो फिर कहूँ। बादशाहने नमाज पढ़ी और कहा—हे परमात्मा मेरे राज्यको और बड़ा कर, मेरे धनको और बढ़ा। मेरे यशके क्षितिज और बड़े कर, मुझे और ऊपर उठा। बादशाह यह कहकर उठा, उसने देखा फकीर वापस लौट रहा है। उसे फकीरकी पीठ दिखाई पड़ी। वह पीछे दौड़ा और फकीरको पकड़कर बोला, "आये भी और चले भी। बात क्या है?" फकीरने कहा, मैंने तो सोचा कि तुम प्रार्थना कर रहे हो, मैं तो समझा परमात्मासे तुम्हें प्रेम है, लेकिन मैंने जो सुना उसने मेरी आँखें खोल दीं। मैंने पाया तुम भी भिखारी हो, और माँग रहे हो। जो भिखारी हैं, वह प्रेम नहीं कर सकते और न प्रार्थना कर सकते हैं। स्मरण रहे, वे केवल भीख माँग सकते हैं। प्रेम नहीं कर सकते। क्योंकि प्रेम तो दान है। वह तो सहज दान है। प्रेम तो केवल वही कर सकते हैं, जो भिखमंगे नहीं सम्राट हैं, और वे ही प्रार्थना कर भी सकते हैं, क्योंकि प्रार्थना प्रेमकी पूर्णता ही है।

एक संन्यासी अमरीकामें था। वहाँके प्रेसिडेंन्टने उससे आकर पूछा कि मैंने सुना है कि तुम अपनेको बादशाह कहते हो? उस संन्यासीने कहा, निश्चय ही। क्योंकि केवल संन्यासी ही बादशाह है। उसने कहा, यह तो बड़ी हैरानीकी बात है। दो लंगोटी मुश्किलसे तुम्हारे पास हैं और अपनेको कहते हो बादशाह। उस संन्यासीने कहा, जिसकी कोई माँग नहीं है वह बादशाह है और जो माँगता है वह भिखारी है। संन्यासी कुछ माँगता नहीं है और स्मरण रखें, जो माँगता नहीं है, वही केवल देनेमें समर्थ हो पाता है। जो माँगता है, वह कैसे देनेमें समर्थ होगा? जिसकी अभी माँग बाकी है, वह देगा कैसे? वह उससे नहीं बन पड़ेगा। जिसकी माँग खत्म हो जाती है, वह देता है। प्रेम दान है। महावीर, या बुद्ध, या कृष्ण या क्राइस्ट—क्या वे प्रेमसे खाली हो गये थे? नहीं! नहीं! वे तो और सबसे खाली हुये, ताकि प्रेमसे भर जायें। वीतरागता रागसे, विरागसे मुक्ति है—प्रेमसे नहीं। राग और विरागका घासपात नष्ट हो जानेपर ही तो प्रेमके फूल आत्मामें लगते हैं। जब कोई राग-विराग आसक्ति-अनासक्तिके सभी द्वन्द्वोंसे शांत हो जाता है, तभी तो उसमें प्रेमका जन्म और जागरण होता है। प्रेम निर्द्वन्द चेतनाकी ही तो सुगन्ध है। वह सब भाँति शान्त

और स्वस्थ हुई आत्माकी ही तो ज्योति है। जब कोई चेतना सब भाँतिके राग-द्वेषसे ऊपर उठ जाती है, तो फिर उसमें प्रेम ही शेष रह जाता है। प्रेम स्वभाव है। प्रेम स्वरूप है। वह राग-द्वेषके कारण ही प्रगट नहीं हो पाता है। जैसे ही कोई उनसे मुक्त होता है, वैसे ही उसका मुक्तहस्त दान प्रारम्भ हो जाता है, जैसे सूरजसे प्रकाश झरता है, वैसे ही ज्ञान को उपलब्ध व्यक्तिसे प्रेम झरता है। प्रेम परीक्षा है। प्रेम कसौटी है। अगर प्रेम न झरता हो तो समझना ज्ञान किताबों और शास्त्रोंसे आया है। वह ज्ञान सच्चा नहीं है। अगर ज्ञान भीतरसे आया हो तो उसकी परीक्षा और कसौटी प्रेम होगी। इसलिए जगतमें जब भी कोई ज्ञानको उपलब्ध होता है, तो उसका जीवन और आचरण प्रेमको उपलब्ध हो जाता है। प्रेम ही नीति है, क्योंकि जब प्रेम होता है, तो अनीति असम्भव हो जाती है। प्रेम ही अहिंसा है, क्योंकि जब प्रेम होता है तो किसीको दुख देना असम्भव हो जाता है और प्रेम ही सत्य है और प्रेम ही सब कुछ है। क्योंकि प्रेम हो तो सब ठीक हो जाता है।

साधु अगस्तीन एक गाँवमें गया था और लोगोंने उससे पूछा कि हम क्या करें? उससे लोग पूछते जगह-जगह कि हम क्या करें? मुझसे भी पूछते हैं। हिंसासे कैसे बचें? असत्यसे कैसे बचें? चोरीसे कैसे बचें? सत्य कैसे बोलें? ब्रह्मचर्य कैसे उपलब्ध करें? ऐसी ही और बहुत सी बातें पूछते हैं। मैं उनसे वही कहता हूँ जो अगस्तीनने उस गांवके लोगोंसे कहा था। अगस्तीनने कहा था कि छोटा सा काम करो। उन्होंने पूछा : क्या? तो अगस्तीनने कहा, "प्रेम करो, अशेष भावसे प्रेम करो, और बाकीकी फिक्र छोड़ दो। अगर तुमने प्रेम किया तो प्रेमके बाद तुम जो भी करोगे वह ठीक होगा और अगर तुमने प्रेम नहीं किया तो तुम जो भी करोगे वह अभी भी ठीक नहीं हो सकता है।" यही मैं कहता हूँ। प्रेम-प्रेम और प्रेम। प्रेमके ढाई अक्षरोंमें परमात्माका सब रहस्य छिपा है। प्रेमसे जो भर जाता है, वह परमात्मासे ही भर जाता है। प्रेमके दियेको जलाओ और उसके प्रकाशको फैलने दो। प्रेमसे बड़ा और कुछ भी नहीं है। प्रेमसे पावन और पवित्र कुछ भी नहीं है। प्रेम परमात्मा है।

●

भूलसे भी दूसरेके सर्वनाशका विचार न करो; क्योंकि न्याय उसके विनाश-की युक्ति सोचता है, जो दूसरेके साथ बुराई करना चाहता है।

—तिरुवल्लुवर

जननी जने तो भक्त जन या दाता या शूर।
नहीं तो जननी बांझ रह क्यों गंवाए नूर॥

भारत जननीके सपूत

कु० सुशीला आर्या एम. ए. कन्या गुरुकुल नरेला

किसी कविका यह दोहा पढ़ा तो बहुत पहलेसे था किन्तु एक भेंटमें पूज्य बिरलाजीके श्रीमुखसे ही इसे सुननेका सौभाग्य मिला तो ऐसा लगा मानो उनके व्यक्तित्वसे इसका अर्थ साकार हो रहा है। बिरलाजीका दर्शन ही एक ऐसी सम्पदा थी जिसे पाकर उनसे भेंट करने वाले याचना करना भूल जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। कविने जननीकी सफलता भक्त, दाता या शूर इनमेंसे एक गुणसे युक्त पुत्र उत्पन्न करनेमें मानी है कितनी धन्य है वह माता जिसने इन गुणोंके त्रिवेणी-संगमसे तीर्थ सदृश पुत्रको जन्म दिया। सचमुच निर्धनों तथा सज्जनताका प्रसाद पानेके अभिलाषियोंको दुःखसागरसे तारने वाले वे तीर्थ ही थे।

उनका सौम्य व्यक्तित्व जीवन मुक्तका सा था। पर दुःखनिवारणकी साधनामें तल्लीनसे वे तीन चार बारके दर्शनोंसे हमें एकरस स्थितप्रज्ञसे लगे। यही उनकी भक्त प्रकृतिका प्रमाण है। दाता वे थे ही। भारत भरका बच्चा-बच्चा उनकी दानशीलतासे अवगत है। कुबेरके प्रतिनिधि वे कर्णके स्थानापन्न भी थे। उनके स्वर्गारोहणका समाचार पाते ही प्रत्येक भावुक हृदयसे यही शब्द निकले—आह! आज दानका सूर्य अस्त हो गया। भूखोंको भोजन, नंगोंको वस्त्र अनाथोंको सहायता धनाभावसे पीड़ित बालकोंका विवाह, संस्थाओंका संचालन अन्य चालित संस्थाओंके विद्यार्थियोंको छात्रवृत्तियाँ न जाने उनकी दान सरिता कितनी सहस्त्रधाराओंमें से होकर बहती थी। 'देहि-देहि कछु देहि' यही उनका सिद्धान्त था। अभावग्रस्तोंके प्रति उनकी हृदयसे सहानुभूति थी। हमने याचनाके प्रसंगमें ही उनके पवित्र दर्शन कई बार किए और उनके हृदयकी भाषा समझी। वे केवल यशः कामनासे ही नहीं देते थे अपितु अभाव ग्रस्तके अभावको अपना अभाव समझते थे। शीत ऋतुमें वस्त्राभावसे सर्दीमें ठिठुरतोंकी ठिठुरन उनके अंगोंको सताती थी। उनके हृदय का भावोद्रेक ऐसा था कि दान देना उनकी आत्मिक प्रेरणा बन गई थी। गौओंकी दुःखभरी पुकार सुनकर वे दिए बिना रह ही नहीं सकते थे। एक बार गुरुकुलकी गोशालाके लिए

सहायताकी याचना लेकर उनसे भेंट की। "सूखा चारा तो हमारे पास है भी परन्तु दुधारु गौएँ दानेके बिना कैसे रखी जा सकती हैं" हमने अपनी सत्य माँग प्रस्तुत की। गोभक्त हृदयने कभी यह न सोचा कि सूखा चारा ही क्या कम है ? हमारी करुणासे तुरन्त करुणा भर लाए और निश्चित समयके लिए दाना चूरी आदिका प्रबन्ध कर दिया। जब भी दर्शन करने जाते सरल भावसे कहते—"आनेका कष्ट क्यों किया ? पत्र ही लिख देते, वहीं सब पहुँच जाता।"

हम सुनकर कृतार्थसे हो जाते। ओह ! कितने धनी ! कितने पवित्रात्मा ! कितने विशाल हृदय !

सच कहें तो वे सच्चे वीर थे। उनमें दान वीरता, धर्मवीरता, युद्धवीरता, दया-वीरताकी चतुर्मुखी गंगा बह रही थी। दानी होना ती उनके वंश तथा साधनोंके अनुकूल ही था साथ ही उत्साहका अजस्त्र स्त्रोत भी उस विशाल हृदयमें प्रवाहित हो रहा था। वे बोलने लगते तो एक जोशीले व्याख्याता लगते थे। सीधे सादे शब्दोंमें हृदयकी गहराइयों से खींच कर लाए गए भाव भरे होते थे। उनके इस रूपका दर्शन समने वार्तालापमें तो यदाकदा किया ही, गतवर्ष महाराजा सूरजमलकी मूर्तिके बिरला मंदिरमें हुए उद्घाटन् समारोहमें विशेष रूपसे किया। वीरों और विद्वानोंके वे सच्चे हृदयसे सम्मान करने वाले थे। इस विषयमें किसी प्रकारका पक्षपात उनके उदार हृदयको छू भी न गया था। राज-नैतिक धार्मिक तथा साम्प्रदायिक दलबन्दीसे वे सर्वदा विरक्त थे । और समाजमें फैली इन्हीं संकीर्णताओंसे जीवन भर लोहा लेते रहनेके कारण वे सचमुच युद्धवीर थे चाहे वे किसी सैनिकके रूपमें युद्धमें नहीं गए। उनसे भेंटके अवसरों पर हमने अनुभव किया वे जन्मना वैश्य होते हुए भी कर्मणा ब्राह्मणत्व तथा क्षत्रियत्वके गुणोंसे भी अलंकृत थे। द्विजोंके समस्त आचरण उनमें केन्द्रित हो गए थे। कायरता पूर्ण ढीली झुकनेकी नीति उन्हें सर्वथा पसन्द न थी चाहे वह सरकारकी हो या व्यक्ति विशेष की। उनकी धारणा थी कि मनुष्यको डंकेकी चोटसे गौरव और साहसका जीवन बिताना चाहिए। निर्धन होने पर भी सन्तोष रखना चाहिए, धन व पदपाकर भी अभिमान नही करना चाहिए। उन्होंने अपनी इन मान्यताओंको जीवनने घटित भी किया था इसीलिए वे सबको प्रभावित कर सकते थे। उनके धर्मकी यही परिभाषा थी। कहनेको वे सनातन वैदिक धर्मके अनुयायी थे। आर्यत्वके पक्ष पोषक थे वास्तवमें वे मानव धर्मके पुजारी थे । मानवताकी पीड़ा उनके प्राणोंको क्लान्त कर देती थी। यही कारण है कि दीन-दुःखियोंके लिए उनके हृदय-सागरसे करुणाका अजस प्रवाह जारी रहता था। तभी तो वे दयावीर थे। कर्ण और भामाशाहसे दानी उन्हें किसने बनाया ? इसी दयार्द्रताने। उनके द्वार पर सहस्त्रोंकी याच-नाएँ फलती थीं हरएक शीत ऋतुमें हजारोंके ठिठुरते प्राण उनके दयादानसे नवजीवनकी आशा पाते। सुपात्र पर दया उनकी एकमात्र कसौटी थी इस प्रकार हमने उनमें चारों प्रकारकी वीरताको संजोये एक सत्य अर्थोंमें वीरका रूप देखा।

माननीय श्री बिरलाजीमें देशप्रेम कूट-कूटकर भरा था वे अपने लिए नहीं परोपकार के लिए जीते थे। देशकी सम्पूर्ण गतिविधियों नीतियोंकी पूर्ण जानकारी रखते सत्या-सत्यका

विवेचन करते । अपने विचारोंसे दूसरोंका पथप्रदर्शन करना उनकी मुख्य रुचि थी। वे देश में बलसंचारका प्रबल पक्ष लेते थे। आत्मावलम्बन ही जन-जागरणका प्रबल प्रमाण है। हम शासन पर ही निर्भर न रहें अपने पैरों पर खड़े हों।

नारी जातिके प्रति श्रीबिरलाजीकी ऋषि युगकी सी आस्था व पवित्र भावना थी। आपका भेंटका निश्चित समय होता था किन्तु देवियोंकी आनेकी बात सुनते ही समयका व्यवधान हटा देते, अपनी पूज्या स्वर्गीया माताजीके संस्मरण सुनाना उन्हें अतिप्रिय था। गुरुकुलकी कन्याओंके विषयमें सम्यक निर्देश देते। केवल पढ़ाई नहीं सारे काम सिखाना, देवियोंको घरका प्रबन्ध, भोजन बनाना आदि सब कुछ अवश्य आना चाहिए। इतिहासकी वीरांगना विदुषी त्यागी देवियोंका बात-बातमें स्मरण करना उनका स्वभाव था।

स्वाभिमान और सरलताका मणिकांचन योग उनमें सहज ही देखा जा सकता था। दबने झुकनेकी नीतिसे वे कोसों दूर थे। वार्तालाप एवं व्यवहारकी सरलताके कारण वे जन-जनके अपने थे। मिथ्याभिमान उन्हें स्पर्श भी न कर सका था। आडम्बर तथा प्रदर्शन से परे, वे एक सच्चे सीधे भारतीय थे। अपने प्रान्तकी सरल भाषामें अकृत्रिम रूपसे धाराप्रवाह बोलते। उनकी वाणी उनके हृदयकी पवित्र छायावत् थी। सनातन वैदिक विचारधाराके वे दृढ़ आथावान सदैव रहे। पश्चिमी सभ्यताके राग-रंग साज-सज्जा ठाठ-बाठसे वे बिलकुल बे लाग थे। सच कहिए तो वे भारतीयताके सजीव प्रतीक थे। उनके समान गुण न्यून ही व्यक्तियोंमें मिलते हैं। वे सचमुच बिरला ही थे। भौतिकवाद की भयावनी छायासे दूर आत्मोन्नीति ही उनके जीवनका सच्चा उद्देश्य था। वे अपनेको शरीर नहीं आत्मा मानते थे। उनके देहावसानसे भारतीय संस्कृतिके एक विशिष्ट प्रतिनिधिका स्थान रिक्त हुआ जिसकी पूर्तिमें संदेह है। भारतके धनीमानी सज्जनोंको उनके आदर्शोंका अनुकरण करके दीन-दुःखी पीड़ित जनोंका दुःख बटानेका प्रयत्न करना चाहिए तथा सामान्य जनताको उनसे सरलता सादगी मितव्ययिता पवित्र विचारधारा निश्छलता आदि सद्गुणोंकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यही उस दिवगंत आत्माके प्रति हमारी वास्तविक श्रद्धांजलि होगी। नश्वर शरीरका अन्त होने पर भी उनका यशःशरीर सदैव अक्षुण्ण रहेगा।

●

अगर तेरी बुराई की जाय, और वह सच हो, तो अपने को सुधार ले; और अगर वह झूठ हो, तो उसपर हँस दे।

—एपिक्टेटस

आगामी श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी

के शुभावसर पर

श्रीकृष्ण-सन्देश

का

आराधना-अङ्क

प्रकाशित होने जा रहा है।

इसमें अपना सहयोग देकर तथा

अपने विज्ञापन भेजकर यश के भागी बनें।

प्रबन्ध सम्पादक

श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

कटरा केशवदेव, मथुरा

अनेक वर्षों तक
उमस भरी गर्मियों को
सुहावना बनानेवाला ओरिएन्ट पंखा
ओरिएन्ट
सीलिंग पंखा
दो वर्षों की गारन्टी
ओरिएन्ट जेनेरल इण्डस्ट्रीज लिमिटेड, कलकत्ता-५४
SP/OGI-2/66

* कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् *

'श्रीकृष्ण-सन्देश'

आगामी जन्माष्टमी (वि० सं० २०२४) से

मासिक-पत्र होने जा रहा है। अतएव

इसके ग्राहक बनिए और बनाइए

क्योंकि—

- ★ यह श्रीकृष्ण-प्रेमी जनताका अपना पत्र है,
- ★ श्रीकृष्णकी दिव्य लीला-गुण-कर्म एवं वाणीसे अभिप्रेरित है,
- ★ निष्पक्ष एवं प्रामाणिक पाठ्य-सामग्रीसे भरपूर है,
- ★ नैतिक बल, पवित्राचरण एवं स्वधर्म-निष्ठाको बढ़ानेवाला है।

यदि आप—

- ★ लेखक हैं तो प्रेरणादायक लेख भेजकर
- ★ कवि हैं. तो निष्ठा-वर्द्धक कविताएँ लिखकर
- ★ अधिकारी या सेवक हैं. तो अपना सहयोग देकर
- ★ उद्योगपति या व्यापारी हैं, तो अपने संस्थानोंके विज्ञापन देकर

अपना सहयोग प्रदान करें।

श्रीकृष्ण-सन्देशकी सफलता आपके सहयोगपर निर्भर है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

...स्थान-सेवासंघ, मथुराके लिए श्रीदेवधर शर्मा द्वारा ...